स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-02
स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास

थम खण्ड : स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ

तीय खण्ड : भारतीय अर्थव्यवस्था का ढाँचा : छठे दशक के आरंभ से नवें दशक के आरंभ तक

तीय खण्ड : प्राकृतिक और मानव संसाधन

तुर्थ खण्ड : विकास के लिए आयोजन

चम खण्ड : मुद्रा, बैंकिंग तथा लोक वित्त

ष्ठम खण्ड : भारतीय अर्थव्यवस्था का क्षेत्रकीय अध्ययन : कृषि

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-02
स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास

खंड

1

स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ : औपनिवेशिक विरासत

इकाई 1

औपनिवेशिक विरासत : पराधीनता का ढांचा 7

इकाई 2

कृषि भूमि संरचना : 1850 से 1940 22

इकाई 3

उद्योग, परिवहन और प्रबंध 33

पाठ्यक्रम का परिचय

अर्थशास्त्र में द्वितीय ऐच्छिक पाठ्यक्रम ई.ई.सी.-02 का संबंध स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास तथा इस विकास से संबंधित विभिन्न समस्याओं के अध्ययन से है। आरंभ में हम भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश शासन के प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा करेंगे ताकि हमें अच्छी तरह मालूम हो जाए कि उस समय भारत की स्थिति क्या थी जब उसने स्वतंत्रता के पश्चात् नियोजित आर्थिक विकास का रास्ता अपनाया। भारतीय अर्थव्यवस्था के संसाधन के आधार — अर्थात् भूमि के ऊपर के तथा उसके नीचे के प्राकृतिक संसाधनों — की चर्चा की गई है। इसके पश्चात् हम भारतीय नियोजन, उसके उद्देश्यों, कार्यनीतियों, उपलब्धियों तथा विफलताओं पर दृष्टिपात करेंगे। इस चर्चा में भारतीय अर्थव्यवस्था की क्षेत्रीय समस्याओं — कृषि, उद्योग, व्यापार, मुद्रा तथा बैंकिंग — को भी शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त हम भारतीय श्रमिकों — कृषिक, औद्योगिक तथा महिला श्रमिकों — की दशा पर विचार करेंगे । इस प्रकार इस ऐच्छिक पाठ्यक्रम सेआपको चाहे प्रारंभिक ढंग से ही सही किन्तु विस्तृत रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था की समस्याओं को समझने में आसानी होगी। स्वाभाविक है कि इस अध्ययन से कुछ प्रश्न उभरेंगे और हमें आशा है कि हम इनमें से कुछ प्रश्नों के हल ढूँढ़ने में आपकी सहायता कर पाएंगे।

खंड 1 का परिचय

हम अर्थशास्त्र के दूसरे ऐच्छिक पाठ्यक्रम ई. ई. सी.-02 के इस प्रथम खंड में सबसे पहले इस बात का लेखा-जोखा करेंगे कि पिछली सदी के मध्य से लेकर आजादी मिलने के समय तक उपनिवेश-काल में भारत में कितना विकास हुआ था। इससे हमें यह पता चलेगा कि जब हमने देश में राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम शुरू किए, उस समय हमारे पास विरासत के रूप में कितनी संपत्ति थी। यह पाठ्यक्रम दोनों ही वर्गों के छात्रों के लिए है — (1) जो अर्थशास्त्र को गौण विषय के रूप में चुनेंगे और ज्यादा से ज्यादा 16 से 24 क्रेडिट तक का अध्ययन करेंगें। (2) जो अर्थशास्त्र को मुख्य विषय के रूप में चुनेंगे और 48 या उससे भी अधिक क्रेडिट का अध्ययन करने के लिए इसे पढ़ेंगे। यह विकल्प दोनों ही वर्गों के छात्रों को 1990-91 से मिलेगा। हालाँकि मुख्य विषय के रूप में पढ़ने वालों को खंडों/इकाइयों के परिशिष्ट के रूप में दो और क्रेडिट पढ़ने पड़ेंगे। लेकिन दोनों परिशिष्टों को एक साथ पुस्तिका के रूप में रखा जाएगा। इन परिशिष्टों में कुछ उच्चस्तरीय विश्लेषणात्मक और परिमाणात्मक सामग्री होगी।

इस खंड में तीन इकाइयां हैं। पहली इकाई में भारत और इंग्लैंड के बदलते हुए औपनिवेशिक संबंधों और आर्थिक प्रवाह की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से बताया गया है। दूसरी इकाई में यह बताया गया है कि उपनिवेश-काल में कृषि-भूमि संबंधी संरचना में क्या विकास हुआ। तीसरी इकाई जो कि असल में कुछ बड़ी हो गई है, उसमें यह बताया गया है कि 19वीं सदी के मध्य से 20वीं सदी के मध्य तक भारत में उद्योग और परिवहन के एक बड़े क्षेत्र में कितना विकास हुआ।

इकाई 1 औपनिवेशिक विरासत : पराधीनता का ढांचा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 औपनिवेशिक संबंधों और आर्थिक प्रवाह के तीन चरण
  1.2.1 पहला चरण
  1.2.2 दूसरा चरण
  1.2.3 तीसरा चरण
1.3 प्रवाह सिद्धाँत (Drain Theory) पर विवाद
  1.3.1 विपक्ष में तर्क
  1.3.2 अकाल और आर्थिक प्रवाह
  1.3.3 प्रति व्यक्ति आय और व्यावसायिक ढाँचा
1.4 मुद्रा और वित्त
  1.4.1 मुद्रा — मुख्य विषय
  1.4.2 बैंकिंग प्रणाली
1.5 आर्थिक प्रवाह — सैद्धांतिक ढाँचे की ओर
  1.5.1 एक साधारण अवरुद्ध अर्थव्यवस्था
  1.5.2 आंतरिक और बाह्य प्रवाह
1.6 विकास की मांग — राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया
  1.6.1 स्वदेशी-शुरुआत
  1.6.2 गोखले और गांधीजी के कार्यक्रम
  1.6.3 नेहरू और राष्ट्रीय योजना समिति
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने से आपको यह मालूम हो जाएगा कि आजादी मिलने के समय हम किस स्थिति में थे और क्यों? इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको ये बातें मालूम हो जाएंगी कि :

- ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार इंग्लैंड और भारत के बीच आर्थिक संबंध किस प्रकार तय किए गए,
- इन आर्थिक सबंधों से संसाधनों का आर्थिक प्रवाह किस प्रकार से भारत से इंग्लैंड की ओर हो गया,
- आर्थिक प्रवाह के संबंध में क्या विवाद थे,
- भारतीय अर्थव्यवस्था के साथ इंग्लैंड के व्यापारिक संबंधों के संदर्भ में मुद्रा और वित्त का क्या स्थान है, और
- भारतीय विकास की मांग पर राष्ट्रवादियों की क्या प्रतिक्रिया थी।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम उपनिवेश-काल में महानगरीय ब्रिटिश अर्थव्यवस्था और भारतीय अर्थव्यवस्था के बीच के बदलते हुए संबंधों पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे ताकि हमें यह ज्ञान हो सके कि आजादी मिलने के समय हमें औपनिवेशिक विरासत के रूप में क्या मिला था। चर्चा के दौरान हम यह विचार करेंगे कि संसाधनों के प्रवाह की गति किस प्रकार से भारत से इंग्लैंड की ओर हो गई जो ब्रिटिश आर्थिक और राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुरूप थी। आर्थिक प्रवाह की प्रणाली का विकास, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, राजकोषीय प्रणाली, कृषि-भूमि प्रणाली एवं औद्योगिक और वित्तीय संरचना के द्वारा हुआ। भारतीय अर्थ में इंग्लैंड की ओर बाह्य प्रवाह के साथ ही आंतरिक प्रवाह भी हो रहा था, जिनकी वजह से एक खंड की घरेलू अर्थव्यवस्था का बहाव दूसरे खंड की ओर हो गया, विशेष तौर पर कृषि और दस्तकारी के छोटे-छोटे उत्पाद संगठित शहरी क्षेत्र की ओर प्रवाहित हुए। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन से लेकर 19वीं सदी के मध्य में रेलवे कंपनियों के आगमन तक इस प्रक्रिया की हम संक्षेप में जांच करेंगे। संयोगवश यह वही समय था, जबकि इंग्लैंड में वाणिज्यिक प्राथमिक संचयन का समय लगभग समाप्त हो रहा था और पहली औद्योगिक क्रांति प्रारंभ होने के पूरे आसार नजर आ रहे थे। यह वही दरम्यानी समय था जिसमें एक ओर तो वह समय था जबकि ब्रिटिश ताज के द्वारा सीधे राजनैतिक शासन चलता था और दूसरी ओर वह समय था जबकि परिपक्व औद्योगिक और वित्तीय पूंजी द्वारा औपनिवेशिक उद्योग और बैंकिंग प्रणाली की शुरुआत हो रही थी।

किंतु प्रथम महायुद्ध के समय से भारत में देशी उद्योग और व्यवस्थित वित्त संस्थाओं का जन्म हुआ जो डटकर ब्रिटिश संपत्ति, वित्त और वाणिज्य द्वारा संचालित विदेशी कंपनियों का मुकाबला करने लगीं। राष्ट्रवादियों का अपना आर्थिक दृष्टिकोण था जिसने सिर्फ औपनिवेशिक शोषण का ही विरोध नहीं किया बल्कि इस बारे में भी जोर दिया कि उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व रहे और इसके लिए योजना बनाई जाए। परिणामस्वरूप दूसरे विश्व युद्ध से पहले एक राष्ट्रीय योजना समिति बनी और उसने अपनी सिफारिशें दीं। दूसरा महायुद्ध समाप्त होते ही बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा। पूरे ब्रिटिश शासन काल में विनाशकारी अकालों का एक सिलसिला चलता रहा जो आर्थिक प्रवाह रूपी सिक्के का दूसरा पक्ष कहलाता है। इसी संदर्भ में, भारत में योजनाबद्ध आर्थिक विकास की शुरुआत 1950 में हुई।

1.2 औपनिवेशिक संबंध और आर्थिक प्रवाह के तीन चरण

प्लासी के युद्ध (1757) के समय से लेकर दूसरे महायुद्ध के समय तक ही महानगरीय ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के साथ भारत के संबंधों की व्याख्या तीन चरणों में की जा सकती है।

i) औपनिवेशिक लूटमार द्वारा इंग्लैंड में वाणिज्यिक प्राथमिक संचयन का चरण।

ii) पूंजी के इस प्राथमिक संचयन को इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति द्वारा औद्योगिक संपत्ति में बदलना और भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव दस्तकारी का ह्रास और कृषि का वाणिज्यीकरण।

iii) आधुनिक साम्राज्यवादी वित्त पूंजी का काल जिसकी शुरुआत भारत में रेलों के आगमन, इंग्लैंड से भारत की ओर पूंजी के प्रवाह से हुई, खासकर 19वीं सदी की अंतिम चौथाई में।

1.2.1 पहला चरण

आर्थिक और राजनैतिक संबंधों के इन बदलते हुए चरणों की व्याख्या भारतीय आर्थिक इतिहासकार आर्थिक प्रवाह सिद्धांत के जरिये करते हैं। प्रो. बी.एन. गांगुली ने 19वीं सदी की भारतीय आर्थिक विचारधारा का पुनरीक्षण करते हुए कहा है कि भारतीय आर्थिक प्रवाह की प्रक्रिया भारत के संदर्भ में दादा भाई नौरोजी के समय (1825-1917) से विकसित हुई। इसे एक जटिल प्रणाली कहा जा सकता है जिसके द्वारा पहली बार अर्थिक आधिक्य को आंतरिक प्रवाह के रूप में निकाला गया। फिर इसे विदेशी व्यापार और एक पक्षीय हस्तांतरण द्वारा बाह्य प्रवाह के रूप में भारत से बाहर ले जाया गया। इस प्रकार के आर्थिक प्रवाह की संकल्पना की शुरुआत वाणिकवादियों के लेखों से होती है, इसे कोष अर्थात् कीमती धातु के प्रवाह की अपरिस्कृत संकल्पना का नाम दिया गया था। भारत से ब्रिटेन को आर्थिक प्रवाह, खासतौर से पहले चरण में प्लासी के युद्ध के बाद हुआ। भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान आर्थिक प्रवाह की इस प्रणाली में बड़ी जटिलताएं थी।

इंग्लैंड के भारत के साथ संबंध के पहले चरण में, जिसमें इंग्लैंड के वाणिकवादी प्राथमिक संचयन का बोलबाला था और जो बाद में औद्योगिक क्रांति का कारण बना, भारत से इंग्लैंड को क्रय-शक्ति के एक पक्षीय हस्तांतरण का सिलसिला चलता रहा। क्रय शक्ति के हस्तांतरण का यह परिणाम हुआ कि भारत से निर्यात होने वाली चीजों की संख्या बढ़ गई लेकिन उनके बदले में भुगतान का समान आंतरिक प्रवाह भारत को नहीं हुआ। निर्यात की इस अनचाही वृद्धि के कारण, जिसके बदले में समान भुगतान नहीं मिला, इंग्लैंड का भारत के साथ प्रतिकूल व्यापार शेष हो गया।

1790 में लार्ड कार्नवालिस द्वारा दिए गए विवरण के अनुसार उस समय भारत की संपत्ति का भारी प्रवाह हो रहा था जिसके ये कारण थेः (i) योरोप में बहुत बड़ा वार्षिक निवेश और (ii) पिछले अनेक वर्षों से ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके कर्मचारियों द्वारा अर्जित संपत्ति को लगातार इंग्लैंड भेजना। राममोहन राय ने अनुमान लगाया था कि 1765 से 1820 तक सरकारी और निजी क्षेत्र द्वारा 11 करोड़ पौंड की संपत्ति कर, शुल्क आदि के रूप में भारत से इंग्लैंड को गई। दादा भाई नौरोजी, जो एक बड़े प्रशिक्षित गणितज्ञ थे, ने भारत और इंग्लैंड के आंकड़ों की तुलना कर यह अनुमान लगाया कि 1787-88 से 1828-29 तक की अवधि में 15 करोड़ पौंड की राशि का हस्तांतरण हुआ। इन तथ्यों ने दादा भाई के प्रवाह सिद्धांत के प्रतिपादन में सहायता की। इसके जरिये उन्होंने बाह्य और आंतरिक प्रवाह की संकल्पना को विकसित किया। बाह्य आर्थिक प्रवाह साधनों का बाह्य प्रवाह यों करता था कि निर्यातों के बदले संपत्ति का समान आंतरिक प्रवाह नहीं होता था। आंतरिक आर्थिक प्रवाह के अंतर्गत कृषि और दस्तकारी क्षेत्र से क्रय शक्ति की एक बहुत बड़ी मात्रा का शहरी क्षेत्र को हस्तांतरण, जो कराधान, ब्याज के भुगतान या पूंजी के परिशोधन लाभ और दूसरे प्रकार की बेशी के रूप में होता था। शहरी अमीर अक्सर कृषकों और दस्तकारों से प्रतिकूल व्यापार शर्तों के जरिये बेशी का अधिग्रहण करते थे। यही शोषण, ब्रिटिश शासन का आधार था जिसे नौरोजी "दो-भारत" कहते थे। इंग्लैंड के भारत के साथ संबंध के पहले चरण में जो माटे तौर पर 1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार के अंत से प्रारंभ होता है, प्रवाह की यांत्रिकता निम्नलिखित स्रोतों द्वारा परिचालित होती थी :

i) कंपनी द्वारा विशाल व सीधी लूटमार, बलात् ग्रहण और बिना किसी खास प्रतिदान अर्थात् समान आंतरिक प्रवाह के भारतीय माल को इंग्लैंड भेजना,

ii) पारंपरिक लोक निर्माण कार्य की उपेक्षा करना,

iii) कृषक-वर्ग के अधिकारों को जबरदस्ती रद्द करके भूमि को एक वस्तु मानना और इंगलिश नमूने पर निजी भूमि संपत्ति की एक बड़े पैमाने पर शुरुआत करना,

iv) भारत में बने कपड़ों और दूसरी कीमती चीजों को, जिनकी यूरोप में बहुत मांग थी, इंग्लैंड भेजने में सीधी रोक लगाना या उन पर इंग्लैंड में बहुत अधिक आयात शुल्क लगा देना। अंततः इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ब्रिटेन में बनी चीजों को सबसे आगे ले आई।

1.2.2 दूसरा चरण

ब्रिटेन में बनी चीजों के प्रति लोगों की अभिरुचि सबसे आगे हो गई तथा इसी समय 1813 में कंपनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया और 1833 में उसका पूरी तरह से उन्मूलन कर दिया गया। 1757 में प्लासी के युद्ध और 1814 में वाटरलू की लड़ाई के दरम्यानी समय में भारत के, आसानी से परिवर्तनशील कोष का इंग्लैंड को बृहत् मात्रा में हस्तांतरण हुआ और इसने औद्योगिक क्रांति की पूंजी निर्माण प्रक्रिया के लिए ईंधन का काम किया। इसके बाद हम इंग्लैंड के भारत के साथ संबंधों के दूसरे चरण में प्रवेश करते हैं, जिसमें ब्रिटेन में बनी चीजों का निर्यात भारत को बढ़ा और इससे भारतीय विनिर्माण का ह्रास हुआ।

1850 तक स्थिति यह हो गई कि ब्रिटेन की आबादी का 1/8 भाग सूती वस्त्रों के निर्माण में लग गया और वह ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का 1/12 भाग जुटाने लगा। और ब्रिटेन में बने सूती वस्त्रों के एक चौथाई भाग की खपत भारतीय बाजार में होने लगी। 1780 और 1815 के बीच ब्रिटेन से भारत को निर्यात 25 गुना बढ़ गया और ब्रिटेन के इस बढ़े निर्यात में भारत का भाग 1/32 से बढ़कर 1/8 हो गया। 1824 से 1837 के बीच ब्रिटेन में बनी मलमल का भारत को निर्यात 60 लाख गज से बढ़कर 640 लाख गज हो गया जिसके फलस्वरूप ढाका, जो भारत में मलमल बनाने वाला सबसे बड़ा केन्द्र था, की आबादी डेढ़ लाख से घटकर सिर्फ 20,000 रह गई। खुद गवर्नर जनरल ने 1834-35 में अपनी रपट में कहा था कि सूती कपड़ों के बुनकरों की हड्डियों से भारत के मैदान सफेद हुए जा रहे हैं।

इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय हथकरघे का उत्पादन, खासतौर से सूती वस्त्रों का, बहुत समय तक ह्रास की ओर जाता रहा, और ग्रामीण स्तर पर दस्तकारी और कृषि का संतुलन बिगड़ता गया जिसने भारतीय ग्रामीण निवासियों की प्रगति को शताब्दियों तक के लिए रोक दिया। भूमि की पट्टेदारी की नई प्रणाली जो निजी संपत्ति पर आधारित थी और जमींदारी प्रथा के कारण दस्तकारों और कृषकों की दशा और खराब हो गयी और इससे गांव की गरीबी को बढ़ावा मिला। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के साथ अपना व्यापार शुरू किया तो उसे 33,000 पौंड के मूल्य के सोने, चांदी आदि के वार्षिक निर्यात का विशेष प्राधिकार दिया गया था क्योंकि उस समय तक इंग्लैंड के पास अच्छी किस्म या अच्छे स्तर का कोई ऐसा उत्पादन नहीं था जिसकी गुणवत्ता की तुलना भारत में बनी चीजों से की जा सके। किंतु जल्दी ही, जैसा कि हमने देखा है, यह अस्थिरता की स्थिति पहले चरण में ही सीधी लूटमार द्वारा दूर कर दी गई। जबकि भारतीय निर्माताओं को जबरन कम कीमतों पर खरीद लिया गया, और यह खरीद भी ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय राजस्व से की गई जिसे फिर निवेश के रूप में इंग्लैंड और यूरोप को निर्यात कर दिया गया।

जब औद्योगिक क्रांति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई तथा 1857 के सिपाही-गदर के विफल होने के बाद, ब्रिटिश ताज की पूरी शक्ति भारतीय राज्य पर केंद्रित हो गई। यहीं से आधुनिक वित्त पूंजी के संक्रमण का तीसरा चरण प्रारंभ होता है। यह ध्यान रहे कि जब हम पहले से दूसरे या तीसरे चरण में जाते हैं तो प्रवाह की पिछली विधि एकदम रुक नहीं जाती अपितु, उसके साथ प्रवाह की नई विधियां जुड़ जाती हैं।

1.2.3 तीसरा चरण

इंग्लैंड के भारत के साथ संबंधों के तीसरे चरण को हम माल के स्थान पर पूंजी के भारत को निर्यात का चरण कह सकते हैं। लेकिन ऐसा हम बहुत सीमित अर्थ में कह सकते हैं क्योंकि जिस ब्रिटिश पूंजी का निवेश भारत में रेलवे और दूसरे आनुषंगिक उत्पादों तथा कोयले की खानों आदि में किया गया उसे पहले भारत से ही उठाया गया और बाद में उसे 'ब्रिटिश का भारत पर ऋण' लिखा गया जिस पर भारत को ब्याज और लाभांश देना पड़ा। इस प्रकार की ब्रिटिश पूंजी का भारत में निवेश सरकारी ऋण बना। जब 1858 में ब्रिटिश ताज ने भारत का शासन अपने हाथ में किया तो उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी का 700 लाख पौंड का ऋण अपने ऊपर लिया। यह मूल ऋण वास्तव में लार्ड बेलेज़ली द्वारा सैन्य शक्ति बढ़ाने में किया गया खर्च था। 1900 तक ब्रिटिश भारत का सार्वजनिक ऋण 2240 लाख पौंड तक पहुंच गया। दूसरे विश्व महायुद्ध के प्रारंभ होने के समय तक भारत पर इस प्रकार का सार्वजनिक ऋण 8840 लाख पौंड तक बढ़ गया जिसका 3520 लाख पौंड इंग्लैंड का स्टर्लिंग ऋण था जो 1856 में सिर्फ 40 लाख पौंड था। भारत में रेलवे बनाने में ब्रिटिश निवेशकों ने जो व्यय किया उसे भारत का ऋण माना गया। साथ ही निवेशकों को यह छूट दी गई कि वे चाहे जितना व्यय करें उन्हें 5% ब्याज दिया जाएगा। इसके अलावा युद्ध का पूरा व्यय जिसमें विशाल अंग्रेजी राज्य में जल सेना रखने का खर्च भी शामिल था, भारतीय राजस्व से लिया गया। परिणामस्वरूप सरकारी ऋण बहुत बढ़ गया।

19वीं सदी के मध्य से 20वीं सदी के तीसरे दशक तक भारत से इंग्लैंड को दिए जाने वाले करों की वृद्धि को हम नीचे दी गई दो सारणियों के आंकड़ों से समझ सकते हैं।

भारत से इंग्लैंड को दिए जाने वाले करों की वृद्धि

(दस लाख पौंड में)

	1851	1901	1913-14	1933-34
स्वदेशी व्यय	2.5	17.3	19.4	27.5
भारतीय निर्यात की अधिकता	3.3	11.0	14.2	69.7

(स्रोत: आर.पी. दत्त, **इंडिया टुडे** सेकेंड एडीशन, पेज 131)

दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि भारत से इंग्लैंड को दिए जाने वाले करों में 19वीं सदी के दूसरे भाग में बहुत ज्यादा और तीव्र गति से वृद्धि हुई और उससे भी अधिक और तेज वृद्धि 20वीं सदी के पहले तीन दशकों में हुई। ये आंकड़े नए प्रकार के शोषण के उद्‌गम की वास्तविकता को छिपाते हैं जो 19वीं सदी में माल के निर्यात में लगाई गई शर्तों से शुरू हुई थी और 20वीं सदी में भारत के वित्त-पूंजीवादी शोषण (पूंजी के प्रवाह) पर आधारित थी।

सर एम. विश्वेस्वरैया ने 1933-34 के वार्षिक करों का आकलन किया (रुपयों को पौंड स्टर्लिंग में बदल कर, 1 रु./-=1 शिलिंग 6 पेंस। इस आकलन में स्वदेशी व्यय को नहीं जोड़ा गया।

	रूपए दस लाख में	स्टर्लिंग (पौंड) दस लाख में
ब्रिटिश और विदेशी जहाजरानी सेवा	350	26
विनिमय और दूसरे कमीशन जो विदेशी बैंकों को देय थे	210	16
व्यावसायिक लाभ, वेतन आदि, ब्रिटेन के निवासियों का जो भारतीय उद्योगों में लगे थे	400	30
ब्रिटेन द्वारा भारत पर किए गए निवेश पर ब्याज	650	49
	1,610	121

(स्रोत: आर.पी. दत्त, **इंडिया टुडे,** पेज 144)

स्वदेशी व्यय के रूप में 14 मिलियन पौंड और जोड़ देने पर यह राशि 135 मिलियन पौंड हो जाती है। 1921-22 में यह राशि लगभग 150 मिलियन पौंड थी लेकिन समय के इस अंतराल में लगभग आधी हो गई थी। अतः दूसरे और तीसरे दशक में करों का वास्तविक बोझ बढ़ता ही चला गया। इस राशि का दो तिहाई से अधिक भाग पूंजी पर ब्याज के रूप में था।

1.3 प्रवाह सिद्धांत पर विवाद

प्रवाह सिद्धांत जो भारत में राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत का आर्थिक आधार बना था, निर्विरोध नहीं था। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे शोषण सिद्धांतों को महत्व नहीं देते थे। प्रवाह सिद्धांत इसका अपवाद नहीं रहा। हालांकि विलियम डिगवी जैसे कुछ ब्रिटिश प्रेक्षकों ने इस बारे में दादा भाई नौरोजी और आर.सी. दत्त का समर्थन किया। प्रवाह सिद्धांत का विरोध करने का एक ऐसा उल्लेखनीय प्रयास मॉरिस डी. मॉरिस द्वारा 1960 के आसपास किया गया। उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रबल विचारधारा जिसका वर्णन जवाहरलाल नेहरू की भारत की खोज नामक पुस्तक में किया गया है, का विरोध करने का प्रयास किया। नेहरू ने गौर किया कि हालांकि भारतीय अर्थव्यवस्था औद्योगिक क्रांति से पहले जितनी आगे बढ़ सकती थी, बढ़ चुकी थी, विदेशी राजनैतिक प्रभुत्व के कारण यहां की अर्थव्यवस्था तीव्रता से पतन की ओर बढ़ी और उसके बदले में उसे कोई भी अनुकूल या रचनात्मक उपलब्धि नहीं हुई। परिणामस्वरूप गरीबी और तिरस्कार सारी सीमाएं लांघ गये।

1.3.1 विपक्ष में तर्क

मॉरिस डी. मॉरिस के तर्क, संक्षेप में, ये थे — अंग्रेजी शासन के आगमन से पहले पारंपरिक भारतीय समाज में राजनैतिक अस्थिरता थी, महत्वहीन वाणिज्य था, कृषि और गैर-कृषि उत्पादन बहुत कम था और जलवायु, भूगोल एवं प्राकृतिक साधनों की स्थिति प्रतिकूल थी। देश की प्रति व्यक्ति आय तुलनात्मक रूप से काफी कम थी। अंग्रेजी शासन के दौरान यहां राजनैतिक एकता और स्थिरता आई जिसके फलस्वरूप देश में कृषि भूमि का विस्तार हुआ, कृषि-उत्पादन बढ़ा, भारतीय हस्तकला का पतन नहीं हुआ अपितु कुछ सीमा तक उसका विकास हुआ। आधुनिक उद्योगों का तेजी से विकास

हुआ और देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के वाणिज्य का पर्याप्त विस्तार हुआ। इन सब से, 19वीं सदी में देश के कुल उत्पाद में ठोस एवं विचारणीय वृद्धि हुई। 19वीं सदी में, जनसंख्या की वृद्धि की दर कम होने से माना गया था कि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय इस दौरान बढ़ी। मॉरिस डी. मॉरिस भारतीय वस्त्र उद्योग के ह्रास के बारे में प्रश्न करता है कि यदि देश में मशीन से बने सूत का कम कीमत पर आयात हुआ तो हथकरघा क्षेत्र की तुलनात्मक स्थिति अच्छी होनी चाहिये थी क्योंकि वस्त्रों की कीमत में गिरावट आने से उनकी मांग काफी बढ़ जाती।

मॉरिस डी. मॉरिस ने अपने इन तर्कों के लिए ठोस सांख्यिकीय सबूत पेश नहीं किये। उसके तर्क असंगत एवं भ्रमात्मक थे। उदाहरणार्थ, जब आयात किए गए सूत की कीमत घटेगी तो कपड़े की कीमत में भी गिरावट आएगी और इससे देशी कताई उद्योग को धक्का लगेगा। साथ ही बुनकरों को भी कपड़े बनाने की लागत और कपड़े की कीमत के बीच बहुत थोड़ी गुंजाइश रह जाएगी, क्योंकि उनकी बुनाई की तकनीक लंकाशायर या मानचेस्टर की तरह नहीं थी। वास्तव में 1849 से 1889 तक के 40 वर्षों में बंटे हुए सूती धागे का आयात 1 मिलियन पौंड से बढ़कर 3.7 मिलियन पौंड हुआ जबकि सूती वस्त्रों का आयात 2.2 मिलियन पौंड से बढ़कर 27.7 मिलियन पौंड हो गया। इससे ज्ञात होता है कि ब्रिटिश सूती वस्त्रों के आयात से भारतीय बुनकरों को बहुत हानि हुई क्योंकि बंटे हुए सूती धागे का कम कीमत पर आयात करके वे उससे अधिक कमा लेते।

1.3.2 अकाल और आर्थिक प्रवाह

19वीं सदी में प्रवाह सिद्धांत के भारत में विकसित होने का एक विशेष संदर्भ था। वह यह था कि पूरी 19वीं सदी में अकालों के कारण मृत्यु दर में काफी वृद्धि हुई, जिसकी शुरुआत बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी की लूटमार से हुई थी और उसके कारण 1770-71 में बंगाल में एक ऐसा अकाल पड़ गया था जिसका उदाहरण कहीं नहीं मिलता। इस अकाल में वहां की जनसंख्या का लगभग एक तिहाई भाग मारा गया। शायद इसकी तुलना 14वीं सदी में इंग्लैंड में प्लेग के कारण हुई "काली मौत" से की जा सकती है। अकाल और आर्थिक प्रवाह के बीच की कड़ी की जानकारी आर.सी. दत्त द्वारा प्रकाश में आई। इस प्रकार 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सात अकाल पड़े जिससे लगभग 15 लाख लोगों के मरने का अंदाजा लगाया गया। सदी के उत्तरार्ध में 24 अकाल पड़े जिनमें से 1851-1875 के बीच छह और 1876-1900 के बीच 18 थे। सरकारी अभिलेख के अनुसार इन अकालों से मरने वालों की संख्या 2 करोड़ तक पहुंच गई थी। उदाहरणार्थ, विलियम डिग्वी ने अपनी चर्चित पुस्तक ("प्रासपरस ब्रिटिश इंडिया", 1901) में लिखा: "मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि 19वीं सदी के अंतिम 30 वर्षों में भारत में अकाल और अभाव पहले के 100 वर्षों में पड़े अकालों से चार गुना अधिक थे और चौगुने अधिक क्षेत्र में फैले हुए थे।" आर.सी. दत्त ने 1877 से प्रारंभ होने वाले समय का गहराई से अध्ययन किया और इसे इंग्लैंड के साम्राज्यवादी युग की संज्ञा दी। उनका अनुमान है कि 1877, 1878, 1892, 1897 और 1900 के अकालों में डेढ़ करोड़ लोगों की मृत्यु हुई जो इंग्लैंड की आबादी का आधा था। बार-बार पड़ने वाले अकालों की विनाशकारी प्रक्रिया की जो जानकारी आर.सी. दत्त द्वारा मिली उसे प्रोफेसर गांगुली ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है:

जहां तक प्राकृतिक संपदा का प्रश्न है, दत्त ने कहा है कि 18वीं सदी में भारत एक बड़ा कृषि प्रधान देश था और साथ ही विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माता भी था। ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक काल में शासक वर्ग ने भारतीय विनिर्माताओं को निरुत्साहित किया ताकि इंग्लैंड के विनिर्माताओं का उत्साह बढ़े। आदेश दिए गए कि भारतीय कारीगरों पर दबाव डाला जाए कि वे कंपनी के कारखानों में काम करें। अधिकारियों को कानूनन बहुत से अधिकार दिए गए ताकि वे गांवों में रहने वाले बुनकरों से काम ले सकें, इसके साथ ही भारतीय रेशम और सूती वस्त्रों को निषेधात्मक चुंगी लगा कर इंग्लैंड जाने से रोका गया और इंग्लैंड का माल बिना किसी रोक-टोक के भारत आता रहा।

इस संदर्भ में दत्त का कहना है कि यूरोप में बिजली की शक्ति से चलने वाले करघों के आविष्कार से भारतीय उद्योगों का पूरी तरह पतन हो गया और आधुनिक-विकास के ढंग पर भारत में बनी भाप से चलने वाली मिलों के सूती कपड़ों पर भारी उत्पाद शुल्क लगाकर उनका भी गला घोंट दिया। कृषि, जो अब भारत की राष्ट्रीय आय का एकमात्र स्रोत थी उसे भी भारी भूमि-कर लगाकर दबा दिया गया। इंग्लैंड में 1793 से पहले के 100 वर्षों में भूमि कर, लगान का 5 से 20 प्रतिशत तक था, वह 1793 और 1882 के बीच बंगाल में लगान का 90 प्रतिशत था और उत्तरी भारत में वह 80 प्रतिशत से अधिक था। इस प्रकार की दरें मनमानी और बहुत ऊंची थीं। ये दरें अनिश्चित थीं क्योंकि सरकार ने न तो किसी नये उद्योग को प्रोत्साहित किया और न ही पुराने उद्योगों को पुनर्जीवित किया, इसलिए उनकी आय का एकमात्र स्रोत कृषि-भूमि से मिलने वाला कर ही था। कराधान का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके द्वारा प्राप्त संपत्ति का एक बहुत बड़ा भाग देश से बाहर चला जाता था। वह आय जो भारत की मिट्टी से उठी थी वह दूसरी भूमि पर उत्पादक वर्षा के रूप में गिरी। ऐसा तो पुराने जमाने के अत्याचारी शासकों के समय में भी नहीं हुआ था।

इस संदर्भ में दत्त ने लिखा है कि तत्कालीन भारत के सरकारी ऋण और स्वदेशी व्यय में असाधारण वृद्धि हुई ताकि भारत के शुद्ध राजस्व का ठीक आधा भाग भारत से बाहर जा सके।

आर.सी. दत्त ने इस पूरी प्रणाली का संक्षेपण किया जिसमें भारत में भूमि राजस्व, भूमिधारण पद्धति और कराधान शामिल थे। साथ ही ब्रिटेन के सारे युद्ध व्यय को भारतीय बजट में शामिल करने का भी जिक्र किया। उन्होंने लिखा है कि:

"इंग्लैंड में 42 पौंड प्रति व्यक्ति कमाने वाले से 10 शिलिंग प्रति व्यक्ति लिया जाता था जबकि भारत में 2 पौंड प्रति

व्यक्ति कमाने वाले से भी 10 शिलिंग प्रति व्यक्ति लिया जाता था। यह भारतीयों को और दरिद्र बनाने के लिए किया जाता था।" उन्होंने इसकी ओर भी ध्यान आकर्षित किया है कि अकालों के इस पूरे समय में भारत से इंग्लैंड को अनाज का निर्यात बिना किसी रुकावट के चलता रहा।

1.3.3 प्रति व्यक्ति आय और व्यावसायिक ढाँचा

19वीं सदी में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होने की संभावना वाले तर्क पर लगभग पूरी शताब्दीभर वाद-विवाद चलता रहा। विलियम डिगवी का अनुमान है कि "सम्पन्न" अंग्रेजी भारत में प्रति व्यक्ति आय 1850 में दो पेनी, 1882 में 1/2 पेनी और 1900 में 3/4 पेनी से कम थी। ऐसा उसने किसी छोटे-मोटे व्यक्ति से नहीं, लार्ड कर्जन से कहा था। दादा भाई नौरोजी ने भारत में प्रति व्यक्ति आय 30 रु. बताई थी जब कि वह इंग्लैंड में 450 रु. प्रति व्यक्ति थी। हाल ही में ए. हेस्टन ने अनुमान लगाया है कि 1870 में भारत में प्रति व्यक्ति आय इंग्लैंड की आय का 6.7% थी जो 1970 में बढ़कर इंग्लैंड की आय का 11% हो गई थी। हालांकि प्रति व्यक्ति आय की अंतर्देशीय तुलना स्वभावतः समस्यात्मक है लेकिन कुछ वर्तमान खोजों से पता चलता है 1860 से 1920 के बीच भारत की प्रति व्यक्ति आय 0.5% प्रति वर्ष से कुछ कम ही बढ़ी।

कुछ भी हो, अनेक विवादों के बावजूद भी वर्तमान आम राय यह है कि ब्रिटिश शासन के अंतिम साठ वर्षों में, जिसके संबंध में अपेक्षाकृत अच्छे आंकड़े उपलब्ध हैं, प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन घटा था जबकि प्रति व्यक्ति वाणिज्यिक उत्पाद बढ़ा था। दूसरी ओर अब तक श्रम शक्ति के बारे में अधिकृत रूप में जो आंकड़े उपलब्ध हैं उन्हें देखकर इस सत्य को नहीं नकारा जा सकता कि निरुद्योगीकरण बढ़ रहा था। 1875 में देश की कुल श्रम-शक्ति 11.77 करोड़ थी और उनमें सिर्फ 1.6 करोड़ विनिर्माण क्षेत्रों में लगी थी जो लगभग 20 वर्षों तक स्थिर रही और 1895 में वह 1.71 करोड़ हुई जबकि कुल श्रम-शक्ति 13 करोड़ तक पहुंच गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि 19वीं सदी की अंतिम चौथाई में विनिर्माण क्षेत्र में श्रम-शक्ति का भाग कम हो रहा था जिसके बारे में जनगणना के कुछ आंकड़े उपलब्ध हैं।

बोध प्रश्न 1

1 आर्थिक प्रवाह से संबंधित औपनिवेशिक आर्थिक संबंधों के तीनों चरणों की व्याख्या तीन वाक्यों में अपने शब्दों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2 नीचे दिए कथनों में सही (√) / गलत (×) का निशान लगाइए:

अ) आर्थिक प्रवाह का दूसरा चरण कहा जाता है:

1) ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा सीधी लूटमार ( )
2) भारत में बनी वस्तुओं का इंग्लैंड को निर्यात ( )
3) भारत की गैर निर्माण वस्तुओं, जैसे अनाज और कच्चे माल का भारत से इंग्लैंड को निर्यात करना ( )
4) अच्छे संचार साधनों के कारण भारत में प्रति व्यक्ति आय धीमी गति से बढ़ना ( )

ब) संसाधनों का आर्थिक प्रवाह भारत से इंग्लैंड को इसलिए हुआ:

1) इंग्लैंड से भारत को बड़े पैमाने पर पूंजी का निर्यात ( )
2) भारत के सरकारी ऋण की वृद्धि ( )
3) रेलवे का विस्तार ( )
4) भारत से इंग्लैंड को होने वाले वस्त्रों के निर्यात पर कर लगाया गया ( )
5) इंग्लैंड में बनी चीजों के भारतीय आयात को तरजीह/प्राथमिकता दी गई ( )
6) स्वेज का मार्ग खुल जाने पर भारत से अनाज का निर्यात सुगम हो गया ( )

1.4 मुद्रा और वित्त

उपनिवेशकाल में भारत में मुद्रा, वित्त और बैंकिंग का विकास, मुख्य रूप से, औपनिवेशिक प्रशासन को साम्राज्यवादी हितों के ढांचे में रखने के उद्देश्य से किया गया। इस कारण से वे आर्थिक प्रवाह की प्रणाली के संचालक थे।

1.4.1 मुद्रा — मुख्य विषय

19वीं सदी के अधिकांश भाग में मुद्रा-प्रबंध इस प्रकार का किया गया कि वह विनिमय दर अर्थात् सोने, चांदी और स्टर्लिंग के साथ रुपए के अनुपात की उपयुक्तता को बनाए रखे। 19वीं सदी के प्रथम तीन दशकों में विभिन्न धातुओं, सोने और चांदी के सिक्कों द्वारा लेन-देन हुआ और 1835 में चांदी के रुपए को मूल्य-मान बनाया गया। 1861 में कागजी मुद्रा की शुरुआत हुई।

एक सीमित पैमाने पर नोट-मुद्रा के निर्गम का अधिकार तीन प्रदेशों के चार्टर्ड बैंकों को दिया गया। यह अधिकार बंगाल को 1809 से और बंबई और मद्रास को क्रमशः 1840 और 1843 में मिला और यह तब तक बना रहा जबकि पेपर करेंसी ऐक्ट, 1861 (कागज मुद्रा अधिनियम, 1861) द्वारा यह अधिकार बैंकों से छीनकर सरकार ने खुद ले लिया। यह अधिनियम बैंक आफ इंग्लैंड के नमूने पर बनाया गया था। इसके द्वारा सिर्फ धातु-रिजर्व के आधार पर ही नोटों के निर्गम का प्राधिकार दिया गया और नियम अंतिम सीमा से अधिक नोट छापने की अनुमति नहीं थी।

पिछली सदी के छठे दशक में कुछ प्रमुख वित्तीय दबाव पनप रहे थे, जैसे कि 1857 के सिपाही गदर को दबाने के लिए विदेश में वित्त बढ़ाना, लोक निर्माण कार्य खासकर रेलवे को आगे बढ़ाना, ब्रिटेन बनाम भारत के प्रतिकूल व्यापार अधिशेष को ठीक करना जो क्रीमिया की लड़ाई के कारण रूस से भारत को तिलहन की पूर्ति में और अमेरिकन गृह युद्ध के कारण वहां से भारत को कपास की पूर्ति में, बदलाव आने के कारण हुआ था। चांदी की पूर्ति जरूरत से कम थी और कागजी मुद्रा की बेलोचदार प्रणाली इस कार्य के लिए अनुप्रयुक्त साबित हुई।

स्वेज़ नहर का मार्ग खुल जाने पर समस्याएं काफी गंभीर हो गईं क्योंकि भारत से इंग्लैंड को कच्चे माल और अनाज का निर्यात पहले से सस्ता हो गया और बढ़ता रहा। 1870 से दुनिया के बाजार में सोने का मूल्य तेजी से बढ़ने लगा। सोने की तुलना में चांदी की कीमत में लगातार गिरावट आने के कारण भारत की सरकार के लिए बजटीय कठिनाइयां पैदा हो गईं। इंग्लैंड में होने वाले स्वदेशी व्यय के लिए भारत से इंग्लैंड के विदेश सचिव को सोना भेजना पड़ा, हालांकि इसके राजस्व को चांदी में मापा गया। परिणामस्वरूप चांदी के विनिमय-मूल्य की प्रत्येक गिरावट के साथ रुपए का मूल्य गिरता गया। इस कारण भारत के निवासियों से भूमि राजस्व और अफीम, नमक आदि पर कर लगाकर अधिक राजस्व लिया गया।

भारत की सरकार स्वर्ण-मान शुरू करना चाहती थी और साथ ही चांदी की मुद्रा का चलन बनाए रखना चाहती थी, इसलिए सोने में रुपए का बाह्य मूल्य दो शिलिंग बढ़ा दिया। लेकिन यह प्रस्ताव ब्रिटिश बैंकर्स और व्यापारियों के हितों को ध्यान में रखकर ठुकरा दिया गया क्योंकि वे अमेरिका के चांदी के विशाल उत्पाद को भारत में बेचना चाहते थे। चूंकि बहुत से यूरोपीय और लैटिन अमेरिकी देश रजत-मान को समाप्त करना चाहते थे, इसलिए भारत दुनिया के बहुत बड़े हिस्से के चांदी के उत्पाद की खपत 19वीं सदी के अत, अर्थात् 1893 तक करता रहा, जब तक कि रजत-मान पूरी तरह समाप्त नहीं हो गया। इंग्लैंड में स्वदेशी व्यय के प्राप्तकर्ता इस बात पर अड़े हुए थे कि वे रुपए के स्टर्लिंग मूल्य में कोई कमी नहीं कर सकते।

1893 के बाद सभी देशी विनिमयों के लिए रुपया प्रमुख माध्यम बना रहा। किंतु रुपए का आंतरिक मूल्य चांदी की अंतर्राष्ट्रीय कीमत के साथ जुड़ा रहा। रुपए के सिक्कों की सीमित पूर्ति से रुपए का विनिमय मूल्य बढ़ा और सदी के बदलने के साथ 1 शिलिंग 4 पेंस पर स्थिर हो गया। केन्ज़ ने इसे स्वर्ण-विनिमय मान कहा है। यह तब तक बना रहा जब तक दिसंबर 1919 में प्रथम विश्व युद्ध के दबाव के कारण इसके विनिमय मूल्य को तेजी से 2 शि. 4 पें. तक नहीं धकेल दिया गया। यह इसलिए हुआ कि भारत में आयात तेजी से गिर गये और इंग्लैंड का युद्ध व्यय भारत के खाते से लिया गया। अगर रुपए की यह मूल्य वृद्धि युद्ध के बाद भी बनी रहती तो इससे इंग्लैंड में स्वदेशी व्यय के प्राप्तकर्ताओं को लाभ होता और यह भारतीय निर्यात पर प्रतिकूल असर डालती क्योंकि वे बहुत महंगे हो जाते। 1919 में बर्बिगटन स्मिथ समिति की सिफारिशों पर रुपए का विनिमय-मूल्य 2 शि. तय किया गया जो कुछ समय बाद 1 शि. 6 पें. पर आकर स्थिर हुआ। यह दर 1926 में हिल्टन यंग आयोग द्वारा कानूनी ढंग से निश्चित की गई थी। सितंबर 1931 में जब मंदी अपनी चरम सीमा पर थी तब स्टर्लिंग सोने से अलग हो गया। इसलिए अब अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में रुपए का एक मात्र आधार इसकी स्टर्लिंग विनिमय दर थी।

वस्तुतः 1 शि. 6 पें. की नियत विनिमय दर भारतीय निर्यातकों के हितों के प्रतिकूल जान पड़ी क्योंकि यह सोचा गया कि इस दर से निर्यात कीमतें ऊंची हो जाएंगी और भारतीय निर्यात की प्रतियोगिता की क्षमता घट जाएगी। मुद्रा-प्रबंध साम्राज्यवादी शक्ति और लंदन शहर के वित्तीय हितों, तथा ब्रिटिश स्टाक और विदेशी विनिमय बाजार, के हितों को ध्यान में रखकर किया गया था, लेकिन सबसे प्रमुख बात थी इंग्लैंड स्थित विदेश सचिव को भारत की सरकार द्वारा स्वदेशी व्यय भेजने का दायित्व। "काउंसिल ड्राफ्टस और रिजर्व काउंसिल्स", जो भारत द्वारा इंग्लैंड को स्टर्लिंग के हस्तांतरण के शीर्ष थे, ब्रिटिश अधिकारियों की मुख्य चिंता थी। इस प्रेषण-यांत्रिकता का उपयोग सिर्फ स्वदेशी व्यय को भेजने के लिए ही नहीं होता था अपितु जब भी दूसरे देशों के साथ इंग्लैंड के भुगतान शेष के घाटे को पूरा करना होता तो इस व्यवस्था का लाभ उठाया जाता था। भारतीय निर्यात का आधिक्य जो आर्थिक निष्कासन का प्रमाणक चिह्न था, इस प्रकार ब्रिटिश वित्तीय हितों की रक्षा में बार-बार सहायता करता रहता था।

1.4.2 बैंकिंग प्रणाली

लेकिन मुद्रा की यह प्रणाली मुद्रा की स्वदेशी आवश्यकताओं हेतु अपर्याप्त सिद्ध हुई। यहाँ की फसलों की मानसून पर निर्भरता के फलस्वरूप मौसमी होने के कारण ऐसा महसूस हुआ। जब तीन राज्यों की बैंकों से नोट-निर्गमन का अधिकार छिनकर सरकार के पास चला गया तो 1886 में उन्हें मुआवजे के रूप में यह अनुमति दे दी गई कि वे सरकारी रोकड़ शेष का उपयोग व्यापार को अग्रिम राशि देने में कर सकते थे। सरकार अपनी पूरी अनुप्रयुक्त रोकड़ शेष इन बैंकों के पास छोड़ देती थी। फिर भी 1876 में सरकार ने कलकत्ता में अपना एक आरक्षित राजकोष बनाया। बाद में इसी प्रकार के राजकोष मद्रास और बंबई में भी बनाए गए। इससे आरक्षित कोष दो असंबद्ध घटकों में बंट गया — सरकार द्वारा आरक्षित और बैंक द्वारा आरक्षित। इससे देश में व्यस्त मौसम के दौरान फसली लेन-देन में मुद्रा की पूर्ति में तंगी होने लगी।

1913 में भारतीय मुद्रा और वित्त की स्थिति पर विचार करने के लिए "दि रॉयल कमीशन ऑन इंडियन करेंसी एंड फाइनेंस" बना। इसने सिफारिश की कि जो रेवेन्यू-शेष बच जाए उससे राज्य के बैंकों को उधार दिए जाएं। लेकिन प्रणाली की मूल लोचहीनता के कारण मौसमी मांग के समय मुद्रा अतिरिक्त मांग की समस्या का समाधान न हो सका। हालांकि भारतीय इम्पीरियल बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वह प्रांतीय बैंकों को वाणिज्यिक विनिमय पत्रों (हुंडियों), खास कर निर्यात बिलों पर अग्रिम राशि दें। लेकिन इम्पीरियल बैंक की बट्टे की दर बहुत ऊंची थी। 1921 में तीनों राज्य बैंकों के हितों और इम्पीरियल बैंक के साथ उनके अनुबंध को ध्यान में रखकर, सबको मिलाकर एक अकेला इम्पीरियल बैंक बना दिया गया और यही आज स्टेट बैंक आफ इंडिया (भारतीय स्टेट बैंक) कहलाता है।

इन सबके बावजूद भी लाभदायक विदेशी व्यापार की वित्त-व्यवस्था विदेशी विनिमय बैंकों के हाथ में थी जो विदेशियों के अधिकार में थीं और उनमें से ज्यादातर ब्रिटिश बैंकों की शाखाएँ थीं। भारतीय बैंक (इंडियन बैंक) जिसकी स्थापना मूल रूप से 1905 के स्वदेशी आंदोलन के प्रोत्साहन से हुई थी, को व्यापार के अधिक व्यवस्थित क्षेत्र यानी विदेशी व्यापार से अलग ही रखा गया। इसके विपरीत आंतरिक व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग असंगठित देशी बैंकिंग की हुंडी प्रणाली द्वारा चलता रहा। इन सब पर एक साथ विचार करने पर पता चलता है कि उस समय मुद्रा-प्रणाली अपूर्ण थी और साथ ही ब्याज और लाभ अर्जित करने की दरें अलग-अलग थीं।

इन परिस्थितियों में, प्रथम विश्व युद्ध के प्रारंभ होते ही, भारतीय संगठित बैंकिंग क्षेत्र को बहुत बड़े संकट का सामना करना पड़ा क्योंकि कोई समन्वित नियामक प्रणाली नहीं थी तथा आरक्षित कोष की सुविधा से उपलब्ध न थे। इसका परिणाम यह हुआ कि 1913 के बाद चार वर्षों के अंदर 87 बैंक फेल हो गए जिनकी कुल संपत्ति का आधा से अधिक भाग प्रदत्त पूंजी था।

अब देश के लिए एक केन्द्रीय बैंक (सेंट्रल बैंक) की आवश्यकता बहुत स्पष्ट और अपरिहार्य हो गई और अंत में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना हुई, जिसका बिल उस समय के केन्द्रीय विधान मंडल में जनवरी 1927 में रखा गया किंतु रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने 1935 से ही बैंक ऑफ इंग्लैंड की तरह, आंतरिक मौद्रिक एवं विदेशी विनिमय प्रबंध के लिए केन्द्रीय बैंक का कार्य प्रारंभ किया।

जब रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने 1 शि. 6 पें. की विनिमय दर को बनाये रखना चाहा तो अनुपात का विवाद फिर उठ खड़ा हुआ। भारतीय निर्यातकों का यह स्पष्ट मत था कि रुपए का यह सकल अधिमूल्यन उन्हें हटाने के लिए था। 1931 और 1937 के बीच भारत से, जहां हमेशा सोने की कमी रही है, लगभग 300 करोड़ रुपए के मूल्य के सोने का निर्यात किया गया और इस प्रकार मंदी का बोझ भारत के निवासियों पर लाद दिया गया। रुपए का अधिमूल्यन 1 शि. 6 पें. होने के विरोध में भारतीय मुद्रा लीग (संघ) ने एक आंदोलन छेड़ दिया। लेकिन भारत की सरकार सितंबर 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होने के समय तक इस विषय में अड़ी रही।

द्वितीय विश्व युद्ध का भारतीय मौद्रिक प्रणाली पर दुहरा प्रभाव पड़ा:

1) युद्ध में बढ़ते हुए व्यय की वित्त-व्यवस्था के लिए निर्बाध गति से मुद्रा की पूर्ति बढ़ा दी गई जिससे 5 गुना से अधिक मुद्रा स्फीति हो गई।
2) रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के पास इंग्लैंड में स्टर्लिंग के शेष बड़े पैमाने पर बढ़ गए, बहुत से कल्पित ऋणों को ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को हस्तांतरित कर दिया गया, वहां संसाधनों का तदनुरूप अंतर्प्रवाह नहीं हुआ। इसके विपरीत, जब 1939 से पांच वर्षों के अंदर, सामान्य मूल्य स्तर लगभग ढाई गुना बढ़ गया और देश के वास्तविक संसाधन नागरिक से हटाकर सैनिक उपयोग में लगा दिए गए तब 1771 के बाद 1943 में बंगाल में पहला भीषण अकाल पड़ा। यह उस सिक्के का दूसरा पहलू था जिसे "स्टर्लिंग शेष" कहते हैं। ये शेष पहले इंग्लैंड में जमा हुए और बाद में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया को हस्तांतरित कर दिये गये जो लगभग 1700 करोड़ रु. के थे। उस अकाल में तीस लाख से अधिक लोग मरे।

बोध प्रश्न 2

1) पेपर करेंसी ऐक्ट आफ 1861 (1861 की कागजी मुद्रा अधिनियम) के बाद की भारतीय मुद्रा की प्रमुख समस्याओं की अपने नीन वाक्यों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 अ) प्रथम विश्व युद्ध के दौरान बहुत से भारतीय बैंक क्यों असफल हो गए? दो वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

ब) प्रथम विश्व युद्ध के बाद सेंट्रल बैंक (केंद्रीय बैंक) की जरूरत क्यों अपरिहार्य हो गई? तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

स) भारतीय मुद्रा प्रणाली पर द्वितीय विश्व युद्ध का क्या मुख्य प्रभाव पड़ा? तीन वाक्य लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.5 आर्थिक प्रवाह — सैद्धांतिक ढाँचे की ओर

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अनेक रचनाएं "असमान विनिमय" की संकल्पना पर आधारित हैं, जिनका स्रोत प्रवाह सिद्धांत में खोजा जा सकता है। हम इसकी कुछ जानकारी ई. ई. सी.-01 के खंड 9 में प्राप्त कर चुके हैं जब हमने संरचना वादियों के बारे में चर्चा की थी। इस दृष्टिकोण की गहराई में गए बिना हम प्रोफेसर गांगुली के विचारों का अनुसरण करके 19वीं सदी की राष्ट्रवादी आर्थिक विचारधारा के संकल्पनात्मक ढांचे को कई प्रारंभिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में क्रमबद्ध करने का प्रयास कर सकते हैं।

1.5.1 एक साधारण अवरुद्ध अर्थव्यवस्था

हम एक ऐसी साधारण अवरुद्ध अर्थव्यवस्था की संकल्पना कर सकते हैं जिसमें औसत उत्पादकता रहती है और साथ ही कीमतें, मौद्रिक आय और वास्तविक आय भी लगभग स्थिर रहती है। इस प्रकार की स्थिति यहां 1860 तक थी, ऐसा भारतीय आर्थिक विचारकों का मत है। यह सच भी मान लिया जाए तो अर्थव्यवस्था का यह चित्रण अपर्याप्त कहलाएगा। देश का कृषि उत्पादन हमेशा मानसून की कृपा पर निर्भर रहा है, जिससे कभी-कभी तो फसलें नष्ट हो जाती थीं और कभी-कभी उत्पादन बहुत बढ़ जाता था और इसके फलस्वरूप उत्पादन और रोजगार में भारी उतार चढ़ाव होता रहता था। 1860 में रेलवे की शुरुआत से पहले देश के भीतरी भाग स्थानीय बाजारों से जुड़े नहीं थे, इसलिए उस समय तक स्थिति यह थी कि जिस क्षेत्र मे उपज की बहुतायत होती थी वहां का अनाज निकटवर्ती बंदरगाह तक निर्यात के लिए पहुंचा दिया जाता था जब कि दूर के भीतरी भागों में अकाल की स्थिति होती थी। कुछ हद तक यह हमें उस विरोधाभास को समझने में मदद करता है कि अकालों की भयंकरता के बावजूद भारत से इंग्लैंड को अनाज का निर्यात लगातार होता रहा। निर्यात का यह क्रम 1846 में इंग्लैंड में अन्न कानून (corn laws) उन्मूलन के बाद और भी बढ़ गया। अधिक टिकाऊ और कीमती वस्तुओं का यह लंबी दूरी का व्यापार भारत में श्रम के सामाजिक बंटवारे का आधार बना। फिर भी ग्राम स्तर पर कृषि और दस्तकारी का एक सीमा तक संतुलन बना रहा। श्रमिकों की सेवाओं के लिए उन्हें मजदूरी नकद न देकर वस्तुओं के रूप में दी जाती रही इससे जनसंख्या जीवन-यापन कर सकी। जमींदारों और कर वसूलने वालों द्वारा सताए गरीब किसान उस जमीन पर खेती करने लगे जिस पर उस समय तक खेती नहीं शुरू हुई थी। अब यह आशा की गई थी कि रेलवे द्वारा इस विशाल देश के बिखरे हुए बाजार जब जुड़ जाएंगे तो स्थानीय अकालों की संभावना और भयंकरता कम हो जाएगी। किंतु यह आशा गलत साबित हुई।

उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि स्वेज़ नहर का मार्ग खुल जाने के बाद प्रमुख अकाल के दौरान भी देश से अनाज का काफी निर्यात होता रहा हालांकि उस समय तक देश में रेलवे का काफी विस्तार हो गया था और देश के भीतरी भागों में

भी मुद्रा द्वारा लेन-देन की सुविधा उपलब्ध हो गई थी। अकालों की बारंबारता और भीषणता में कमी नहीं आई। इसके विपरीत कनाडा और आस्ट्रेलिया में "गोरों की बस्तियों" के आधुनिकीकरण में कोई कमी नहीं आई। इतना ही नहीं, उनकी उत्पादकता और मौद्रिक आय बढ़ती रही जबकि कीमतें स्थिर रहीं या लागत घटने के कारण गिरती गईं।

1.5.2 आंतरिक और बाह्य प्रवाह

प्रोफेसर गांगुली के विचारों से सहमत होते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर भारतीय राष्ट्रवादियों की जो टिप्पणी ऊपर दी गई है वह बहुत सीधी-सादी है। हम इसे इस तरह कह सकते हैं कि मजदूरी का नकद भुगतान करके और साथ ही भूमि राजस्व भी नकद देकर भारतीय अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण किया जा रहा था और इसके बदले में रेलवे और संचार साधनों का विस्तार करके देश के भीतरी भागों तक बाजार की सुविधा उपलब्ध कराई जा रही थी। ब्रिटिश राज्य के विशाल युद्ध व्यय को व्यवस्थित करने के लिए भारतीय राजस्व का सहारा लिया जा रहा था और इसके लिए विदेशी ऋण और कर बढ़ा दिए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन तो नहीं बढ़ा पर कीमतें बढ़ गईं। दस्तकारी का पतन होने से भूमि पर जनसंख्या का दवाब बढ़ गया। इसके साथ ही भूमि की नई पट्टेदारी प्रणाली के कारण भूमिहीनता भी बढ़ गई। इसका नतीजा यह हुआ कि मुद्रा के रूप में दी जाने वाली मजदूरी का कीमतों के साथ इतना समायोजन भी न हो सका कि श्रमिकों की वर्तमान जीविका की समस्या का तो समाधान हो जाता। मजदूरी को अनाज के रूप में देने की परंपरागत प्रचलित प्रणाली का पहले ही अंत हो गया था अतः अनाज की कीमतें बढ़ने से वास्तविक मजदूरी घटने लगी। इसके साथ ही कृषि-वस्तुओं की निर्यात-कीमतों में भी वृद्धि न हो सकी क्योंकि वे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थितियों पर निर्भर करती थीं और उन पर ब्रिटिश एजेंसियों का नियंत्रण था। इस प्रकार आर्थिक ठहराव के साथ मुद्रा प्रसार की प्रक्रिया एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति के रूप में जुड़ गई जिससे संपत्तिहीन लोगों तक अनाज पहुंचने का मार्ग संकुचित हो गया।

देश की ऐसी असंतुलित अर्थव्यवस्था पर आर्थिक प्रवाह का भयावह बोझ लाद दिया गया। यह आंतरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार का था। स्थानीय स्तर पर आंतरिक प्रवाह के परिणामस्वरूप परंपरावादी ग्रामीण समाज का, मौद्रिक लेन-देन के कारण लगातार विघटन हो रहा था। इस समय ब्रिटिश अर्थव्यवस्था और प्रशासन की सीमा-चौकी के रूप में एक नया शहरी समाज प्रकट हुआ। इस प्रकार के शहरीकरण ने औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा देने की जगह उसे नियंत्रित करने का प्रयत्न किया। निजी भू-संपत्ति पर उत्पादन की कोई बाध्यता नहीं थी। इस प्रकार की भू-संपत्ति पर एकमात्र बाध्यता यह थी कि राजस्व का भुगतान होता रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार की संपत्ति एक ओर तो परजीवी हो गई और दूसरी ओर असामी काश्तकारों में उत्पादन बढ़ाने की अभिरुचि कम हो गई।

दस्तकारी का पतन होने के कारण, ज्यादा से ज्यादा लोग कृषि पर निर्भर हो गये जिससे भूमि का लगान बहुत बढ़ गया। मुद्रा के रूप में कम मजदूरी मिलने और कीमतें बढ़ जाने से श्रमिक समाज की वास्तविक आय घट गई। ऐसी स्थिति में सरकार ने कर बढ़ाकर कृषि के आधिक्य को लगातार खींचने का प्रयत्न किया और उसका कुछ भाग बाह्य प्रवाह के रूप में बाहर जाता रहा। जमींदारों और महाजनों को लाभ हुआ। उसी आधिक्य से प्रगतिशील उद्योगपति, बैंक-स्थायी और व्यापारी भी अपना हिस्सा पाते थे। यह आंतरिक और बाह्य प्रवाह फिर अर्थव्यवस्था में वापस नहीं आता था। हां, रेलवे के विस्तार और सिंचाई के साधनों के विकास में कुछ धन अवश्य व्यय किया जाता था जिससे भविष्य में प्रगति हो। लेकिन इनसे मिलने वाले लाभ इनकी लागत की तुलना में नगण्य थे। फिर भी इस आधारिक संरचना से औद्योगिक और उससे संबंधित क्रियाकलापों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला और साथ ही दस्तकारी और कृषि का पतन निर्बाध रूप से जारी रहा।

जैसा कि हेबर्लर (Haberler) ने प्रथम विश्व युद्ध में पराजित होने के बाद जर्मन हानि-पूर्ति भुगतान के संदर्भ में दिखाया है, उसी प्रकार रेलवे के विस्तार हेतु किया गया पूंजी का आयात एक प्रकार का एक पक्षीय हस्तांतरण ही माना जाएगा। वह इसलिए था कि निर्यात का आधिक्य देश के बाहर लगा दिया जाए, नहीं तो पूंजी आयात के साथ उसका समायोजन करना पड़ता। ऐसे एक पक्षीय हस्तांतरण को जिसके बदले में कोई समान भुगतान न हो उसे हेबर्लर ने निर्यात आधिक्य द्वारा पूंजी आयात कहा है और उस पूरी राशि को प्रवाह माना है।

1.6 विकास की मांग — राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया

प्रवाह सिद्धांत एक ओर तो राष्ट्रवादी समालोचकों को औपनिवेशिक शासन, और भारत की गरीबी की आर्थिक स्पष्टीकरण, अकालों की बारंबारता आदि का विवेचन करने के लिए आधारभूत सामग्री देता है और दूसरी ओर स्वदेशी पर आधारित जागृति के लक्षण और विकासशील विचारों की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट करता है जिसका उद्देश्य देश को औपनिवेशिक आर्थिक पराधीनता से मुक्त कराना था।

1.6.1 स्वदेशी - शुरुआत

महाराष्ट्र में रानाडे और गोखले के लेखों से ये विचार स्पष्ट रूप से सामने आए। रानाडे ने स्थिति को व्यक्त करते हुए कहा कि जो औद्योगीकरण स्वदेशी प्रयत्नों पर आधारित होगा वह राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिए निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगा। आधुनिक तकनीक की कृषि-क्षेत्र में शुरुआत करने के बारे में भी उन्होंने कुछ समतुल्य सुझाव देते हुए कहा कि कुछ परिष्कृत ढंग की "जुताई प्रणाली" की शुरुआत की जाए उनका कहना था कि डच उपनिवेशवादियों ने जावा और

इंडोनेशिया में जो तरीका अपनाया था उसी से मिलता-जुलता तरीका यहां भी अपनाया जाए अर्थात् जो भूमि परती पड़ी है उस पर औपनिवेशिक बस्तियां बसाई जाएं और वाणिज्यिक कृषि प्रारंभ की जाए और बाद में उसे सामान्य प्रक्रिया के अंतर्गत लाया जाए। रानाडे ने राज्यों को एक सुनिश्चित कार्यसूची दी जिसके आधार पर वे अपनी आर्थिक राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हों। रानाडे ने ब्रिटिश अहस्तक्षेप नीति के विपरीत सिसमोंडी की राज्य के सहयोग से विकास की दलील का समर्थन किया। गोखले ने बाद में इसे जर्मन अर्थशास्त्री लिस्ट (Friedrich List) के विचारों के आधार पर आगे बढ़ाया। रानाडे ने सूती, रेशमी, कताई, बुनाई कंपनी, कागज मिल, धातु बनाने वाली फैक्टरी, व्यापारी बैंक आदि स्वदेशी उद्यमों के सम्मेलनों का आयोजन कि[illegible] उनकी प्रदर्शनी लगवाई, संग्रहालय बनवाए और उन्हें प्रगति की ओर ले जाने के लिए उनके संघ बनाए।

बंगाल में कुछ समय पहले राजा राममोहन राय ने रानाडे से मिलते-जुलते विचारों को व्यक्त किया था। स्वदेशी के युयुत्सु चरण की शुरुआत 1894 से होती है जब लार्ड एलगिन की सरकार ने 20 या अधिक काउंट के धागे पर 5% उत्पाद शुल्क इसलिए लगाया था कि लंकाशायर के बने कपड़े पर बजट संबंधी उद्देश्य से 5% आयात शुल्क लगाया गया था। शुल्क के बारे में राजनीतिज्ञों की दुखपूर्ण शिकायत पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होंने भारतीय निर्माताओं से यह निवेदन किया कि वे उत्पादन के अच्छे तरीकों को अपनाएं ताकि सूती सामान की लागत और उसके परिणामस्वरूप कीमतें कम हों ताकि भारतीय लोग उन्हे खरीद सकें।

1905 में बंगाल के विभाजन से राष्ट्रीय असंतोष फैला, उससे स्वदेशी उद्यमों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए विश्वास की लहर तेजी से आगे बढ़ी। पी.एन.बसु जैसे भूगर्भशास्त्री ने मयूरभंज लौह अयस्क (कच्चे लोहे) की खोज की। समय की देशभक्ति पूर्ण भावना से यह भी संभव हो सका कि टाटा ने भारतीय पूंजी से टिस्को (TISCO) की जल्दी ही स्थापना कर दी। फिर भी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार जो स्वदेशी आंदोलन का एक मुख्य मुददा था, उसमें आधुनिक तकनीक की अस्वीकृति को नहीं शामिल किया गया। लेकिन स्वदेशी के जोर पकड़ने के साथ गांधीजी ने आधुनिक तकनीक की सीमित प्रभावोत्पादकता को साफ पहचाना। कुछ ही समय में हाथ में कताई और बुनाई का उद्योग सारे देश में फैल गया और इससे रोजगार को नया जोर मिला। सदी के बदलने के साथ टैगोर ने स्वदेशी की व्याख्या इस प्रकार की कि वह आत्मविश्वासपूर्ण सामुदायिक जीवन के लिए भारत की पारम्परिक सामाजिक संहिता है। टैगोर की रचनात्मक स्वदेशी की व्याख्या में उस सहकारी-कृषि को भी शामिल किया गया जिसमें आधुनिक वैज्ञानिक कृषि संबंधी उपकरणों का प्रयोग होता हो।

1.6.2 गोखले और गांधीजी के कार्यक्रम

गांधीजी ने स्वदेशी के आर्थिक कार्यक्रम की फिर से जनसंगठन के रूप में विशद व्याख्या की, जिसका संकेत उन्हें गोखले के लेखों से मिला था। उससे उन्हें उन तथ्यों के बारे में पता चला जो समय के साथ वास्तविक आय की वृद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं। वे तथ्य कुछ इस प्रकार हैं:

1) एक ऐसे देश में जहां प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, श्रम-शक्ति की वृद्धि, काम का प्रभावशाली संगठन बनाती है।
2) विदेशी-व्यापार की वृद्धि जो लाभदायक होता है।
3) उत्पादन में लगे हुए पुरुषों और स्त्रियों की संख्या में आनुपातिक वृद्धि।
4) श्रम की अधिक उत्पादकता के लिए पूंजी-निवेश।
5) कार्य-कुशलता में वृद्धि।
6) कम उत्पादक व्यवसायों से अधिक उत्पादक व्यवसायों की ओर जाना।
7) वर्तमान उत्पादन क्षमता का सदुपयोग।

गोखले भी औद्योगिक विकास के संदर्भ में जापानियों के अनुभव से प्रभावित हुए और कहा कि नीचे दिए गए तत्व जापानियों के उद्भव में मुख्य रूप से सहायक सिद्ध हुए:

1) जापान की अत्यधिक शक्तिशाली राष्ट्रीयता।
2) चालीस वर्ष पहले उत्पादन के पश्चिमी तरीकों को अपनाना।
3) राष्ट्रीय अनुशासन की तीव्र चेतना।
4) जीवन-यापन की विधि का आधुनिकीकरण करने के लिए प्रयत्नों का जोरदार संकेंद्रण।

गोखले इस दिशा में वास्तव में आगे बढ़े और भारत की सरकार को सलाह दी कि वह जर्मन अर्थशास्त्री लिस्ट की उन नीतियों और सिफारिशों को माने जिनके आधार पर औद्योगिक विकास को संरक्षण मिला था, जिसे राज्य द्वारा प्रायोजित किया गया था। आधुनिक भारतीय सूती वस्त्र उद्योग और टिस्को (TISCO) का शीघ्र उदय इन्हीं विचारों के परिणामस्वरूप हुआ था। यहां इस बात पर भी ध्यान दिया जाए कि गोखले के विचार से राज्य का यह दायित्व होता है कि वह गरीब तबके के लोगों के कल्याण का दायित्व अपने ऊपर ले। कल्याणकारी राज्य के विचार के जो तत्व आज हमारे सामने हैं वे गोखले के कुछ लेखों में मिलते हैं।

ये तो शुरुआत की बातें थीं और राष्ट्रीय विकास का संपूर्ण कार्यक्रम इस सदी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में नियमित रूप से प्रारंभ हुआ। प्रोफेसर गांगुली ने इसका नामकरण "गांधी और नेहरू की दुनिया में राजनैतिक अर्थव्यवस्था" किया

है। 26 जनवरी 1930 को स्वतंत्रता के बारे में जो सुप्रसिद्ध प्रतिज्ञा की गई थी उसके आर्थिक संदर्भ से यह साफ-साफ पता चलता है कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के विकासात्मक परिप्रेक्ष्य का आधारभूत क्षेत्र क्या था। उसकी मुख्य-मुख्य बातें नीचे दी जा रही हैं:

1) भारत में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय निवासियों को सिर्फ स्वतंत्रता के अधिकार से ही वंचित नहीं किया वरन् यहां के विशाल जन समुदाय का खुद शोषण किया।
2) आर्थिक रूप से भारत को बर्बाद कर दिया गया था। यहां के लोगों से जो राजस्व वसूल किया जाता था वह उनकी आय के अनुपात में बहुत ज्यादा होता था। हमारी औसत आय 7 पैसे प्रतिदिन थी जो दो पैसे से भी कम थी। इसके बावजूद हमें भारी कर देने पड़ते थे। किसानों से वसूल किए जाने वाले भू-राजस्व में 20% की वृद्धि कर दी गई और नमक-कर 3% बढ़ा दिया गया जिसका भारी बोझ गरीबों को उठाना पड़ा।
3) ग्रामीण उद्योग नष्ट कर दिए गए जिससे किसान लोग साल में कम से कम चार महीने बेकार बैठे रहते थे। दस्तकारी की सुविधा न होने से उनकी प्रतिभा का ह्रास होता जा रहा था। साथ ही दूसरे देशों की तरह उनकी बर्बाद की गई दस्तकारी के बदले में कोई अन्य साधन भी उपलब्ध नहीं कराये गए।
4) सीमा शुल्क और मुद्रा का इस तरह से जोड़-तोड़ किया गया कि उसका बोझ भी किसानों पर पड़ता था। भारतीय आयात के एक बड़े भाग के रूप में इंग्लैंड की बनी चीजें भारत में आती थीं। सीमा-शुल्क में ब्रिटिश निर्माताओं के साथ स्पष्ट पक्षपात दिखायी देता था। उससे प्राप्त राजस्व का उपयोग जन समुदाय का बोझ हल्का करने में नहीं बल्कि देश के उच्च खर्चीले प्रशासन के वित्तीयन में किया जाता था। विनिमय-अनुपात में मनमाना फेर-बदल किया जाता था जिसके परिणामस्वरूप करोड़ों की राशि देश के बाहर चली जाती थी। 1930 में गांधी जी ने भी विदेशी ऋण को अस्वीकार करने की वकालत की।

बंबई के कुछ उद्योगपतियों ने इस बात की वकालत की कि स्वतंत्रता के बाद व्यापार और उद्योग में इंग्लैंड और भारत की पूंजी के साथ समानता का व्यवहार किया जाए। इस पृष्ठभूमि में गांधीजी ने कांग्रेस कार्यसमिति से एक प्रस्ताव अपनी उपस्थिति में पारित करवाया जिसमें निम्नलिखित बातें शामिल थीं:

1) जिन कंपनियों के मालिक विदेशी थे और जो विदेशी प्रबंध के अंतर्गत थीं, और भारत में उनकी स्थापना रुपए की पूंजी से की गई थी वे भारत को विभेदक संरक्षणनीति से मिलने वाले लाभों से वंचित कर रही थीं।
2) भारत की सरकार के 1935 के अधिनियम के संवैधानिक उपबंध इस गणना पर आधारित थे कि भारत की राष्ट्रीय संपत्ति और संसाधनों का शोषण विदेशी नागरिकों, खासतौर से इंग्लैंड के पूंजीपतियों के लिये आरक्षित कर दिया जाए। कार्य समिति ने यह भी तय किया कि भारत को "भेद-भाव" शब्द को प्रयोग करने का अधिकार है यदि उस शब्द का प्रयोग विदेशी हितों के विरुद्ध हो। भारत अपने हितों की रक्षा के लिए इसे जब भी और जहां भी चाहे प्रयोग कर सकता है।
3) विदेशी पूंजी या प्रतिभा को प्रयोग भारत में किया जा सकता है यदि जरूरत के समय वे यहां उपलब्ध न हों। लेकिन वे भारतीयों के नियंत्रण, निर्देश और प्रबंध के अंतर्गत होनी चाहिए क्योंकि यह बात भारत की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए बहुत जरूरी है।
4) स्वदेशी उद्योग वही कहलाएगा जो भारतीयों के नियंत्रण, निदेश और प्रबंध के अंतर्गत कार्य करे। भारतीय संसाधनों का विकास ऐसे उद्योगों द्वारा ही संभव है जो भारतीय नियंत्रण, निदेश और प्रबंध के अंतर्गत हों। यह बात भारत की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए बहुत जरूरी भी है।

इस प्रकार से राष्ट्रीय आत्मविश्वास द्वारा विकास के लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है।

1.6.3 नेहरू और राष्ट्रीय योजना समिति

1929 से 32 के बीच भयानक मंदी का अनुभव और पश्चिम में बड़े पैमाने पर उत्पादन के फलस्वरूप रोजगार की स्थिति का नाटकीय विघटन, ये ऐसे प्रमुख कारण थे जिनसे गांधीजी की उत्पादन का विकेंद्रीकरण करने की आवाज ऊंची हो गई। उन्होंने लघु उद्योगों की स्थापना पर बल दिया। गांधीजी की यह तीव्र इच्छा थी कि प्रारंभिक उत्पादकों के साथ भी न्याय हो और वे भी ठीक कमाई कर सकें जो बड़े पैमाने के उत्पादन के संदर्भ में शायद सुनिश्चित नहीं होता। गांधीजी यह जानते थे कि सहयोग की भावना से ही प्रतिभावान श्रम-शक्ति का संगठन समाज-हित के लिए किया जा सकता है। उन्होंने यह साफ देखा था कि कागज की मुद्रा से मिलने वाला श्रम यदि अधिक नहीं हो तो उतना अच्छा तो था ही जितनी सोने सुरक्षित कागजी मुद्रा। उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि श्रम पूंजी निर्माण का स्रोत है। गांधीजी ने स्वदेशी को स्वराज अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता में बदल दिया जिसके अंतर्गत गरीबों को आधारभूत सुविधाएं सुनिश्चित करायी जाएंगी। फिर भी, प्रोफेसर एन.के. बोस, जो भारत के सुप्रसिद्ध नृविज्ञानी थे, के साथ 1934 में बात करते समय गांधीजी ने कहा था की उनकी आपत्ति राज्यवादी समाजवाद से है क्योंकि राज्य हिंसा पर आधारित होता है जैसा कि इसकी व्याख्या से स्पष्ट है। लेकिन जिस समय पश्चिमी देशों की पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाएं भयानक मंदी की जकड़ में आ गई थीं उसी समय ह्रास में राज्य द्वारा संचालित केंद्रीकृत योजना कौतुकपूर्ण एवम् आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर रही थी।

1936 में फैजपुर की कांग्रेस में नेहरू ने "भारत में समाजवादी परिप्रेक्ष्य" पर अपने विचार व्यक्त किए। फिरोजपुर कांग्रेस के बाद से राष्ट्रीय योजना समिति के कार्यों में नेहरू के विचारों का प्रतिपादन किया गया। हालांकि इस समिति की स्थापना उस समय हुई थी जबकि सुभाषचंद्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष थे। किंतु भविष्य में भारत के आर्थिक विकास के संबंध में

नेहरू के विचार स्पष्ट रूप से इस बात पर आधारित थे कि राष्ट्रीयता को महत्व दिया जाए और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हो। योरोपीय समाजवाद ने शायद ऐसा सोचा भी नहीं था। इससे नेहरू की फेबियन समाजवादी विचारधारा जो "सहकारी लोकहित" (Cooperative Commonwealth) पर आधारित थी और गांधी जी की अर्थव्यवस्था का विकेंद्रीकरण करने की विचारधारा जो पंचायती राज पर आधारित थी, दोनों एक ही बिंदु पर आ गई।

जब नेहरू ने राष्ट्रीय योजना समिति की 29 उप समितियों के काम को ध्यान से देखा तो वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कारगर योजना में आर्थिक ढांचे का समाजीकरण करने की बात जरूर शामिल की जाए। उस समय दो विचारधाराएं थीं, एक का विश्वास समाजवादी स्वामित्व पर था और दूसरी का निजी पूंजी पर। लेकिन राष्ट्रीय योजना समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि योजना का परिचालन राज्य द्वारा समन्वय के सिद्धांतों के आधार पर हो। यह इस प्रकार किया जाए कि रक्षा-उद्योग राज्य के क्षेत्र में रहें, दूसरे प्रमुख उद्योगों को भी राज्य के स्वामित्व में रखा जाए और उन्हें या तो राज्य खुद अपने पास ही रखे या उन्हें स्वायत्त जन निकायों द्वारा चलाया जाए। यह भी तय किया गया कि भूमि, वन, नदियां जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर पूरी तरह से भारतीय जनता का सामूहिक अधिकार रहेगा। कृषि के लिए सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि दोनों प्रकार के तरीकों को अपनाने का प्रस्ताव किया गया। नेहरू के विचार से राष्ट्रीय योजना का यह उद्देश्य होता है:

1) समाज की "परिग्रही प्रवृत्ति" को सीमित करना।
2) प्रगति के मार्ग की अनेक बाधाओं को हटाना।
3) आम आदमी के लिए ऐसी योजना बनाना जिससे उसका रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो और उसे प्रगति के लिए अधिक सुअवसर प्राप्त हों। इस प्रकार के लक्ष्य तक लोकतंत्रीय स्वतंत्रता द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।

यही विचार आगे चलकर भारत के संविधान के लिए निदेशात्मक सिद्धांत बने और 1950 से प्रारंभ होने वाली राष्ट्रीय योजनाओं के लिए मूल आधार साबित हुए। यहां बड़े-बड़े व्यवसायियों द्वारा बनाई गई "बंबई योजना" को नहीं भुलाया जा सकता। इसी समय संयोग से ऐसा हुआ कि द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बहुत बड़े घाटे का बजट हो गया जिसे संभालने के लिए निर्बाध गति से मुद्रा का प्रसार हुआ, और दूसरी बात यह हुई कि जमाखोरी और काले धन की प्रवृत्ति बढ़ गई जिसके परिणामस्वरूप 1942-43 में बंगाल में भंयकर अकाल पड़ा। इसका दुष्प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर आजादी के बाद तक बना रहा। इस सबके बाद भी देश के विभाजन ने हमारे जीवन और हमारी अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। जिस समय हम भविष्य के लिए योजना बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, उस समय हमारी यह दशा थी।

बोध प्रश्न 3

1 एक साधारण अवरुद्ध (stagnant) अर्थव्यवस्था की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि क्या आपके विचार से यह भारतीय औपनिवेशिक की अर्थव्यवस्था का समुचित विवरण प्रस्तुत करती है। चार वाक्यों में उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 बाह्य और आंतरिक प्रवाह की 4 वाक्यों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 निशान लगाकर बताइए कि निम्नलिखित में से कौन सही (√) है और कौन गलत (×)

1 राष्ट्रवादियों के विचार से भारत के पिछड़ेपन का कारण मानसून की अनिश्चितता थी ( )

2 गोखले चाहते थे कि आर्थिक विकास की शुरुआत राज्य करे लेकिन गांधीजी ऐसा नहीं चाहते थे ( )

3 "स्वदेशी" का अर्थ था कि उत्पादन में पश्चिमी आधुनिक विज्ञान और तकनीक का बहिष्कार किया जाए ( )

4 नेहरू स्वदेशी के विरुद्ध थे क्योंकि वे आधुनिक विज्ञान और तकनीक का उपयोग करते हुए समाजवादी औद्योगीकरण चाहते थे ( )

5 गांधीजी का विचार था कि जब छोटे पैमाने के उत्पादन में श्रमिकों को उत्पादन का उचित भाग मिलना सुनिश्चित हो गया तो फिर स्वदेशी स्वराज बन गया ( )

1.7 सारांश

इस इकाई में हमने औपनिवेशिक संबंधों और आर्थिक प्रवाह के तीन चरणों के लक्षणों के बारे में पढ़ा है। हमें यह मालूम हुआ है कि एक साधारण अवरुद्ध अर्थव्यवस्था, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की समुचित व्याख्या नहीं है और आर्थिक प्रवाह एक पेचीदी घटना है जिसमें मौद्रिक क्षेत्र सहित अर्थव्यवस्था का पूरा ढाँचा शामिल हो जाता है। उसमें बाह्य और आंतरिक दोनों प्रवाहों पर विचार करना होता है। 19वीं सदी के अकाल इस प्रक्रिया के परिणाम थे। आर्थिक प्रवाह का सिद्धांत औपनिवेशिक शासन के दौरान राष्ट्रवादियों की समालोचना का विषय रहा था। स्वदेशी आंदोलन के दौरान विकास के संबंध में समुचित विचार सामने आए। यही विचार भारतीय योजना में शामिल किए गए।

1.8 शब्दावली

आर्थिक प्रवाह

अ) बाह्य: निर्यात आधिक्य और कीमती धातुओं के प्रचलन द्वारा भारत के संसाधनों का इंग्लैंड को हस्तांतरण और उसके बदले में भारत को कोई भुगतान न मिलना **बाह्य आर्थिक प्रवाह** कहलाता है।

ब) आंतरिक: आय, आय देने वाले सुअवसर, परिसंपत्ति आदि का एक खंड की अर्थव्यवस्था से दूसरे खंड की अर्थव्यवस्था को हस्तांतरण **आंतरिक आर्थिक प्रवाह** कहलाता है। यह हस्तांतरण मुख्य रूप से कृषि और दस्तकारी के छोटे उत्पादकों के क्षेत्र से शहरों और निर्यात क्षेत्रों और बड़े भू-हितों और व्यापारियों आदि को होता है।

दस्तकारी का ह्रास: इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से ब्रिटिश विनिर्माता, खासतौर से सूती वस्त्रों के, भारतीय बाजार में आए और भारतीय दस्तकारी, खासतौर से सूती वस्त्रों की दस्तकारी, प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकी और उसका ह्रास होने लगा।

निर्यात आधिक्य: किसी देश के माल और सेवाओं का निर्यात उसके आयात की तुलना में अधिक होना निर्यात आधिक्य कहलाता है। भारत के संदर्भ में स्थिति यह थी कि इंग्लैंड के साथ इसके व्यापार में निर्यातों के बदले में अक्सर समान भुगतान नहीं किया जाता था और उसे भारत के गृह व्यय तथा इंग्लैंड के युद्ध व्यय के रूप में समायोजित कर लिया जाता था।

वित्त पूंजी: वित्त पूंजी आय के उस भाग को कहते हैं जिसमें व्यवसाय की जोखिम और अनिश्चितता शामिल नहीं होती, अपितु वह ब्याज के रूप में एक निश्चित आय की गारंटी करती है। "गारंटी प्रणाली" के अनुसार इंग्लैंड द्वारा भारत में रेलवे पर किया गया निवेश और भारत का जन ऋण इस प्रकार की वित्त पूंजी के उदाहरण थे।

अकाल: औपनिवेशिक शासन के राष्ट्रवादी समालोचकों के मत से अकाल "आर्थिक प्रवाह" रूप सिक्के का दूसरा पक्ष था क्योंकि सच्चाई यह थी कि 19वीं सदी में अकाल की बारंबारता और तीव्रता दोनों ही बहुत बढ़ गई थी।

गृह व्यय: गृह व्यय हिसाब की एक युक्ति थी जिसके अनुसार ब्रिटिश निवासियों की पेंशन, वेतन आदि के भुगतान के रूप में भारत के संसाधन और राजस्व ब्रिटिश निवासियों को दिया जाता था। कभी-कभी इसमें ब्रिटिश राज्य का युद्ध व्यय भी जोड़ लिया जाता था।

औद्योगिक क्रांति: यह एक प्रक्रिया थी जो सबसे पहले इंग्लैंड में 18वीं सदी के उत्तरार्ध में प्रारंभ हुई और 19वीं सदी के पूर्वार्ध के अंत तक चलती रही, जब मशीनों और शक्ति के प्राकृतिक साधनों, यथा जन शक्ति और भांप, के प्रयोग के कारण इंग्लैंड में श्रम की उत्पादन क्षमता और, दोनों, बहुत तेजी से बढ़ रही थी।

व्यावसायिक ढाँचा: मोटे तौर से इसकी व्याख्या उस कार्यकारी जनसंख्या के अनुपात में की जाती है जो प्रारंभिक, गौण और उपनिवेश के क्षेत्रों में काम करती है। भारत में 19वीं सदी के उत्तरार्ध में श्रम शक्ति के उस भाग में कमी आ गई थी जो गौण अर्थात् विनिर्माण क्षेत्र में काम करता था।

अनुपात-विवाद: सोने, चांदी और स्टर्लिंग के साथ रुपए की विनिमय दर की नीति के बारे में राष्ट्रवादी आलोचकों और ब्रिटिश नीति निर्धारक अधिकारियों के बीच हमेशा विवाद चलता रहा। भारतीय उद्योग के समर्थकों का अक्सर यह मत था कि रुपए का अधिमूल्यन किया गया था जिससे भारतीय निर्यात की प्रतियोगिता शक्ति घट गई। जबकि ब्रिटिश नीति निर्धारकों की तीव्र इच्छा यह थी कि गृह-व्यय की राशि वही बनी रहे। इससे वे इस बात पर अड़े रहे कि सोने और स्टर्लिंग के साथ रुपए की विनिमय दर कम न हो।

स्वदेशी: यह भारतीय राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया थी जो औपनिवेशिक शासन को ललकारने, विदेशी माल के प्रयोग का बहिष्कार करने, देशी उद्योगों और उनके उत्पादन के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए हुई थी।

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भट्टाचार्य, सव्यसाची, *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,* राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1990, अध्याय 1 एवं 10।

Dutt, R.P., *India Today*, Manisha, Second Indian Edition, Calcutta, 1970, Part II.

Ganguli, B.N., *Indian Economic Thought.* Tata McGraw Hill, New Delhi, 1977, particularly Chapters 2,6,7,8,9,10,11 and 12.

Ghosh, D.N., *Banking Policy in India,* Allied Publishers, New Delhi, 1979, Part I, Chapter 2.

Kumar, Dharma and Raychaudhuri, T., *The Cambridge Economic History of India,* Vol. 2, Orient Longman, Hyderabad, 1984, particularly A. Heston, "National Income".

Morris, M.D., Matsui, T., Chandra Bipin and Raychaudhuri, T., *Indian Economy in the Nineteenth Century: A Symposium*, Hindustan Publishing Corporation, Delhi, 1969.

Singh, V.B. (Edited), *Economic History of India 1857-1956,* Allied Publishers, New Delhi, 1975; particularly Joshi, M.D., *"Currency,"* and Panandikar, S.G., *"Banking"*

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 भाग 1.1 को ध्यान से पढ़िए और अपना उत्तर प्राप्त कीजिए।

2 अ 1 (×), 2 (×), 3 (√), 4 (√), 5 (√), 6 (√)
ब 1 (×), 2 (√), 3 (√), 4 (√), 5 (√), 6 (√)

बोध प्रश्न 2

1 भाग 1.4.1 ध्यान से पढ़िए और अपना उत्तर प्राप्त कीजिए।

2 अ. भाग 1.4.2 ध्यान से पढ़िए और अपना उत्तर प्राप्त कीजिए।
ब. भाग 1.4.2 ध्यान से पढ़िए और अपना उत्तर प्राप्त कीजिए।
स. भाग 1.4.2 का अंतिम पैरा ध्यान से पढ़िए और अपना उत्तर प्राप्त कीजिए।

बोध प्रश्न 3

1 एक साधारण अवरुद्ध अर्थव्यवस्था में श्रम की उत्पादकता, कीमतें, मौद्रिक आय और वास्तविक आय स्थिर रहती है। भारत में ब्रिटिश शासन की अंतिम सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था की बहुत कुछ यही स्थिति थी। रेलवे के आगमन से कृषि का बड़े पैमाने पर वाणिज्यीकरण हुआ और भारत से निर्यात और यहां पर आयात की प्रतियोगिता बढ़ गई। हालांकि उससे पहले भी मानसून के कारण कभी तो फसलें बराबर हो जाती थीं और कभी अत्यधिक उत्पादन होता था जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन और रोजगार में तीव्र उतार-चढ़ाव होता रहता था।

2 भाग 1.5.2 पढ़िए और अपना उत्तर प्राप्त कीजिए।
1 (×), 2 (×), 3 (×), 4 (×), 5 (√)

इकाई 2 कृषि भूमि संरचना : 1850 से 1940

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 कृषि का व्यापारीकरण
2.2.1 प्रक्रिया
2.2.2 प्रभाव
2.3 भूमि सम्बन्ध
2.4 काश्तकारी प्रथाएं : उनका विकासक्रम
2.5 ज़मींदारी प्रथा
2.6 रैयतवाड़ी प्रथा
2.7 महलवाड़ी प्रथा
2.8 सारांश
2.9 शब्दावली
2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको 1850 से 1940 तक भारतीय कृषि में विकास का परिचय मिलेगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित की व्याख्या कर सकेंगे :

- कृषि के व्यापारीकरण और इसके विकास क्रम का क्या अर्थ है,
- इस समय देश में प्रचलित विभिन्न प्रकार के भूमि सम्बन्ध और राजस्व तथा काश्तकारी व्यवस्था, और
- किस प्रकार इन प्रणालियों और सम्बन्धों ने भारत के किसान वर्ग को प्रभावित किया।

2.1 प्रस्तावना

वर्तमान को समझने के लिए आमतौर पर भूत को परखना आवश्यक है। इसी लिये समाज-वैज्ञानिक पिछले वर्षों में हुए विकास क्रम का अध्ययन करते हैं। कभी-कभी तो वे वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढांचे को समझने के लिए सदियों तक के विकास क्रम को देखते हैं।

आज की भारतीय कृषि में उत्पादन की अवस्था को समझने के लिए इसी प्रकार का अभ्यास आवश्यक है। यहां उत्पादकता का निम्न स्तर, भूमि जोत का केंद्रीकरण, भूमिहीन श्रमिकों का विशाल समूह और गरीब कृषक वर्ग तथा ग्रामीण धन और आय में भारी प्रादेशिक असमानता के क्या कारण हैं? इसका क्या कारण है कि कुछ प्रदेश समृद्ध हैं और उनकी कृषि का उत्पादन स्तर विकसित देशों के बराबर का है? इसके साथ ही कई ऐसे प्रदेश हैं जहां उत्पादन स्तर अत्यंत निम्न है। इन प्रश्नों के उत्तर हमें कृषि क्षेत्र में हुए पिछले विकास क्रम से मिलेंगे। इस इकाई में हमें भारतीय कृषि के (1850 से 1940 तक) कुछ महत्वपूर्ण ढांचों व उनके उद्भव का वृतांत मिलता है जिससे हम यह समझ सकते हैं कि वर्तमान भूमि ढांचा किस प्रकार विकसित हुआ है। तत्कालीन कृषि ढांचा, आर्थिक अपक्षय के तंत्र का एक महत्वपूर्ण भाग भी था।

2.2 कृषि का व्यापारीकरण

1850 के बाद का समय आधुनिक भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास क्रम में एक महत्वपूर्ण चरण है। यह समय अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण के रूप में विशिष्ट हुआ। 1850 के पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी और दूसरे अंग्रेज़ व्यापारियों ने, जिन्हें एजेन्सी हाउस कहा जाता था, सीधे लूटपाट की, देश की परम्परागत हस्तशिल्प को नष्ट करके उसे ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लिए एक बाज़ार के रूप में परिवर्तित कर दिया। बदले में वे कम दाम पर कच्चा माल खरीदते थे और ब्रिटेन में अपने उद्योगों में प्रयोग के लिए भेजते थे। 1850 के बाद जब रेलों का विस्तार आरम्भ हुआ, यह प्रक्रिया और अधिक तेज हो गई तथा अंग्रेजों ने अपने आपको ब्रिटेन से पूंजी के आयात, बैंकों तथा आयात-निर्यात कम्पनियों की स्थापना से और अधिक सुदृढ़ कर लिया। इसको साम्राज्यवाद के उत्कृष्ट चरण का आरम्भ कहा जा सकता है, जिसे हम पिछली इकाई में देख चुके हैं।

2.2.1 प्रक्रिया

व्यापारीकरण से हम क्या समझते हैं? इसका अर्थ है, कि उत्पादन का बाज़ार की ओर अभिमुख होना, इसके अन्तर्गत उत्पादन में आधिक्य पर जोर दिया जाता है ताकि उसे बाजार में बेचा जा सके। किन्तु 1850 के बाद भारतीय कृषि का व्यापारीकरण एक प्राकृतिक रूप से विकसित प्रक्रिया नहीं थी। बल्कि कृषकों पर अंग्रेज़ों द्वारा सीधे तौर पर अथवा उनके दलालों जैसे व्यापारी, महाजन और ज़मींदारों इत्यादि द्वारा परोक्ष रूप से थोपी गई थी। जबरन व्यापारीकरण का तंत्र कैसे काम करता था? यह हर फसल के लिए अलग था। इसकी सबसे प्रचलित विधि किसानों को कर्ज़ देकर, मालगुजारी की नकद रूप में अदायगी को अनिवार्य बनाकर उनके उत्पादन पर प्रभुत्व स्थापित करने की थी। बिचौलियों द्वारा कृषकों पर पहले से तय की हुई कीमत पर फसल खरीदने की शर्त लगाई जाती थी। उनको अंग्रेज़ों और जमींदारों द्वारा लगाए हुए कर और मालगुज़ारी के भारी बोझ से मज़बूर होकर ऋण लेना पड़ता था, जो बिचौलियों द्वारा वसूल किया जाता था। इसके अलावा, यूरोप के बाज़ार और कृषकों में कोई सीधा सम्बन्ध न होने के कारण कृषकों को अपनी उपज बेचने के लिए इन बिचौलियों पर ही निर्भर होना पड़ता था। जबरन व्यापारीकरण की दूसरी मिसाल बाग़ानों में मिलती है — खासकर चाय के बागानों, में अंग्रेज़ों ने बाग़ान उन क्षेत्रों में लगाए जहां आबादी का दबाव कम था और दूर-दराज़ जगहों से इन बाग़ानों में मज़दूर लाए जाते थे। इन मज़दूरों की दशा गुलामों की तरह थी।

कृषि के व्यापारीकरण को लागू करने का दूसरा तरीका अर्थव्यवस्था का मुद्रीकरण था। कर और मालगुज़ारी वस्तु के बजाय नकद वसूल की जाने लगी। इससे कृषकों को, जो कृषि से केवल जीवन निर्वाह भर कर पाते थे, वाणिज्य फसलें उगाने के लिए मज़बूर होना पड़ा, जिनको बेचकर वे कर और मालगुज़ारी अदा कर सकते थे। इस प्रकार एक कृषक परिवार को, जो कि खाद्य फसलों से मुश्किल से गुज़ारा करता था, वाणिज्य फसलों की ओर झुकने पर उसे अपना उपभोग और भी कम करना पड़ा। पिछली सदी के अन्त से द्वितीय विश्व-युद्ध तक कुल फसलों के उत्पादन में वाणिज्य फसलों का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ने लगा, अपितु प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धि कम हो गयी।

2.2.2 प्रभाव

वाणिज्य फ़सलों की ओर अग्रसर होने से ग्रामीण वातावरण पर बहुत भयानक असर पड़ा। इससे कृषि समाज की संरचना में अन्तर को बढ़ावा मिला। ज़मींदार लोग जिन्हें भूमि के निर्धारित क्षेत्र से मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार मिल गया था, कृषकों से अधिकतम लगान वसूल करते थे, जबकि अंग्रेज़ों को उनकी मालगुज़ारी स्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्रों की अदायगी में नियत थी। अदायगी के ऊपर वसूली का अधिशेष, सुविधाओं को बेहतर बनाने के बजाय सूद पर ऋण देने के काम आता था। इस आधिक्य का अधिकांश भाग ज़मींदारों के वैभवपूर्ण रहन-सहन में खर्च होता था, जो इस समय के उपन्यासों का बहुत प्रिय विषय था। 1859 से 1885 के बीच उन भाग्यशाली भूमिधारी कृषकों को भी लाभ पहुंचा, जिन्हें मनमाने ढंग से बेदखली या कर बढ़ाने के विरुद्ध कानूनन सुरक्षा प्राप्त थी। वे अपनी भूमि को शिकमी पट्टेदारों या बटाईदारों को शिकमी पट्टे पर दे देते थे और आधिक्य को भूमि के सुधार में लगाने के बजाय कर वसूल करना बेहतर समझते थे। इस प्रकार काश्तकार और अन्तिम मालगुज़ारी वसूली अधिकारी के बीच बिचौलियों की एक श्रेणी का उद्भव हुआ, जो भूमि की अधिक उपज को बिल्कुल निचोड़ लेते थे। फलस्वरूप इन क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता कम रही।

अन्त में, रेलों के जाल के विस्तार से कृषि का व्यापारीकरण और गहरा हो गया। 1859 में केवल 432 किलोमीटर रेलवे लाइनें थीं। 1869 तक यह जाल 5000 किलोमीटर तक फैल गया। कृषि का व्यापारीकरण और रेलवे का विकास परस्पर सम्बन्धित थे। ये रेलों का प्रयोग मुख्यतः कच्चे माल को भीतरी प्रदेश से बन्दरगाहों तक और ब्रिटेन में बने माल को बन्दरगाहों से भीतरी प्रदेशों तक ले जाने में होता था। स्वेज़ नहर के खुलने के बाद, खाद्यानों का निर्यात भी बढ़ने लगा, यहां तक कि देश में दुर्भिक्षों के बावजूद भी निर्यात होता था। कृषि पदार्थों की वसूली और उन्हें रेल के अड्डों तक ले जाने का काम देशी व्यापारी और दलालों को सौंपा गया था। वे ही इस बात का निर्णय करते थे कि कौनसी फसलें उगाई जाएं।

एक प्रश्न अक्सर यह उठाया जाता है कि क्या कृषि के व्यापारीकरण से पूंजीवाद और आधुनिकीकरण के विकास का पहला चरण आरम्भ हुआ? कुछ लोग वैसा ही सोचते हैं क्योंकि आधुनिक पूंजी का विकास आम वस्तु के उत्पादन का मुख्य रूप से उसे बेचने से सम्बन्धित है। किन्तु कृषि उत्पादन बिक्री के लिए बाज़ार में स्वाभाविक और स्वतंत्र रूप से नहीं बल्कि एक आर्थिक विवशता के रूप में आता था। उत्पादन की व्यवस्था या उत्पादन सम्बन्ध अभी भी पूर्व पूंजीवादी रूपों से प्रभावित थे। हम इनकी कुछ प्रमुख विशिष्टताएं बताएंगे।

प्रथम, उत्पादन का नियंत्रण उन लोगों द्वारा किया गया, जो अतिरेक उपज का मुख्य अंश न केवल भूस्वामित्व के कारण हथिया लेते थे बल्कि काश्तकारों को ऊंचे सूद पर रुपया उधार देकर और लगान व मालगुज़ारी की भारी मांग से आजीवन ऋणी रखकर भी ऐसा करते थे। काश्तकारों पर आर्थिक प्रभुत्व बहुधा उन ऊंची जातियों द्वारा रखा जाता था जिन्हें शासन से आम तौर पर अतिरेक संरक्षण मिलता था। इसलिये साधारणतया ग्रहण की व्याख्या पूंजी और श्रम के बीच उत्पादन के क्लासिकी पूंजीवादी सम्बन्धों के परिपेक्ष में करना आसान नहीं है। कई गैर आर्थिक कारकों को भी इसकी व्याख्या के लिए ध्यान में रखना पड़ेगा।

दूसरे, पूंजीवाद ऐसी प्रणाली है जो उत्पादक शक्तियों के विकास को बढ़ावा देती है। इससे उत्पादन, विशेष तौर पर पूंजीवाद के आरम्भिक चरण में, बड़ी तेजी से बढ़ता है। किन्तु भारत में ऐसा नहीं हुआ। उत्पादकता का स्तर अवरुद्ध हो गया, जबकि कृषकों की दरिद्रता बढ़ती गई। ऐसे अनेक वृतांत मिलते हैं कि भूखों मर रहे कृषकों से लगान और मालगुज़ारी जबरदस्ती वसूल की गई। तत्कालीन उत्पादन व्यवस्था ने प्रौद्योगिकी के विकास को कोई बढ़ावा नहीं दिया।

बड़ी संख्या में बिचौलियों की उपस्थिति ने इस बात को निश्चित किया कि काश्तकार के पास कोई भी आधिक्य निवेश के लिए बाकी न बचे। वे किसान भी जो धनाढ्य हो गए थे, अपनी भूमि को बटाईदारों को पट्टे पर देने लगे और उपज के अपने भाग से निर्वाह करने लगे। इससे बिचौलियों की एक और जमात बढ़ गई।

कृषकों की दुर्गति पर व्यापारीकरण का प्रभाव और उनके विरुद्ध भेदभाव, उत्पादन के सम्बन्धों पर निर्भर था। इसमें एक जगह से दूसरी जगह और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में अन्तर था। इसकी व्याख्या निम्नलिखित भाग में करेंगे।

2.3 भूमि सम्बन्ध

भूमि सम्बन्ध की संकल्पना में भूमि से उपजे आधिक्य से सीधे या परोक्ष रूप में जुड़े हुए व्यक्तियों और वर्गों के सामाजिक सम्बन्ध शामिल हैं। अधिक स्पष्ट तौर पर यह किसानों और भूमि की उपज के आधिक्य पर अपना अधिकार घोषित करने वाले लोगों के बीच सम्बन्ध है।

इससे हम इस प्रश्न पर आते हैं कि प्रगतिशील भूमि सम्बन्धों और अधोगामी भूमि सम्बन्धों से हम क्या समझते हैं? पहले प्रकार के सम्बन्धों का अर्थ यह है कि भूमि की उपज के आधिक्य में कृषक का अधिक हिस्सा है, जबकि दूसरे प्रकार के संबंधों में बिचौलिये आधिक्य का अधिकांश भाग सफाचट कर जाते हैं क्योंकि उन्होंने आधिक्य पर अधिकार किया हुआ है।

हम यह युक्तियुक्त प्रश्न पूछ सकते हैं कि इससे कृषि के विकास का क्या सम्बन्ध है? सीधे तौर पर बिचौलियों द्वारा सारे आधिक्य या उसके अधिकांश भाग पर कब्जा कर लेने से किसानों के पास उत्पादकता बढ़ाने के लिए भूमि पर पूंजी लगाने के लिए कुछ भी नहीं बचता। ऐसा इसलिए होता है कि कृषक को न केवल अपनी और अपने परिवार के उपभोग की आवश्यकताएं पूरी करनी होती हैं, उसे बीज भी खरीदना होता है या फसल का कुछ भाग बीज के लिए बचाना पड़ता है। इसके अलावा, उसे खाद खरीदनी होती है, खेतों को सींचने के लिए पानी की भरपाई करनी होती है और खेतों को जोतने के लिए यदि उनके पास हल और बैल नहीं हैं तो उनका किराया भी देना होता है। विभिन्न बिचौलियों के दावे के कारण उसके पास आधिक्य कुछ भी नहीं बचता है, इसलिये वह जोती हुई भूमि पर स्थायी सुधार करने के बजाय अधिक से अधिक फसल बोने और काटने के क्रम को चलाता है। अधिकांश मामलों में, वर्तमान परिस्थितियों में भूमि पर उपज के आधिक्य पर अनेक दावों को चुकाने के बाद काश्तकार अपने निर्वाह की आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकता। इस कारण यह उपभोग की आवश्यकताओं के लिए ऋण लेता है, जोकि कुछ समय के पश्चात् उसे चिरस्थायी ऋण के चक्र में फंसा देता है या अपने ऋणदाता का बंधुआ मज़दूर बनने पर मजबूर कर देता है। इस प्रकार बिचौलियों द्वारा आधिक्य का शोषण शायद किसानों की ग़रीबी या दरिद्रता का बहुत बड़ा कारण है।

मान लीजिए, काश्तकार के पास आधिक्य का बड़ा अंश बच जाता है। अगर वह भूमि का मालिक नहीं है और उसे इस बात का भी निश्चय नहीं है कि भविष्य में वह कब तक भूमि को जोत सकेगा तो आधिक्य होने के बावजूद वह भूमि के ऊपर पूंजी नहीं लगाएगा।

ऐसा भी तर्क दिया जा सकता है कि बिचौलिये, जिनमें से कुछ समृद्ध थे, भूमि पर पूंजी क्यों नहीं लगाते थे। ब्रिटिश काल में अधिकांश बिचौलियों को मालगुज़ारी के अतिरिक्त भूमि में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे अपनी आय शहरों और कस्बों में आडम्बरपूर्ण रहन-सहन में खर्च करते थे। इस प्रकार एक तरफ तो काश्तकार था जिसके पास भूमि पर पूंजी लगाने के लिए कुछ नहीं बचता था और उसे पूंजी लगाने में कोई प्रोत्साहन भी नहीं था तथा, दूसरी ओर बिचौलिये थे जो असल में परजीवी प्रकृति के थे, अपने आधिक्य को आडम्बरपूर्ण रहन-सहन पर खर्च करते थे और भूमि को पूरे तौर पर नज़र अंदाज करते थे। शायद इससे यह बात साफ होती है कि स्वाधीनता के पहले देश के अधिकांश भागों में उत्पादकता नीची क्यों रही।

यह बात हमें स्वीकार करनी होगी कि कुछ क्षेत्रों में प्रचलित भूमि सम्बन्धों की प्रणाली से एक शक्तिशाली कृषक वर्ग का उद्भव हुआ जो कि अपेक्षाकृत समृद्ध था। ब्रिटिश काल में देश के विभिन्न भागों में कौन-सी काश्तकारी प्रथाएँ प्रचलित थीं। और किस प्रकार भिन्न वर्गों पर इसका प्रभाव पड़ा, इसको हम अगले भाग में पढ़ेंगे।

बोध प्रश्न 1

1 पांच वाक्यों में बताइए कि किस प्रकार ब्रिटिश नीति ने कृषि के व्यापारीकरण में सहायता की।

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित में कौन-सी नकदी फसलें हैं (नकदी फसल के लिए "न" और अ-नकदी फसल के लिए "अ" लिखें।
   i) गेहूं
   ii) कपास
   iii) मक्का
   iv) ज्वार
   v) पटसन

3 बतलाइए कि निम्नलिखित वाक्य सही हैं या गलत :
   (सही वाक्य के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखें)
   i) 1850 के बाद रेलों के जाल के विस्तार से भीतरी भागों के कच्चे माल तक अंग्रेज़ों की पहुंच बढ़ गई।
   ii) भारत में कृषि के व्यापारीकरण से ग़रीब किसानों की सर्वांगीण समृद्धि हुई।
   iii) प्रगतिशील भूमि सम्बन्धों का अर्थ है कि पट्टेदारों को बेदखल करने के बाद जमींदार अपनी भूमि पर स्वयं खेती करें।

4 50 शब्दों में बताइए कि भूमि सम्बन्धों ने कृषि के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 काश्तकारी प्रथाएँ : उनका विकासक्रम

पिछले भाग में आपने देखा कि किस प्रकार भूमि सम्बन्ध कृषि के विकास को प्रभावित कर सकते हैं। अब हम इस प्रश्न की ओर आते हैं कि 1850 से देश के विभिन्न भागों में किस प्रकार के भूमि सम्बन्ध प्रचलित थे। स्वयं काश्तकारी प्रथा, अंग्रेज़ों द्वारा कृषि उपज पर थोपे गए मालगुज़ारी बंदोबस्त से विकसित हुई। चूंकि मालगुज़ारी बंदोबस्त एक रूप नहीं था, अतः काश्तकारी प्रथा भी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भिन्न थी।

पहले हमें यह समझना है कि अंग्रेज़ों ने कई किस्मों की मालगुज़ारी प्रथाएं क्यों थोपीं ? इसका उत्तर सरल नहीं है। अंग्रेज़ों की मूल दिलचस्पी ग्रामीण भारत से अधिक से अधिक मालगुज़ारी निचोड़ना था। दूसरी ओर वे काश्तकारी प्रथाओं से कोई प्रयोग नहीं करना चाहते थे क्योंकि इससे उन्हें इच्छित राशि में मालगुज़ारी नहीं मिलती और ग्रामीण जनता भी विमुख हो जाती। इसलिए वे आम तौर पर वही राशि वसूल करते रहते थे और मालगुज़ारी वसूल करने का वही तरीका अपनाते थे जो अंग्रेज़ों के शासन से पहले इन प्रदेशों में प्रचलित था। ऐसा मद्रास और बम्बई प्रेसिडेंसी प्रदेशों में देखने को मिलता है। यहाँ अंग्रेज़ों ने मालगुज़ारी वसूलने की वही प्रथा चालू रखी जो दक्षिणी राज्यों और मराठों ने अपनाई थी। लेकिन इन प्रदेशों में, मालगुज़ारी का निर्धारण और आरोपण, पिछले समय के अधिकतम स्तर पर निर्धारित किया जाता था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे क्षेत्रों में जहां अंग्रेज़ों का राजनीतिक प्रभुत्व आरम्भ हुआ और जो निरंकुश था, मालगुज़ारी की वसूली बिचौलियों और ज़मीदारों द्वारा की जाती थी। ये 1793 के स्थायी बंदोबस्त के क्षेत्र थे, जिसमें एक न्यूनतम निर्धारित मालगुज़ारी ज़मींदारों द्वारा अंग्रेज़ों को देनी होती थी। इस बंदोबस्त की बदौलत उन दलालों को मालिकाना हक मिल गया जो पहले अंग्रेज़ों के लिए सिर्फ मालगुज़ारी उगाहने वाले होते थे। बाद में इसका नतीजा यह हुआ कि पारम्परिक किसानों के भूमि के पैतृक अधिकार समाप्त हो गये।

रैयतवाड़ी क्षेत्रों में मालगुज़ारी की वसूली सरकार द्वारा सीधे की जाती थी। इस प्रथा में रैयत या काश्तकार कर-निर्धारण की इकाई बनाई गई थी और उसे मालगुज़ारी सरकार को सीधे अदा करनी होती थी। इस प्रथा में ज़मींदारी प्रथा के बनिस्पत कुछ फायदे थे, जिसका उल्लेख हम बाद में करेंगे। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इस प्रथा के अन्तर्गत काश्तकार समृद्धशाली थे। अन्त में, महलवाड़ी प्रथा है, जिसमें कर निर्धारण की इकाई गांव थी और मालगुज़ारी की अदायगी गांव की सम्मिलित जिम्मेदारी थी। समाज गांव के काश्तकारों में मालगुज़ारी का हिस्सा तय कर देता था। हम इन प्रथाओं को अलग-अलग लेंगे और कुछ विस्तार में उनकी विवेचना करेंगे।

2.5 ज़मींदारी प्रथा

सन् 1793 के 'स्थायी-बंदोबस्त' से मुख्यतः बंगाल, बिहार और असम के क्षेत्रों में ज़मीदारी प्रथा चालू हुई। स्थायी बंदोबस्त में ज़मींदारों को भूमि का स्वामी घोषित कर दिया गया और पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा फिर सरकार को देय लगान, सदैव के लिए नियत कर दिया गया। इस बंदोबस्त का कारण यह था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा पंद्रह वर्षों के

लूटखसोट के बाद बंगाल में कृषि उत्पादन गिर गया और 1770-71 में एक विनाशकारी अकाल पड़ा। तब वहां, सन्यासी विद्रोह हुआ जो किसान विद्रोह की एक कड़ी थी। इसलिए ऐसा महसूस किया गया कि अगर मालगुज़ारी सदा के लिए निर्धारित कर दी जाए तो ग्रामीण जनता पर मालगुज़ारी की बढ़ती हुई मांगों का बोझ नहीं पड़ेगा और कृषि पुनर्जीवित हो सकेगी।

लेकिन इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को एक नियत मालगुज़ारी की वसूली सुनिश्चित हो जाएगी और बंगाल के गांवों में विदेशी शासन के अधम-आश्रित समर्थकों को स्थापित किया जा सकेगा।

उस समय स्थिति यह थी कि बड़ी मात्रा में धन व पूंजी शहर के व्यापारियों और महाजनों के हाथों में इकट्ठी हो गई थी। इस पैसे का प्रयोग मुख्यतः आवश्यक वस्तुओं की जमाखोरी या फिर सूद पर रुपया उधार देने के लिए होता था। अंग्रेज़ों ने यह महसूस किया कि यदि उन लोगों को रुपया उधार देने और जमाखोरी की अपेक्षा पूंजी को ज़मीन खरीदने और इसे सुधारने में लगाने के लिए प्रेरित किया जाए तो इससे कृषि उत्पादकता को बढ़ावा मिलता। ब्रिटिश नीति निर्धारक ब्रिटेन के बड़े भूस्वामियों की भूमिका का हवाला देते थे।

सन् 1854-55 के बाद सारी ज़मींदारियों में भूमि की कीमतें बढ़ गईं। इसका आभास नीलामी से मिलता है। ज़मींदारी भूमि का नीलामी द्वारा बेचना उस समय आरम्भ हुआ जब ज़मींदार लोग मालगुज़ारी अदा करने में असमर्थ होते थे। तब ज़मींदारों के अधिकार ज़ब्त हो जाते थे और ज़मींदारी सबसे ऊंची बोली देने वाले को नीलाम कर दी जाती थी।

भूमि की कीमतें बढ़ने का तात्कालिक कारण सन् 1855 के बाद कृषि उत्पादन की कीमतें बढ़ना था। जहां किराया नकद देने का प्रचलन था वहां ज़मींदारों द्वारा कृषि उत्पादन की कीमतें बढ़ने के आधार पर ऊंचे लगान लगाने की इजाज़त थी। दूसरे मामलों में जहां लगान उपज के रूप में मिलता था, ऊंची कीमतों के कारण ज़मींदारों द्वारा वसूले लगान का मूल्य स्वाभाविक रूप से बढ़ जाता था। उन मामलों में भी जहां लगान मुद्रा में परिवर्तित होता था, परिवर्तित लगान की ऊंची दर के कारण ज़मींदारों को हानि नहीं होती थी।

दूसरे, भूमि पर जनसंख्या का दबाव भूमिहीनता तथा हस्तशिल्प के पतन के कारण बहुत बढ़ गया जिससे किसानों में काश्तकारी भूमि को पट्टे पर लेने के लिए होड़ होने लगी। इससे ज़मींदार प्रतियोगी किसानों से, काश्तकारी अधिकार को हस्तांतरण करके या उसको धमकी देकर अधिक लगान वसूल करते थे। तीसरे, नील, पटसन और गन्ना जैसी नकदी फसलों की काश्त से भूमि की मालगुज़ारी बढ़ गई, जिससे ज़मींदारों ने भी उसी अनुपात में अपनी लगान की आय बढ़ा ली।

आम तौर पर लगान का दायित्व पूरा न होने के कारण पट्टेदारों को बेदखल कर दिया जाता था। ज़मींदारों की अधिक आय की इच्छा के अतिरिक्त अंग्रेज़ों द्वारा मालगुज़ारी की वसूली तथा ज़मीदारों की अधिक लगान की मांग के कारण बेदखली की घटनाओं में तेज़ी आई। इसके बेदखली से गावों में सामाजिक तनाव बहुत बढ़ गया।

सन् 1920-29 से भूमि की कीमतें गिरने लगीं और यह गिरावट दस साल तक चलती रही। इस तेज़ गिरावट का कारण आर्थिक मंदी था जिसमें कृषि उपज की कीमतें भी गिरीं। इसका एक सहायक कारक था पूंजी की आपूर्ति में गिरावट और बाज़ार में लेन-देन की अस्थिरता। इन सब कारणों से किसान की आय घट गई और उसकी लगान अदा करने की सामर्थ्य क्रमशः घट जाने से लगान अदा करने की चूक बड़े पैमाने पर होने लगी। जमींदार लोग कानून की साधारण प्रक्रिया पर निर्भर न रहकर जबरन कानूनी और अवैध तरीके इस्तेमाल करने लगे थे, परन्तु वे भी कारगर सिद्ध न हुए।

महाजनों की बढ़ती हुई भूमिका के कारण भी किसानों की भूमि के प्रति विमुखता बढ़ी। ऋण देने की ऊंची सूद की दरें, समृद्ध महाजन और ऋणी किसानों के सम्बन्ध की मुख्य बात थी। किसान कई कारणों से ऋण लेते थे — ज़मीदार को लगान देना, बीज खरीदना व कृषि में दूसरे निवेशों पर व्यय, उपभोग के ऋण तथा विवाह और परिवार में मृत्यु जैसे सामाजिक दायित्वों के लिए। ऋण अदा न कर पाने पर महाजन दो सम्भव कार्यवाइयां करता था। पहली ऋणी किसान की भूमि को बेचकर महाजन अपना पावना वसूल करता था। दूसरी किसान उपज का एक और बड़ा भाग ऋण की अदायगी में देकर भूमि पर काश्त करता रहता था। भूमि की गिरती कीमतों के समय में पहले विकल्प की भी कुछ सीमा होती थी, खास तौर पर उन मामलों में जहां महाजन स्वयं काश्त का अधिकार अख्तियार कर लेता था। जहां वह इस हस्तांतरण के लिए राज़ी भी होता तो ज़मींदार, विक्रय मूल्य का बीस-पच्चीस प्रतिशत, पंजीकरण शुल्क के रूप में वसूल कर लेता था।

1938 के संशोधित काश्तकारी अधिनियम (Tenancy Act) से किसान द्वारा काश्त की हुई भूमि के विक्रय पर सारी बाधाएं दूर हो गईं। उस समय महायुद्ध की स्थिति से उत्पन्न मुद्रा स्फीति तथा खाद्यान्न की कमी और उसके कारण ऊंची कीमतों से भूमि का बाज़ार मूल्य भी बढ़ गया। दूसरी ओर, व्यापारियों और दुकानदारों ने, जिन्होंने महायुद्ध के समय ठेकों और सट्टे से बहुत धन कमाया था, अपने धन की कुछ मात्रा भूमि खरीदने की ओर लगाना आरम्भ कर दिया। इस तरह ऐसी स्थिति हो गई जिसमें किसानों का बड़ा भाग और अधिक गरीब और ऋणी हो गया और दूसरी ओर एक नव-धनाढ्य व्यापारी वर्ग का उद्भव हुआ जो किसानों की भूमि खरीदते थे। इसका अर्थ यह कदापि नहीं था कि किसान बेदखल कर दिए जाते थे। उनमें से कुछ अपनी घटी हुई जोत से अपने गांवों में चिपटे रहते थे। पूरी जोत के विक्रय की अपेक्षा जोत के अंश का विक्रय ऋण चुकता करने का अधिक प्रचलित तरीका था।

नये स्वामी भूमि की काश्त हमेशा स्वयं नहीं करते थे। वे भूमि की काश्त बटाईदारों द्वारा करवाते। बटाईदारी एक ऐसी प्रथा थी जिसमें काश्तकार और स्वामी उपज किसी अनुपात में बांट लेते थे। यह तरीका वहाँ अधिक प्रचलित था जहाँ मालिक कृषि वर्ग से नहीं थे। वे अनुपस्थित स्वामी (Absentee Owners) बन गए।

कुछ मामलों में भूमि की काश्त कृषि मज़दूरों द्वारा की जाती थी जो नीची जातियों के होते थे। कई मामलों में कृषि मज़दूर स्वतंत्र मज़दूर नहीं थे। उनकी अपनी जोत बहुत कम थी जो परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं थी। इस नजर से वे ज़मींदार की भूमि पर मज़दूरी करने को बाध्य थे। ऐसा उनको ऋण की अदायगी में भी अक्सर करना पड़ता था।

ज़मींदारी प्रथा में भूमि सम्बन्धों के विकास-क्रम का नतीजा क्या हुआ? सामान्यीकरण करना तो कठिन है किन्तु कुछ प्रभावों का सारांश प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रथम, मालगुज़ारी के भारी बोझ के कारण किसान और ज़मींदार, दोनों कई मामलों में चूक करते थे। दूसरे, जिस भूमि पर बाक़ीदारों का अधिकार था उसकी नीलामी से धनवान व्यापारियों, सूदखोरों और सट्टेबाज़ों का एक नया वर्ग उभरा जो अपना आधिक्य-धन भूमि खरीदने में लगाते थे। तीसरे, लगान का दबाव किसानों पर अधिक था जिससे वे भूमि से पूरी तरह से या आंशिक रूप से बेदखल हो जाते थे तथा उनकी आय और कम हो जाती थी। चौथे, ज़मींदारी-क्षेत्र में ज़मींदारों, अंग्रेज़ों और महाजनों द्वारा कृषि उपज का आधिक्य वसूलने से कृषि में धीरे-धीरे अवरुद्धता आई क्योंकि ये लोग अधिशेष का प्रयोग अपने उपभोग, परजीवी शासन के खर्चे पूरे करने या और अधिक भूमि खरीदने और सूदखोरी के विस्तार के लिये करते थे। कृषि के सुधार में बहुत कम व्यय होता था। अन्त में, ग्रामीण जनसंख्या में बढ़ोत्तरी के साथ भूमिहीन मज़दूरों और किसानों के विशाल समुदाय की गरीबी भी बढ़ी। इस सारे समय में वास्तविक मजदूरी स्तर की लगभग अवरुद्धता को देखते हुए गरीब शोचनीय दशा में थे।

अब हम देखेंगे कि दूसरी मालगुज़ारी प्रथाएं क्या थीं और उनके प्रभाव की व्याख्या करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1 अपने शब्दों में वर्णन कीजिए कि किस प्रकार ब्रिटिश मालगुज़ारी नीति से काश्तकारी प्रथाएँ प्रभावित हुईं। उत्तर तीन वाक्यों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2 ज़मींदारी प्रथा ने ग्रामीण भारत में पारम्परिक-सामाजिक सम्बन्धों को बदल दिया। इस कथन का तीन वाक्यों में औचित्य सिद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3 बताइए कि निम्नलिखित वाक्य सही हैं या गलत : (सही वाक्य के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए)
सन् 1860 और 19वीं शताब्दी के अन्त के बीच कृषि मूल्य बढ़ने के कारण :

i) भूमि की कीमतें बहुत तेज़ी से बढ़ीं।

ii) ज़मींदारों को अधिकतर लाभ हुआ क्योंकि उनकी मालगुज़ारी निश्चित थी।

iii) पूर्वी भारत के ज़मींदारी क्षेत्र में पट्टेदारों ने कम लगान देना आरम्भ कर दिया।

4 पूर्वी भारत की ग्रामीण गरीबी बढ़ाने में महाजनों की क्या भूमिका थी। अपना उत्तर पांच वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 रैयतवाड़ी प्रथा

मद्रास और बम्बई प्रसिडेन्सी के क्षेत्र आम तौर पर रैयतवाड़ी क्षेत्र कहे जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन क्षेत्रों में दूसरी कोई मालगुज़ारी की प्रथा प्रचलित नहीं थी। इन प्रेसिडेन्सियों में बहुत-सी ज़मींदारी जोत भी थीं जोकि मुख्यता अस्थायी बन्दोबस्त की ज़मींदारियां थीं, जिसका अर्थ यह था कि मालगुज़ारी हर 30 साल के बाद बढ़ाई जा सकती थी।

रैयतवाड़ी प्रथा में हर रैयत या काश्तकार के पास भूमि का एक अंश होता था जोकि उसके नाम से पंजीकृत होता था। भूमि का सर्वेक्षण होता था और उसकी उपज आंकी जाती थी और नकद मूल्य में परिवर्तित की जाती थी। मालगुज़ारी निर्धारित होती थी और रैयत मालगुज़ारी की अदायगी के लिए ज़िम्मेदार होता था। मालगुज़ारी की राशि भिन्न-भिन्न होती थी किन्तु इसका आम औसत उपज का आधा भाग होता था।

सन् 1855 में अंग्रेज़ों ने व्यवस्थित सर्वेक्षण और राजस्व निर्धारण की प्रक्रिया आरम्भ की, जो 1864 में समाप्त हुई। ऐसे भी नये क्षेत्र मिले जो पहले मालगुज़ारी की अदायगी से बचे हुए थे। इससे अंग्रेज़ों को मालगुज़ारी अत्यधिक-बढ़ी हुई मात्रा में मिली। मालगुज़ारी आम तौर से पिछली सर्वाधिक उपज के स्तर पर निश्चित की जाती थी। निर्धारण का स्तर बढ़ाने से भी मालगुज़ारी बढ़ी। रैयतों पर मालगुज़ारी का बोझ बहुत ज्यादा बढ़ गया किन्तु सन् 1860 से सदी के अन्त ;क कीमतें अत्यधिक बढ़ने के कारण रैयतों का बोझ कम हो गया क्योंकि नकद भुगतान पिछले 15 वर्षों की औसत मू य के आधार पर निश्चित किया जाता था।

मालगुज़ारी के नकद भुगतान से किसानों के प्रति भेदभाव बढ़ गया। अपेक्षाकृत समृद्ध किसानों ने अपने को नकदी फसलों पर केन्द्रित रखा क्योंकि उनकी कीमतें और अधिक बढ़ रही थीं। कम समृद्ध किसान खाद्यान्न की काश्त करते थे जिनकी कीमतें अपेक्षाकृत स्थिर थीं। इस प्रकार धनाढ्य किसानों पर मालगुज़ारी का भार, कम-धनी किसानों की अपेक्षा तेज़ी से कम हुआ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रैयतवाड़ी क्षेत्रों में दो व्यापक अकाल पड़े। 1865-66 और 1876-78 में खाद्यान्न के उत्पादन में अत्यधिक कमी होने के कारण बड़ी संख्या में बटाईदार, छोटे किसान और कृषि मज़दूर दरिद्र हो गए। इन अकालों में मरने वालों की संख्या का अनुमान 30 लाख से 40 लाख तक किया गया है। लेकिन अंग्रेज़ों ने इन वर्षों में भी मालगुज़ारी की वसूली बन्द नहीं की, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन बहुत से रैयतों को जिनकी मालगुज़ारी बार-बार बकाया चल रही थी, अपनी भूमि बेचनी पड़ी। इस समय की बहुत-सी कथाएं हैं जिनमें रैयतों को मालगुज़ारी का भुगतान करने के लिए अपने बैल और घर की आवश्यक वस्तुएं बेचनी पड़ीं।

इस समय किसान अपनी तात्कालिक समस्याओं से उबरने के लिए महाजनों की ओर झुके। ग्रामीण ऋणग्रस्तता की मात्रा का कोई निश्चित अनुमान उपलब्ध नहीं है, किन्तु ऐसा आम तौर पर यह महसूस किया गया था कि ग्रामीण ऋण की धनराशि बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी की मन्दी तक बढ़ती ही रही, कर्ज़दारों की चूक बड़े पैमाने पर हुई और कई महाजन भी दिवालिया हो गये।

बीसवीं सदी के आरम्भ की मन्दी (depression) के पहले कृषि पैदावार, खासकर नकदी फसलों की कीमतें बराबर बढ़ीं। किसान साधारणतया समृद्ध हुए और कृषि मज़दूरों का नकद वेतन भी बढ़ा। धनाढ्य किसान, चावल मिलें, कारखानों और खदानों की तरफ़ झुके। उनमें से कुछ व्यापार और महाजनी करने लगे। कुछ किसान अपनी भूमि या तो बटाईदारों को देकर या अपने मज़दूरों और पट्टेदारों के हाथ बेचकर शहरों में चले गये।

जन और भूमि के अनुपात में अत्यधिक बढ़ोत्तरी के कारण जनसंख्या का भरण-पोषण करने की समस्याएं खड़ी हो गईं। यह अनुपात निम्नलिखित कारणों से नियन्त्रित रहा। (1) शहरों में जाकर बसना, (2) विदेशों में मज़दूर के रूप में प्रवास, (3) उत्पादकता में वृद्धि के अतिरिक्त, कुल काश्तकारी क्षेत्र बढ़ने से कृषि पैदावार में वृद्धि। किन्तु सन् 1916 के पश्चात् आखिर के दो कारकों का कार्यशील होना बन्द हो गया जिससे खाद्यान्न की उपलब्धि में अत्यन्त कमी हो गई। सन् 1945 में प्रति व्यक्ति पैदावार 1916 की अपेक्षा 30 प्रतिशत कम थी।

रैयतवाड़ी प्रथा में पट्टेदारों की समस्याएं बहुत बढ़ गईं। सन् 1860 तक पट्टेदारों को सूखी भूमि या जहां सिंचाई का समुचित प्रबन्ध नहीं था उस भूमि की उपज का आधा भाग मिलता था। उपजाऊ, सिंचाई वाले और पानी वाली भूमि में उनका भाग कम होता था, जो कि एक तिहाई से पांचवां अंश तक होता था। भूस्वामी और पट्टेदार की ज़िम्मेदारी का स्पष्ट विभाजन किया गया था। 1860 के पश्चात् पट्टेदारों की दशा लगातार खराब होती गई। लगान और कर्ज़दारी बढ़ गए थे। इससे बड़े पैमाने पर बेदखली हुई। कुल नतीजा यह हुआ कि पट्टेदारी-काश्तकार कृषि मजदूर हो कर रह गए। केवल 1930 में ब्रिटिश सरकार ने पट्टेदारी के अधिकारों को सुरक्षित करने के उपाय किये जिनका प्रभाव केवल कुछ प्रदेशों में ही हुआ।

रैयतवाड़ी प्रथा में कृषि मज़दूरों की दशा अनिश्चित थी। ऐसा कहा जाता है कि 1900 तक ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्धि में उनकी भी भागीदारी थी। लेकिन इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि इस समय के मज़दूरी के आंकड़े त्रुटिपूर्ण हैं। लेकिन यह निश्चित है कि 1921 के बाद रैयतवाड़ी क्षेत्रों में इन लोगों की दशा बिगड़ी।

इस प्रकार, रैयतवाड़ी प्रथा से ग्रामीण समाज के वर्गीकरण पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा। मध्यवर्गी और बड़े रैयत समृद्धशाली हो गए और उनके साथ महाजन लोग भी समृद्ध हुए। किन्तु छोटे किसानों, पट्टेदारों का एक बड़ा भाग और कृषि मज़दूरों का जीवन निर्वाह कठिन हो गया। इस प्रकार इस प्रथा का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि बीसवीं सदी के तीसरे दशक से कृषि उत्पादकता की गति मन्द हो गई जिससे पैदावार और प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की सुलभता में बहुत कमी आई।

2.7 महलवाड़ी प्रथा

उत्तरी और मध्य भारत में मालगुज़ारी की कोई विशिष्ट प्रथा नहीं थी। विभिन्न मालगुज़ारी की प्रथाओं को मिश्रित कर दिया गया था। इनमें सबसे प्रमुख प्रथा महलवाड़ी कहलाती थी।

महलवाड़ी शब्द "महल" से निकला है, जिसका अर्थ बहुत विशाल मकान होता है। एक विशाल मकान से नियन्त्रित क्षेत्र या इसकी सम्पत्ति में एक पूरा गांव अथवा गांवों का एक समूह होता था। देश के इस भाग में मालगुज़ारी निर्धारण की यह एक इकाई थी। जब यह सम्पत्ति एक परिवार के नियंत्रण में थी तो यह ज़मींदारी प्रथा के समान थी। जहां व्यक्तिगत काश्तकार अपनी भूमि जोतते थे वहां यह रैयतवाड़ी प्रथा जैसी होती थी।

सन् 1850 के आसपास उत्तरी और मध्य भारत में काश्तकारी सम्बन्ध किस प्रकार विकसित हुए? इसको समझने के लिए मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद केन्द्रीय शासन के अभाव और बराबर होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल को देखना होगा। बहुत-सी जातियों और समूहों ने अपना दबाव डाला। इनमें से गूजरों और जाटों ने अपनी बस्तियां बढ़ा लीं और आजकल के गुजरात, राजस्थान, पश्चिम उत्तर प्रदेश, उत्तरी मध्य प्रदेश और हरियाणा के विशाल क्षेत्र पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व विस्तृत कर लिया। इससे कहीं-कहीं राजपूतों जैसी भूमिधारी जातियां जमीन से वंचित भी हो गईं। यद्यपि इस प्रकार के हस्तांतरण नियम स्वरूप नहीं हुए, फिर भी पट्टेदारी वाली काश्त से ग्रामीण क्षेत्रों में, राजनीति में ऊपर उठती हुई जातियों ने भूमि पर कब्ज़ा कर लिया।

सन् 1857 के भारतीय सामन्तों के अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह से भूमि सम्बन्धों में कुछ बदलाव आया। अंग्रेज़ों ने भूस्वामित्व के अधिकार न केवल पुराने सामन्तों के प्रतिनिधियों जैसे ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों को दे दिए बल्कि कुछ क्षेत्रों में उन लोगों को भी अधिकार दे दिए जो पहले अंग्रेज़ों को अदा करने के लिए मालगुज़ारी वसूल करते थे। प्राथमिक ज़मींदारी की प्रथा सामन्तवादियों और माध्यमिक ज़मींदारों के पारम्परिक अधिकारों का ही क्रम था। इन लोगों का छोटे क्षेत्र पर नियंत्रण था जो पंजाब के क्षेत्र में (जिसका एक भाग आज के पाकिस्तान में है) अब भी मौजूद है। बहुत से प्राथमिक ज़मींदारों को पेंशन दे दी गई और उनका भूमि पर नियंत्रण समाप्त हो गया।

दूसरी ओर, भूमि के सामाजिक स्वामित्व की संकल्पना भी थी जिसमें ग्राम समाज स्वयं अपने सदस्यों को काश्तकारी के लिए भूमि का आबंटन करे। चूंकि महलवाड़ी प्रथा में ग्राम राजस्व निर्धारण की इकाई था, मालगुज़ारी का बोझ ग्राम समाज के काश्तकार सदस्यों में बांट लिया जाता था। अधिकतर मामलों में सदस्यों के पारस्परिक काश्तकारी के अधिकार मान लिए जाते थे। मालगुज़ारी वसूल करके ग्राम प्रमुख उसका भुगतान करता था। इस सामाजिक स्वामित्व या नियंत्रण पर अंग्रेज़ों ने आघात किया और कुछ मामलों में ग्राम प्रमुख को एक भूस्वामी में परिवर्तित कर दिया गया।

सामाजिक स्वामित्व या नियंत्रण की संकल्पना इतनी समानतावादी नहीं थी जितनी कि यह प्रतीत होती है। क्योंकि इन क्षेत्रों में ग्राम समाज भूमि का नियंत्रण नहीं करता था बल्कि प्रबल जातियां करती थीं। जाति व्यवस्था में निचले स्तर वाले लोग आम तौर पर प्रबल जातियों की मज़दूरी और सेवा करते थे।

यह बात 'भाई चारा' भूमियों से ज़ाहिर है जहां काश्तकारी के अधिकार आम तौर पर उसी जाति के व्यक्तियों को चक्रीय आधार पर दिए जाते थे। इस प्रक्रिया से गांव की नीची जातियों को बाहर कर दिया गया, जो भूमिहीन मज़दूर होकर रह गए।

महलवाड़ी प्रथा में परिवार के बढ़ जाने से कुछ समय बाद छोटे ज़मींदारों की स्थिति भूमिधारी-काश्तकार या भूस्वामी की होकर रह गई। दूसरे क्षेत्रों में जहां बड़े ज़मींदार अब भी महत्व रखते थे, पट्टेदारी कृषि विद्यमान थी।

उत्तरी तथा मध्य भारत में पूंजीवादी कृषि के मूल को इन कई तरह के भूमि सम्बन्धों में खोजा जा सकता है। किसानों में लगातार असन्तोष के कारण, राजस्व की मांग कम करके अंग्रेज़ों ने उनको रियायतें दीं। उनकी पट्टेदारी को सुरक्षा प्रदान करने के लिए और भूमि सम्बन्धी कानून और लगान को नियंत्रित करने के लिए कानून बनाए गए तथा राजस्व और लगान को वस्तु के बजाए रुपयों में अदा करने का प्रोत्साहन दिया गया। इन सब बातों ने किस प्रकार किसानों के वर्गीकरण और कृषि में पूंजीवादी सम्बन्धों को विकसित होने में सहायता प्रदान की? जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध में कीमतें बड़ी तेजी से बढ़ रही थीं। इसलिए अगर भूराजस्व का मुद्रा मूल्य स्थिर रखा गया तो इसका यह अर्थ था कि ज़मींदार को उपज से अपेक्षाकृत अधिक भाग मिल रहा था। अगर वह काश्तकार नहीं था तो पट्टेदार को यह लाभ था कि मौद्रिक लगान बढ़ती हुई कीमतों की दशा में करीब-करीब स्थिर रखा गया था।

इस प्रकार अंग्रेज़ों द्वारा सुधार करने से दो वर्गों — भूमिधारी काश्तकारों और पट्टेदारों को लाभ हुआ। पट्टेदारों में जिनके पास भूमि छोटी थी वे सही या जाली आधारों पर अपनी बेदखली को नहीं रोक सके। बड़े पट्टेदार काश्तकार अपने

अधिकारों की भली-भांति रक्षा कर सकें। ये अधिकार पैतृक बन गए और इन्हें खरीदा या बेचा जा सकता था। बहुत से मामलों में छोटे पट्टेदारों को काश्त का अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद भी ऋण का भुगतान करने के लिए व्यापारियों और महाजनों को यह अधिकार दे देने पड़े।

इससे किसानों में भेदभाव बहुत बढ़ गया। भूमिहीन मज़दूरों और छोटे काश्तकारों के विशाल समूह के साथ अपेक्षाकृत समृद्ध किसान भी मौजूद थे। सिंचाई और सड़कों जैसी संरचनाओं में सुधार होने से स्वाधीनता के समय वर्गीकरण और अधिक सुनिश्चित हो गया। ज़मींदारी क्षेत्रों की अपेक्षा रैयतवाड़ी क्षेत्रों में भूमिहीन मज़दूरों की संख्या अधिक थी। पट्टेदारी और काश्तकारी कानून से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध था।

बोध प्रश्न 3

1 तीन वाक्यों में रैयतवाड़ी और महलवाड़ी प्रथाओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

2 यद्यपि रैयतवाड़ी प्रथा में बिचौलिये नहीं थे, फिर भी रैयतों पर भारी धनराशि के दबाव के क्या कारण थे? पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 बताइए यह सही है या गलत :
(सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए)

i) महलवाड़ी प्रथा समानतावादी थी क्योंकि पूरा ग्राम समाज भूमि पर बराबर अधिकार रखता था।

ii) "भाईचारा" प्रथा में एक परिवार के सभी भाई उपज को आपस में बराबर-बराबर बांट लेते थे।

iii) महलवाड़ी प्रथा में ग्राम या ग्रामों का एक समूह भूराजस्व निर्धारण की इकाई था।

2.8 सारांश

इस इकाई में हमने 19वीं सदी के मध्य से 1940 तक भारतीय कृषि में भूमि सम्बन्धों के विकासक्रम और व्यापारीकरण को समझने का प्रयास किया। हमने देखा कि कृषि का व्यापारीकरण कृषि क्षेत्र के विकास का एक स्वाभाविक क्रम नहीं था बल्कि जबरदस्ती लादा गया था। अंग्रेज़ों की यह सचेतन नीति थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटिश पूंजी के हितों के अधीन रहे। ब्रिटिश उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध करने के लिए नकदी फसलों को बढ़ावा दिया गया। किसानों से कारोबार रुपयों में होने लगा जिससे किसानों को मालगुज़ारी के भुगतान के दायित्व को पूरा करने के लिए अपनी उपज बेचने पर बाध्य होना पड़ा। इस जबरदस्ती मुद्रीकरण से मध्यवर्गीय और ग़रीब किसान दरिद्र हो गए।

हमने यह भी देखा कि ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महलवाड़ी; तीनों भू-सम्बन्धों का उदय किस प्रकार हुआ। ज़मींदारी प्रथा में मालगुज़ारी वसूल करने वाले दलालों को स्वामित्व के अधिकार दे दिए गए। यह प्रथा पूर्वी भारत में बहुत प्रचलित थी। मालगुज़ारी की ऊंची मांग से एक ओर भूमि पर सट्टेबाज़ी होने लगी और दूसरी ओर कुछ ज़मींदार दरिद्र हो गए। किसानों को सबसे अधिक नुकसान हुआ।

रैयतवाड़ी प्रथा में, जोकि देश के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में प्रचलित थी, रैयत या काश्तकार के ऊपर अंग्रेज़ों को लगान के भुगतान का सीधा दायित्व था। यहां भी अंग्रेज़ों द्वारा ऊंची मालगुज़ारी की मांग के कारण किसानों पर भार बहुत बढ़ गया। यद्यपि ज़मींदारी के विपरीत इस प्रथा में बिचौलिये या तो बिल्कुल नहीं थे या बहुत कम थे, मालगुज़ारी की वसूली का स्तर इतना ऊंचा था कि किसानों को अपनी भूमि पर रुपया लगाने के बाद कुछ बचता ही नहीं था।

अन्त में, महलवाड़ी प्रथा उत्तरी और मध्य भारत में प्रचलित थी। कुछ भागों में यह ज़मींदारी प्रथा से मिलती-जुलती थी और किसी भाग में रैयतवाड़ी से मिलती-जुलती होती थी। एक ग्राम या ग्रामों का एक समूह राजस्व निर्धारण की एक इकाई होता था और इसका भार ग्राम समाज के सदस्यों में बांट दिया जाता था। काश्तकारी का अधिकार गांव की प्रबल जातियों तक ही सीमित था और कभी-कभी यह अधिकार "भाईचारा" भूमि की भांति चक्रीय आधार पर भी दिया जाता था।

उत्तरी और मध्य भारत में अंग्रेज़ों की कृषि सम्बन्धी नीति ने किसानों को एक ओर तो समृद्ध भूस्वामी और किसान तथा दूसरी ओर भूमिहीन मज़दूर और छोटे किसान के वर्गों में विभाजित कर दिया। ज़मींदारी क्षेत्रों में यह वर्गीकरण और गम्भीर था, जैसे ज़मींदार वर्ग, दूसरे बिचौलियों तथा बटाईदारों का वर्ग जिनका कोई कानूनी अधिकार नहीं था तथा भूमिहीन मज़दूर। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में रैयतों में एक वर्ग भूधारी काश्तकार से बटाईदार बन गया तथा बहुसंख्यक भूमिहीन मज़दूरों के वर्ग के साथ साथ धनाढ्य किसानों के वर्ग का उदय हुआ।

इन बदलते हुए भू-सम्बन्धों में साहूकारों और व्यापारियों का प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण था। इन लोगों ने कृषि के अतिरिक्त दूसरे कार्यकलापों से धनराशि जमा की तथा उसे कृषि में लगाया जिससे भूमिधारी विस्थापित हो गए।

इस पाठ्यक्रम में आप बाद में पढ़ेंगे कि किस प्रकार स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने इन भू-सम्बन्धों को बदलने का प्रयास किया जिससे एक कम-परजीवी और कम-असमान समाज की स्थापना हो सके।

2.9 शब्दावली

कृषि का व्यापारीकरण : कृषि उत्पादन की वह प्रक्रिया जहां उत्पादन केवल अपने निर्वाह या उपभोग के लिए न हो कर बाज़ार में बेचने के लिए किया जाता है।

दरिद्रीकरण : वास्तविक आय और सम्पत्ति कम होने से लोगों के एक समूह का दरिद्र हो जाना।

महलवाड़ी : यह मालगुज़ारी की ऐसी प्रथा थी जिससे भूमि-राजस्व निर्धारण की इकाई एक ग्राम या ग्रामों का समूह होता था और उसका भार ग्राम समाज के काश्तकार सदस्यों में बांट दिया जाता था।

मुद्रीकरण : यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ऋण और कारोबार का भुगतान वस्तु की जगह मुद्रा के रूप में किया जाता है।

स्थायी बन्दोबस्त : भूस्वामी द्वारा देय मालगुज़ारी का हमेशा के लिए निर्धारण स्थायी बन्दोबस्त कहलाता है। यह ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1873 में आरम्भ किया था।

रैयतवाड़ी : रैयतवाड़ी प्रथा में भूमिधारी काश्तकार मालगुज़ारी निर्धारण की इकाई था और इसे सरकार को सीधे अदा करना उसका निजी दायित्व था।

ज़मींदारी : अंग्रेजों ने भारत के पूर्वी क्षेत्रों में ज़मींदारी प्रथा चलाई, जिसमें लगान वसूल करने वाले दलालों को उस भूमि का स्वामी मान लिया गया जिससे वह लगान वसूल करता था और उन्हें अंग्रेज़ों को लगान के भुगतान के लिए ज़िम्मेदार ठहराया गया। ज़मींदार काश्तकारों से लगान कई रूपों में वसूली करता था और अंग्रेज़ों को भुगतान करने के बाद जो बचता था उसे अपनी आमदनी समझकर रख लेता था।

2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भट्टाचार्य, सव्यसाची, *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,* राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1990; अध्याय 3 एवं 4.

Kumar, Dharma (ed.), *The Cambridge Economic History of India,* Vol. 2, Part I, Ch. II pp. 36-207, Orient Longman, Hyderabad.

Sarkar, Sumit, *Modern India,* 1885-1947, MacMillan, New Delhi, 1985, pp. 30-37.

Singh, V.B. (ed.), *The Economic History of India,* 1856-1956, Allied Publishers, New Delhi, 1975. "Village Community", Ch. 4, pp. 88-103; and Bhatia B.M., Agriculture and Co-operation, Ch. 6 pp. 119-161.

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 अंग्रेज़ों की भूराजस्व नीति से किसानों पर बहुत बोझ पड़ा। वे अपना लगान नकद भुगतान करने के लिए बाध्य किए गए। अपने नकद भुगतान के दायित्वों को पूरा करने के लिए उन्हें व्यापारी और बिचौलियों को अपनी उपज बेचने के लिए मजबूर होना पड़ा। नकद के रूप में देय लगान ने किसानों के बोझ को बढ़ा दिया। अन्त में अंग्रेज़ों द्वारा रेलों के विस्तार से भीतरी भागों से कच्चा माल बन्दरगाहों तक ले जाने में बहुत सुविधा हो गई।

2 i) अ
ii) न
iii) अ
iv) अ
v) न

3 i) स
ii) ग
iii) ग

4 भाग 2.3 पढ़िए और उत्तर अपने शब्दों में लिखिए।

बोध प्रश्न 2

1 अंग्रेज़ों द्वारा लगान की वसूली के तरीकों से पट्टेदारी प्रथा में परिवर्तन निर्धारित होता था। जहां लगान वसूल करने वाले ज़मींदार जैसे दलाल स्वामी बन गए, वास्तविक काश्तकार ज़मींदार का पट्टेदार या बटाईदार बन गया। जहां लगान की वसूली काश्तकार से सीधे की जाती थी, वे भूमिधारी काश्तकार बन गये।

2 भाग 2.5 पढ़िए और अपना उत्तर लिखिए।

3 i) स
ii) स
iii) ग

4 **संकेत :** सूद पर रुपया उधार देने की प्रथा से ग्रामीण ऋणग्रस्तता बढ़ गई। भाग 2.5 पढ़िए और अपना उत्तर लिखिए

बोध प्रश्न 3

1 रैयतवाड़ी प्रथा आम तौर पर भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में प्रचलित थी, जबकि महलवाड़ी प्रथा उत्तरी और मध्य भारत में अधिक प्रचलित थी। रैयतवाड़ी प्रथा में काश्तकार मालगुज़ारी के निर्धारण की इकाई होता था। महलवाड़ी प्रथा में ग्राम या ग्रामों का एक समूह मालगुज़ारी निर्धारण की इकाई था।

2 **संकेत :** अंग्रेज़ों द्वारा मालगुज़ारी की वसूली का तरीका, अकाल, साहूकार और नक़दी फसलें।

3 i) ग
ii) ग
iii) स

इकाई 3 उद्योग, परिवहन और प्रबंध

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्योग : ब्रिटिश शासन से पहले
  3.2.1 पारंपरिक शिल्प
  3.2.2 पारंपरिक शिल्पों का पतन
3.3 आधुनिक उद्योग का उदय : 1850 से प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक
  3.3.1 जूट उद्योग
  3.3.2 सूती कपड़ा उद्योग
  3.3.3 लोहा तथा इस्पात
  3.3.4 अन्य उद्योग
  3.3.5 आधुनिक उद्योग : प्रथम विश्व युद्ध
3.4 दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि के दौरान
  3.4.1 जूट उद्योग
  3.4.2 सूती कपड़ा उद्योग
  3.4.3 स्थान निर्धारण की समस्याएँ
  3.4.4 प्रतिस्पर्धा की समस्याएँ
3.5 लोहा तथा इस्पात
  3.5.1 टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी (टिस्को)
  3.5.2 टिस्को के अलावा अन्य कंपनियां
3.6 अन्य उद्योग
3.7 परिवहन : रेलवे
  3.7.1 रेलवे का विस्तार
  3.7.2 रेलवे के आर्थिक प्रभाव
3.8 जलमार्ग
  3.8.1 अंतर्देशीय नौपरिवहन
  3.8.2 समुद्री नौपरिवहन
3.9 सड़क परिवहन
  3.9.1 सड़कों का विस्तार
  3.9.2 सड़क परिवहन की समस्याएँ
3.10 प्रबंध अभिकरण (एजेन्सी)
  3.10.1 कार्य
  3.10.2 आलोचना
3.11 सारांश
3.12 शब्दावली
3.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में पिछली शताब्दी के मध्य से स्वतंत्रता प्राप्ति की समयावधि में उद्योग, परिवहन तथा प्रबंध के क्षेत्र में हुए विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है, साथ ही भारत में उद्योगों का जो विकास हुआ है, उसके संबंध में विशेष जानकारी दी गई है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह बता सकेंगे कि :

- भारत के उत्कृष्ट पारंपरिक शिल्पों (दस्तकारियों) का क्यों और कैसे पतन हुआ,
- पिछली शताब्दी के मध्य से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक और दोनों विश्व युद्धों के दौरान की अवधि, अर्थात् इन दोनों अवधियों के दौरान आधुनिक उद्योगों का विकास तो हुआ परंतु यह भारत को अपने यहां एक महत्वपूर्ण पूंजीगत माल उत्पादक क्षेत्र निर्माण करने में समर्थ न बना सका,
- अन्य परिवहन साधनों, जैसे अंतर्देशीय जलमार्ग, सड़क परिवहन आदि की तुलना में रेलवे का विस्तार, उसके वित्त पोषण का ढंग तथा अर्थव्यवस्था पर उसका प्रभाव क्या हुआ, और अंत में
- औद्योगिक वित्त तथा प्रबंध के साधन के रूप में प्रबंध अभिकरण प्रणाली के कार्य और उसकी मुख्य सीमाएँ क्या हैं।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में भारतीय अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्रक के बढ़ते हुए किंतु बड़े संकीर्ण विकास तथा विकृतियों का संकेत करते हुए औपनिवेशिक काल में उद्योगों तथा परिवहन की स्थिति का वर्णन किया गया है। जिस घटनाक्रम की इसमें समीक्षा की गई है, वह पिछली शताब्दी के मध्य से शुरू होकर दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति तक की अवधि का है। हम उस उद्योग की संवृद्धि पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जो ब्रिटिश पूंजी की अधीनता से भिन्न भारतीयों के स्वामित्व में था। यहां भारतीय सूती कपड़ा उद्योग के विकास को विशेष महत्व दिया गया है। रेलवे का विकास और किस प्रक्रिया से उसका वित्त प्रबंध किया गया, उसकी भी समीक्षा की जाएगी। शेष अर्थव्यवस्था पर रेलवे का क्या प्रभाव पड़ा, उस पर भी थोड़ी चर्चा की गई है और अंतर्देशीय नौपरिवहन पर भी विचार किया गया है। लगभग एक शताब्दी तक चलने वाले निष्फल औपनिवेशिक औद्योगीकरण के इस नाटक में प्रबंध अभिकरण प्रणाली की क्या भूमिका रही है, उसकी भी संक्षिप्त चर्चा इस इकाई में की गई है।

3.2 उद्योग : ब्रिटिश शासन से पहले

सर टामस हौलेन्ड की अध्यक्षता में बने औद्योगिक आयोग (1916-18) की रिपोर्ट इस वाक्य से शुरू होती है 'जिस समय आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का जनक पूरा यूरोप असभ्य कबीलों से बसा हुआ था उस समय भारत अपने शासकों की धन संपदा तथा अपने दस्तकारों की उत्कृष्ट कलात्मक दस्तकारियों के लिए प्रसिद्ध था।' उस रिपोर्ट में आगे कहा गया कि 'यहां तक कि बहुत बाद में जब पश्चिम के व्यापारी भारत में सबसे पहले आए उस समय भी भारत में उद्योगों का विकास यूरोप के अधिक उन्नत राष्ट्रों की तुलना में किसी भी हालत में कम नहीं हुआ था।'

3.2.1 पारंपरिक शिल्प

घरेलू रोजगार के रूप में कपास की कताई और बुनाई का इतिहास मोहनजोदड़ो की सभ्यता से प्रारंभ होता है। बड़ी धारीदार रेशम, गुच्छेदार सुनहरी पगड़ियां, चांदी और सोने की जरी वाले कपड़े, साटन और लकड़ी तथा हाथी दांत की वस्तुओं पर महीन नक्काशी का काम मुगल शासन की खासियतें थीं। इसके अतिरिक्त बनारस का पीतल के बर्तनों का उद्योग, कश्मीर का शाल उद्योग, और मुर्शिदाबाद का रेशम उद्योग ऐसे विशिष्ट कलात्मक दस्तकारियों के नमूने हैं जो इतिहास के लिपिबद्ध तथ्य हैं और इसीलिए भारत को सूती वस्त्र उद्योग का जन्मदाता देश कहा जाता था। इस देश के औद्योगिक श्रमिक उत्कृष्ट कारीगर कहलाते थे और वे न केवल अस्त्र-शस्त्र तथा चमड़े का साज-सामान ही बनाते थे अपितु सुंदर परिधान, नक्काशीदार पत्थर, लकड़ी तथा हाथी दांत का सामान, गढ़ी हुई धातु, आभूषण तथा अन्य विलासिता की वस्तुएं भी बनाते थे जो उत्कृष्ट कारीगरी और कलात्मकता के नमूने होते थे।

वर्ष 1700 तथा 1721 ई० में पारित ब्रिटिश पार्लियामेंट एक्टों द्वारा भारत से आने वाले छींटदार या रंगीन कपड़ों पर तथा भारत, फ्रांस और चीन से आने वाले मरोड़े रेशम को पहनने पर पूरी तरह से रोक लगा दी गई। यह बात इस तथ्य की द्योतक है कि 18वीं शताब्दी की अधिकांश अवधि के दौरान भारतीय माल का इंग्लैंड में आयात यूरोप के अन्य स्थानों पर बेचने के लिए ही किया गया और इंग्लैंड के बाजार में इसका कानूनी रूप से निषेध कर दिया गया।

औद्योगिक क्रांति की वजह से 1760-1820 की अवधि में बहुत से आर्थिक परिवर्तन हुए। इस अवधि के दौरान इंग्लैंड में बहुत सी खोजें हुईं और उन्हें प्रयोग करने की आवश्यकता महसूस की गई। ये खोजें थीं, जैसे, लोहे को कोयले से पिघलाने की प्रक्रिया की खोज, हारग्रीव्ज द्वारा स्पिनिंग जैनी की खोज, आर्कराइट द्वारा कताई-मशीन की खोज तथा भाप द्वारा चलाए जाने वाले पावरलूम की खोज। इन सबके कारण भारत में औद्योगीकरण तथा हस्तशिल्पों के पतन की प्रक्रिया शुरू हो गई। उपलब्ध साक्ष्य के अनुसार इस पतन की शुरुआत औद्योगिक क्रांति के बाद के परिणामों से प्रारंभ हुई।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से भारतीय उद्योग मुख्य रूप से कुलीन वर्ग तथा निर्यात के लिए हस्तशिल्प, बढ़िया कपड़े या अन्य विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन तक सीमित हो गया। उद्योग का क्षेत्र तथा विस्तार अवश्य सीमित हो गया किंतु वह सुसंगठित बना रहा। हमारा मुख्य उद्योग तो हथकरघा कपड़े का उद्योग ही रहा, इसमें भी सूती कपड़े के उद्योग का स्थान सर्वोच्च था। यहाँ हस्तशिल्प उद्योग शब्द को स्पष्टतः समझ लेना जरूरी है। हम इस शब्द का प्रयोग कस्बों में स्थित संगठित हस्तशिल्प उद्योग के लिए कर रहे हैं, हालांकि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि गांवों में भी हमेशा से ऐसे उद्योग विद्यमान रहे हैं जो कस्बों के उद्योगों की तरह की वस्तुओं का उत्पादन करते थे।

दस्तकारी की चीजें पूरी भारत में बनाई जाती थीं। ढाका, कृष्णनगर, चंदेरी तथा अन्य कुछ जगहों पर मलमल बनती थी। मलमल के बाद सभी तरह के बढ़िया सूती कपड़ों का नंबर आता था। लखनऊ की छींट, अहमदाबाद की धोतियां और दुपट्टे, मध्य प्रांतों के रेशमी किनारी वाले कपड़े, मद्रास प्रेसिडेन्सी में पालंपोर उद्योग; ऐसे सूती कपड़े थे जो काफी विख्यात थे और ये केंद्र इनके लिए प्रसिद्ध थे। सूती कपड़ों के बाद रेशमी और ऊनी कपड़ों का नंबर आता है।

कपड़े और बुनी चीजों के अलावा धातु की वस्तुएं, मीनाकारी वाले आभूषण तथा नक्काशीदार पत्थर, विभिन्न कस्बों में बनाए जाने वाली दस्तकारी की ऐसी वस्तुएं थीं जो विश्व प्रसिद्ध थीं। स्व० प्रोफेसर गाडगिल का कहना था कि प्रत्येक

महत्वपूर्ण शहर में विभिन्न प्रकार की दस्तकारी की चीजें बनाई जाती थीं, हालांकि कच्चे माल की उपलब्धता तथा अन्य प्राकृतिक कारणों की वजह से कुछ दस्तकारियां देश के एक विशेष भाग में ही सिमट कर रह गईं और कुछ दस्तकारियों पर एक लंबी परंपरा के कारण कुछ शहरों का एकाधिकार सा हो गया। अधिकांश रूप से गांवों, जहां का आर्थिक संगठन बड़ा प्रारंभिक प्रकार का है, में रह रहे साधारण कारीगरों की तुलना में बड़े शहरों में प्रत्येक शिल्प का अपना संगठन था। आम तौर पर सब जगह दस्तकारी का काम होता था। प्रत्येक स्वतंत्र दस्तकार के पास पूंजी नहीं होती थी और वह आर्डर मिलने पर और ग्राहक द्वारा दिए गए माल पर काम करता था किंतु फिर भी कुछ दस्तकार उनके माल की अधिक मांग होने के कारण समृद्ध भी हो जाते थे। इस प्रकार 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में, भारत के आर्थिक कार्यकलाप में दस्तकारी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था।

3.2.2 पारंपरिक शिल्पों का पतन

इस सबके बावजूद, 19वीं शताब्दी में इन दस्तकारियों की कलात्मक उत्कृष्टता तथा आर्थिक महत्व का तेजी से पतन होता गया। इस पतन के क्या कारण थे?

इस पतन के पीछे बहुत से कारण काम कर रहे थे। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण कारण इस प्रकार हैं :

क) भारतीय राजाओं के दरबारों की समाप्ति;

ख) विदेशी शासन की स्थापना और यहां से धन को चूस लेने की प्रक्रिया;

ग) अपेक्षाकृत अधिक उन्नत ब्रिटिश उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा।

जहां अंग्रेज़ों का स्वयं का शासन स्थापित हो गया वहां भारतीय राजाओं के दरबार समाप्त हो गए। राजा और उसके दरबारी ही इन दस्तकारियों के मुख्य या एकमात्र ग्राहक होते थे। अतः उनके समाप्त हो जाने से इनकी मांग कम या कहीं-कहीं बिल्कुल समाप्त हो गई। ये राजा या दरबारी लोग राजकीय समारोहों या दरबार में अपनी शानोशौकत के प्रदर्शन के लिए इन बेशकीमती और बढ़िया चीजों को खरीदा करते थे, किंतु उनके चले जाने की वजह से इनकी मांग भी नहीं रही। इसका तत्काल प्रभाव यही पड़ा कि ऐसी उत्कृष्ट चीजों का उत्पादन बंद हो गया। हां, कुछ समय तक इनकी साधारण मांग बनी रही लेकिन उसमें भी लगातार कमी आती रहीं।

दरबारों की समाप्ति ही संपूर्ण देश में दस्तकारी की वस्तुओं की मांग में गिरावट लाने का एकमात्र कारण नहीं है। इसका एक दूसरा कारण भी था जिसका इसकी गिरावट में आंशिक हाथ है। विदेशी शासन की स्थापना की वजह से सामंती राज्यों में विदेशी प्रभाव भी घर करने लगा जिसका इन दस्तकारियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। विदेशी शासन की वजह से नए प्रकार के मांग ढांचे का जन्म हुआ। दरबारियों की जगह यूरोप से आए अधिकारियों ने और नए शिक्षित व्यावसायिक वर्ग ने ले ली और इनकी बदली हुई मांग की वजह से पारंपरिक चीजों का कलात्मक मूल्य गिर गया। यूरोप से आए लोगों ने ऐसे नए स्वरूप और पैटर्न दिए जिन्हें हमारे यहां का दस्तकार समझ न सका और नए भूपतियों तथा शिक्षित व्यावसायिक वर्ग ने यूरोप का फैशन अपना लिया। परिणाम यह हुआ कि देशी उद्योग की वस्तुओं को नुकसान पहुंचा। ब्रिटिश शासन की स्थापना से दस्तकारियों को एक और तरह से भी नुकसान हुआ। इस शासन ने शिल्प संगठन की अधीक्षण संस्थाओं को समाप्त कर दिया। इसके साथ-साथ मशीनों से कम लागत पर बनी यूरोप के विनिर्माताओं की कम कीमत वाली चीजों से भारत में बनी दस्तकारी की चीजों को प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। दस्तकारी की चीजों के मुकाबले वहां की चीज़ें सस्ती पड़ती थीं। इन सभी कारणों से भारतीय दस्तकारियों का पतन हो गया। 19वीं शताब्दी के अस्सी के दशक में भारत जैसा महादेश पतनोन्मुख हस्तशिल्प वाला देश बन कर रह गया जिसमें किसी भी प्रकार का संगठित उद्योग नहीं के बराबर था।

3.3 आधुनिक उद्योग का उदय : 1850 से प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक

19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ब्रिटेन तथा उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र के अन्य भागों में औद्योगिक क्रांति गति प्राप्त कर चुकी थी। लेकिन भारत में इस दौरान जो कुछ हुआ वह केवल सरकारी यानी प्रशासनिक और सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हुआ। इस देश में बड़े पैमाने के निजी उद्यम स्थापित होने का इतिहास 19वीं शताब्दी के मध्य से ही शुरू होता है। बड़े पैमाने के उद्यम पूरी तरह से तीन — जूट, सूती कपड़ा तथा लोहा और इस्पात के क्षेत्र में ही स्थापित हो पाये। लगभग प्रथम विश्व युद्ध के समय तक ये तीनों उद्योग ही देश के औद्योगिक क्षेत्र के प्रतीक बने रहे। 1914 के अंत में तथा दोनों विश्व युद्धों के दौरान के समय में ही भारत के औद्योगिक ढांचे में कुछ विविधता आई।

3.3.1 जूट उद्योग

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में रस्सी बनाने, पाल वस्त्र (Sail canvas) बनाने तथा बोरी बनाने के कच्चे माल के रूप में सन (जूट) का ही प्रयोग किया जाता था। बाल्टिक क्षेत्र तथा रूस ही मुख्य रूप से इसकी सप्लाई पूरे यूरोप को करते थे। इस काल में अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य का काफी विस्तार हुआ जिससे सन की मांग काफी बढ़ गई और ब्रिटेन किसी वैकल्पिक पूर्तिकर्ता देश की खोज में लग गया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने रूसी-सन के विकल्प के रूप में दक्षिण एशिया से जूट की सप्लाई का प्रस्ताव किया। भारत में जूट उद्योग के विकास के लिए दो कारण जिम्मेदार थे, पहला यह कि तेजी से बढ़ते अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कच्चे जूट की विदेशी मांग बढ़ गई और दूसरा यह कि भारतीय कृषि उत्पादों के बढ़ते देशी तथा विदेशी वाणिज्य में पैकिंग सामग्री के लिए जूट की मांग बढ़ गई।

1840 के दशक में इंग्लैंड मे हुए मशीनी सुधारों की वजह से बोरी बनाने और कच्चे जूट की वस्तुओं को बनाने के लिए फैक्टरी-विधि को अपनाना संभव हो पाया। 1855 के मध्य में भारत में पहली आधुनिक जूट कताई फर्म ने काम करना शुरू कर दिया। प्रारंभ में कुछ वर्षों तक तो यह जूट का धागा कातती थी और उसे स्थानीय हथकरघा बुनकरों को बेच देती थी। किंतु 1859 में आकर बिजली से चलने वाली पहली कताई और बुनाई फैक्टरी ने काम करना शुरू कर दिया। 1866 में इन मिलों की संख्या 5 तक पहुंच गई और 1880 के दशक तक यह संख्या वही बनी रही।

जूट निर्माण, एक सरल प्रक्रिया होने, सस्ती दर पर मजदूर मिल जाने और कच्चा जूट सरलता से प्राप्त हो जाने की वजह से, भारतीय विनिर्माता फर्मों को लाभ पहुंचा और उनका माल पहले तो आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका के बाजारों में और फिर अमरीका तथा मिश्र के बाजारों में जाने लगा। 1875-1913/14 के बीच जहां भारत से कच्चे जूट का निर्यात, भारत की दृष्टि से दुगुना हुआ वहां जूट से बने माल के निर्यात में 272 गुना वृद्धि हो गई। भारतीय जूट उद्योग की सफलता इसी तथ्य से आंकी जा सकती है कि एक ओर ग्रेट ब्रिटेन में बने जूट के सामान के अमरीकी आयातों के मूल्य में 7% की कमी आ गई वहीं दूसरी ओर, भारत से आयातों में नौ गुनी वृद्धि हो गई। 1913 में भारतीय मिलों ने 72 लाख पौंड की जूट वस्तुओं का निर्यात किया जबकि ब्रिटेन की मिलों का निर्यात घटकर 15 लाख पौंड ही रह गया। 1854-55 से 1913-14 के बीच भारतीय जूट उद्योग में मिलों, करघों, रोजगार की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई, हालांकि जूट उद्योग पर नियंत्रण यूरोप के लोगों का ही रहा।

1870 के बाद इस उद्योग की क्षमता में काफी वृद्धि हुई और 1913-14 तक यह रोजगार पैदा करने के मामले में एक प्रमुख फैक्टरी उद्योग बन गया।

लेकिन 1914 तक यह उद्योग यूरोप के उद्योगपतियों द्वारा ही लगाया गया और वही इसका प्रबंध करते थे और केवल एक मिल को छोड़कर सभी पर उन्हीं का नियंत्रण था। उद्योग की कुछ मिलों को छोड़कर शेष सभी मिलों को 'रुपया-फर्मों' (Rupee-Firms) के रूप में शुरू किया गया। 1914 में प्रदत्त पूंजी तथा ऋण पत्रों की औसत धनराशि 40 लाख रुपए प्रति फर्म बैठती थी। इनका व्यवसाय-संगठन, आंशिक रूप से निजी साझेदारी फर्मों और आंशिक रूप से प्रबंध अभिकरणों द्वारा प्रायोजित सार्वजनिक कंपनियों के रूप में था। प्रबंध अभिकरणों के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे।

भारतीयों को अपनी फर्में स्थापित करने या स्थापित फर्मों में निवेश करने के मार्ग में स्पष्ट बाधाएं थीं। एक अनुमान के अनुसार 1914 में बर्ड एण्ड कं०, जो सबसे अधिक मिलों का नियंत्रण करने वाली एक प्रबंध एजेन्सी थी, के नियंत्रण वाली 8 मिलों के कुल 2894 शेयरधारियों में से केवल 423 ही भारतीय थे। जूट उद्योग में 1914 से पहले भारतीय पूंजी जिस धीमी गति से लग रही थी उससे पता चलता है कि इसमें पूंजी लगाने वाले अधिकतर छोटे निवेशकर्ता और किराए की आमदनी वाले लोग ही थे, साहसिक उद्यमी नहीं। इसका आशय यह है कि औद्योगिक उद्यमों के लिए बंगाल में देशी पूंजी बहुत कम मात्रा में ही उपलब्ध होती थी। एक दृष्टिकोण के अनुसार बंगाल में देशी पूंजी की इस कमी का कारण (क) साहसिक देशी उद्यमियों की ऋण तथा विपणन सुविधाओं में पहुंच का अभाव था, तथा (ख) यूरोपीय लोग विनिर्माताओं के रूप में काम करते हुए, बंगाली उद्यमियों के प्रवेश और टिके रहने को असंभव बना देते थे। लेकिन दूसरा दृष्टिकोण यह है कि इन उद्योगों में देशी निवेशकर्ताओं को उतना प्रतिफल नहीं मिल पाता था जितना कि जमीनें खरीदने, रुपया उधार देने आदि से उन्हें मिल जाता था। इसलिए यह भारतीय निवेशकर्ताओं के लिए कम आकर्षक था।

3.3.2 सूती कपड़ा उद्योग

जिस समय जूट उद्योग बंगाल में स्थापित किया गया लगभग उसी समय पश्चिमी भारत में सूती कपड़ा उद्योग की नींव रखी गई। 1870 के बाद से इसका तेजी से विस्तार हुआ। जूट उद्योग के विपरीत इसका विस्तार मूलतः देश के आंतरिक बाजार पर ही निर्भर था, हालांकि इसमें विदेशी व्यापार के भी काफी अवसर थे। इस उद्योग का स्वामित्व प्रारंभ से ही भारतीयों के हाथ में था और अधिकांशतः भारतीय निवेशकर्ताओं के नियंत्रण में था। यह उद्योग बंबई में ही और भारतीयों द्वारा ही क्यों स्थापित किया गया, इसका कारण यह था कि उन्हें ही कपास की सप्लाई आदि की जानकारी थी क्योंकि वे पहले से ही लंकाशायर के सूत तथा कपड़े के विपणन के काम में लगे हुए थे, वहां सस्ता श्रम उपलब्ध था तथा वहां विस्तृत और बढ़ता देशी बाजार भी उपलब्ध था। वास्तव में तो यह बंबई के उन्हीं भारतीय व्यापारियों का समूह था जो कच्ची रूई तथा अफीम का निर्यात व्यापार करते थे और अब उन्होंने बंबई में रूई मिलें स्थापित कर लीं।

सूती कपड़ा बनाने की पहली मिल 1854 में स्थापित की गई और 1856 से उसमें उत्पादन शुरू हो गया। 1860 के दशक के अंत तक बंबई शहर में 10 मिलें लग गईं। बंबई के अलावा बंबई प्रांत के अहमदाबाद और सूरत तथा तत्कालीन मध्य प्रांत के कानपुर शहर में भी कपड़ा मिलें स्थापित की गईं।

सूती कपड़े के बारे में उपलब्ध इतिहास से यही पता चलता है कि यद्यपि पहली कपड़ा मिल 1854 में स्थापित हो गई थी किंतु इस उद्योग के विस्तार में जो तेजी आई वह 1870 के दशक के प्रारंभ से ही शुरू हुई थी। इस उद्योग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह एक मिले-जुले स्वरूप का उद्योग है, अर्थात्, इसमें सूत की कताई और कपड़े की बुनाई, दोनों ही काम होते हैं। भारतीय कपड़े की देशी बाजार में तो खपत होती ही थी, इसका मध्य तथा पूर्वी एशिया के देशों में भी निर्यात किया जाता था। मिलों द्वारा उत्पादित अधिकतर सूत देश में हथकरघा बुनकरों को तथा विदेश में विशेषकर चीनी बाजार में बेच दिया जाता था। 1913 तक भारत ब्रिटेन के बाद विश्व का सूत का सबसे बड़ा निर्यातक देश बन गया। सूत तथा कपड़ा दोनों के उत्पादन में रूई मिलों में हुए प्रारंभिक विस्तार को, 1890 के दशक के मध्य में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय विदेशी मांग कम हो गई। सुदूर पूर्व के अति महत्वपूर्ण सूत बाजारों को जापानी और चीनी रूई मिलों से काफी खतरा पैदा हो गया। परिणामस्वरूप उत्पादन के स्वरूप में अंतर आ गया।

भारतीय मिलों ने कोर्स (मोटे) कपड़े का उत्पादन बढ़ा दिया और अपने यहां उत्पादित सूत का ही वे प्रयोग करने लगीं तथा बढ़िया कपड़े का बाजार ब्रिटेन के विनिर्माताओं के लिए छोड़ दिया।

हम पहले ही बता चुके हैं कि उद्योग का प्रारंभ व्यापारिक किस्म का था क्योंकि ये उद्यमी व्यापारी थे, टैक्नीशियन नहीं। इसमें अधिकतर पैसा भारतीयों का लगा हुआ था और इसका संचालन भी उन्हीं के हाथ में था। यूरोप के लोगों का, रुपया तथा स्टर्लिंग दोनों प्रकार का पूंजी निवेश इस उद्योग में लगी कुल पूंजी का 10 से 20 प्रतिशत से अधिक कभी भी नहीं रहा। प्रथम विश्व युद्ध से पहले जो 95 मिलें शुरू की गईं उनमें से केवल 15 मिलें ही यूरोप निवासियों ने शुरू की तथा उनके नियंत्रण में थीं और इनमें से 12 पर तो दो प्रबंध एजेंसी गृहों का ही नियंत्रण था। यह इस बात का द्योतक है कि यूरोप निवासी केवल निर्यात सामर्थ्य वाले क्षेत्रों में ही ज्यादा रुचि लेते थे।

3.3.3 लोहा तथा इस्पात

1850 के बाद रेलवे तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्यों के विकास तथा आधुनिक उद्योगों के उदय से भारत लोहा तथा इस्पात का एक बड़ा आयातक देश बन गया। इसकी वजह से आयात स्थानापत्ति खोजने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। केवल एक व्यक्ति, जमशेद जी टाटा की महत्वाकांक्षा और दूरदृष्टि के कारण ही भारत में लोहा तथा इस्पात उद्योग की नींव रखी गई। हालांकि, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनसे पहले भी कुछ पथप्रदर्शक थे जिनमें जे॰ एम॰ हीथ का नाम प्रमुख है जिन्होंने 1830 में साउथ आरकट में एक लोहा कारखाना खोला था — यद्यपि यह कारखाना सफल नहीं हो सका किन्तु उसे किसी न किसी रूप में 1874 तक चालू रखा गया।

1875 में स्थापित बाराकर आयरन वर्क्स पहली सफल परियोजना थी जिसमें ढलवां लोहे का उत्पादन किया जाता था। इसे इंग्लैंड में निगमित बंगाल आयरन एंड स्टील कंपनी ने, 1889 में, अपने अधिकार में ले लिया। जमशेद जी टाटा ने, जिन्होंने सूती कपड़े की कई मिलें सफलतापूर्वक स्थापित कर दी थीं, 1882 में चांदा जिले के संबंध में, एक सरकारी रिपोर्ट देखी जिसके अनुसार वहां अच्छे किस्म के लोहे के बड़े भंडार मौजूद थे। उसी के बाद से उन्होंने लोहे तथा इस्पात के उत्पादन की संभावनाओं की खोज करना प्रारंभ कर दिया। अंत में टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी 1907 में स्थापित की गई, जो भारत में इस्पात उत्पादन की एक अग्रणी कंपनी बनी। प्लांट के लिए स्थान सांची, जिसे अब जमशेदपुर कहा जाता है, चुना गया। यह एक सर्वोत्तम स्थान था जहां इस्पात बनाने तथा विपणन के लिए कोयला, लोहा, चूना पत्थर तथा पानी की सप्लाई बड़े अच्छे ढंग से और किफायती दरों पर मौजूद थी। बंगाल के झरिया कोयला क्षेत्र से कोयला, मयूरभंज से उच्च कोटि का खनिज लोहा, सुवर्णरेखा नदी से जल आपूर्ति प्राप्त करके और भारत का सबसे बड़ा देशी बाजार कलकत्ता कुल 152 किलोमीटर ही दूर होने के कारण टिस्को को अन्य प्रमुख इस्पात उत्पादक देशों की तुलना में निश्चित रूप से लागत-लाभ मिला।

लंदन से पूँजी प्राप्त करने के प्रारंभिक प्रयत्नों में तो टाटा को असफलता ही हाथ लगी। सभी प्रमुख उद्योगों में यूरोप के लोगों का प्रभुत्व होने के कारण भारतीय इस्पात को स्वीकार नहीं किया गया। लेकिन टिस्को ने इन कठिनाइयों का सामना किया और इस्पात का उत्पादन 1913 में प्रारंभ हो गया। इसके अतिरिक्त, सरकार ने भी, जो शुरू में भारत में इस्पात-उत्पादन के विचार के विरुद्ध थी, 19वीं शताब्दी के अंत में अपने रुख में परिवर्तन लाना प्रारंभ कर दिया। यद्यपि रेलवे तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण की इस्पात की मांग अभी भी ब्रिटेन से आने वाले इस्पात से ही पूरी की जाती थी किंतु निजी क्षेत्र की ब्रिटिश इस्पात की मांग बैल्जियम तथा अन्य यूरोपीय इस्पात की वजह से खत्म हो गई थी। इस तथ्य ने सरकार के रुख में परिवर्तन को बढ़ावा दिया। टाटा को इस स्थिति से लाभ मिला और सरकार ने जमीन खरीदने, लोहे की खदानों से स्टील कारखाने तक रेलवे की लाइनें बिछाने और अगले दस वर्षों तक कुछ शर्तों के अधीन 20,000 टन प्रतिवर्ष स्टील पटरियां खरीदने का आश्वासन देकर कंपनी की सहायता की। कंपनी ने 1,55,000 टन ढलवां लोहा और 78,000 टन इस्पात सिल्लियों का उत्पादन किया।

3.3.4 अन्य उद्योग

1880 और 1914 के दौरान बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन में लगभग 4 से 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत से वृद्धि हुई। संवृद्धि की यह दर विश्व के अन्य उन्नत देशों की संवृद्धि दर की तुलना में काफी अनुकूल थी। फिर भी, कुल आर्थिक कार्यकलाप में पूरे औद्योगिक क्षेत्र की हिस्सेदारी महत्वहीन ही रही। 1913-14 में कुल राष्ट्रीय आय में विनिर्माण उद्योगों के उत्पादन का हिस्सा मात्र 3.8 प्रतिशत ही था तथा यद्यपि कुल 10 लाख लोगों को फैक्टरी में रोजगार प्राप्त था किंतु वह कुल श्रम बल का मात्र 0.8 प्रतिशत ही रहा।

इस अवधि के दौरान जूट तथा सूती कपड़ा उद्योग, कोयला खदान तथा रेलवे कार्यकलाप में हुई वृद्धि, लोहा तथा इस्पात के उत्पादन तथा बड़े पैमाने की जल विद्युत योजनाओं की शुरुआत, ऐसी घटनाएं थीं जो न केवल आशाजनक ही थीं अपितु संतोषजनक भी थीं। तीन अन्य उद्योग भी थे जिन्हें बड़े पैमाने के उद्योग माना गया, ये थे ऊनी कपड़े की मिलें, शराब तथा कागज निर्माण उद्योग। 1914 में इन तीनों उद्योगों में कुल 10,000 लोगों को ही रोजगार मिला हुआ था इन उद्योगों में बनने वाले माल की देश में कम खपत होने तथा उत्पादन लागत अधिक होने के कारण इनका तेजी से विकास नहीं हुआ। बड़े पैमाने के इन उद्योगों के अलावा चमड़ा साफ करने, वनस्पति तेल संशोधित करने और कांच बनाने के उद्योगों में यद्यपि फैक्टरी उत्पादन के लिए अनुकूल परिस्थितियां मौजूद थीं, परन्तु इन्होंने अपना लघु उद्योग स्वरूप ही बनाए रखा।

3.3.5 आधुनिक उद्योग : प्रथम विश्व युद्ध

युद्ध छिड़ जाने के कारण शुरू में तो विनिर्माण उद्योग पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव पड़ा किंतु उसका आम प्रभाव अनुकूल ही रहा चाहे वह सीमित मात्रा में ही क्यों न रहा हो। खेज के पूर्व में मित्र देशों की सभी कार्रवाइयों तथा यूरोप में लड़ रहीं भारतीय फौजों के लिए भारत एक सप्लाई-केंद्र बन गया। इसकी वजह से भारत में वस्तुओं की मांग में तेजी से वृद्धि हो गई। साथ ही साथ, विदेशी प्रतिस्पर्धा में एकदम कमी आ गई। विदेशी प्रतिस्पर्धा में कमी हो जाने की वजह से भारतीय औद्योगिक क्षेत्रक को काफी लाभ पहुंचा। युद्ध कार्रवाई की वजह से ब्रिटेन के अधिकांश संसाधन काम आ गए, इसकी वजह से उस उपभोक्ता तथा पूंजीगत माल की पूर्ति में काफी कटौती कर दी गई जो पहले ब्रिटेन से भारत भेजा जाता था। जलपोतों को फौज के काम में लगा लेने के कारण भी ब्रिटेन से निर्यातों में कमी आ गई।

मांग में अत्यधिक वृद्धि तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा में कमी के बावजूद न तो विद्यमान क्षमता में विस्तार हुआ और न ही औद्योगिक कार्यकलाप का विस्तार हुआ, ऐसा ही युद्ध समाप्त न होने तक चला। हां, विद्यमान उद्यमों के लाभों में काफी वृद्धि हो गई। तेजी की मानसिकता ने उद्यमियों की प्रत्याशाओं को बढ़ा दिया और उन्हें युद्ध की समाप्ति के बाद अपनी पुरानी कंपनियों के विस्तार की योजना बनाने के लिए प्रोत्साहित किया।

जूट मिलों को अधिकारियों ने इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे कच्चे जूट की बजाय युद्ध क्षेत्रों को विनिर्मित माल का सीधे निर्यात करें। 1913-14 तथा 1918-19 के बीच जूट से बने माल का निर्यात कुल निर्यात मूल्य के 43.7 प्रतिशत से बढ़कर 80.8 प्रतिशत तक पहुंच गया।

उद्योगों ने अपनी क्षमता में केवल 4000 करघों की वृद्धि की तथा उत्पादन में जो वृद्धि भी हुई वह मुख्य रूप से मिलों में समय से ज्यादा काम कराके, तथा अधिक मजदूरों को काम पर लगाने के कारण हुई।

सूती कपड़ा उद्योग में मिलों तथा तकुओं की संख्या में थोड़ी सी कमी हुई तथा करघों की संख्या में 13% की वृद्धि हुई। कपड़े की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए हथकरघा क्षेत्रक तथा विदेशी बाजार को सूत की बिक्री में कटौती कर दी गई। उद्योग ने काफी लाभ कमाया। इनमें संगठनात्मक परिवर्तन भी हुए। बंबई की 82 मिलों में से 38 मिलों ने प्रबंध एजेंसियों में परिवर्तन कर दिया या वे सार्वजनिक सीमित दायित्व वाली कंपनियां बन गईं या फिर दोनों ही बनी रहीं। अन्य उद्योगों की तरह लोहा तथा इस्पात की फर्मों को भी अनुकूल वातावरण मिला, विदेशी प्रतिस्पर्धा कम हो गई और फौजी तथा रेलवे की आवश्यकताओं की वजह से मांग में तेजी से वृद्धि हो गई। वर्ष 1913-14 से 1917-18 के बीच टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी (टिस्को) के उत्पादन में छह गुना वृद्धि हो गई। युद्ध काल के दौरान टिस्को ने अपने विद्यमान संयंत्र के विस्तार की योजना बनाई थी किंतु वह 1924 में जाकर सफल हो सकी। उसने अपने लाभों को कम ही रखा क्योंकि उन्होंने सरकारी उपयोग के लिए जरूरी माल को रियायती दर पर ही सप्लाई किया और इस प्रकार सरकार की नज़रों में अपनी छवि सुधारने के लिए अपने लाभों की बलि चढ़ा दी। टिस्को भारत में वाणिज्यिक प्रयोजन के लिए इस्पात पैदा करने वाली एकमात्र इकाई बनी रही, लेकिन बंगाल आयरन एंड स्टील कंपनी के विकास से क्षमता में वृद्धि हुई।

इनके अतिरिक्त एक और उल्लेखनीय घटना यह हुई कि पोर्टलैंड सीमेंट का बड़े पैमाने पर उत्पादन होना शुरू हो गया। इसके दो प्लांट, एक कटनी में और दूसरा पोरबंदर में, स्थापित किए गए जिन्होंने 1915 में उत्पादन करना शुरू कर दिया। इसके एक वर्ष बाद राजपूताना के बूंदी नामक स्थान पर युद्ध से पूर्व हाइड्रोलिक चूना पैदा करने वाली एक फर्म ने भी 1916 में पोर्टलैंड सीमेंट का उत्पादन करना प्रारंभ कर दिया। 1918 तक इन तीनों फर्मों ने लगभग 84,000 टन सीमेंट का उत्पादन किया जो 1914 में आयातित सीमेंट की मात्रा के लगभग आधे के बराबर था। इस उद्योग में निवेश करने वाले प्रमुख लोग कपड़े की मिलों, जल विद्युत योजनाओं, बैंकिंग और वाणिज्य के धंधों में भी सक्रिय थे। दो कंपनियों की प्रबंध एजेंसियां तो यूरोपीय लोगों के हाथ में थी परंतु इनके निदेशक लगभग सभी भारतीय ही थे। तीसरे उद्यम की प्रबंध एजेंसी भी भारतीय उद्यमी के हाथ में थी।

बोध प्रश्न 1

1 भारत को निम्नलिखित में से किस उद्योग का जन्मदाता देश कहा जाता है —

क) लोहा तथा इस्पात उद्योग
ख) जूट उद्योग
ग) सूती कपड़ा उद्योग तथा
घ) नौवहन

सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं

2 19वीं शताब्दी में भारतीय हस्तशिल्प उद्योग के पतन का निम्नलिखित में से कौन सा कारण था

क) केवल ब्रिटेन के उद्योग से उसकी प्रतिस्पर्धा
ख) केवल भारतीय राजाओं के दरबारों का खत्म हो जाना
ग) केवल विदेशी शासन का स्थापित हो जाना तथा
घ) उपर्युक्त तीनों (क,ख,ग) ही कारण

सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं

3 निम्नलिखित में से कौन सा उद्योग प्रथम विश्व युद्ध तक निर्यात प्रधान था

क) माचिस
ख) चीनी
ग) जूट का कपड़ा
घ) सीमेंट तथा
ङ) सूती कपड़ा
सही उत्तर पर (✓) निशान लगाएं

3.4 दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि के दौरान

दो युद्धों के बीच की अवधि के दौरान विनिर्माण उद्योग के महत्व तथा ढांचे, दोनों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। कुल राष्ट्रीय उत्पादन में विनिर्माण उद्योगों के उत्पादन का हिस्सा 1913-14 के 3.8% से बढ़कर 1938-39 में 7.5% हो गया। सूती कपड़ा तथा जूट दोनों ही उद्योगों का महत्व घट गया। कुल विनिर्माण उत्पादन में इन दोनों उद्योगों के उत्पादन का हिस्सा 51.2% से घटकर 37% रह गया और रोजगार 51.8% से घटकर 39.7% ही रह गया। लेकिन जूट या सूती कपड़े के महत्व को ग्रहण करने के लिए किसी नए उद्योग का उदय नहीं हुआ। वर्ष 1938-39 में लोहा तथा इस्पात का उत्पादन जूट-उत्पादन के मूल्य के आधे से कुछ अधिक था। चीनी, कागज, सीमेंट, ऊनी कपड़ा, लोहा तथा इस्पात और माचिस जैसे नए उद्योगों का कुल उत्पादन में हिस्सा 3.1% से बढ़कर 10.8% हो गया। कुल मिलाकर दोनों विश्व युद्धों के बीच की अवधि में भारत में बड़े पैमाने के विनिर्माण उद्योग का विस्तार भी हुआ और विविधीकरण भी परंतु उसकी गति तेज़ नहीं थी।

3.4.1 जूट उद्योग

जूट मिलों को युद्ध जनित मांग से लाभ तो हुआ किंतु अपनी क्षमता में अधिक वृद्धि न कर पाने के कारण उन्हें नुकसान भी उठाना पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय नियंत्रण में पहली मिल स्थापित हुई। युद्ध काल में जो अधिक लाभ हुए थे उनमें कमी आ गई। वर्ष 1929-30, 1934-35 तथा 1935-36 को छोड़कर तीस के पूरे दशक में लाभ की दर 10% से कम ही रही। भारतीय जूट विनिर्माताओं को लागत का लाभ अवश्य रहा। भौगोलिक रूप से यह उद्योग हुगली के आसपास के क्षेत्र में ही केंद्रित रहा। संगठनात्मक दृष्टि से इसका संचालन प्रबंध एजेंसियां ही करती रहीं। लगभग 50% करघा-क्षमता पर 5 एजेंटों का नियंत्रण था। 1939 तक यद्यपि अधिकांश कंपनियों में एक या इससे अधिक भारतीय निदेशक थे परंतु वास्तव में कुछ कंपनियाँ ही भारतीय कही जा सकती थीं। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ होने पर 15% से भी कम क्षमता पर भारतीयों का नियंत्रण था।

जूट मिल उद्योग में दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में, क्षमता और उत्पादन दोनों में वृद्धि तो हुई परंतु उस की दर बहुत कम थी। भारतीय जूट मिल संघ द्वारा निरंतर प्रतिबंधात्मक करारों के बावजूद यह सामान्य वृद्धि हुई। 1929-30 से पहले की अवधि में और मिलें स्थापित किए जाने के कारण क्षमता में वृद्धि हुई जबकि इसके बाद के समय में नई इकाइयों के प्रवेश की बजाय प्रत्येक मिल में करघों की संख्या बढ़ाए जाने के कारण क्षमता में वृद्धि हुई।

3.4.2 सूती कपड़ा उद्योग

प्रथम विश्व युद्ध छिड़ जाने पर भारतीय सूती कपड़ा उद्योग को कुछ महत्वपूर्ण निर्यात बाजारों से हाथ धोना पड़ा। हालांकि, टुकड़ा-माल के आयात में कमी होने तथा कीमतों में वृद्धि के कारण इस उद्योग को अपना विस्तार करने का अनुकूल वातावरण मिल गया। लेकिन 1917-1922 की अवधि में इस उद्योग की करघा-क्षमता में वृद्धि नहीं हो पाई। 1922 के बाद इस उद्योग को एक लंबी मंदी के काल से गुज़रना पड़ा। 1922-1939 के बीच सूती कपड़ा उद्योग को निरंतर आर्थिक संकट के दौर से गुजरना पड़ा, जिसकी वजह से उसे गंभीर आर्थिक हानि उठानी पड़ी। इस संकट के निम्नलिखित कारण थे :

पहला, बहुत से विदेशी बाजारों और विशेष रूप से सूत के बाजारों का छूट जाना। सूत के व्यापार की सबसे बड़ी कमजोरी चीन के बाजार पर अत्यधिक निर्भर करना था और इस बाजार पर चीनी तथा जापानी प्रतिस्पर्धियों ने कब्जा कर लिया और भारतीय उत्पादकों को वहां से हटा दिया। टुकड़ा-माल के बारे में स्थिति कुछ बेहतर थी परंतु इसमें भी जापान ने चीन को अपने निर्यात बढ़ा लिए जबकि भारत ऐसा नहीं कर पाया। भारतीय उद्योगपतियों ने नए बाजार विकसित करने की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। इसकी तुलना में, जापान ने इस ओर ज्यादा ध्यान दिया और उनके अधिक नम्य विपणन संगठन की वजह से उन्हें विदेशी बाजारों में भारत की अपेक्षा अधिक सफलता मिली।

दूसरे, भारतीय मिलों की तुलना में जापानी मिलें अधिक दक्ष थीं, इसलिए वे यहां के आंतरिक बाजार में भी भारतीय उत्पादकों की अपेक्षा कटान-बिक्री करने लगीं। अनुकूल जलवायु-परिस्थितियां और अधिक उदार श्रम कानूनों के अलावा जापान को ऐसे अन्य कई लाभ प्राप्त थे जिनकी वजह से वे भारतीयों से अधिक अच्छे साबित हुए। जापान में अधिकांश मिलें जापान काटन स्पिनर्स एसोसिएशन के रूप में इकट्ठी हो गई थी। इसकी वजह से उन्हें सूत की कीमत बढ़ाकर देश में

टुकड़ा-माल की कीमत बढ़ाने और ब्लीचरों तथा फिनिशरों की कम कीमत पर माल देकर निर्यात कीमतों में कमी करने की गुंजाइश हो गई। आयात और निर्यात, दोनों काम थोड़े बड़े व्यापार गृहों द्वारा किया जाता था जिनका बाजार में काफी प्रभाव था। इस अच्छे वाणिज्यिक संगठन के अतिरिक्त जापान को भारत की तुलना में अधिक साक्षरता का लाभ भी मिला। इसकी वजह से जापान ने 1920 के दशक के अंत तक बहुत से सुधार लागू कर दिए जिनमें 'वर्क स्टाप मोशन' तथा नए प्रकार की स्वचालित करघा अर्थात् टोयोडा लूम शामिल हैं। जापानियों को मिलने वाले इन लाभों के अलावा भारत की मुद्रा नीति में बार-बार होने वाले परिवर्तनों की वजह से भी भारतीय उत्पादकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। येन के मूल्यह्रास की वजह से भी जापान को, विशेष रूप से 1930 के दशक में, लाभ हुआ।

तीसरे, भारतीय कृषि की खराब स्थिति के कारण कपड़े की आंतरिक मांग में कमी आ गई। 1920-21 के बाद से कृषि की सापेक्षिक कीमतों में जो विश्व-व्यापी गिरावट आई, उसकी वजह से किसानों की क्रय शक्ति में कमी आ गई और परिणाम यह हुआ कि विश्व के सूती कपड़ा उद्योग में मंदी छा गई। नए प्रतिष्ठानों में यह प्रवृत्ति घर कर गई कि वे नीचे कीमत स्तरों पर पूंजीगत व्यय नहीं करेंगे और इसलिए लागत कम करने की संभावना बहुत कम रह गई।

चौथे, अमरीका में रूई की कीमतों और कपास उत्पादन में आए उतार-चढ़ाव के कारण भारत में भी रूई की कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव आए इस स्थिति ने कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। कपास की कीमतें बीस के दशक के मध्य तक बढ़ती रहीं और आयातित मशीनी पुर्जों की कीमतों में भी वृद्धि होती गई जिसकी वजह से समस्या और भी गंभीर हो गई।

अंत में, कुछ ऐसे संगठनात्मक दोष भी थे जिन्होंने मंदी को बल दिया। ये दोष थे — अत्यधिक पूंजीकरण, तकनीकी विशेषज्ञों का अभाव, मशीनों को ठीक तरह से न चला पाना, उनका रख-रखाव और बदलाव ठीक प्रकार से न हो पाना, आधुनिक श्रम-बचाऊ उपायों का अभाव, रूई, कोयला, छीजन तथा स्टोर्स का अनार्थिक रूप से उपयोग, तथा मांग की कमी से निपटने के लिये किसी अल्पकालिक योजना का अभाव। दोषपूर्ण बिक्री एजेंसी प्रणाली तथा वित्तीयन की संतोषजनक प्रणाली के अभाव से मिलों तथा व्यापारियों, दोनों को परेशानी हुई।

3.4.3 स्थान निर्धारण की समस्याएँ

विनिर्माण उत्पादन तथा सूती कपड़ा उद्योग से संबंधित शिव सुब्रमण्यम के कुछ आंकड़ों के आधार पर मॉरिस डी० मॉरिस तर्क प्रस्तुत किया है कि दो युद्धों के बीच के वर्षों में भारत की दुर्दशा को ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। दो युद्धों के बीच के वर्षों में, सूती कपड़ा उद्योग में स्थिर कीमतों पर उत्पादन में वृद्धि हुई, हालांकि यह वृद्धि अमसान अवश्य थी। 1913-14 से 1938-39 तक के 25 वर्षों में मिलों की संख्या में 43.5% की वृद्धि हुई। यदि उद्योग में कोई संकट आया भी तो उससे केवल बंबई की मिलें ही प्रभावित हुईं। 1913-14 से 1938-39 के बीच मिलों की क्षमता का क्षेत्रवार वितरण इस व्याख्या की पुष्टि करता है। यह बतलाता है कि मिलों, तकुओं, करघों तथा औसत दैनिक रोजगार की संख्या के संदर्भ में बंबई नगर की मिलों को छोड़कर, जिनमें क्षमता घट गई, सभी अन्य क्षेत्रों में, मिलों की क्षमता में वृद्धि हुई। और यह संकट भी, क्षमता-आधिक्य तथा बढ़ी हुई लागत के विश्वव्यापी संकट का ही एक हिस्सा था। इस संकट में सबसे ज्यादा नुकसान ब्रिटेन को उठाना पड़ा और जापान इस कारण इससे बच गया कि वहां फर्मों का भारी पुनर्गठन कर दिया गया और अकुशल फर्में बाहर हो गईं। इसके अतिरिक्त, विदेशी बाजारों तथा भारतीय बाजारों में जापानी प्रतिस्पर्धा का सामना लंकाशायर को ही करना पड़ा क्योंकि भारतीय उत्पादक तो इस बाजार में काफी बाद में आए।

तथापि, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कम से कम बंबई की मिलों को काफी नुकसान सहना पड़ा।

अन्य जगहों की मिलों की अपेक्षा बंबई की मिलों को अधिक नुकसान क्यों सहना पड़ा, इस प्रश्न की तह में जाया जाए तो इसके निम्नलिखित कारण दिखाई देते हैं :

पहला, बंबई की मिलें इस उद्योग के विकास के प्रारंभिक वर्षों में स्थापित हुई थीं और अब तक वे मोटे सूत तथा कपड़े बनाने के लिए ही सुसज्जित थीं। लेकिन सूती कपड़े के उत्पादन की प्रौद्योगिकी ऐसी थी कि, बड़े पैमाने पर अकुशल श्रमिकों की उपलब्धि कपास के स्रोत के समीप होने तथा सूत के लिए मुफसल हथकरघा बाजार, अपेक्षाकृत कम मजदूरी स्तर तथा उदार श्रम कानून की वजह से देश के अन्य नगरों की मिलों को बंबई की अपेक्षा निश्चित रूप से लागत सम्बन्धी लाभ प्राप्त थे। बंबई तो श्रम, ईंधन, पानी, बिजली तथा स्थानीय करों के कारण बढ़ी हुई लागत से ग्रस्त था।

दूसरे, बंबई में कुशल श्रमिक तथा पूंजी बहुतायत से मिलती थी जिसकी वजह से अधिकाधिक रोजगार अवसर पैदा हो गए जो सूती कपड़ा उद्योग के लिए प्रतिस्पर्धा बन गए। उद्योग के कुशल श्रमिक मिलने में कठिनाई होने लगी।

3.4.4 प्रतिस्पर्धा की समस्याएँ

जब तक देश के बाजार में भारतीय मिलों का हिस्सा कम रहा तब तक तो उनके आक्रामक विस्तार की मुख्य रूप से विदेशी उत्पादक तथा हथकरघा बुनकर ही महसूस करते थे किंतु जैसे ही भारतीय बाजार में उनकी भागीदारी बढ़ी वैसे ही भारतीय मिलों के और विस्तार ने नए उद्यमियों को उद्योग के विद्यमान उद्यमियों के सीधे सामने खड़ा कर दिया, विशेष रूप से बंबई में। आंतरिक प्रतिस्पर्धा की इस बढ़ती तकलीफ को कम करने और अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाने के लिए बंबई की मिलों के पास एक ही चारा था कि वे अपने उत्पादन का विशाखन करें तथा अधिक महीन और परिष्कृत कपड़े का उत्पादन करें जिसकी देश के बाजार में मांग भी बढ़ रही थी। लेकिन इसी क्षेत्र में बंबई की मिलें, जापान तथा चीन के कुशल उत्पादकों से मात खा गईं। इससे उबरने के लिए जरूरी था कि बंबई की मिलें अपने यहां की प्रौद्योगिकी तथा संगठन में परिवर्तन

करके लागत घटाएं, लेकिन यह भी उनके लिए आसान नहीं था। इन परिवर्तनों की जगह बंबई मिल मालिकों ने ब्रिटेन तथा जापान से प्रतिस्पर्धा में कमी करने के लिए संरक्षक प्रशुल्क लगाने पर जोर दिया। इन प्रशुल्कों से भी उनकी समस्या का समाधान नहीं हुआ। लागत को अभी भी बहुत तेजी से घटाना ज़रूरी था और नये उत्पादों की खोज भी जरूरी थी। बढ़ती हुई आंतरिक प्रतिस्पर्धा की स्थिति में अदक्ष तथा गैर-नवोत्पादी उत्पादकों का मंच से हटना जरूरी था। उपर्युक्त समस्या से जूझने का सबसे पहला प्रयास था मजदूरी में कटौती करना। अन्य जगहों की मिलें इसमें ज्यादा सफल हो गईं। अहमदाबाद की मिलों में 1923 में आम हड़ताल हो गई किंतु फिर भी वहां मजदूरी में 15.5% की कटौती हुई। लेकिन बंबई की मिलों में यह कटौती नहीं हो पाई और 1924 तथा 1925 में किए गए इस प्रकार के प्रयासों को अधिक संगठित श्रमिक बल ने विफल कर दिया। इसकी वजह से अन्य जगहों की मिलों की प्रतिस्पर्धा सामर्थ्य में और बढ़ोतरी हो गई।

मज़दूरी घटाने के विकल्प के रूप में 1927 की टैरिफ बोर्ड रिपोर्ट में सुझाव दिया गया कि श्रमिकों के अधिक कुशल उपयोग द्वारा और मिल के तकनीकी और प्रशासनिक दोनों प्रकार के कार्यों की पूरी तरह से जांच करके आंतरिक पुनर्गठन द्वारा लागत घटाई जा सकती है। लेकिन बंबई की अधिकांश मिलों ने इस समस्या की गंभीरता को नहीं समझा क्योंकि वे अन्य कठिनाइयों में फंसी हुई थीं।

इसके विपरीत, अहमदाबाद, कानपुर तथा मद्रास की मिलों ने लगभग बिना किसी कठिनाई के देश के बाजार की बदली हुई आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को ढाल लिया। जब बंबई की कुछ मिलों ने अपने प्रचालन ढंग को सुदृढ़ करने का वास्तविक प्रयास किया भी तो उसमें आंशिक सफलता ही मिली। अन्य जगहों की मिलों में रोजगार तथा उत्पादन, दोनों में वृद्धि हुई। इसके विपरीत बंबई की मिलों में उत्पादन तथा रोजगार में बड़े स्तर पर कमी हुई। इस वजह से यह कार्य और अधिक कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त, बंबई की जागरूक तथा संगठित श्रमिक-शक्ति ने बड़ी कटुता के साथ इन प्रयासों का प्रतिरोध किया और अंततः गिरनी कामगार यूनियन के झंडे तले 1928-29 में बंबई में आम हड़ताल हो गई।

अंत में, बंबई तभी तक एक अनुकूल स्थान था जब तक वहां की मिलें मुख्यतः निर्यात बाजार पर ही निर्भर थीं। लेकिन विदेशी बाजार में बढ़ती प्रतिस्पर्धा के कारण इस उद्योग के भविष्य पर देशी बाजार का ज्यादा से ज्यादा प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रकार परिवहन लागतों का लाभ खत्म हो गया, क्योंकि अंदरूनी इलाकों से कपास लाने और देश के बाजारों में कपड़ा भेजने में काफी खर्चा होने लगा।

इस प्रकार, दो विश्व युद्धों के बीच के समय में यद्यपि सूती कपड़ा उद्योग को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा, किंतु इसने बदली परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लिया और विशेष रूप से देश की अन्य जगहों के कपड़ा उद्योग ने मध्यम गति से विकास भी किया। लेकिन बंबई की मिलों को श्रमिकों के सहयोग से अपनी समस्याओं को न सुलझा पाने और अपना ही कोई सामूहिक हल खोज पाने में असमर्थ सिद्ध होने के कारण, 1930 के दशक के प्रारंभ में गंभीर संकट का अकेले ही सामना करना पड़ा। कंपनियां ध्वस्त हो गईं, बेरोजगारी बढ़ गई और कुछ मिलों ने मजदूरी में कटौती कर दी। धीरे धीरे तकनीकी और प्रशासनिक पुनर्गठन होने लगे और अंत में बंबई का जो उद्योग उभरा वह आकार में छोटा और दक्षता में बड़ा था।

3.5 लोहा तथा इस्पात

दोनों विश्व युद्धों के बीच की अवधि में लोहा तथा इस्पात उद्योग के सामने कई कठिनाइयां आईं और इस कारण 1923 में उसे टैरिफ-संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता पड़ी। इन समस्याओं का एक कारण तो यह था कि युद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोहा तथा इस्पात की कीमतों में गिरावट आ गई और साथ ही साथ यूरोपीय विनिमय दर में भारी मूल्यह्रास हो गया।

3.5.1 टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी (टिस्को)

टिस्को कारखाने में, 1916-17 तक क्षमता के पूर्ण उपयोग के कारण प्रचालन लागत में कमी आ गई थी। इसके बाद लागतें, मजदूरी दर तथा कोयले की कीमतों में बढ़ोतरी के कारण बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त, प्लांट में श्रम प्रधान कार्य होने की वजह से श्रमिकों, ईंधन तथा कच्चे माल की जरूरतें तथा मशीनों के ओवर-हॉलिंग और रख-रखाव की आवश्यकताएं बढ़ गईं। साथ ही कंपनी ने ऐसी कीमतों पर पटरियां सप्लाई करने की संविदा कर ली जो अनार्थिक सिद्ध हुई।

भारतीय टैरिफ बोर्ड का यह मत था कि यद्यपि यह उद्योग दीर्घकाल में तो बिना संरक्षण के ही ठीक तरह से कार्य करने लगेगा किंतु थोड़े से समय के लिए उसे संरक्षण प्रदान करने की जरूरत थी। यह संरक्षण टिस्को द्वारा उत्पादित वस्तुओं की सीधी प्रतिस्पर्धा में आने वाली आयातित वस्तुओं, इस्पात तथा ढलवां लोहे पर साधारण राजस्व-शुल्क के अलावा अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगाकर दिया जाना था। इसके अतिरिक्त, पटरियों तथा फिश-प्लेटों के उत्पादन पर तीन साल के लिए क्रमवर्धी पैमाने पर विशेष अधिदान (Bounty) दिए जाने थे। सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और 1924 में इस्पात उद्योग (संरक्षण) अधिनियम पारित कर दिया गया।

लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस्पात उद्योग में चल रही लगातार मंदी और यूरोपीय विनिमय दर में भारी गिरावट हो जाने के कारण टिस्को ने और अधिक संरक्षण की मांग की। सरकार ने इसके जवाब में एक साल के लिए विशेष अधिदान का

प्रस्ताव किया, यह अधिदान 1924 में कम से कम 50 लाख का तय हुआ। 1925 में यह अधिदान अगले दो सालों के लिए, प्रारंभिक तीन साल की अवधि के समाप्त हो जाने के बाद, अधिकतम 60 लाख रुपए तक बढ़ा दिया गया। भारतीय टैरिफ बोर्ड ने 1927 में दुबारा जांच की और निष्कर्ष निकाला कि इस उद्योग को अभी भी संरक्षण की आवश्यकता है किंतु अब यह संरक्षण छोटे पैमाने पर दिया जाए। बोर्ड ने शुल्क की दर घटा दी और अधिदान को समाप्त करने की सिफारिश की। यूरोपीय इस्पात (ब्रिटेन के अलावा) पर अतिरिक्त शुल्क लगा दिया गया (साम्राज्यिक अधिमान का सिद्धांत)। तदनुसार, सरकार ने 1927 में इस्पात संरक्षण अधिनियम पारित कर दिया जिसके अनुसार संरक्षण अवधि 7 वर्ष के लिए तय कर दी गई। 1934 में एक अन्य जांच के बाद बोर्ड ने सभी प्रकार के इस्पात उत्पादों पर टैरिफ घटाने का सुझाव दिया। सभी देशों से आयात की जाने वाली पटरियों, फिश प्लेटों आदि पर लगे संरक्षण शुल्कों को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। केवल यूरोपीय संरचनात्मक इस्पात के मामले में ऊंचे शुल्क लगाने का सुझाव दिया गया जबकि ब्रिटेन के, इस प्रकार के इस्पात पर शुल्क बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार के संरक्षण को 1941 तक चलाए जाने की योजना थी किंतु इस दौरान युद्ध के कारण संरक्षण की जरूरत ही नहीं रही।

टिस्को मुख्य रूप से महान विस्तार कार्यक्रम चलाकर ही महान मंदी का सामना कर सकी। इस प्रकार मंदी जब अपने उत्कर्ष पर थी तब देश के इस्पात बाजार में टिस्को का हिस्सा दुगने से अधिक हो गया। भारत में आई मांग में गिरावट का सारा बोझा आयातित इस्पात को ही सहना पड़ा। मांग तथा कीमतों में गिरावट तथा रेलवे के आर्डर मिलने बंद हो जाने से टिस्को को जो नुकसान हुआ उसकी पूर्ति कच्चे माल की लागत में हुई भारी कमी से कर ली गई। कच्चे माल की लागत में कमी कोयले, स्पेल्टर तथा स्टोरों की कीमत में भारी गिरावट के कारण संभव हुई। इस प्रकार, कुल मिलाकर मंदी ने टिस्को को भारतीय इस्पात बाजार में प्रमुख स्थान प्रदान कर दिया और वह देश के इस्पात उद्योग के लिए लाभदायक सिद्ध हुई।

3.5.2 टिस्को के अलावा अन्य कंपनियाँ

हालांकि, 1940 तक इस्पात उद्योग में टिस्को का ही प्रभुत्व रहा, परंतु उस समय काम कर रही अन्य कंपनियों की चर्चा भी की जानी चाहिए। बर्न एंड कंपनी द्वारा 1918 में इंडियन आयरन एंड स्टील कं० (इस्को) शुरू की गई और उसने 1922 से लौहपिंडों का उत्पादन करना प्रारंभ कर दिया। इसी तरह, बर्ड एंड कं० तथा केम्मेल लेयर्ड एंड कं० लि० ने मिलकर 1921 में एक यूनाइटेड स्टील कार्पोरेशन आफ एशिया लि० (युस्काल) नामक कंपनी स्थापित की। प्रो० बागची के अनुसार यद्यपि सरकार की संरक्षण नीति से टिस्को को तो लाभ हुआ परंतु उसने इस्पात उद्योग और आनुषंगिक उद्योगों के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसके अतिरिक्त, जब टिस्को तथा युस्काल ने 1926 में प्लांट के निर्माण के लिए संरक्षण प्राप्त करने की मांग की तो सरकार ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। ऐसे में ही इस्पात उद्योग में मंदी आ गई जिससे किसी नए उद्यम को शुरू करने पर कोई विचार ही नहीं करता था। 1925 के बाद, टिस्को और इस्को के अलावा मैसूर आयरन एंड स्टील वर्क्स, भद्रावती (1920 में स्थापित) नामक एक छोटी कंपनी ने लौहपिंडों का उत्पादन शुरू कर दिया।

1934 के पश्चात् पुनः शस्त्रीकरण की मांग के कारण उद्योग में उत्कर्ष की स्थिति पैदा हो गई जो 1939 तक चलती रही। इसलिए टिस्को ने अपने कारखाने का विस्तार किया और ऐसे उत्पादों के उत्पादन की योजना बनाई जो अभी तक आयात किए जाते थे। टिस्को ने 1937 में एक नया इस्पात संयंत्र स्टील कार्पोरेशन आफ बंगाल के नाम से शुरू किया।

द्वितीय विश्व युद्ध की वजह से लोहे तथा इस्पात की मांग में भारी वृद्धि हुई लेकिन विद्यमान क्षमता पर बोझा डालकर ही अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त किया जा सका। इस प्रकार भारत ने अपने लोहा तथा इस्पात उद्योग के विस्तार का स्वर्ण अवसर खो दिया। यदि देश में राष्ट्रीय सरकार होती तो वह इन अवसरों का दीर्घकालीन औद्योगिक विकास के लिए उपयोग करती लेकिन साम्राज्यवादी सरकार ने केवल युद्ध में ही ध्यान केंद्रित किया क्योंकि युद्ध के बाद भारत का भविष्य अनिश्चित था। सरकार द्वारा कोई पहल न किए जाने के कारण इस्पात उद्योग कई वर्ष पीछे हट गया। युद्ध के पश्चात् स्थिति यह हो गई कि युद्ध के दौरान विद्यमान संयंत्रों तथा मशीनों पर जो दबाव पड़ा और उसके कारण उनमें जो टूट-फूट हो गई उसके कारण उत्पादन में कमी आ गई।

3.6 अन्य उद्योग

दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में सीमेंट, कागज, चीनी, ऊनी वस्त्र तथा माचिस उद्योग तेजी से विकसित होते रहे। पोर्टलैंड सीमेंट के उपभोग में तेजी से वृद्धि हुई, 1915-19 की अवधि में इसकी 1,49,000 टन वार्षिक औसत के हिसाब से खपत होती थी जबकि 1935-36 से 1937-38 के बीच यह बढ़कर 10,67,000 टन वार्षिक औसत तक पहुंच गई। इसमें से 95% खपत की पूर्ति देशी उत्पादन से ही होती थी। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तथा 1925 तक की अवधि के दौरान सात नई कंपनियां स्थापित की गईं। क्षमता में विस्तार करने की वजह से अधिक क्षमता (excess capacity) हो गई तथा बीस के दशक के मध्य में कीमतें गिरीं और लाभों में कमी आ गई। बाजार में स्थिरता लाने के लिए प्रतिस्पर्धा में कमी करने पर विचार किया गया और इसके लिए सीमेंट उत्पादकों का एक संघ बनाकर उसके माध्यम से एकसमान बिक्री कीमत निश्चित की गई। ये प्रयास निष्फल हो गए क्योंकि व्यक्तिगत फर्म उत्पादन पर कोई प्रभावी नियंत्रण कायम नहीं किया जा सका। सन् 1936 में दो समूहों के स्वामित्व वाली दस कंपनियों को एसोसिएटेड सीमेंट कंपनीज नामक संस्था के रूप में मिलाकर सीमेंट बाजार पर एकाधिकार स्थापित करने का भी प्रयास किया गया किंतु इसको डालमिया जैन समूह ने निष्फल कर दिया और उन्होंने पूर्वी भारत में पांच नई फर्में स्थापित कर दीं। सीमेंट की कीमतों और उससे प्राप्त लाभों में फिर से गिरावट आ गई तथा उत्पादन और कीमतों को नियत करने का फिर से प्रयास किया गया — हालांकि इस बार यह

नियतन, दो प्रतिस्पर्धी समूहों के बीच ही किया गया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए अधिकतम क्षमता तक उत्पादन बढ़ाया गया।

दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि के दौरान कागज और गत्ते की खपत दुगनी से ज्यादा हो गई अर्थात् 1923-24 से 1925-26 के बीच इसका वार्षिक औसत 1,08,000 टन था जबकि 1936-37 से 1938-39 के दौरान यह बढ़कर 2,18,000 टन हो गया। इसमें से केवल एक चौथाई खपत देश के अंदरूनी उत्पादन से पूरी होती थी, बावजूद इस तथ्य के कि इसे टैरिफ संरक्षण मिला हुआ था। कागज उद्योग के तेजी से विकास न करने का मुख्य कारण पूर्ति की लाचारियां थीं जिसमें संतोषजनक देशी लुगदी सामग्री का अभाव, बाँस (एक वैकल्पिक कच्चा माल) को लुगदी में बदलने से संबंधित तकनीकी समस्याएं, आयातित रासायनिक पदार्थों और वुडपल्प पर निर्भरता आदि प्रमुख कारण थे। यह उद्योग भौगोलिक आधार पर केंद्रित हो गया। अंतर-युद्ध अवधि में इस उद्योग पर यूरोप नियंत्रित दो बड़ी कंपनियों का आधिपत्य बना रहा हालांकि 1924 में 9 मिलें विद्यमान थीं देश के कुल उत्पादन का 85% उत्पादन ये दो मिलें ही करती थीं। 1925 के बाद मिलने वाले टैरिफ संरक्षण से इन दोनों फर्मों ने अपनी वर्तमान क्षमता का उपयोग करके बढ़ती मांग को पूरा करने का प्रयत्न किया और इसीलिए 1930 से 1936 के बीच इन्होंने खूब लाभ कमाया। इसको देखते हुए पांच नई फर्मों ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। नई क्षमता के प्रवेश के कारण प्रतिस्पर्धा का जन्म हुआ और 1938 तथा 1939 में कागज की कीमतें गिर गईं।

भारत के चीनी उद्योग का विकास इसी तथ्य से उजागर हो जाता है कि 1926-27 से 1930-31 के दौरान, गन्ना-उत्पादों की कुल खपत औसत 32 लाख टन थी जिनमें से 64.2% गुड़ के रूप में, 6.2% खंडसारी के रूप में, 25.9% आयातित चीनी के रूप में और मात्र 3.7% परिष्कृत चीनी के रूप में, जो भारत में विद्यमान 23 चीनी मिलों द्वारा उत्पादित की जाती थी, होती थी। बीस के दशक में गन्ने की सुधरी किस्म रोपे जाने के साथ-साथ कृषि-हितों की सुरक्षा के लिए संरक्षणात्मक पग के रूप में भारतीय टैरिफ बोर्ड ने संरक्षण-शुल्क लगा दिया। इससे चीनी के आयात में काफी कमी आ गई। लाभों में वृद्धि हो गई। नई फर्में तेजी से उद्योग में आने लगीं। 1929-30 से 1936-37 के बीच फैक्टरियों की संख्या 27 से बढ़कर 150 तक पहुंच गई और 1938-39 के आते-आते निवेशित पूंजी तथा उत्पादन के मूल्य के रूप में चीनी उद्योग चौथे नंबर पर आ गया।

विश्व युद्धों के बीच की अवधि के दौरान सरकार ने बहुत से आयातों पर काफी ऊंची दरों पर राजस्व शुल्क लगा दिए थे और भारत में बनी वस्तुओं को ज्यादा तरजीह देनी प्रारंभ कर दी थी। इसकी वजह से लघु तथा मध्यम दर्जे की बहुत सी वर्कशापों का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त, टैरिफ से बचने और सार्वजनिक संविदाओं के लिए प्रभावी ढंग से बोली लगाने के लिए बहुत सी नई कंपनियां स्थापित की गईं। ये सभी फर्में ब्रिटिश या अन्य फर्मों की शाखाएं ही थी। इस प्रकार के सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण विकास माचिस उद्योग में हुए।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक भारत में माचिस बनाने का काम अधिकतर दस्तकारी के रूप में किया जाता था। अच्छी किस्म तथा मशीन निर्मित उत्पादों की बाजार की मांग आयातों द्वारा संतुष्ट कर दी जाती थी। 1922 में आयातों पर ऊंचा राजस्व शुल्क लगा दिया गया। इससे प्रोत्साहित होकर बहुत से स्थानीय उद्यमियों ने माचिस बनाने के लिए मशीनें आयात कर लीं। इसी पृष्ठभूमि में वैस्टर्न इंडिया मैच कंपनी (स्वीडिश कंपनी) ने, जो 1922 से पहले आयातित माचिसों की सबसे बड़ी पूर्तिकर्त्ता फर्म थी, माचिस बनाने का कारखाना स्थापित किया और कच्चे माल के रूप में स्थानीय लकड़ी का उपयोग किया। इस कंपनी का पूरे उद्योग पर आधिपत्य बना रहा और भारत में निर्मित माचिसों का 80% हिस्सा इसी कंपनी द्वारा तैयार किया जाता था।

1939-47 की अवधि

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन ज्यादा और बहुत प्रकार की विनिर्मित वस्तुओं का हुआ। यहां पर सिर्फ कुछ विशेष प्रकार के उत्पादों को छोड़कर अधिकतर प्रकार के इस्पात का उत्पादन किया गया। यहां पर सीमेंट, कागज और माचिस, जूट तथा सूती कपड़ा का उत्पादन किया गया। लेकिन यहां पूंजीगत माल पैदा करने वाला क्षेत्रक नहीं पनप सका। इसलिए यहां विद्यमान उत्पादक क्षमता को न तो बढ़ाया जा सका और न ही उसको उसके स्तर पर कायम रखा जा सका। हमेशा की तरह यहां की व्यवस्था मशीनों, परिवहन तथा बिजली के उपस्करों, भारी एवं मूल रसायनों और अन्य बुनियादी औद्योगिक निविष्टियों के लिए आयातों पर ही निर्भर रही। युद्ध के दौरान केवल उन्हीं क्षेत्रों के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई जहां प्रारंभ से काफी अधिक क्षमताएं विद्यमान थीं नहीं तो युद्ध की आवश्यकताओं को नागरिक उपभोग में कटौती करके ही पूरा किया गया। युद्ध की समाप्ति के बाद भारतीय विनिर्माण क्षेत्र की तस्वीर ऐसी बनी जिसमें तादाद में ज्यादा प्लांट काम में लाए गए और जिनमें प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण की जबरदस्त जरूरत थी। किन्तु उनके लिये अपने बल पर ऐसा कर पाना कठिन था। हालांकि, युद्ध की अवधि के दौरान तथा उसके बाद, जैसे-जैसे स्वतंत्रता निकट आती गई, ब्रिटिश पूंजी का काफी बड़ा हिस्सा भारतीय हाथों में आता चला गया।

बोध प्रश्न 2

1 दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि के दौरान बंबई के सूती कपड़ा उद्योग में जो संकट आया, उसका कारण था :

क) विदेशी बाजारों को खो देना

ख) किसानों की क्रय शक्ति में वृद्धि

ग) रूई की कीमतों में वृद्धि

घ) बंबई की मिलों में संगठनात्मक तथा प्रौद्योगिकीय दोष।

सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं।

2 लोहा तथा इस्पात उद्योग ने विश्व युद्धों के बीच की अवधि में संरक्षण पर जोर दिया। इसका कारण था :
क) केवल यूरोपीय विनिमय दर में गिरावट
ख) केवल इस्पात उद्योग में विश्वव्यापी मंदी
ग) (क) और (ख) दोनों।

सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं।

3.7 परिवहन : रेलवे

19वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में संचार के साधन बहुत अपर्याप्त थे और उनकी हालत वैसी ही थी जैसी कि 18वीं शताब्दी के मध्य तक इंग्लैंड में रही थी। रेलों का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ था और मुगल शासकों ने जो थोड़े बहुत सड़क मार्ग बनवाए थे वे वर्तमान में बहुत नाकाफी थे। बहुत से तथाकथित सड़क मार्ग तो मात्र कच्चे रास्ते ही थे जिन पर अधिकांश वर्षाकाल के दौरान पहियादार यातायात असंभव था। गंगा तथा सिंधु नदी के किनारे वाले कुछ क्षेत्र तथा समुद्रतटीय कुछ जिले इस दृष्टि से सौभाग्यशाली थे कि वहां जलमार्ग विद्यमान थे। कुल मिलाकर, उत्तरी भारत में, जहाँ बड़े-चौड़े मैदानी क्षेत्र थे, नौवहन योग्य नदियां थीं और कुछ निर्मित सड़कें भी थीं, संचार की स्थिति काफी संतोषजनक थी किंतु इसकी तुलना में दक्षिण के पठारी क्षेत्र में जहां ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी क्षेत्र थे तथा जहां समुद्रतटीय क्षेत्रों को छोड़कर जल परिवहन की कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी, वहां संचार व्यवस्था बहुत खराब थी। लेकिन लार्ड डलहौजी के समय से प्रारंभ हुई बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निर्माण की नीति के क्रियान्वयन से भारत में परिवहन व्यवस्था में एक नया बदलाव आया। सुविधा की दृष्टि से हम इस विषय को तीन उपभागों में बाँट लेते हैं : (1) रेलवे; (2) सड़कें ; (3) अंतर्देशीय जलमार्ग और नौपरिवहन।

3.7.1 रेलवे का विस्तार

भारत में रेलों का इतिहास वैसे तो 1844 से प्रारंभ हो जाता है किंतु इसका तेजी से विस्तार 1853 के प्रारंभ से ही हुआ जब भारत सरकार ने ब्रिटेन की सरकार के साथ मिलकर यह निर्णय लिया कि भारत में रेलवे की एक व्यापक प्रणाली का निर्माण किया जाए। रेलवे का इतना तेजी से विस्तार किया गया कि 1910 आते-आते यह विश्व में चौथे नंबर पर आ गई। रेलवे में इस प्रकार की तेज गति से वृद्धि मुख्य रूप से वाणीज्यिक और राजनीतिक कारणों से हुई। सरकार का यह विश्वास था कि रेलवे से भारत के आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी और ब्रिटेन के माल के लिए बाजार और कच्चे माल के स्रोत उपलब्ध हो सकेंगे। रेलवे से सीमांत प्रदेशों की सुरक्षा को सुविधाजनक बनाना और उप महाद्वीप के अंदर सेना को इधर-उधर भेज कर शासन को मजबूत बनाना, ये भी महत्वपूर्ण उद्देश्य थे। यह भी विश्वास किया जाता था कि एक बार चालू होने पर रेलवे अन्य यातायात साधनों की उपेक्षा ज्यादा लाभदायक सिद्ध होगा और इस प्रकार उत्पादन लागतों में भी काफी कमी हो जाएगी।

भारतीय रेलवे के इतिहास को दस सुनिश्चित अवधियों में बांटा जा सकता है। ये हैं : (1) पुरानी गारंटी व्यवस्था : 1844-69; (ii) राज्य द्वारा निर्माण और प्रबंधन : 1969-79; (iii) नई गारंटी व्यवस्था : 1879-1900; (iv) तेज विस्तार तथा विकास : 1900-14; (v) रेलवे व्यवस्था का भंग होना : 1914-18; (vi) एकवर्थ कमिटी तथा राज्य द्वारा प्रत्यक्ष प्रबंधन तथा नियंत्रण के आधार पर रेलनीति में पूर्ण परिवर्तन : 1921-25; (vii) समृद्धि की अवधि तथा पृथक्करण कन्वेंशन : 1925-30; (viii) मंदी : 1930-31 से 1935-36; (ix) आंशिक पुनरुत्थान तथा रेलवे जांच : 1936-39; तथा (x) 1939 के बाद का काल।

भारत में रेलवे का प्रारंभ प्राइवेट कंपनियों के रूप में हुआ जिसमें भारत सरकार द्वारा दी गई गारंटी प्रणाली का उन्हें लाभ मिलता था। इस गारंटी प्रणाली के अंतर्गत भारत सरकार सहायिकी (Subsidy) के रूप में उन्हें सहायता देती थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत यदि कंपनी को एक न्यूनतम दर से प्रतिफल प्राप्त न हो तो उस अंतर के लिए मुआवजा भारत सरकार की ओर से मिलेगा। प्रतिफल की आश्वत दर से प्रेरित होकर ब्रिटेन के निवेशकर्ताओं ने प्राइवेट रेलवे कंपनियों को तत्परता के साथ पूंजी उपलब्ध करना शुरू कर दिया। भारत में रेल निर्माण करने के लिए निजी पूंजी को प्रोत्साहित करने का कारण लार्ड डलहौजी ने यह दिया कि वे भारतीय जनता की प्रत्येक काम के लिए सरकार पर निर्भर होने की आदत को हतोत्साहित करना चाहते थे।

डलहौजी योजना के अधीन भारत के विभिन्न भागों में रेलवे बनाने और उनका प्रबंध करने के लिए 1854 से 1860 के बीच आठ कंपनियों के साथ करार किए गए। लेकिन पुरानी गारंटी प्रणाली से राज्य के धनस्रोतों पर काफी असर पड़ा और भारत में करदाताओं पर इस वजह से बोझा भी बढ़ गया। 1869 तक रेवले बजट का घाटा लगभग 1.7 करोड़ हो गया। गारंटी प्रणाली की उपादेयता के बारे में विचार वैभिन्य है, एक ओर लार्ड लारेन्स तथा विलियम थार्नटन के विचार थे तो दूसरी ओर एकवर्थ रेलवे समिति के। लेकिन आर० सी० दत्त ने अंतिम रूप से यह दिखा दिया है कि उस समय इंग्लैंड में काफी फालतू पूंजी उपलब्ध थी जिसके निवेश के लिए दक्षिणी अफ्रीका तथा अन्य देशों में कोशिश की जा रही थी और यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि पूंजी निवेश के प्रतिफल पर गारंटी के अभाव में वह भारत से बाहर चली जाती।

1869 के बाद आलोचकों के दबाव में सरकारी इकाइयों ने भी कुछ रेलवे लाइनों का निर्माण किया और उन पर रेल

चलाई। इसके बाद से रजवाड़ों, प्रांतों और यहां तक कि जिला बोर्डों ने भी कुछ रेल लाइनों का निर्माण किया। 1869-82 के बीच स्वयं केंद्रीय सरकार ने भी बहुत सी लाइनें बिछवाईं। इनमें से कुछ का तो उसने सीधा प्रबंध किया और कुछ को प्राइवेट कंपनियों को पट्टे पर दे दिया। 1879 में सरकार ने ईस्ट इंडियन रेलवे को खरीद लिया। इसके बाद से उसने धीरे-धीरे करार समाप्त हो जाने पर बड़ी कंपनियों को अपने स्वामित्व में लेने की नीति प्रारंभ कर दी, लेकिन उनका प्रबंध कार्य निजी हाथों में ही रहने दिया। इस अवधि के दौरान पूंजीगत व्यय मुख्य रूप से सरकार ने ही किया। पूंजीगत व्यय का बोझा काफी अधिक था और सरकार के लिए निरंतर रूप से उसे करते रहना कठिन हो गया था। यह समस्या 1874 और 1879 के अकाल तथा अफगानिस्तान के साथ सीमा पर लड़ाई के कारण और भी कठिन हो गई। भारत को अकाल की विभीषिका से बचाने के लिए अतिरिक्त रेल लाइनें बिछाने की आवश्यकता के कारण धनराशि की मांग और बढ़ गई। इसलिए सरकार को बाध्य होकर इस निष्कर्ष पर पहुंचना ही पड़ा कि तेजी से रेल लाइनें बिछाने के लिए राज्य के पास पर्याप्त धनराशि नहीं थी।

वास्तव में तो राज्य द्वारा प्रबंध करने के पक्ष में जो लहर चल रही थी वह अस्सी के दशक के प्रारंभ में कमजोर पड़ गई और रेलवे के इतिहास में एक नये काल का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें सरकार ने पुरानी शर्तों में कुछ संशोधनों के साथ गारंटीकृत कंपनियों की संस्था का उपयोग करने का निर्णय लिया। कंपनियों द्वारा नई प्रणाली के अंतर्गत जो लाइनें बिछाई गईं वे प्रारंभ से ही सरकार की संपत्ति थीं, यद्यपि कंपनियों की स्वयं की पूंजी पर उन्हें एक निश्चित ब्याज की गारंटी दी गई थी और लाइनें बिछ जाने पर उनका प्रबंध भी उन्हीं के अधिकार में दे दिया गया था। इनके अतिरिक्त, जिला बोर्डों की लाइनें थीं, सहायता प्राप्त कंपनियों की लाइनें थीं, कंपनियों द्वारा निर्मित रजवाड़ों की लाइनें थीं, राज्य रेलवे एजेन्सियों द्वारा निर्मित रजवाड़ों की लाइनें थीं। और स्वयं रजवाड़ों द्वारा निर्मित और स्वामित्व वाली लाइनें थीं। उदाहरणतः 1902 में भारतीय रेलवे तैंतीस पृथक् प्रशासनों के अंतर्गत काम कर रही थी जिनमें 24 प्राइवेट कंपनियों के, चार सरकारी एजेन्सियों के और पांच रजवाड़ों के प्रशासन में थी। इससे पता चलता है कि भारतीय रेलवे स्वामित्व तथा प्रबंध की दृष्टि से एक मिश्रित प्रणाली थी।

1900 से 1914 तक के काल की दो उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। एक तो यह कि 1905 में रेलवे एक अलग विभाग के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। इसके अधीन 14 हजार मील लम्बी रेल लाइनें और लगभग 170 करोड़ रुपए का पूंजी परिव्यय आ गया। दूसरी यह कि रेलवे के प्रारंभ होने के पहले चालीस वर्षों में राज्य को 58 करोड़ रुपए की हानि उठानी पड़ी थी लेकिन सन् 1900 से रेलवे ने लाभ कमाना शुरू कर दिया। पहले दस सालों तक तो यह लाभ बड़ी अल्प मात्रा में ही रहा किन्तु 1922 तक कुल लाभ 103 करोड़ रुपए तक पहुंच गया। लेकिन 1914 से 1921 तक की अवधि में रेलवे का काम ठप्प हो गया और उसमें तेजी से गिरावट आई। ऐसी स्थिति का एक कारण तो यह है कि इस अवधि के दौरान बड़ी मात्रा में फौज तथा माल ढोने का बहुत बड़ा दबाव इस पर पड़ा और दूसरा यह कि सरकार के सामने जो आम वित्तीय समस्याएं आ गईं उनके कारण बाध्य होकर सरकार को रेलवे पर पूंजीगत व्यय के वार्षिक कार्यक्रम में कटौती करनी पड़ी। रेलवे प्रबंध की इतनी बुरी हालत हो गई कि सवारी तथा माल परिवहन में होने वाली असुविधाओं के विरोध में जनता तथा व्यापारी वर्ग की ओर से काफी शिकायतें उठायी जाने लगीं। धीरे-धीरे अंग्रेजों द्वारा चलाई जाने वाली अधिकांश कंपनियों की प्रबंध व्यवस्था के विरुद्ध जनमत जागृत हो गया और उन्होंने मांग की कि जहां संभव हो राज्य को इन प्रबंधों को अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

भारत में रेलवे का एक विस्तृत जाल सा फैला देने वाली सरकारी इकाइयों और प्राइवेट कंपनियों को पहली बार जनता के विरोध का सामना करना पड़ा।

राज्य द्वारा प्रबंध का मामला इस बार रेलवे व्यवस्था भंग हो जाने के कारण उठा न कि धन स्रोतों पर दबाव के कारण जिसने 1869 में सरकार को स्वयं रेल पटरी बिछाने और प्रबंध करने के लिए बाध्य कर दिया था। इस बात को एकवर्थ समिति के अधिकांश सदस्यों का भी समर्थन मिला जिन्होंने कहा कि रेलवे व्यवस्था भंग हो जाने का मुख्य कारण यह था कि राज्य द्वारा निर्मित रेलवे का प्रबंध कार्य अंग्रेज कंपनियों को सौंप दिया गया था। 1920 में गठित इस समिति की सिफारिशों का सार इस प्रकार है :

'यह ठीक है कि वह कंपनी जो अपना धन निवेश कर रही है, वास्तव में अपनी संपत्ति का ही प्रबंध कर रही है और अपने अधिकारियों की सफलता, परिणामों से ही आंकती है; राज्य के प्रत्यक्ष प्रबंध में चलाए जाने वाले व्यवसाय की अपेक्षा अधिक साहस, मितव्ययिता तथा नम्यता के साथ कार्य व्यापार करती हैं। किंतु भारत में राज्य की रेलवे का प्रबंध करने वाली अंग्रेज कंपनियां इस अर्थ में बिल्कुल निष्फल सिद्ध हो गई हैं। जो संपत्ति उनके प्रबंधाधीन आई, वह उनकी अपनी नहीं थी और इसलिए उसमें उनकी वित्तीय जोखिम बहुत कम थी। अतः इस प्रकार की व्यवस्था ने न तो पहले ही संतोषजनक रूप से काम किया और न भविष्य में ही वह ऐसा कर पाएगी।'

परिणामस्वरूप, प्राइवेट कंपनियों द्वारा प्रबंधित ग्रेट इंडियन पेनिसुलर रेलवे और ईस्ट इंडियन रेलवे को 1923 में राज्य के सीधे प्रबंध में ले लिया गया। राज्य ने 1930 में दक्षिण पंजाब रेलवे को खरीद लिया। राज्य द्वारा अपने नियंत्रण में लेने की यह प्रक्रिया 1943 तक चलती रही जब बंगाल, उत्तर-पश्चिम, रुहेल खंड तथा कुमायूं रेलवे को इसी तरह आधिपत्य में ले लिया गया और उन्हें मिलाकर अवध तथा तिरुहत रेलवे नाम दे दिया गया। तीस के दशक की मंदी की वजह से 1930-36 के बीच रेलवे की वित्तीय स्थिति बहुत बिगड़ गई और इस प्रवृत्ति को दूसरे विश्व युद्ध के दौरान ही बदला जा सका। इस अवधि में नए निर्माण, कार्य को विधि में सुधार करने तथा और अधिक शक्तिशाली इंजनों पर धन खर्च किया गया। भारतीय रेलवे की रूट-माइलेज 1946 में 7, 65, 217 कि.मी. तक पहुंच गई जो 1860 में मात्र 1349 कि.मी. ही

थी। रेल लाइनों की सघनता 1880 के प्रति 10,000 वर्ग कि.मी. में 35 रूट कि.मी. से बढ़कर 1946-47 में 159 रूट कि.मी. हो गई। 1939 में कुल रूट माइलेज में से 72% पर राज्य का स्वामित्व था तथा उस समय कुल माइलेज के 42% पर इसका सीधा प्रबंध कायम था।

3.7.2 रेलवे के आर्थिक प्रभाव

अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रकों में रेलवे के प्रभाव को महसूस किया गया। रेलवे का सवारी तथा माल दोनों को लाने-ले जाने के लिए व्यापक रूप से उपयोग किया जाने लगा। रेलवे ने 1871 में जहां 1 करोड़ 90 लाख सवारियों को ढोया वहां 1945-46 में यहा संख्या 10 करोड़ तक पहुंच गई। सवारी किलोमीटर की मात्रा भी काफी बढ़ गई। 1882 में यह 46 करोड़ थी जबकि 1946-47 में यह बढ़कर 1640 करोड़ हो गई। उप महाद्वीप के भीतर ढोए जाने वाले कुल माल की टन किलोमीटर मात्रा में भी काफी बढ़ोतरी हो गई। इस मात्रा में अधिकांश वह माल था जो या तो विदेशी बाजारों को भेजा जाना था या जो विदेशों से भारत में आयात किया गया था। रेलवे ने भारत की कृषि उपजों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा बनाने में सहायता की और गेहूं, चावल, जूट, चमड़ा, तिलहन तथा रूई जैसे उत्पादों के निर्यातों में भारी वृद्धि को संभव बनाया। निर्यातों में वृद्धि के साथ-साथ आयातों में भी वृद्धि हुई। मुख्यतः विनिर्मित माल का आयात होता था। 1862 से 1928-29 तक आयातों के मूल्य में वास्तविक अर्थों में 350 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जिस तरह रेलवे ने भारत के विदेशी व्यापार के विस्तार और उसके स्वरूप में बदलाव लाने में सहायता की उसी प्रकार उसने आंतरिक व्यापार के संवर्धन में भी सहायता की। साथ ही उसने एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जो कीमतों में अंतर होता था उसको कम करके कीमतों की संरचना को ही बदल डाला। बाजारों के विस्तृत हो जाने के कारण अर्थव्यवस्था के कृषि क्षेत्रक पर काफी असर पड़ा। रेलवे का कृष्येतर क्षेत्रक पर भी असर पड़ा। कच्चे माल को कम लागत पर ढोकर और तैयार माल को देश के विभिन्न बाजारों में पहुंचाकर रेलवे ने भारत के आधुनिक उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। हालांकि यह विकास सीमित ही रहा, क्योंकि रेलवे कृषि तथा कृष्येतर क्षेत्रकों में मजदूरों के अनुपात को नहीं बदल सकी।

जिस प्रकार से रेलवे का निर्माण किया गया और उसे चलाया गया उससे अर्थव्यवस्था की आधारभूत संरचना में कोई परिवर्तन नहीं आ सका। जैसा पहले बताया गया है, रेलवे के निर्माण के लिए वित्तीय पूंजी ब्रिटेन से आई और श्रम शक्ति तथा सामान भी वहीं से आया। प्रारंभ में, जब भारत में भारी उद्योग नहीं थे, बाहर से माल, तकनीकी तथा प्रबंध का आयात समझ में आता था। किंतु भारत के अंदर उपलब्ध भारी उद्योग या प्रबंध वर्गीय कुशलता को पूरी तरह से अनदेखा कर देना भी समझ में नहीं आता। यह बात और है कि उपनिवेशी सरकार और रेलवे कंपनियों ने ऐसी नीति अपनाई जिससे ब्रिटेन के उद्योगों तथा वित्तीय संस्थाओं को ही मुख्य रूप से लाभ पहुंचे। रेलवे और भारतीय उद्योगों के बीच संबंधों के अभाव को भारत के वित्तीय क्षेत्र तथा श्रमिक बाजार में भी महसूस किया गया। लगभग 99% पूंजी ब्रिटेन से और 1% भारत से प्राप्त करने की वजह से ब्रिटिश पूंजी बाजार को विकसित होने में सहायता मिली और भारत का पूंजी बाजार इस विकास से अछूता ही रह गया। कुल मिलाकर, रेलवे की सहलग्नता (linkages) का भारतीय अर्थव्यवस्था पर तो कम प्रभाव पड़ा किंतु रेल की पटरियों के बिछाने तथा दरों की संरचना (फ्रिाओं) से उप महाद्वीप के आर्थिक कार्यकलाप पर काफी प्रभाव पड़ा। रेलवे से भारतीय अर्थव्यवस्था की न्यूनतम सहलग्नता के अतिरिक्त भारतीय अर्थव्यवस्था को ऊँचे किराए-भाड़े के कारण भी नुकसान सहना पड़ा। चूंकि यातायात का कोई वैकल्पिक साधन नहीं था अतः प्रत्येक कंपनी ने अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से अपनी अलग-अलग दरें, किराए और सेवा नीतियां बना लीं। इसका परिणाम यह हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जिन देशों के साथ भारत की प्रतिस्पर्धा थी उन देशों के मुकाबले भारतीयों को रेल से माल ढोने के लिए अधिक भाड़ा देना पड़ता था।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता से पहले भारत में जो भी सीमित आर्थिक विकास हुआ उसमें रेलवे ने निस्संदेह महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यदि रेलवे न होती तो माल की ढुलाई काफी खर्चीली हो गई होती। माल की ढुलाई के लिए ज्यादा संसाधन उपयोग में लाने पड़ते और आंतरिक तथा विदेशी बाजारों में थोड़ा माल ही भेज पाना संभव हो पाता। रेलवे की वजह से कृषि उपज के आवागमन में वृद्धि हुई और आधुनिक उद्योग का विकास हुआ। फिर भी, दीर्घकाल में इन परिवर्तनों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के मूलभूत ढांचे को नहीं बदला और दूरस्थ ग्रामीण समाज को तीव्र वाणिज्यीकरण के दबावों से ग्रस्त अवश्य कर दिया। कुछ अनुसंधानकर्त्ताओं के अनुसार, रेलवे के आने के पश्चात् आर्थिक शोषण की प्रणाली का विस्तार हो गया और जल्दी-जल्दी अकाल भी पड़ने लगे।

3.8 जलमार्ग

ब्रिटिश शासन के पहले से ही आंतरिक और सामुद्रिक जलमार्ग भारत के लिए हमेशा महत्वपूर्ण रहे हैं।

3.8.1 अंतर्देशीय नौपरिवहन

देश की परिवहन व्यवस्था में अंतर्देशीय नौपरिवहन ने हमेशा से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्राचीन समय में अधिकतर इसी का सहारा लिया जाता था और मौर्यकाल तथा मुगल साम्राज्य के दौरान नदियों के माध्यम से काफी परिवहन किया जाता था। उदाहरण के लिए गंगा नदी वाणिज्य संबंधी यातायात का एक महान प्राकृतिक राजमार्ग थी और उसी के किनारे मिर्जापुर जैसे शहर बस गए थे जो मध्यवर्ती भारत तथा बंगाल के बीच व्यापार का प्रमुख केंद्र बन गया। रेलवे के आगमन से अंतर्देशीय नौपरिवहन को काफी नुक्सान उठाना पड़ा।

इसके अतिरिक्त, भारत में प्रकृति ने उस प्रकार की नदियां नहीं दी है जैसी कि इंग्लैंड में हैं, वहां वे प्राकृतिक जलमार्ग का काम करती हैं। हमारे यहां उत्तर भारत तथा पठारी क्षेत्र की नदियों के बीच विद्यमान अंतर यहां के जलमार्ग विकास में मुख्य बाधा हैं। उत्तर भारत तथा पाकिस्तान की महान नदी व्यवस्था में 26,000 मील का परिवहन योग्य जलमार्ग संभव है जबकि पठारी क्षेत्र की नदियां, कुछ के मौसमी होने, कुछ के पहाड़ी तल वाली होने से तथा कुछ में तेजी से बाढ़ आने के कारण नौपरिवहन योग्य नहीं हैं।

भारत में अंतर्देशीय नौपरिवहन पर लगी इन प्राकृतिक लाचारियों के बावजूद अंतर्देशीय नौपरिवहन के विस्तार की भी काफी संभावनाएं मौजूद थीं। औद्योगिक आयोग ने यह सिफारिश की कि भारत सरकार को इस बात को मद्देनजर रखते हुए यह देखना चाहिए कि देश के जिन क्षेत्रों में रेलवे तथा जलमार्ग दोनों ही परिवहन का कार्य करते हैं वहां इन दोनों साधनों के प्रशासन एक दूसरे के साथ मिलजुलकर कार्य करें। उसने यह भी सिफारिश की कि एक जलमार्ग ट्रस्ट स्थापित किया जाए। यदि अंतर्देशीय जलमार्ग का समुचित रूप से विकास किया जाए तो यह रेलवे प्रणाली के बोझ को हल्का करेगा और देश में एक लघु परिवहन प्रणाली की जरूरत को पूरा करेगा। यह भी संभव है कि कुछ सिंचाई — नहरों को नौपरिवहन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकसित किया जाए। राष्ट्रीय योजना समिति (1938) ने सुझाव दिया कि कृषि तथा उद्योग के लाभ के लिए प्रांतीय तथा अंतर-प्रांतीय आयोगों के माध्यम से नदियों तथा जलमार्गों का नियमन, विकास तथा नियंत्रण किया जाए। केंद्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौपरिवहन आयोग ने नए जलमार्ग बनाकर या पुराने जलमार्गों को फिर से चालू करके अंतर्देशीय नौपरिवहन के विस्तार की संभावनाओं की व्यापक जांच पड़ताल की थी। भारत की अधिकांश प्रमुख नदियां बहुत से प्रांतीय तथा राज्यों के अधिकार क्षेत्र से होकर गुजरती हैं इसलिए जलमार्ग के संतोषजनक विकास को सुनिश्चित करने के लिए यह जरूरी है कि कोई संघीय प्राधिकरण या विशेष क्षेत्रीय प्राधिकरण गठित किए जाएं।

तथापि, ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि इसमें रेलवे का निहित स्वार्थ था। औद्योगिक आयोग और एकवर्थ समिति दोनों ने इस विचार का काफी समर्थन भी किया। इस संबंध में निम्नलिखित विचार ध्यान देने के योग्य हैं :
'उनके हितों (अर्थात् विद्यमान जलमार्गों के) का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी प्रतिनिधि के अभाव में रेलवे के निहित स्वार्थों ने भारत में जलमार्गों के प्रति वैसा ध्यान देने के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न की हैं जैसा कि ध्यान अन्य देशों में संतोषजनक परिणामों के साथ दिया गया है।' (औद्योगिक आयोग)

एकवर्थ समिति ने भी यही विचार व्यक्त किए और इसके समर्थन में उसने बंबई में भड़ौच तथा मद्रास में बकिंघम केनाल के नदी-पत्तन (River ports) पर विद्यमान हालातों का ब्यौरा दिया।

वास्तव में तो एक समय ऐसा था जब परिवहन योग्य नहरों के पक्ष में काफी प्रबल मत व्यक्त किए गए। भव्य कावेरी तथा गोदावरी वर्क्स के निर्माता, सर आर्थर काटन ने पूरे देश के लिए परिवहन योग्य नहरों की एक महत्वाकांक्षी योजना तैयार की थी जिसे 1872 में संसदीय समिति के समक्ष प्रस्तुत किया गया। उनका कहना था कि नौवहन सुविधाएं भारत जैसे देश के लिए न केवल अधिक उपयुक्त हैं अपितु वे कम खर्चीली भी हैं। इस तरह की सुविधाएं इसलिए भी लाभदायक हैं कि अकाल की स्थिति में इन्हें सिंचाई के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है। सापेक्षिक लागत-लाभ अनुपात भी जलमार्ग तथा सिंचाई के पक्ष में ही जाता है। किन्तु इसमें होने वाले भारी व्यय के कारण यह योजना छोड़ दी गई। इसे छोड़ने का एक और कारण यह भी था कि अंग्रेज निवेशकर्ता और विनिर्माता समूह, भारत में नहर-प्रणाली स्थापित करने में कोई रुचि नहीं रखते थे और जैसा कि उनके अपने देश का अनुभव था, वे रेलवे में ही ज्यादा रुचि रखते थे।

लेकिन जब रेलवे में नुकसान होने लगा तो सिंचाई के साथ संयुक्त रूप से, या केवल परिवहन के उद्देश्य से नौवहन योग्य नहरों के निर्माण की योजना फिर से आकर्षक लगने लगी। लेकिन वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में जब रेलवे ने लाभ कमाना प्रारंभ कर दिया तो यह आकर्षण पुनः समाप्त होता गया। इस समय यह महसूस किया गया कि दो प्रकार की नहरों को हमेशा एक साथ नहीं मिलाया जा सकता। क्योंकि पहले तो जिस समय पानी की कमी हो उस समय सिंचाई को नुकसान पहुंचाए बिना नौवहन कर पाना संभव नहीं होगा और दूसरे, नौवहन के लिए नहरें न केवल गहरी खुदी होनी चाहिए अपितु पर्याप्त व्यवसाय आकर्षित करने के लिए उन्हें औद्योगिक और व्यापारिक नगरों के पास से होकर गुजरना चाहिए।

इस अवधि के दौरान अंतर्देशीय जलमार्ग विकसित करने के प्रयासों के बावजूद इस कार्य में कोई खास प्रगति नहीं हुई क्योंकि इस संबंध में जब भी कोई प्रस्ताव आता था रेलवे के समर्थक उसे निरस्त करा देते थे।

3.8.2 समुद्री नौ परिवहन

भारत के अंग्रेजी शासन के अधीन आने से पहले के भारतीय नौपरिवहन के इतिहास का मोरलैंड ने बड़ा विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। मोरलैंड का कहना है कि भारतीय समुद्रों में अधिकांश वाणिज्य भारत में बने भारतीय पोतों द्वारा ही किया जाता था, साथ ही भारत में बड़े-बड़े सवारी पोत भी होते थे जो उस समय यूरोप में उपलब्ध पोतों से काफी बड़े होते थे। हां, पुर्तगालियों द्वारा बनाए गए पोत भारत का मुकाबला कर सकते थे।

लोहे से बने पोतों के प्रादुर्भाव से भारत को लकड़ी के पोतों पर जो विभेदी लाभ मिलता था उससे वह वंचित हो गया। भारतीय नौपरिवहन के पतन के जो कारण गिनाए जा सकते हैं उनमें नौ-वास्तुशिल्प में तेजी से आने वाले सुधार, मशीनी नौपरिवहन का आगमन, ब्रिटेन के नौपरिवहन हितों का दबाव, और ब्रिटिश नेविगेशन एक्टों को भारत पर भी लागू किया जाना, प्रमुख थे।

ब्रिटिश शासन के दौरान कोई भारतीय कंपनी सफलता अर्जित नहीं कर सकी क्योंकि उन्हें विदेशी नौपरिवहन कंपनियों से तीव्र प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी और ब्रिटिश शासकों से उन्हें कोई समर्थन नहीं मिला केवल सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी ही विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकी। भारत के स्वतंत्र होने के बाद देश में केवल 42 पोत थे, जिनका सकल पंजीकृत टन भार 1,00,000 टन से भी कम था। आधुनिक समय में नौपरिवहन में जो भी विकास हुआ वह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हुआ।

3.9 सड़क परिवहन

रेलवे की तरह सड़क परिवहन भी किसी देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वास्तव में तो रेलवे की तुलना में सड़क परिवहन को कुछ निश्चित लाभ प्राप्त हैं, जैसे (i) यह ऐसे क्षेत्रों तक पहुंच सकता है जहां अन्य किसी यातायात के साधन द्वारा नहीं पहुंचा जा सकता; (ii) इसमें पूंजी की लागत कम लगती है; (iii) यह न केवल अधिक तीव्र होता है अपितु ज्यादा सुविधाजनक और नम्य भी होता है; (iv) यह रेलवे का अनुपूरक साधन है क्योंकि रेलवे स्टेशन को जोड़ने वाली सड़कों का एक जाल सा बिछाकर दूर के तथा अंदरूनी हिस्सों तक पहुंचा जा सकता है; तथा (v) देश की सुरक्षा में भी इसकी अहम भूमिका है। आइए अब देखें कि इस देश में सड़क परिवहन का कैसे विकास हुआ और क्या यह विकास आवश्यकताओं के अनुरूप था?

पिछली शताब्दी के मध्य तक भारत में सड़क परिवहन की असंतोषजनक स्थिति के बारे में पहले ही बताया जा चुका है। ईस्ट इंडिया कंपनी मुख्यतः एक वाणिज्यिक निगम थी। अतः उसने एक सभ्य सरकार के महत्वपूर्ण कर्तव्य को नहीं निभाया और इसीलिए उसने सड़क बिछाने के काम में कोई रुचि नहीं दिखाई। जो कुछ थोड़ी सी प्रगति हुई, वह लार्ड विलियम बैंटिक जैसे प्रशासकों की व्यक्तिगत पहल के कारण हुई। उन्होंने उत्तरी भारत को बंगाल से जोड़ने वाले राजमार्ग के निर्माण की योजना को फिर से उठाया और शेरशाह के शासन में निर्मित, पेशावर से दिल्ली और कलकत्ता को मिलाने वाली ग्रांड-ट्रंक रोड को फिर से बनाने का काम शुरू किया गया। नागरिक जनसंख्या की परिवहन आवश्यकताओं के प्रति कंपनी कितना कम ध्यान देती थी, इसका पता इस तथ्य से मिलता है कि उस समय सड़कों के काम को विशेष लोक निर्माण विभाग को सौंपने की बजाय प्रांतीय मिलिट्री बोर्डों के सुपुर्द कर दिया गया था।

3.9.1 सड़कों का विस्तार

लार्ड डलहौजी के कार्यकाल के दौरान भारत में सड़क-निर्माण का एक नया युग प्रारंभ हुआ जिन्होंने रेलवे के संवर्धन के साथ-साथ सड़क निर्माण की नीति को भी जोरदार तरीके से लागू करना प्रारंभ किया। इसी उद्देश्य से 1855 में केंद्रीय लोक निर्माण विभाग के अलावा प्रत्येक प्रांत में पुराने मिलिट्री बोर्डों के स्थान पर इसी प्रकार के विभाग खोले गए। औपनिवेशिक शासन के पिछले सौ वर्षों के दौरान सड़क परिवहन के विकास का दूसरा कारण रेलवे थी। रेलवे निर्माण में जैसे-जैसे गति आने लगी तो रेलवे के समानांतर सेवा प्रस्तुत करने के बजाय रेलवे की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ज्यादा से ज्यादा सड़क बनाने की जरूरत महसूस की जाने लगी। इसीलिए रेलवे को मिलाने और वर्ष के सभी मौसमों में उन तक पहुंचने के लिए पक्की सड़कों की मांग पैदा हुई, जो आज तक भी पूरी नहीं हो सकी है। रेलवे के विस्तार तथा उनके लाभकारी प्रचालन में सरकार के वित्तीय हितों की वजह से सड़कों की उपेक्षा कर दी गई, विशेष रूप से उन ट्रंक सड़कों की जो रेलवे के समांतर चलती थी। लार्ड मेयो तथा लार्ड रिपन की स्थानीय स्वशासन के प्रति प्रगतिशील नीति के कारण जिसके अंतर्गत स्थानीय मामलों पर स्थानीय नियंत्रण की व्यवस्था की गई थी, सड़कों के विकास कार्य को कुछ सीमा तक प्रोत्साहन मिला। इन सभी कारणों का कुल मिलाकर जो असर हुआ वह पिछली शताब्दी के पिछले पच्चीस वर्षों में सड़क निर्माण के क्षेत्र में हुई अच्छी प्रगति से परिलक्षित होता है।

इस शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों तक देश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक चार बड़ी ट्रंक सड़कें थी जिनके साथ अधिकांश महत्वपूर्ण सहायक सड़कें जुड़ी हुई थीं। इन ट्रंक सड़कों में से सबसे प्रसिद्ध सड़क फौज का पुराना संचलन पथ अर्थात् ग्रांड ट्रंक रोड थी जो उत्तर में खैबर से चलकर कलकत्ता तक जाती थी; अन्य तीन सड़कें कलकत्ता को मद्रास से, मद्रास को बंबई से तथा बंबई से दिल्ली को जोड़ने वाली सड़कें थीं। ब्रिटिश भारत में 1943 में कुल 95,054 मील पक्की सड़कों में से 5,000 मील इन मुख्य सड़कों की लंबाई थी। दक्षिणी भारत में सहायक सड़कों की संख्या और स्थिति दोनों ही संतोषजनक थी। सड़कों की दृष्टि से सबसे खराब स्थिति राजपूताना, सिंध, पंजाब के कुछ हिस्सों, उड़ीसा तथा बंगाल की थी। पक्की सड़कों के अलावा ब्रिटिश भारत में काफी मात्रा में कच्ची सड़कें (1943 में 2,01,414 मील) भी थी जिनमें से कुछ पर खुश्क मौसम में मोटर वाहन चला करते थे।

3.9.2 सड़क परिवहन की समस्याएँ

मोटर परिवहन चालू होने से भी पहले भारत में सड़कों की संख्या जरूरत से काफी कम थी। कृषि आयोग (1928) का कहना था कि अमरीका में प्रति 100 वर्गमील क्षेत्र में 80 मील सड़कें थीं जबकि भारत में प्रति 100 वर्गमील क्षेत्र में मात्र 20 मील सड़कें ही हैं। यह सर कैनेथ मिचैल द्वारा निर्धारित मानक से बहुत कम हैं, भारत सरकार के सड़क परिवहन के नियंत्रक सर मिचैल ने कहा था कि 1,000 या इससे अधिक आबादी वाले किसी भी गांव से सार्वजनिक सड़क की दूरी आधा मील से अधिक नहीं होनी चाहिए।

इस देश में सड़कों के विकास के मार्ग में जो बाधाएं थीं उनमें रेगिस्तानी भूमि, छितरी हुई आबादी, बिना पुल वाले या पुल बांधे न जा सकने वाले जलमार्ग, पथरीली भूमि की कठिनाइयां और सड़क बनाने की उपयुक्त सामग्री का अभाव प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त, भारत में तीन स्तरीय सड़क परिवहन प्रणाली थी — राष्ट्रीय राजमार्ग, राज्य राजमार्ग तथा जिला और ग्रामीण सड़कें और इनके बनाने वाली केंद्रीय, राज्य तथा स्थानीय संस्थाओं ने सड़क प्रणाली को विकसित करने और उनका रखरखाव करने के महत्व को नहीं समझा। यह भी कहा जाता है कि जिन सड़कों को बनाने तथा रखरखाव करने की जिम्मेवारी स्थानीय निकायों पर थी वे सीमित संसाधनों की वजह से उन्हें न तो पूरी तरह बना ही सके और न उनका ठीक तरह से रखरखाव ही कर सके।

हालांकि, सर कैनेथ मिचैल के अनुसार यह निम्नलिखित प्रशासनिक गलतियां इसके लिये अधिक जिम्मेदार थीं :

i) जहां तक इस प्रकार के विशेष कार्य में असफलता का प्रश्न है यह स्पष्ट रूप से स्थानीय स्वशासन के प्रशासनिक तंत्र की असफलता का द्योतक है। स्थानीय निकायों के पास अपर्याप्त संसाधनों की दलील आंशिक रूप से ही सत्य है क्योंकि उन्हें सड़कों के लिए जो बजट राशि दी गई उसे भी वे कई बार बुद्धिमानी से खर्च नहीं कर पाए।

ii) फिर भी, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के विकास के लिए वित्तीयन और पिछले वर्षों की उपेक्षा की भरपाई, ये दोनों मिलकर स्थानीय निकायों के विद्यमान और संभावित संसाधनों के वश से बाहर की बात थी।

iii) इसीलिए मिचैल ने प्रस्ताव किया कि जिले की सड़कों को प्रांतीय राजमार्ग विभागों को हस्तांतरित कर दिया जाए और उसके बाद से इन सड़कों के निर्माण और रखरखाव के कार्य से स्थानीय निकायों को मुक्त कर दिया जाए।

इसके अतिरिक्त, यद्यपि सड़क परिवहन और रेलवे एक दूसरे के पूरक हैं और इसलिए परस्पर सहायक हैं किंतु फिर भी सापेक्षिक लागत और सुविधाओं की दृष्टि से कभी-कभी ये परस्पर प्रतिस्पर्धी भी हो जाते हैं। तत्कालीन सरकार ने अपना ज्यादातर ध्यान रेल-सड़क समन्वय के लिए उपाय खोजने में ही लगाया और सड़क परिवहन प्रणाली के विकास की बजाय सड़क परिवहन की प्रतिस्पर्धा से रेलवे को बचाने पर ही उसने ज्यादा जोर दिया। ब्रिटेन के निवेशकों और विनिर्माताओं का सर्वोपरिहित रेलवे में ही था। तेल से चलने वाले सड़क परिवहन की लागत को देश के विभिन्न प्रकार के ईंधनों की उपलब्धि के संदर्भ में आंका जाना चाहिए था।

3.10 प्रबंध एजेन्सियाँ

औपनिवेशिक औद्योगीकरण तथा वित्तीयन का साधन एक विशिष्ट व्यावसायिक संस्था थी जिसे प्रबंध एजेन्सी फर्म के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार की फर्में भारत में 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही विद्यमान थीं। यह प्रणाली 1970 तक कायम रही किंतु इसके बाद सरकारी तौर पर इसे समाप्त कर दिया गया। प्रबंध एजेन्सी प्रणाली औद्योगिक संगठन का एक ऐसा संस्थागत विकास है जिसमें विभिन्न प्रकार के तथा एक दूसरे से असंबद्ध उद्यमों, जैसे खान, बागान, मिलें, लोकोपयोगी सेवाएं, नौवहन हित, बिक्री एजेन्सियों तथा निवेश फर्मों के संवर्धन, वित्तीयन तथा प्रशासन पर एक ही फर्म का नियंत्रण होता है। यह प्रबंधकारी फर्म साझेदारी, निजी या सार्वजनिक-सीमित कंपनी या एक व्यक्ति आदि के किसी भी संगठनात्मक रूप में हो सकती है। लेकिन सामान्य रूप से, प्रबंध एजेन्सी फर्में अधिकतर कम साझेदारी वाली फर्में ही होती हैं। यह उस फर्म के एजेन्ट के रूप में कार्य करती हैं जिस पर उनका नियंत्रण होता है। ब्रिटिश प्रबंध एजेन्सियां अधिकतर कंपनी जैसे निगमित निकाय होतीं थीं जबकि भारतीय एजेन्सियां अधिकतर परिवार द्वारा नियंत्रित व्यवसाय होती थीं।

3.10.1 कार्य

जिस दस्तावेज के माध्यम से प्रबंध एजेन्सी, प्रचालन कंपनी पर अपना नियंत्रण करती है वह एक प्रबंध एजेन्सी करार होता है। इसमें (i) प्रबंध एजेन्ट का कार्यकाल, (ii) पारिश्रमिक, (iii) निदेशकों के निदेशन तथा नियंत्रण में उनकी अधीनता आदि का उल्लेख होता है। जहां तक प्रबंध एजेन्टों द्वारा व्यावसायिक उद्यम का वित्तीयन करने का संबंध है उन्हें न केवल प्रारंभिक नियत पूंजीगत व्यय के लिए ही वित्त प्रबंध करना होता है अपितु बाद के पुनर्गठन, विस्तार तथा आधुनिकीकरण और साथ ही कार्यशील पूंजी का भी वित्तीयन करना होता है। इस वित्त की व्यवस्था वे विभिन्न तरीकों से करते हैं : वे संयुक्त स्टाक कंपनियों की शेयर पूंजी या ऋण-पत्रों (डिबेंचरों) में स्वयं अभिदान करते हैं या अपने मित्रों अथवा रिश्तेदारों से उसमें अभिदान कराते हैं; खुद की गारंटी देकर बैंकों से कर्ज का प्रबंध करते हैं, अपनी व्यावसायिक प्रतिष्ठा के बलबूते पर जनता से निक्षेप आकृष्ट करते हैं तथा सहमत ब्याज दर पर अपने स्वयं के निजी स्रोतों से कंपनी को कर्ज देते हैं। इस प्रकार प्रबंध ऐजेन्ट एक ही समय में उद्यमी, वित्त-पोषक और व्यवसाय-प्रबंधक तीनों का ही कार्य करता है।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में यद्यपि भारत में उद्यमी व्यवसायियों के लिए बहुत अच्छे अवसर उपलब्ध थे किंतु इन अवसरों का लाभ उठाने के मार्ग में बहुत सी महत्वपूर्ण बाधाएं भी थीं। पहली तो यह कि भारतीयों में उद्यमशीलता की कमी थी और विशेष रूप से प्रवर्तनकारी उद्यमियों का तो सर्वथा अभाव था। दूसरे, जो लोग वाणिज्यिक तथा औद्योगिक उद्यमों में अपनी पूंजी लगाने को उत्सुक भी थे उनमें से सभी के पास ऐसे उद्यमों को चलाने की दक्षता भी मौजूद नहीं थी। तीसरे, तकनीकी और विशेष रूप से व्यावसायिक जानकारी का अभाव था।

इन्हीं चुनौतियों से समाधान के लिए प्रबंध-एजेन्सी प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ और व्यापारिक प्रतिष्ठान के मालिकों तथा उसके प्रबंधकों के बीच कार्य का विभाजन किया गया। इससे उन चतुर व्यवसायियों का मार्ग साफ हो गया जिनके पास निवेश करने के लिए अपनी बहुत थोड़ी पूंजी थी किंतु वे दूसरे के स्वामित्व वाले व्यवसाय का, पारिश्रमिक के बदले प्रबंध करने लगे। इस प्रकार, प्रबंध-एजेंसी प्रणाली से एक ओर शुद्ध व्यावसायिक बुद्धि और दूसरी ओर पूंजी-धनराशि का एक समुचित गठबंधन स्थापित हो गया, क्योंकि दोनों को ही एक दूसरे की सख्त जरूरत थी। यह प्रणाली एक ऐसा आला दर्जे का ढांचा था जिसमें व्यावसायिक योग्यता को सर्वोत्तम लाभ के लिए उपयोग किया जा सकता था और सीमित वित्त का यथासंभव सर्वोत्तम उपयोग किया जा सकता था।

भारत में विकसित होने वाली यह प्रणाली इंग्लैंड में निगमित किंतु भारत में काम करने वाली कंपनियों के लिए स्वागत योग्य घटना थी।

ऐसी कंपनियों के शेयरधारियों के लिए ऐसे निदेशक-समूह को ढूंढ पाना कठिन हो रहा था जो उनकी कंपनियों के रोजमर्रा के प्रशासन का संचालन करने के लिह भारत में बस सकें। भारत में काम कर रही प्रबंध एजेंसी फर्म इस दायित्व को संभाल सकती थी और विस्तार की नई योजनाएं सुझा सकती थी।

जैसे ही इस प्रणाली का विकास हुआ, एक ही प्रबंध एजेन्सी फर्म ने कई कंपनियों का जो अक्सर एक दूसरे से असम्बद्ध होती थी, प्रबंध कार्य अपने हाथों में ले लिया। शुरू के वर्षों में इससे काफी लाभ हुआ। उस समय भारत में संचार व्यवस्था बहुत अल्पविकसित थी, बंदरगाह से उत्पादन केंद्र काफी दूर थे और विश्व बाजारों में पहुंचने के लिए प्रमुख बंदरगाहों का अभाव था। ऐसे हालातों में प्रबंध एजेन्सियां काफी सहायक सिद्ध हुईं। उन्होंने ऐसे संपर्क पैदा किए जिनकी वजह से भारतीय व्यापार तथा उद्योग को तेजी से बढ़ते विश्व व्यापार के लाभ प्राप्त करने का अवसर मिला। इस प्रणाली से प्रशासन में किफायतें हुईं क्योंकि एक ही प्रबंध व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न कंपनियों को प्रबंध एजेंसी द्वारा चलाए जाने वाले एक ही सामान्य कार्यालय, तरल पूंजी के एक ही स्टाक तथा विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग करने का अवसर मिल गया। प्रबंध एजेन्सी फर्मों ने शीर्ष एकीकरण प्रदान करके और एक ही कच्चे माल (जैसे कोयला) के उत्पादक प्रतिष्ठानों, परिवहन कंपनियों तथा खुदरा और थोक व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण करके अपने ग्राहक प्रतिष्ठानों को लाभ पहुंचाया। दूसरी ओर, समस्तर एकीकरण की वजह से एकीकृत इकाइयों को स्टोर तथा कच्चा माल खरीदने और माल का परिवहन तथा विपणन करने में काफी किफायतें हासिल करने तथा अनुसंधान, बिक्री व प्रशासनिक एजेन्सियों के केंद्रीकरण के जरिए तकनीकी दक्षता बढ़ाने में सहायता मिली। संक्षेप में, वे किफायतें, जिनकी एक बढ़ते हुए बाजार में बहुत संभावनाएं हैं, इस प्रणाली की विशिष्टता थी। प्रबंध एजेन्ट ने बहुत से पार्श्विक कार्यकलाप फैलाकर तकनीकी और प्रबंधकीय उत्कृष्टताओं को मिला दिया। इससे उनकी जोखिमें भी फैल गयीं और एक अल्पविकसित बाजार के उतार-चढाव से उनकी सुरक्षा हो गयी।

ऐतिहासिक रूप में, यह प्रणाली पुरानी 'एजेन्सी गृहों' की प्रणाली से उत्पन्न हुई। इस प्रक्रिया ने 1813 के चार्टर से और गति पकड़ी। इसने भारतीय विदेशी वाणिज्य पर से ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया और भारत को औद्योगिक क्रांति के पूर्ण प्रभाव के सम्मुख ला खड़ा किया।

भारत में स्थापित ब्रिटिश एजेंसी गृहों ने निवेश का बुनियादी 'औपनिवेशिक' ढांचा कायम रखा और निर्यातों तथा निष्कर्षक उद्योगों पर ही ध्यान केंद्रित किया। लेकिन बंबई तथा अहमदाबाद में उनकी भारतीय प्रतिरूप फर्में उपभोक्ता वस्तु उद्योग (मुख्य रूप से सूती कपड़ा) के संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित रहीं। 1905 के स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय प्रबंध-एजेंसी गृहों के विकास को प्रेरणा दी और प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में नई कंपनियां स्थापित करने में जो तेजी आई उसकी वजह से इन गृहों को नए क्षेत्रों में पदार्पण करने का अवसर मिला। इसी समय टाटा घराने का उदय हुआ। अन्य भारतीय प्रबंध एजेन्टों द्वारा पीटी गई पुरानी लीक को छोड़कर इन्होंने भारी उद्योग के एक नए क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रवेश किया। भारत में लोहा तथा इस्पात उद्योग प्रारंभ करने का श्रेय इसी घराने को जाता है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आकर प्रबंध एजेन्सी फर्में न केवल औद्योगिक तथा वाणिज्यिक विशेषज्ञता की भंडार ही बन गईं अपितु पर्याप्त पूंजी-निधियों की मालिक भी बन गईं। किसी कंपनी की व्यावसायिक साख (गुडविल) और उसकी वित्तीय प्रतिष्ठा उसका प्रबंध करने वाले प्रबंध एजेन्ट की प्रतिष्ठा पर ही अधिकतर निर्भर होने लगी। वाणिज्यिक बैंक भी किसी कंपनी को उसकी स्थायी परिसंपतियों पर भी ऋण देते समय इस बात पर जोर देने लगे कि प्रबंध एजेन्ट को ऋण संबंधी कागजातों पर अपने हस्ताक्षर करने चाहिए। इसलिए, बहुत सी कंपनियों को वित्तीय कारणों की वजह से भी प्रबंध एजेन्टों का सहारा लेना पड़ा क्योंकि बिना उनके, एक तो शेयर बेचने में कठिनाई होती और दूसरे उन्हें तरल वित्त प्राप्त करने में भी कठिनाई हो जाती। कभी-कभी, प्रबंध एजेन्ट जिस कंपनी का प्रवर्तन करना चाहते थे उसके शेयरों में कुछ अपना भी धन लगा देते थे और बाद में उन्हें आम जनता को बेच देते थे। इस प्रकार प्रबंध एजेन्टों की निधियां एक प्रकार से 'आवर्ती निधि' के रूप में कार्य करती थीं क्योंकि नई कंपनियों के लिए एक अल्पविकसित पूंजी बाजार में कंपनी के शेयर जनता में सीधे बेचना बहुत मुश्किल था। प्रबंध-एजेंसी प्रणाली के प्रारंभ होने का तरीका चाहे कोई भी रहा हो परंतु देश के औद्योगिक संगठन में एक शताब्दी से अधिक समय तक उसने अपनी जड़ें जमाए रखीं और प्रारंभ से ही वह भारत के औद्योगिक विकास के साथ घनिष्ट रूप से संबद्ध रही।

3.10.2 आलोचना

प्रबंध-एजेन्सी प्रणाली की आलोचना को दो मोटे वर्गों में बांटा जा सकता है — (क) प्रणाली की कार्य-प्रणाली की आलोचना तथा (ख) स्वयं प्रणाली की आलोचना।

(क) i) कंपनी के प्रबंध एजेन्ट तथा उसके मालिकों के बीच अक्सर हितों का संघर्ष हो जाता था। उदाहरणतः, प्रबंध एजेन्टों का पारिश्रमिक अक्सर व्यवसाय के सकल उत्पादन पर आधारित होता था, इसलिए एजेन्ट के हित में यह होता था कि वह अधिकाधिक उत्पादन करने की योजना बनाए न कि उस उत्पादन को लाभ के साथ बेचने की। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी एजेन्ट, कंपनी की खरीदों पर भी कमीशन लेते थे और इसलिए स्वाभाविक था कि वे ऐसी खरीदों का मूल्य बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते थे जबकि उसके कारण उत्पादन की लागत बढ़ जाती थी और लाभ कम हो जाता था। वे अक्सर बिक्री एजेन्सी भी अपने पास ही रखते थे और इस प्रकार उत्पादक-फर्म के विनिर्माण लाभों को प्रबंध एजेन्ट अपने व्यापारिक लाभों के रूप में हड़प लेते थे।

ii) प्रबंध-एजेन्सी द्वारा वित्तीयन प्रणाली में भी कुछ अन्तर्भूत दोष दिखाई देते हैं। पी०एस० लोकनाथन का कहना है कि उद्योग वित्तीय बातों से ज्यादा प्रभावित हो रहा था और औद्योगिक कारकों से बहुत कम। किसी उद्योग को वित्तीय कठिनाइयों की वजह से ही एक प्रबंध एजेन्ट छोड़ देता था तो दूसरा उन कठिनाइयों का सामना कर पाने के कारण उसे हस्तगत कर लेता था, अर्थात् औद्योगिक क्षमता उनके विचार में कभी भी महत्वपूर्ण नहीं रही। औद्योगिक-विचार पर वित्तीय सोच-विचार के हावी होने और इस तरह प्रबंध एजेंसियों में लगातार परिवर्तन होते रहने के कारण कुछ सीमा तक अस्थिरता तथा प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन आ गया। यह बात सूती कपड़ा उद्योग में विशेष रूप से हुई।

iii) वित्तीयन की प्रबंध एजेन्सी प्रणाली के कारण कोई भी मिल, प्रबंध एजेन्ट से स्वतंत्र वित्त की अपनी प्रणाली विकसित नहीं कर सकी। इसके दुहरे प्रभाव पड़े। बहुत से सहायक कार्यकलापों में निहित होने के कारण प्रबंध एजेंट अक्सर वित्तीय कठिनाइयों में फंस गए। किसी कंपनी की वित्तीय स्थिति काफी अच्छी होने के बावजूद उसे कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि बैंकों ने कंपनी की वित्तीय स्थिति को देखे बिना प्रबंध-एजेंसी फर्म की वित्तीय स्थिति के आधार पर ही उनसे ऋण वापिस लेना प्रारंभ कर दिया। दूसरी ओर एक ही एजेन्सी फर्म द्वारा प्रबंधित अधिक सफल फर्म से कमजोर तथा जरूरतमंद फर्म में धनराशि के अंतरण से कमजोर फर्म को तो लाभ हो गया परंतु मजबूत फर्म कठिनाई में फंस गई। इसकी वजह से मजबूत फर्मों में निवेश करने की प्रेरणा, यदि खत्म नहीं तो, कम अवश्य हो गई। आर्थिक दक्षता के दृष्टिकोण से यह बेहतर होता कि कमजोर फर्मों को बंद हो जाने दिया जाता, किन्तु निधियों के अंतरण की प्रणाली ने उन्हें चालू रहने में सहायता की और इस तरह समग्र उद्योग में एक सामान्य गिरावट आ गई।

(iv) यद्यपि प्रबंधित कंपनियों की वित्तीय सहायता प्रदान करना प्रबंध एजेंट का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था किंतु प्रबंध एजेंसी के करार में शायद ही कभी इस उपयुक्त सहायता की अनिवार्यता उन पर लादी गई हो। इसलिए प्रबंध एजेंटों ने इस विषय में बड़ा अवसरवादी रुख अपनाया, जब प्रतिष्ठान में समृद्धि होती थी तब तो वे वित्त प्रदान करने के लिए बाखुशी तैयार हो जाते थे किंतु जब प्रतिष्ठान पर बुरा समय आता था तो वे वित्त प्रदान करने के दायित्व से पीछे हट जाते थे।

(v) बहुत से प्रबंध एजेंट अपने कार्य के दौरान प्राप्त सूचना का उपयोग अपने द्वारा प्रबंधित कंपनी के शेयरों के सट्टे में कर लिया करते थे और इस प्रकार इन कंपनियों के शेयरधारियों को नुकसान पहुंचा देते थे। ऐसा भी हुआ कि एजेन्ट अक्सर शेयरों तथा रूई के सट्टे में विशेष रूप से बंबई के बाजार में काफी नुकसान उठा जाते थे और उनकी वित्तीय स्थिति बिगड़ जाती थी। इस बिगड़ी स्थिति का प्रबंधित प्रतिष्ठान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था, चाहे उस प्रतिष्ठान की अपनी स्थिति कितनी ही सुदृढ़ क्यों न हो।

(vi) अंत में, बहुत से मामलों में, प्रबंध एजेंट अपने कर्जों को ऋण पत्रों में बदल देते थे जिससे वह कंपनी उनके अधीन आ जाती थी और उस कंपनी में पूंजी लगाने वाले शेयरधारी अपना सब कुछ खो देते थे। इस तरह के बहुत से उदाहरण बंबई तथा कलकत्ता से और विशेष रूप से प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात उत्कर्ष के दौरान खोजे जा सकते हैं।

ख) भारतीय राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों प्रकार के आलोचकों ने प्रबंध एजेंसी प्रणाली को भारतीय औद्योगिक विकास पर ब्रिटेन के नियंत्रण का एक सबसे बड़ा हथियार माना है। आर०पी०दत्त के अनुसार इसने विदेशी नियंत्रण के अधीन पूंजीवादी दायरे बनाकर अर्थव्यवस्था के विकास में अवरोध पैदा किया। सुमित सरकार ने भी इसी प्रकार का निष्कर्ष निकाला है। ये विचार इन तथ्यों से पुष्ट हो जाते हैं कि विदेशी प्रबंध-एजेन्सी गृहों ने मुख्य रूप से निर्यात क्षेत्र पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया। भारत के कच्चे माल तथा खाद्यान्न का विकसित देशों के औद्योगीकरण के लिए इस्तेमाल किया गया। उपभोक्ता वस्तुओं के भारतीय बाजार पर ब्रिटेन के उत्पादों के एकाधिकार को बनाए रखा गया जिससे ब्रिटेन की गैर स्टर्लिंग देश जैसे अमरीका और चीन से अपने भुगतान शेष की समस्याओं को हल करने में सहायता मिली। प्रबंध एजेंसी प्रणाली पुराने व्यापार एजेंसी गृहों से ही उभरी थी। उनकी बाद में भूमिका यही थी कि ब्रिटेन की पूंजी को भारत में घुसाया जाए। औद्योगिक उद्यम स्थापित करके और उनका प्रबंध अपने हाथों में लेकर उन्होंने अपनी बिचौलिये की भूमिका को विदेशी नियंत्रण तथा भारत के शोषण के एजेंट के रूप में बदल लिया।

निजी कंपनी क्षेत्रक में प्रबंध एजेंटों की जबर्दस्त आर्थिक शक्ति के कारण बहुत सी बुराइयाँ पैदा हो गईं। भारत में निजी कंपनी क्षेत्रक में प्रबंध एजेन्सियों का कितना नियंत्रण था, इसे इस तथ्य से समझा जा सकता है कि 1954-55 में 17% संयुक्त स्टाक कंपनियां इन प्रबंध एजेंसियों के प्रबंध में थी जो निजी कंपनी क्षेत्रक की 54% अभिदत्त पूंजी पर नियंत्रण

रखती थीं। भारत के सभी प्रमुख उद्योगों पर यूरोपीय प्रबंध एजेंसी गृहों के एक छोटे से समूह का आधिपत्य था और उनके बीच आपसी संबंध तथा समझ इस प्रकार के थे कि प्रो॰ बागची के शब्दों में उसे 'सामूहिक श्वेत एकाधिकार' कहना उचित होगा। उन्होंने विभिन्न प्रकार के कीमत तथा बाजार साझेदारी के करार करके संगठित रूप से कार्य किया और अपने आधिपत्य वाले क्षेत्रों में किसी नए फर्म को नहीं घुसने दिया। विभिन्न प्रकार की कंपनियों, जो एक एजेंसी गृह के कारण अक्सर एकीकृत हो जाती थीं, के प्रबंधन से उत्पन्न आर्थिक शक्ति ने कुछ प्रबंध एजेंसी गृहों का निजी क्षेत्रक के उत्पादन तथा कीमत निर्धारण संबंधी निर्णयों पर पूरा नियंत्रण स्थापित करा दिया। प्रबंध एजेन्टों के व्यापक प्रभाव के कारण अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए वे अपनी प्रचालक कंपनियों के शेयरों का सट्टा तथा उनमें वित्तीय हेर-फेर करने की ओर प्रवृत्त हो गए जिससे प्रबंधित प्रतिष्ठानों को काफी नुकसान उठाना पड़ा।

यही आलोचनात्मक बातें देश की आर्थिक और सामाजिक नीतियों के क्षेत्र में भी लागू हो गईं। इस प्रणाली ने भारत में लघु और मध्यम दर्जे के उद्यमों के तेज विकास के मार्ग में अवरोध पैदा कर दिए क्योंकि इस प्रकार के उद्योगों में उद्यमियों के प्रवेश को प्रतिबंधित कर दिया गया और कुछ ही प्रकार के उद्यमियों में शक्ति को केंद्रित कर दिया गया। इस प्रणाली से आय और संपत्ति का असमान वितरण हुआ जो स्वतंत्र भारत के लक्ष्य के विपरीत था और इसीलिए, अंत में, इस प्रबंध एजेंसी प्रणाली को समाप्त कर दिया गया।

बोध प्रश्न 3

1 भारत में रेलवे इस तरह शुरू की गई :
   क) केवल निजी कंपनियों के रूप में ;
   ख) केवल भारत सरकार के उद्यम के रूप में ;
   ग) उपर्युक्त (क) और (ख) दोनों रूप में; तथा
   घ) उपर्युक्त (क) और (ख) में से किसी रूप में नहीं।
   सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं।

2 भारत में अन्तर्देशीय जलमार्ग तथा सड़क परिवहन दोनों ही प्रणालियों के विकास में मुख्यतः कौन से कारण बाधक थे
   क) रेलवे की लॉबी ;
   ख) वित्त का अभाव ;
   ग) भारत में नदियों का स्वरूप ;
   घ) उपर्युक्त तीनों (क), (ख) और (ग)।
   सही उत्तरों पर(√) निशान लगाएं।

3 क) प्रबंध एजेंसी प्रणाली के निम्नलिखित कार्य थे :
   (i) व्यावसायिक उद्यम की शेयर पूंजी में अभिदान करके उसको वित्त प्रदान करना;
   (ii) गारंटी देकर बैंकों से कर्ज का प्रबंध करना;
   (iii) अपने ही स्रोतों से ब्याज उधार देना;
   (iv) उद्यम का प्रबंध करना; तथा
   (v) उपर्युक्त सभी चारों कार्य।

   ख) प्रबंध एजेंसी प्रणाली की निम्नलिखित सीमाएं थी :
   (i) केवल प्रबंध एजेंट तथा प्रबंधित कंपनी के मालिकों के हितों में विरोध;
   (ii) केवल किसी व्यावसायिक उद्यम के वित्तीयन के मामले में औद्योगिक की अपेक्षा वित्तीय सोच-विचार को ज्यादा महत्व देना;
   (iii) केवल इस प्रणाली ने देशी मध्यम तथा लघु उद्यमों को उन्नति करने का अवसर नहीं दिया ;
   (iv) उपर्युक्त तीनों ही कारण

   सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं।

4 भारतीय रेलवे की गारंटी प्रणाली में रेलवे की हानियों के प्रति अंतर्भूत तरफदारी निहित थी। क्या आप इस बात से सहमत हैं? अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.11 सारांश

इस इकाई में आपने 1850-1947 की अवधि के दौरान भारत में उद्योगों तथा परिवहन की स्थिति का अध्ययन किया। इसमें हमने बताया कि 1850-1914 की अवधि में भारत में विश्व का सबसे बड़ा जूट निर्माण और विश्व का चौथे या पांचवें नंबर का सूती कपड़ा उद्योग तथा तीसरे नंबर का सबसे बड़ा रेलवे उद्योग पनपा। हालांकि, आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाएं एक क्षेत्रक से दूसरे क्षेत्रक में सरलता से नहीं फैलीं और इसलिए इसका कुल प्रभाव संचयी तरह का नहीं पड़ा। विनिर्माण उद्योगों के उत्पादन का हिस्सा 1913-14 में कुल राष्ट्रीय आय का मात्र 3.8% ही था और कुल फैक्टरी रोजगार और भी कम यानी कुल श्रम बल का मात्र 0.8% ही था।

युद्ध शुरू होने पर प्रारंभ में विनिर्माण उद्योग पर नकारात्मक असर पड़ा किंतु उसका सामान्य असर अनुकूल ही था, भले ही वह सीमित मात्रा में क्यों न रहा हो। युद्ध के साथ-साथ मांग में भारी वृद्धि हुई और विदेशी प्रतिस्पर्धा में कमी आई। लेकिन इसकी वजह से न तो विद्यमान क्षमता में ही कोई वृद्धि हुई और न औद्योगिक कार्यकलाप का ही विस्तार हुआ, हां, युद्ध की समाप्ति के बाद ऐसा जरूर हुआ।

दो युद्धों के बीच की अवधि में विनिर्माण उद्योग के महत्व तथा उसके पैटर्न में परिवर्तन अवश्य दृष्टिगोचर हुआ। राष्ट्रीय आय में विनिर्माण उद्योगों का उत्पादन 1913-14 के 3.87% से बढ़कर 1938-39 में 7.5% हो गया। सूती कपड़ा और जूट उद्योगों का हिस्सा महत्व के हिसाब से घट गया। लेकिन नए उद्योग, सूती कपड़ा तथा जूट उद्योग की जगह नहीं ले पाए। 1938-39 में लोहा तथा इस्पात उद्योग के उत्पादन का मूल्य जूट उत्पादन के मूल्य के आधे से कुछ अधिक था। नए उद्योग अर्थात्, चीनी, कागज, सीमेंट, ऊनी कपड़ा, तथा माचिस उद्योगों के उत्पादन का हिस्सा 3.1% से बढ़कर 10.8% हो गया। कुल मिलाकर प्रभाव यह हुआ कि भारत में बड़े पैमाने के विनिर्माण उद्योग का विस्तार भी हुआ और उसका विशाखन भी, किंतु यह तेज गति से नहीं हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय उद्योग ने पहले से ज्यादा कुल उत्पादन किया और उसमें बहुत तरह के विनिर्माण उत्पाद भी शामिल थे। उन्होंने जूट तथा कपड़ा के अलावा अधिकांश तरह का इस्पात, सीमेंट, अधिकांश कागज तथा माचिस का भी उत्पादन किया। हालांकि, अभी यहां पूंजीगत माल का क्षेत्रक नहीं बना था। इसलिए, यहां विद्यमान उत्पादक क्षमता को बढ़ाने तथा पुनः उत्पादित करने की योग्यता का अभी भी अभाव था। सदैव की तरह अभी भी देश की मशीनरी, परिवहन तथा बिजली के उपस्कर, भारी और मूलभूत रसायनों तथा अन्य बुनियादी औद्योगिक निविष्टियों के लिए, विदेशों से आयात पर ही निर्भर होना पड़ा, जबकि पूंजी में भारत के हिस्से में पर्याप्त वृद्धि हो गई थी।

जहां तक परिवहन का संबंध है, हम बता चुके हैं कि 1914 तक भारतीय रेलवे विश्व की तीसरे नंबर की सबसे बड़ी रेलवे बन चुकी थी। भारत सरकार द्वारा प्रदत्त गारंटी प्रणाली के आधार पर प्राइवेट कंपनियों के रूप में 1853 में शुरू होकर समय बीतने के साथ यह अपनी संगठनात्मक और प्रबंधकीय संरचनाओं, लाभ कमाने की क्षमता तथा दक्षता के बहुत से चरणों में होकर गुजरी। रेल लाइनों की सघनता 1860 के 35 रूट कि.मी. प्रति 10,000 वर्ग कि.मी. से बढ़कर 1946-47 में 159 रूट कि.मी. हो गई। कुल रूट माइलेज में 1939 में 72% पर राज्य का स्वामित्व था और उस समय पर खुले कुल माइलेज के 42% हिस्से का वह सीधा प्रबंध करता था।

अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रकों में रेलवे का प्रभाव महसूस किया गया। सवारी और माल ढोने के लिए रेलवे का खूब उपयोग किया गया। भारतीय कृषि उपजों को अंतर्राष्ट्रीय रूप से प्रतियोगी बनाने में इन्होंने सहायता की और कृषि उपजों के निर्यात में वृद्धि को संभव बनाया। रेलवे ने न केवल भारत के विदेशी व्यापार को बढ़ाने में ही सहायता दी अपितु आंतरिक व्यापार का संवर्धन किया और कीमतों की संरचना को भी बदल दिया। इसने कच्चे माल का कम लागत पर परिवहन करके और निर्मित माल की आंतरिक बाजारों में ढुलाई करके गैर-कृषि क्षेत्रक की भी सहायता की। यद्यपि रेलवे ने भारत के आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की किंतु यह संवृद्धि सीमित ही रही क्योंकि कृषि में मजदूरों का अनुपात अपरिवर्तनीय ही रहा।

परिवहन के अन्य साधनों में अंतर्देशीय जलमार्गों का उतना विकास नहीं हो पाया जितना होना चाहिए था। रेलवे के समर्थकों ने जलमार्गों के विकास के हरेक प्रस्ताव को सफलतापूर्वक निष्फल बना दिया। समुद्री नौवहन स्वतंत्रता के बाद की ही घटना है। इस अवधि के दौरान सड़क परिवहन ने अवश्य प्रगति की है। लेकिन यह प्रगति आवश्यकता के अनुरूप नहीं थी। तत्कालीन सरकार ने अपना ध्यान रेल सड़क समन्वय और रेल को सड़क परिवहन की प्रतिस्पर्धा से बचाने पर ज्यादा लगाया तथा सड़क परिवहन प्रणाली के विकास पर कम ध्यान दिया।

औद्योगीकरण और वित्त की संपूर्ण प्रक्रिया एक ऐसी व्यावसायिक संस्था के जरिए चलाई जाती थी जिसे प्रबंध एजेन्सी फर्म कहते हैं। यह प्रणाली भारत के औद्योगिक विकास पर ब्रिटेन के नियंत्रण को कायम रखने के एक प्रमुख हथियार के रूप में प्रयुक्त की गई और उसने विदेशी नियंत्रण के अधीन पूंजीवादी अंतः क्षेत्र बनाकर अर्थव्यवस्था के विकास में अवरोध पैदा किया। इस प्रणाली ने भारत में लघु और मध्यम दर्जे के उद्यमों के तेज विकास के मार्ग में अवरोध पैदा कर दिए, क्योंकि इस प्रकार के उद्योगों में उद्यमियों के प्रवेश को प्रतिबंधित कर दिया गया और कुछ ही प्रकार के उद्यमियों में शक्ति को केंद्रित कर दिया गया। इस प्रणाली से आय और सम्पत्ति का असमान वितरण भी हो गया।

3.12 शब्दावली

तेजी या व्यापार उत्कर्ष : यह शब्द एक ऐसी अवधि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें व्यावसायिक गतिविधियां उच्च स्तर पर होती हैं तथा सामान्य कीमतें वृद्धि की ओर होती हैं।

क्षमता : फर्म या उद्योग के संदर्भ में इसका अर्थ है कि एक दिए हुए समय में उत्पादन के कारकों की उपलब्ध मात्रा से कितना अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।

मंदी : यह शब्द एक ऐसी अवधि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें भारी बेरोजगारी होती है और व्यावसायिक कार्यकलाप में गतिरोध हो जाता है तथा कीमतें गिरती हैं।

अंतर्देशीय जलमार्ग : इसके अंतर्गत नहरें तथा नौवहन योग्य या सरणीकृत नदियां आती हैं।

एकीकरण, समस्तरीय तथा शीर्षस्तरीय : एक उद्योग अथवा फर्मों के समामेलन की संरचना के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द। इस प्रकार, किसी उद्योग की तब समस्तरीय रूप से एकीकृत कहा जाएगा जब उस उद्योग की फर्मों में एक ही प्रक्रम में विशेषज्ञता प्राप्त करने की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाए। दूसरी ओर, यदि उद्योग की संरचना इस प्रकार की है कि अधिकांश फर्में कच्चे माल की अवस्था से लेकर तैयार माल की अवस्था तक एक वस्तु का उत्पादन कार्य करती हैं तो उसे शीर्षस्तरीय एकीकरण कहा जाएगा।

प्रबंध एजेन्सी प्रणाली : यह औद्योगिक संगठन, वित्त तथा प्रबंधन का एक संस्थागत विकास है जिसके अंतर्गत विविध प्रकार के तथा प्रौद्योगिकीय रूप से असंबद्ध उद्यमों के विस्तृत समूह के संवर्धन, वित्त प्रबंध तथा प्रशासन पर एकल फर्म का नियंत्रण होता है।

संरक्षण : किसी वस्तु के ऐसी उत्पादकों को संरक्षण प्रदान करने के लिए उन वस्तुओं के आयात पर शुल्क लगा देना जिससे विदेश में उत्पादित वस्तु महंगी हो जाएं।

3.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भट्टाचार्य, सव्यसाची : *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,* राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1990. अध्याय 6 एवं 9.

Bagchi, A.K. *Private Investment in India,* 1900-1939, Orient Longman, Indian Ed., 1975, Chapters 7-14.

Basu, S.K. *The Managing Agency System in Prospect and Retrospect,* World Press, 1958.

Dutt Ruddar and K.P.M. Sundaram, *Indian Economy,* S. Chand and Company, 1984, Chapter 46.

Gadgil, D.R. *The Industrial Evolution of India in Recent Times,* Oxford University Press, 1958.

Hurd, J.M. *"Railways", Cambridge Economic History of India.* Vol. II, Orient Longman, 1984.

Jather, G.B. and S.G. Beri, *Indian Economics,* Vol. I, Chapter 13 and Vol. II Chapters 2 and 5, Oxford University Press, 1949.

Morris D. Morris *"The Growth of Large Scale Industry Upto 1947",* Cambridge Economic History of India, Vol. II, Orient Longman, 1984.

Wadia, P.A. and K.T. Merchant, *Our Economic Problem,* New Book Company, Bombay, 1954, Chapters 18 and 19.

3.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 (ग)
2 (घ)
3 (ग)

बोध प्रश्न 2

1 (क), (ग) और (घ)

2 (ग)

बोध प्रश्न 3

1 (क)

2 (क)

3 (क) (v)

(ख) (iv)

4 भारत में रेलवे की शुरुआत इंग्लैंड में निगमित प्राइवेट कंपनियों द्वारा की गई थी। जब कोई निजी उद्यमी अपने लाभों को अधिकतम करने के एकमात्र उद्देश्य के साथ और आश्वस्त लाभ दर के अंतर्गत काम करता है तो यह पूरी संभावना रहती है कि वह तकनीकी और वित्तीय दक्षता के प्रति उदासीन हो जाए। यही इस गारंटी प्रणाली में अंतर्निहित था क्योंकि इस प्रणाली के अंतर्गत मुफ्त जमीन दी गई और 4.5% से लेकर 5% तक की ब्याज दर की गारंटी दी गई थी।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खंड

2

भारतीय अर्थव्यवस्था का ढाँचा: छठे दशक के आरंभ से नवें दशक के आरंभ तक

इकाई 4

परिसंपत्ति स्वामित्व का स्वरूप और असमानताएँ 5

इकाई 5

राष्ट्रीय आय: इसकी संरचना तथा अंतर्क्षेत्रीय स्वरूप 22

खंड 2 का परिचय

इस खंड में हमारे देश के आर्थिक ढांचे की कहानी बतायी गई है जहां से अंग्रेजों ने इसे छोड़ा और भारत विश्व के देशों में एक स्वतंत्र गणराज्य बना। इस खंड में पिछले 30 वर्षों के दौरान इस आधारभूत ढाँचे में विकास को दिखाया गया है।

आपको स्मरण होगा कि अर्थशास्त्र के प्रथम ऐच्छिक पाठ्यक्रम के खंड 9 में हम बता चुके हैं कि आर्थिक ढाँचे को कई तरीकों से परिभाषित किया जा सकता है। लेकिन साइमन कुजनेट्स के मार्गदर्शक कार्य के बाद अर्थव्यवस्था का परिसंपत्ति ढाँचा, उसका वितरण, बनावट आदि तथा उनसे उत्पन्न आय प्रवाहों के स्वरूप को गरीबी, असमानता और बेरोजगारी के संदर्भ में देखने पर हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जिसके द्वारा देश की अर्थव्यवस्था को समझ सकते हैं।

इकाई 4 में भारतीय अर्थव्यवस्था के परिसम्पत्ति ढाँचे और गरीबी तथा असमानता के संदर्भ में इसके महत्व को बताया गया है।

इकाई 5 राष्ट्रीय आय के स्वरूप और व्यवहार से संबंधित है और आगत-निर्गत ढाँचे द्वारा अर्थव्यवस्था के अंतर्क्षेत्रीय संबंधों की प्रारंभिक धारणा को भी प्रस्तुत करता है।

जो विद्यार्थी 1990–91 से अर्थशास्त्र को मुख्य विषय के रूप में अध्ययन करेंगे उनके लिए इस खंड के साथ की परिशिष्टियां होंगी, जिन्हें अन्य परिशिष्टियों के साथ एक अलग पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा। इन परिशिष्टियों के मूल्यांकन में सफल होने के पश्चात् दो अतिरिक्त क्रेडिट प्राप्त किये जा सकते हैं।

इकाई 4 परिसंपत्ति स्वामित्व का स्वरूप और असमानताएँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 भारतीय अर्थव्यवस्था में परिसंपत्ति ढाँचा
  4.2.1 ग्रामीण परिसंपत्तियां और उनका वितरण
  4.2.2 शहरी क्षेत्रों में परिसंपत्ति वितरण
4.3 भारतीय अर्थव्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ
  4.3.1 प्रति व्यक्ति आय का निम्न स्तर
  4.3.2 प्राथमिक क्षेत्र की प्रधानता
  4.3.3 निर्धनता की व्यापकता
  4.3.4 व्यापक बेरोजगारी
4.4 निर्धनता की समस्या
  4.4.1 निरपेक्ष निर्धनता
  4.4.2 निर्धनता की माप
  4.4.3 समय के साथ निर्धनता की प्रवृत्तियाँ
  4.4.4 परिसम्पत्ति ढाँचा और निर्धनता
4.5 असमानता
  4.5.1 आय के वितरण में असमानता
  4.5.2 उपभोग के वितरण में असमानता
  4.5.3 परिसंपत्ति ढाँचा और असमानता पर इसका प्रभाव
4.6 बेरोज़गारी की समस्या
  4.6.1 बेरोज़गारी का मानदंड
  4.6.2 बेरोज़गारी के अनुमान
  4.6.3 परिसम्पत्ति ढाँचा और बेरोज़गारी
4.7 क्षेत्रीय असमानताएँ
  4.7.1 अंतर्राज्यीय आय असमानता
  4.7.2 अंतर्राज्यीय असमानता: राज्यों में निर्धनता
4.8 सारांश
4.9 शब्दावली
4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न जानकारी प्राप्त कर सकेंगे:

- 1950 के दशक से 1980 के दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था के परिसंपत्ति ढाँचे में परिवर्तन;
- परिसंपत्ति ढाँचे का गरीबी, बेरोज़गारी असमानता पर प्रभाव;
- विभिन्न राज्यों के विकास में विद्यमान असमानताएँ।

4.1 प्रस्तावना

परिसंपत्ति को एक ऐसे तत्व के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका बाजार मूल्य या विनिमय मूल्य होता है और जो स्वामी के धन या संपत्ति का भाग होती है। इस प्रकार भूमि, इमारतें, पशुधन, कृषि-संबंधी औजार, मशीनरी, परिवहन सज्जा, टिकाऊ गृहस्थ वस्तुएँ आदि जो हम अपने चारों ओर देखते हैं, परिसंपत्तियों के ही घटक हैं। इन्हें हम वास्तविक या मूर्त संपत्तियाँ कहते हैं। अन्य प्रकार की परिसंपत्तियाँ बैंक जमा, नकदी, बांड एवं हिस्से जिन्हें वित्तीय संपत्ति कहा जाता है, के रूप में होती हैं।

परिसंपत्ति का स्वामित्व एक परिवार की सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है और उसके जीवन स्तर को दर्शाता है। लेकिन परिसंपत्ति ढाँचा और इसके वितरण का अध्ययन इसलिए किया जाता है क्योंकि यह अन्य सामाजिक-आर्थिक समस्याओं जैसे गरीबी और बेरोज़गारी को प्रभावित करता है।

4.2 भारतीय अर्थव्यवस्था में परिसंपत्ति ढाँचा

ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में परिसंपत्ति स्वामित्व की संरचनात्मक स्वरूप में काफी अंतर पाए जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मूर्त परिसंपत्तियाँ जैसे भूमि अधिक महत्वपूर्ण हैं जबकि शहरी क्षेत्रों में बैंक जमा, बांड एवं हिस्से आदि के रूप में वित्तीय संपत्तियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

ग्रामीण क्षेत्रों में 1981 का परिसंपत्ति ढाँचा बताता है कि मूर्त धन के कुल भंडार का 63% भूमि के रूप में था। दूसरा स्थान 'भवन' का है जो कुल धन का 21% है। टिकाऊ घरेलू परिसंपत्तियाँ कुल मूर्त धन का केवल 7.2% हैं। दूसरी ओर शहरों में भिन्न स्थिति दिखायी देती है। यहां भूमि का भाग केवल 36.4% है जबकि इमारतों का भाग 40.1% है। टिकाऊ घरेलू संपत्तियाँ जैसे फर्नीचर, घरेलू उपयोग के लिए वाहन, घड़ियाँ, रेडियो, टेलीविज़न आदि कुल मूर्त संपत्तियों का 17% है।

परिसंपत्तियों की संरचना में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण अंतर है। मूल्य के रूप में 1981 में ग्रामीण परिवारों का औसत मूर्त धन 35,598 रु. था जबकि शहरी परिवारों का 36088 रु. था। परंतु यदि पुनरुत्पादनीय मूर्त धन (अर्थात् कुल मूर्त धन में से भूमि को घटाकर) की तुलना की जाए तो अंतर स्पष्ट हो जाते हैं जो औसत ग्रामीण परिवारों के लिए 13,177 रु. तथा औसत शहरी परिवार के लिए 22,955 रु. है।

ग्रामीण क्षेत्रों में, यदि हम 1971 व 1981 के परिसंपत्ति ढाँचे की तुलना करें तो हम देखते हैं कि टिकाऊ घरेलू संपत्ति का महत्व बढ़ रहा है जबकि भूमि का महत्व घट रहा है। इसका अर्थ यह है कि इन वर्षों के दौरान टिकाऊ घरेलू वस्तुओं में निवल रूप से वृद्धि हुई है।

4.2.1 ग्रामीण परिसंपत्तियाँ और उनका वितरण

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सबसे महत्वपूर्ण परिसंपत्ति है। आवश्यकता पड़ने पर यह ऋण प्राप्त करने के लिए प्रतिभूति का काम करती है और खेती करने पर इससे आय प्राप्त होती है। इसी कारण किसान अपनी भूमि को त्याग करने से हिचकिचाता है। भारत में भूमि के वितरण में काफी असमानताएँ हैं। यह आगे की तालिका से स्पष्ट है।

आप देखते हैं कि 2.03 हैक्टेयर से अधिक भूमि वाले परिवारों का प्रतिशत गिर गया है जबकि 2.03 हैक्टेयर से कम भूमि वाले परिवारों का प्रतिशत बढ़ गया है। इसका अर्थ बड़े आकार के खेतों का विभाजन है। यह मुख्यतया दो कारणों से है:

1) भारत में उत्तराधिकार संबंधी नियम के अनुसार मालिक की मृत्यु के पश्चात् भू-जोतों का स्वामित्व बच्चों के पास चला जाता है। संयुक्त परिवार के विभाजन के कारण पीढ़ी दर पीढ़ी बड़े आकार के खेतों का विभाजन होता जाता है। इसके कारण खेतों का सापेक्ष आकार घट जाता है लेकिन परिवारों की संख्या बढ़ जाती है।

तालिका 4.1 : ग्रामीण भारत में भू-स्वामित्व का आकार-वितरण

भू-जोतों का आकार वर्ग (हैक्टेयर)	1953–54 प्रतिशत		1961–62 प्रतिशत		1971–72 प्रतिशत		1982 प्रतिशत	
	परिवारों	स्वामित्व में भूमि	परिवारों	स्वामित्व में भूमि	परिवारों	स्वामित्व में भूमि	परिवारों	स्वामित्व में भूमि
2.03 से कम	74.73	16.32	75.72	19.98	78.11	24.44	81.34	28.71
2.03 – 4.05	12.50	18.40	13.36	20.54	11.94	21.92	10.78	23.38
4.05 – 10.13	9.17	29.11	9.07	31.23	7.83	30.73	6.45	29.81
10.13 से ऊपर	3.60	36.17	2.85	28.25	2.12	22.81	1.43	18.10

2) भू-जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण संबंधी कानूनों के लागू होने के कारण बड़े भूस्वामियों को अपनी अतिरिक्त भूमि को या तो छोड़ना पड़ता है या बांटना पड़ता है जिससे भू-जोतों का सापेक्ष आकार कम हो जाता है।

तालिका 4.1 दिखाती है कि अधिकतर ग्रामीण कृषक परिवारों के पास बहुत छोटे आकार की भूमि है और कुल मिलाकर उनके पास कुल भूमि का एक छोटा हिस्सा ही है। दूसरी ओर, बहुत कम परिवारों के पास भूमि के बड़े टुकड़े हैं किन्तु कुल भूमि का काफी बड़ा भाग उनके नियंत्रण में है।

यद्यपि भूमि वितरण में काफी असमानताएँ मौजूद हैं, लेकिन इनमें धीरे-धीरे कमी आई है। 10.13 हैक्टेयर से अधिक भूमि वाले परिवारों का अनुपात 1953–54 में 3.60% से घटकर 1982 में 1.43% हो गया है। आप 1953–54 तथा 1982 में भू-जोतों के आकार वितरण की तुलना कर सकते हैं। 1953–54 में उच्चतम 12.77% परिवार 65.28% भूमि के मालिक थे जबकि निम्नतम 74.73% परिवारों के पास केवल 16.32% भूमि थी। 1982 में, उच्चतम 7.88% परिवार 47.91% भूमि के मालिक थे जबकि निम्नतम 81.34% परिवारों के पास भू-जोतों का केवल 28.71% भाग था।

विस्तृत भूमि सुधारों के बावजूद असमानताएँ अभी भी मौजूद हैं। उपनिवेशी शासन ने कृषि कार्यों में मध्यस्थों के द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिसके द्वारा दूर स्थित भू-स्वामी मध्यस्थों के माध्यम से भूमि का नियंत्रण कर सकते थे। इस प्रकार कुछ परिवारों के लिए भूमि के बड़े क्षेत्रफल पर खेती पर नियंत्रण करना संभव हो गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्, मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया गया और अतिरिक्त भूमि को खेती करने वाले काश्तकारों में बाँट दिया गया। फिर भी भू-सुधार तरीकों में व्याप्त कमियों का लाभ उठाकर कुछ परिवार सरकार द्वारा निर्धारित उच्चतम सीमा के ऊपर अतिरिक्त भूमि को घोषित न करके बड़े आकार की भूमि को अपने नियंत्रण में रखे हुए हैं।

4.2.2 शहरी क्षेत्रों में परिसंपत्ति वितरण

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि की प्रधानता है। उद्योगों की उपस्थिति शहरी क्षेत्रों की विशेषता है। जबकि शहरी क्षेत्रों में परिसंपत्ति संबंधी आंकड़े संगठित क्षेत्र के उन उद्योगों से संबंधित हैं, जो कारखाना अधिनियम के अंतर्गत आते हैं और जो अपना लेखा-जोखा रखते हैं तथा कर-विवरण देते हैं। 1979–80 में औद्योगिक क्षेत्र में उत्पन्न आय का 62.3% संगठित उद्योगों से प्राप्त हुआ। यह स्मरण रहे कि स्वतंत्रता के पूर्व संगठित औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी व्यवसायिक घरानों की प्रधानता थी। स्वतंत्रता के पश्चात्, भारतीय व्यवसायिक घरानों में तेजी से वृद्धि हुई और इस वृद्धि के साथ-साथ औद्योगिक ढाँचे में असमानता काफी स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई। सार्वजनिक क्षेत्र को हमने अपने विवरण में शामिल नहीं किया है।

भारत में, उद्योगों के संदर्भ में, व्यवसायिक घरानों की धारणा महत्वपूर्ण है। व्यवसायिक घराने या समूह में वे सब कंपनियाँ शामिल हैं जो एक सामान्य अधिकारी की निर्णायक शक्ति

के अंतर्गत आती हैं। शहरी परिसंपत्ति ढाँचे में असमानता का माप निम्न तालिका से किया जा सकता है:

तालिका 4.2 निजी व्यवसायिक क्षेत्र की परिसंपत्तियों में बड़े औद्योगिक घरानों का भाग

वर्ष	कुल परिसंपत्तियों में 75 बड़े घरानों का प्रतिशत भाग
1964	40.17
1966	49.25
वर्ष	**कुल परिसंपत्तियों में उच्चतम 20 घरानों का भाग**
1969	25.1
1975	34.7

स्रोत: S.K. Goel, *Monopoly Capital & Public Sector Policy*, Allied Publishers Private Ltd., New Delhi, 1979 pp 51–52

ऊपर दी गई तालिका में परिसंपत्तियों का आकलन कंपनियों की पूंजी (जो हिस्सों व ऋण पत्रों आदि के रूप में होती है) के किसी गुणक के आधार पर किया गया है। यह तालिका दर्शाती है कि बड़े व्यवसायिक घराने निजी व्यवसायिक क्षेत्र की कुल परिसंपत्तियों का एक बड़ा अनुपात नियंत्रित करते हैं। दिन पर दिन स्थिति गंभीर होती जा रही है। अधिकाधिक परिसंपत्तियाँ बड़े व्यवसायिक घरानों के हाथ में केन्द्रित होती जा रही हैं। इस प्रकार, छोटे उत्पादकों को अपनी परिसंपत्तियाँ बढ़ाने तथा उनसे आय अर्जित करने के अवसर प्राप्त नहीं हो रहे हैं। बड़े उत्पादकों को परिसंपत्तियों का अधिकाधिक लाभ मिल रहा है।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर के आगे चिह्न (✓) लगाइए:

1) निम्नलिखित में कौन-सी वित्तीय परिसंपत्तियाँ हैं ?
   क) रंगीन टेलीविज़न सेट
   ख) एक निजी व्यवसायिक कंपनी के हिस्से
   ग) भूमि का एक टुकड़ा
   घ) व्यापारिक बैंक में जमा बचत
   ङ) इंदिरा विकास पत्र
2) ग्रामीण भारत में परिसंपत्ति वितरण का अर्थ है:
   क) परिसंपत्ति-आकार के अनुसार वितरण
   ख) एक परिवार के अंतर्गत परिसंपत्तियों का वितरण
   ग) विभिन्न परिसंपत्तियों के बीच वितरण
   घ) परिसंपत्तियों को वितरित करने का तरीका
3) उद्योग में व्यवसायिक घराने का अर्थ है:
   क) एक इमारत जहाँ व्यवसाय स्थापित है
   ख) व्यवसाय में एक विशेष कंपनी का नाम
   ग) कई उद्योगों के बारे में निर्णायक
   घ) उपर्युक्त में कोई नहीं

4) ग्रामीण व शहरी परिसंपत्ति ढाँचों में अंतर समझाइए (3 वाक्यों में)

.....

.....

.....

4.3 भारतीय अर्थव्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

यदि हम भारतीय अर्थव्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताओं को विस्तार से बतलाएँ तो भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में परिसंपत्ति ढाँचा तथा उसके वितरण का महत्व स्पष्ट हो जाएगा। आप भारतीय अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताओं से परिचित होंगे।

4.3.1 प्रति व्यक्ति आय का निम्न स्तर

प्रति व्यक्ति आय के रूप में, एक भारतीय की औसत आय उन देशों की तुलना में बहुत कम है जिन्होंने एक उच्च जीवन स्तर प्राप्त कर लिया है। प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय [(निवल राष्ट्रीय उत्पाद (एन एन पी)] को जनसंख्या द्वारा विभाजित करने से प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार की प्रति व्यक्ति आय की धारणा का प्रयोग कभी-कभी सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी एन पी) या सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) के संदर्भ में भी किया जाता है। निम्नलिखित तालिका भारत की स्थिति की तुलना कुछ विकसित देशों से करती है:

तालिका 4.3 विभिन्न देशों में प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद या सकल राष्ट्रीय उत्पाद प्रचलित कीमतों पर (अमरीकी डालर में)

देश	प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद (NNP)		प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP)	
	1960	1970	1980	1985
भारत	70	88	240	270
अमरीका	2,559	4,274	11,360	16,690
पश्चिम जर्मनी	1,188	2,698	13,590	10,940
ब्रिटेन	1,277	1,993	7,920	8,460

स्रोत: (1) प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) के लिए U.N. Statistical Year Book, 1971
(2) प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के लिए, 1982 व 1987 की World Development Report, विश्व बैंक, वाशिंगटन, डी. सी.

जैसा कि ऊपर दिए आँकड़ों से अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत की प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है।

4.3.2 प्राथमिक क्षेत्र की प्रधानता

प्राथमिक क्षेत्र के अंतर्गत कृषि व उससे संबद्ध क्रियाएँ आती हैं। इसी प्रकार, द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्र क्रमशः औद्योगिक क्रियाओं तथा सेवाओं से संबंधित है। एक अल्पविकसित देश होने के कारण भारत मुख्य रूप से कृषि प्रधान है जैसा कि सकल घरेलू उत्पाद (GDP) तथा रोजगार में प्राथमिक क्षेत्र के योगदान से स्पष्ट है। जिन देशों ने प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद या सकल राष्ट्रीय उत्पाद के ऊंचे स्तर को प्राप्त कर लिया है उनकी प्राथमिक क्षेत्र पर निर्भरता काफ़ी हद तक कम हो गई है। निम्न तालिका एक तुलनात्मक स्थिति को दर्शाती है:

तालिका 4.4 कुछ चुने हुए देशों में विभिन्न क्षेत्रों द्वारा रोजगार व सकल घरेलू उत्पाद में योगदान
सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में प्रतिशत योगदान

देश	प्राथमिक		द्वितीयक		तृतीयक	
	1965	1985	1965	1985	1965	1985
भारत	47	31	22	27	31	41
अमेरिका	3	2	38	31	59	67
पश्चिमी जर्मनी	4	2	53	40	43	58
ब्रिटेन	3	2	41	36	56	62

रोज़गार में प्रतिशत योगदान

देश	प्राथमिक		द्वितीयक		तृतीयक	
	1965	1985	1965	1985	1965	1985
भारत	73	70	12	13	15	17
अमरीका	5	4	35	31	60	66
पश्चिमी जर्मनी	11	6	48	44	41	50
ब्रिटेन	3	3	47	38	50	59

स्रोत: World Development Report, World Bank, Washington, D.C. 1987

तालिका 4.4 में 1965 व 1985 के दो वर्षों में भारत की तुलना कुछ अत्यंत विकसित देशों से की गई है। यह स्पष्ट है कि जहाँ तक रोज़गार का संबंध है पिछले 20 वर्षों में भारत में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। परंतु उत्पादन के संबंध में द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्र (सेवा क्षेत्र) में कुछ प्रगति हुई है तथा सेवाओं (जिसमें रक्षा शामिल है) का महत्व तेजी से बढ़ रहा है जैसा कि विकसित देशों में हुआ। प्राथमिक क्षेत्र पर निर्भरता भारत में गरीबी, असमानता तथा बेरोज़गारी की व्याख्या करने में बहुत उपयोगी होगी।

4.3.3 निर्धनता की व्यापकता

निर्धनता के अनेक पहलू हैं लेकिन निर्धनता की व्यापकता को देखने का एक सामान्य तरीका किसी निर्धारित आय स्तर के नीचे आय अर्जित करने वाले व्यक्तियों की संख्या का माप है। निम्न तालिका भारत में निर्धनता की तुलनात्मक स्थिति दर्शाती है:

तालिका 4.5 1969 में चुने हुए अल्पविकसित देशों में निर्धनता की व्यापकता

देश	50 डालर से कम वार्षिक आय वाली जनसंख्या (करोड़ में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
भारत	23.90	44.5
कोरिया	0.07	5.5
तन्जानिया	0.74	57.9
थाइलैंड	0.93	26.8
मैक्सिको	0.33	7.8

स्रोत: मौन्टेक एस. आहलुवालिया का लेख – एच. चेनेरी द्वारा सम्पादित, "विकास के साथ पुनर्वितरण", में उपलब्ध. Oxford University Press, 1974. p 12

भारत में बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आय इतनी कम है कि वे मुश्किल से गुज़ारा कर पाते हैं। ऊपर दी गई तालिका में, 50 डालर वार्षिक आय केवल तुलना के लिए दी गई है। यह स्मरण रखना चाहिए कि 50 डालर से भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं की भिन्न-भिन्न मात्राएँ खरीदी जा सकती हैं। फिर भी, 50 डालर की संख्या इसलिए ली गई है कि 1969 में आय का यह स्तर एक देश के लिए बहुत कम था।

4.3.4 व्यापक बेरोज़गारी

बेरोज़गारी एक ऐसी स्थिति है जिसमें लोग काम करने के लिए तैयार हैं लेकिन उन्हें काम नहीं मिलता, यद्यपि कई बार जनसंख्या का एक भाग ऐच्छिक रूप से भी बेरोज़गार हो सकता है। अनैच्छिक रूप से बेरोज़गार वे लोग हैं जो प्रचलित मज़दूरी-दर पर कार्य करने के लिए तत्पर हैं लेकिन उन्हें रोज़गार नहीं मिलता। बेरोज़गारी पर गठित समिति (The Committee on Unemployment, 1973) के अनुसार 1971 में बेरोज़गारों की संख्या 1.87 करोड़ थी जबकि कुछ अन्य अनुमानों के अनुसार यह और भी अधिक थी। इस संदर्भ में स्मरण रखने योग्य बात यह है कि बेरोज़गारी एक ऐसी स्थिति को व्यक्त करती है जब श्रमशक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं होता। इसलिए उत्पत्ति के एक महत्वपूर्ण साधन का क्षमता से कम उपयोग किया

जाता है। व्यापक बेरोज़गारी की यह विशेषता अन्य अल्प विकसित देशों में भी सामान्य रूप से पाई जाती है, लेकिन भारत की स्थिति अत्यधिक जनसंख्या के कारण अनोखा है।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय अर्थव्यवस्था की तीन महत्वपूर्ण विशेषताएँ बतलाइए (50 शब्दों में):

.....

.....

.....

.....

.....

सही उत्तर के सामने चिह्न (✓) लगाइए:

2) उच्च प्रति व्यक्ति आय प्राय: निम्न के साथ संबंधित है:
   क) प्राथमिक क्षेत्र पर कम निर्भरता
   ख) प्राथमिक क्षेत्र पर अधिक निर्भरता

3) अनैच्छिक बेरोज़गारी एक ऐसी स्थिति है जब व्यक्ति:
   क) कार्य करने के लिए तत्पर नहीं है
   ख) कार्य करने के योग्य नहीं है
   ग) कार्य करने को तत्पर है लेकिन रोज़गार पाने में असमर्थ है।

4.4 निर्धनता की समस्या

जैसा कि पिछले भाग में आपने देखा, कि नि:संदेह भारत में व्यापक रूप से निर्धनता विद्यमान है। लेकिन यह कहना पर्याप्त नहीं है कि गरीबी भारत के विकास के लिए एक बड़ी चुनौती है। हमें भारत में गरीबी के आकार को मात्रा के रूप में दर्शाना होगा।

निम्नलिखित भागों में गरीबी के विभिन्न पहलुओं तथा परिसंपत्ति ढाँचे के महत्व का गरीबी के संदर्भ में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

4.4.1 निरपेक्ष निर्धनता

निरपेक्ष गरीबी एक व्यक्ति या परिवार की स्थिति अर्थात्, उसके जीवन स्तर को बताती है। जीवन स्तर को पोषण स्तर, कपड़े, मकान, शिक्षा, तथा स्वास्थ्य संबंधी व्यय आदि के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। वे लोग जो आय के वर्तमान स्तर से जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में असमर्थ है तब उन व्यक्तियों या परिवारों को निर्धन कहा जायेगा। निर्धनता की इस धारणा को "निरपेक्ष निर्धनता" कहा जाता है।

4.4.2 निर्धनता का माप

भारत में निर्धनों की संख्या और निर्धनता की व्यापकता के बारे में कई अध्ययन किए गए हैं। ये अध्ययन न केवल निर्धनता का अखिल भारतीय रूप प्रस्तुत करते हैं बल्कि निर्धनता की क्षेत्रीय स्थिति को भी दर्शाते हैं। जैसा कि पहले बताया गया था, गरीबी को प्राय: एक निश्चित 'न्यूनतम' आय के स्तर के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस न्यूनतम आय की खोज 1962 से प्रारम्भ हुई। उस वर्ष भारत में योजना आयोग द्वारा बनाए गए एक अध्ययन समूह ने 1960-61 के मूल्यों पर प्रति माह प्रति व्यक्ति 20 रु. के उपभोग व्यय को "न्यूनतम आय" माना। लेकिन इसमें स्वास्थ्य तथा शिक्षा पर होने वाला व्यय शामिल नहीं किया गया क्योंकि संविधान के अनुसार राज्य द्वारा ये सेवाएँ मुफ्त प्रदान की जानी चाहिए। इस न्यूनतम आवश्यकता को ही 'निर्धनता रेखा' के नाम से जाना जाता है। निर्धनता रेखा पोषण के किसी स्तर पर आधारित है, अर्थात् वह न्यूनतम आय जो उपभोग में शारीरिक रूप से आवश्यक पोषण को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। भारतीय योजना आयोग ने अपनी योजना की

रूपरेखा में, इस मांन को स्वीकार किया है। अन्य अर्थशास्त्रियों ने ग्रामीण व शहरी न्यूनतम के बीच अंतर किया है। उदाहरण के ।.ए, दांडेकर और रथ ने किसी भी ऐसे व्यक्ति को निर्धन कहा है जिसका प्रति माह उपभोग का स्तर 1960–61 के मूल्यों पर ग्रामीण क्षेत्रों में 15 रु. तथा शहरी क्षेत्रों में 22.5 रु. की निर्धनता रेखा से कम है। आवश्यक पोषण को प्राप्त करने के लिए शहरी न्यूनतम आय प्राय: ग्रामीण क्षेत्रों से अधिक होती है क्योंकि शहरी रहन-सहन की लागत अधिक होती है।

दांडेकर तथा रथ ने यह माना कि एक औसत भारतीय को कम से कम प्रति दिन प्रति 2250 कैलोरी के बराबर पोषक तत्वों की आवश्यकता है। पी. के. बर्धन के अनुसार प्रतिदिन न्यूनतम खाद्य मात्रा 15 औंस अनाज, 3 औंस दालें, 4 औंस दूध, 1.5 औंस चीनी व गुड़, 1.25 औंस खाद्य तेल, 1 औंस मूंगफली और 6 औंस सब्ज़ियाँ जो कुल मिलाकर 2100 कैलोरी तथा 55 ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन होती है। 1960–61 के मूल्यों पर 1968–69 में यह ग्रामीण क्षेत्रों में 15 रु. और शहरी क्षेत्रों में 18 रु. के न्यूनतम प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय के बराबर है। हाल ही में (1977–78) योजना आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलोरी (या 65 रु. प्रति व्यक्ति प्रति माह) और शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलोरी (या 75 रु. प्रति व्यक्ति प्रतिमाह) की आवश्यकता को निर्धनता रेखा का मानदंड बनाया। सातवीं योजना के दस्तावेज में 1984–85 के मूल्यों पर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 107 रु. मासिक तथा शहरी क्षेत्रों में 122 रु. मासिक आय को निर्धनता रेखा माना गया है।

ऊपर दिए गए विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि न्यूनतम शारीरिक आवश्यकताओं के पूरा न होने का कारण आय की कमी है जिसके कारण गरीबी की समस्या पैदा होती है। परंतु, निर्धनता केवल उपभोग की धारणा से संबंधित न होकर अनेक रूपों में व्यक्त हो सकती है। इन्हें जानबूझकर इसलिए छोड़ दिया गया था कि राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सामाजिक व कल्याणकारी सेवाएँ इन्हें पूरा करेंगी। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है शिक्षा और स्वास्थ्य, और गरीबी से पीड़ित देशों में किसी को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि गरीबों की आवश्यकताओं की तुलना में इन सेवाओं की बहुत कमी पाई जाती है। वास्तव में, निर्धन लोग इन सेवाओं पर शायद ही कोई मुद्रा खर्च करते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें इन सेवाओं की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार गरीबी का अर्थ है — आय का वह निम्न स्तर जो गरीबों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त है। सामान्यतया उनके पास क्रयशक्ति की कमी होती है जिसके कारण वे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ व सेवाएँ जुटा पाने में असमर्थ होते हैं।

4.4.3 समय के साथ निर्धनता की प्रवृत्तियाँ

पिछले भाग में दिए गए मानदंड के आधार पर अनेक अर्थशास्त्रियों ने भारत में गरीब लोगों की संख्या का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। प्रोफेसर बी. एस. मिन्हास ने भारत में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आवश्यक खाद्य मात्रा जुटाने के लिए न्यूनतम आय 1960–61 के मूल्यों पर 17 रु. माना था। इस आधार पर उनके अनुसार 1956–57 में भारत में 17.3 करोड़ लोग जो ग्रामीण जनसंख्या का 52.4% हैं निर्धनता रेखा के नीचे थे। यह संख्या 1963–64 में गिरकर 16.9 करोड़ अर्थात् ग्रामीण जनसंख्या का 44.2% हो गई। यह पुन: 1967–68 में गिरकर 15.4 करोड़ हो गई जो ग्रामीण जनसंख्या का 37.1% था। दांडेकर और रथ, जिनकी निर्धनता रेखा की परिभाषा पिछले भाग में दी गई थी, के अनुसार 1960–61 और 1967–68 के दौरान गरीबी में ग्रामीण और शहरी दोनों जनसंख्याओं का अनुपात काफी हद तक स्थिर रहा जो कि ग्रामीण तथा शहरी जनसंख्या के लिए क्रमश: 40% और 50% था।

दांडेकर ने दांडेकर तथा रथ की परिभाषा का प्रयोग करते हुए, हाल ही में अनुमान लगाया है कि ग्रामीण निर्धन जनसंख्या में वृद्धि हुई है। 1971–72 में 32.66 रु. प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग व्यय को न्यूनतम आवश्यकता (या निर्धनता रेखा) मानते हुए 46 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को निर्धनता रेखा से नीचे पाया गया। 1983 में 93.29 रु. प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग को निर्धनता रेखा मानते हुए, ग्रामीण जनसंख्या का 48.9% निर्धनता रेखा से नीचे पाया गया।

बर्धन के अनुसार, 1968–69 में 54% ग्रामीण जनसंख्या और 41% शहरी जनसंख्या निर्धन थी। 1960–61 में यह संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में 38% तथा शहरी क्षेत्रों में 32% थी।

भारतीय योजना आयोग ने अपनी निर्धनता रेखा की ऊपर दी गई परिभाषा का प्रयोग करते हुए पाया कि 1977–78 में ग्रामीण जनसंख्या का 50.82% और कुल जनसंख्या का 48.13% निर्धन था। छठी योजना के मध्यावधि दस्तावेज (Mid- term appraisal document) के अनुसार 1981–82 में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का अनुपात घटकर 41.5% हो गया तथा लोगों की कुल संख्या 28.3 करोड़ रह गई। सातवीं योजना के दस्तावेज ने 1985–86 में निर्धनता रेखा से नीचे 37% जनसंख्या का अनुमान लगाया।

सामान्य रूप से, इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि भारत में हाल के वर्षों को छोड़कर, गरीबी में कोई विशेष कमी नहीं आई है। भिन्न-भिन्न मान्यताओं पर आधारित होने के कारण यहाँ दिए गए अनुमानों की तुलना नहीं की जा सकती, लेकिन ये अनुमान यह जरूर बताते हैं कि निर्धनता स्तर में समय के साथ-साथ कमी आई है चाहे वह धीमी ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति अधिक गम्भीर है। इसके अलावा, गरीबी को मुख्यतया खाद्यान्नों पर उपभोग व्यय के रूप में ही परिभाषित किया गया है तथा जिसमें स्वास्थ्य तथा शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया है। इस प्रकार निर्धनता इससे भी विकट है जितनी कि आंकड़ों से दिखाई देती है। अब हम निर्धनता के सबसे महत्वपूर्ण कारणों का विवेचन करेंगे और परिसंपत्ति ढाँचे तथा निर्धनता के बीच संबंध को देखेंगे।

4.4.4 परिसंपत्ति ढाँचा और निर्धनता

चूँकि परिसंपत्तियों का एक भाग आय एवं सेवाएँ प्रदान करता है इस कारण ग्रामीण क्षेत्रों में परिसंपत्ति ढाँचे का असमान वितरण न केवल वहां निर्धनता की समस्या का एक कारण है बल्कि यह उसको और भी गम्भीर बना देता है। यद्यपि भूमि का स्वामित्व खुशहाली के लिए अनिवार्य नहीं है, किन्तु भूमि की एक न्यूनतम मात्रा का न होना अवश्य ही निर्धनता का एक मुख्य कारण है। ऐसा इस कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सबसे महत्वपूर्ण अपुनरूत्पादनीय (non-reproducible) उत्पादक परिसंपत्ति है। इस प्रकार, कृषि गतिविधियों को चलाने के लिए भूमि की पर्याप्त मात्रा न होने के कारण कृषक परिवार कृषि फसलों के उत्पादन और बिक्री से पर्याप्त आय अर्जित नहीं कर पाते।

इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ग्रामीण निर्धनों की अधिकतम संख्या उन कृषक परिवारों से है जिनके पास कोई भूमि नहीं होती और जिन्हें भूमिहीन श्रमिक कहा जाता है सामान्य रूप से, यह पाया गया है कि भूमि-वितरण में असमानता जितनी अधिक होगी निर्धनता की स्थिति उतनी ही गम्भीर होगी। इसके अतिरिक्त, उन्नत औजारों और परिवहन सज्जा के प्रयोग से प्रति एकड़ भूमि पर उत्पादन की मात्रा बढ़ती है और उसे बाजार में भी शीघ्रता से लाई जा सकती है। इस बात की पुष्टि पंजाब की सफलता से होती है जहाँ प्रति एकड़ भूमि पर आधुनिक आगतों जैसें ट्रैक्टर, उर्वरक तथा कीटनाशक दवाओं आदि का अधिकतम उपयोग किया जाता है। यदि अधिकतर कृषक परिवार इन आधुनिक आगतों से वंचित रह जाते हैं तो वे लगातर निर्धनता की स्थिति में बने रहते हैं।

इसी प्रकार की स्थिति शहरी क्षेत्र में भी पाई जाती है। यदि शहरी क्षेत्र में परिसंपत्तियों का वितरण बड़े व्यवसायों की तुलना में असमान है तो उद्योगों को बड़े व्यवसायिक घरानों के साथ प्रतियोगिता करने का समान अवसर नहीं मिलता। बड़े व्यावसायिक घराने शहरी उद्योगों में उपलब्ध साधनों का अधिकांश भाग हथिया लेते हैं। इससे उन्हें अपना उत्पादन तेजी से बढ़ाने का अवसर मिलता है तथा वे विज्ञापन व उत्पादन की बिक्री करने की क्रियाओं के द्वारा अधिक कुशलतापूर्वक बाजार पर धावा बोलने के योग्य हो जाते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) "निरपेक्ष निर्धनता" की व्याख्या कीजिए (दो वाक्यों में)

. . . . . .

. . . . . .

2) योजना आयोग द्वारा स्वीकार की गई निर्धनता रेखा की परिभाषा दीजिए।। (30 शब्दों में)

. . . . . .

3) सही उत्तर के आगे (✓) का चिह्न लगाइए।

क) सापेक्ष निर्धनता का अर्थ है:

i) गरीब लोगों की संख्या
ii) आय के अनुसार परिवारों का क्रम
iii) एक निश्चित स्तर से कम आय वाले लोग
iv) आय की अपेक्षा उपभोग

ख) निर्धनता रेखा के पोषण मान की सीमाएँ हैं:

i) ये ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के लिए अलग मान नहीं प्रदान करता
ii) यह पोषण मान का संबंध मौद्रिक आय से स्थापित नहीं करता
iii) इसमें स्वास्थ्य और शिक्षा पर व्यय शामिल नहीं है।

4.5 असमानता

असमानता तुलनात्मक स्थिति को दर्शाती है यह कुछ व्यक्तियों या परिवारों की अन्य लोगों की अपेक्षा स्थिति को व्यक्त करती है। इस प्रकार, असमानता के माप आवश्यक रूप से सापेक्ष ही होते हैं। अगले दो भाग विभिन्न वर्षों के दौरान भारत में आय तथा उपभोग के वितरण में असमानता के विभिन्न मापों का वर्णन करते हैं।

4.5.1 आय के वितरण में असमानता

भारत में आय के वितरण के बारे में बहुत अधिक सर्वेक्षण नहीं हुए हैं। इसके अतिरिक्त ये आंकड़े नमूना सर्वेक्षण पर आधारित हैं और इन्हें पूरे देश पर लागू करने से असंगतियाँ आ सकती हैं। निम्नलिखित आँकड़ों में आय से तात्पर्य प्रयोज्य निजी आय (disposable personal income) से है जिसमें कर्मचारियों का वेतन (मजदूरी, वेतन, बोनस, कमीशन आदि), अनिगमित उद्यमों, जिसमें कृषि शामिल है, से प्राप्त आय, लगान, ब्याज और लाभांश तथा परिवारों और अकेले व्यक्तियों द्वारा प्राप्त चालू हस्तांतरण जैसे उत्पादन और उपभोग को दिए गए आर्थिक साहाय्य (subsidies) शामिल है। इसमें उन मकानों का आरोपित किराया शामिल नहीं होता जिनमें मालिक स्वयं रहते हैं। परंतु, प्रयोज्य निजी आय को प्राप्त करने के लिये कर की अनुमानित राशि घटा दी जाती है।

नीचे की तालिका में कुछ वर्षों के संक्षिप्त आँकड़े दिए गए हैं।

तालिका 4.6 कुल प्रयोज्य निजी आय में भाग (प्रतिशत में)

आय वर्ग	रणदिवे 1961–62	नेशनल काउंसिल (NCAER) 1964–65	विश्व बैंक 1975–76
निम्नतम 20%	7.80	7.50	7.0
उच्चतम 20%	45.47	47.49	49.4

स्रोत: पहले दो कालम P.K. Bardhan की पुस्तक "The Pattern of Income Distribution in India : A Review" जो T.N. Srinivasan & P.K. Bardhan द्वारा सम्पादित है और Statistical Publishing Society, Calcutta द्वारा प्रकाशित है. 1974 p. 104; अन्तिम कालम World Development Report 1987, World Bank, Washington, D.C. p. 252 से लिए गए हैं।

यह तालिका यह दर्शाती है कि इन दिए गए वर्षों के दौरान उच्चतम 20% आय वर्ग की तुलना में न्यूनतम 20% आय वर्ग अपेक्षाकृत बहुत कम अर्जित कर रही है। निम्नतम 20% तथा उच्चतम 20% आय वर्ग को इन वर्षों में परिवारों द्वारा अर्जित वार्षिक प्रयोज्य निजी आय के अनुसार परिभाषित

किया गया है। इस प्रकार 1975–76 में, अर्थव्यवस्था में न्यूनतम 20% के पास कुल प्रयोज्य निजी आय का केवल 7 प्रतिशत था, जबकि उच्चतम 20 प्रतिशत के पास 49.4% था। 1960–61 में यह क्रमश: 7.80% तथा 45.47% था।

4.5.2 उपभोग के वितरण में असमानता

उपभोग, जिसे उपभोग व्यय के द्वारा मापा जाता है, कई बार असमानता की बेहतर तस्वीर बताता है क्योंकि यह विभिन्न परिवारों द्वारा उपभोग की विभिन्न मदों पर किए गए वास्तविक व्यय में सापेक्ष स्थिति को दर्शाता है। निम्नलिखित आँकड़े इस संबंध में परिवारों की सापेक्ष स्थिति को दिखाते हैं:

तालिका 4.7 कुल उपभोग व्यय में भाग (%)

वर्ग	1958–59	1970–71	1977–78
ग्रामीण			
निम्नतम 30%	13.1	15.4	15 0
उच्चतम 30%	52.6	49.5	51.9
शहरी			
निम्नतम 30%	13.2	13.7	13.6
उच्चतम 30%	55.1	54.5	54.0

स्रोत: छठी पंचवर्षीय योजना 1980–85, योजना आयोग, नई दिल्ली 1980 p. 16

उपर्युक्त तालिका यह दिखाती है कि यदि परिवारों को उपभोग की विभिन्न मदों पर किए गए वार्षिक व्यय के अनुसार क्रमबद्ध किया जाय, तो कुल उपभोग व्यय में ग्रामीण क्षेत्र में निम्नतम 30% का भाग 1958–59 में 13% से बढ़कर 1977–78 में 15% हो गया। इसी दौरान उच्चतम 30% के भाग में 52.6% से 51.9% की मामूली सी कमी आई। शहरी क्षेत्रों के लिए, स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया।

इस प्रकार आँकड़े दिखाते हैं कि आय व उपभोग व्यय दोनों में काफी असमानताएँ पाई जाती हैं क्योंकि न्यूनतम आय वाले परिवारों को अर्थव्यवस्था की आय व उपभोग का बहुत कम भाग प्राप्त होता है। प्राप्त आँकड़ों (यहां नहीं दिए गए) से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि, जिन परिवारों की आय व उपभोग का स्तर नीचा होता है, उनके परिवार का आकार भी बड़ा होता है। परिणामस्वरूप, जनसंख्या के रूप में, बहुत से लोग समाज में काफी असमान स्थिति में होते हैं। जहाँ तक जनसंख्या का संबंध है निम्नतम और अधिकतम 20% या 30% का एक ही अर्थ नहीं है इस प्रकार निम्नतम 20% या 30% परिवारों में अधिक सदस्य होने के कारण, उच्चतम 20% या 30% परिवारों से अधिक जनसंख्या होती है।

4.5.3 परिसंपत्ति ढाँचा और असमानता पर इसका प्रभाव

इस प्रकार जहाँ तक सामाजिक न्याय का प्रश्न है, स्थिति काफी असंतोषजनक है। इन असमानताओं के महत्वपूर्ण कारकों को समझने के लिए आपको परिसम्पत्ति वितरण और असमानता के बीच संबंध को जानना होगा।

उपभोग में असमानता आय में असमानता का परिणाम है, क्योंकि आय उपभोग का सबसे महत्वपूर्ण निर्धारक है। आय के वितरण में असमानता प्रत्यक्ष रूप से परिसंपत्तियों के वितरण में असमानता के कारण होती है। जैसा हमने पहले कहा था, परिसंपत्तियाँ उत्पादन और इस प्रकार आय पैदा करने में बहुत महत्वपूर्ण हैं। परिसंपत्तियों के अतिरिक्त, मानवीय श्रम भी उत्पादन में महत्वपूर्ण है, और इसके बारे में आप अगले भाग में बेरोज़गारी के अंतर्गत अध्ययन करेंगे। इस प्रकार, यदि परिवारों के बीच परिसंपत्तियों का वितरण असमान होता है, तो केवल यह आय के वितरण में असमानता पैदा करने के लिए पर्याप्त है। ग्रामीण क्षेत्र में भू-स्वामित्व और उसके जोत में असमानता तथा शहरी क्षेत्र में औद्योगिक और व्यापारिक इकाइयों की परिसंपत्तियों में असमानता आय में असमानताओं को पैदा करती है जो बेरोजगारी के कारण और भी बढ़ जाती है।

4.6 बेरोज़गारी की समस्या

बेरोज़गारी किसी भी अल्पविकसित देश की एक मुख्य समस्या है और भारत इसका अपवाद नहीं है। निम्नलिखित भागों में बेरोज़गारी के विभिन्न रूप तथा समय के दौरान उनमें पाई जाने वाली प्रवृत्तियों का विवरण दिया गया है।

4.6.1 बेरोज़गारी का मानदंड

ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी कई प्रकार की होती है और उन्हें पहचानने के लिए विभिन्न तरीके हैं। शहरी क्षेत्रों में रोज़गार दफ्तरों (Employment Exchange), जो काम ढूँढ़ने वाले लोगों का लेखा रखते हैं, से बेरोज़गारी का पता चलता है। आइए हम ग्रामीण बेरोज़गारी का विस्तारपूर्वक विवेचन करें क्योंकि प्राथमिक क्षेत्र का भारत में कुल रोज़गार देने में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

ग्रामीण क्षेत्रों में, व्यक्तियों को निम्न मानदंडों के आधार पर बेरोज़गार माना जाता है:

1) **इच्छा मानदंड:** इसमें वे व्यक्ति आते हैं जो काम करने के इच्छुक हैं लेकिन भूमि, जिस पर उन्हें रोज़गार मिल सकता है, की कमी के कारण काम पाने में असमर्थ हैं।

2) **उत्पादकता मानदंड:** इसमें वे व्यक्ति शामिल हैं जो रोज़गार में लगे हुए दिखाई देते हैं लेकिन वास्तव में वे कोई काम नहीं करते। यह उन कृषक परिवारों के लिए सही है जिनमें काफी सदस्य होते हैं किन्तु खेती करने के लिए उनके पास बहुत कम भूमि होती है। इनमें परिवार के कुछ सदस्य यद्यपि अन्य सदस्यों के साथ काम करते हुए दिखाई देते हैं, लेकिन उन्हें कुल उत्पादन में कोई कमी लाए बिना अन्य क्रियाओं में हस्तांतरित किया जा सकता है। उन्हें "प्रच्छन्न बेरोज़गार" या छुपे बेरोज़गार के नाम से जाना जाता है।

3) **समय मानदंड:** यह किसी पूर्वनिर्धारित कार्य के मान की अपेक्षा कार्य करने के दिनों या समय के घंटों की संख्या के संदर्भ में बेरोज़गारी को बताता है। क्योंकि इसमें केवल काम के समय संबंधी पहलू का ध्यान रखा जाता है, इसलिएं इसे "समय मानदंड" कहा जाता है।

शहरी क्षेत्रों में, जो व्यक्ति अपना नाम रोज़गार दफ्तरों में दर्ज करवाते हैं, उन्हें बेरोज़गार माना जाता है। इसमें केवल संगठित क्षेत्र को ही ध्यान में रखा जाता है और शहरी क्षेत्रों में असंगठित क्षेत्रों में बेरोज़गारी का पता लगाने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

4.6.2 बेरोज़गारी के अनुमान

बेरोज़गारी के बारे में स्थिति अधिक संतोषजनक नहीं है। पहली पंचवर्षीय योजना के अंत में अर्थात् 1955–56 में पहले से चली आ रही (backlog) बेरोज़गारी की संख्या 53 लाख थी। 1960–61 के अंत तक यह बढ़कर 71 लाख और 1965–66 में 96 लाख हो गई। 1970–71 के अंत तक, यह संख्या 1.86 करोड़ से लेकर 2.1 करोड़ तक अनुमानित की गई। 1970–71 के अनुमान में समय मानदंड के अनुसार ग्रामीण बेरोज़गारी भी शामिल थी, जिसके अनुसार सप्ताह में 14 घंटे से कम काम करने वालों को बेरोज़गारों में गिना गया था। लेकिन अल्प-रोज़गार और प्रच्छन्न (छिपी) बेरोज़गारी के स्वरूप के कारण, बेरोज़गारी के अनुमानों को उनके अंकित मूल्य (face–value) पर नहीं लिया जा सकता। पिछले दो दशकों के दौरान बेरोज़गारी के दबाव में कोई परिवर्तन नहीं आया है। यदि हम राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) द्वारा बेरोज़गारी की "सामान्य स्थिति" (usual status) परिभाषा को लें, तो 1985 में 5 वर्ष से ऊपर के आयु-वर्ग में सामान्य रूप से रह रहे बेरोज़गारों की संख्या लगभग 1.4 करोड़ थी।

4.6.3 परिसम्पत्ति ढाँचा और बेरोज़गारी

जहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी का प्रश्न है परिसम्पत्ति-संरचना का बेरोज़गारी पर प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ बेरोज़गारी का एक प्रमुख कारण कृषि के लिए पर्याप्त भूमि की कमी है। इससे समस्याएँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि भूमिहीन मज़दूरों को पूरे वर्ष के लिए पर्याप्त

काम नहीं मिल पाता। शहरी क्षेत्रों में, परिसम्पत्ति की संरचना में असमानता के कारण छोटे पैमाने के उद्यमकर्त्ताओं को उत्पादन में वृद्धि करने का अवसर नहीं मिल पाता जिसके कारण बेरोज़गारी उत्पन्न होती है। इससे न केवल वर्तमान में परन्तु भविष्य में भी बेरोज़गारी की समस्याएँ आएंगी क्योंकि अगर समय के साथ-साथ असमानता बढ़ती है तो अधिक लोगों को छोटे पैमाने के उद्यम स्थापित करने के अवसर नहीं मिल पाते हैं।

4.7 क्षेत्रीय असमानताएँ

असमानताओं की समस्या केवल व्यक्तियों या विभिन्न वर्गों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि राज्यों में भी महत्वपूर्ण अंतर पाए जाते हैं। पंजाब, हरियाणा तथा महाराष्ट्र जैसे राज्य अपेक्षाकृत विकसित हैं जबकि अन्य जैसे बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और उत्तरप्रदेश आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं। यह असमानता उन राज्यों के घरेलू उत्पादों की वृद्धि दर में अंतर के कारण और भी बढ़ जाती है, विकसित राज्य, निर्धन राज्यों की अपेक्षा तीव्र गति से उन्नति कर रहे हैं। वास्तव में, विकसित राज्यों में भी बहुत निर्धन व पिछड़े हुए जिले हैं। लेकिन क्षेत्रीय स्तर पर तुलनात्मक आय के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। परंतु राज्यों के अंदर असमानता के स्वरूप से इस प्रकार की असमानता के कुछ संकेत दिये जा सकते हैं।

4.7.1 अंतर्राज्यीय आय असमानता

केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने राज्यों के घरेलू उत्पाद (SDPs) पर 1970–71 के बाद से आँकड़े एकत्रित किए हैं। उसके पहले 1960–61 के लिए, आंकड़े केवल 16 राज्यों के लिए ही उपलब्ध हैं। तालिका 4.8 में हमने 1960–61 और 1981–82 के वर्षों के लिए प्रति व्यक्ति वास्तविक आय के सापेक्ष स्तरों के अनुसार 16 राज्यों को क्रमबद्ध किया है। सबसे ऊपर, महाराष्ट्र और पंजाब ने अपने स्थान को एक दूसरे से बदल लिया है। हरियाणा की सापेक्ष स्थिति में सुधार हुआ है और वह दूसरे नम्बर पर आ गया है। बंगाल और तमिलनाडु की

तालिका 4.8 : चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय के अनुसार राज्यों का क्रम

राज्य	1960–61		1981–82	
	आय (रु.)	क्रम	आय (रु.)	क्रम
1. महाराष्ट्र	409	1	2496	3
2. पश्चिमी बंगाल	390	2	1598	6
3. पंजाब	366	3	3164	1
4. गुजरात	362	4	2192	4
5. तमिलनाडु	334	5	1873	12
6. हरियाणा	327	6	2581	2
7. असम	315	7	1380	11
8. कर्नाटक	296	8	1541	7
9. राजस्थान	284	9	1441	10
10. आंध्र प्रदेश	275	10	1536	8
11. जम्मू-कश्मीर	269	11	1630	5
12. केरल	259	12	1447	9
13. उत्तर प्रदेश	252	13	1313	13
14. मध्य प्रदेश	252	13	1241	15
15. उड़ीसा	217	14	1308	14
16. बिहार	215	15	995	16

स्थिति में काफी गिरावट आई है। लेकिन चार राज्यों जैसे बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश सबसे नीचे के चार स्थानों पर बने हुये हैं।

इसके अतिरिक्त 1960-61 में, उच्चतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय वाला राज्य की आय (महाराष्ट्र) निम्नतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय वाला राज्य (बिहार) का 190% थी। लेकिन 1981–82 में उच्चतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय वाला राज्य (पंजाब) न्यूनतम प्रति व्यक्ति आय वाला राज्य (बिहार) का 318% है। इससे यह पता चलता है कि योजनाबद्ध विकास की प्रक्रिया क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने में न केवल असमर्थ रही है बल्कि असमानताओं में और भी वृद्धि हुई है। पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, और हिमाचल प्रदेश की प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से अधिक है और ऐसा लगातार जारी है। दूसरी ओर मणिपुर, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, त्रिपुरा, असम, जम्मू और कश्मीर, केरल और राजस्थान की प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से कम है।

4.7.2 अंतर्राज्यीय असमानता: राज्यों में निर्धनता

हरित क्रांति के प्रभाव, भू-जोतों के वितरण, औद्योगीकरण के स्तर और शहरीकरण के परिणामस्वरूप असमानता का एक क्षेत्रीय पहलू है। तालिका 4.9 योजना आयोग के अनुमानों को दिखाती है।

तालिका 4.9 राज्यों में निर्धनता 1977–78

राज्य	निर्धनता का प्रसार (प्रतिशत)		
	ग्रामीण	शहरी	कुल
पंजाब	11.9	24.7	15.1
हरियाणा	23.3	31.7	24.8
महाराष्ट्र	55.9	31.6	47.7
गुजरात	43.2	29.0	35.0
पश्चिम बंगाल	58.9	34.7	52.5
कर्नाटक	49.9	44.0	48.3
केरल	46.0	51.4	47.0
तमिलनाडु	55.7	44.8	52.1
जम्मू-कश्मीर	32.8	39.3	34.1
आंध्र प्रदेश	43.9	35.7	42.2
राजस्थान	33.8	33.8	33.8
असम	52.7	37.4	51.1
उड़ीसा	69.0	42.2	66.4
उत्तर प्रदेश	50.2	49.2	50.1
मध्य प्रदेश	59.8	48.1	57.7
बिहार	58.9	46.1	57.5
भारत	50.8	38.2	48.1

स्रोत: छठी पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ 16.

निर्धनता के विस्तार संबंधी योजना आयोग के अनुमान राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) के परिवार उपभोग सर्वेक्षण 1977–78 के अंतरिम (provisional) आँकड़ों से प्राप्त किए गए हैं। इन अनुमानों के लिए, निर्धनता रेखा ग्रामीण क्षेत्रों में 65 रु. प्रति माह ली गई जो कि प्रति व्यक्ति न्यूनतम 2400 कैलोरी प्रतिदिन के बराबर है; और शहरी क्षेत्रों के लिए 75 रु. प्रति माह जो प्रति व्यक्ति 2100 कैलोरी प्रतिदिन के बराबर है। परंतु, आर. एम. सुंदरम के

अनुसार इस बात के लिए संशोधन किया गया कि नमूना सर्वेक्षण के आँकड़े राष्ट्रीय लेखों के आँकड़ों द्वारा दिए गए उपभोग व्यय से कम (under estimate) हैं। इसलिए नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता की रेखा 55 रु. तथा शहरी क्षेत्रों में 64 रु. मानी गई। निर्धनता के प्रसार में अनेक अंतर पाए जाते हैं अर्थात् निर्धनता रेखा से नीचे राज्य की जनसंख्या का अनुपात ग्रामीण क्षेत्रों में पंजाब में 11.9% से लेकर उड़ीसा में 69% और शहरी क्षेत्रों में पंजाब में 24.7% से लेकर केरल में 51.4% तक पाया जाता है। सामान्यतया, ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता का प्रसार शहरी क्षेत्रों से अधिक है। लेकिन पंजाब, हरियाणा और केरल आदि इसके अपवाद हैं। पंजाब और हरियाणा कृषि में हरित क्रांति में अग्रणीय राज्य हैं और केरल में एक वर्ष में दो वर्षा ऋतुएँ होती हैं तथा राज्य के अधिकतर कृषि-क्षेत्रों में वर्ष में दो या तीन फसलें उगाई जाती हैं।

बोध प्रश्न 4

1) बेरोज़गारी का पता लगाने के लिए तीन मानदंडों का वर्णन कीजिए (50 शब्दों में):

.....

.....

.....

.....

2) निम्न विकल्पों में से सही उत्तर का चुनाव कीजिए।

क) असमानता संकेत करती है:
   i) निरपेक्ष निर्धनता
   ii) सापेक्ष निर्धनता

ख) सबसे कम प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद (SDP) वाला राज्य है:
   i) बिहार
   ii) मध्य प्रदेश
   iii) पंजाब

ग) समय के साथ निवल राज्य घरेलू उत्पाद (SDP) में असमानता:
   i) कम हो रही है
   ii) बढ़ रही है
   iii) स्थिर है

4.8 सारांश

ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच परिसंपत्तियों की संरचनात्मक बनावट में महत्वपूर्ण अंतर पाए जाते हैं। परिसंपत्तियों के वितरण में भी भारी असमानता पाई जाती है, जो निर्धनता और बेरोज़गारी का कारण है। निर्धनता व बेरोज़गारी प्राय: साथ-साथ पाई जाती है। हाल के वर्षों में निर्धनता-रेखा के नीचे की जनसंख्या के अनुपात में घटने की प्रवृत्ति पाई गई। फिर भी निर्धनता रेखा के नीचे जनसंख्या का काफी बड़ा अनुपात है और बेरोज़गारी भी काफी अधिक है। राज्यों के बीच क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ रही हैं। अंतर्राज्यीय असमानता में भी काफी अंतर पाए जाते हैं।

4.9 शब्दावली

निरपेक्ष और सापेक्ष निर्धनता: निरपेक्ष गरीबी से तात्पर्य एक निश्चित आय या उपभोग स्तर के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या से है। सापेक्ष गरीबी प्रति व्यक्ति आय या उपभोग आदि के अनुसार विभिन्न वर्गों को क्रमबद्ध करती है।

परिसम्पत्ति ढाँचा: परिसंपत्ति एक पंच मेल (heterogenous) तत्व है जिसमें बड़े भवन,

मशीनरी आदि शामिल हैं। परिसंपत्ति के ढाँचे से तात्पर्य इन परिसंपत्तियों के विभिन्न रूपों के मिश्रण तथा उनके सापेक्ष महत्व तथा आकार के अनुसार परिसंपत्तियों के वितरण से हैं।

व्यवसायिक घराना: वे सभी कम्पनियाँ जो एक ही अधिकारी की निर्णायक शक्ति के अंतर्गत आती हैं।

उपभोग व्यय: परिवारों द्वारा किए गए व्यय का वह भाग जो उपभोग की चीजें —टिकाऊ तथा गैर-टिकाऊ खरीदने के लिए प्रयोग में आता है।

प्रयोज्य वैयक्तिक आय: इसमें कर्मचारियों का वेतन, अनिगमित उद्यमों द्वारा अर्जित आय, किराया, ब्याज और लाभांश शामिल हैं और जिसमें से कर की अनुमानित राशि घटा दी गई है।

अनैच्छिक बेरोज़गारी: एक ऐसी स्थिति है जब एक व्यक्ति प्रचलित मजदूरी की दर पर कार्य करने के तत्पर होते हुए भी काम, प्राप्त करने में असमर्थ है।

परिचालित भूमि (भू-जोतें): खेती के लिए प्रयुक्त वास्तविक भूमि जो अपनी भूमि (owned land) से कम या अधिक हो सकती है। और यह अन्तर पट्टे पर दी गई या ली गई जमीन की मात्रा के अंतर के बराबर हो सकती है।

प्रति व्यक्ति आय: प्रतिव्यक्ति आय – कुल राष्ट्रीय आय/जनसंख्या। यह कई रूपों में व्यक्त हो सकती है लेकिन प्रत्येक किसी प्रति व्यक्ति मात्रा का संकेत करती हैं। यह प्रति व्यक्ति एन. एन. पी., (निवल राष्ट्रीय उत्पाद); जी. एन. पी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद), जी. डी. पी. (सकल घरेलू उत्पाद) आदि हो सकता है।

निर्धनता रेखा: निर्धनता रेखा आवश्यक न्यूनतम पोषण स्तर के अनुसार निर्धारित आय या उपभोग का निम्नतम स्तर बताती है।

प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्र: प्राथमिक क्षेत्र के अंतर्गत कृषि व संबद्ध क्रियाएँ आती हैं। द्वितीयक क्षेत्र में औद्योगिक क्रियाएं और तृतीयक क्षेत्र में सभी सेवाएँ सम्मिलित की जाती हैं।

आय का आकार वितरण: यह विभिन्न आय या उपभोग समूहों के आधार पर व्यक्तियों या परिवारों के बीच राष्ट्रीय आय का वितरण बतलाता है। इस प्रकार हम आय, उपभोग आदि का आकार वितरण प्राप्त कर सकते हैं।

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रुद्रदत्त एवं के. पी. एम. सुन्दरम: **भारतीय अर्थव्यवस्था**, 1989, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय 20–21.

नाथूरामका, लक्ष्मी नारायण: **भारतीय अर्थशास्त्र**, 1989, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा अध्याय : 7 एवं 9.

Bardhan, P.K. and T. N. Srinivasan (1974), *Poverty and Income Distribution in India,* Statistical Publishing Society, Calcutta.

Chaudhuri, Pramit (1979), *The Indian Economy,* Vikas Publishing House, New Delhi.

Different Plan Documents of the Planning Commission of India, particularly the Seventh Plan document.

Sundrum, R.M., (1987), *Growth and Income Distribution in India,* Sage Publications, New Delhi, Chapters 2 & 6.

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 स्र. घं. इ.

2 क
3 ग
4 भाग 4.2 पढ़ें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1 भाग 4.3 से 4.3.4 तक पढ़ें और तीन महत्वपूर्ण विशेषताएँ बताएँ।
2 क
3 ग

बोध प्रश्न 3

1 उत्तर के लिए भाग 4.4.1 देखें।
2 भाग 4.4.2 देखें, विशेषकर दूसरा पैरा।
3 (क) 2, (ख) 3.

बोध प्रश्न 4

1 भाग 4.6.1 पढ़ें और उत्तर तैयार करें।
2 (क) 2, (ख) 1, (ग) 2.

इकाई 5 राष्ट्रीय आय : इसकी संरचना तथा अंतर्क्षेत्रीय स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 राष्ट्रीय आय की अवधारणा
5.3 राष्ट्रीय आय की संरचना
  5.3.1 राष्ट्रीय आय की उद्योगवार संरचना
  5.3.2 राष्ट्रीय आय की प्रयोग के आधार पर संरचना — उपभोग, बचत तथा विनियोग
5.4 आगतों व निर्गतों के अंतर्क्षेत्रीय प्रवाह
5.5 स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की राष्ट्रीय आय में संवृद्धि
5.6 राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण में परिवर्तन
5.7 राष्ट्रीय आय का निपटान — उपभोग, बचत तथा विनियोग
  5.7.1 उपभोग
  5.7.2 पूँजी निर्माण
  5.7.3 घरेलू बचत
5.8 अंत:उद्योग आगत-निर्गत लेन-देन योजना
  5.8.1 आगत-ढाँचा
  5.8.2 अंतिम माँग का वर्गीकरण
5.9 सारांश
5.10 शब्दावली
5.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- उदगम तथा प्रयोग के आधार पर भारत की राष्ट्रीय आय की संरचना की विवेचना कर सकेंगे तथा बता सकेंगे कि क्या इसमें स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से कोई परिवर्तन आया है; तथा
- बता सकेंगे कि आगतों व निर्गतों के अंतर्क्षेत्रीय प्रवाहों के आधार पर कैसे एक अर्थव्यवस्था के ढाँचे को समझा जा सकता है तथा इसी आधार पर भारतीय अर्थव्यवस्था के ढाँचे की विवेचना कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

इकाई 4 में हम भारतीय अर्थव्यवस्था में परिसम्पत्तियों के ढाँचे तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उनमें हुए परिवर्तनों का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में भी हम इसी अवधि में भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के बारे में भिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन करेंगे। हमारा ध्यान अब भारत की राष्ट्रीय आय तथा उसकी संरचना तथा राष्ट्र की उत्पादन व्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों के बीच आगतों व निर्गतों के प्रवाहों की ओर केन्द्रित होगा। हम यह देखेंगे कि 1950-51 में भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप क्या था तथा योजनाबद्ध विकास के लिए प्रारम्भ की गई पंचवर्षीय योजनाएं इसे परिवर्तित करने में कहां तक सफल हुई हैं।

5.2 राष्ट्रीय आय की अवधारणा

आप राष्ट्रीय आय की अवधारणाओं तथा इसके अनुमान की विधियों के बारे में पहले ही (ई. ई. सी.-01, खंड 3, इकाई 5 में) जान चुके हैं। हम राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाओं, उनके बीच के अंतर, घरेलू उत्पादन के उद्योगवार वितरण तथा राष्ट्रीय आय के अनुमान की तीन विधियों की उस इकाई के भाग 5.4 तथा भाग 5.5 में चर्चा कर चुके हैं। फिर भी आपकी स्मृति ताजा करने तथा वर्तमान संदर्भ के लिए हम इसे संक्षिप्त रूप में फिर से समझा रहे हैं।

राष्ट्रीय आय से अभिप्राय: साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद [NNP(FC)] से है। यह मज़दूरी, लगान, लाभ, ब्याज व मिश्रित आय (अर्थात् स्वयं रोज़गार में लगे व्यक्तियों की आय) का जोड़ है जो राष्ट्र के समस्त निवासियों ने अर्जित की है। इसलिए यदि हम साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद में से विदेशों से प्राप्त निवल साधन आय घटा दें तो साधन लागत पर निवल घरेलू उत्पाद [NDP(FC)] निकल आएगा जोकि राष्ट्र की प्रादेशिक सीमाओं के भीतर किए जाने वाले उत्पादन को प्रतिबिम्बित करता है। यदि साधन लागत पर पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद में अप्रत्यक्ष कर जोड़ दें तथा सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता उसमें से घटा दें तो हमें बाज़ार कीमत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद [NNP(MP)] प्राप्त होगा। मूल्य ह्रास (अर्थात उत्पादन प्रक्रिया के दौरान स्थिर पूंजी तथा मशीनों की घिसावट तथा अनुमानित अप्रचलन) को साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद में जोड़ दें तो हमें बाज़ार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद [GNP(MP)] प्राप्त होगा। इसी प्रकार से बाज़ार कीमत पर निवल घरेलू उत्पाद [NDP(MP)] प्राप्त करने के लिए हम साधन लागत पर निवल घरेलू उत्पाद में अप्रत्यक्ष-कर जोड़ देंगे तथा सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता घटा देंगे। बाज़ार कीमत पर निवल घरेलू उत्पाद में मूल्य ह्रास जोड़ देने से हमें बाज़ार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद [GDP(MP)] प्राप्त होगा। बाज़ार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद को तीन विधियों से मापा जा सकता है। ये तीन विधियाँ हैं: (1) आय विधि (2) व्यय विधि (3) उत्पादन विधि या "मूल्य वृद्धि" विधि।

आय विधि से बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद प्राप्त करने के लिए हम समस्त साधन आय जिसमें विदेशों से प्राप्त निवल साधन आय भी शामिल है, निवल अप्रत्यक्ष कर तथा मूल्य-ह्रास के लिए रखी गई राशि को जोड़ देते हैं। व्यय विधि में हम समस्त उपभोग व्यय (निजी अंतिम उपभोग व्यय तथा चालू सरकारी व्यय, सकल विनियोग निजी व सार्वजनिक दोनों) तथा अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन के फलस्वरूप उत्पन्न शुद्ध निर्यात को जोड़ते हैं। उत्पादन विधि में बाज़ार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद प्राप्त करने के लिए समस्त अंतिम वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों को जोड़ा जाता है। फिर उसमें विदेशों से प्राप्त निवल कारक आय को जोड़कर सकल राष्ट्रीय उत्पाद बाज़ार कीमत पर प्राप्त किया जाता है। दोहरी गणना से बचने के लिए मध्यवर्ती उत्पादों, जिनका प्रयोग अन्य वस्तुओं के उत्पादन में आदान के रूप में किया जाता है, को सकल राष्ट्रीय उत्पाद में नहीं जोड़ते। प्रत्येक उद्योग में हुई "मूल्य वृद्धि" को जोड़कर राष्ट्रीय उत्पाद की गणना करने से दोहरी गणना की समस्या से बचा सकता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी तीनो विधियों से प्राप्त राष्ट्रीय आय समान होगी। यहां एक और बात स्पष्ट कर दें कि किसी वित्तीय वर्ष, मान लीजिए 1980–81 के "बाज़ार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद" की गणना यदि 1980-81 वर्ष की कीमतों के आधार पर की गई है तो यह चालू कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहलाएगा। इसी प्रकार, 1950–51 की कीमतों पर 1950–51 के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पाद का अनुमान लगाया गया है तो इसे चालू कीमतों पर 1950–51 का सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहेंगे। यदि दोनों वर्षों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का अनुमान आधार वर्ष (मान लीजिए 1970–71) की कीमतों पर लगाया जाता है तो इसे स्थिर कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहेंगे। कीमतें स्थिर नहीं रहतीं इसलिए चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय से प्राय: भिन्न होती हैं। इसकी इकाई 5 के उपभाग 5.5.7, ई.ई.सी.-01 में विस्तार से विवेचना की गई है।

5.3 राष्ट्रीय आय की संरचना

यह तो आप समझ ही चुके होंगे कि राष्ट्रीय आय एक समुच्चय अवधारणा है, यानि यह अर्थव्यवस्था के समस्त लोगों की कुल आय या कुल उत्पादन या कुल व्यय का जोड़ है। इसमें परिवर्तन अर्थव्यवस्था के कुल उत्पादन में परिवर्तन को दर्शाते हैं। राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के अध्ययन से हमें देश की संवृद्धि अर्थात् कुल उत्पादन बढ़ रहा है या नहीं, इस बारे में पता चलना चाहिए।

यदि हम यह जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था का ढांचा कैसा है और इसमें क्या-क्या परिवर्तन आए हैं,तो हमें भारत की राष्ट्रीय आय के विभिन्न घटकों का अध्ययन करना होगा। राष्ट्रीय आय की संरचना के अध्ययन के लिए राष्ट्रीय आय का विभिन्न घटकों में वर्गीकरण करके देखा जाता है। यह वर्गीकरण दो तरह से किया जा सकता है — उद्गम के आधार पर तथा प्रयोग के आधार पर।

5.3.1 राष्ट्रीय आय की उद्योगवार संरचना

राष्ट्रीय आय विभिन्न उत्पादों का समुच्चय है और इसका उत्पादन विभिन्न क्षेत्रों, जैसे कृषि, खनन, विनिर्माण, सेवाओं आदि के द्वारा किया जाता है। उद्योग से यहां हमारा अभिप्राय: किसी भी ऐसी क्रिया से है जो उन वस्तुओं/सेवाओं का उत्पादन करती है जिन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है। इस आधार पर कृषि भी एक उद्योग है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन में वृद्धि हो रही है लेकिन हम यह नहीं जानते कि कौन-से प्रकार के प्रदार्थों का उत्पादन अधिक बढ़ रहा है। इसकी जानकारी राष्ट्रीय आय की उद्योगवार संरचना में परिवर्तन के अध्ययन से प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण से यह जानकारी प्राप्त होती है कि प्रत्येक उत्पादक क्षेत्र से कितनी राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। यह उद्योगवार वितरण महत्वपूर्ण है। यह संभव है कि एक अर्थव्यवस्था जो प्रारंभ में कृषि प्रधान रही हो (जिसका अर्थ है कि राष्ट्रीय उत्पाद में सबसे अधिक योगदान कृषि उत्पाद का है), बाद में कृषि उत्पादन की अपेक्षा औद्योगिक उत्पादन में ज्यादा तेज़ी से वृद्धि होने के कारण अधिक सन्तुलित उत्पादन करे। औद्योगिक उद्गम के आधार पर राष्ट्रीय आय की संरचना में इस प्रकार का परिवर्तन यह इशारा करता है कि अर्थव्यवस्था का उत्पादन ढाँचा अब पहले से अधिक सन्तुलित व विविधतापूर्ण है तथा उद्योगों के विकास से कृषि पर अत्यधिक निर्भरता कम हो गई है। अर्थव्यवस्था के ढाँचे में और भी किसी प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तन आये हैं या नहीं, इसकी जानकारी राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण के आँकड़ों से प्राप्त हो सकती है। इस संबंध में ई.ई.सी.-01 के खंड 9 में की गई आर्थिक ढांचे की विवेचना को याद कीजिए।

5.3.2 राष्ट्रीय आय की प्रयोग के आधार पर संरचना —उपभोग, बचत तथा विनियोग

अर्थव्यवस्था का अध्ययन एक और दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं, जिसमें राष्ट्रीय आय को प्रयोग के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है।

चूंकि राष्ट्रीय आय में अर्थव्यवस्था में उत्पादित समस्त अंतिम पदार्थों को ही सम्मिलित किया जाता है इसलिए प्रयोग के आधार पर राष्ट्रीय आय की संरचना में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि इन अंतिम पदार्थों (राष्ट्रीय आय) का किन-किन उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया गया है। वास्तव में इनके एक बड़े भाग का तो प्रत्यक्ष उपभोग के लिए प्रयोग किया जाता है तथा आय का शेष भाग बचत व विनियोग के लिए प्रयोग में आता है जो राष्ट्र के धन या पूँजी में वृद्धि करता है।

उपभोग से हमारा अभिप्राय: उन सभी वस्तुओं व सेवाओं की बिक्री से है जिनका प्रयोग मानव आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए किया गया है, अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पन्न करने में नहीं। कुल उपभोग को निम्नलिखित दो भागों में बाँट सकते हैं:

(क) व्यक्तिगत (निजी) उपभोग जिसमें निजी व्यक्तियों द्वारा (भोजन, कपड़ा आदि)

वस्तुओं व सेवाओं पर किया गया चालू व्यय सम्मिलित है, तथा (ख) वस्तुओं व सेवाओं पर किया गया चालू सरकारी व्यय जैसे शिक्षा, कानून व व्यवस्था बनाये रखने के लिए व्यय आदि।

दूसरी ओर, विनियोग से अभिप्राय: अंतिम उत्पाद का वह भाग है जिसका प्रयोग उपभोग के लिए न करके राष्ट्र की सम्पत्ति या पूँजी की वृद्धि के लिए किया गया है। इसे भी दो भागों में बांटा जा सकता है: (1) घरेलू स्थिर पूँजी निर्माण जिसमें भविष्य में उत्पादन के लिए मशीन व साज-सज्जा सम्मिलित है, तथा (2) माल सूची में निवेश अर्थात् स्टॉक में परिवर्तन।

बचत घरेलू व विदेशी स्रोतों से प्राप्त हो सकती है। घरेलू बचत निजी व सार्वजनिक (अर्थात् सरकारी) दोनों क्षेत्रों से प्राप्त होती है।

5.4 आगतों व निर्गतों के अंतर्क्षेत्रीय प्रवाह

हम पहले ही बता चुके हैं कि राष्ट्रीय आय में केवल अंतिम वस्तुओं का उत्पादन ही सम्मिलित होता है। मध्यवर्ती उत्पाद यानी एक उद्योग (क्षेत्र) का उत्पाद जिसका दूसरे उद्योग में आगत के रूप में प्रयोग किया गया है, राष्ट्रीय आय के अनुमान में सम्मिलित नहीं किया जाता, क्योंकि इन्हें सम्मिलित करने से "दोहरी गणना" की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए इस बात की जानकारी आवश्यक है कि एक अर्थव्यवस्था के उत्पादन का कितना भाग मध्यवर्ती वस्तुओं (दूसरे उद्योगों के लिए आगत) के रूप में प्रयोग किया जाता है और कितना भाग अंतिम वस्तुओं (उपभोग व पूंजी निर्माण) के रूप में। हम यहां एक बंद अर्थव्यवस्था की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें विदेशों से व्यापार नहीं किया जाता।

यदि हम अर्थव्यवस्था के उत्पादन को विभिन्न क्षेत्रों (उद्योगों) में बांट दें और प्रत्येक क्षेत्र ने अपने उत्पादन का कितना हिस्सा आगत के रूप में दूसरे क्षेत्रों को बेचा है तथा कितना अंतिम वस्तुओं के रूप में, तो इस तालिका से हम न केवल राष्ट्रीय आय का ही अनुमान लगा सकते हैं बल्कि आगत-निर्गत संबंधों तथा विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर निर्भरता की महत्वपूर्ण जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं।

उद्योगों के बीच लेन-देन, दर्शाने का एक तरीका "आगत-निर्गत" तालिका है (देखिए तालिका 5.1)। निर्गत (उत्पादन) की दृष्टि से, तालिका से पता चलता है कि प्रत्येक उद्योग का कितना उत्पादन दूसरे उद्योगों (क्षेत्रों) को आगत के रूप में (बेचा) जाता है और कितना अंतिम वस्तुओं के रूप में प्रयोग किया (बेचा) जाता है। आगत की दृष्टि से, तालिका से पता चलता है कि प्रत्येक क्षेत्र कितने आगत अन्य उत्पादन क्षेत्रों से प्राप्त करता (खरीदता) है तथा कितने आगत प्राथमिक हैं, जैसे श्रम तालिका के कॉलम में "आगत-ढांचा" तथा पंक्ति में निर्गत का विभिन्न प्रयोगों में वितरण दिखाया गया है। प्रत्येक उद्योग की पंक्ति में उसके उत्पादन की बिक्री दिखाई गई है। यह उत्पादन अन्य उद्योगों को उनके उत्पादन में आगत के रूप में प्रयोग करने के लिए तथा परिवारों व सरकार को अंतिम वस्तुओं के रूप में प्रयोग करने के लिए बेचा गया है। इसी तरह से प्रत्येक उद्योग के कॉलम में विभिन्न आगतों का विस्तृत ब्यौरा दिया गया है। कुछ आगत अन्य उत्पादन क्षेत्रों में खरीदे गए हैं तथा श्रम जैसे कुछ प्राथमिक या गैर-उत्पादित आगत लिए गए हैं।

जिस आगत-निर्गत तालिका की हम यहां चर्चा कर रहे हैं, उसके तीन भाग हैं:
(क) अंतर्क्षेत्रीय लेन-देन, जिसमें विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच आगतों-निर्गतों का प्रवाह दिखाया गया है, (ख) अंतिम मांग, जिसमें उत्पादन के उस हिस्से को दिखाया गया है जिसका अंतिम वस्तुओं के रूप में प्रयोग किया जाता है, तथा (ग) औद्योगिक आगत का हिस्सा यानी "उत्पादन की लागत" जिसमें प्राथमिक आगतों के लिए परिवार को किए गए भुगतान (मज़दूरी, वेतन, लगान या किराया, लाभ), सरकार को दिए गए "कर" आदि सम्मिलित हैं। आगतों के इस हिस्से यानी परिवारों को किए गए भुगतान तथा कर-भुगतान आदि को "मूल्य-वृद्धि" कहते हैं। राष्ट्रीय आय की गणना या तो अंतिम मांग या "मूल्य-वृद्धि" के सभी भागों को जोड़कर की जा सकती है। दोनों तरह से राष्ट्रीय आय का परिमाण

उतना ही होगा। हां, पर्याप्त व विश्वसनीय आंकड़ों की कमी के कारण कुछ अन्तर अवश्य हो सकता है। अंतर्क्षेत्रीय लेन-देन जिसमें केवल आदान सम्मिलित है, राष्ट्रीय आय की गणना में नहीं आते।

तीन उत्पादन क्षेत्रों के आधार पर हम निम्नलिखित आगत-निर्गत तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं:

तालिका 5.1 काल्पनिक आगत-निर्गत तालिका

निर्गत (को विक्रय) → / आगत (द्वारा विक्रय) ↓	कृषि	विनिर्माण	सेवा	अंतिम मांग	कुल निर्गत
कृषि	—	50	10	60	120
विनिर्माण	30	—	30	60	120
सेवाएं	10	20	—	30	60
मूल्य वृद्धि	80	50	20	150	—
कुल आगत	120	120	60	—	

ऊपर दी गई तालिका के अनुसार राष्ट्रीय आय 150 है। यह तालिका एक बन्द अर्थव्यवस्था के संदर्भ में बनाई गई है। इसकी विकर्ण प्रविष्टियाँ (diagonal enteries) रिक्त दिखाई गई हैं जिसका अर्थ है कि क्षेत्रों की कुल बिक्री में आगत सम्मिलित नहीं है। मध्यवर्ती अंत:उद्योग लेखाविधि (जिसे आगत-निर्गत तालिका में दिखाया गया है) तथा राष्ट्रीय आय लेखा विधि के बीच नज़दीकी सम्बन्ध है। लेकिन अंत:उद्योग विश्लेषण में विभिन्न उद्योगों के बीच आगत व निर्गत प्रवाहों का उद्योगवार विस्तृत ब्यौरा दिया जाता है, जबकि "अंतिम मांग" व "मूल्य-वृद्धि" को संकलित रूप में दिखाया जाता है। दूसरी ओर, राष्ट्रीय आय लेखा विधि में मध्यवर्ती लेनदेन को संकलित किया जाता है और अंतिम उत्पाद तथा "मूल्य-वृद्धि" का जिनका राष्ट्रीय आय के आकलन में प्रयोग होता है, विस्तार से अध्ययन किया जाता है। आगत-निर्गत तालिका तथा राष्ट्रीय आय लेखा, दोनों के लिए हमें एक ही प्रकार के प्राथमिक आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है तथा एक ही प्रकार से उनका प्रयोग किया जाता है। इन सम्बन्धों के कारण राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के अध्ययन के साथ-साथ प्राय: आगत-निर्गत तालिका के स्वरूप व उसमें परिवर्तनों का अध्ययन भी किया जाता है।

बोध प्रश्न 1

निम्नलिखित में सही पर (✓) का निशान लगाएँ:

1) उत्पादन के स्वरूप में संरचनात्मक परिवर्तनों की जानकारी के लिए राष्ट्रीय आय का वर्गीकरण:
   क) औद्योगिक उद्गम के आधार पर करना चाहिए
   ख) व्यय (प्रयोग) के आधार पर करना चाहिए
   ग) उपर्युक्त दोनों के आधार पर करना चाहिए
2) साधन लागत पर सकल घरेलू उत्पाद तथा बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद में अंतर का कारण है:
   क) मूल्य ह्रास
   ख) अप्रत्यक्ष कर तथा साहाय्य (subsidies)
   ग) विदेशों से प्राप्त निवल साधन आय
3) मिश्रित आय का अर्थ है:
   क) एक संयुक्त परिवार की आय
   ख) स्व-रोजगार व्यक्तियों की आय
   ग) मूल्य ह्रास घटाकर सकल राष्ट्रीय उत्पाद
4) एक आगत-निर्गत तालिका में, अन्य उद्योगों के आगतों के रूप में किसी उद्योग के उत्पादन का वितरण दिखाया जाता है:
   क) पंक्ति
   ख) कॉलम
   ग) विकर्णीय अंक

5.5 स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत् की राष्ट्रीय आय में संवृद्धि

भारत की विकास योजनाओं का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य राष्ट्रीय आय में तीव्र गति से वृद्धि करना रहा है। कुल राष्ट्रीय आय के अतिरिक्त हम यह भी जानना चाहेंगे कि क्या प्रति व्यक्ति आय वांछित दर से बढ़ रही है। प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय को जनसंख्या से भाग देने से प्राप्त होती है और यह बताती है कि प्रत्येक व्यक्ति को कितनी आय प्राप्त होगी। यदि सभी व्यक्तियों को बराबर-बराबर आय वितरित कर दी जाये। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि भारत की राष्ट्रीय आय में 1950–51 से क्या-क्या प्रवृत्तियाँ रही हैं। हम आम परम्परा के अनुसार साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुमानों का प्रयोग करेंगे। तालिका 5.2 में 1950-51 से 1980-81 के दौरान भारत की राष्ट्रीय आय में हुए परिवर्तनों को प्रत्येक पाँच वर्ष के अन्तराल में दिखाया गया है।

तालिका 5.2 राष्ट्रीय आय में परिवर्तन (साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद)

वर्ष	चालू कीमतों पर		1970–71 की स्थिर कीमतों पर	
	कुल आय (करोड़ रुपये)	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	कुल आय (करोड़ रुपये)	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)
1	2	3	4	5
1950–51	8,812	246	16,731	466
1955–56	9,262	236	19,953	508
1960–61	13,263	306	24,250	559
1965–66	20,637	426	27,103	559
1970–71	34,235	633	34,235	633
1975–76	62,302	1,026	40,274	664
1980–81	1,06,175	1,564	47,507	700

स्रोत: नेशनल एकाउंट्स स्टैटिक्स, सेन्ट्रल स्टैटिस्टिकल आर्गेनाइजेशन (राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी, केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन)

हम देखते हैं कि चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय 1950–51 में 8,812 करोड़ रुपये से बढ़कर 1980–81 में 1,06,175 करोड़ रुपये हो गई है। इस प्रकार 30 वर्षों के दौरान इसमें 1105 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1980 दशक के प्रारम्भिक वर्षों में राष्ट्रीय आय 1950 दशक के प्रारम्भिक वर्षों की अपेक्षा 12 गुना अधिक हो गई। राष्ट्रीय आय में पहली योजना की अवधि (1950-51 – 1955-56) में अधिक वृद्धि नहीं हुई जबकि उसके बाद पाँच वर्ष की अवधि में इसमें काफी वृद्धि हुई।

चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि से राष्ट्र की आर्थिक संवृद्धि का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह वृद्धि केवल वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि के कारण से ही नहीं हुई है बल्कि उनकी कीमतों में वृद्धि के कारण से भी हुई है। इसलिए भारत की आर्थिक संवृद्धि का अनुमान लगाने के लिए हम वास्तविक आय यानि 1970–71 की कीमतों पर राष्ट्रीय आय में परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं।ये परिवर्तन तालिका 5.2 के कॉलम 3 में दिखाए गए हैं। वास्तविक आय मौद्रिक आय (चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय) की अपेक्षा धीमी गति से बढ़ी है। मौद्रिक आय 12 गुना अधिक हो गई है, जबकि वास्तविक आय लगभग 3 गुना (184 प्रतिशत वृद्धि) ही हुई। मौद्रिक आय में अधिक वृद्धि इस अवधि में कीमतों में तेज़ी से वृद्धि के कारण हुई है।

यदि हम मौद्रिक आय के स्थान पर वास्तविक आय को लें तो विभिन्न पाँच वर्ष की अवधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि का स्वरूप भी भिन्न रहा है। पहली योजना काल में चालू कीमतों पर

राष्ट्रीय आय की अपेक्षा वास्तविक राष्ट्रीय आय में अधिक वृद्धि हुई। इसका कारण इस अवधि में सामान्य कीमत स्तर में गिरावट है। दूसरी योजना काल (1955-56 – 1960-61) में कीमत स्तर में वृद्धि हुई, जिससे चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय वास्तविक राष्ट्रीय आय की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ी। बाद के वर्षों के दौरान यही प्रवृत्ति बनी रही क्योंकि सामान्य कीमत स्तर में लगातार वृद्धि हुई है।

अत: हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में यथोचित वृद्धि हुई लेकिन इतनी नहीं जितनी की चालू कीमतों पर आय के आंकड़ों का अध्ययन करने से लगती है। चालू व स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने तथा उनका विश्लेषण करने से हमें अर्थव्यवस्था में उत्पादन व कीमतों में परिवर्तन दोनों ही की जानकारी प्राप्त हो जाती है। कीमतों में किसी भी दिशा में अत्यधिक परिवर्तन (कमी या वृद्धि) का आर्थिक संवृद्धि पर प्राय: प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह उपयोगी है कि वास्तविक उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ कीमत स्तर में परिवर्तन का भी अध्ययन किया जाए। मौद्रिक और वास्तविक राष्ट्रीय आय के अनुमानों का साथ-साथ अध्ययन करने से यह सम्भव हो जाता है।

तालिका 5.2 में चालू व स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय को भी दिखाया गया है। इसके लिए कॉलम 2 तथा 4 को देखिए। जिस तरह से वास्तविक राष्ट्रीय आय मौद्रिक आय में से कीमत-परिवर्तनों के प्रभाव को निकाल देती है ताकि कुल उत्पादन में परिवर्तन का सही अनुमान लगाया जा सके, उसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय जनसंख्या वृद्धि के प्रभाव को दूर कर देती है जिससे प्रति व्यक्ति वस्तुओं व सेवाओं की उपलब्धि का अनुमान लगाया जा सके। यदि विभिन्न आय-स्तरों में जनसंख्या समान रूप से वितरित हो तो स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि औसत व्यक्तियों के जीवन स्तर में वृद्धि होने का प्रतीक है। आंकड़ों से पता चलता है कि 1950–51 से 1980–81 के दौरान 1970–71 की कीमतों पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद में 184 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि इन्हीं कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय केवल 50 प्रतिशत ही बढ़ी। ऐसा जनसंख्या वृद्धि के कारण हुआ जिसने उत्पादन वृद्धि को काफी हद तक निष्प्रभावित कर दिया जिसके कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि कुल उत्पादन वृद्धि से काफी कम रही। तालिका से यह भी स्पष्ट होता है कि पहली और दूसरी योजनाओं के दौरान स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई, लेकिन तीसरी योजना (1960-61 – 1965-66) में इसमें कोई वृद्धि नहीं हुई। बाद के वर्षों में कुछ वृद्धि हुई, लेकिन यह महत्वपूर्ण नहीं थी। दूसरी ओर यदि हम चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय लें तो हम देखते हैं कि इसमें काफी तेज़ गति से वृद्धि हुई है लेकिन यह वृद्धि भ्रामक है क्योंकि इस वृद्धि का मुख्य कारण कीमतों में वृद्धि ही रहा है, न कि उत्पादन में वृद्धि।

बोध प्रश्न 2

निम्नलिखित में से सही पर (✓) निशान लगाएँ:

1) चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय में स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय से अधिक वृद्धि का कारण:
   क) जनसंख्या वृद्धि है
   ख) मुद्रा-स्फीति है
   ग) विकास दर का धीमा हो जाना है
2) प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा सकल राष्ट्रीय उत्पाद में अधिक वृद्धि का कारण:
   क) जनसंख्या वृद्धि है
   ख) मुद्रा-स्फीति है
   ग) विकास दर का धीमा हो जाना है
3) निम्नलिखित में से कौन-सा तत्व जीवन स्तर का अधिक अच्छा सूचक है:
   क) बाज़ार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद
   ख) साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद
   ग) चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय
   घ) स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय

5.6 राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण में परिवर्तन

तालिका 5.3 में विभिन्न वर्षों में राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण को दिखाया गया है। इसमें हमें इस बात की जानकारी मिल सकेगी कि औपनिवेशिक (स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व) विरासत में प्राप्त उत्पादन ढाँचे में क्या-क्या परिवर्तन आए हैं। यह ध्यान रहे कि हम यहां राष्ट्रीय आय के लिए निवल घरेलू उत्पाद ले रहे हैं क्योंकि विदेशों से प्राप्त आय की उद्योगों के अथवा उत्पादन कारकों के आधार पर जानकारी कठिन है।

घरेलू उत्पादन के उद्योगवार वितरण के अध्ययन के लिए हम अर्थव्यवस्था के उत्पादन क्षेत्र को निम्नलिखित तीन भागों में बांट रहे हैं:

1) प्राथमिक क्षेत्र जिसमें कृषि, पशु-पालन, तथा खनन आदि शामिल हैं,
2) द्वितीयक क्षेत्र जिसमें विनिर्माण, निर्माण तथा सहायक धन्धे सम्मिलित हैं; तथा
3) तृतीयक क्षेत्र जिसमें व्यापार, यातायात, वित्त, सामाजिक कल्याण तथा इस प्रकार की अन्य सेवाएं सम्मिलित हैं।

इन तीनों क्षेत्रों में से प्रत्येक के अंतर्गत विभिन्न उद्योगों को अलग-अलग लिया जा सकता है। आप समझ सकते हैं कि यदि सभी उत्पादन कार्यों को दिखाना चाहें तो उद्योगों की बहुत बड़ी सूची बन जाएगी। अत: हमने तालिका 5.3 में उद्योगों को, सुविधा के लिए, कुछ मुख्य भागों में बांटा है तथा कुल उत्पादन में प्रत्येक उद्योग के प्रतिशत योगदान को दस वर्षों के अन्तर से दिखाया गया है।

तालिका 5.3 निवल घरेलू उत्पाद का उद्योगवार प्रतिशत वितरण

	क्षेत्र	1950–51	1960–61	1970–71	1980–81
	1	2	3	4	5
I	**प्राथमिक क्षेत्र**	**61.3**	**56.6**	**50.0**	**42.6**
1	कृषि	58.7	54.0	47.2	40.3
2	वन उद्योग	1.3	1.1	1.2	0.7
3	मत्स्य	0.6	0.7	0.7	0.6
4	खनन एवं उत्खनन	0.7	0.9	0.9	1.0
II	**द्वितीयक क्षेत्र**	**14.5**	**17.1**	**19.8**	**21.1**
5	विनिर्माण	10.0	12.0	13.6	14.8
6	निर्माण	4.3	4.6	5.3	4.9
7	बिजली, गैस तथा जल-पूर्ति	0.2	0.5	0.9	1.4
III	**तृतीयक क्षेत्र**	**24.2**	**26.3**	**30.2**	**36.3**
8	व्यापार, यातायात आदि	11.6	13.5	15.8	18.4
9	वित्त तथा वास्तविक संपदा	3.5	3.8	4.8	5.9
10	सामुदायिक तथा व्यक्तिगत सेवाएं	9.1	9.0	9.6	12.0
	कुल : निवल घरेलू उत्पाद – (I+ II+ III)	100.0	100.0	100.0	100.0

स्रोत: केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन, राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में प्राथमिक क्षेत्र का निवल घरेलू उत्पाद में सबसे अधिक हिस्सा (61.3 प्रतिशत) था, जिसमें से कृषि का योगदान 58.7 प्रतिशत था। तृतीयक क्षेत्र का योगदान दूसरे स्थान पर (24.2 प्रतिशत) तथा द्वितीयक क्षेत्र का योगदान सबसे कम (14.5 प्रतिशत) था। इस अवधि में भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का इतना अधिक महत्वपूर्ण होना उपनिवेशिता का परिणाम ही कहा जा सकता है।

प्राय: यह देखा गया है कि जब एक अर्थव्यवस्था दूसरी अर्थव्यवस्था पर शासन करती है (यानी अपना उपनिवेश बनाती है) तो वह अपने आर्थिक विकास के लिए हर प्रकार से शासित अर्थव्यवस्था का शोषण करती है। जैसे यहां से कम कीमत पर कच्चा माल (कृषि और/या खनिज – यह उपनिवेश की जलवायु और संसाधनों पर निर्भर है) खरीदना तथा ऊँची कीमतों पर स्वयं द्वारा निर्मित माल को बेचना। इसके लिए शासक अर्थव्यवस्था उपनिवेश (शासित अर्थव्यवस्था) में कृषि व खनिज क्षेत्र, का विकास करती है जबकि औद्योगिक विकास में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। उपनिवेश के अन्दर व्यापार को प्रोत्साहित करती है क्योंकि यह उसके हितों के अनुरूप है लेकिन औद्योगिक उत्पादन को निरुत्साहित करती है। कुछ यातायात साधनों का विकास करती है ताकि वस्तुओं को उपनिवेश से शासक देश को तथा शासक देश से उपनिवेश को तथा उपनिवेश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से लाया ले जाया जा सके। भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में हम देखते हैं कि व्यापार, यातायात आदि से निवल घरेलू उत्पाद का 11.6 प्रतिशत प्राप्त हुआ। जबकि विनिर्माण कार्यों से केवल 10.0 प्रतिशत ही प्राप्त हुआ। विकसित अर्थव्यवस्थाओं के कुल उत्पाद में विनिर्माण क्षेत्र का कहीं अधिक महत्व होता है।

हम देखते हैं कि भारत में आयोजन के 30 वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण में कुछ वांछित परिवर्तन आए हैं। मुख्यतया खेतीहर अर्थव्यवस्था से भारत अब नवीन औद्योगिक राष्ट्र बन रहा है जिसका उत्पादन ढाँचा पहले से अधिक संतुलित है। कुल उत्पादन में कृषि का उत्पादन लगातार घट रहा है। 1950-1951 में यह 58.7 प्रतिशत था जो 1980–81 में घट कर 40.3 प्रतिशत रह गया है, जबकि विनिर्माण का योगदान इस अवधि में 10.0 प्रतिशत से बढ़कर 14.8 प्रतिशत हो गया। तृतीयक क्षेत्र की अनुपातिक वृद्धि (24.20% से 36.30%) द्वितीयक क्षेत्र की वृद्धि (14.5% से 21.1%) से अधिक है।

आपको याद होगा कि हमने ई. ई. सी.-01 के खंड 9 में आर्थिक ढाँचे की विवेचना में आर्थिक संवृद्धि के स्तर तथा राष्ट्रीय आय के उद्योगवार वितरण के बीच संबंध बताया था। सामान्यत: विकसित अर्थव्यवस्थाओं में विनिर्माण उद्योग अधिक विकसित होते हैं जबकि अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाएँ प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता रखती हैं। अत: भारत में उत्पादन स्वरूप में परिवर्तन आर्थिक संवृद्धि के अनुरूप हो रहा है तथा यह विकासवर्धक भी है, लेकिन विनिर्माण क्षेत्र के विकास की दर कुछ धीमी रही है, विशेषकर दूसरी योजना के बाद (1960–61) से।

राष्ट्रीय आय में विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के योगदान में हुए परिवर्तनों के अध्ययन के साथ-साथ यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि क्या रोजगार के स्वरूप में भी इसी प्रकार के परिवर्तन आए हैं। 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था केवल उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं, रोजगार की दृष्टि से भी कृषि प्रधान थी। लगभग 70 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या कृषि में ही लगी हुई थी। 1980 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में यद्यपि कुल राष्ट्रीय आय में कृषि का प्रतिशत योगदान काफी कम हो गया, लेकिन रोज़गार की कार्यशील जनसंख्या अब भी कृषि में लगी हुई है। यह तथ्य महत्वपूर्ण भी है और चिन्ताजनक भी है क्योंकि इसका अर्थ हुआ कि कृषि में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा प्रति व्यक्ति उत्पादिता में वांछित वृद्धि नहीं हुई है और इसलिए लगभग 70 प्रतिशत श्रम-शक्ति अब पचास के दशक की अपेक्षा राष्ट्रीय उत्पादन का कम हिस्सा प्राप्त करती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि क्षेत्र में गैर-कृषि क्षेत्र की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय कम हुई है। 1950–51 में गैर-कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय कृषि क्षेत्र की अपेक्षा 1.5 गुना थी जबकि हाल के वर्षों में यह 3 गुना से भी अधिक हो गई है। प्रति व्यक्ति आय में इतने अंतर होते हुए भी जनसंख्या कृषि क्षेत्र से गैर-कृषि क्षेत्र में नहीं आ रही है या नहीं आ पा रही है। इसका एक कारण यह भी है कि गैर-कृषि क्षेत्र संगठित है जिससे इसमें निर्बाध प्रवेश में बाधा पहुँचती है और इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र का विकास तथा दूसरे रोज़गार प्रदान करने की क्षमता का विकास भी धीमी गति से हुआ है।

बोध प्रश्न 3

1) कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से रिक्त स्थानों में उचित शब्द भरिए:

राष्ट्रीय आय में प्राथमिक क्षेत्र का हिस्सा ..... है जबकि द्वितीयक व

तृतीयक क्षेत्रों का हिस्सा ..... है। इससे पता चलता है कि द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्रों की तुलना में प्राथमिक क्षेत्र में सापेक्ष वृद्धि दर ..... हुई है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि रोजगार में प्राथमिक क्षेत्र का हिस्सा लगभग ..... है, द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्रों की तुलना में प्राथमिक क्षेत्र में सापेक्ष प्रति व्यक्ति आय ..... है।

(घटता हुआ, बढ़ता हुआ, स्थिर, कम, अधिक)

तृतीयक क्षेत्र में निम्नलिखित में से किसको सम्मिलित करेंगे:

क) डेयरी उद्योग

ख) विनिर्माण

ग) बैंक सेवाएं

1980–81 में निवल घरेलू उत्पाद में सबसे अधिक योगदान किस क्षेत्र का था ?

क) प्राथमिक क्षेत्र

ख) द्वितीयक क्षेत्र

ग) तृतीयक सेवा क्षेत्र

5.7 राष्ट्रीय आय का निपटान — उपभोग, बचत तथा विनियोग

इस भाग में हम राष्ट्रीय आय का व्यय की दृष्टि से अध्ययन करेंगे। अर्थात् यह देखेंगे कि राष्ट्रीय आय उपभोग तथा विनियोग पर किस प्रकार से व्यय की जाती है। उपभोग को दो भागों में बाँटा जा सकता है — निजी उपभोग तथा सरकारी उपभोग। विनियोग, जिससे पूँजी निर्माण होता है, को भी कई भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे — स्थिर पूँजी, स्टॉक में वृद्धि आदि। यह जानना भी रुचिकर होगा कि बचत जो पूँजी निर्माण का मुख्य स्रोत है, किस रूप में व कहाँ से प्राप्त होती है।

1950–51 में भारत में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 84.1 प्रतिशत निजी उपभोग पर, 5.3 प्रतिशत सरकारी उपभोग पर तथा 10.6 प्रतिशत सकल राष्ट्रीय पूंजी निर्माण पर व्यय किया गया। भारत जैसी अल्प विकसित अर्थव्यवस्था में, जहां कि श्रम की अधिकता व पूँजी की कमी है, आने वाले वर्षों में उत्पादन (राष्ट्रीय आय) बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान आय का अधिकाधिक भाग उपभोग आवश्यकताओं से बचाकर उसे पूँजी निर्माण में लगाएँ। हम देखते हैं कि 1960–61 में राष्ट्रीय आय का पहले से अधिक भाग (15 प्रतिशत) पूँजी निर्माण में लगाया गया, जिससे राष्ट्रीय आय में उपभोग व्यय का हिस्सा कम हो गया। निजी उपभोग व्यय 1950–51 में राष्ट्रीय आय का 84.1 प्रतिशत था जो 1960–61 में घटकर 77.9 प्रतिशत हो गया। लेकिन सरकारी व्यय के हिस्से में कुछ वृद्धि हुई। यह 1960–61 में 7.1 प्रतिशत हो गया जबकि 1950–51 में यह 5.3 प्रतिशत था। भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्था में इस प्रकार की प्रवृत्ति आशा के अनुरूप ही है।

अब हम भारत में उपभोग, पूँजी निर्माण व बचत के उपलब्ध अनुमानों का अध्ययन करेंगे ताकि उनके ढाँचे तथा उनमें होने वाले संभावित परिवर्तनों का विश्लेषण किया जा सके।

5.7.1 उपभोग

अब हम निजी उपभोग व्यय के ढाँचे (तालिका 5.4 देखिए) का (दस-दस वर्षों के अंतराल को लेकर) विवेचन करेंगे क्योंकि यह कुल उपभोग व्यय का एक मुख्य घटक है। पिछले तीन दशकों के दौरान कुल निजी उपभोग व्यय में 178 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि खाद्य पदार्थों पर व्यय में केवल 142% की वृद्धि हुई। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि गैर-खाद्य पदार्थों पर व्यय का प्रतिशत लगातार बढ़ रहा है जबकि खाद्य पदार्थों पर किया गया व्यय घट रहा है। उदाहरण के लिए खाद्य पदार्थों पर व्यय कुल व्यय का 1950–51 में 73.5 प्रतिशत था जो कम होकर 1980–81 में 64.0 प्रतिशत रह गया। बाद के दशकों में आनुपातिक गिरावट अधिक रही। निजी उपभोग व्यय के स्वरूप में इस प्रकार के परिवर्तन विकसित अर्थव्यवस्थाओं में हुए परिवर्तनों के समरूप हैं। इससे पता चलता है कि जैसे-जैसे जीवन-स्तर ऊंचा उठता है खाद्य पदार्थों पर प्रतिशत व्यय कम होता जाता है। लेकिन यह बात समझ में नहीं आती कि

भारत जैसी विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में ईंधन व बिजली पर प्रतिशत व्यय में कमी क्यों हुई। यह प्रवृत्ति औद्योगीकरण प्रक्रिया के अनुरूप भी नहीं है जो कि हमारी योजनाओं ने आरम्भ की है।

यदि उपभोग के स्वरूप में परिवर्तन का अध्ययन स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय के आधार पर किया जाए तो भी उसी प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं। 1950–51 से 1979–80 के दौरान स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय में खाद्य पदार्थों पर व्यय 12 प्रतिशत, किराये पर 17 प्रतिशत घरेलू साज-सामान पर 125 प्रतिशत तथा स्वास्थ्य व चिकित्सा पर 239 प्रतिशत से बढ़ा। मोटे तौर पर देखा जाय तो निजी उपभोग व्यय के ढाँचे में परिवर्तन प्रगतिशील मालूम होते हैं और रहन-सहन के उन्नत स्तर के अनुरूप हैं। लेकिन फिर ईंधन व बिजली की स्थिति चिन्ताजनक है।

लेकिन यह संभव है कि गैर-खाद्य पदार्थों के लिए प्रतिशत व्यय में वृद्धि बढ़ती हुई असमानताओं के कारण हुई हो, क्योंकि यद्यपि खाद्य पदार्थों के लिए आय माँग की लोच इकाई से कम है लेकिन यह निर्धन वर्ग की अपेक्षा सम्पन्न वर्ग के लिए और भी कम है। दूसरी ओर, गैर-खाद्य पदार्थों के लिए आय माँग की लोच इकाई से अधिक है। अत: यदि कुल आय में सम्पन्न वर्ग की आय का हिस्सा बढ़ता जाता है तो इससे पदार्थों/वस्तुओं पर व्यय का अनुपात बढ़ जायेगा और यह तभी होगा जब निर्धनता की रेखा से नीचे व्यक्तियों की संख्या अधिक हो जैसा कि हम पिछली इकाई में देख चुके हैं।

तालिका 5.4 निजी उपभोग व्यय (1970–71 की कीमतों पर)

मद	1950–51		1960–61		1970–71		1980–81	
	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1 खाद्य पदार्थ, पेय व तम्बाकू	10,816	73.5	15,341	72.4	20,397	68.4	26,199	64.0
2 वस्त्र व जूते	680	4.6	1,269	6.0	2,121	7.1	3,729	9.1
3 ईंधन व बिजली	748	5.1	793	3.7	1,033	3.5	1,296	3.2
4 सकल किराया	482	3.3	756	3.6	1,061	3.6	1,481	3.6
5 फर्नीचर, घरेलू साज-समान	323	2.2	495	2.3	890	3.0	1,439	3.5
6 अन्य	1,659	11.3	2,549	12.0	4,336	14.5	6,782	16.6
कुल	14,708	100.0	21,203	100.0	29,838	100.0	40,926	100.0

स्रोत: केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन, स्टैटिस्टिकल अब्सट्रेक्ट ऑफ इंडिया, 1984.

5.7.2 पूँजी निर्माण

अब हम पूँजी-निर्माण को लेते हैं, यह आर्थिक विकास के लिये निर्णायक माना गया है। सकल घरेलू पूँजी निर्माण (GDCF) को दो भागों में बाँटा गया है — सकल घरेलू स्थिर पूँजी निर्माण (GDFCF) तथा स्टॉक में परिवर्तन। स्थिर कीमतों पर पिछले तीस वर्षों के दौरान सकल घरेलू पूँजी निर्माण में वृद्धि 329% हुई जो इसी अवधि में वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर से अधिक है। स्टॉक निवेश में 625 प्रतिशत से वृद्धि हुई जबकि सकल घरेलू स्थिर पूँजी निर्माण में 289 प्रतिशत से वृद्धि हुई। लेकिन सकल घरेलू पूँजी निर्माण में निश्चित रूप से स्थिर पूँजी का ही भाग अधिक है। इसके हिस्से में 30 वर्षों के दौरान काफी उतार-चढ़ाव आए हैं, इसका हिस्सा 1950–51 में 85.8 प्रतिशत से घटकर 1960–61 में 83.3 प्रतिशत हो

गया। 1970–71 में यह बढ़कर 85.9 प्रतिशत हो गया तथा 1980–81 में फिर से गिरकर 80.0 प्रतिशत रह गया।

5.7.3 घरेलू बचत

अब हम घरेलू बचत, जो पूँजी निर्माण का मुख्य स्रोत है, का अध्ययन करेंगे। तालिका 5.5 में घरेलू बचत के स्वरूप को दिखाया गया है। इसमें घरेलू बचत को परिवार, निगम व सार्वजनिक क्षेत्र की बचतों के रूप में दिखाया गया है। भारत में घरेलू बचत में सबसे अधिक योगदान पारिवारिक क्षेत्र का है। 1950–51 में इसका योगदान 74.3 प्रतिशत था जो 1980–81 में बढ़कर 81.6 प्रतिशत हो गया। दूसरी ओर, सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा इसी अवधि में 18.9 प्रतिशत से घटकर 12.8 प्रतिशत रह गया। इसका अर्थ यह हुआ, यद्यपि हमने जान-बुझकर विकास के लिए उन योजनाओं का सहारा लिया जिसमें सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण थी, फिर भी सार्वजनिक क्षेत्र पूंजी निर्माण के लिए पर्याप्त मात्रा में बचत करने में असफल रहा है। निजी निगमित क्षेत्र का योगदान भी बहुत कम है तथा इसके योगदान में इन तीस वर्षों में और भी कमी आई है। अत: पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद पूंजी निर्माण के लिए हम मुख्य रूप से पारिवारिक क्षेत्र की बचत पर ही निर्भर करते हैं। इस क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र कोई विशेष योगदान नहीं कर सका।

तालिका 5.5 भारत में घरेलू बचत की संरचना

मद	1950–51		1960–61		1970–71		1980–81	
	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल (करोड़ रुपये)	प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1 पारिवारिक क्षेत्र	484	74.3	901	67.9	3,539	77.5	17,127	81.6
2 निजी निगमित क्षेत्र	44	6.8	117	8.8	223	4.9	1,182	5.6
3 सार्वजनिक क्षेत्र	123	18.9	309	23.3	804	17.6	2,678	12.8
4 कुल निवल घरेलू बचत	651	100.0	1,327	100 0	4,566	100.0	20,988	100.0

स्रोत: केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन, स्टैटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट ऑफ इंडिया, 1984.

बोध प्रश्न 4

1) बताइए कि निम्नलिखित वाक्य सही हैं या गलत:
   क) राष्ट्रीय आय में उपभोग व्यय का हिस्सा पिछले कुछ वर्षों से घट रहा है।
   ख) घरेलू बचत में पारिवारिक क्षेत्र का सबसे अधिक योगदान है।
   ग) सकल घरेलू स्थिर पूंजी निर्माण की अपेक्षा स्टॉक निवेश में अधिक वृद्धि हुई है।

2) 1950–51 की तुलना में 1980–81 में उपभोग के स्वरूप में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों के बारे में (चार वाक्य) लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3) 1950–51 से 1980–81 के दौरान पारिवारिक क्षेत्र की बचत की प्रवृत्ति (तीन वाक्यों में) बताइए।

.....

5.8 अंत: उद्योग आगत-निर्गत लेन-देन योजना (Inter-Industry Input- Output Transactions Scheme)

हम देख चुके हैं कि अंत:उद्योग आगत-निर्गत लेखा विधि तथा राष्ट्रीय आय लेखा विधि में नजदीकी संबंध है। इनके लिए एक ही प्रकार के प्राथमिक आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है तथा उनका प्रयोग भी लगभग एक समान किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जैसे कि राष्ट्रीय आय की संरचना से अर्थव्यवस्था के ढांचे के कुछ पहलुओं की जानकारी मिलती है, वैसे ही विभिन्न उद्योगों के बीच आगत-निर्गतों की लेन-देन से अर्थव्यवस्था के उत्पादन-तंत्र की कुछ विशेषताओं के बारे में पता चलता है। भारत में 1950 के दशक से आगत-निर्गत तालिकाएं बनानी प्रारंभ की गई हैं। विभिन्न व्यक्तियों तथा संगठनों ने अनेक आगत-निर्गत तालिकाएँ बनाई। इन तालिकाओं को बनाने में समान विधियों का प्रयोग नहीं किया गया है। इसलिए न तो इनकी एक-दूसरे से तुलना की जा सकती है और न ही बाद में बनने वाली तालिकाओं से। चूँकि विभिन्न उद्योगों के बीच लेन-देन दिखाने वाली तालिकाओं (आगत-निर्गत तालिकाओं) का आयोजन के लिए अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है, अत: केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन तथा अन्य संगठन इन तालिकाओं को बनाने के लिए अधिक व्यवस्थित तथा समन्वित ढंग से कार्य कर रहे हैं।

1968–69 तथा 1973–74 वर्षों के लिए भारत के आगत-निर्गत लेन-देन तालिकाओं की मुख्य विशेषताओं के आधार पर हम उत्पादन तंत्र के ढांचे से संबंधित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। दोनों वर्षों की तालिकाएँ केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (C.S.O.) द्वारा बनाई गई हैं जिससे दोनों के बीच तुलना संभव है। फिर भी, 1968–69 वर्ष के लिए बनाई गई तालिका अधिक विस्तृत है क्योंकि इसमें 230 उत्पादन क्षेत्रों को लिया गया है जबकि 1973–74 वर्ष की तालिका में केवल 115 क्षेत्रों को ही लिया गया था।

तालिका 5.6 में विस्तृत आगत-निर्गत लेन-देन तालिका को मोटे तौर पर सकल घरेलू उत्पाद के उद्योगवार वर्गीकरण के अनुरूप संकलन करके दिखाया गया है। इस तालिका में 1973–74 के वास्तविक आगत-निर्गत स्तर को दिखाया गया है लेकिन तालिका 5.7 में इसी वर्गीकरण के आधार पर 1968–69 तथा 1973–74 वर्षों के अंत:उद्योग लेन-देन की तुलना की गई है। विस्तृत आगत-निर्गत तालिका के 1 से 32 तक के क्षेत्र प्राथमिक क्षेत्र से संबंध रखते हैं, 33 से 102 तक के क्षेत्र द्वितीयक क्षेत्र में आते हैं, 103 से 108 तक के क्षेत्र यातायात, संचार तथा व्यापार के हैं तथा शेष 109 से 114 तक अन्य सेवाएं हैं। बैंकिंग, बीमा तथा वास्तविक संपदा इसमें सम्मिलित हैं लेकिन सार्वजनिक प्रशासन तथा सुरक्षा को एक अलग क्षेत्र के रूप में लिया गया है।

5.8.1 आगत-ढाँचा

तालिका 5.6 में, कॉलम (8) और (9) का योग करने से अर्थव्यवस्था में कुल पूर्ति की जानकारी प्राप्त होती है जबकि अंतिम मांग कॉलम 9 में दिखाई गई है। आधारभूत अंत:उद्योग तालिका में कॉलम (3) से कॉलम (7) तथा पंक्ति 1 से 5 तक सम्मिलित हैं। सार्वजनिक प्रशासन तथा सुरक्षा क्षेत्र को इसमें नहीं दिखाया गया है, क्योंकि इसके समस्त उत्पादन का अंतिम रूप से उपभोग इसी क्षेत्र में हो जाता है। इसमें मध्यवर्ती आगत भी नहीं है। परिणामस्वरूप इसका कुल निर्गत (उत्पादन) इसकी सकल मूल्यवृद्धि के बराबर है (तालिका 5.6 के कॉलम (7) तथा पंक्ति (5) को देखिए)। आधारभूत अंत:उद्योग तालिका के विकर्णीय अंक एक क्षेत्र की उन वस्तुओं और सेवाओं को दर्शाता है जिनका उत्पादन व उपभोग उसी क्षेत्र में हुआ है। प्राथमिक व द्वितीयक क्षेत्रों में ऐसी वस्तुओं व सेवाओं का भाग 1973–74 में क्रमश: 44.4 प्रतिशत तथा 69.0 प्रतिशत तथा 1968–69 में क्रमश: 54.5 प्रतिशत तथा 68.5 प्रतिशत थे। 1973–74 में प्राथमिक क्षेत्र के आगत 47.6 प्रतिशत द्वितीयक क्षेत्र में तथा

तालिका 5.6: अंत:उद्योग लेन-देन: 1973-74

(करोड़ रुपये में)

क्रम सं.	क्षेत्र/मद	प्राथमिक	द्वितीयक	यातायात संचार व व्यापार	अन्य सेवाएँ	सरकारी प्रशासन व सुरक्षा	कुल मध्यवर्ती प्रयोग	कुल अंतिम प्रयोग	कुल निर्गत
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1	प्राथमिक	5885	6317	1053	13	—	13268	22521	35789
2	द्वितीयक	1729	9644	1350	1259	—	13982	18631	32613
3	यातायात, संचार व व्यापार	519	3301	1333	356	—	5509	7558	13067
4	अन्य सेवाएँ	121	824	274	138	—	1357	5797	7154
5	सरकारी प्रशासन व सुरक्षा	—	—	—	—	—	—	2221	2221
6	कुल आगत	8254	20086	4010	1766	—	34116	56728	90844
7	निवल अप्रत्यक्ष कर	251	2144	486	126	—	3007	2161	5168
8	सकल मूल्य वृद्धि	27259	10409	8571	5262	2221	53721	—	53721
9	कुल निर्गत	35764	32638	13067	7154	2221	90844	58889	—

स्रोत: कॉलम (10) तथा पंक्ति (9) में अंक एक समान नहीं है क्योंकि कॉलम में उद्योग दिखाए गए हैं, जबकि पंक्तियों में वस्तुएँ दिखाई गई हैं।

तालिका 5.7 अंत:उद्योग लेन-देन 1968-69 और 1973-74

(प्रतिशत)

क्रम सं.	क्षेत्र/मद	वर्ष	प्राथमिक	द्वितीयक	यातायात, संचार व व्यापार	अन्य सेवाएं	कुल मध्यवर्ती प्रयोग
1	2	3	4	5	6	7	8
1	प्राथमिक	1968-69	54.5	41.5	3.8	0.2	100.0
		1973-74	44.4	47.6	7.9	0.1	100.0
2	द्वितीयक	1968-69	10.4	68.5	11.0	10.1	100.0
		1973-74	12.4	69.0	9.6	9.0	100.0
3	यातायात, संचार व व्यापार	1968-69	8.1	67.4	16.8	7.7	100.0
		1973-74	9.4	59.9	24.2	6.5	100.0
4	अन्य सेवाएँ	1968-69	14.9	37.6	36.8	10.7	100.0
		1973-74	8.9	60.7	20.2	10.2	100.0
5	कुल आगत	1968-69	25.7	57.1	10.9	6.3	100.0
		1973-74	24.2	58.9	11.7	5.2	100.0
6	निवल अप्रत्यक्ष कर	1968-69	7.1	61.2	27.3	4.4	100.0
		1973-74	8.3	71.3	16.2	4.2	100.0

7.9 प्रतिशत व्यापार, यातायात व संचार क्षेत्रों में प्रयोग में लाए गए। अन्य सेवा क्षेत्र में इसके आगतों का प्रयोग लगभग शून्य रहा। द्वितीयक क्षेत्र के उत्पादों का मध्यवर्ती प्रयोग "प्राथमिक", "यातायात, संचार व व्यापार" तथा अन्य सेवाओं में क्रमश: 1/8, 1/10, तथा 1/11 रहा। "यातायात, संचार व व्यापार" तथा "अन्य सेवा" क्षेत्रों की मध्यवर्ती सेवाओं का आगत के रूप में प्रयोग द्वितीयक क्षेत्र में लगभग 60 प्रतिशत तथा प्राथमिक क्षेत्र में लगभग 18 प्रतिशत किया गया। 1973-74 में मध्यवर्ती आगतों पर निवल अप्रत्यक्ष करों का अधिकतर भाग (71.3 प्रतिशत) द्वितीयक क्षेत्र से प्राप्त हुआ।

तालिका 5.8 विभिन्न क्षेत्रों में आगतों का प्रतिशत वितरण 1968–69 तथा 1973–74

क्रम. सं.	क्षेत्र/मद	वर्ष	प्राथमिक	द्वितीयक	यातायात, संचार व व्यापार	अन्य सेवाएं	कुल मध्यवर्ती प्रयोग
1	2	3	4	5	6	7	8
1	प्राथमिक	1968–69	17.8	15.4	3.5	0.3	12.9
		1973–74	16.5	19.4	8.1	0.2	14.6
2	द्वितीयक	1968–69	4.1	31.2	12.4	18.1	15.9
		1973–74	4.8	29.5	10.3	17.6	15.4
3	यातायात, संचार व व्यापार	1968–69	1.2	11.7	7.1	5.2	6.0
		1973–74	1.5	10.1	10.2	5.0	6.1
4	अन्य सेवाएँ	1968–69	0.8	2.3	5.3	2.5	2.0
		1973–74	0.3	2.5	2.1	1.9	1.5
5	कुल आगत	1968–69	23.9	60.6	28.3	26.1	36.8
		1973–74	23.1	61.5	30.7	24.7	37.6
6	निवल अप्रत्यक्ष कर	1968–69	0.5	5.1	5.6	1.4	2.9
		1973–74	0.7	6.6	3.7	1.8	3.3
7	सकल मूल्य वृद्धि	1968–69	75.6	34.3	66.1	72.5	60.3
		1973–74	76.2	31.9	65.6	73.5	59.1
8	कुल निर्गत	1968–69	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0
		1973–74	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

तालिका 5.9 निर्गत के अंतिम प्रयोग का उद्देश्यानुसार प्रतिशत वितरण: 1968–69 और 1973–74

(प्रतिशत)

क्रम. सं.	क्षेत्र	वर्ष	निजी उपभोग व्यय	सरकारी उपभोग व्यय	सकल स्थिर पूँजी निर्माण	स्टॉक में परिवर्तन	निर्यात	घटा कर आयात	कुल अंतिम प्रयोग
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1	प्राथमिक	1968–69	101.2	0.5	0.3	0.4	1.8	4.2	100.0
		1973–74	99.5	0.4	0.3	3.3	1.6	5.1	100.0
2	द्वितीय	1968–69	49.2	4.9	48.3	1.6	8.8	12.8	100.0
		1973–74	44.6	5.8	42.6	7.3	8.9	9.2	100.0
3	यातायात, संचार व व्यापार	1968–69	79.7	8.0	5.6	—	8.2	1.5	100.0
		1973–74	79.7	5.9	7.1	—	8.5	1.2	100.0
4	अन्य सेवाएँ	1968–69	79.4	20.5	—	—	0.4	0.3	100.0
		1973–74	79.4	20.6	—	—	—	—	100.0
5	सरकारी प्रशासन व सुरक्षा	1968–69	—	100.0	—	—	—	—	100.0
		1973–74	—	100.0	—	—	—	—	100.0
6	कुल आगत	1968–69	76.2	9.2	15.3	0.6	4.5	5.8	100.0
		1973–74	72.9	8.9	15.0	3.7	4.7	5.2	100.0
7	निवल अप्रत्यक्ष कर	1968–69	65.7	7.4	18.9	—	8.0	—	100.0
		1973–74	76.0	2.8	20.5	—	0.7	—	100.0
8	कुल निर्गत	1968–69	75.8	9.1	15.4	0.6	4.6	5.5	100.0
		1973–74	73.0	8.7	15.2	3.6	4.5	5.0	100.0

स्रोत: कॉलम 10-कॉलम 4 से 8 तक का कुल जोड़ घटा कॉलम 9

तालिका 5.8 में विभिन्न क्षेत्रों के आगत ढाँचे को दिखाया गया है। प्राथमिक क्षेत्र में उत्पादन के लिए आगत आवश्यकताओं में बहुत कम कमी हुई है। इसमें आगत प्रतिशत 1968–69 में 23.9 से घटकर 1973–74 में 23.1 हो गया। 1973–74 में प्राथमिक क्षेत्र के कुल उत्पादन का तीन-चौथाई (3/4 भाग) से अधिक भाग "सकल मूल्य वृद्धि" के रूप में था। दूसरी ओर, द्वितीयक क्षेत्र की आगत आवश्यकता में थोड़ी वृद्धि हुई है। ये 1968–69 में 60.6 प्रतिशत से बढ़कर 1973–74 में 61.5 प्रतिशत हो गई। 1973–74 में इस क्षेत्र की "सकल मूल्य वृद्धि" इसके कुल उत्पादन का 31.9 प्रतिशत थी। "यातायात, संचार व व्यापार" क्षेत्र के "मध्यवर्ती आगत" 1973–74 में लगभग 31 प्रतिशत थे जबकि 1968–69 में ये 28.3 प्रतिशत थे। इस क्षेत्र में "सकल मूल्य वृद्धि" उत्पादन का दो-तिहाई (2/3) भाग था। "अन्य सेवा" क्षेत्र में "सकल मूल्य वृद्धि" इसके कुल उत्पादन का तीन-चौथाई (3/4) भाग था।

5.8.2 अंतिम माँग का वर्गीकरण

तालिका 5.7 में 1968–69 तथा 1973–74 वर्षों के लिए अंतिम माँग के विभिन्न घटकों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। "प्राथमिक" तथा "अन्य सेवा" क्षेत्रों में वस्तुओं और सेवाओं की लगभग समस्त अंतिम मांग केवल उपभोग के लिए की गई है। दोनों वर्षों में यही स्थिति थी। आयातों को समरूप घरेलू क्षेत्रों की ऋणात्मक निर्गत माना गया है, अर्थात् घरेलू क्षेत्रों के कुल उत्पादन में से आयात को घटाया गया है। 1973–74 में प्राथमिक क्षेत्र की वस्तुओं का आयात अन्तिम व्यय का 5.1 प्रतिशत तथा इनका निर्यात कुल अंतिम व्यय का 1.6 प्रतिशत किया गया। यहां हम एक खुली अर्थव्यवस्था (एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसका विदेशों से लेन-देन हो, जिसमें आयात, निर्यात किया जाए) के संदर्भ में चर्चा कर रहे हैं।

द्वितीयक क्षेत्र से अंतिम प्रयोग के लिए खरीदी गई वस्तुओं में निजी उपभोग व्यय का हिस्सा 1968–69 में 49.2 प्रतिशत था जो घटकर 1973–74 में 44.6 प्रतिशत रह गया। सकल स्थिर पूंजी निर्माण के संदर्भ में भी ऐसा ही हुआ है। द्वितीयक क्षेत्र में इसका हिस्सा 1973–74 में 42.6 प्रतिशत था जब कि 1968–69 में यह 48.3 प्रतिशत था। दूसरी ओर, इन दो वर्षों में, "सरकारी उपभोग व्यय" तथा "स्टॉक में परिवर्तन" के हिस्सों में वृद्धि हुई है। इसी अवधि में आयात का हिस्सा कम हुआ है (1968–69 में 12.8 प्रतिशत था जो कम होकर 1973–74 में 9.2 प्रतिशत रह गया) जबकि निर्यात का हिस्सा इन दो वर्षों में लगभग स्थिर रहा।

बोध प्रश्न 5

1) आधारभूत अंत:उद्योग तालिका में "सरकारी प्रशासन तथा सुरक्षा" सम्मिलित क्यों नहीं है? (उत्तर एक वाक्य में दीजिए)

.....

.....

2) आधारभूत अंत:उद्योग तालिका के विकर्णीय अंक क्या दिखाता है? (उत्तर एक वाक्य में दीजिए)

.....

.....

3) तालिका 5.7 में कौन-सी पंक्तियाँ तृतीयक क्षेत्र को दिखाती हैं? कौन-सा क्षेत्र "तृतीयक क्षेत्र" की सेवाओं का आगत के रूप में सबसे अधिक प्रयोग करता है? (उत्तर दो वाक्यों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

5.9 सारांश

राष्ट्रीय आय तथा इसके उद्योगवार वितरण से अर्थव्यवस्था के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इससे पता चलता है कि दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था किस दिशा में जा रही है। भारत में राष्ट्रीय आय का सबसे बड़ा स्रोत प्राथमिक क्षेत्र है। यद्यपि राष्ट्रीय आय में इस क्षेत्र का प्रतिशत अब धीरे-धीरे कम हो रहा है लेकिन रोजगार में अभी भी इसका वही स्थान बना हुआ है। प्रयोग के आधार पर राष्ट्रीय आय के वर्गीकरण से पता चलता है कि पूँजी निर्माण के लिए हम राष्ट्रीय आय का पहले की अपेक्षा अधिक हिस्सा प्रयोग में लाते हैं। यद्यपि इसमें वृद्धि का एक कारण स्टॉक के संचय में वृद्धि है, क्योंकि स्टॉक में वृद्धि "स्थिर पूँजी निर्माण" की अपेक्षा अधिक तेजी से हुई है। अन्त में, जैसा कि अंत:उद्योग आगत-निर्गत लेन-देन तालिका से स्पष्ट है, अर्थव्यवस्था में प्राथमिक, द्वितीयक व सेवा क्षेत्रों के आपसी संबंधों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

5.10 शब्दावली

मूल्य ह्रास: इससे अभिप्राय: मशीन व अन्य स्थिर साज-सामान के मूल्य में कमी से है जो सामान्यतया उत्पादन प्रक्रिया के अंतर्गत हुई टूट-फूट के कारण होती है। इसको पूँजी उपभोग भत्ता भी कहते हैं।

दोहरी गणना: राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय मध्यवर्ती पदार्थों या आगतों के मूल्यों को सम्मिलित कर लिया जाता है तो राष्ट्रीय आय में दोहरी गणना की समस्या उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए यदि मोटर-गाड़ी का मूल्य तथा उसमें लगे हुए लोहे दोनों को सम्मिलित कर लिया जाए तो लोहे का मूल्य दो बार सम्मिलित हो जाएगा। इस समस्या से बचने के लिए या तो केवल अंतिम वस्तुओं को ही सम्मिलित करना चाहिए या फिर प्रत्येक उद्योग द्वारा (उत्पादन क्षेत्र) की गई "मूल्य वृद्धि" को ही शामिल किया जाना चाहिए।

मूल्य वृद्धि: यह उत्पादन के मूल्य तथा उन पदार्थों के उत्पादन में प्रयोग किए गए मध्यवर्ती माल के मूल्य के बीच का अंतर है। उदाहरण के लिए एक मोटरगाड़ी के निर्माता की मूल्य वृद्धि गाड़ी के मूल्य तथा उसके लिए प्रयोग किए गए लोहे, शीशे, रबड़ आदि कच्चे माल के मूल्य का अंतर है।

5.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल ए. एन.: **भारतीय अर्थव्यवस्था —विकास एवं आयोजन**, अध्याय 12–14, 1988 नई दिल्ली, वाइली इस्टर्न लिमिटेड

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण: **भारतीय अर्थशास्त्र**, अध्याय 51, 1989, आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल

रुद्रदत्त एवं के. पी. एम. सुंदरम: **भारतीय अर्थव्यवस्था**, अध्याय 5, 1989, नई दिल्ली, एस. चांद एवं कम्पनी

Central Statistical Organisation, *"National Accounts Statistics, Input–Output Transactions Table 1973–74"*, Department of Statistics, Ministry of Planning, Government of India.

Hicks, J.R., M. Mukherjee and S.K. Ghosh (1987), *"Framework of The Indian Economy, An Introduction to Economics"*, Oxford University Press, New Delhi

Rao, V.K.R.V. (1983), *"India's National Income – 1950–1980"*, Sage Publications, New Delhi.

5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (क)
2) (ख)
3) (ख)
4) (क)

बोध प्रश्न 2

1) (ख)
2) (क)
3) (घ)

बोध प्रश्न 3

1) घटता हुआ, बढ़ता हुआ, कम, स्थिर, घटती हुई
2) (ग)
3) (क)

बोध प्रश्न 4

1) (क) सही
   (ख) सही
   (ग) सही
2) भाग 5.7 तथा 5.7.1 पढ़िए। पढ़कर समस्त व्यय में कुल उपभोग व्यय के हिस्से तथा इसकी विभिन्न मदों की जानकारी प्राप्त कीजिए। तालिका 5.4 भी देखिए।
3) भाग 5.7.3 तथा तालिका 5.5 पढ़िए।

बोध प्रश्न 5

1) भाग 5.8.1 के प्रथम पैरा को पढ़कर उत्तर दीजिए।
2) भाग 5.8.1 के प्रथम पैरा को ही पढ़कर उत्तर प्राप्त कीजिए।
3) भाग 5.8.1 के दूसरे पैरा को पढ़कर उत्तर दीजिए।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-02

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास

खंड

3

प्राकृतिक और मानव संसाधन

इकाई 6

प्राकृतिक संसाधन — भूमि के ऊपर तथा भूमिगत 5

इकाई 7

जनसांख्यिकीय प्रवृत्तियाँ और जनसंख्या नीति 28

खंड 3 का परिचय

इस खंड में विद्यार्थियों को हमारे देश के प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों प्रकार के संसाधनों के स्वरूप से परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। प्राकृतिक संसाधनों में कुछ तो ऐसे हैं जो भूमि के ऊपर उपलब्ध होते हैं और कुछ भूमिगत रूप में। मानव संसाधनों में देश की जनसंख्या, श्रम शक्ति तथा उनका स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कुशलता की चर्चा की जाएगी।

इस खंड की इकाई 6 में भूमि के ऊपर तथा भूमिगत दोनों प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों के स्वरूप की चर्चा की गई है। अगली इकाई अर्थात् इकाई 7 में जनसंख्या की स्थिति, समयानुसार विकास प्रवृति तथा इसका स्वरूप और उससे संबंधित नीतियों के बारे में बताया गया है।

यह खंड उन सभी विद्यार्थियों के लिए है जिन्होंने गौण अथवा मुख्य विषय के रूप में अर्थशास्त्र विषय लिया है। वे विद्यार्थी जो अर्थशास्त्र को मुख्य विषय के रूप में पढ़ रहे हैं उनके लिए अलग से परिशिष्ट होंगे। सभी खंडों के परिशिष्टों को एक अलग खण्ड (Volume) में प्रस्तुत किया जाएगा और मुख्य विषय के रूप में अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को उस खण्ड को पढ़ना होगा और उसी के आधार पर मूल्यांकन के लिए तैयार रहना होगा, ताकि वे दो अतिरिक्त क्रेडिट (credits) हासिल कर सकें।

इकाई 6 प्राकृतिक संसाधन – भूमि के ऊपर तथा भूमिगत

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 प्रमुख भौगोलिक कारक
  6.2.1 वर्षा
  6.2.2 मिट्टी (मृदा)
  6.2.3 स्थलाकृति
6.3 कृषि संसाधन
  6.3.1 खाद्यान्न
  6.3.2 वाणिज्यिक फसलें
  6.3.3 बागवानी
  6.3.4 बागान फसलें
6.4 भूमि के ऊपर गैर-कृषि संसाधन
  6.4.1 पशुपालन तथा डेयरी (Dairying) उद्योग
  6.4.2 मत्स्यपालन (मछली पालन)
  6.4.3 वानिकी
6.5 भूमि के ऊपर संसाधनों के विकास में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन असंगतियाँ
6.6 "भूमिगत संसाधन"—खनिजों की आर्थिक भूमिका
  6.6.1 आवश्यक तथा बुनियादी आवश्यकताओं के रूप में
  6.6.2 टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में
  6.6.3 विनिमय तथा मौलिक प्रवाह की मदों के रूप में
6.7 संसाधनों के रूप में खनिजों के विशिष्ट लक्षण
6.8 ऊर्जा खनिजों के लिए विशेष परिस्थितियाँ
6.9 खनिज: क्षेत्रीय वितरण और क्षमता (Potential)
6.10 खनिजों के दोहन का स्वरूप (Pattern)
  6.10.1 औपनिवेशिक विरासत (legacy)
  6.10.2 विकासशील ढाँचा
  6.10.3 खनिज नीति का तर्काधार
6.11 सारांश
6.12 शब्दावली
6.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- अपने देश की भौगोलिक स्थितियों के अर्थात् मृदा, वर्षा, तापमान आदि के वितरण के उपमहाद्वीपीय आयामों की पहचान कर सकेंगे। ये परिस्थितियां ही अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीकरण की पूर्व शर्तें होती हैं;
- यह चर्चा कर सकेंगे कि ये कारक किस प्रकार भूमि के ऊपर के संसाधनों के उत्पादन को प्रभावित करते हैं;
- यह बता सकेंगे कि भूमि के ऊपर के इन संसाधनों की उत्पादिता में वृद्धि करने के लिए क्या कुछ किया गया है और आगे क्या कुछ करने की जरूरत है;
- भूमि के ऊपर के इन संसाधनों के विकास में निहित अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन असंगतियों के बीच अंतर कर सकेंगे;

- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत में विभिन्न खनिजों के आर्थिक महत्व को बता सकेंगे;
- संसाधन-विकास में खनिजों के विशिष्ट लक्षणों के बीच भेद कर सकेंगे;
- ऊर्जा खनिजों की विशिष्ट स्थिति तथा उसके स्थान पर अन्य ऊर्जा स्रोतों की प्रतिस्थापना की संभावनाओं को बता सकेंगे; तथा
- यह बता सकेंगे कि राष्ट्रीय खनिज अर्थव्यवस्था, विनिमय के माध्यम से विश्व तथा क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करती है और उनसे कैसे प्रभावित होती है।

6.1 प्रस्तावना

भारत का क्षेत्रफल विश्व के कुल क्षेत्रफल का मात्र 2.4 प्रतिशत है। किंतु जलवायु संबंधी इसके लक्षण इतने व्यापक और भिन्नता लिए हुए हैं कि वे इसे एक महाद्वीपीय आयाम प्रदान करते हैं। एक ओर इसका पूर्वोत्तर भाग है जिसमें विश्व में सबसे ज्यादा वर्षा होती है अर्थात् वहाँ प्रतिवर्ष 1000 से.मी. से भी अधिक वर्षा होती है। दूसरी ओर उत्तर-पश्चिम का क्षेत्र है जिसके कुछ हिस्से हमेशा पानी के लिए तरसते रहते हैं क्योंकि वहाँ वर्ष भर में मात्र 5–10 से. मी. ही वर्षा होती है। ऐसी जगह शायद ही कोई वनस्पति उगती हो। वहाँ आपको चारों ओर सुनसान रेगिस्तान ही नज़र आएगा। भारत के दक्षिणी भाग में 7517 कि. मी. लंबी तट रेखा है। वहाँ आपको समुद्र की लहरों का गर्जन ही सुनाई देगा। इसके उत्तरी भाग में पूरे वर्ष बर्फ से ढकी रहने वाली पर्वतमालाएँ हैं, जिनमें से कुछ तो विश्व के सबसे ऊँचे शिखर हैं, जो अति प्राचीन काल से भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा करते रहे हैं। इन पर्वतों की वजह से भारत की जलवायु विषयक स्थिति अद्वितीय बन गई है जो इतनी ही ऊँचाई पर स्थित अन्य स्थानों की अपेक्षा भिन्न है। उत्तरी भारत में जलवायु में बहुत अंतर रहता है–सर्दी के मौसम में खूब ठंड और गर्मी में खूब गर्मी। दक्षिण भारत में लगभग एक समान जलवायु रहती है, जिसमें विभिन्न मौसम तथा दैनिक तापमान में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता है। लद्दाख का सर्द रेगिस्तान, राजस्थान के थार का गर्म रेगिस्तान और बर्फ से ढकी चोटियाँ लगभग बंजर हैं जिसके कारण इन क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। उदाहरण के लिए अरूणाचल प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व केवल 6 व्यक्ति प्रति किलोमीटर है। दूसरी ओर, विश्व की सबसे बड़ी तथा सर्वाधिक उपजाऊ नदी घाटियों में से एक, सिंधु-गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदानी इलाके में करोड़ों लोग रहते हैं और वहाँ विश्व की सबसे पुरानी सभ्यताएँ फूली-फली हैं। भारत में भूमि की स्थिति में भी काफी भिन्नता है। भूमि, वर्षा, तापमान, ऊँचाई आदि की भिन्नता के बारे में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। इन सभी चीज़ों का कृषि की फसलों, प्राकृतिक वनस्पति, चरागाह भूमि आदि के स्वरूप तथा वितरण पर काफी प्रभाव पड़ता है। ये बातें जनसंख्या की व्यावसायिक संरचना को भी निर्धारण करती हैं जो अपनी जीविका के स्रोत के रूप में प्राथमिक वस्तुओं पर निर्भर करती हैं।

भूमि के ऊपर के संसाधनों के बारे में आप भाग 6.2 से 6.5 में व्यापक जानकारी हासिल कर सकेंगे और भाग 6.6 से 6.10 में हम भूमिगत संसाधनों के बारे में चर्चा करेंगे।

यह तो आप जानते ही हैं कि पृथ्वी के अंदर से प्राप्त होने वाले खनिज बड़े उपयोगी पदार्थ हैं।

'खनिज' नाम आते ही आपकी आंखों के सामने एक चमकीले स्फटिक, चमकदार धातु और 'कोहिनूर' जैसे मनमोहक रत्न की तस्वीर आ जाती होगी जिस पर भारत को कभी नाज था। लेकिन इस इकाई में हम इन आकर्षक चीजों के स्थान पर हमारे रोजमर्रा के उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर ही चर्चा करेंगे क्योंकि इन वस्तुओं की हमारी साधारण जिंदगी के क्रिया-कलापों में वास्तविक भूमिका होती है। आर्थिक भूमिका में परिवर्तन के साथ खनिज पदार्थ पैदा करने वाले देश के रूप में भारत के महत्व में धीरे-धीरे कमी आ रही है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको संसाधन के रूप में खनिजों की प्रकृति और ऊर्जा खनिजों के बारे में विशेष रूप से बेहतर जानकारी मिल सकेगी। यदि पर्याप्त ऊर्जा की व्यवस्था हो जाए तो पूर्वी क्षेत्र की पारंपरिक धातु की माँग को पूर्ण रूप से पूरा किया जा सकता है। किसी अर्थव्यवस्था की दक्षता को नापने में उत्पादन के अन्य कारकों की तुलना में ऊर्जा को बहुत

महत्व मिल गया है। अर्थव्यवस्था के मुख्य साधनों को अब ऊर्जा की इतनी ज्यादा जरूरत पड़ने लगी है कि अब उन्हें उससे विमुख नहीं किया जा सकता।

पिछले वर्षों के असंतुलन और विरासत आजकल के खनिज क्षेत्र में किस प्रकार परिलक्षित हो रहे हैं, इनका वर्णन अंत में किया गया है।

6.2 प्रमुख भौगोलिक कारक

इस भाग में हम उन कारकों की भिन्नता तथा वितरण पर चर्चा करेंगे जो भारत के प्राकृतिक संसाधन के ढाँचे पर अपना प्रभाव डालते हैं।

6.2.1 वर्षा

अक्सर हम सुनते हैं कि भारतीय कृषि एक जुआ है जो मानसून पर निर्भर करती है। यह टिप्पणी जितनी औपनिवेशिक काल में सच थी आजकल उतनी सच नहीं है। लेकिन कुछ सीमा तक यह आज भी सच है क्योंकि भारत का लगभग दो-तिहाई क्षेत्र जिस पर फसल बोई जाती है, आज भी वर्षा पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र-विशेष में साल दर साल वर्षा कहीं कम होती है और कहीं ज्यादा। आप जानते ही होंगे कि वर्षा न केवल फसलों का स्वरूप अर्थात् चावल बोया जाए या गेहूँ को ही प्रभावित करती है अपितु बुवाई तथा फसल काटने के समय और प्रति हैक्टेयर उपज को भी प्रभावित करती है। भारत के 75 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र और 78 प्रतिशत सकल फसल क्षेत्र (gross cropped area) में लगभग पूरी वर्षा दक्षिण-पश्चिम की मानसूनी हवाओं की वजह से 4 महीनों के दौरान अर्थात जून से सितंबर तक हो जाती है। कोरोमंडल तट क्षेत्र इसका अपवाद अवश्य है क्योंकि वहाँ उत्तर-पूर्व मानसूनी हवाओं की वजह से नवंबर और दिसंबर के महीनों में भी वर्षा हो जाती है। लेकिन मानसून कब आएगी, कब खत्म होगी और इस अवधि में कितनी वर्षा होगी इस बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसमें प्रतिवर्ष परिवर्तन आता रहता है। उदाहरण के लिए, केरल में 30 मई को मानसून आने की आशा होती है किंतु हो सकता है वह 10 मई को ही आ जाए और यदि देर से आई तो 20 जून को आए। ऐसी स्थिति में वर्षा पर निर्भर रहने वाले किसानों को नुकसान होता है। स्वतंत्रता मिलने से पहले की अवधि में, जब सरकारी तंत्र प्राकृतिक आपदाओं से किसानों की रक्षा करने की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता था, खराब मानसून की वजह से अकाल पड़ते थे या अकाल जैसी स्थिति पैदा हो जाती थी। हालाँकि हमें इस तथ्य को भी नहीं भूलना चाहिए कि कुछ अकाल मनुष्यों द्वारा भी पैदा किए गए थे जैसे कि 1943 का बंगाल का अकाल।

आज तक, सकल राष्ट्रीय उत्पाद की संवृद्धि दर पर मानसून का काफी हद तक प्रभाव पड़ता है। वर्षा के स्वरूप में कुछ हद तक आवर्तिता (periodicity) भी दिखाई देती है। स्वतंत्रता पूर्व की अवधि में जब सूखे की वजह से कृषि उपज में काफी गिरावट आ जाती थी तो सकल राष्ट्रीय उत्पाद की संवृद्धि में ऋणात्मक दर दिखाई देती थी। लेकिन 1987–88 में, जो भयंकर सूखे तथा उससे प्रभावित क्षेत्र की दृष्टि से इस शताब्दी का सबसे खराब वर्ष था, सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वास्तव में 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि कृषि उपज में लगभग 8 प्रतिशत की गिरावट आ गई थी। यदि इसी प्रकार की सूखे की स्थिति स्वतंत्रता से पहले के समय में पैदा हुई होती तो इसमें कोई शक नहीं कि कृषि उपज में और अधिक गिरावट आ गई होती तथा हो सकता है कि भुखमरी से मौतें भी हो गई होती। हमारी अर्थव्यवस्था की संमुत्थान शक्ति (resilience of our economy) के लिए जो कारक जिम्मेदार हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

i) इस अवधि में सकल राष्ट्रीय उत्पाद में कृषि के अंशदान के महत्व में कमी आना, जिसका हम इकाई 5 में पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, और तृतीयक क्षेत्र का आधिपत्य बढ़ना;
ii) मूल्यवर्धन में औद्योगिक क्षेत्र द्वारा कृषि-आधारित उद्योगों के महत्व में गिरावट; तथा
iii) बेहतर जल-प्रबंध तकनीकों का उपयोग, जिससे कम से कम आंशिक रूप में मानसून की अनिश्चितता से मुक्ति तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से खाद्य सामग्री के सुरक्षित भंडार का उपयोग।

अभी भी हमारी कृषि अर्थव्यवस्था को बहुत कुछ करना है क्योंकि हमारे यहाँ प्रति हैक्टेयर उपज आज भी विकसित देशों की तो क्या कहें चीन, दक्षिण कोरिया तथा थाईलैंड जैसे बहुत से विकासशील देशों की तुलना में भी काफी कम है।

6.2.2 मिट्टी (मृदा)

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। किस तरह की फसल उगाई जाए, इसका निर्धारण करने में मिट्टी के प्रकार की अहम भूमिका होती है। दक्षिण क्षेत्र में पाई जाने वाली लाल मिट्टी रेतीली होती है, बलुई होने के कारण उसमें पानी नहीं रुकता। जबकि जलोढ मिट्टी (alluvial soil) में काफी पोषक तत्व होते हैं और उसमें पानी रोके रखने की काफी क्षमता होती है इसलिए वह सर्वाधिक उपजाऊ (उर्वर) मिट्टी होती है। देश में जितना कृषि उत्पादन होता है उसमें सबसे बड़ा हिस्सा इसी मिट्टी में पैदा होता है। दक्खन के पठारों में लावा से पैदा होने वाली काली मिट्टी में खाद मिट्टी बहुत ज्यादा होती है और इसलिए कपास पैदा करने के लिए बहुत उपयुक्त होती है। लेटराइट चट्टानों के अपक्षयण से बनने वाली लेटराइट मिट्टी में चूना (केल्शियम) होता है और इसलिए चाय के पौधे उगाने के लिए उपयुक्त होती है।

6.2.3 स्थलाकृति

मिट्टी में पैदा होने वाली फसल पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि वह स्थल समुद्र स्तर से कितनी ऊँचाई पर स्थित है, उसका ढलान कैसा है आदि। हमने सिंधु-गंगा के मैदानी इलाके का जिक्र किया था। वह समुद्र स्तर से 300 मीटर से भी कम ऊँचाई पर है। इसीलिए उत्तर में अमृतसर और दिल्ली, जो समुद्र तट से काफी दूर हैं और पूर्व में कलकत्ता, जो समुद्र के समीप है, के ऊँचाई के स्तर में कोई ज्यादा फर्क नहीं है। यह स्थलाकृति फसल उगाने के लिए आदर्श होती है। दूसरी ओर, हिमालय की पर्वतीय भूमि फसल उगाने के लिए यदि असंभव नहीं तो अनार्थिक अवश्य है। हालाँकि इस क्षेत्र में लगभग 3600 मीटर ऊंचाई तक वन संपदा अवश्य मिलती है। इसके बाद 4500 मीटर की ऊँचाई तक वनों की बजाय चरागाह भूमि मिलती है। इस प्रकार स्थलाकृति का वनस्पति उगाने की किस्म पर असर पड़ता है और इसीलिए तराई या दोआर क्षेत्र में उष्णकटिबंधीय और उप-उष्णकटिबंधीय और उससे ऊपर शीतोष्ण वनस्पति और उससे भी ऊपर चरागाह और उससे भी ऊपर कोई वनस्पति पैदा ही नहीं होती, केवल चट्टानें तथा बर्फीली पहाड़ियाँ ही मिलती हैं।

इसलिए भूमि के ऊपर पैदा होने वाले प्राकृतिक संसाधनों के विकास की इष्टतम योजना बनाते समय ऊपर दिए गए सभी कारकों को महत्व देना होगा और उसमें भी सबसे अधिक महत्व वर्षा का है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि भारत दक्षिण में लगभग 8° उत्तर अक्षांश और उत्तर के अन्त में 36° उत्तर अक्षांश में स्थित है और यह स्थिति बहुत अनुकूल है क्योंकि अधिकांश क्षेत्र में लगभग पूरे वर्ष सूरज की काफी रोशनी मिलती है। इसलिए सिद्धाँत रूप में यहाँ किसी भी समय फसल उगाई जा सकती है। ऐसा सायबेरिया जैसे क्षेत्र में संभव नहीं है जो साल में छह महीने से अधिक समय तक बर्फ ही से ढका रहता है और इसलिए वहाँ फसल उगाने का एक ही मौसम होता है। इसलिए, जहाँ अनुकूल वर्षा होती हो या सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हों, स्थलाकृति तथा मिट्टी की दशा के अनुसार भूमि के टुकड़े पर साल में एक से अधिक फसल (या एक ही फसल दो बार) उगाई जा सकती हो, वह पद्धति बहु-फसली पद्धति कहलाती है। किन्तु दुर्भाग्यवश लगभग 35 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में ही सुनिश्चित जल पूर्ति है और 75 प्रतिशत कृषि-क्षेत्र में मानसून के मौसम के 2 से 4 महीनों के अंदर ही 80 प्रतिशत वर्षा हो जाती है इसलिए वर्षा वाले क्षेत्र भी वर्ष में केवल एक बार ही फसल उगा पाते हैं। इसीलिए हमारे यहाँ बहु-फसली पद्धति अभी कोई प्रमुखता प्राप्त नहीं कर पाई है।

6.3 कृषि-संसाधन

तालिका 6.1 में भारत में 1983–84 में भूमि के उपयोग के स्वरूप को दिखाया गया है। वर्ष 1983–84 में हमारे देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 55 प्रतिशत हिस्सा खेती के लिए उपलब्ध था। लेकिन 43 प्रतिशत क्षेत्र पर ही वास्तव में खेती की जा रही थी और शेष 12 प्रतिशत परती

तालिका 6.1

भूमि-उपयोग का स्वरूप (1983-84)

	करोड़ हैक्टेयर	प्रतिशत
क) कृषि कार्य के लिए अनुपलब्ध	14.77	44.9
1 कृष्येतर उपयोग में भूमि	2.00	6.00
2 बंजर तथा कृषि अयोग्य भूमि	2 03	6.1
3 वनों के अंतर्गत भूमि	6.73	20.5
4 विविध प्रकार के पेड़ों के अंतर्गत भूमि	0.35	1.1
5 चरागाह भूमि	1.20	3.7
6 आंकड़े उपलब्ध नहीं	2.46	7.5
ख) कृषि कार्य के लिए उपलब्ध	18.10	55.1
7 कृषि फसलों के अंतर्गत	14.27	43.2
8 परती भूमि	2.29	7.1
9 खेती योग्य बेकार पड़ी भूमि	1.54	4.8
कुल भौगोलिक क्षेत्र	32.87	100.0

भूमि या खेती योग्य बेकार पड़ी भूमि थी। परती भूमि वह भूमि होती है जिस पर कुछ समय से खेती नहीं की जा रही है अर्थात् जो एक वर्ष या उससे अधिक समय से खाली छोड़ दी गई है, इससे पहले उस पर खेती होती थी और संभवत: आगे फिर उस पर खेती की जाएगी। खेती योग्य बेकार पड़ी भूमि वह भूमि होती है जिस पर अभी तक खेती नहीं की गई है किंतु उस पर पर्याप्त निवेश किया जाए तो उसे खेती योग्य बनाया जा सकता है। खेती के लिए उपलब्ध 18.1 करोड़ हैक्टेयर भूमि में से 13 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर खाद्यान्नों की खेती की जा रही थी। शेष भूमि पर नकदी फसलें, बागवानी तथा बागान फसलें उगाई जा रही थीं।

6.3.1 खाद्यान्न

जैसा आप जानते हैं खाद्यान्नों में चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा तथा मक्का जैसे अनाज आते हैं। ये ही हमारे मुख्य भोजन का अंग होते हैं। गरीब आदमी के लिए प्रोटीन का स्रोत दालें हैं जो खाद्यान्न में ही आती हैं।

पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारंभ होने से पहले के आखिरी वर्ष अर्थात 1950–51 में भारत में कुल 5.1 करोड़ टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ था। जिस क्षेत्र पर खाद्यान्न की फसल की जाती थीं वह कुल 9.7 करोड़ हैक्टेयर था और प्रति एकड़ केवल 552 कि. ग्रा. उपज होती थी। हम जानते हैं कि उत्पादन को दो प्रकार से बढ़ाया जा सकता है:

i) खेती के क्षेत्रफल में वृद्धि करके, तथा
ii) खाद्यान्नों की प्रति हैक्टेयर उपज में वृद्धि करके, जो फसलों की उत्पादिता में सुधार करने के लिए प्रभावी कदम उठाने से की जा सकती है।

वर्ष 1950–51 से साठ के दशक के मध्य तक खाद्यान्न उत्पादन में जो वृद्धि हुई वह फसल क्षेत्र में वृद्धि के कारण हुई अर्थात् इस अवधि में यह क्षेत्र 9.7 करोड़ हैक्टेयर से बढ़कर 11.8 करोड़ हैक्टेयर हो गया। इसी अवधि में प्रति हैक्टेयर उपज में केवल 200 कि. ग्रा. की वृद्धि हुई और उत्पादन बढ़कर 8.8 करोड़ टन (1966–69 का औसत) हो गया। यह महसूस करके कि खेती के क्षेत्र में और अधिक विस्तार कर पाना बहुत कठिन होगा क्योंकि अधिकांश खेती योग्य भूमि पर पहले से ही खेती की जा रही है, हमारे योजनाकारों ने प्रति हैक्टेयर उपज बढ़ाने पर ज्यादा जोर दिया और फलस्वरूप 1983–84 में खाद्यान्नों का उत्पादन 15.1 करोड़ टन तक और प्रति हैक्टेयर उपज 1163 कि. ग्रा. तक पहुँच गई। वर्ष 1989–90 में खाद्यान्न उत्पादन के 17 करोड़ टन तक पहुँच जाने की आशा की जा रही है। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से प्रति हैक्टेयर उपज दुगनी और कुल उत्पादन तिगुने से भी अधिक हो गया है।

स्वतंत्रता से पहले की अवधि की तुलना में इस अवधि में खाद्यान्न संसाधन आधार विकसित करने में हमारा कार्य वास्तव में श्रेयस्कर रहा है। अब भारत खाद्यान्नों के मामले में विदेशों पर निर्भर नहीं है जैसा कि वह साठ के दशक के मध्य तक था। हालाँकि, खाद्यान्नों में आत्म निर्भरता के हमारे दावे को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, कि आज भी भारत की आबादी के एक तिहाई से ज्यादा हिस्से को योजना आयोग द्वारा निर्धारित न्यूनतम पोषण

आवश्यकताओं के अनुरूप भोजन नहीं मिलता है। ऐसा क्रय शक्ति के अभाव के कारण होता है जिसकी वजह से खाद्यान्नों की न्यूनतम आवश्यकता भी प्रभावशाली मांग में परिवर्तित नहीं हो पाती। इसके विपरीत चीन में, जहाँ हमारे फसल क्षेत्र के 80% हिस्से के बराबर निवल बुआई क्षेत्र है, 1983–84 में 38.3 करोड़ टन खाद्यान्न पैदा किए गए। हालाँकि, उनके यहाँ 'खाद्यान्नों' की परिभाषा में आलू और विशेष रूप से शकरकंद भी शामिल होते हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारत में भूमि तथा जल के प्राकृतिक संसाधन आधार का अभी इष्टतम रूप में उपयोग नहीं किया गया है।

इस संदर्भ में हम दो शब्दों का प्रयोग करेंगे —सकल फसल क्षेत्र (सफक्षे) तथा निवल बुआई क्षेत्र (निबुक्षे)। इसमें निवल बुआई क्षेत्र का अर्थ है वह भौगोलिक भू-क्षेत्र जिस पर खेती की जा रही है और सकल फसल क्षेत्र में बहु-फसली प्रणाली को भी मद्देनजर रखा जाता है। इस बात को एक उदाहरण के रूप में इस तरह समझाया जा सकता है, मान लीजिए 100 एकड़ भूमि पर खेती की जा रही है जिसमें से 50 एकड़ पर वर्ष में एक बार, 30 एकड़ पर दो बार और 20 एकड़ पर तीन बार फसल उगाई जा रही है तो सकल फसल क्षेत्र होगा सफक्षे = $50 \times 1 + 30 \times 2 + 20 \times 3 = 170$ एकड़ जबकि निवल बुआई क्षेत्र केवल 100 एकड़ ही रहेगा। सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में निवल बुआई क्षेत्र 14.3 करोड़ हैक्टेयर और सकल फसल क्षेत्र 18.6 करोड़ हैक्टेयर था। भारत में सिंचाई तथा उन्नत खेती तकनीकों के माध्यम से सकल फसल क्षेत्र में तो वृद्धि की जा सकती है किंतु निवल बुआई क्षेत्र लगभग अपनी सीमा पर पहुँच चुका है।

6.3.2 वाणिज्यिक फसलें

वाणिज्यिक फसलों में जूट, कपास, मेस्टा (mesta) तिलहन, गन्ना आदि फसलें आती हैं। इनको वाणिज्य फसलें इसलिये कहा गया है क्योंकि किसान इन फसलों को बाजार में बेचने के लिए ही उगाता है। औपनिवेशिक काल में खाद्य फसलों और वाणिज्यिक फसलों के बीच का अंतर अधिक उपयुक्त था क्योंकि तब खाद्य फसलें मुख्यत: स्वयं उपभोग के लिए ही उगाई जाती थीं, बाजार में बेचने के लिए नहीं। हालाँकि, आज के जमाने में यह अंतर खत्म सा हो गया है क्योंकि समृद्ध किसान अपनी अधिकांश खाद्यान्न फसलों को बाजार में बेच देते हैं। वाणिज्यिक फसलों का महत्व इस वजह से है कि अधिकांश कृषि-आधारित उद्योगों के लिए ये कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं जैसे जूट उद्योग, सूती कपड़ा उद्योग आदि। इन फसलों के उत्पाद औद्योगीकरण तथा देश के लिए बहुमूल्य विदशी मुद्रा अर्जित कराने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

6.3.3 बागवानी (Horticulture)

एक ओर जहाँ खाद्यान्न और वाणिज्यिक फसलें कृषि के उत्पाद का बहुत बड़ा भाग होती हैं तथा अधिकांश भूमि पर इन्हीं की खेती की जाती है, वहीं दूसरी ओर बागवानी की फसलें पोषण के मामले में तथा उत्पादकों की आमदनी बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। बागवानी वाली फसलों में (i) फल, (ii) शाक सब्जी, (iii) नारियल, (iv) काजू आदि की फसलें आती हैं।

6.3.4 बागान फसलें

जब हम बागान फसलों की चर्चा करते हैं तो हमारी आँखों के सामने बाँस की टोकरी पीठ पर रखे उस पर्वतीय-बाला की तस्वीर उभरने लगती है जो अपने कोमल हाथों से पौधे पर से दो पत्तियां और एक कली तोड़ती नजर आती है, यही चाय है। चाय या काफी की बागान फसलें पहाड़ियों की ऐसी ढलानों पर उगाई जाती हैं जहाँ वर्षा तो बहुत होती है किंतु वर्षा का पानी जमीन में टिकता नहीं है। रबड़ और इलायची भी महत्वपूर्ण बागान फसलें होती हैं। ये विदेशी मुद्रा अर्जित करने की महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

6.4 भूमि के ऊपर गैर-कृषि संसाधन

इस भाग में हम पशुधन तथा डेयरी कार्य, मत्स्यपालन, मुर्गीपालन तथा वानिकी से संबंधित

मुद्दों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। ये उप-क्षेत्रक मूल्यवर्धन के अर्थ में बड़े महत्वपूर्ण होते हैं और इनमें ग्रामीण जनसंख्या के एक बड़े हिस्से को रोजगार प्रदान कराने का भी सामर्थ्य होता है।

6.4.1 पशुपालन तथा डेयरी उद्योग

विश्व में सबसे ज्यादा संख्या में पशु भारत में ही पाए जाते हैं। लेकिन यहाँ चरागाह भूमि कुल भौगोलिक क्षेत्र की मात्र 3.7 प्रतिशत ही है। इस तरह भारत में चरागाह भूमि के प्रति वर्ग कि. मी. में पशु संख्या की सघनता बहुत अधिक है। इस लाचारी की वजह से यहाँ पशुओं को पालना अनार्थिक धंधा हो जाता है और इसीलिए यहाँ प्रति गाय या भैंस के दूध का उत्पादन विश्व में सबसे कम है। गाय को 'गौ माता' के रूप में जो सामाजिक तथा धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी गई है उसकी वजह से पशु-मांस को मानव उपभोग के लिए निर्यात भी नहीं किया जा सकता। पशुपालन अभी भी बड़े पैमाने पर उन्नति नहीं कर पाया है। लेकिन अस्सी के दशक में 'आप्रेशन फ्लड' शुरू किया गया और जिसके माध्यम से बड़े पैमाने पर दूध के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। बहुत से राज्यों में दुग्ध उत्पादकों ने दूध के उत्पादन तथा वितरण से संबंधित विभिन्न पहलुओं को मद्देनजर रखते हुए अपनी सहकारी समितियाँ संगठित की हैं। ये समितियां कृत्रिम गर्भाधान द्वारा ज्यादा दूध देने वाली गाय पैदा करने के लिए काम करती हैं, हालाँकि, इस तरह की गाएँ अपेक्षाकृत अधिक कीमती होने के साथ विशेष चारे पर निर्भर करती हैं जो छोटे किसानों के वश के बाहर की बात होती है। गुजरात, महाराष्ट्र, आँध्रप्रदेश के कुछ भागों, पंजाब तथा हरियाणा राज्यों को छोड़ कर इस दिशा में अन्य राज्यों में कोई खास प्रगति नहीं हुई है। इस बारे में आणंद (गुजरात) की आणंद मिल्क यूनियन लि. या अमुल की सफलता की कहानी को हमेशा आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) जैसे गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों में भी पशुधन से आमदनी पैदा करने वाली क्षमता को मान्यता दी गई है। लेकिन आप्रेशन फ्लड (दुग्ध-क्रांति) यूरोपीय साझा समुदाय के देशों से बड़े पैमाने पर दुग्ध चूर्ण तथा मक्खन आयात करके संभव हो सका, क्योंकि इससे उत्पन्न वित्तीय संसाधनों द्वारा ही उसका संचालन संभव हो सका।

6.4.2 मत्स्यपालन (मछली पालन)

जैसा आप जानते हैं मछली प्रोटीन प्राप्त करने का महत्वपूर्ण स्रोत है और 1984–85 में 28.5 लाख टन मछली का उत्पादन हुआ। मत्स्यपालन के विकास की भारत में बहुत गुंजाइश है। भारत में अंतर्देशीय जल क्षेत्र में मछली पकड़ने में काफी प्रगति हुई है किंतु समुद्र में मछली पकड़ने के क्षेत्र में कोई ज्यादा प्रगति नहीं हुई है, हालाँकि अब इस क्षेत्र में भी थोड़ी उन्नति हो रही है। भारत में मछली पालन का अधिकतम क्षमता समुद्री क्षेत्र में है। यहाँ 20.2 लाख वर्ग किलोमीटर का विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र (Exclusive Economic Zone : EEZ) है जिसमें भारत को समुद्र तल से नीचे के सभी संसाधनों का पूर्णत: दोहन करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, अंतर्देशीय मछली पालन के लिए भारत के पास 29,000 कि. मी. नदियाँ, 17 लाख हैक्टेयर जलाशय (Reservoirs) और 7.5 लाख हैक्टेयर तालाब तथा पोखर हैं। इस तरह मछली पालन के लिए भारत का संसाधन आधार काफी विस्तृत है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में निम्नलिखित बातों पर मुख्य रूप से जोर दिया गया था:

i) गहरे समुद्र में मछली पकड़ने के लिए निवेश बढ़ाकर विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र (EEZ) का दोहन करना;
ii) तटवर्ती क्षेत्र में मछली पकड़ने के लिए नए मोटर चालित तथा मशीनी जहाजों को चलाना;
iii) उपयुक्त अवतरण तथा घाट लगाने की सुविधाओं का विकास और छोटे तथा बड़े मछली-बंदरगाहों के चालू निर्माण कार्यों को पूरा करना;
iv) सहकारी क्षेत्र में मछली विपणन के काम को प्रोत्साहन देना; और
v) मछली पालक विकास एजेंसियों आदि के माध्यम से तालाबों और पोखरों में सघन मछली पालन।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–90) में यह माना गया था कि यदि इन उपायों को सफलतापूर्वक लागू कर दिया गया तो अंतर्देशीय जल तथा समुद्र में मछलियों का उत्पादन 1989–90 में बढ़कर 40 लाख टन तक पहुँच जाएगा। लेकिन मशीनी नौकाओं से बड़े पैमाने

पर मछली पकड़े जाने से समुद्र तट पर बसे पारंपरिक मछुआरों को काफी हानि उठानी पड़ सकती है।

6.4.3 वानिकी

भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि-पारिस्थितिक आयाम का वानिकी एक अभिन्न अंग है। वनों और कृषि के बीच एक अनुपूरक संबंध होता है क्योंकि वनों के कारण वर्षा होती है और वर्षा से खेती संभव होती है। वनों से और विशेष रूप से पहाड़ियों पर स्थित वनों से मिट्टी का कटाव और बाढ़ों को रोकने में सहायता मिलती है। वनों में पैदा होने वाली वस्तुओं पर एक बड़े समुदाय की रोजी-रोटी चलती है। इसके अलावा ईंधन के लिए लकड़ी, दवाई की जड़ी-बूटियाँ और मकान तथा फर्नीचर बनाने के लिए इमारती लकड़ी तथा कागज बनाने की सामग्री आदि भी हमें इनसे मिलती है। वनो से जनजातीय लोगों का बड़ा घनिष्ट संबंध होता है।

भारत में वन बड़ी तेजी से घटते जा रहे हैं। राष्ट्रीय वन नीति (1952) में यह कहा गया कि देश का लक्ष्य यह होना चाहिए कि देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र के एक तिहाई भाग पर वन लगें, इसमें से 60 प्रतिशत पहाड़ी क्षेत्र तथा 20 प्रतिशत मैदानी क्षेत्र वनाच्छादित होना चाहिए। राज्यों के वन विभागों की रिपोर्ट के अनुसार कुल भौगोलिक क्षेत्र के 23 प्रतिशत हिस्से अर्थात् 7.5 करोड़ हैक्टेयर क्षेत्र को ही वनों की श्रेणी में रखा जा सकता है। लेकिन राष्ट्रीय दूरस्थ संवेदन एजेंसी (National Remote Sensing Agency) के अनुसार 1972–75 में 5.5 करोड़ हैक्टेयर का वनाच्छादित क्षेत्र 1980–82 में घटकर 4.6 करोड़ हैक्टेयर ही रह गया अर्थात् प्रतिवर्ष इसमें औसतन 15 लाख हैक्टेयर की कमी होती गई। इसलिए जहाँ तक वनों की स्थिति का संबंध है यह वास्तव में बड़ी शोचनीय स्थिति है और यह बहुत जरूरी है कि वनों की भूमि को गैर-वन उपयोग में लाने की प्रवृत्ति को रोका जाए, यदि ऐसा नहीं किया गया तो बढ़ते हुए कृषि-पारिस्थितिक असंतुलन को रोक पाना कठिन हो जाएगा।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980–85) में वन-संरक्षण तथा वनरोपण पर ज्यादा जोर देते हुए एक राष्ट्र-व्यापी वानिकी कार्यक्रम शुरू किया गया। आजकल वनों से उत्पन्न वस्तुओं की बाजार में माँग बढ़ जाने के कारण वनों को जिस मात्रा में काटा जा रहा है उतनी मात्रा में वनरोपण नहीं किया जा रहा है। दुर्भाग्य से भारत में वनरोपण को व्यक्तिगत नहीं अपितु सामाजिक दायित्व माना जाता है जबकि वन काटने से लाभ व्यक्ति को ही मिलता है। वे ही पेड़ काटने का ठेका लेते हैं, वनों पर आधारित उद्योग चलाते हैं और ग्रामीण लोग अपनी रोजमर्रा की जरूरतों के लिए वनों के उत्पादों पर निर्भर करते हैं। किसी भी वानिकी कार्यक्रम को बनाते समय व्यक्तिगत माँग तथा उसी के अनुरूप पूर्ति का प्रभावशाली संतुलन बनाए रखने में व्यक्ति की दूरदर्शिता के अभाव के बीच इस विरोधाभास को अवश्य उजागर करना होगा। सामाजिक वानिकी की योजना में इस बात को माना गया है और इसीलिए इसके अंतर्गत सातवीं योजना में 2,60,000 हैक्टेयर भूमि पर ईंधन की लकड़ी देने वाले पेड़ लगाने और आम जनता तथा बच्चों को 'प्रत्येक बच्चा एक पेड़ लगाएं-कार्यक्रम' के अंतर्गत, 58 करोड़ पौधे नि:शुल्क प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी।

यह तो ठीक है कि वनरोपण कार्यक्रम और विशेष रूप से सामाजिक वानिकी कार्यक्रम में कुछ प्रगति अवश्य हुई है परंतु कार्यक्रम के गुणात्मक पहलू और विशेष रूप से उपयुक्त किस्में चुनने, स्थानीय लोगों को उसमें शामिल करने तथा फलोपभोग की सार्थक हिस्सेदारी के विषय में सुधार करने की गुंजाइश अभी भी बाकी है।

संसाधन आधार के रूप में वानिकी क्षमता में वृद्धि के लिए जरूरी है कि न केवल वनरोपण द्वारा वन-क्षेत्र में वृद्धि की जाए, अपितु कम-कीमती पेड़ों वाले वन क्षेत्र को टीक तथा बाँस जैसी किस्म वाले वाणिज्यिक महत्व वाले पेड़ लगाकर ऊँची कीमत वाले वन क्षेत्रों में परिवर्तित किया जाए। उत्पादन वानिकी कार्यक्रम द्वारा इसी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारत में अभी तक विदेशी किस्म की पौध लगाने पर ही ज्यादा जोर दिया गया है। लेकिन अब जरूरत इस बात की है कि अपने यहाँ की विशिष्ट जलवायु और मिट्टी की स्थिति को देखते हुए उपयुक्त देशी किस्म के पेड़ों का पता लगाया जाए। ये किस्में ऐसी होनी चाहिएँ जिनका विकास तेज़ी से हो सके और जो मिट्टी तथा नमी में सुधार करते हुए पर्यावरण में भी सुधार कर सकें।

यदि इन सभी वानिकी कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सका तो निम्नलिखित बातें संभव हो जाएंगी:

i) पारिस्थितिक रूप से नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र का संरक्षण और वनस्पति तथा प्राणी समूहों के रूप में नाजुक प्राणिवैज्ञानिक तंत्र का परिरक्षण;
ii) वनस्पतिक आवरण में पर्याप्त वृद्धि;
iii) ईंधन लकड़ी, चारा और गाँव में घर बनाने के काम आने वाली सामग्री के संबंध में लोगों की बुनियादी जरूरतों का पूरा होना;
iv) वानिकी कार्यक्रमों और परंपरागत रूप में वनों पर निर्भर रहने वाली जनजातियों तथा अन्य समुदाओं के कल्याण के बीच घनिष्ठ संबंध सुनिश्चित होना; तथा
v) वन्य प्राणी संरक्षण के लिए राष्ट्रीय वन्यप्राणी कार्य योजना को लागू करना।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन सभी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक ऐसे व्यापक जन अभियान की जरूरत होगी जो हमारी अर्थव्यवस्था के कृषि-पारिस्थितिकी ढाँचे के एक अभिन्न अंग के रूप में वानिकी के प्रति जागरूकता में निरंतर वृद्धि कर सके।

6.5 भूमि के ऊपर संसाधनों के विकास में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन असंगतियाँ

अब तक आपको भूमि के ऊपर प्राकृतिक संसाधन आधार के बारे में कुछ जानकारी अवश्य मिल गई होगी। लेकिन यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति प्रदत्त संसाधनों का उपयोग करके तेजी से आर्थिक विकास करना एक अमिश्रित वरदान नहीं है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आज करोड़ों भूखे इंसानों की भूख मिटाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना अति महत्वपूर्ण है। लेकिन यह काम उनके भविष्य की भूख मिटाने की क्षमता को मिटाकर नहीं करना चाहिए। इसलिए वर्तमान और भविष्य के बीच लाभ-हानि को तौलकर चलना होगा। लाभ-हानि को तौलने के इस प्रश्न पर कई मंचों पर विचार-विमर्श किया गया है। उदाहरण के लिए नर्मदा सागर घाटी परियोजना, मौन-घाटी परियोजना आदि जैसी परियोजनाओं से जुड़े प्रश्न इसी वर्तमान-भविष्य के लाभ-हानि से संबंधित हैं। बड़े पैमाने की बहु-उद्देशीय नदी घाटी परियोजनाओं से बहु-फसली प्रणाली अपनाकर, पन-बिजली पैदा करके कृषि की उत्पादकता में वृद्धि तो होती है परंतु इनकी वजह से वन तथा मनुष्यों की बस्तियाँ भी उजड़ जाती हैं और संसाधनों के बीच पारिस्थितिक सामंजस्य भी बिगड़ जाता है।

वनों को काटने से वर्षा के समय तथा मात्रा पर भी बुरा असर पड़ता है। इससे मिट्टी का कटाव होने लगता है जिससे भूमि की उर्वरता घट जाती है। वर्षा तथा उर्वरता में कमी आ जाने से दीर्घकाल में उत्पादिता या उपज भी घट जाती है। बड़ी सिंचाई परियोजनाओं की वजह से पानी निकासी की समस्या भी बढ़ जाती है और इसकी वजह से पानी भर जाता है, भूमिगत जल स्तर बढ़ जाता है और खारापन भी बढ़ जाता है। सतही जल के अत्यधिक उपयोग की वजह से कुछ क्षेत्रों में जल का स्तर काफी नीचे चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप शुष्क मौसम में जल पूर्ति के गंभीर संकट की स्थिति पैदा हो जाती है। इससे मिट्टी में क्षारीयता पैदा हो जाती है। वनों को काटने तथा भूमि को वन रहित करने से प्राय: वह रेगिस्तान बन जाती है। वैज्ञानिकों को भय है कि पश्चिमी राजस्थान का थार रेगिस्तान धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ता जा रहा है। भरपूर फसल लेने के चक्कर में रासायनिक खादों तथा कीटनाशक दवाइयों का जो अंधाधुंध इस्तेमाल किया जा रहा है उसके भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं।

हमें याद रखना चाहिए कि प्रकृति का अपना गति-चक्र होता है। यदि हमने प्रकृति का आवश्यकता से अधिक दोहन किया या उसके गतिचक्र को परिवर्तित करने का प्रयास किया और यदि वह इन विध्वंसकारी तत्वों से न उबर पाई तो मनुष्य तथा प्रकृति के बीच परस्पर क्रिया से न तो मनुष्य को ही कोई लाभ पहुँचेगा और न प्रकृति को ही। इसलिए हमको युद्ध स्तर पर ऐसे कदम उठाने होंगे जिनसे प्राकृतिक संसाधनों के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन आर्थिक उपयोगों के लक्ष्यों के बीच असंगतियों का निवारण हो सके और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच संतुलन की पुन: स्थापना हो सके।

बोध प्रश्न 1

1 सकल फसल क्षेत्र तथा निवल बुआई क्षेत्र के बीच क्या अंतर है ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि भारत निवल बुआई क्षेत्र के मामले में अपनी क्षमता पूरी कर चुका है लेकिन सकल फसल क्षेत्र में अभी गुंजाइश है ?

2 क्या आप विश्वास करते हैं कि भारतीय कृषि अभी भी मानसून पर निर्भर एक जुआ है ? बताइए कि भारत के वार्षिक कृषि उत्पादन को अधिक स्थिर बनाने के लिए कौन-से कदम उठाए गए हैं या उठाए जाने चाहिए ?

3 आजकल भारत में वनरोपण की अत्यधिक आवश्यकता क्यों है ?

4 अपने दैनिक अनुभवों से अथवा समाचार पत्रों से उपयुक्त उदाहरण देते हुए संसाधनों के विकास में निहित अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन असंगतियों को स्पष्ट कीजिए।

6.6 "भूमिगत संसाधन"–खनिजों की आर्थिक भूमिका

कौटिल्य-अर्थशास्त्र के अनुसार खनिज पर राजकोष का अधिकार होता है न कि वे कुछ खास दरबारियों की निजी वस्तु होते हैं, जैसा कि बाद में वे होने लगे। प्राचीन काल में विनिमय में खनिजों की आर्थिक भूमिका अन्य वस्तुओं की अपेक्षा काफी अधिक थी और इसीलिए भा. में विश्व का 22% सोना और 13% चाँदी संचित हो गया। हालाँकि सोने और चाँदी के इन भंडारों का आधुनिक भारत में आर्थिक कार्यकलाप में प्रवेश नहीं हुआ है।

भूतकाल में भारत में खनिजों के खनन को प्रोत्साहित करने के लिए कोई कानून बनाने की आवश्यकता ही महसूस नहीं की गई। लेकिन औद्योगिक क्रांति की वजह से इस स्थिति में भारी परिवर्तन आ गया। निवेश-वस्तुओं में कच्चे माल के रूप में अधिकाधिक खनिजों की जरूरत पड़ने लगी और विश्व में सामग्री प्रवाह ने 1950 के बाद से एक 'आधुनिक पाषाण युग' को जन्म दिया और उसकी वजह से मात्रा के रूप में धातुओं का पहले का आधिपत्य समाप्त हो गया। मूल्य के रूप में भी इन धातुओं का स्थान ऊर्जा खनिजों तथा रत्नों ने ले लिया है।

स्वतंत्रता के समय खनिजों से हमने बड़ी आशाएँ लगा रखी थीं। आशा तो यह की जाती थी कि इनसे आर्थिक विकास के लिये साधन उपलब्ध किये जायेंगे हालाँकि इनसे भूमि के ऊपर के संसाधनों से भी कम आमदनी होती थी।

भारत में आज भी सकल राष्ट्रीय उत्पाद में खनिजों का हिस्सा केवल 1% है जबकि विश्व का औसत 6% है। यदि इनकी तुलना 1980 में चीन के 8%, सोवियत रूस के 10% या दक्षिण अफ्रीका के 20% के आंकड़ों से की जाए तो भारत में खनिज-क्षेत्रक की पिछड़ी हुई स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है।

6.6.1 आवश्यक तथा बुनियादी आवश्यकताओं के रूप में

सभी खनिज हमारी अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्य नहीं हैं। संभवत: नमक ही ऐसा खनिज है जिसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। आम आदमी के लिए नमक की जरूरत को देखकर ही गाँधी जी ने दाँडी में नमक सत्याग्रह चलाया था। इसके बाद गंधक जैसे औषध खनिजों का नंबर आता है। क्या आप जानते हैं कि अंग्रेजी शब्द 'सल्फर' भारतीय शब्द 'शल्यारि' (शल्यापेक्षित घाव का शत्रु) से ही बना है। वास्तव में तो भारत तथा विदेशों में जो आयुर्विज्ञान का प्रचलन हुआ वह खनिजों के अध्ययन से काफी जुड़ा हुआ था।

भारत में आज के जनसंख्या वृद्धि के दबाव के साथ जो खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने की समस्या अन्य देशों की तुलना में अधिक गंभीर दिखाई दे रही है, उसे खेती में पहले की अपेक्षा अधिक उर्वरक खनिजों का उपयोग करके ही सुलझाया जा सकता है। वास्तव में तो, अधिक खनिजों (यथा नाइट्रेट, फोस्फेट और पोटैश) को मिट्टी में मिलाकर उसके पोषक तत्वों की प्रतिपूर्ति करके प्रौद्योगिकीय पिछड़ेपन को दूर करने की आवश्यकता भारत में बहुत दिनों में महसूस की जा रही है। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि रासायनिक उर्वरकों के साथ उपयुक्त जैव खाद का मिश्रण नहीं किया गया तो दीर्घकाल में इन उर्वरकों का मिट्टी की उर्वरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

अत्यधिक पुरातन रूप के मकानों को बनाने के लिए भी भूमिगत सामग्री का उपयोग करना पड़ता है। भारत में जन-जातियों के लोग जो अपने मिट्टी के कच्चे घर बनाते हैं उनमें आज भी विभिन्न प्रकार के गेरूओं (रंगीन लौह हाइड्रोक्साइड) का इस्तेमाल करते हैं। गाँव में ईंट के भट्टों तथा सीमेंट फैक्टरियों में गैर-जनजातियों के लिए मध्यवर्ती वस्तुएँ पैदा करने के लिए चूना तथा कोयले का इस्तेमाल किया जाता है।

6.6.2 टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में

जब आप किसी झोपड़ी में घुसते हैं तो आपको वहाँ बरतन तथा तवा या साधारण औजारों के रूप में खनिज दिखाई देते हैं। यह साधारण मनुष्य की आम जिंदगी में धातुओं के उपयोग की निशानी है। मानव सभ्यता के विभिन्न चरणों को याद करिए, वे भी ताम्रयुग तथा लौह युग के रूप में धातुओं के नाम पर ही आधारित हैं। हम अभी भी लौह युग में रह रहे हैं हालाँकि

जिन्हें उत्पादन के साधनों का उत्पादन करने वाले साधन के रूप में गिना जाता है। आजकल, भारत तो अपने खनिजों को क्रेता (प्रधान) बाजार में बेचता है जबकि खरीदता विक्रेता (प्रधान) बाजार से है और इसलिए खनिज-विनिमय में उसे दोहरा नुकसान सहना पड़ता है।

खनिजों पर निर्भरता बढ़ने से भारत के अंदर भी क्षेत्रीय आर्थिक प्रवाह पर असर पड़ा है। आप ऊपर पढ़ चुके हैं कि स्वतंत्रता के समय भारत के योजनाकारों ने पूर्वी भारत के खनिज आधार का उपयोग भारत के आर्थिक विकास का वित्तीयन करने के लिए सोची थी।

बोध प्रश्न 2

1 खनिजों की विविध आर्थिक भूमिकाओं को स्पष्ट करने के लिए तीन खनिजों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

2 क्या वर्तमान युग को आधुनिक पाषाणयुग कहा जा सकता है ? यदि हाँ तो क्यों ?

.....

.....

.....

3 क्या भारत में खनिज क्षेत्रक पिछड़ा हुआ है ? यदि हाँ तो कैसे ?

.....

.....

.....

4 ऐसे दो खनिजों का नाम बतलाइए जो भारत में दुर्लभ हैं किंतु भारतीय मूल के नामों से प्रसिद्ध हैं।

.....

.....

5 ऐसे तीन खनिजों के नाम बताइए जिनका भारत में उपयोग तो व्यापक रूप से होता है किंतु मिलते बहुत ही कम हैं।

.....

.....

6.7 संसाधनों के रूप में खनिजों के विशिष्ट लक्षण

संसाधनों के आवंटन में तरलता को स्वभावत: प्राथमिकता दी जाती है। पारिस्थितिकी तथा ऊर्जा आवश्यकताओं की वजह से खनिज संसाधनों की प्रकृति पर फिर से विचार करने की जरूरत पड़ गई है। भूमि के ऊपर के संसाधनों के विपरीत खनिज नाशवान नहीं होते हैं। सामान्यत: ये जगह कम घेरते हैं और इनको एक जगह से दूसरी जगह आसानी से लाया-ले जाया जा सकता है। इसलिए खनिजों का युक्तिपूर्वक उपयोग न करने का अवसर लागत भूमि के ऊपर के संसाधनों से बिल्कुल भिन्न होता है। खनिजों का विभिन्न पीढ़ियों में न्यायपूर्ण उपयोग का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। अन्य संसाधनों की अपेक्षा खनिजों का अर्थव्यवस्था पर गुणक प्रभाव कहीं अधिक होता है। प्रौद्योगिकी तथा पूंजी की गतिशीलता में भागीदार बनकर संसाधनों के रूप में खनिज स्वतंत्र रूप से दूर के स्थानों में भी आर्थिक भूमिका निभा सकते हैं जैसा कि नरोरा परमाणु स्टेशन, बरौनी तेलशोधक कारखाना या जगदीशपुर गैस लाइन से स्पष्ट है।

पिछले भाग में आप खनिज अर्थव्यवस्था की मुक्त सार्वभौमिक प्रकृति से अवगत हो चुके हैं। केंद्रीय रूप से योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था खनिजों के मामले में न्यूनाधिक रूप में आत्म निर्भर होती है जबकि बाजार अर्थव्यवस्था वाले देशों में खनिज क्षेत्रक में असमान अंतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन मौजूद रहता है। यही असमानता किसी खनिज-विशेष के एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र में संकेंद्रित हो जाने के कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में भी असमानता बढ़ा देती है।

सूचकांकों पर नजर डालकर आप इस बात से संतुष्ट हो जाएंगे कि स्वतंत्रता के बाद की भारतीय अर्थव्यवस्था में खनिजों का कितना विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुओं के अंतर्गत सबसे कम भार वाले होने के बावजूद खनिजों का आधार वर्ष 1970–71 की अपेक्षा अस्सी के दशक में सबसे ज्यादा (दस गुणा) सूचकांक है। 1987 तक खनिजों में उतार-चढ़ाव भी सबसे ज्यादा हुआ है। भूमि के ऊपर के किसी संसाधन में इस तरह की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। लंडन मैटल एक्सचेंज में प्रचलित अस्थिरता ने जांबिया जैसे देशों की अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया।

खनिजों के मूल्य में अप्रचलन, प्रतिस्थापन या प्रतिस्पर्धा की वजह से काफी गिरावट आ सकती है, इसलिए संसाधन के रूप में ये अधिक जोखिम भरे होते हैं। खानों से खनिज प्राप्त करने में बहुत अधिक समय लगता है। खनिजों के भंडार प्रौद्योगिकी तथा कीमत के फलन के रूप में मात्रा तथा मूल्य दोनों ही दृष्टि से काफी भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि खनिज की कीमतें ज्यादा हों तो अक्सर उनको ज्यादा निकाला जाता है अर्थात उनके भंडार में कमी होने लगती है। इसके अतिरिक्त, कीमतों में वृद्धि के कारण इन्हें ज्यादा से ज्यादा निकालने की कोशिश की जाती है जैसे कि 1973 में और फिर 1979 मे जब तेल की कीमतों में चार गुनी वृद्धि हो गई तो ब्रिटेन में उत्तरी सागर से तेल निकालने और भारत में तेल की खोज के पुरजोर प्रयास किए गए।

भंडारों में संकल्पनात्मक रूप से भी भिन्नता होती है अर्थात उनकी मात्रा का अनुमान खनिज विशेष के अनुसार लगाया जाता है। उदाहरणत: तेल के भंडारों को प्रमाणित श्रेणी में प्रकाशित किया जाता है जबकि कोयले के भंडारों के बारे में जो घोषणाएँ की जाती हैं उनमें कम विश्वस्त, संकलित तथा अनुमानित श्रेणियाँ भी शामिल होती हैं। इसके अलावा, कोयला भंडार का यह अर्थ भी नहीं है कि उसे स्वीकार्य लागत पर पूरी तरह से खोदा और इस्तेमाल किया जा सकता है। भारत में सामान्यत: कोयला भंडारों के केवल 30% हिस्से से ही कोयला निकाला जा सकता है। ओपेनकास्ट खनन प्रौदयोगिकी से मात्रा को बढ़ाया तो जा सकता है परंतु उसकी वजह से पर्यावरण खराब हो जाएगा जिसकी वजह से पारिस्थितिकी लागत बढ़ जाएगी। खनिज उपयोग की कुल लागत में उसकी कीमत, परिवहन लागत, सफाई, भंडारण तथा रख-रखाव, व्यर्थ अवशेष निपटान तथा प्रदूषण नियंत्रण शामिल होता है। यही कारण है कि अधिकांश विकसित देशों में कोयले के स्थान पर तेल तथा गैस को प्राथमिकता दी जा रही है।

कम जगह घेरने वाले और उच्च-मूल्य वाले खनिजों में ताँबा जैसी धातुएँ आती हैं। उनको खोद निकालने की लागतों में अधिक अंतर नहीं होता। ये लागतें उनकी कीमत का लगभग 20 प्रतिशत ही होती हैं। इसकी कुल लागतों का निर्धारण उसकी तैयार करने की प्रौद्योगिकी, अयस्क (कच्ची धातु) की कट-ऑफ श्रेणी तथा पर्यावरण सुधार लागत द्वारा होता है। इस शताब्दी के प्रारंभ में कच्ची धातु में से ताँबा प्राप्त करने के लिए आर्थिक रूप से अभीष्ट मात्रा 10% ताँबे की हुआ करती थी किन्तु अब केवल 0.5% या उससे भी कम मात्रा की ही जरूरत होती है। आज भारत में ताँबा प्राप्त करने के लिए कट-ऑफ दर 2% के लगभग है जो हमारी अपव्ययी प्रौद्योगिकी की निशानी है। अयस्क निकालने की मात्रा में काफी अंतर आया है, उसके टन भार में तो ज्यामितीय वृद्धि हो रही है किंतु उसके ग्रेड में अंकगणितीय ह्रास हो रहा है।

बॉक्साइट तथा लौह अयस्क जैसे अधिक जगह घेरने वाले तथा कम भाड़ा खनिजों की परिवहन लागत उनके खानगर्त-मूल्य से दस गुना अधिक पड़ती है। प्रत्येक खनिज का मूल्यवर्धन प्रौद्योगिकी द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, बॉक्साइट से अल्यूमिना के माध्यम से अल्यूमीनियम तक 4 तथा 15 का मूल्य गुणक होता है। लेकिन इस परिवर्तन के लिए उपलब्ध प्रौद्योगिकी में ऊर्जा की खपत काफी अधिक होती है। इसलिए बॉक्साइट के निर्यात के स्थान पर अल्यूमीनियम का निर्यात करने के विकल्प को चुनना वास्तव में ऊर्जा का

निर्यात करना है। भारत के लिए यह स्पष्ट रूप से एक घोर लाचारी है। बहुत अधिक मात्रा में परिवहन तथा प्रौद्योगिकीय ऊर्जा-सघन शीटों का प्रवाह इस संबंध में दोनों एक समान ही हैं।

ऊर्जा लाचारी की इस पृष्ठभूमि में यह भी समझ लेना चाहिए कि खनिजों का भंडार सीमित होता है और इसके समाप्त हो जाने पर इसे फिर से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। निरपेक्ष रूप में, यदि पर्याप्त ऊर्जा उपलब्ध हो, तो खनिजों की हमारी वर्तमान आवश्यकता को, खनिज की प्रचुरता और सामग्री को पुन: काम में लाने के साथ-साथ प्रतिस्थापन द्वारा पूरा किया जा सकता है। लेकिन यहाँ एक सावधानी बरतनी होगी। हमें भौतिक रूप में संसाधनों पर ज्यादा निर्भर नहीं रहना चाहिए। खनिज-भंडार भौतिक रूप से खोदे जाने से पहले ही आर्थिक रूप से समाप्त हो चुके होते हैं। इसलिए उपलब्ध खनिज संसाधनों के समाप्त हो जाने की प्रवृत्ति की अपेक्षा उनकी माँग, पूर्ति तथा कीमत से संबंधित आर्थिक प्रश्न ज्यादा महत्वपूर्ण होता है।

बोध प्रश्न 3

1 खनिजों तथा अन्य संसाधनों के बीच तीन अंतरों को बताइए।

.....

.....

.....

2 तेल भंडार कोयला भंडारों से कैसे भिन्न होते हैं ?

.....

.....

.....

6.8 ऊर्जा खनिजों के लिए विशेष परिस्थितियाँ

खनिज ऐसे साधन होते हैं जिनके माध्यम से ऊर्जा को ऐसे उपयोग में लाया जाता है जिससे मनुष्य के जीवन स्तर को निर्वाह स्तर से ऊपर उठाने में सहायता मिलती है। औद्योगिक क्रांति के बाद आंतरिक श्रम-विभाजन तथा प्रचालनों की पुनरावृत्ति पहले कोयले से फिर तेल-गैस या परमाणु ऊर्जा के उपयोग से ही संभव हुई है। इस प्रकार, ऊर्जा-खनिज अभी तक आधुनिकीकरण के मूल साधन रहे हैं। आप ऊपर यह पढ़ ही चुके हैं कि अन्य खनिजों को चुनने में ऊर्जा की निर्णायक भूमिका होती है। वास्तव में तो, यदि ऊर्जा की लाचारी न हो तो समुद्र का जल या सामान्य चट्टान सभी खनिजों की पर्याप्त मात्रा पैदा कर सकते हैं।

ऊर्जा खनिजों का सीमित मात्रा में होना और समाप्त हो जाने पर फिर से उत्पन्न न किया जा सकना तथा पारिस्थितिक लाचारियाँ, सत्तर (70s) के दशक में तेल संकट के समय और भी अधिक स्पष्ट हो गए। तेल, कोयला और गैस उत्पादन के चरम सीमा पर पहुँचने के बारे में भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है। लेकिन यदि हम विश्व भर में अश्मीभूत ईंधनों से उपयोग में लाई जा रही ऊर्जा की तुलना पृथ्वी के धरातल पर 6500×10^{20} कैलोरी प्रतिवर्ष की सूर्य की ऊर्जा से करें तो ऊर्जा की समस्या अनिवार्यत: प्रौद्योगिकी की समस्या बन जाती है। अश्मीभूत ईंधनों से प्राप्त ऊर्जा सम्पूर्ण पृथ्वी पर पड़ने वाली सूर्य की रोशनी के 48 मिनट के बराबर है। प्रतिवर्ष सूर्य की 6500 कैलोरी ऊर्जा के विपरीत, भू-ताप हानियाँ 3.2, रेडियोधर्मिता 2.5, ज्वारभाटा 0.2 तथा मनुष्य 0.6, के बराबर हैं। भारत में भू-ताप संसाधन अश्मीभूत ऊर्जा के 10,000 गुना आँके गए हैं।

अल्पकाल में ऊर्जा खनिजों का अधिक उपयोग अपरिहार्य है, विशेष रूप से भारत जैसे देशों में जहाँ आज भी अधिकतर ऊर्जा उत्पादन पूर्व-औद्योगिक तरीकों पर ही निर्भर है। लेकिन दीर्घकाल में यदि अवसर लागत का निर्धारण किया जाए तो खनिजों के स्थान पर अन्य विकल्प सोचना ही होगा। आवधिक तालिका के लिए विख्यात मेन्डेलीव ने तेल के उपयोग की

बैंक नोटों को जलाकर ईंधन के रूप में प्रयुक्त करने से तुलना की है। वास्तव में तो, भविष्य के रासायनिक उद्योग में काम आने वाले सामान के रूप में ऊर्जा खनिजों का बहुत महत्व है।

भारत में कुल खनिजों के वार्षिक उत्पादन में 80% मूल्य के इसी प्रकार के खनिजों का उत्पादन होता है। 1985 में कुल योजना परिव्यय में ऊर्जा का हिस्सा 30% था। यहाँ की वाणिज्यिक ऊर्जा माँग की 50% से अधिक की पूर्ति कोयले द्वारा ही होती है। तेल की जगह इसके चुनाव की कुल लागत आप जानते हैं। स्वतंत्रता के बाद देश में ही तेल के उत्पादन करने पर जोर देने के बावजूद हमें जितनी अधिक मात्रा में तेल का आयात करना पड़ रहा है, उससे हमें भारत में ऊर्जा खनिजों की दयनीय स्थिति का पता चलता है जबकि स्वतंत्रता से पहले हमारी आशाएँ बिल्कुल इसके विपरीत थीं।

बोध प्रश्न 4

1. ऊर्जा की समस्या अनिवार्यत: एक प्रौद्योगिकी की समस्या कैसे है ?

   .....

   .....

   .....

2. तेल को ईंधन के रूप में प्रयोग की अपेक्षा कौन-सा उपयोग अधिक उपयुक्त है ?

   .....

6.9 खनिज : क्षेत्रीय वितरण तथा क्षमता

खनिज संसाधनों के असमान क्षेत्रीय वितरण तथा इसके आर्थिक विकास पर प्रभाव के बारे में स्वतंत्रता मिलने से तत्काल पहले सोचा गया था। मंगलूर और कानपुर को जोड़ने के लिए यदि एक सीधी रेखा खींची गई तो उस रेखा का पश्चिम वाला क्षेत्र खनिजों की दृष्टि से विपन्न और पूर्व वाला क्षेत्र खनिज संपन्न क्षेत्र माना गया। बुनियादी तौर पर ऐसा इसलिए माना जाता है क्योंकि ऊर्जा खनिजों को और विशेष रूप से कोयले को मूल्य की दृष्टि से अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिए खनिज उत्पादन में अग्रणी राज्य के रूप में बिहार का आधिपत्य बना रहा। आजकल बोम्बे हाई तथा तेल के कीमतों में परिवर्तन से बिहार दूसरे स्थान पर है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि खनिजों के अंतर्गत भी यदि प्राथमिकता बदल जाए तो क्षेत्रीय वितरण भी बदल जाता है। पूर्व-औद्योगिक समाज में ऊर्जा खनिजों को लगभग शून्य महत्व ही दिया जाता था और दक्षिण भारत खनिज-सम्पन्न क्षेत्र में सबसे आगे था। लेकिन अब दक्षिण भारत में हमारे कुल खनिज उत्पादन मूल्य का केवल 7% ही पैदा होता है।

इतिहास ने हमारे मन में यह विचार पैदा कर दिया है कि भारत में अपार खनिज भंडार मौजूद हैं लेकिन आजकल औद्योगिक समाज के परिप्रेक्ष्य में हमें इस विचार में संशोधन करना होगा। यह ठीक है कि 1987 तक हम 14900 करोड़ टन कोयला, जिसमें 3.5 प्रतिशत प्राइम कोकिंग कोयला है, तथा 400 करोड़ टन लिग्नाइट का पता लगा चुके हैं। वर्ष 1988 में ही हमारे यहाँ 19.6 करोड़ टन कोयला, जिसमें 3.1 करोड़ टन कोकिंग कोयला था, और 80 लाख टन लिग्नाइट का उत्पादन किया गया। लेकिन फिर भी 1987 में हमें लगभग 30 लाख टन बढ़िया कोयले का आयात करना पड़ा। हमारे यहाँ तेल का उत्पादन प्रतिदिन 3 करोड़ टन तथा गैस का उत्पादन 2.2 करोड़ घन मीटर को पार कर चुका है। लेकिन इसके बावजूद हम अपने उपभोग का 33 प्रतिशत से अधिक तेल और गैस आयात करते हैं। गोदावरी के छिछले पानी में तेल गैस का मिलना केवल क्षेत्रीय-क्षमता को ही प्रभावित करेगा। अब यह स्पष्ट हो गया है कि उत्तरी गोलार्द्ध के ऊर्जा खनिज सम्पन्न अर्द्ध-चन्द्र से भारत बाहर है। इसके अतिरिक्त, आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चल रही "दो कीमतों" की वजह से हमारे तेल आयात का बिल हमारे देश के कुल खनिज उत्पादन से कई गुना अधिक हो गया है।

यह सिद्ध हो चुका है कि भारत में 7300 करोड़ टन चूना है जो विभिन्न क्षेत्रों में छितरा पड़ा

है। हमारे यहाँ पोटॉश, फॉस्फेट तथा मैग्नेशियम की कमी है और अनुमानित क्षमता में क्षेत्रीय दृष्टि से काफी अंतर भी है। पोटॉश और फॉस्फेट ऐसे क्षेत्रों में हैं जो पूर्वी भारत के उर्वरक पिपासू खेतों से काफी दूर हैं। अभी हाल में तमिलनाडु में जो मैग्नीशियम संयंत्र लगाया गया है वह हमारी एक-तिहाई वार्षिक माँग की ही पूर्ति कर सकेगा।

लौह धातुओं के मामले में भारत कुछ अधिक सौभाग्यशाली हैं क्योंकि यहाँ 1100 करोड़ टन हेमाटिटिक लौह अयस्क तथा 600 करोड़ टन मैग्नेटाइट का भंडार है। इनका क्षेत्रीय वितरण भी काफी समान है। कुल उत्पादन के 50 प्रतिशत से अधिक हिस्से का निर्यात कर दिया जाता है, मैंगनीज़ और क्रोमाइट का भी इसी तरह निर्यात कर दिया जाता है। मैंगनीज़ क्षमता के बारे में पिछली शताब्दी के मुकाबले आज भारत ज्यादा दीन-हीन दिखाई देता है। हमारे यहां 12 करोड़ टन मैंगनीज तथा 13.5 करोड़ टन क्रोमाइट का भंडार है किंतु इसके साथ समस्या यह है कि यह भंडार क्षेत्रीय रूप से संकेंद्रित है। ऐसा ही मामला 16 करोड़ टन निकल अयस्क के साथ है जिसमें धातु तत्व केवल एक प्रतिशत है। मिश्र धातु बनाने के लिए अब ऊर्जा एक महत्वपूर्ण लाचारी है।

भारत में आधार-धातु (अलौह) की उपलब्धता की कमी ऐतिहासिक है। संकेद्रण की समस्या के समाधान के लिए जो सचेत प्रयास किए गए हैं उनका अच्छा फल निकला है। हमारे यहाँ 56.6 करोड़ टन ताँबा अयस्क, 36 करोड़ टन सीसा,जस्ता अयस्क, 4.5 करोड़ टन टंगस्टन अयस्क और 260 करोड़ टन बॉक्साइट के भंडार आज प्रमाणित हैं। लेकिन इसके बावजूद इनका आयात चालू है। क्षमता को उत्पादन में बदलने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी लगानी होगी और प्रौद्योगिकीय पिछड़ेपन को दूर करना होगा। यहाँ यह उल्लेख रुचिकर है कि आधार धातुओं की बहुत-सी नई खोजें ऐसी पुरानी खदानों से हुई हैं जो करोड़ों वर्ष पुरानी हैं। अल्यूमीनियम उत्पादन के लिए पूर्वी भारत की ओर जो नया झुकाव हो रहा है वह भी प्रौद्योगिकी द्वारा इस तथ्य को स्वीकार कर लेना है कि पूर्वी तट का बॉक्साइट निम्न श्रेणी का है और जिसके बारे में बहुत पहले से मालूम था। कटिबंधी भारत में ऊर्जा खनिज कहीं बहुत कम और कहीं साधारण मात्रा में मिलते हैं, चालू अल्यूमीनियम फ्लोशीट कोई बहुत ज्यादा फायदेमंद नहीं है चूंकि इसका उत्पादन अत्यधिक ऊर्जा-प्रधान है।

जहाँ तक सोने का संबंध है, कोलार में पहले से ही 793 टन का उत्पादन हो चुका है जिसमें सोना-प्राप्ति की दर तीस के दशक में ही 48 ग्राम प्रति टन थी जबकि आज मात्र 3 ग्राम प्रति टन है। ऐसा कहा जाता है कि कोलार में अब 34 टन का और उत्पादन किया जा सकता है। भारत में जो कुल प्रतिप्राप्य (recoverable) भंडार है वह केवल 79 टन का है। अब जो महत्वपूर्ण प्राप्ति है, वह है उपोत्पादन की प्राप्ति, जैसी कि ताँबा रारवा की खानों से मिल रही है। आज भारत बिना कटे हीरों का एक अग्रणी उत्पादक तो नहीं किंतु संसाधक (processor) अवश्य बन गया है। सूरत में पॉलिश किए हीरों का देश के कुल उत्पादन के 70% हिस्से का उत्पादन किया जाता है। लेकिन पन्ना की खानें संशोधन हेतु (processor's) कुल माँग की 0.5 प्रतिशत की ही पूर्ति कर पाती है। यदि सावधानीपूर्वक ध्यान न दिया गया तो यह निश्चित रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक अस्थिरता पैदा करने वाला कारण है।

बोध प्रश्न 5

1 भारत में क्या प्रमुख खनिज क्षेत्र एक ही रहा है ?

.....

2 'दो कीमतें' हमारे खनिज आकलन को कैसे प्रभावित करती हैं ?

.....

.....

.....

3 क्या हमारे यहाँ पर्याप्त ऊर्जा खनिज हैं ?

.....

4 क्या हमारे यहाँ पर्याप्त धातुएं हैं ?

.....

5 भारत में हीरा संशोधन (processing) के कितने हिस्से को देश के अंदर होने वाले उत्पादन से पूरा किया जा सकता है।

6.10 खनिजों के दोहन का स्वरूप

जैसा आपने पहले पढ़ा, खनिजों के दोहन के स्वरूप में समाज के ढाँचे के अनुरूप बदलाव आता रहता है। जैसे कि औद्योगिक समाज से पूर्व यह कोष-प्रधान था लेकिन बाद में इसका स्वरूप वस्तुओं के उत्पादन गुणक में वृद्धि द्वारा देशों की वास्तविक धनसंपदा में वृद्धि करने वाला हो गया। जैसे-जैसे खनिजों की किस्म और मात्रा में बढ़ोतरी होने लगी है वैसे-वैसे उनके अन्य संसाधनों के साथ मिलने से कई प्रकार के परस्पर विरोधी स्वरूप पनपे हैं। भूमिगत संसाधनों के ऊपर प्रभुसत्ता का प्रश्न कई स्तरों अर्थात विश्व, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तरों पर उठाया जा रहा है। वर्तमान खनिज उत्पादन सिद्धांत के अनुसार भौगोलिक संकेद्रण की जगह स्थान की समानता पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। खनिजों के दोहन के मामले में भी नियंत्रक चर के रूप में भूगोल को समाप्त किया जा रहा है। लेकिन उसके लिए एक क्षेत्र-विशेष में खनिजों के सही पैकेज की पहचान करना आवश्यक होगा।

दीर्घकालीन दृष्टि से, खनिजों को आज मानव समाज की एक सांझी धरोहर माना जा रहा है। लेकिन अल्पकालीन रूप में, वर्तमान में समानता की भावना ने खनिजों पर विभिन्न स्तरों पर कार्यमूलक प्रभुसत्ता को जन्म दिया है। आज भारत औपनिवेशिक राज्य के पिछले बकाया विकास के साथ उद्योगों की दुनियाँ में उभर रहा है, इसलिए खनिजों के दोहन के स्वरूप पर अनेक आर्थिक हितों की छाप परिलक्षित होती है।

6.10.1 औपनिवेशिक विरासत

आप इस बात से सहमत होंगे कि खनिजों के दोहन से पहले उनकी खोज आती है। औपनिवेशिक भारत में खनिजों की खोज का काम एक वैज्ञानिक आधार पर आयोजित किया गया था और इसे आज भी सराहा जाता है। भारत में कोयले के आयात के स्थान पर यहीं कोयले की खोज के काम को भूवैज्ञानिकों के एक कर्मठ दल ने प्रारंभ किया। इसके बाद इस शताब्दी के प्रारंभ से उन्होंने लोहे, मैंगनीज़ तथा अन्य धातुओं की खोज प्रारंभ की। तेल की खोज का काम भी भारत में लगभग उसी समय शुरू कर दिया जब विश्व में अन्य स्थानों पर इसकी खोज की जा रही थी। निर्यात पैकेज में सोने का स्थान धीरे-धीरे माइका तथा इल्मेनाइट ने ले लिया।

हालाँकि, भारत खनिजों के निर्यात के मामले में दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों के मुकाबले कभी भी महत्वपूर्ण देश नहीं रहा लेकिन भारत में विकसित होने वाला खनिज दोहन स्वरूप कोई खास लाभकारी नहीं था। प्रत्येक कदम पर मूल्यवर्धन अवरूद्ध ही रहा। गिरीडीह के मेटलर्जी कोयले को रेलवे के बायलरों में उपयोग करने की फिजूल प्रथा चलती रही। माइका या मैंगनीज के खदान में जो आपाधापी बरती गई वह निर्यात-प्रधान थी। खनिज-क्षेत्रक में जो प्राथमिकता तय की गई वह कभी भी आंतरिक आर्थिक विकास की ओर उन्मुख नहीं थी। खनिजों का विकास पूर्वी भारत में औपनिवेशिक राजधानी के निकट ही अधिक हुआ। इसकी वजह से अन्तर-क्षेत्रीय आदान-प्रदान में असमानता आ गई। यह समस्या इसलिए और भी बढ़ गई कि भूमि संसाधनों तथा खनिजों के बीच कोई अंतर नहीं किया गया। भारत के विभिन्न भू-क्षेत्र खनिज अर्थव्यवस्था से अलग हटकर विकसित हुए।

परंतु औपनिवेशिक राज के समाप्त होते-होते खनिजों में भारत की आत्म-निर्भरता एक युद्धकालीन आवश्यकता थी जिसने इस क्षेत्रक के राष्ट्रीयकरण को प्रमुख मुद्दा बना दिया। उसी समय युद्ध के दौरान बिना किसी समुचित सुरक्षा उपायों के उत्पादन में जो उतार-चढ़ाव आए उनकी वजह से झरिया के कोयला क्षेत्र में आग लग गई और इसका कुप्रभाव हम आज तक भुगत रहे हैं।

6.10.2 विकासशील ढाँचा

स्वतंत्रता के तत्काल बाद खनिजों के निर्धारण और राज्य निगमों की स्थापना से खनिज-क्षेत्रक के योजनाबद्ध विकास का प्रयत्न शुरू किया गया। निरपेक्ष रूप से यदि आप 1947 के आंकड़ों से तुलना करें तो अब खनिज संबंधी कार्यकलाप में काफी प्रगति हो गई है। लेकिन विश्व भर के आंकड़ों के रूप में विश्व की कुल जनसंख्या की 15% जनसंख्या वाले इस देश में खनिजों के बारे में आत्मनिर्भरता हासिल करने के प्रयत्नों में निरंतर कमी आ रही है। भारत में पूरी दुनिया के केवल 3.5% ही खुदाई योग्य कोयला भंडार हैं। आप यह जानते ही हैं कि ये कोयला भंडार बिहार के आसपास के क्षेत्रों में ही संकेंद्रित हैं। इसके बावजूद बिहार में प्रति व्यक्ति बिजली उपलब्धता केवल 44 किलोवाट घंटे है जबकि गैर-कोयला क्षेत्र पंजाब में यह 140 किलोवाट है। यहाँ यह जानकारी देना जरूरी है कि भारत में बिजली का जो कुल उत्पादन होता है उसमें सबसे ज्यादा उत्पादन कोयला आधारित ताप से ही होता है। जिस पूर्वी भारत में 92% कोयला भंडार हों और जहाँ 86% कोयले का उत्पादन किया जाता हो वहाँ स्वतंत्रता के 40 वर्षों के बाद भी देश की कुल स्थापित ताप बिजली क्षमता का केवल 20% ही इस क्षेत्र में स्थापित है। विश्व में असमानता की भाँति यह बात भारत के अंदर ही असमानता को जन्म देती है।

तेल संकट के बाद आर्थिक निर्भरता और भी बढ़ गई है क्योंकि भारत एक निवल तेल आयातक देश है। कृषि-खनिजों की प्राथमिकता साठ के दशक के योजना-अवकाश के दौरान ही सामने आई। एक योजना से दूसरी योजना में प्राथमिकताओं में जो बदलाव किया गया उसकी वजह से धातु की स्थिति पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा है। धातुओं के बारे में क्षेत्रीय असंतुलन में अवश्य कुछ कमी आई है। लेकिन कोयला या अभ्रक जैसे खनिजों में जो 'असंगठित क्षेत्र' है उसकी वजह से धातुओं में भी समानांतर अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला है।

बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश के कारण "अंतरण व्यापार" (Switch–Trade) जिसमें हमारे यहाँ के निर्यातों को आयातक विदेशों में ज्यादा कीमत पर पुन: बेच देते हैं, अब पूरे विश्व में फैल गया है। हीरे जैसे कई खनिज ऐसे हैं जिनकी भूमिगत संसाधनों के रूप में हमारे यहाँ जड़ें नहीं हैं। खनिज आधार का अधिक्रमण अब एक नियम सा बन गया है।

6.10.3 खनिज नीति का तर्काधार

पिछले विवरण से आपको अनुमान लग गया होगा कि खनिजों तथा उनकी आर्थिक भूमिका के विषय में हमारा दृष्टिकोण तर्क पर आधारित नहीं रहा है। यह पिछड़ा क्षेत्रक हमारे लोगों की बहुत जरूरी अपेक्षाओं को पूरा कर सके इसके लिए यह समझना बहुत जरूरी है कि हमारी 'क्षमता' करोड़ों भूखे और नंगे इंसानों की क्षुधा पूर्ति नहीं कर रही है। दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन प्राथमिकताओं को हमें तत्काल निश्चित करना होगा। कुछ विकल्प इस प्रकार हैं:

1 हमारे ऊर्जा खनिज भंडार की स्थिति को देखते हुए किसी अन्य प्रकार की ऊर्जा की ओर ध्यान देने से न केवल क्षेत्रीय समानता ही स्थापित होगी अपितु बहुकेन्द्रक (multi–nuclear) आत्मनिर्भर ऊर्जा उत्पादन चक्र प्रारंभ करने में सहायता मिलेगी। हमारे ऊर्जा खनिजों को भविष्य के रासायनिक उद्योग की आवश्यकताओं को पूरा करने में ज्यादा लगाया जाना चाहिए।
2 हमारे कृषि कार्यों को तेल के फीड स्टाकों पर आधारित खनिजों के प्रयोग से अलग करना चाहिए। क्षेत्रीय रूप से, युक्तिपूर्ण परिवहन दायरे में खनिज पोषक उपलब्ध होनी चाहिए।
3 इस्पात या निर्माण सामग्री के फ्लोशीट के लिए क्षेत्रीय चयन को अधिक मान्यता दी जानी चाहिए।
4 भूमिगत रूप से संसाधनों की उपलब्धता को देखते हुए प्रतिव्यक्ति धातु-खपत को औचित्यपूर्ण बनाया जाना जरूरी है।
5 जब तक कि कोई अन्य कम असमान विश्व आर्थिक व्यवस्था स्थापित न हो जाए तब तक विश्व के खनिज एक्सचेंज से अलग रहने का प्रयत्न किया जाए। औपनिवेशिक विरासत को बढ़ावा देने वाले अन्तर्क्षेत्रीय विनिमय को समाप्त होना होगा।

वास्तव में स्थानीय स्तर पर संसाधनों को और अधिक सम्बद्ध करने से खनिज वहाँ के

लोगों के लिए ज्यादा लाभदायक हो पाएंगे। इससे मानव खनिजों के महत्व को बेहतर ढंग से समझ पाएगा। अब भारत के लोगों को अपनी संपदा की मात्रा तथा उसके उपयोग के बारे में शीघ्र समझना होगा ताकी इसकी लूट तथा दुरुपयोग को यथासंभव तरीके से रोका जा सके। हमें यह याद रखना चाहिए कि खनिज नीति अक्सर इसीलिए प्रभावहीन हो जाती है क्योंकि राष्ट्रीयकृत उद्योग से प्राप्त प्रतिफल परजीवी राज्य प्रशासन तंत्र द्वारा फूँक दिए जाते हैं।

बोध प्रश्न 6

1 खनिज पूरे मानव समाज की सांझा धरोहर होते हैं, इसके बारे में आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

.....

.....

.....

2 औपनिवेशिक भारत में खनिज उपयोग की फिजूलखर्ची के दो उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

3 क्या हमने स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद खनिज क्षेत्रक में प्राथमिकता स्थापित की है ?

.....

.....

.....

4 खनिजों की फिजूल-खर्ची या अविवेकपूर्ण प्रतिफल पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है ?

.....

.....

.....

6.11 सारांश

इस इकाई में हमने भारत के प्राकृतिक संसाधन आधार के आर्थिक और विशेष रूप से क्षेत्रीय प्रभावों की समीक्षा की है। इस प्राकृतिक संसाधन आधार में ऐसे बहुत से कारक शामिल होते हैं जो भूमि के ऊपर इन संसाधनों की उपलब्धता पर असर डालते हैं। इसी प्रकार से कुछ संसाधन भूमिगत भी होते हैं। भूमि के ऊपर के संसाधनों में जल संसाधन, मिट्टी के गुणतत्व, फसल, वनसंपदा, पशुपालन, मछली पालन आदि शामिल होते हैं। भूमिगत संसाधनों में सभी प्रकार के खनिज तथा धातुएँ होती हैं जिसमें कोयला, तेल तथा गैस जैसे ऊर्जा खनिज भी शामिल होते हैं।

फसलें मुख्य रूप से दो तरह की होती हैं — खाद्यान्न फसलें तथा वाणिज्यिक फसलें, जैसे जूट तथा कपास, इनके अतिरिक्त बागवानी, चाय तथा काफी के बागान आदि की फसलें भी होती हैं। जल साधन तथा मिट्टी के गुणतत्व और साथ ही प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों की वजह से फलस्वरूप, फसल की सघनता आदि में क्षेत्रानुसार भिन्नता आ जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले की स्थिति से तुलना करने पर हम पाते हैं कि भारत ने खाद्यान्न उत्पादन के मामले में महत्वपूर्ण प्रगति की है।

विश्व के किसी भी देश की तुलना में भारत में सबसे ज्यादा पशुधन है किंतु चरागाह भूमि अपेक्षाकृत सीमित मात्रा में है। आम तौर पर यही कारण है कि हमारे यहाँ के पशुओं से प्राप्त

उपज बहुत कम है। हालाँकि आपरेशन फ्लड नामक एक विशेष कार्यक्रम चलाकर हाल के वर्षों में इस क्षेत्र में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, इस कार्यक्रम के अधीन यूरोपीय साझा समुदाय के देशों से बड़ी मात्रा में दुग्ध चूर्ण तथा मक्खन का आयात भी किया गया है। भारत में मछली पालन का काफी क्षमता मौजूद है लेकिन इसके बड़े हिस्से का अभी तक उपयोग नहीं किया जा सका है क्योंकि इस क्षेत्र में हमारी टैक्नोलाजी तथा संगठनात्मक ढाँचा अभी भी पुरातन ढंग का ही है।

कृषि-पारिस्थितिकी-पर्यावरण संतुलन का एक अति महत्वपूर्ण घटक वानिकी है और यही जल तथा मिट्टी की स्थिति का निर्धारण करती है। वनों को काटने की गंभीर समस्या ने देश को पूरी तरह ग्रसित कर लिया है और इसीलिए इस समस्या से उबरने के लिए वनरोपण के विशेष उपाय किए जा रहे हैं। यदि उनके साथ सुधारात्मक उपाय नहीं अपनाए गए तो बड़ी-बड़ी नदी घाटी परियोजनाएँ तथा पन बिजली बाँध द्वारा भी पारिस्थितिक खतरों में और भी वृद्धि हो सकती हैं क्योंकि इनसे पानी जमा होने, जल स्तर ऊपर हो जाने, खारापन बढ़ जाने, तथा व्यापक क्षेत्र के पानी में डूब जाने की वजह से पारंपरिक निवास स्थानों के उखड़ जाने और लोगों की जीवन शैली में परिवर्तन आ जाने का डर है। भविष्य को ध्यान में रख कर वर्तमान की समृद्धि के लिए योजनाएँ बनाते समय गंभीर आर्थिक लाभ-हानि को भी ध्यान में रखना होगा।

खनिज पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न हुए उपयोगी पदार्थ होते हैं। खनिजों की आर्थिक भूमिका एक समाज से दूसरे समाज में बदलती रहती है। पहले ये या तो राजकोष में रखे जाते थे या व्यक्ति की शोभा बढ़ाने के काम आते थे। आज इनकी सही जगह वस्तुओं के उत्पादन में है जिससे कि जीवन की गुणवत्ता बढ़ाई जा सके। नमक जैसे कुछ खनिज ऐसे हैं जो हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य हैं। कुछ औषधीय तथा कृषि खनिज अब तेजी से हमारी आवश्यकताएँ बनते जा रहे हैं।

लौह युग से अब हम आधुनिक पाषाण युग में प्रवेश कर रहे हैं। संस्कृति तथा उद्योग ऐसे खनिजों के साथ जुड़े हैं जिनकी सापेक्षिक दुर्लभता अभी नहीं देखी जा रही है। खनिजों का विनिमय स्वयं में अपना महत्व खो रहे हैं किंतु खनिजों का विनिमय आज विश्व स्तर पर हो रहा है।

बहुत से अन्य संसाधनों के विपरीत खनिजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया-ले-जाया जा सकता है, वे बहुत नाशवान भी नहीं होते। खनिजों के भंडार में स्थान तथा समय के अनुरूप काफी भिन्नता होती है। किसी सीमा तक वे सीमित और अपूर्ण होते हैं। ऊर्जा खनिज अन्य खनिजों से अलग एक विशेष श्रेणी में आते हैं और वे किसी अर्थव्यवस्था में अन्य खनिजों की उपलब्धता तथा कीमत का निर्धारण करते हैं।

भारत में औपनिवेशिक विकास की प्रकृति की वजह से खनिजों की क्षेत्रीयता और भी स्पष्ट हो गई। अभी तक इस स्थिति में पूरी तरह से परिवर्तन नहीं लाया जा सका है। धातुओं के क्षेत्र में थोड़ी सफलता मिली है। विश्व की तुलना में भारत में खनिज संसाधन कम ही हैं और इसलिए एक स्पष्ट खनिज नीति बनाने की जरूरत है। लोगों को अधिकतम लाभ पहुँचाने के लिए सक्रियता पर आधारित दृष्टिकोण अपनाए जाने की सख्त जरूरत है।

6.12 शब्दावली

फसल क्षेत्र:

सकल फसल क्षेत्र: एक कृषि वर्ष में एक या अधिक फसल की खेती के अंतर्गत आने वाला कुल क्षेत्र। उदाहरण: यदि 100 एकड़ भूमि पर खेती की जा रही है, उसमें से 50 एकड़ भूमि तो ऐसी है जिस पर वर्ष में केवल एक बार खेती की जाती है, 30 एकड़ पर दो बार और 20 एकड़ पर वर्ष में तीन बार खेती की जाती है तो सकल फसल क्षेत्र $=50 \times 1+30 \times 2+20 \times 3)=170$ एकड़।

निवल बुआई क्षेत्र: इसका अर्थ है किसी भी प्रकार की फसल के अंतर्गत आने वाला भौगोलिक क्षेत्र, इसमें यह नहीं गिना जाता कि एक कृषि वर्ष में इस पर कितनी बार फसल बोई गई है। उपर्युक्त उदाहरण में इस तरह से निवल बुआई क्षेत्र केवल 100 एकड़ ही होगा।

अभिज्ञात संसाधन: खनिज युक्त सामग्री की विशिष्ट वस्तुएँ जिनका स्थान, क्वालिटी तथा मात्रा ज्ञात है।

सूचित भंडार: भंडारों का वह भाग जो आंशिक रूप से तो विशिष्ट मापगत है और आंशिक रूप से अनुमान पर आधारित है और जिसके स्थल व्यापक रूप से फैले हैं।

अनुमानित भंडार: वह भाग जो व्यापक जानकारी के आधार पर आकलित किया जाता है।

अयस्क: किसी खनिज का भंडार जिसमें से एक या अधिक धातुओं का आर्थिक रूप से उत्पादन किया जा सकता है।

प्रमाणित भंडार: भंडारों का वह भाग जो इंजीनियरी मापों द्वारा समर्थित है। एक विस्तृत नमूना के परिणामों से प्राप्त किए गए आकार-प्रकार तथा ग्रेड द्वारा टनभार का आकलन किया जाता है इसमें 20% तक की त्रुटि रह सकती है।

भंडार: अभिज्ञात संसाधन का वह भाग जिसमें से उपयोग-योग्य खनिज या ऊर्जा वस्तु आर्थिक तथा कानूनी रूप से निर्धारण के समय निकाली जा सकती है।

संसाधन: प्राकृतिक रूप से होने वाले ठोस, तरल या गैसीय पदार्थ का पृथ्वी के नीचे या ऊपर ऐसे रूप में संकेन्द्रण कि जिसमे से उस वस्तु को वर्तमान में अथवा भविष्य में आर्थिक रूप से निकाला जाना संभव हो।

6.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मिश्र, एस. के. एवं वी. के. पुरी: **भारतीय अर्थव्यवस्था**, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1990, अध्याय- 7.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण, **भारतीय अर्थशास्त्र**, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, 199(अध्याय 3 एवं 4

Archer, A. A., Luttig G.W., Snezhko II (ed.), 1987, **Man's Dependence on the Earth** UNESCO, UNEP (Chapters On Mineral Resources, Energy Resources)

Chaudhuri, Pramit, 1985 : **The Indian Economy : Poverty and Development**, Vani Educational Books, New Delhi : (Chapter 2)

Commentery on Indian Economic Conditions, 1987, Dec. Blue Supplement. **India's Energy Outlook : 1985–2005.** Vol. 29, No. 5 (p. 341)

Mining, Annual Review, , 1987, **World Mining Journal,** London (Chapter of India)

Report of the National Commission On Agriculture (1976) Govt. of India, New Delhi, Volumes IV and V.

Seventh Five Year Plan (1980–85) New Delhi, Vol. II

6.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 भाग 6.3.1 देखिए
2 भाग 6.3 देखिए
3 भाग 6.4.3 देखिए
4 भाग 6.5 देखिए

बोध प्रश्न 2

1 3 खनिज चुनिए और उनकी आर्थिक भूमिका के लिए भाग 6.6.1, 6.6.2 और 6.6.3 में से एक-एक चुनिए।
2 भाग 6.6 का दूसरा पैरा देखिए
3 भाग 6.6 का चौथा पैरा देखिए
4 (i) चाँदी (= अरजंतन = अर्जेंटीनम) तथा (ii) कोरंडम (= कुरुबिंद)।
5 स्वयं प्रयास कीजिए।

बोध प्रश्न 3

1 पहला और चौथा पैरा देखिए
2 भाग 6.7 का पाँचवा पैरा देखिए
3 हाँ

बोध प्रश्न 4

1 भाग 6.8 का दूसरा पैरा देखिए
2 भाग 6.8 का तीसरा पैरा देखिए

बोध प्रश्न 5

1 भाग 6.9 का प्रथम पैरा देखिए
2 भाग 6.9 का दूसरा पैरा देखिए
3 नहीं
4 नहीं। हालाँकि, भारत की स्थिति अलौह धातुओं की अपेक्षा लौह धातुओं के बारे में ज्यादा अनुकूल है।
5 भाग 6.9 का आखिरी पैरा देखिए।

बोध प्रश्न 6

भाग 6.10 को सावधानी से पढ़कर प्रश्नों का उत्तर लिखिए।

इकाई 7 जनसांख्यिकीय प्रवृत्तियाँ और जनसंख्या नीति

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 जनसंख्या और आर्थिक विकास में इसका महत्व
  7.2.1 उत्पादन के रूप में जनसंख्या: क्लासिकी दृष्टिकोण
  7.2.2 जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास
  7.2.3 भारत के आर्थिक विकास में जनसंख्या एक कारक के रूप में
  7.2.4 शहरीकरण और आर्थिक विकास
7.3 भारत में जनसांख्यिकीय प्रवृत्तियाँ
  7.3.1 जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति
  7.3.2 ग्रामीण-शहरी वितरण और जनसंख्या-वृद्धि
  7.3.3 लिंग और आयु संरचना
  7.3.4 कार्यशील और गैर-कार्यशील जनसंख्या
7.4 जनसंख्या वृद्धि की क्रियाशीलता
  7.4.1 प्रजनन क्षमता
  7.4.2 मरणशीलता
  7.4.3 प्रवसन
7.5 भारत की जनसंख्या नीति
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको:

- जनसांख्यिकीय से सम्बद्ध कुछ शब्दावलियों की जानकारी होगी;
- जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्तियों तथा उसे प्रत्यक्षत: प्रभावित करने वाले कारकों जैसे जन्म, मृत्यु और प्रवसन के बारे में जानेंगे या ज्ञान होगा;
- जनसंख्या और आर्थिक विकास के दो-तरफा सम्बन्ध को समझ सकेंगे; तथा
- भारत की जनसंख्या नीति और उसके तर्काधार के ज्ञान के साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई में जनसंख्या के आर्थिक विकास के एक संसाधन के रूप पर विचार किया गया है, विशेषकर आर्थिक विकास के साथ इसके दो-तरफा संबंध को दर्शाया गया है। अध्ययन की इस प्रक्रिया में भारत में जनसंख्या वृद्धि के स्वरूप और उसे प्रभावित करने वाले तत्वों जैसे जनन क्षमता, मरणशीलता तथा प्रवसन (देशांतरण) से आप अवगत होंगे। साथ ही भारत में शहरीकरण के स्वरूप से भी आप परिचित होंगे।

चूंकि जनसंख्या आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण कारक है और इसका अध्ययन कुल जनसंख्या में श्रमिकों की संख्या तथा अनुपात के रूप में किया जाता है इसलिए यह जानना आवश्यक है कि जनसंख्या में कार्यशील और गैर-कार्यशील लोगों का क्या अनुपात है तथा कार्यशील जनसंख्या किन विभिन्न व्यवसायों में लगी हुई है।

यह मानते हुए कि आज भारत की जनसँख्या की वृद्धि दर बहुत उच्च है, जिसे आर्थिक और सामाजिक विकास का विद्यमान स्तर संभाल नहीं सकता, सरकार ने एक ऐसी जनसंख्या नीति बनाई है जिसके पालन द्वारा निकट भविष्य में वृद्धि दर को घटाकर शून्य किया जा सकता है। अब हम इस सम्बन्ध में किए गए प्रयासों और उनके तर्काधार की समीक्षा करने के साथ-साथ यह भी देखेंगे कि इन नीतियों को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है।

7.2 जनसंख्या और आर्थिक विकास में इसका महत्व

यहां हमें इस बात पर संक्षेप में विचार करेंगे कि किस प्रकार क्लासिकी और नव-क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के कारक के रूप में जनसंख्या को भिन्न दृष्टिकोण से देखा। जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास के बीच दो-तरफा सम्बन्ध किस प्रकार कार्य करता है तथा जनसंख्या वृद्धि और शहरीकरण भारत के आर्थिक विकास में कहाँ तक सहायक रहे हैं।

7.2.1 उत्पादन के रूप में जनसंख्या: क्लासिकी दृष्टिकोण

एडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो जैसे क्लासिकी अर्थशास्त्रियों का विचार था कि जनसँख्या का सामाजिक और आर्थिक विकास के साथ घनिष्ठ संबँध है। "जीवन-निर्वाह सिद्धाँत" में गरीब मज़दूरों के आकार को निर्धारित करने में "मज़दूरी कोष" को महत्वपूर्ण कारक माना गया था। कुल जनसँख्या में गरीब मज़दूरों की संख्या बहुत अधिक थी। इस बात पर बल दिया गया कि मज़दूरी कोष (इसके प्रति व्यक्ति पक्ष को छोड़कर) के आकार पर ही जनसँख्या का दीर्घकाल में आकार निर्भर करता है। ऐसा माना गया था कि यदि मज़दूरी कोष बढ़ेगा तो आरम्भ में मज़दूरी भी बढ़ेगी, जिससे बच्चों की संख्या बढ़ेगी, जिसके फलस्वरूप मज़दूरी कम होकर जनसंख्या को फिर जीवन-निर्वाह स्तर पर ले आएगा। जनसंख्या में यह कमी भुखमरी, बीमारी आदि के माध्यम से संभव होगा। अत: क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने जनसंख्या और जीवन-निर्वाह स्तर को एक ही माडल के अंतर्गत लाने का प्रयास किया जिसमें प्रजनन व्यवहार और जीवन निर्वाह स्तर एक-दूसरे से संबंधित हैं।

बाद में नव-क्लासिकी सिद्धांतवादियों ने अपने आर्थिक शक्तियों के अल्पकालीन संतुलन की खोज में जनसंख्या को एक बहिर्जात तत्व माना और आर्थिक प्रक्रियाओं से जनांकिकी (जनसांख्यिकी) और जनसंख्या अध्ययन को सफलतापूर्वक अलग कर दिया।

7.2.2 जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास

आर्थिक विकास और जनसंख्या वृद्धि से संबंधित समस्याओं पर बहुत समय से विचार होता रहा है। यह आवश्यक नहीं कि जनसंख्या का आकार या उसकी वृद्धि दर, आर्थिक विकास में बाधा डाले, विशेषकर उस स्थिति में जबकि प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित क्षमता की तुलना में जनसंख्या का आकार बहुत कम हो। वास्तव में एक निश्चित अवधि में जनसंख्या की तेज़ वृद्धि आर्थिक विकास में सहायक होगी, क्योंकि इससे आवश्यक श्रम-शक्ति मिलेगी।

इसके विपरीत, ऊंची वृद्धि दर के साथ जनसंख्या का विशाल परिमाण आर्थिक विकास को विपरीत ढंग से प्रभावित कर सकता है, विशेषकर उस स्थिति में जबकि प्राकृतिक संसाधन सीमित हों। इस परिस्थिति में अधिकाधिक प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग बढ़ती हुई जनसंख्या के जीवन की मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं और कुछ सुविधाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और दूसरी सामाजिक सेवाओं को पूरा करने में लगा दिया जाता है। उत्पादन के साधनों या मज़दूरों की गुणता में वृद्धि करने के लिए बहुत कम संसाधन बचते हैं। इस तरह, आर्थिक विकास की गति धीमी हो जाती है और कभी-कभी लम्बे समय तक रुक जाती है। इसका अर्थ यह भी है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि का प्रमुख भाग अतिरिक्त जनसंख्या में वितरित हो जाता है और उस क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि बहुत धीमी हो जाती है।

इस कथन में यह निहित है कि प्रौद्योगिकी में कोई उन्नति या संसाधनों की उपलब्धि में कोई वृद्धि नहीं होती। यद्यपि, एक दृष्टिकोण यह भी है कि सौर ऊर्जा और दूसरी पुन:स्थापन-योग्य गैर-परम्परागत ऊर्जा के व्यापक प्रयोग से नई प्रौद्योगिकी द्वारा वर्तमान जनसंख्या से कई गुना अधिक जनसंख्या का सरलतापूर्वक पालन किया जा सकता है।

जनसंख्या का आकार और उसकी वृद्धि दर ही आर्थिक विकास को प्रभावित नहीं करती, बल्कि आर्थिक और सामाजिक विकास भी जनसंख्या, विशेषकर उसके भावी वृद्धि दर को प्रभावित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, ऊंचे आर्थिक विकास का तात्पर्य है ऊंचा राष्ट्रीय उत्पाद और ऊंची प्रति व्यक्ति आय। इसका अभिप्राय है स्वास्थ्य सुविधाओं में सुधार और बच्चों के लिए ऊंचे स्तर की शिक्षा। इससे माता-पिता को बच्चों पर अधिक व्यय का भार वहन करना पड़ता है। फलस्वरूप जन्म और मृत्यु दर कम हो जाती है और अंतत: वृद्धि दर कम हो जाती है। यह भी सत्य है कि रहन-सहन के उच्च स्तर और स्त्रियों में साक्षरता के उच्च स्तर से भी जन्म दर कम हो जाती है।

इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास में दो-तरफा सम्बन्ध है।

7.2.3 भारत के आर्थिक विकास में जनसंख्या एक कारक के रूप में

करीब चालीस साल पहले योजना आयोग के गठन के साथ ही भारत में योजनाबद्ध आर्थिक और सामाजिक विकास आरम्भ हुआ। योजना आयोग की स्थापना इस उद्देश्य से की गई थी कि विकास की प्रक्रिया आरम्भ होने से रहन-सहन का स्तर बढ़ेगा और लोगों को अधिक समृद्ध और विभिन्न प्रकार के जीवन के नए अवसर प्राप्त होंगे। आगामी 25 वर्षों को दृष्टि में रखते हुए प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने यह मान लिया था कि (i) जनसंख्या 1.25 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ती रहेगी (इसी दर से 1941–51 की अवधि में जनसंख्या बढ़ी थी; (ii) पूंजी-उत्पाद अनुपात 3 : 1 रहेगा और (iii) पूंजी निर्माण आरम्भ से ही अतिरिक्त आय की दो-तिहाई मात्रा से प्रति वर्ष बढ़ेगा। यह मान लिया गया था कि स्थिर मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय 25 वर्षों में दुगुनी हो जाएगी।

प्रति व्यक्ति आय के बढ़ने के अतिरिक्त, आर्थिक विकास से ऐसी उपलब्धियों की भी आशा की जाती है, जैसें (क) मानव संसाधनों के गुणों का विकास, यह गुण एक प्रकार की पूँजी है जिससे मज़दूरों की कुशलता बढ़ती है (ख) बेरोज़गारी के परिमाण में कमी (ग) जनसंख्या का कृषि से उद्योग और आधुनिक सेवा क्षेत्र की ओर स्थानांतरण और (घ) गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या के आकार में कमी।

यह सर्वविदित ही है कि जनसंख्या वृद्धि दर अर्थात् यहां दिए गए वृद्धि दर धातीय वृद्धि दर हैं–1950 के दशक में जनसंख्या वृद्धि दर 1.9 प्रतिशत प्रति वर्ष से कुछ अधिक थी और 1960 तथा 1970 के दशकों में यह क्रमश : 2.22 प्रतिशत और 2.23 प्रतिशत थी। 1980 के दशक में वृद्धि दर के कुछ घटने की प्रवृत्ति रही है। इससे प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, जिसका तात्पर्य यह है कि स्कूल जाने वाली जनसंख्या और मज़दूरों की संख्या आदि में वृद्धि। फलस्वरूप ऊपर दिए हुए किसी भी उद्देश्य को प्राप्त करने में हम सफल नहीं हो सके।

7.2.4 शहरीकरण और आर्थिक विकास

किसी देश के आर्थिक विकास का आम तौर से अर्थ होता है उद्योगों की वृद्धि और सेवा क्षेत्र का विस्तार तथा अर्थव्यवस्था का प्राथमिक क्षेत्र से द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र की ओर स्थानांतरित होना।

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि औद्योगीकरण के साथ-साथ शहरीकरण भी होता है। इसका आधार यूरोप और उत्तरी अमरीका का अनुभव है, जहां 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिक क्रांति के बाद शहरीकरण बहुत तेज़ी से बढ़ा। वर्तमान शताब्दी में मोटर और हवाई जहाज़ों के आविष्कार और इलेक्ट्रॉनिक क्रान्ति द्वारा संचार व्यवस्था की बेहतर सुविधाओं के कारण अधिकतर देशों में शहरीकरण की गति बहुत तेज़ रही। इन कारणों से अधिक तेज़ आर्थिक विकास और प्रति व्यक्ति आय की बढ़ोत्तरी में भी सहायता मिली है।

इस विवरण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पहले शहर नहीं होते थे और औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व कोई औद्योगिक उत्पादन ही नहीं था। वास्तव में शहर और कस्बे, करीब चार हज़ार

वर्ष पूर्व भी ग्रीक, भारतीय, मिस्र, बैबिलोनिया, चीन और रोम आदि जैसे प्राचीन सभ्यताओं में मौजूद थे। प्राचीन काल में अधिकांश शहर राजधानी होते थे, जो सरकार के मुख्यालय के रूप में थे तथा जहाँ से प्रशासनिक कार्य का संचालन होता था। इनमें बहुत से उत्पादन केन्द्र भी थे और यहां के लोगों का रहन-सहन गावों में रहने वालों की अपेक्षा अधिक ऊंचा होता था। प्राचीन काल में कई "नगर-राज्य (City States)" होते थे, जो विभिन्न कालों में मौजूद रहे। आज भी हांगकांग और सिंगापुर "नगर-राज्य" हैं। अधिकतर राज्यों में शहरीकरण की गति बहुत धीमी थी, जो एक अनुमान के अनुसार, कुल जनसंख्या का दस प्रतिशत या इससे भी कम शहरों में रहती थी। इसके विपरीत, आज संसार के कई देशों में 80 प्रतिशत जनसंख्या शहरी क्षेत्रों में रहती है। भारत में शहरीकरण का स्तर अभी भी बहुत नीचा है -- 1981 में कुल जनसंख्या का केवल 23.7 प्रतिशत ही शहरों में रहता है। भारत में आज़ादी के बाद चालीस वर्षों में औद्योगीकरण की गति भी बहुत तेज़ नहीं रही। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, पिछले 80 वर्षों में कृषि में लगे मज़दूरों के अनुपात में कोई कमी नहीं आई है।

इसलिए आर्थिक विकास में शहरीकरण की भूमिका जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं हुई है।

बोध प्रश्न 1

1 बताइए निम्न में से कौन-सा कथन सही है:

क) बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक विकास में सहायता करती है, जब:
   i) संसाधनों पर दबाव अधिक हो।
   ii) श्रमिकों की कोई माँग न हो।
   iii) प्राकृतिक संसाधनों का पूरी तरह उपयोग न किया गया हो।

ख) योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाते समय यह मान लिया था कि वार्षिक जनसंख्या वृद्धि दर:
   i) 2 प्रतिशत
   ii) 0.8 प्रतिशत
   iii) 1.25 प्रतिशत होगी।

2 उन क्षेत्रों को बताइए जो जनसंख्या के आकार के विशाल और उसकी वृद्धि दर ऊंची होने पर राष्ट्रीय आय की बढ़ोत्तरी को समाप्त कर देते हैं।

.....
.....
.....
.....
.....

3 आर्थिक विकास के वे कौन-से चार मुख्य पहलू हैं, जो तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होते हैं।

.....
.....
.....
.....

4 शहरीकरण और आर्थिक विकास के अंतर सम्बन्ध का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

7.3 भारत में जनसांख्यिकीय प्रवृत्तियाँ

यहां हम यह अध्ययन करेंगे कि बीसवीं शताब्दी में भारतीय जनसंख्या में वृद्धि की क्या प्रवृत्ति रही और जनसंख्या का ग्रामीण-शहरी वितरण तथा लिंग और आयु-संरचना में क्या परिवर्तन हुआ। जनसंख्या के कार्यशील और गैर-कार्यशील वर्गों की जानकारी के साथ-साथ आप, प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक कार्यकलापों में वितरण का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

7.3.1 जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति

भारत संसार के सबसे अधिक जनसंख्या वाले देशों में दूसरे स्थान पर है और इसका नम्बर चीन के बाद आता है। 1988 के अनुमान के अनुसार, विश्व की कुल 512.80 करोड़ जनसंख्या में भारत की जनसंख्या 81.70 करोड़ थी। विश्व की यह जनसंख्या 1352 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहती है। इस क्षेत्र में भारत का भाग केवल 2.4 प्रतिशत है, जबकि विश्व की आबादी में इसका भाग 15.9 प्रतिशत है। इस प्रकार, भारत की जनसंख्या का घनत्व पूरे संसार के घनत्व के 6.5 गुना से भी अधिक है।

मार्च, 1989 में भारत की अनुमानित जनसंख्या 84.78 करोड़ थी। यह 1901 की 23.80 करोड़ आबादी का साढ़े तीन गुना और आज़ादी के वर्ष 1947 की जनसंख्या की तुलना में ढाई गुना थी। अनियमित वृद्धि के समय जनसंख्या में कमी वृद्धि और कमी कमी होती थी। इसका कारण व्यापक अकाल और महामारियां थी, किन्तु इसके पश्चात 1921 से जनसंख्या में निरंतर वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। तालिका 7.1 में भारत की 1901 से जनसंख्या वृद्धि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

भारत की जनसंख्या में एक दशक के दौरान 13.7 करोड़ की वृद्धि हुई (1971 में 54.8 करोड़ थी, जो बढ़कर 1981 में 68.5 करोड़ हो गई)। यह वृद्धि सोवियत रूस की कुल जनसंख्या की आधी होने के साथ-साथ उत्तरी अमरीका (कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका) की कुल जनसंख्या के भी आधे के बराबर थी। भारतीय जनसंख्या में वृद्धि का अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि प्रति वर्ष भारत में ऑस्ट्रेलिया की कुल आबादी के बराबर जनसंख्या बढ़ जाती है।

भारतीय जनसंख्या में वृद्धि को तीन भागों में बांटा जा सकता है जिसमें विभाजन-बिन्दु क्रमश: 1921 और 1951 होंगे तालिका 7.1)। 1921 को "महान विभाजन" का वर्ष कहा जाता है क्योंकि यह जनसंख्या वृद्धि में अनियमितता की अवधि को निरंतर धीमी वृद्धि की अवस्था से अलग करता है। 1951 का वर्ष इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि 1951 से तीन दशकों तक निरंतर जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई।

1921 से पूर्व के बीस वर्षों के दौरान या उससे पहले मरणशीलता-स्तर के कारण जनसंख्या वृद्धि दर अस्थिर रही। 1921 से ऊंची मृत्युदर के प्रमुख कारणों पर धीरे-धीरे नियंत्रण पा लिया गया और 1921 तथा 1941 के दौरान जनसंख्या में वृद्धि दर जारी रही।

तालिका 7.1 : भारतीय जनसंख्या और उसमें वृद्धि —1901–1981

वर्ष	कुल जनसंख्या (करोड़)	दशक में वृद्धि	दशक में वृद्धि दर (प्रतिशत)
1901	23.84		
1911	25.20	1.36	5.7
1921	25.13	(–) .008	(–) 0.3
1931	27.90	2.77	11.0
1941	31.86	3.97	14.2
1951	36.10	4.24	13.3
1961	43.92	7.81	21.6
1971	54.81	10.89	24.8
1981	68.51	13.70	25.0

टिप्पणी: दसवर्षीय वृद्धि दर-जनसंख्या में दसवर्षीय वृद्धि (या कमी) /आधार वर्ष की जनसंख्या

1941–51 की वृद्धि दर 1931–41 की वृद्धि दर से कुछ कम थी। इसके प्रमुख कारणों में युद्ध में मृत्यु, बंगाल में 1943 का अकाल और भारत तथा पाकिस्तान में विभाजन के कारण हुई अत्यधिक मृत्यु थी। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात मृत्यु दर में तेजी से कमी हुई। इसके फलस्वरूप जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई जो 1947 में अनुमानित 34.75 करोड़ से बढ़कर 1981 में 68.52 करोड़, अर्थात् लगभग दुगुनी हो गई।

एक विशाल देश होने के कारण भारत को जनसंख्या वृद्धि के आधार पर पांच क्षेत्रों में बांटना उचित होगा, जैसा कि "भारतीय जनगणना" में किया गया है। ये पांच क्षेत्र हैं: उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्य। "भारतीय जनगणना" में विभिन्न क्षेत्रों के अंतर्गत आने वाले राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों का विभाजन इस प्रकार किया गया है:

उत्तरी: हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, पंजाब, राजस्थान और दिल्ली।

दक्षिणी: आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, लक्षद्वीप और पॉण्डिचेरी।

पूर्वी: असम, बिहार, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, उड़ीसा, सिक्किम, पश्चिम बंगाल, अंडमान-निकोबार द्वीप समूह, अरुणाचल प्रदेश और मिज़ोरम।

पश्चिमी: गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा, दादर और नगर हवेली तथा दमन और दीव।

मध्य: मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश।

यहां यह कहना उचित होगा कि पूर्वी क्षेत्र (बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के अन्य राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशों) में अधिकांश अवधि में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ी। दक्षिणी क्षेत्र (आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, लक्षद्वीप और पॉण्डिचेरी) में जनसंख्या वृद्धि दर 1951 तक राष्ट्रीय औसत से अधिक थी किन्तु पिछले तीस वर्षों में वृद्धि-दर में काफी कमी आई है और यह दर पाँचों क्षेत्रों की तुलना में सबसे कम है। इसके विपरीत, उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों में इसी अवधि में जनसंख्या वृद्धि-दर अधिक रही।

7.3.2 ग्रामीण-शहरी वितरण और जनसंख्या-वृद्धि

भारत में आवास की दृष्टि से जनसंख्या को दो बुनियादी भागों — ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों — में बांटा गया है। यद्यपि ग्रामीण आवास वह कहलाता है जो गांव की मालगुजारी के लिए पटवारी के रजिस्टर में दर्ज हो। किन्तु जनगणना की दृष्टि से यह सरल होगा कि सर्वप्रथम शहरी आवासों का निर्धारण कर लिया जाए और शेष को ग्रामीण आवास मान लिया जाए। 1981 की जनगणना में शहरी क्षेत्र की परिभाषा का निर्धारण निम्नांकित आधार पर किया गया था:

क) वे सब स्थान जहां नगरपालिका, निगम, छावनी या अनुसूचित शहरी क्षेत्र समितियाँ हैं।

ख) अन्य वे सब स्थान जो निम्न मापदण्डों को पूरा करते हैं:

i) जहां 5000 की न्यूनतम जनसंख्या हो;
ii) कम से कम 75 प्रतिशत कार्यशील पुरुष गैर-कृषि व्यवसायों में लगे हों; और
iii) जनसंख्या का घनत्व कम से कम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर, 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील हो।

इसके अतिरिक्त, जनसंख्या आयुक्त कार्यालय के परामर्श से राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों के जनगणना निदेशकों को यह अधिकार है कि वे स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सीमान्त मामलों में ग्रामीण या शहरी क्षेत्र होने का निर्णय ले सकें। इन सीमांत मामलों में बड़ी परियोजना बस्तियां, गहन औद्योगिक विकास क्षेत्र, रेलवे बस्तियां और महत्वपूर्ण पर्यटक-केन्द्र शामिल हैं।

तालिका 7.2 में वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से भारतीय जनसंख्या का ग्रामीण-शहरी वितरण और उनकी वार्षिक औसत वृद्धि दरों को दर्शाया गया है। 1901 में केवल 10.8 प्रतिशत लोग शहरी क्षेत्रों में रहते थे। यह अनुपात 1911 में थोड़ा-सा घटकर 10.3 प्रतिशत हो गया। इसके बाद यह धीरे-धीरे बढ़ने लगा और 1981 में 23.7 प्रतिशत तक पहुंच गया। सात दशकों में शहरी अनुपात की दृष्टि से यह वृद्धि अनेक विकासशील देशों के शहरीकरण गति की तुलना में कम है। किन्तु इसी अवधि में जो शहरी जनसंख्या 1911 में केवल 2.59 करोड़ थी, वह बढ़कर 1981 में 15.77 करोड़ हो गई। यह शहरी जनसंख्या चीन, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस को छोड़कर, किसी भी अन्य देश की कुल आबादी से अधिक है।

तालिका 7.2: भारतीय ग्रामीण और शहरी जनसंख्या तथा औसत वार्षिक वृद्धि दर, 1901–1981

	जनसंख्या (करोड़ में)			प्रतिशत वितरण		औसत वार्षिक वृद्धि दर (प्रतिशत)	
वर्ष	कुल	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
1901	23.84	21.26	2.58	89.2	10.8	उ. न.	उ. न.
1911	25.21	22.62	2.59	89.7	10.3	0.62	0.04
1921	25.13	22.32	2.81	88.8	11.2	-0.13	0.82
1931	27.90	24.55	3.35	88.0	12.0	0.95	1.76
1941	31.87	27.45	4.42	86.2	13.8	1.12	2.77
1951	36.11	29.86	6.24	82.7	17.3	0.84	3.45
1961	43.92	36.03	7.89	82.0	18.0	1.88	2.35
1961 क	43.91	35.54	8.37	80.9	19.1	1.74	2.94
1971	54.82	43.91	10.91	80.1	19.9	1.98	3.24
1971 ख	66.53	50.76	15.77	76.3	23.7	1.76	3.80

टिप्पणी: उ. न. – उपलब्ध नहीं

क – 1951 में अपनाई गई शहरी क्षेत्रों की परिभाषा के आधार पर 1961 की जनगणना के आंकड़ों के अनुमान प्राप्त किए गए।

ख – 1981 के आंकड़ों में असम के आँकड़े नहीं हैं, यहां स्थिति के अशांत होने के कारण जनगणना नहीं हो सकी थी।

ग – यहां वार्षिक औसत वृद्धि दर से अभिप्राय घातीय वृद्धि दर से है।

1941–51 के दौरान शहरी जनसंख्या बहुत तेज़ गति से बढ़ी, जो ग्रामीण वृद्धि दर की चार गुना थी। इसका कारण नये नगरों की स्थापना और प्रवसन था। सर्वप्रथम, द्वितीय विश्व-युद्ध की अवधि में कुछ उद्योगों के स्थापित होने से और बाद में 1947 में देश में विभाजन के कारण शरणार्थियों का शहरों और कस्बों में अत्यधिक संख्या में आने से शहरीकरण को बल मिला। 1950 के दशक में शहरों की वृद्धि दर में कमी का मुख्य कारण 1961 की जनगणना में शहरीकरण की परिभाषा में परिवर्तन है। किन्तु 1961 में शहरी जनसंख्या की दोबारा गणना 1951 की शहरीकरण की परिभाषा के आधार पर की गई तो वृद्धि दर 1941–51 की वृद्धि दर से भी कम आई। 1960 और 1970 के दशकों में शहरी वृद्धि दर बढ़ने लगी और 1971–81 के दशक में 3.8 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई। यह भारत में अब तक हुई सबसे अधिक वृद्धि दर है। इस ऊंची वृद्धि दर के कारण थे (i) करीब एक हज़ार नए शहरों का स्थापित होना (इसमें वे भी शामिल हैं जिन्हें पहले शामिल नहीं किया गया था किन्तु दोबारा वर्गीकरण में शामिल कर लिया गया, (ii) ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में पलायन; और (iii) स्वाभाविक वृद्धि।

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि ग्रामीण और शहरी जनसंख्या के भावी अनुमानों के अनुसार भारत के शहरों की आबादी इस शताब्दी के अंत में 32.6 करोड़ हो जाएगी, जो 1981 की शहरी आबादी की दुगुनी से भी अधिक होगी। यदि शहरीकरण को आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन का अग्रदूत समझा जाए तो शहरी जनसंख्या के अधिक अनुपात से प्रजनन क्षमता में भारी कमी होगी।

भारतीय शहरीकरण का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि जनसंख्या कुछ महानगरों और दूसरे बड़े शहरों में ही केन्द्रित हो गई है। उदाहरणस्वरूप, 1981 में भारत की शहरी जनसंख्या का 27 प्रतिशत दस लाख और उससे अधिक जनसंख्या वाले महानगरों में रहते थे और 60 प्रतिशत एक लाख और अधिक जनसंख्या वाले 218 शहरों में रहते थे। ये शहर और महानगर भारतीय सामाजिक ढांचे में परिवर्तन के अग्रदूत के रूप में कार्य करते हैं।

अलग-अलग राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश की जनसंख्या का ग्रामीण और शहरी वितरण से 1981 की जनगणना के अनुसार, विभिन्न राज्यों में शहरीकरण के स्तर में बहुत अंतर है। यह

अंतर न्यूनतम शहरीकरण वाले क्षेत्र जैसे अरुणाचल प्रदेश (6.3 प्रतिशत) और हिमाचल प्रदेश (7.7 प्रतिशत) की तुलना में अधिकतम शहरीकृत प्रदेश महाराष्ट्र (35.00 प्रतिशत) और तमिलनाडु (33.00 प्रतिशत) से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, चण्डीगढ़ और दिल्ली करीब-करीब पूरी तरह से शहरी आबादी वाले क्षेत्र हैं। उत्तर और उत्तर-पूर्वी प्रदेशों के पहाड़ी राज्य और जहां जनजातियों की जनसंख्या बहुत है, दूसरे अन्य राज्यों की तुलना में कम शहरीकृत हैं। उद्योगों की स्थापना, कच्चे माल की उपलब्धि, विकास और परिवहन व्यवस्था इत्यादि के साथ-साथ कुछ सीमा तक ऐतिहासिक तत्वों ने भी विभिन्न राज्यों के शहरीकरण के ढाँचे के अंतर को प्रभावित किया है।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित कथनों में सही उत्तर पर (✓) निशान लगाइए:

क) संसार में सबसे अधिक आबादी वाला दूसरा देश है:
- ii) चीन
- iii) सोवियत-रूस
- iii) भारत
- iv) जापान

ख) 1971 और 1981 के बीच भारत की जनसंख्या ..... करोड़ बढ़ गई:
- i) 21.0
- ii) 13.7
- iii) 11.2
- iv) 18.7

ग) शताब्दी के अंत में 1901 में भारत की शहरी आबादी ..... प्रतिशत थी।
- i) 10.8
- ii) 13.8
- iii) 5.0
- iv) 18.0
- v) 7.2

2 1981 की जनगणना के अनुसार शहरी क्षेत्र की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 1921 को भारत की जनसंख्या में "महान विभाजन" का वर्ष क्यों कहा जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

4 1971–81 के दौरान भारतीय शहरी जनसंख्या की ऊंची वृद्धि दर के कारणों को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.3.3 लिंग और आयु-संरचना

जनसँख्या की विशेषता बताने वाले सभी वर्गीकरणों के तत्वों में लिंग व आयु प्रमुख हैं। लिंग और आयु की संरचना, एक राष्ट्र की श्रम-शक्ति की पूर्ति के लिए बुनियादी जनसांख्यिकीय निर्धारक है। साथ ही यह आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं की मांग को प्रभावित भी करती है। स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या इस बात पर निर्भर होती है कि जनसंख्या की लिंग और आयु संरचना कैसी है।

समय विशेष में जनसंख्या की लिंग-आयु-संरचना; उसकी प्रजनन क्षमता, मरणशीलता और प्रवसन की पिछली प्रवृत्तियों का फल होती है।

जनसंख्या के लगातार तेज़ी से बढ़ने से, आम तौर पर, कुल जनसंख्या में 15 साल से कम उम्र के बच्चों का अनुपात अधिक हो जाता है। इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति निर्भरता बढ़ जाती है। इसके विपरीत, यदि जन्म और मृत्यु दर अपेक्षाकृत कम हो तो जनसंख्या मन्द गति से बढ़ती है और निर्भरता का यह अनुपात कम होता है। इसके अतिरिक्त, ऊंची जन्म दर और छोटे बच्चों के ऊंचे अनुपात के कारण उपलब्ध संसाधनों का निवेश श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाने के बजाय अस्पताल, स्कूलों, आवास आदि में करना पड़ेगा।

अधिकांश आबादियों में पुरुष और स्त्रियों की संख्या करीब-करीब बराबर होती है। छोटी आयु में पुरुष-स्त्रियों से अधिक होते हैं और 20–25 वर्ष की आयु से स्त्रियां पुरुषों से अधिक होती हैं। इसका कुल प्रभाव यह होता है कि एक हद तक स्त्रियां पुरूषों से अधिक हो जाती हैं, क्योंकि स्त्रियों की बचे रहने की दर ऊंची होती है। यद्यपि संसार के सभी समाजों में, लड़के लड़कियों से अधिक संख्या में पैदा होते हैं (103 से 107 लड़के, प्रति 100 लड़कियों की तुलना में)।

तालिका 7.3 से यह मालूम होता है कि भारत का लिंग अनुपात (स्त्री, प्रति हज़ार पुरुष) स्त्रियों के प्रतिकूल रहा है और स्थिति खराब होती चली गई, केवल 1981 में यह प्रवृत्ति पलट पायी है।

तालिका 7.3 : भारत में लिंग अनुपात, 1901–1981

वर्ष	1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971	1981
लिंग अनुपात	972	963	955	950	945	946	941	930	935

भारत की जनसंख्या के लिंग-अनुपात की स्थिति विकसित और अधिकांश विकासशील देशों की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। इसका मुख्य कारण चिकित्सा और पोषण में, छोटी और जवान लड़कियों की उपेक्षा है। रहन-सहन की दशा सुधरने और ग्रामीण तथा शहरी, दोनों क्षेत्रों में चिकित्सा सुविधाओं में सुधार के बावजूद स्थिति ऐसी ही रही है।

भारतीय जनगणना में विगत जन्म दिन पर आयु संबंधी विवरण आरम्भ से ही एकत्रित किए जाते रहे हैं। पिछले 40 वर्षों में भारत की जनसंख्या निरंतर बढ़ती रही और इस काल में न कोई महायुद्ध हुआ, न कोई अकाल पड़ा, न कोई महामारी फैली और न ही कोई प्रवसन हुआ। फलत लिंग-आयु संरचना में कोई विकार नहीं आया।

आयु-संरचना के अनुसार जनसंख्या का वर्गीकरण युवा और वृद्धों में किया जाता है। वहां वृद्ध लोगों की अपेक्षा बच्चे, किशोर और युवक अनुपात में अधिक हों तो उसे **युवा जनसंख्या** कहेंगे। इसके विपरीत **वृद्ध जनसंख्या** में प्रौढ़ और वृद्धों का अनुपात अधिक होता है।

भारत की जनसंख्या की आयु-संरचना युवा प्रधान है क्योंकि यहां 40 प्रतिशत से अधिक लोग 15 वर्ष से कम आयु वाले हैं और 5 से 6 प्रतिशत लोग 60 वर्ष या उससे अधिक आयु के हैं (तालिका 7.4)। यह आयु संरचना पिछले 70 वर्षों में करीब-करीब स्थिर रही है।

उपरोक्त आयु-संरचना के कारण निर्भरता अनुपात विपरीत हो गया। उदाहरण के लिए भारत में 1981 में 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों का अनुपात 15 वर्ष से साठ वर्ष के बीच की जनसंख्या का 73 प्रतिशत था जबकि अधिक विकसित देशों में यह अनुपात आम तौर पर 35 से 40 प्रतिशत होता है। ऊंचे निर्भरता अनुपात से बचत और निवेश कम होते हैं और आर्थिक तथा सामाजिक विकास की गति रुक जाती है। दुर्लभ संसाधनों के अधिकांश भाग का उपयोग

तालिका 7.4 : जनसंख्या के प्रत्येक लिंग का मुख्य आयु वर्गों में प्रतिशत वितरण, भारत, 1911–1981

जनगणना वर्ष	लिंग	आयु वर्ग			
		0–14	15–44	45–59	60+
1	2	3	4	5	6
1911	पु.	38.8	46.5	9.9	4.8
	स्त्री	38.1	46.9	9.4	5.6
1921	पु.	39.4	45.5	10.1	5.0
	स्त्री	39.0	46.0	9.5	5.5
1931	पु.	40.0	46.2	9.9	3.9
	स्त्री	40.1	46.4	9.4	4.1
1941	पु.	38.1	46.1	10.9	4.9
	स्त्री	38.4	46.1	10.6	4.9
1951	पु.	37.1	46.3	11.1	5.5
	स्त्री	37.9	45.7	10.6	5.8
1961	पु.	40.9	43.0	10.6	5.5
	स्त्री	41.2	43.3	9.7	5.8
1971	पु.	41.9	41.5	10.7	5.9
	स्त्री	41.9	42.4	9.7	6.0
1981	पु.	39.6	43.2	11.0	6.1
	स्त्री	39.8	43.5	10.4	6.3

उपभोग में लगा दिया जाता है और लगातार बढ़ते लोगों की संख्या, प्रतिवर्ष कार्यशील आयु में प्रवेश करती जाती है, जिससे बेरोज़गारों की संख्या बढ़ती जाएगी।

विवाह की कम आयु के कारण तथा युवा आयु-संरचना से, नये परिवारों की संख्या बहुत तीव्र गति से बढ़ती है। फलस्वरूप, शिशुओं और छोटे बच्चों की संख्या बढ़ जाती है, खास तौर से जब जन्म दर बहुत ऊंची बनी रहे।

7.3.4 कार्यशील और गैर-कार्यशील जनसंख्या

जो लोग राष्ट्रीय धन के उत्पादन के लिए किसी भी रूप में कार्य करते हैं, वे कार्यशील कहलाते हैं। इसके विपरीत, जो लोग वस्तुओं के उत्पादन या सेवाओं में कार्यरत नहीं होते हैं, उन्हें गैर-कार्यशील कहा जाता है। श्रमिक जिस प्रकार के कार्य में लगे हैं और जिस प्रकृति का कार्य कर रहे हैं, उसके अनुसार उनका कर्मचारी, मालिक और स्वतंत्र श्रमिक के रूप में वर्गीकरण किया जाता है।

लोग किस आयु में श्रमिक वर्ग में प्रवेश करते हैं और किस आयु में सेवा-निवृत्त होते हैं तथा श्रमिकों का अर्थव्यवस्था के प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक खंडों में विभाजन; मुख्य रूप से किसी देश के औद्योगिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में बच्चों की शिक्षा पर ज़रा भी ज़ोर नहीं दिया जाता है। ऐसी अर्थव्यवस्था में बच्चे कच्ची उम्र से ही परिवार की कम आमदनी को बढ़ाने के लिए काम करने लगते हैं। इसी प्रकार, सेवा-निवृत्ति की कोई आयु नहीं है इसलिए 60 या 60 से ऊपर की आयु के लोग भी बहुत बड़े अनुपात में कार्य करते हैं।

अर्थव्यवस्था को औद्योगिक, अर्ध-औद्योगिक तथा कृषि वर्गों में मोटे तौर पर इस आधार पर बांटा जा सकता है कि पुरुष श्रमिकों का कितना भाग कृषि कार्यों में है। उदाहरण के लिए, यदि कृषि में कार्यशील श्रमिकों का अनुपात 35 प्रतिशत से कम है तो वह प्रदेश या देश औद्योगिक कहलाता है। अगर यही अनुपात 35–60 प्रतिशत के बीच हो तो देश अर्ध-औद्योगिक

कहलाता है तथा वह औद्योगिक अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहा है। और यदि यह अनुपात 50 प्रतिशत या इससे अधिक हो तो अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान होती है।

भारत में कार्यशील जनसंख्या के आँकड़े या तो दशवर्षीय जनगणना से प्राप्त होते हैं या फिर राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (NSSO) से मिलते हैं। भारत में श्रमिक की संकल्पना एक जनगणना से दूसरी जनगणना में भिन्न रही है और राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन द्वारा किए गए कुछ दौरों में भी यह भिन्न रही है। उदाहरण के लिए, 1961 की जनगणना में श्रमिक उस व्यक्ति को समझा जाता था जो खेती, पशु-पालन और घरेलू उद्योगों में लगा हो और यदि कार्यकाल के अधिकतर भाग में उसे एक घंटे से अधिक का नियमित कार्य मिला हुआ हो। किसी व्यापार, व्यवसाय, पेशे या नौकरी में नियमित रोज़गार का आधार यह था कि सर्वेक्षण के पहले के किसी भी 15 दिनों तक वह व्यक्ति रोज़गार युक्त था या नहीं।

1971 की जनगणना में सब लोगों को दो मुख्य भागों — श्रमिक और गैर-श्रमिक — में, व्यक्ति की क्रिया के अनुसार बांटा गया था। श्रमिक उसे कहते थे जिसका मुख्य कार्य शारीरिक या मानसिक हो। कार्य में केवल वास्तविक कार्य के अतिरिक्त सफल पर्यवेक्षण और कार्य का निदेश भी शामिल था। व्यापार, पेशे, व्यवसाय या सेवा जैसे नियमित कार्य में उस व्यक्ति को श्रमिक समझा जाता था जिसने सर्वेक्षण के पूर्व सप्ताह में एक दिन भी कार्य किया हो। मौसमी काम के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति का मुख्य कार्यकलाप पिछले साल के कार्य के संदर्भ में निर्धारित किया जाता था।

1961 और 1971 के बीच श्रमिक की परिभाषा में परिवर्तन का प्रभाव, भारत के कुल श्रमिकों की संख्या के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है। जबकि देश की जनसंख्या 1961 में 43.9 करोड़ से बढ़कर 1971 में 54.8 करोड़ हो गई, श्रमिकों की संख्या इसी काल में 18.8 करोड़ से घटकर 18.0 करोड़ रह गई।

1981 की जनगणना में श्रमिकों के बारे में सूचना दो स्तरों पर एकत्रित की गई थी: (i) क्या पिछले साल में उसने किसी भी समय काम किया था, और (ii) उसका मुख्य कार्यकलाप। यद्यपि 1981 की जनगणना में मुख्य कार्यकलाप की परिभाषा 1971 की जनगणना की भांति ही थी, किन्तु छ: महीने या अधिक समय तक कार्य करने की शर्त लगा दी गई थी। मुख्य कार्यकलाप के प्रश्न से 1961 की संकल्पना के अनुसार श्रमिकों के बारे में तुलनात्मक आँकड़े मिलने की आशा थी। वे व्यक्ति जिन्होंने किसी भी समय काम तो किया किन्तु छ: महीने से अधिक नहीं, उनको सीमान्त श्रमिकों के वर्ग में रखा गया। कार्य सहभागिता दर (work participation rate) की परिभाषा निम्नलिखित फार्मूले से की जा सकती है:

$$\text{कार्य सहभागिता दर} = 100 \times \frac{\text{श्रमिकों की कुल संख्या}}{\text{कुल जनसंख्या}}$$

1901 से आगे लिंग के अनुसार भारत की जनसंख्या की कार्य सहभागिता दर तालिका 7.5 में दी गई है। यद्यपि विभिन्न जनगणनाओं में श्रमिक की परिभाषा बदलने से इसके आंकड़े सही अर्थ में तुलनात्मक नहीं हैं, फिर भी 1911 से सहभागिता दर में एक दीर्घकालिक उतार आया है। 1971 में पुरुष और स्त्री, दोनों के लिए सहभागिता दर न्यूनतम थी। इसका कारण यह था कि 1971 की जनगणना में परिभाषा को बदलकर और अधिक कठोर कर दिया गया था।

मुख्य कार्यकलाप को काम मानकर श्रृंखला (i) में, 1981 में कार्य सहभागिता दर 1971 की अपेक्षा कुछ बेहतर थी क्योंकि स्त्रियों की सहभागिता दर 1971 में 11.8 प्रतिशत से बढ़कर 14.4 प्रतिशत हो गयी थी, जबकि पुरुषों की 1981 की सहभागिता दर 1971 की अपेक्षा कम थी। श्रृंखला (ii) की कार्य सहभागिता दर "गत एक वर्ष में किसी भी समय कार्य किया हो" की संकल्पना पर आधारित थी और इसकी तुलना 1961 के कार्य सहभागिता दर से की जा सकती है। दोनों की तुलना के बाद यह ज्ञात होता है कि 1961 से 1981 तक के बीस वर्षों में स्त्री व पुरुष, दोनों की कार्य सहभागिता दर अत्यधिक घट गई। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था में इस काल के कुछ संरचनात्मक परिवर्तनों की ओर संकेत मिलता है। जब श्रमिकों का विभाजन ग्रामीण और शहरी निवास के आधार पर होता है तो शहरी जनसंख्या की कार्य सहभागिता दर ग्रामीण जनसंख्या की कार्य सहभागिता दर की अपेक्षा बहुत कम होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि शहरी युवा लोग लम्बे समय तक शिक्षा में लगे रहते हैं और उनमें से अधिकांश को ऐसा

तालिका 7.5: कुल जनसंख्या को आधार मानते हुए भारत की जनसंख्या की कार्य सहभागिता दर (प्रतिशत में) —1901–1981

वर्ष	श्रमिकों और कुल जनसंख्या का अनुपात प्रतिशत में		
	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
1901	46.6	61.1	31.7
1911	48.1	61.9	31.7
1921	46.9	60.5	32.7
1931	43.3	58.3	27.6
1951	39.1	54.0	23.3
1961	43.0	57.1	28.0
1971	32.9	52.5	11.8
1981 – (1)	33.4	51.2	14.8
(2)	37.6	53.2	20.8

टिप्पणी: +1981 के आंकड़ों में असम की संख्या शामिल नहीं है, वहां जनगणना नहीं हो सकी।

1941 के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि दूसरे महायुद्ध के कारण श्रमिकों के आंकड़े तालिकाबद्ध नहीं किए गए थे।

रोज़गार तुरन्त नहीं मिल पाता, जिसे वे स्वीकार कर सकें। योग्यता के अनुसार रोजगार मिलने की बात तो दूर रही।

श्रमिकों के कार्यकलाप का स्वरूप

श्रमिकों का उद्योग, व्यवसाय और रोज़गार की स्थिति के अनुरूप वर्गीकरण करने से यह ज्ञात होता है कि श्रमिकों का किस सीमा तक विशेषज्ञीकरण और विभिन्नीकरण हो चुका है, जिसे अर्थशास्त्री आर्थिक उन्नति का संकेतक मानते हैं। इस विभिन्नीकरण की समय के अलग-अलग बिन्दुओं पर तुलना करने से ज्ञात होता है कि अर्थव्यवस्था की संरचना में क्या परिवर्तन हुए हैं। तालिका 7.6 में 1901 से 1981 तक कार्यशील जनसंख्या का अर्थव्यवस्था के प्राथमिक द्वितीयक और तृतीयक जैसे मुख्य खंडों में वितरण दर्शाया गया है। प्रथम खंड का सम्बंध प्राथमिक उत्पादन से है और इसमें खेतिहर कृषि मज़दूर, शिकारी, लकड़हारे, वनरक्षक, मछुआरे आदि हैं तथा वे लोग जो पशु-पालन, बाग लगाने, खनन उद्योग तथा उत्खनन में कार्यरत हैं, शामिल हैं। द्वितीयक खंड में निर्माण संसाधन, घरेलू व भारी उद्योगों में मरम्मत के काम आते हैं और भवन निर्माण कार्य भी इनमें शामिल है। तृतीयक खंड में वे व्यक्ति शामिल हैं जो व्यापार और वाणिज्य, परिवहन और संचार तथा सेवाओं में कार्यरत हैं।

तालिका 7.6: खंड के अनुसार रोज़गार का वितरण प्रतिशत में, भारत 1901–1981

वर्ष	प्राथमिक			द्वितीयक			तृतीयक		
	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
1901	71.8	70.4	74.5	12.6	12.3	13.2	15.6	17.3	12.3
1911	74.9	73.7	77.1	11.1	11.0	11.4	14.0	15.4	11.4
1921	76.0	74.5	78.8	10.4	10.5	10.2	13.6	15.0	11.0
1931	74.8	74.1	76.2	10.2	10.4	9.7	15.0	15.5	14.0
1951	72.1	69.1	79.6	10.6	11.6	8.3	17.3	19.3	12.2
1961	73.4	69.2	82.6	10.6	11.5	8.6	16.0	19.3	8.8
1971	72.6	70.4	83.0	10.7	11.3	7.7	16.8	18.3	9.4
1981	69.3	66.3	81.6	13.0	13.9	9.1	17.7	19.8	9.4

टिप्पणी: 1941 के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि महायुद्ध के कारण जनगणना ठीक से नहीं हो पाई थी।

यद्यपि तालिका 7.6 के आंकड़े श्रमिक की संकल्पना में परिवर्तन होते रहने के कारण समय के अनुसार सही अर्थ में तुलनात्मक नहीं हैं। फिर भी वे महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करते हैं। इनसे मालूम होता है कि अर्थव्यवस्था के तीन मुख्य खंडों के श्रमिकों के अनुपात में, विशेषकर 1951 के बाद से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है तथा प्राथमिक उत्पादन खंड में ही मूल रूप से लोगों को रोज़गार मिला है। स्त्रियों के मामले में प्राथमिक खंड में उनका अनुपात बढ़ा है और इसके साथ ही द्वितीयक और तृतीयक खंडों में उनका रोज़गार कम हो गया है। यदि इस तालिका को भारतीय आर्थिक नियोजन के कृषि पर निर्भरता कम करने के लक्ष्य की दृष्टि से देखा जाए तो यह दुख के साथ कहना पड़ेगा कि द्वितीयक खंड में इतना विस्तार नहीं हुआ है कि तीस वर्षों के नियोजित विकास के दौरान इच्छित परिवर्तन आ सके।

गैर-श्रमिकों के कार्यकलाप

भारतीय जनगणना से गैर-श्रमिकों के मुख्य कार्यकलापों के बारे में भी सूचना मिलती है। गैर-श्रमिक उन्हें कहते हैं जिन्होंने जनगणना से पूर्व एक वर्ष में किसी भी समय कार्य न किया हो। 1981 की जनगणना में 42.07 करोड़ लोग जिसमें 16.29 करोड़ पुरुष और 25.18 करोड़ स्त्रियां हैं, गैर-श्रमिकों में शामिल किए गए थे। इस आंकड़े में असम के गैर-श्रमिक शामिल नहीं हैं क्योंकि वहां 1981 में जनगणना नहीं की जा सकी। इन गैर-श्रमिकों को निम्नलिखित सात वर्गों में विभाजित किया गया है: (1) जो घरेलू कार्यों में लगे हों, (2) विद्यार्थी, (3) आश्रित, (4) सेवा-निवृत्त, किराया-भोगी आदि, (5) भिखारी, आवारा लोग आदि (6) जेलों, खैराती और मानसिक संस्थाओं के निवासी तथा (7) वे व्यक्ति जो इनमें से किसी भी वर्ग में नहीं आते हैं, लेकिन काम की खोज में हैं। तालिका 7.7 में 1981 की जनगणना में लिंग और ग्रामीण-शहरी आवास के अनुसार गैर-श्रमिकों का उपरोक्त वर्गों में वितरण दिखाया गया है। पुरुषों की अधिकांश संख्या "विद्यार्थी" और "आश्रित और शिशुओं" के दो वर्गों में है, जबकि स्त्रियों की संख्या मूलतः घरेलू कार्यों और "आश्रित व शिशुओं" के वर्गों में है। स्त्री गैर-श्रमिकों का 99 प्रतिशत "घरेलू कार्य", "आश्रित और शिशु" तथा "विद्यार्थी", इन तीन वर्गों में आते हैं।

तालिका 7.7: लिंग और ग्रामीण-शहरी आवास के अनुसार गैर-श्रमिकों के कार्यों के आधार पर प्रतिशत वितरण, भारत — 1981

कार्य का प्रकार	कुल		ग्रामीण		शहरी	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
1 विद्यार्थी	39.68	13.68	36.70	10.74	48.05	21.94
2 घरेलू कार्य	1.52	46.90	1.62	46.23	1.24	48.78
3 आश्रित, शिशु और अपंग	53.59	38.29	58.21	42.07	40.58	27.68
4 सेवा-निवृत्त, किराया-भोगी, और स्वतंत्र साधनों के व्यक्ति	1.58	0.42	0.91	0.39	3.49	0.49
5 भिखारी, आवारा आदि	0.28	0.12	0.25	0.11	0.34	0.13
6 जेलों, मानसिक व खैराती संस्थाओं के निवासी	0.11	0.02	0.04	0.01	0.28	0.04
7 अन्य	3.25	0.58	2.26	0.45	6.02	0.94
जोड़	100.01	100.01	99.99	100.00	100.00	100.00

* असम के आंकड़े शामिल नहीं हैं।

शहरी क्षेत्रों के पुरुषों में गैर-श्रमिकों की करीब आधी संख्या विद्यार्थियों की थी (48.00 प्रतिशत), जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह अनुपात एक-तिहाई से कुछ ही अधिक था। ग्रामीण क्षेत्रों में आश्रितों का अनुपात दो-तिहाई था, जोकि शायद 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों, खास कर 6 से 10 वर्ष के बीच में जो स्कूल नहीं जाते हैं और किसी उत्पादन कार्य में भी नहीं लगे होते हैं, उनकी अत्यधिक संख्या के कारण था। घरेलू कार्यों में लगी स्त्रियों का अनुपात बहुत

ऊंचा था, क्योंकि अविवाहित जवान लड़कियों की अधिक संख्या को शायद घरेलू कार्यों में लगी स्त्रियों के वर्ग में डाल दिया गया था।

गैर-श्रमिकों के बहुत से वर्गों में काफी परस्पर व्यापन है। उदाहरण के लिए, एक लड़की स्कूल जा सकती है और घरेलू कार्यों में भी लग सकती है। इसी प्रकार स्त्रियों को पेंशन मिल रहीं होगी और घरेलू कार्यों में भी लगी होंगी। एक व्यक्ति अपनी स्थिति बताते समय जो प्राथमिकता की श्रेणी बतलाता है, उससे विभिन्न वर्गों के अनुपात गंभीर रूप से प्रभावित होते हैं।

बोध प्रश्न 3

1 उन तीन कारकों को बताइए, जिनसे किसी समय विशेष पर जनसंख्या की लिंग-आयु संरचना निर्धारित होती है।

.....

.....

.....

2 i) किसी जनसंख्या का लिंग-अनुपात आमतौर से स्त्रियों के अनुकूल क्यों होता है ?

ii) 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों के ऊंचे अनुपात का क्या कारण है ?

.....

.....

.....

.....

.....

3 i) किसी जनसंख्या को "युवा" कब कहा जाता है ?

ii) किसी जनसंख्या को "वृद्ध" कब समझा जाता है ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4 देश के आर्थिक विकास पर उच्च निर्भरता अनुपात के प्रभाव का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5 क) किसी अर्थव्यवस्था को औद्योगिक समझा जाता, यदि कृषि में कार्यरत श्रमिकों का अनुपात ..... हो।
(35 प्रतिशत से कम/35 प्रतिशत से 60 प्रतिशत के बीच)

ख) भारत की शहरी जनसंख्या का कार्य सहभागिता दर ग्रामीण जनसंख्या से .... होता है। (ऊंचा/नीचा)

ग) भारत में श्रमिकों का सबसे अधिक अनुपात अर्थव्यवस्था के ..... खंड में मिलता है। (प्राथमिक/द्वितीयक/तृतीयक)

7.4 जनसंख्या वृद्धि की क्रियाशीलता

पिछले भागों में जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति, वितरण, लिंग और आयु-संरचना तथा आर्थिक लक्षणों का अध्ययन किया था। अब हम इस भाग में जनसंख्या वृद्धि की क्रियाशीलता और जनसंख्या के आकार और संरचना को प्रभावित करने वाले कारक, प्रजनन क्षमता, मरणशीलता और प्रवसन का अध्ययन अलग-अलग करेंगे।

7.4.1 प्रजनन क्षमता

प्रजनन क्षमता का अर्थ प्रसव योग्य आयु में स्त्रियों द्वारा बच्चे पैदा करना है। पारंपरिक रूप से प्रजनन क्षमता अशोधित जन्म दर (C. B. R.) द्वारा आंकी जाती है, जिसकी परिभाषा नीचे दी गई है:

$$\text{अशोधित जन्म दर} = \frac{\text{किसी भौगोलिक क्षेत्र में एक वर्ष में जीवित शिशुओं के जन्म की संख्या}}{\text{उस क्षेत्र के वर्ष के मध्य की जनसंख्या}} \times$$

अशोधित जन्म दर (C.B.R.) की उपरोक्त परिभाषा में अंश में केवल जीवित शिशुओं के जन्म को ही लेते हैं क्योंकि केवल जीवित शिशुओं के जन्म से किसी क्षेत्र की जनसंख्या का आकार प्रभावित होता है। किसी भी जनसंख्या में कुछ अनुपात में मृत शिशुओं का जन्म होता है किन्तु इनको अशोधित जन्म दर की गणना में शामिल नहीं करते हैं।

इसके हर में वर्ष के मध्य की जनसंख्या को लेते हैं क्योंकि जन्म, मृत्यु और प्रवसन के कारण जनसंख्या निरंतर बदलती रहती है। यदि वर्ष के आरंभ की जनसंख्या लेंगे तो हर बहुत छोटा होगा और अशोधित जन्म दर बहुत बड़ी होगी। इसके विपरीत वर्ष के अंत की जनसंख्या अत्यधिक होगी और अशोधित जन्म दर बहुत छोटी होगी। इसलिए वर्ष के मध्य की जनसंख्या से जीवित शिशुओं की संख्या को विभाजित करने से एक औसत संख्या मिल जाएगी।

परम्परा के अनुसार हम अनुपात को 1000 से गुणा करते हैं क्योंकि किसी जनसंख्या में किसी वर्ष में जन्म की अधिकतम संख्या प्रति 1000 व्यक्ति पर 60 से अधिक नहीं होती और 10 से कम नहीं होती। यदि हम प्रति 1000 व्यक्ति दर लेंगे तो हमें पूर्णांक मिलेंगे किन्तु यदि हम 1000 के बजाय 100 से गुणा करेंगे तो दर दसवां भाग में मिलेगी और दशमलव का प्रयोग आवश्यक हो जाएगा।

अशोधित जन्म दर को अशोधित इसलिये कहते हैं, इसके हर में दोनों लिंगों के, प्रत्येक आयु के सभी लोगों को शामिल करते हैं जबकि प्राणि विज्ञान के अनुसार प्रसव योग्य आयु (15 से 50 वर्ष तक) की स्त्रियां ही बच्चें पैदा कर सकती हैं। इसलिए प्रजनन क्षमता का अधिक शोधित नाप सामान्य प्रजनन दर है जिसकी परिभाषा निम्नलिखित है:

$$\text{सामान्य प्रजनन दर} = \frac{\text{किसी भौगोलिक क्षेत्र में एक वर्ष में जीवित शिशुओं के जन्म की संख्या}}{\text{वर्ष के मध्य में 15 से 49 तक की स्त्रियों की जनसंख्या।}} \times 1000$$

अशोधित जन्म दर या सामान्य प्रजनन दर के लिए अंश जन्म-मरण पंजीकरण प्रणाली में नियमित और निरंतर जन्म के पंजीकरण से मिलता है। भारत में कई कारणों से जन्म-मरण पंजीकरण प्रणाली भली-भांति क्रियाशील नहीं है और अशोधित जन्म दर परोक्ष तरीकों से

तालिका 7.8: औसत दशवर्षीय भारतीय जन्म दरें, 1901–1981

दशक	जन्म दर
1901–11	49.2
1911–21	48.1
1921–31	46.2
1931–41	45.2
1941–51	39.9
1951–61	41.7
1961–71	41.1
1971–81	37.2

प्राप्त किया जाता है। तालिका 7.8 में 1901–1911 तथा इसके बाद की भारत की जन्म दर दी गई है। परोक्ष पद्धति से वार्षिक अनुमानों के बजाय दो जनगणनाओं के बीच के दशक की औसत छवि मिलती है। विभिन्न जनगणनाओं में संकलन करने की विभिन्न कार्यविधियों को अपनाया गया। इस कारण जन्म दरों के अनुमानों में भी अंतर है, फिर भी संख्याओं से ऐसा ज्ञात होता है कि दर हमेशा उच्च स्तर पर रही है।

1941–51 में जन्म दर में एकाएक कमी इस दशक में आयु-संरचना अनुमानित करने के लिए भिन्न पद्धतियां अपनाने के कारण हुई। फिर भी तालिका 7.8 में जन्म दर कम होती दिखाई देती हैं।

1970 तथा उसके बाद के ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के अलग-अलग प्रत्येक वर्ष के जन्म दरों के अनुमान नमूना पंजीकरण प्रणाली से लिए गए हैं (तालिका 7.9)। ग्रामीण और शहरी, दोनों क्षेत्रों में जन्म दर में कमी होने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में जन्म दर 7 से 9 प्रतिशत अधिक थी।

भारत के विभिन्न राज्यों की जन्म दरों में अत्यधिक अंतर है। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और हरियाणा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें जन्म दर राष्ट्रीय औसत से बहुत ऊंची रही है। इसके विपरीत, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, मणिपुर, पंजाब, तमिलनाडु, गोआ और चण्डीगढ़, दिल्ली और पाण्डिचेरी के केन्द्र शासित प्रदेशों में जन्म दरें (30 प्रति हज़ार से कम) अपेक्षाकृत बहुत कम रही हैं।

तालिका 7.9 : ग्रामीण-शहरी आवास के अनुसार भारत में जन्म दरें, 1970–1987

वर्ष	जन्म दर (प्रति हज़ार जनसंख्या)		
	कुल	ग्रामीण	शहरी
1970	36.8	38.9	29.7
1975	35.2	36.7	28.5
1976	34.4	35.8	28.4
1977	33.0	34.3	27.8
1978	33.3	34.7	27.8
1979	33.7	35.1	27.6
1980	33.7	35.1	27.8
1981	33.9	35.6	27.0
1982	33.8	35.5	27.6
1983	33.7	35.3	28.3
1984	33.9	35.3	29.4
1985	32.9	34.3	28.1
1986	32.6	34.2	27.1
1987*	32.0	33.5	27.1

* अन्तरिम

बोध प्रश्न 4

1 अशोधित जन्म दर या अशोधित मृत्यु दर की परिभाषा में अनुपात को 1000 से गुणा क्यों करते हैं ?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2 जनांकिकी विद्वान सामान्य प्रजनन दर को अशोधित जन्म दर से प्रजनन क्षमता का बेहतर माप क्यों मानते हैं ?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

3 भारत के दो राज्य, जहां प्रजनन क्षमता कम है तथा दो राज्य, जहां प्रजनन क्षमता अधिक है, उनके नाम बताइए।

. . . . . .

. . . . . .

7.4.2 मरणशीलता

चूंकि मनुष्य मरणशील है इसलिए वह किसी न किसी आयु में मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्यु का अर्थ है जीवित जन्म के बाद मानव शरीर में जीवन के सारे चिह्नों का सदा के लिए लुप्त हो जाना। मृत्यु की प्रक्रिया से किसी क्षेत्र की जनसंख्या एक संतुलन में रहती है। जनसंख्या के बढ़ने पर भी यह होता रहता है।

अशोधित जन्म दर की भांति अशोधित मृत्यु दर भी मरणशीलता के माप के लिए सामान्यता प्रयोग की जाती है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है:

$$\text{अशोधित मृत्यु दर} = \frac{\text{किसी भौगोलिक क्षेत्र में एक वर्ष में मृत्यु की कुल संख्या}}{\text{उस क्षेत्र में वर्ष के मध्य की जनसंख्या}} \times 1000$$

इसके हर में वर्ष के मध्य की जनसंख्या प्रयोग करने का और 1000 से गुणा करने के वही कारण हैं, जिनका अशोधित जन्म दर की परिभाषा करते समय जिक्र किया गया था।

अशोधित जन्म दर और अशोधित मृत्यु दर के अंतर को जनसंख्या की "वृद्धि की नैसर्गिक दर" कहते हैं, जिससे यह मालूम होता है कि स्वाभाविक तरीके से किसी क्षेत्र की जनसंख्या किस दर से बढ़ रही है।

विभिन्न क्षेत्रों की जनसंख्या में आयु-संरचना के अनुसार अंतर होता है। कुछ क्षेत्रों में जनसंख्या में 20 वर्ष से कम आयु के युवा लोगों का अधिक अनुपात होता है तो किसी क्षेत्र में वृद्ध लोगों का अनुपात अधिक होता है। युवा लोगों में मरणशीलता कम होती है। इसलिए, सब बातें समान होने पर, युवा आयु-संरचना की जनसंख्या में वृद्ध आयु-संरचना की तुलना में अशोधित मृत्यु दर कम होती है। इस समस्या का समाधान करने के लिए जनांकिकी-विद्वानों ने "जन्म के समय आयु संभाविता" के माप को विकसित किया, जिससे विभिन्न देशों के मृत्यु दर स्वरूप को समझा जा सके। वास्तव में 'जन्म के समय आयु-संभाविता,' मृत्यु दर के विपरीत होती है। यदि मृत्यु दर अधिक है तो जीवित रहने की संभावना कम होती है। इसी प्रकार इसका विपरीत भी है।

तालिका 7.10 में 1901 से भारत में मृत्यु दरों की प्रवृत्ति को दिखाया गया है। जन्म दरों की भांति इन मृत्यु दरों को भी परोक्ष विधियों से प्राप्त किया गया है।

तालिका 7.10: भारत में दश वर्षीय अनुमानित मृत्यु दरें, 1901–1981

दशक	मृत्यु दर (प्रति हजार)
1901–11	42.6
1911–21	48.6
1921–31	36.3
1931–41	31.2
1941–51	27.4
1951–61	22.8
1961–71	19.2
1971–81	15.0

व्यापक अकाल और महामारियों के कारण भारत की मृत्यु दर 1921 तक बहुत अधिक थी। 1921 के बाद बेहतर संचार प्रणाली के विकास और चेचक, हैज़ा तथा प्लेग जैसी महामारियों और मलेरिया जैसी देशज बीमारियों की रोकथाम के लिए अधिक संगठित प्रयासों से अशोधित मृत्यु दर में कमी आई। पिछली अर्द्ध शताब्दी के दौरान अशोधित मृत्यु दर में कमी होने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है।

जन्म दरों की भांति ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों को अलग-अलग 1970 तथा उसके बाद के प्रति वर्ष अनुमानित मृत्यु दरें नमूना पंजीकरण प्रणाली से प्राप्त हैं (तालिका 7.11)।

तालिका 7.11 : ग्रामीण-शहरी आवास के अनुसार भारत में मृत्यु दर, 1970-1987

वर्ष	मृत्यु दर (प्रति हज़ार)		
	कुल	ग्रामीण	शहरी
1970	15.7	17.3	10.2
1975	15.9	17.3	10.2
1976	15.0	16.3	9.5
1977	14.7	16.0	9.4
1978	14.2	15.3	9.4
1979	13.0	14.1	8.1
1980	12.6	13.7	7.9
1981	12.5	13.7	7.8
1982	11.9	13.1	7.4
1983	11.9	13.1	7.9
1984	12.6	13.8	8.6
1985	11.8	13.0	7.8
1986	11.1	12.2	7.6
1987*	10.8	11.9	7.3

* अनंतिम

1970 और 1980 के दशकों के दौरान ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में मृत्यु दर में नियमित कमी दिखाई देती है। मिश्रित मृत्यु दर 1975 में 15.9 से घटकर 1987 में 10.8 प्रति हज़ार रह गई। ग्रामीण और शहरी मृत्यु दरों में बहुत अंतर है। यह अंतर 1970 या 1975 में करीब 7 प्रतिशत बिन्दु था किन्तु 1986 या 1987 में यह घटकर 4.6 बिन्दु रह गया। इसका यह अर्थ है कि ग्रामीण क्षेत्रों में मृत्यु दर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत तेज़ गति से कम हुआ।

जहां तक मृत्यु दरों का विभिन्न राज्यों में अंतर का संबंध है असम, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश जैसे मुख्य राज्यों में मृत्यु दर राष्ट्रीय औसत से बहुत अधिक थी। उत्तर प्रदेश में यह सबसे अधिक थी। इसके विपरीत, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, पंजाब और पश्चिम बंगाल में मृत्यु दरें अपेक्षाकृत कम थीं। केरल ही एक ऐसा राज्य है, जहां 1987 में मृत्यु दर केवल 6 प्रति हज़ार थी। केन्द्र शासित प्रदेशों में चंडीगढ़ में मृत्यु दर 4 प्रति हजार के करीब थी।

जैसा कि इस भाग में पहले बताया जा चुका है कि जन्म दर और मृत्यु दर के अंतर से जनसंख्या की नैसर्गिक वृद्धि दर प्राप्त होती है। तालिका 7.9 और 7.11 के कालम 2 के अंतर से हमें 1970 से भारत की जनसंख्या की नैसर्गिक वृद्धि दर प्राप्त होती है। 1970 के दशक में भारत की जनसंख्या की नैसर्गिक वृद्धि दर बढ़कर 2.15 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई। यह स्थिति चिन्ताजनक है क्योंकि इसका अर्थ है कि 1980 के दशक में जनसंख्या अधिक गति से बढ़ेगी।

बोध प्रश्न 5

1 जनसंख्या की नैसर्गिक वृद्धि दर क्या है ?

. . . . . .

. . . . . .

2 उन दो राज्यों के नाम बताइए जहां मृत्यु दर काफी कम थी और वे दो राज्य, जहां यह राष्ट्रीय औसत से बहुत ऊंची थी।

.....

.....

3 उन तीन कारकों के नाम बताइए, जिनसे मरणशीलता (मृत्यु दर) में अंतर पड़ता है।

.....

.....

.....

7.4.3 प्रवसन

भारत से या उसमें अंतर्राष्ट्रीय प्रवसन का कुल जनसंख्या वृद्धि में कोई महत्व नहीं है क्योंकि इसका आकार बहुत कम रहा है। 1981 की जनगणना के अनुसार, 1971–81 के दौरान भारत में 5.8 लाख पुरुषों और 5.4 लाख स्त्रियों ने विदेशों से भारत में प्रवेश किया। इसके विपरीत इस अवधि में अत्यधिक संख्या में भारतीय कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका, मध्य-पूर्व के तथा अन्य दूसरे देशों को गए और इस प्रकार आप्रवास और उत्प्रवास में लगभग संतुलन स्थापित हो गया।

आंतरिक प्रवसन विशेषतौर पर अंतर्राज्यीय प्रवसन जनसंख्या के केवल आकार को ही परिवर्तित नहीं करता (निवल आप्रवास क्षेत्रों में जनसंख्या में वृद्धि होती है तथा निवल उत्प्रवास वाले क्षेत्रों में जनसंख्या में कमी आती है (बल्कि लिंग संरचना, आयु-संरचना, वैवाहिक स्थिति और व्यवसायिक संरचना जैसे लक्षणों के अनुसार इसको परिवर्तित करने में एक अहम भूमिका निभाता है।

जनसंख्या की गतिशीलता जन्म और मृत्यु की भांति एक निरंतर प्रक्रिया है और किसी भौगोलिक क्षेत्र के निवासियों द्वारा आवास के समस्त स्थायी या अस्थायी परिवर्तनों को दर्ज करना आवश्यक है। यह जनसंख्या रजिस्टर रखने और उसको नियमित रूप से पूरा करने से प्राप्त हो सकती है। संसार के बहुत कम देशों में इस प्रकार के जनसंख्या के रजिस्टर को बनाए रखने और उनकी जनसंख्या की गतिशीलता दर्ज करने में सफलता प्राप्त हुई है।

लोगों की गतिविधि के विवरण को दर्ज करने के अभाव में आने और जाने के प्रवसन के अनुमान, जनगणना में प्रश्न पूछने से प्राप्त होते हैं अथवा जन्म स्थान या पिछले निवास का स्थान या दोनों के बारे में सर्वेक्षण (Sample Survey) की सूचना से प्राप्त होते हैं। दो जनगणना के दौरान या किसी विशिष्ट अवधि में प्रवसन के अनुमान जनगणना में अनुपूरक प्रश्न जैसे गणना के समय उस स्थान पर निवास का समय, पूछने पर मालूम हो सकते हैं।

यदि हम राज्य स्तर पर प्रवसन पर विचार करें तो हम देखेंगे कि लोग एक राज्य से दूसरे राज्यों में जाते हैं। यदि हम जन्म स्थान के अनुसार विभिन्न राज्यों में इन सब गतिविधियों को जोड़ें तो "क" राज्य में पैदा हुए लोगों की कुल संख्या से जिनकी "ख", "ग", "घ" ..... राज्यों में गणना हुई "क" राज्य से उत्प्रवासियों की संख्या मिलेगी। इसी प्रकार, "ख", "ग", "घ" राज्यों में पैदा हुए लोगों की कुल संख्या से जिनकी गणना "क" राज्य में हुई, "क" राज्य में आने वाले आप्रवासियों की संख्या मिल जाएगी। इन दोनों आंकड़ों के अंतर से "क" राज्य में वास्तविक प्रवसन का अनुमान मिलेगा। यदि आप्रवासियों और उत्प्रवासियों का अंतर सकारात्मक है तो राज्य में प्रवसन से जनसंख्या बढ़ी है। यदि यह अंतर नकारात्मक है तो राज्य की जनसंख्या कम हुई है।

दो समय बिन्दुओं के बीच किसी देश या राज्य में प्रवसन का आकार मालूम किया जा सकता है, यदि इनके बीच जन्म या मृत्यु की सूचना प्राप्त हो जाए। उदाहरण के लिए, यदि Po और Pt किसी काल के आरम्भ और अन्त की कुल जनसंख्या को दर्शाते हैं और यदि B और D क्रमश: इस काल में कुल जन्म तथा मृत्यु को दर्शाते हैं तो वास्तविक प्रवसन M निम्नलिखित होगा:

$$M = (Pt - Po) - (B - D)$$

जन्म दर और मृत्यु दर की भांति निवल प्रवसन दर निम्नलिखित सूत्र से निकाली जा सकती है:

$$m = \frac{M}{P} \times 1000$$

जब m = किसी विशिष्ट प्रवसन अवधि जैसे एक वर्ष का प्रवसन दर
M = इस अवधि में प्रवासियों की वास्तविक संख्या
P = प्रवसन अंतराल के दौरान क्षेत्र की औसत जनसंख्या
यहां m सकारात्मक, नकारात्मक या शून्य हो सकता है।

भारत में प्रवसन की प्रवृत्तियाँ

भारत में प्रवसन का आकार बहुत बड़ा नहीं है। 1961 की जनगणना में 14.48 करोड़ लोग (कुल जनसंख्या का 33 प्रतिशत) अपने जन्म स्थान के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर पाए गए हैं इसलिए उनकी गणना आजीवन प्रवासी में की गई है। 1961 की जनगणना में एक करोड़ से अधिक लोगों का जन्म भारत से बाहर हुआ था, जिनमें अधिकांश बंगलादेश और पाकिस्तान में पैदा हुए थे। 1971 की जनगणना में 16.68 करोड़ लोगों (जो जनसंख्या का 30.4 प्रतिशत है) की आजीवन प्रवासियों में गणना की गई थी। प्रवासियों की संख्या बढ़कर 1981 जनगणना में 20.36 करोड़ हो गई, जो कुल जनसंख्या का 30.6 प्रतिशत थी। 1981 के आंकड़ों में असम शामिल नहीं है क्योंकि वहां जनगणना नहीं हो सकी थी। यदि असम के आंकड़े कुल जनसंख्या और कुल प्रवासियों से निकाल दिए जाएं तो 1971 की आजीवन प्रवासी दर 30.4 प्रतिशत के बजाय 30.3 प्रतिशत हो जाएगी। 1961 के आंकड़ों में भी इसी मात्रा का परिवर्तन मिलता है। इस प्रकार, आजीवन प्रवासियों का कुल जनसंख्या में अनुपात 1971 की जनगणना में कुछ कम हो गया और 1981 की जनगणना में लगभग उसी स्तर पर रहा।

1981 में आजीवन प्रवासियों का ग्रामीण जनसंख्या में अनुपात (28.2 प्रतिशत) शहरी जनसंख्या की अपेक्षा कम था (38.4 प्रतिशत) किन्तु पुरुष प्रवासियों का अनुपात स्त्री प्रवासियों की तुलना में बहुत कम था (तालिका 7.12)। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश स्त्रियां या तो (गांव के रिवाज़ के अनुसार) विवाह के द्वारा बाहर जाती हैं या परिवार के साथ बाहर जाती हैं। आर्थिक कारणों या शिक्षा के लिए स्त्रियों का प्रवसन बहुत कम है।

तालिका 7.12: लिंग और आवास के अनुसार आजीवन प्रवासियों का कुल भारत की जनसंख्या में प्रतिशत, 1961-1981

आवास का प्रकार	वर्ष	कुल	पुरुष	स्त्रियां
कुल	1961	33.0	20.8	46.0
	1971	30.4	18.9	42.8
	1981	30.6	17.8	44.3
ग्रामीण	1961	30.4	15.4	46.0
	1971	28.2	14.1	43.1
	1981	28.2	12.3	44.9
शहरी	1961	44.8	43.7	46.1
	1971	39.3	3	41.3
	1981	38.4	34.9	42.3

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि किसी अवधि विशेष में किसी जनसंख्या की वृद्धि दर उसी काल में प्रवसन द्वारा निवल वृद्धि या हानि से भी प्रभावित होती है। यदि राज्य के स्तर पर दशवर्षीय वृद्धि दरों का अध्ययन करें तो दो जनगणनाओं के दौरान प्रत्येक राज्य की जनसंख्या में प्रवसन द्वारा निवल वृद्धि या हानि के आंकड़ों की आवश्यकता होगी। यदि हम ज़िला-स्तर पर वृद्धि दरों का अध्ययन करें तो ज़िला स्तर के उसी प्रकार के आंकड़ों की आवश्यकता होगी। कुछ उद्देश्यों के लिए लिंग और आयु, शैक्षिक योग्यताओं और व्यवसाय के अनुसार प्रवासियों के अनुमानों की आवश्यकता होगी। चूंकि प्रवसन पर इस प्रकार के विस्तृत आंकड़े मिलना बहुत मुश्किल है, इसलिए इसका अध्ययन आगे नहीं किया गया।

रोज़गार, आमदनी और तीव्र जनसंख्या वृद्धि तीन महत्वपूर्ण चर हैं जो प्रवसन-प्रवाह का परिमाण और प्रवृत्ति निर्धारित करते हैं। प्रवासी उन क्षेत्रों से बाहर जाते हैं जहां रोज़गार के अवसर नहीं बढ़ रहे हैं, आमदनी कम है और जहां जनसंख्या वृद्धि की दर बहुत अधिक है। इसके विपरीत, ये लोग उन क्षेत्रों में जाते हैं जहां नया औद्योगिक विकास हो रहा है और प्रति व्यक्ति आय ऊंची है। भारत में कृषि पर अधिकतर लोगों की निरंतर निर्भरता, जाति व्यवस्था और मज़बूत सामाजिक संबंध, भाषा और संस्कृति की विभिन्नता, शिक्षा का आभाव और औद्योगीकरण के निम्न स्तर के कारण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में लोगों का प्रवसन कम होता है।

बोध प्रश्न 6

1 अंतर्राष्ट्रीय और आंतरिक प्रवसन में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 यदि किन्हीं दो समय बिन्दुओं (Po और Pt) की जनसंख्या तथा इन दो बिन्दुओं के दौरान जन्म और मृत्यु की सूचना उपलब्ध हो तो निवल प्रवसन निर्धारित करने का समीकरण लिखिए।

.....

3 निम्नलिखित कथनों में सही उत्तर बताइए:

क) ग्रामीण जनसंख्या में आजीवन प्रवासियों का अनुपात शहरी जनसंख्या की अपेक्षा ..... है। (कम/अधिक)

ख) प्रवासी उन क्षेत्रों में जाते हैं, जहां रोज़गार के अवसर ..... होते हैं। (नहीं बढ़ रहे/बढ़ रहे)

ग) औद्योगिक विकास प्रवसन को प्रेरित करने के लिए ..... कारक है। (सकारात्मक/नकारात्मक)

4 उन तीन महत्वपूर्ण कारकों के नाम बताइए जिनसे भारत में अंतर्राज्यीय प्रवसन सीमित हो गया है।

.....

.....

.....

7.5 भारत की जनसंख्या नीति

द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वतंत्र हुए विकासशील देशों ने अपने निवासियों के रहन-सहन का स्तर उठाने के लिए सामाजिक और आर्थिक विकास के कार्यक्रम आरंभ किए। किन्तु कुछ देशों में आर्थिक विकास कार्यक्रम बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ ताल-मेल नहीं रख सके। अतएव अपने निवासियों के लिए ऊंचे रहन-सहन का स्तर नहीं प्राप्त कर सके।

स्वतंत्रता के तुरन्त बाद भारत सरकार ने योजना आयोग की स्थापना की, जो आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों के संतुलित तथा बहुत प्रभावी उपयोग के लिए एक योजना बना सके। पहले ही पंचवर्षीय योजना बनाते समय योजना आयोग ने इस बात को माना कि आर्थिक विकास और लोगों के रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने के संदर्भ में जनसंख्या वृद्धि दर को नियमित करने की जनसंख्या नीति, माताओं और बच्चों के स्वास्थ्य में सुधार की ओर एक अच्छा कदम होगा। उस योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम और परिवार को सीमित करने

के लिए प्रभावी तकनीक खोजने के लिए तथा उस तकनीकी ज्ञान का व्यापक रूप से प्रचार करने के तरीके सुझाने के लिए 65 लाख रुपयों का प्रावधान किया गया था। इस प्रकार संसार में भारत पहला देश है जिसमें राज्य की ओर से 'जनसंख्या वृद्धि नियंत्रण' कार्यक्रम आरंभ किया गया।

हर अगली योजना में परिवार नियोजन (कल्याण) कार्यक्रम के लिए व्यय प्रावधान अधिकाधिक बढ़ाए गए। 1960 के दशक के अंत तक कार्यक्रम का ज़ोर नसबन्दी की ओर अधिक हो गया और चौथी तथा पांचवीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज़ों में दिए गए समयबद्ध लक्ष्य पर ज़ोर दिया गया। इस कार्यक्रम में लक्ष्य प्राप्त करने के लिए डॉक्टरों, प्रेरकों और नसबन्दी को स्वीकार करने वालों को आर्थिक प्रोत्साहन दिए गए। कुछ राज्यों में कानून और व्यवस्था तथा कर-वसूल करने वाले विभागों को परिवार नियोजन कार्य के लिए लगाया गया।

1975–76 में सरकार ने इस बात को माना कि परिवार नियोजन को अधिक गति से बढ़ावा देने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों के दूसरे विकास कार्यक्रमों को भी इसमें शामिल किया जाए और उन सब संगठनों को भी जिनका जनता पर प्रभाव था और जिनका उद्देश्य जन कल्याण था, इस दिशा में प्रेरित किया जाए। अतएव एक विस्तृत "राष्ट्रीय जनसंख्या नीति" तैयार की गई और 16 अप्रैल, 1967 को उस समय के स्वास्थ्य मंत्री ने संसद के समक्ष उसे प्रस्तुत किया। इसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि जनसंख्या नियंत्रण को आर्थिक स्वतंत्रता और सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन में एक अहम् भूमिका, विशेषकर 20 सूत्री कार्यक्रम के संदर्भ में, निभानी है। इसमें ऐसा कहा गया था कि सरकार ने ऐसे मौलिक उपायों के बारे में निर्णय लिया है जिससे आशा है कि पांचवीं योजना के आरंभ में अनुमानित 35 प्रति हजार के जन्म दर को छठी योजना के अन्त तक 25 प्रति हज़ार तक घटाने का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इन उपायों में राज्य योजनाओं में केन्द्रीय सहायता का 8 प्रतिशत उन राज्य योजनाओं के लिए निश्चित किया गया जिन्होंने परिवार नियोजन में विशेष कार्य किया है। 1971 की जनगणना की जनसंख्या के आधार पर अगले 25 वर्षों के लिए केन्द्र और राज्य विधानसभाओं में प्रतिनिधित्व को स्थिर करना, विवाह के लिए आयु बढ़ाकर लड़कियों के लिए 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष करना और अधिक आर्थिक मुआवज़ा प्रदान करना, लड़कियों के लिए मिडिल स्तर तक की शिक्षा को ऊंची प्राथमिकता और बाल-पोषण शामिल हैं।

जनसंख्या नीति में सरकार द्वारा बनाये गये कुछ जनसं या उद्देश्य, जिनमें जन कल्याण और रहन-सहन को निर्धारित करना और उनको प्राप्त करने के लिए कदम उठाना, दोनों ही शामिल हैं। इन जनसंख्या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संसाधनों को रखना और उनका प्रयोग भी शामिल है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि जनसंख्या नीतियां वे उपाय और कार्यक्रम हैं जिनसे आर्थिक, सामाजिक, जनसांख्यिकीय, राजनीतिक और अन्य सामूहिक लक्ष्य, महत्वपूर्ण जनसांख्यिकीय चरों जैसे जनसंख्या का आकार और वृद्धि, इसका भौगोलिक विवरण (राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय) और इसके जनसांख्यिकीय लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं (यूनेस्को)। यह स्पष्ट है कि 1976 की राष्ट्रीय जनसंख्या नीति का विवरण इन सारे पहलुओं को बहुत विस्तार से सम्मिलित करता है।

कई राज्यों ने इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए अनेक कदम उठाए हैं। जैसे जनता को, कम से कम राज्य और केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को, नसबन्दी कार्यक्रम अपनाने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए कई प्रेरणात्मक और दंडात्मक उपाय अपनाए गए।

1976 के दौरान परिवार नियोजन कार्यक्रम में ज़बरदस्ती करने की बहुत आलोचना की गई और इसकी बहुत बदनामी हुई। 1977 और 1978 में इसकी उपलब्धियां बहुत तेजी से कम हो गई। उदाहरण के तौर पर, नसबन्दी की संख्या 1976–77 में 83 लाख से घट कर 1977–78 में 9.5 लाख और 1978–79 में 15 लाख रह गई।

देश सख्ती और ज़बरदस्ती के लिए तैयार नहीं था। मार्च, 1977 में केन्द्रीय स्तर पर राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन हुआ। फलस्वरूप जुलाई, 1977 में कई राज्यों में नई सरकारें बनीं। नई सरकार ने देश की जनसंख्या को सीमित करने के महत्व पर तो ज़ोर दिया किन्तु साथ-साथ परिवार नियोजन कार्यक्रम के स्वैच्छिक स्वरूप पर भी ज़ोर दिया।

परिवार नियोजन कार्यक्रम के कार्य में एकदम गिरावट आने पर सरकार ने पिछले दस वर्षों में

कई कदम उठाए जिससे यह पुनर्जीवित हो सके। इसके लिए सेवाओं को मज़बूत करना और उनका विस्तार करना आवश्यक है जोकि देश-व्यापी सूचना-प्रसारण के विशाल अभियान, प्रेरणा और सेवाओं में सुधार, दूसरे विकास विभागों और स्वयंसेवी संस्थाओं का बड़े जोर-शोर से शामिल होने तथा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा परिवार के स्तर पर कार्य करने से ही हो सकता है।

भारतीय जनसंख्या संबंधी समस्याएं और भविष्य में इसकी वृद्धि को सीमित करने की आवश्यकता की जानकारी बढ़ाने के लिए सरकार ने 1970 में नियमित सामाजिक विज्ञान विषयों द्वारा स्कूली शिक्षा में "जनसंख्या शिक्षा" का आरम्भ किया। स्कूलों में "जनसंख्या शिक्षा" का प्रचार करने की जिम्मेदारी भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) को सौप दी गई। परिषद् ने विद्यार्थियों के लिए जनसंख्या शिक्षा की बहुत-सी इकाइयों को विकसित किया है और उन्हें एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई स्कूली पाठ्य-पुस्तकों में शामिल किया गया है।

परिवार नियोजन कार्यक्रम के गर्भ-निरोधक उपायों को स्वीकार करने वालों की संख्या समय के साथ-साथ बराबर बढ़ी है और 1983–84 में दम्पति संरक्षण दर 40 प्रतिशत तक पहुंच गई है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में अन्य लक्ष्य जैसे जन्म दर, मृत्यु दर और शिशु मरणशीलता दर आदि के साथ सन् 2000 तक 60 प्रतिशत प्रभावी दम्पति संरक्षण दर प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। फिर भी यदि जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम को बहुत-बढ़ावा न दिया गया तो निश्चित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकेंगे। वर्तमान संकेतों के अनुसार 2001 के बजाय 2006–2011 तक ही "इकाई" के निवल प्रजनन दर के लक्ष्य को, जिसका अर्थ है स्थिर जनसंख्या का लक्ष्य, प्राप्त किया जा सकता है।

जनसंख्या वृद्धि के स्वरूप और विभिन्न राज्यों में जन्म और मृत्यु दरों का स्तर भविष्य की जनसंख्या नीति नियोजन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकते हैं। इसके लिए प्रत्येक राज्य की समस्याओं और अंतर्राज्यीय अंतर की ओर विशेष ध्यान दिया जाए ताकि इन चरों को सामने रखकर जनसंख्या नीति बनाई जा सके और राज्यों/केन्द्र शासित क्षेत्रों की नीतियों का समावेश करके एक सम्पूर्ण जनसंख्या नीति बनाई जा सके। जिन राज्यों में विशेषकर हिन्दी भाषी क्षेत्र में, जहां अभी अपेक्षाकृत उच्च मृत्यु दर है, उनमें अगले दो दशकों में मरणशीलता में तीव्र गति से कमी होने की संभावना है। चूंकि इन राज्यों में जन्म दर भी ऊंची है इसलिए यदि वे साथ-साथ जन्म दर को भी घटाने में सफल नहीं होते हैं तो भविष्य में उन्हे तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का सामना करना पड़ सकता है। राष्ट्रीय जन्म दर में अधिक मात्रा में कमी तभी हो सकती है जब उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा और गुजरात की जन्म दरों में तेज़ी से कमी हो।

बोध प्रश्न 7

1 भारत को "जनसंख्या वृद्धि नियंत्रण" कार्यक्रम की पहल करने वाला प्रथम देश क्यों कहा जाता है ?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2 1976 की "राष्ट्रीय जनसंख्या नीति" विवरण के प्रमुख पहलुओं का वर्णन कीजिए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

3 "जनसंख्या शिक्षा" कार्यक्रम को विकसित करने में राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद ने क्या-क्या कदम उठाए हैं ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.6 सारांश

इस इकाई में जनसंख्या के आकार, वृद्धि और आर्थिक विकास के पारस्परिक संबंधों पर विचार किया है और यह बताया गया है कि कब जनसंख्या की तीव्र वृद्धि आर्थिक विकास में सहायता करती है और कब उसमें बाधा डालती है। भारत की वर्तमान जनसंख्या आकार और वृद्धि दर देश के आर्थिक विकास को रोकती है, यह बतलाने के बाद शहरीकरण का, विशेषकर इसकी बढ़ती गति का, आर्थिक विकास में भूमिका पर ज़ोर दिया गया है। चूंकि भारत में पिछले चार दशकों में औद्योगीकरण की गति बहुत तेज़ नहीं थी, इस कारण शहरीकरण से आशातीत आर्थिक विकास का स्तर नहीं प्राप्त हो सका।

1921 तक भारतीय जनसंख्या की अनियमित वृद्धि के काल के पश्चात यह 1921 के बाद से धीरे-धीरे बढ़ने लगी। स्वतंत्रता के बाद जनसंख्या वृद्धि दर बहुत ऊंची हो गई। इसका प्रभाव देश की जनसंख्या की युवा आयु के ढांचे में साफ-साफ देखने में आता है, जिसका अर्थ यह है कि आयु के पिरामिड का आधार बड़ा है और चोटी बहुत शीघ्रता से कम होती जाती है। भारत की शहरी जनसंख्या भी पिछले चार दशकों में, विशेषकर 1971–81 के दौरान, बहुत तेज़ी से बढ़ी है। शहरीकरण का एक प्रमुख पहलू यह है कि जनसंख्या कुछ महानगरों तथा अन्य एक लाख या इससे अधिक आबादी वाले शहरों में केन्द्रित हो गई है क्योंकि शहरी जनसंख्या का 60 प्रतिशत 1981 में इस प्रकार के 210 शहरों में निवास करता था।

कार्यशील और गैर-कार्यशील जनसंख्या पर विचार-विमर्श से विभिन्न जनगणनाओं में "श्रमिक"की संकल्पनाओं में जो परिवर्तन आए हैं और "श्रमिक" की परिभाषा में परिवर्तनों का कार्यशील जनसंख्या के आकार पर क्या प्रभाव पड़ा, यह भी स्पष्ट हो गया। इस इकाई में श्रमिकों के कार्यों के स्वरूप पर विचार किया गया तथा उनको प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों में विभक्त किया गया। गैर-कार्यशील व्यक्तियों को घरेलू कार्य, विद्यार्थी, आश्रित, सेवानिवृत आदि वर्गों में विभाजित किया गया।

जनसंख्या वृद्धि के गति विज्ञान का प्रजनन क्षमता, मरणशीलता और प्रवसन के उप-शीर्षकों के अंतर्गत विचार किया गया जोकि जनसंख्या के आकार और वृद्धि दर को सीधे तौर से प्रभावित करते हैं। प्रजनन क्षमता और मृत्यु दर के अनेक लाभों को समझाया गया और उनकी प्रवृत्तियों पर भी विचार किया गया। इस भाग में अशोधित जन्म दर और अशोधित मृत्यु दर के क्षेत्रीय अंतरों को भी प्रस्तुत किया गया। प्रवासी की परिभाषा की समस्याएं और निकट अतीत में पुरुष और स्त्रियों की अलग-अलग ग्रामीण/शहरी आवास के अनुसार प्रवसन प्रवृत्ति भी बताई गई है।

भारत की जनसंख्या नीति में भारत सरकार के जनसंख्या नियंत्रण के बारे में प्रयासों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। 1976 की "भारत को जनसंख्या नीति" के विवरण के मुख्य लक्षणों तथा उसमें की गई ज़बरदस्ती पर प्रकाश डाला गया। विभिन्न राज्यों में जनसंख्या वृद्धि प्रवृत्ति, विशेषकर जन्म और मृत्यु दरों के वर्तमान स्तर को दृष्टि में रखकर समुचित जनसंख्या नीति बनाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है।

7.7 शब्दावली

अशोधित जन्म दर: यह किसी भौगोलिक क्षेत्र में एक वर्ष में जीवित शिशुओं के जन्म की कुल संख्या और उस क्षेत्र में वर्ष के मध्य की जनसंख्या के संबंध को बताता है।

अशोधित मृत्यु दर: यह किसी भौगोलिक क्षेत्र में एक वर्ष में मृतकों की कुल संख्या और उस क्षेत्र में वर्ष के मध्य की जनसंख्या के संबंध को बताता है।

प्रजनन क्षमता: इसका अर्थ प्रजनन योग्य आयु की स्त्रियों के वास्तव में पैदा हुए शिशुओं की संख्या है। पारंपरिक रूप से प्रजनन क्षमता अशोधित जन्म दर से मापी जाती है। फिर भी, सामान्य प्रजनन दर प्रजनन क्षमता को मापने का एक बेहतर सूचक है।

सामान्य प्रजनन दर: इसमें प्रजनन योग्य आयु की स्त्रियों की जनसंख्या को शामिल किया जाता है क्योंकि किसी भौगोलिक क्षेत्र में एक वर्ष में जनसंख्या की प्रजनन क्षमता को यह प्रभाव रूप से निर्धारित करती है।

प्रवसन: यह व्यक्तियों की एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की ओर गतिशीलता को कहते जब एक व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र में जाता है तो यह ग्रामीण-शहरी प्रवसन के में होता है। जब व्यक्ति एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाता है तो इसे अंत:ग्रामीण प्रवसन कहत हैं। जब व्यक्ति एक देश से दूसरे देश में जाता है, जैसे बंगलादेश से भारत में तो उसे अंतर्राष्ट्रीय प्रवसन कहते हैं।

वृद्ध जनसंख्या: जहां अधेड़ और वृद्ध व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक हों, वहां की जनसंख्या को वृद्ध जनसंख्या कहते हैं। हमारे देश की जनसंख्या को वृद्ध जनसंख्या नहीं कहते, क्योंकि यहां केवल 6 प्रतिशत लोग 60 वर्ष की या उससे ऊपर की आयु के हैं।

लिंग-अनुपात: इसका अर्थ प्रति हज़ार पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या होना है। 1981 में भारत में यह अनुपात 934 था। अधिकांश विकसित देशों में लिंग-अनुपात 100 से अधिक है क्योंकि भारत जैसे विकासशील देशों की तुलना में उन विकसित देशों में स्त्रियों की मृत्यु दर कम है।

मज़दूरी कोष: इसका अर्थ है अर्थव्यवस्था में उपलब्ध मज़दूरी वस्तुओं का परिमाण। क्लासिकी अर्थशास्त्रियों के अनुसार इसका आकार मज़दूरों की संख्या को, जिसका भरण-पोषण किया जा सकता है, निर्धारित करता है।

युवा जनसंख्या: जहां बच्चों, किशोरों और युवकों का अपेक्षाकृत अधिक अनुपात हो तो उसे युवा जनसंख्या कहते हैं। हमारे देश में युवा जनसंख्या है क्योंकि हमारी जनसंख्या का 40 प्रतिशत भाग 15 वर्ष की आयु से कम है।

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नागूरामका, लक्ष्मीनारायण: **भारतीय अर्थशास्त्र**, 1990, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, खंड-1; अध्याय-16.

धींगरा, ईश्वर एवं वी. के. गर्ग: **भारत में आर्थिक विकास एवं नियोजन** 1989, सुलतान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, अध्याय 8 एवं 9.

रूद्रदत्त एवं के. पी. एम. सुन्दरम: **भारतीय अर्थव्यवस्था**, 1990, एस. चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय-6.

मिश्र, एस. के. एवं वी. के. पुरी: **भारतीय अर्थव्यवस्था**, 1989, हिमालिया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, अध्याय-8.

Bhende, Asha A. and Tara Kanitkar, 1970, **Principles of Population Studies,** Himalaya Publishing House, Bombay.

Mishra, B.D., 1980, **An Introduction to the Study of Population,** South Asian Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, (Chapters 1, 2, 3, 4, 10 and 11).

Premi, M. K., A. Ramanamma and Usha Bambawale, 1983, **An Introduction to Social Demography**, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi, (Chapters 1 to 7)

7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 क) iii)
ख) iii)
2 भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा आदि का पावधान।
3 भाग 7.2.3 का दूसरा पैरा देखिए।
4 भाग 7.2.4 को संक्षेप में लिखिए।

बोध प्रश्न 2

1 क) iii)
ख) ii)
ग) i)
2 भाग 7.3.2 देखिए।
3 भाग 7.3.1 देखिए।
4 भाग 7.3.2 (चौथा पैरा) देखिए। इसमें तीन कारकों का उल्लेख है।

बोध प्रश्न 3

1 भाग 7.3.3 का दूसरा पैरा देखिए।
2 i) भाग 7.3.3 का चौथा पैरा देखिए।
ii) उच्च जन्म दर, उच्च मृत्यु दर तथा मृत्यु दर की अपेक्षा उच्चतर जन्म दर के कारण 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों का अत्यधिक अनुपात होता है।
3 i) और ii) भाग 7.3.3, (विशेषकर सातवां पैरा), देखिए।
4 संसाधनों का निवेश और उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्रों में आवंटन के संदर्भ में प्रभावों का वर्णन कीजिए।
5 क) 35 प्रतिशत से कम
ख) कम
ग) प्राथमिक

बोध प्रश्न 4

1 भाग 7.4.1 का चौथा पैरा देखिए।
2 भाग 7.4.1 का पांचवां पैरा देखिए।
3 केरल और त्रिपुरा में प्रजनन क्षमता कम है, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में प्रजनन क्षमता अधिक है।

बोध प्रश्न 5

1 भाग 7.4.2 का दूसरा पैरा देखिए।
2 बिहार और उत्तर प्रदेश में मृत्यु दर राष्ट्रीय औसत से ऊंची है। हरियाणा और केरल में राष्ट्रीय औसत से कम मृत्यु दर है।
3 भाग 7.4.2 के अंतिम से पहला पैरा देखिए।

बोध प्रश्न 6

1 भाग 7.4.3 का पहला और दूसरा पैरा देखिए।
2 मूल पाठ में समीकरण को देखिए।
3 क) कम
ख) बढ़ती हुई
ग) सकारात्मक

4 भाग 7.4.3 का अंतिम पैरा देखिए।

बोध प्रश्न 7

1 भाग 7.5 का दूसरा पैरा देखिए।
2 भाग 7.5 का चौथा पैरा देखिए।
3 भाग 7.5 का दसवाँ पैरा देखिए।

खंड

4

विकास के लिए आयोजन

इकाई 8

राज्य तथा आयोजन की कार्यनीतियाँ 5

इकाई 9

योजनाओं की वित्त व्यवस्था 26

खंड 4 का परिचय

इस खंड में स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक विरासत के ढाँचे से नियोजित आर्थिक विकास तथा राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की ओर ले जाने के प्रयासों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसमें दो इकाइयाँ– 8 और 9 हैं।

इकाई 8 में भारतीय आयोजन के लगभग चार दशकों के अनुभव और राज्य के महत्व का सर्वेक्षण किया गया है। इकाई 9 में आयोजन की समस्याओं को योजनाओं के लिए वित्तीय साधन जुटाने के कार्य से संबंधित किया गया है।

इकाई 8 राज्य तथा आयोजन की कार्यनीतियाँ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भारतीय आयोजन : सामान्य रूपरेखा
8.3 मूलभूत उद्देश्य और कार्यनीति
  8.3.1 प्रथम उद्देश्य : आर्थिक संवृद्धि
  8.3.2 आधुनिकीकरण : द्वितीय उद्देश्य
  8.3.3 आत्मनिर्भरता : तृतीय उद्देश्य
  8.3.4 सामाजिक न्याय : चतुर्थ उद्देश्य
8.4 संतुलित और असंतुलित विकास
  8.4.1 संतुलित बनाम असंतुलित विकास
  8.4.2 संतुलित विकास : परिणाम
8.5 विकास की कार्यनीति
  8.5.1 औद्योगीकरण एवम् पूंजीगत वस्तु उद्योग
  8.5.2 पूरक नीतियाँ
  8.5.3 व्यापार पद्धति, नियंत्रण और सार्वजनिक क्षेत्र
  8.5.4 आलोचना
8.6 सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों की सापेक्ष भूमिका
  8.6.1 निजी क्षेत्र की भूमिका
  8.6.2 औद्योगिक मिश्रण
  8.6.3 लघु और कुटीर उद्योग
  8.6.4 समस्याएँ
8.7 निवेश स्वरूप
  8.7.1 प्रथम योजना
  8.7.2 द्वितीय योजना और उसके पश्चात्
8.8 उपलब्धियाँ और सीमाएँ
  8.8.1 सामाजिक न्याय के साथ विकास
  8.8.2 कुछ उपलब्धियाँ
8.9 सारांश
8.10 शब्दावली
8.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में राज्य द्वारा अपनाई गई योजना की कार्यनीति का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप निम्न जानकारी प्राप्त कर सकेंगे :

- हमारी योजनाओं की सामान्य रूपरेखा तथा उनके मूलभूत उद्देश्य,
- संतुलित तथा असंतुलित विकास की धारणाएँ,
- सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों का सापेक्ष महत्व,
- निवेश स्वरूप तथा हमारे देश में विकास आयोजन की उपलब्धियाँ तथा सीमाएँ।

8.1 प्रस्तावना

यद्यपि भारत ने 15 अगस्त 1947 को राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, लेकिन उसे आर्थिक पिछड़ेपन और सामाजिक बुराइयों की उपनिवेशी विरासत के विरुद्ध एक निर्णायक लड़ाई लड़नी थी। देश की भौतिक पूँजी तथा मानवीय साधनों के विकास की आवश्यकताओं का अनुमान लगाने तथा उनके सही व कुशल प्रयोग के लिए 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई। अप्रैल, 1951 में भारत आर्थिक आयोजन के मार्ग पर अग्रसर हुआ। अभी तक, अप्रैल 1, 1951 से मार्च 31, 1990 तक हमने सात पंचवर्षीय योजनाएँ और तीन वार्षिक योजनाएँ (1966-69)

पूरी कर ली हैं। वर्ष 2000 के लिए विकास के संदर्भ में सातवीं पंचवर्षीय योजना अप्रैल 1, 1985 में प्रारंभ की गई थी। आजकल आठवीं योजना (1990-95) के दृष्टिकोण पत्र पर विचार चल रहा है।

8.2 भारतीय आयोजन : सामान्य रूपरेखा

भारत ने समाजवादी देशों के अनुभव से सीखते हुए प्रजातांत्रिक ढाँचे के अंतर्गत, केन्द्रीय आयोजन को विकास के माध्यम के तौर पर अपनाया। हमने मिश्रित अर्थव्यवस्था की धारणा को अपनाया जिसमें विकास के सामान्य कार्यों में सार्वजनिक तथा निजी, दोनों क्षेत्रों की पूरक भूमिकाएँ हैं और दोनों ही कार्यशील हैं। हमने प्रजातांत्रिक आयोजन को अपनाया जिसमें संवृद्धि की एक उच्च व बढ़ती हुई दर को प्राप्त करने, लोगों के जीवनस्तर में उत्तरोत्तर सुधार करने, गरीबी और बेरोज़गारी को दूर करने तथा एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की बुनियाद रखने के लिए साधनों का प्रयोग व हस्तांतरण समानतापूर्वक हो। ऐच्छिक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने और अल्पविकास के दुष्चक्र को तोड़ने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को मुख्य यन्त्र के रूप में चुना गया।

भारत को एक प्रजातांत्रिक व अर्ध-संघीय ढाँचे के साथ-साथ एक आयोजित अर्थव्यवस्था वाला देश होने का गौरव प्राप्त है। लोकतांत्रिक संघ का अर्थ है—विकेन्द्रीयकरण तथा स्वायत्तता। समाजवादी आयोजन मुख्यतया एकाकी व पूर्ण होता है लेकिन भारतीय संविधान, अपने लिखित व व्यवहारिक दोनों रूपों में, इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, केन्द्रीयकरण तथा स्वायत्तता का एव अद्भुत संतुलन रखने का प्रयास करता है। हमारे संविधान का एक बुनियादी उद्देश्य यह है कि "राज्य लोगों के कल्याण के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने और उसे यथा सम्भव सुरक्षित रखने का प्रयास करेगा जिसमें न्याय—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक—राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं का अभिन्न अंग होगा।"

भारत में आर्थिक विकास की रूपरेखा का एक अन्य पहलू उपनिवेशी प्रभुत्व के अनुभव के संदर्भ में देशी उद्योग को बढ़ाना और सुरक्षित रखना है। यह हमारी आत्मनिर्भर बनने की इच्छा और उपनिवेशी शोषण का परिणाम है। ग्रामीण और लघु उद्योगों की उन्नति के लिए कदम उठाए गए हैं। देशी उत्पादन और तकनीक को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सभी प्रकार के उद्योगों को सुरक्षित करने के लिए कदम उठाए गए हैं। आयात प्रतिस्थापन पर विशेष जोर दिया गया है जिससे न केवल विदेशी मुद्रा की बचत होगी बल्कि उत्पादन क्षमता को एक नियमित रूप से बढ़ने में भी मदद मिलेगी।

हमारी योजना की रूपरेखा का एक अन्य पहलू गरीबी एवं बेरोज़गारी दूर करने के साथ-साथ एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिये मानव विकास को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य के विशेष कार्य का वर्णन करना है। यह मानवता तथा वैज्ञानिक विचारधारा के बीच बढ़ते हुए समन्वय की आशा पर आधारित है।

हमने खंड 1, इकाई 1 में देखा कि इनमें से अधिकतर विचार हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान पैदा हुए थे।

8.3 मूलभूत उद्देश्य और कार्यनीति

आयोजन क्रमबद्ध प्रगति का विधान है, यह समय और स्थान का एक ऐसा ढाँचा है जो क्षेत्रों, प्रदेशों और राज्यों को बाँधता है और प्रत्येक वर्ष के प्रयासों को आगामी वर्षों से जोड़ता है। विभिन्न प्रदेशों और राज्यों तथा सम्पूर्ण देश के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को मजबूत बनाकर यह राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य को पूरा करता है। आयोजन की प्रक्रिया ने हमारी विकास की नीतियों के मूलभूत उद्देश्यों, विधियों तथा योजनाओं के बारे में एक स्पष्ट राष्ट्रीय एकमत का विकास करने में बहुत योगदान दिया है। इसने राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों के लिए स्पष्ट अनुमोदन पैदा करने में मदद की है जो हमारी आर्थिक प्रणाली की एकता व स्थिरता की एक शर्त है।

भारतीय आयोजन के मूलभूत उद्देश्य हैं : विकास, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय। ये उद्देश्य वास्तव में भारतीय आयोजन के मार्गदर्शक सिद्धांत हैं। इन उद्देश्यों

के मूलभूत ढाँचे के अंतर्गत प्रत्येक विकास योजना तात्कालिक आवश्यकताओं और बाधाओं को देखते हुए कुछ प्राथमिकताओं की सूची बनाती है जो इन चार आधारभूत उद्देश्यों में सहायक होती है।

8.3.1 प्रथम उद्देश्य : आर्थिक संवृद्धि

भारतीय आयोजन का प्राथमिक उद्देश्य एक लोकतांत्रिक ढाँचे के अंतर्गत यथाशीघ्र अर्थव्यवस्था का विकास है। एक देश जिसमें प्रतिव्यक्ति आय का स्तर निम्न है और अधिकांश लोगों का जीवन स्तर निम्न है, स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय आय में वृद्धि विकास योजना का मूलभूत उद्देश्य है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर का लक्ष्य सामान्यतया 5 प्रतिशत के लगभग रहा जबकि कुछ योजनाओं में यह इससे अधिक रहा, लेकिन प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह लक्ष्य केवल 2.1 प्रतिशत था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रत्याशित विकास की दर 4.5 प्रतिशत थी जो तृतीय पंचवर्षीय योजना में बढ़कर 5.6 प्रतिशत कर दी गई और संशोधित चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में पुनः बढ़ाकर 5.7 प्रतिशत कर दी गई। लेकिन संशोधित छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) का लक्ष्य 4.5 प्रतिशत था। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) के लिए प्रत्याशित विकास की दर कम से कम 5 प्रतिशत रखी गई है, अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिये एक पूर्वनिर्धारित विकास के स्वरूप का भी उद्देश्य रखा गया है तथा पूंजीगत वस्तु क्षेत्र के तीव्र विकास पर अधिक जोर दिया गया है। जनसंख्या की वृद्धि दर को नियंत्रित रखने के लिए कदम उठाए गए हैं ताकि ऊँची वृद्धि दर के लाभ तीव्र जनसंख्या वृद्धि के कारण समाप्त न हो जाएं। इसका हल है प्रतिव्यक्ति आय की एक आयोजित वृद्धि।

8.3.2 आधुनिकीकरण : द्वितीय उद्देश्य

दूसरा मूलभूत उद्देश्य अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण है। इसका तात्पर्य है एक प्रगतिशील तथा आधुनिक अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर आर्थिक क्रियाओं में संरचनात्मक तथा संस्थागत परिवर्तन लाना। इसके लिये अर्थव्यवस्था के तीनों क्षेत्रों–कृषि, उद्योग तथा सेवाओं में आधुनिकीकरण आवश्यक है। कृषि से उद्योग तथा सेवाओं की ओर राष्ट्रीय आय के क्षेत्रानुसार योगदान में परिवर्तन लाना एक महत्वपूर्ण काम है। हमने खंड 2 में देखा कि राष्ट्रीय आय में योगदान के तौर पर कृषि ही अकेला सबसे बड़ा क्षेत्र है। उपनिवेशी विरासत के फलस्वरूप उत्पादन और रोज़गार के संबंध में कृषि तीनों क्षेत्रों में सबसे बड़ा क्षेत्र रहा है। आधुनिकीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू एक विविधीकृत अर्थव्यवस्था का विकास है, जो अनेक प्रकार की वस्तुओं, जिसमें पूँजीगत वस्तुएँ भी शामिल हैं, का उत्पादन करती है।

इसके अंतर्गत इंजीनियरिंग, रसायन तथा पैट्रोलियम आदि क्षेत्रों में नए उद्योगों की स्थापना होती है। अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण का एक आधारभूत पहलू श्रम और अन्य साधनों का उत्पादन बढ़ाकर वस्तुओं की गुणवत्ता को बढ़ाकर और/या लागत को घटाकर अर्थव्यवस्था को कुशल बनाने के लिए तकनीक और नवप्रर्वतन का विकास है। अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण और विकास के लिए कुछ संस्थागत परिवर्तन आवश्यक हैं।

कृषि में इस दिशा में उठाए गए कदम हैं–जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि जोतों की चकबंदी, मुद्रा उधार प्रणाली का नियमन तथा यातायात एवं विपणन व्यवस्था में सुधार, नई तकनीक का प्रयोग, बीज, खाद, कीटनाशक दवाइयां और यंत्रीकरण शामिल हैं। इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में पिछले चार दशकों के दौरान औद्योगिक नीति तथा लाइसेंसिंग नीति में कुछ मूलभूत परिवर्तन किए गए तथा मैनेजिंग एजेंसी (Managing Agency) प्रणाली को समाप्त किया गया। आधुनिकीकरण और विकास के लिए आधारभूत संरचना जैसे शक्ति तथा सिंचाई और पूंजीगत वस्तुएं जैसे लोहा व इस्पात और मशीनरी की पूर्ति के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का महत्व बढ़ा। आधुनिकीकरण और विकास के लिये दीर्घकालीन, मध्यकालीन व अल्पकालीन ऋण प्रदान करने के लिए कई वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की गई। विकास के सबसे महत्वपूर्ण साधन–मानवीय संसाधन को शिक्षा, शोध, प्रशिक्षण, प्रसार सेवाओं, स्वास्थ्य और प्रशासनिक सेवाओं द्वारा सुधारने के लिए भी संस्थाएं खोली गई हैं।

8.3.3 आत्म निर्भरता : तृतीय उद्देश्य

भारतीय आर्थिक आयोजन का तीसरा मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाना है। इसका अर्थ है कुछ आवश्यक वस्तुओं के आयात तथा विदेशी सहायता पर निर्भरता को उत्तरोत्तर कम और अंत में बिल्कुल समाप्त कर देना। इसके लिए आयात प्रतिस्थापन अर्थात आयात के स्थान पर उन वस्तुओं को देश में उत्पादित करना, आवश्यक है। इसके लिए निर्यातों का

विस्तार और विविधीकरण आवश्यक है जिससे हम स्वयं अर्जित विदेशी मुद्रा द्वारा आयातों का भुगतान करने में समर्थ हो सकें। कृषि क्षेत्र में खाद्य सामग्री के उत्पादन तथा औद्योगीकरण के लिए कच्चे माल में आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया है।

8.3.4 सामाजिक न्याय : चतुर्थ उद्देश्य

एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य समाज के सभी वर्गों, विशेषतया वंचित वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना है। इसका तात्पर्य है जनसंख्या के कमजोर वर्गों जैसे भूमिहीन मजदूर, दस्तकार, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों, महिलाओं व बच्चों के जीवन स्तर में सुधार लाना। इसका अर्थ आय और सम्पत्ति के वितरण में असमानताओं को कम करना है, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में जहां भूमि जीविका का मुख्य साधन है तथा जो असमान रूप से वितरित है। इसमें अनेक कल्याणकारी योजनाएं भी शामिल हैं जैसे गरीबों के लिए विशेष रोजगार योजना, छोटे किसानों के हित में भूमि सुधार तथा उत्पादन तथा उपभोग के लिए रियायती दरों पर वस्तुओं की उपलब्धि आदि।

इस प्रकार, हमारे विकास आयोजन के आधारभूत उद्देश्य हुए : आर्थिक संवृद्धि में तेजी, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता, आय व धन की असमानताओं में कमी, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना और एक स्वतंत्र और समान समाज के लिए विचारों और मूल्यों का सृजन।

बोध प्रश्न 1

1 भारतीय आयोजन के चार मूलभूत उद्देश्य क्या हैं ? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

2 भारतीय आयोजन के संदर्भ में "आत्मनिर्भरता" से आपका क्या तात्पर्य है? (एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

.....

.....

3 सही उत्तर पर चिह्न (√) लगाइए।

क) भारत में पंचवर्षीय योजनाएं कब प्रारंभ हुई?
   i) 15 अगस्त, 1947
   ii) 26 जनवरी, 1950
   iii) 1 अप्रैल, 1951

ख) आयोजन में निरूपित सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र
   i) प्रतियोगी हैं
   ii) आपस में पूरक हैं
   iii) आपस में असंगत हैं

8.4 संतुलित और असंतुलित विकास

संतुलित विकास का अर्थ "कहीं पर सब कुछ" की बजाय "प्रत्येक स्थान पर कुछ" करना है। असंतुलित विकास का सिद्धांत या नीति "तुलनात्मक लाभ" के सिद्धांत पर आधारित है जबकि संतुलित विकास की नीति कल्याणकारी अर्थशास्त्र–संतुलित प्रादेशिक, क्षेत्रीय तथा उपविभागीय विकास के सिद्धांत पर आधारित है। समाजवादी देशों में भी आर्थिक विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में क्षेत्रीय विकास में जानबूझकर असंतुलन हो सकता है जैसे तीव्र विकास के लिये पूंजीगत वस्तु क्षेत्र का तेज विकास। लेकिन समाज के विभिन्न वर्गों के प्रादेशिक व क्षेत्रीय विकास में कुछ संतुलन किसी भी प्रकार की नियमित तथा न्यायपूर्ण विकास प्रक्रिया में आवश्यक है।

अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि उनका उत्पादन अन्य क्षेत्रों की इच्छित आगत बन सके। यह आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच विकास की दर में संगति हो। आगत-निर्गत संबंधों, जिनका अध्ययन हमने खंड 2 में किया, को स्थिर रखने के लिए अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के सापेक्ष विकास में समन्वय तथा अनुरूपता होनी आवश्यक है।

संतुलित विकास नीति के अंतर्गत, निवेश कुछ "अग्र तथा कार्यशील" क्षेत्रों में ही न होकर विविध क्षेत्रों में किया जाता है।

8.4.1 संतुलित बनाम असंतुलित विकास

यह समझना आवश्यक है कि सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं का दीर्घकालीन उद्देश्य क्षेत्रीय, प्रादेशिक और उपविभागीय विकास के बीच संतुलन प्राप्त करना है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि असंतुलित विकास की नीति से स्वतः आर्थिक शक्तियों में परस्पर क्रिया (प्रतिक्रिया) द्वारा दीर्घकाल में प्राप्त किया जा सकता है। हमने खंड 9 ई.ई.सी.-01 में देखा कि धीमी गति से विकास करने वाले देश जैसे जर्मनी तथा अत्यधिक तेज औद्योगीकरण वाले समाजवादी देश रूस का अनुभव यही रहा है। अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि संतुलन आयोजन की उत्तरोत्तर अवस्थाओं के दौरान प्रारंभ से ही किया जाना चाहिए। समाजवादी आयोजक प्रायः पुराने असंतुलनों को समाप्त करने के लिए मध्यकाल में असंतुलन की नीति में विश्वास रखते हैं। संतुलित विकास के अंतिम उद्देश्य के बारे में आर्थिक साहित्य में कोई मतभेद नहीं है। लेकिन विवाद विकास की उस अवस्था के बारे में है जहां से संतुलित विकास का प्रयास करना चाहिए।

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यदि आयोजन जैसी कोई चीज है तो उसका मुख्य उद्देश्य यथाशीघ्र संतुलित विकास ही होना चाहिए। संतुलित विकास किसी एक क्षण "चलो" कहने से करना बिल्कुल संभव नहीं है। लेकिन, प्रायः पिछले असंतुलनों को दूर करने के लिए पहले कुछ असंतुलन रखना आवश्यक है। उसके बाद संतुलित विकास का रास्ता अपनाया जा सकता है।

संतुलित विकास का अर्थ है कि विकसित व पिछड़े क्षेत्रों और प्रदेशों एवम् उत्पादन व उपभोक्ता वस्तुओं के बीच अंतर कम होकर बिल्कुल समाप्त हो जाए। उदाहरण के लिए, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में पूंजीगत वस्तुओं की उत्पादक क्षमता न के बराबर थी। इसलिए द्वितीय योजना के "महालानोबिस" मॉडल में भारी उद्योग में निवेश पर बल दिया गया।

इसका अर्थ यह भी है कि विकसित तथा पिछड़े क्षेत्रों के बीच असंतुलन कम से कम होना चाहिए। तात्पर्य शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक स्तर में संतलन से है। वास्तव में, ग्रामीण क्षेत्र कभी भी उतना आधुनिक नहीं हो सकता जितना शहरी क्षेत्र। लेकिन बहुत अधिक असंतुलन को अवश्य कम किया जाना चाहिए।

संतुलित विकास का अर्थ यह भी है कि अमीर और गरीब के बीच अंतर कम होना चाहिए। आय व सम्पत्ति के स्वामित्व की असमानताओं को भी कम किया जाना चाहिए। यह कार्य उत्पादन नीति से एक अलग वितरण की नीति द्वारा न होकर स्वयं संवृद्धि तथा विकास के द्वारा होना चाहिए। इसके लिए प्रायः प्रारंभ से ही पूंजीगत वस्तुओं पर जोर देना आवश्यक है जिससे एक निश्चित समय के बाद सामान्य जनता के लिए उपभोग वस्तुओं की अधिक मात्रा उत्पादित करने के लिए क्षमता का सृजन हो सके। दूसरे शब्दों में, हमें गरीबी में समानता प्राप्त न करके बल्कि उन्नत जीवन के स्तर में समानता प्राप्त करनी है, समाजवादी देशों में भी 1 : 1 के अनुपात में सभी व्यक्तियों की आय होनी संभव नहीं है लेकिन आय का फर्क परिभाषित होना जरूरी है। जैसे 4 : 1 या 5 : 1 या 10 : 1।

8.4.2 संतुलित विकास : परिणाम

संतुलित विकास की अवधारणा पूंजी को गहरा करने की बजाय पूंजी को फैलाने के सिद्धांत पर आधारित है। यदि साधन सीमित हैं तो कुछ क्षेत्रों को सब और अन्य को बिल्कुल नहीं की बजाय सभी क्षेत्रों, प्रदेशों और विभागों को साधनों का कुछ भाग प्राप्त होना चाहिए। यह विधि न केवल आर्थिक रूप से बल्कि दीर्घकाल में सामाजिक और राजनैतिक रूप से भी सही है, विशेषतया भारत जैसे महाद्वीप के लिए जिसमें संघीय शासन है।

संतुलित विकास का अर्थ है कि निवेश एक समन्वित तरीके से हो जिससे उत्पन्न "संबंध प्रभावों" का ध्यान रखा जा सके। अंतर्क्षेत्रीय संबंधों के कारण भारी उद्योगों में निवेश के साथ कच्चा लोहा खनन, कोयला खनन, चूना खनन, यातायात विकास और शक्ति के विकास आदि में निवेश आवश्यक हैं।

संतुलित विकास नीति के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों में अड़चनों और बाहुल्य को दूर करने का प्रयास किया जाता है। पूंजीगत वस्तुओं, उपभोक्ता वस्तुओं, आम उपभोग की वस्तुओं और अन्य प्रकार के उद्योगों का विकास समान गति से नहीं, बल्कि संतुलित होना चाहिए। प्रारंभिक साधनों की

कमी को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग का विकास एकदम दूसरे के स्थान पर नहीं होना चाहिए।

यदि संतुलित विकास नीति की धारणा को मोटे तौर पर देखा जाए, तो इसमें निवेश-तकनीकों, अर्थात् पूंजी प्रधान तथा श्रम प्रधान योजनाओं तथा विकास और रोज़गार उद्देश्यों के बीच सतुंलन शामिल है।

संतुलित विकास में, विभिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों व उपविभागों के विकास की समकालीन योजना के पक्ष में परियोजना आयोजन सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया गया है। कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र तीनों का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि कमियों, क्षमता आधिक्य और अल्प-प्रयोग को दीर्घकाल में दूर किया जा सके।

यह विधि "गरीबी के दुष्चक्र" को तोड़ने और मांग और पूर्ति की स्थितियों में संतुलन से संबंधित समस्याओं को सुलझाने के लिए पर्याप्त समझी जाती है।

एस.ओ.सी. (सामाजिक उपरिव्यय पूंजी या आधारभूत संरचना) और डी.पी.ए. (प्रत्यक्ष उत्पादक क्रियाएं) पर भी समान (समन्वित) ध्यान दिया जाता है जिससे किसी में भी न तो क्षमता का अधिक्य हो और न ही पूर्ति बाधा।

संतुलित विकास की धारणा इस बात को भी स्वीकार नहीं करती है कि उत्पादन और विदेशी व्यापार उसी क्षेत्र में बढ़े जहां तुलनात्मक-लागत-अनुपात सबसे लाभदायक हो। तात्कालीन लाभ का त्याग हो सकता है लेकिन भावी तुलनात्मक लागत और व्यापार की दर पक्ष में हों। यह भी सुझाव दिया जाता है कि संतुलित विकास के अंतर्गत भावी लाभ वर्तमान हानि से अधिक हो सकते हैं। लेकिन उसके लिए प्रारंभ में तकनीकी पिछड़ेपन को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों में निवेश का "असंतुलित" केन्द्रीयकरण आवश्यक हो सकता है।

बोध प्रश्न 2

1 सबसे सही उत्तर पर चिह्न (√) लगाइए।

क) संतुलित विकास की कार्यनीति का उद्देश्य निम्न को कम करना है :
   i) क्षेत्रों के बीच अंतर
   ii) प्रदेशों के बीच अंतर
   iii) विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच अंतर
   iv) ऊपरी सभी

ख) विकास का अंतिम उद्देश्य है :
   i) संतुलित विकास
   ii) असंतुलित विकास

ग) संतुलित बनाम असंतुलित विकास के विवाद का अर्थ है :
   i) अर्थव्यवस्था में हमेशा के लिए जानबूझकर असंतुलन होना चाहिए
   ii) आयोजन के आरंभ से ही संतुलन होना चाहिए
   iii) विकास की वह अवस्था जहां से संतुलन प्रारंभ होना चाहिए

2 "संतुलित विकास" की धारणा से क्या तात्पर्य है? (चार वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

8.5 विकास की कार्यनीति

पहली पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के चवालिसवें पृष्ठ में कहा गया है : सिंचाई व शक्ति सहित ..... कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल तथा खाद्य सामग्री के उत्पादन में काफी सुधार हुए बिना औद्योगिक विकास की एक उच्च दर को बनाए रखना असम्भव है। एक के बिना दूसरे का विकास सम्भव नहीं .... दोनों एक दूसरे के

पूरक हैं .... अपने विविध साधनों के साथ भारत में विकास के एक संतुलित ढांचे को प्राप्त करने के लिए परिस्थितियां अनुकूल हैं।"

द्वितीय योजना के दस्तावेज के पृष्ठ 1 में बताया गया है "भारत में सार्वजनिक नीति और राष्ट्रीय प्रयास का मुख्य उद्देश्य तीव्र तथा संतुलित विकास को प्रोत्साहन देना है" और पृष्ठ 2 में "राष्ट्रीय आय तथा रोज़गार में निरंतर वृद्धि के लिए संपूर्ण अर्थव्यवस्था का एक साथ विकास आवश्यक है"।

योजना दस्तावेजों में दिए गए उपर्युक्त विचारों के संदर्भ में यह मालूम पड़ता है कि व्यवहार में, संतुलित विकास की विधि प्रारंभ से ही विद्यमान थी लेकिन इसे कभी कार्यान्वित नहीं किया गया।

8.5.1 औद्योगीकरण एवम् पूंजीगत वस्तु उद्योग

भारत के आयोजित विकास का एक मूल उद्देश्य राष्ट्रीय आय की संवृद्धि दर में वृद्धि रहा है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए देश में पूंजी के अधिकाधिक उत्पादन के लिए क्षमता को तीव्रता से बढ़ाना आवश्यक समझा गया क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पूंजी भंडार के उत्पादन की क्षमता लगभग न के बराबर थी। इसलिए देश की विकास योजना में, विशेषकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पूंजीगत वस्तु उद्योग के विकास को प्रधान भूमिका दी गई। इस प्रकार औद्योगीकरण, जिसका झुकाव पूंजीगत वस्तु उद्योग और आधारभूत संरचना की ओर था, विकास की कार्यनीति बन गया। कार्यनीति के केंद्र में आधारभूत वस्तुओं, कोयला, इस्पात, मशीनरी, बिजली, रसायन आदि पदार्थों का उत्पादन शामिल था। ये पदार्थ यातायात तथा संचार व्यवस्था जैसी आधारभूत संरचना की स्थापना में सहायता करते हैं। इनसे देश भवन निर्माण और औजार तथा साज-सामान आदि निर्मित करने योग्य हो जाता हैं जिससे पूंजी-संचय तथा विकास सम्भव होता है।

औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के संदर्भ में, पूंजीगत वस्तुएं उत्पादित करने वाले उद्योगों के विकास की एक अहम् भूमिका है। प्रो. पी.सी. महालानोबिस द्वितीय योजना के निर्माता के रूप में जाने जाते हैं। वे रूस के औद्योगीकरण की नीति से बहुत प्रभावित हुए थे। इस कार्यनीति में तीव्र आर्थिक विकास के लिए बुनियादी शर्त अर्थात् भारी उद्योगों में निवेश पर जोर दिया गया। प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने 22 अगस्त, 1960 को तृतीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा पर संसद में अपने भाषण में कहा : "यदि हमें औद्योगीकरण करना है, तो यह सबसे महत्वपूर्ण है कि हमारे पास मशीनें बनाने वाले भारी उद्योग होने चाहिए। दीर्घकाल में, औद्योगीकरण की गति और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास कोयला, बिजली, लोहा व इस्पात भारी मशीनरी, रसायन आदि के बढ़ते हुए उत्पादन पर निर्भर करता है जिससे पूंजी निर्माण के लिए क्षमता में वृद्धि होगी। भारत को यथाशीघ्र आर्थिक रूप से विदेशी आयातों पर निर्भरता को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि दूसरे देशों से आवश्यक उत्पादक वस्तुओं को प्राप्त करने की कठिनाइयों के कारण पूंजी के संचय में रुकावट न आये। इसी कारण तेज गति से भारी उद्योगों के विस्तार की आवश्यकता न्यायोचित्त है। इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना और अर्धपूरित 1977-79 की छठी योजना को छोड़कर शेष तीनों योजनाओं के लिए थोड़े संशोधन के साथ अपनाई गई कार्यनीति का आधार मूलभूत और मशीन निर्माण उद्योगों और आधारभूत संरचना पर भारी निवेश द्वारा तीव्र औद्योगीकरण था।

वास्तव में, मूलभूत तथा भारी उद्योगों और आधारभूत संरचना को उच्च प्राथमिकता द्वारा तीव्र आर्थिक विकास करने का हमारी कार्यनीति में औचित्य है। हमें खंड 1 से मालूम हुआ कि स्वतंत्रता के बाद, भारत एक कृषि प्रधान देश था जबकि देश के पास उद्योगों के लिए उपयुक्त प्राकृतिक तथा मानवीय साधन काफी मात्रा में उपलब्ध थे। यह महसूस करना सही था कि दीर्घकालीन विकास, उत्पादन, रोजगार और सुरक्षा के दृष्टिकोण से साधनों के प्रयोग का भारी उद्योगों की ओर उन्मुख होना देश के हित में होगा। दूसरे, भारतीय कृषि की मुख्य समस्या भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबाव था। श्रम व भूमि की उत्पादकता बहुत कम थी जिससे "प्रच्छन्न बेरोज़गारी" की समस्या पैदा हो गई। इस प्रकार भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम करने तथा अतिरेक जनसंख्या को उद्योगों में हस्तांतरित करने के लिये औद्योगिक क्षेत्र की स्थापना और तीव्र विकास आवश्यक था। इससे आशा की जाती थी कि प्रच्छन्न बेरोज़गार लोगों को खपाकर पूंजी निर्माण संभव हो सकेगा।

तीसरे, तीव्र औद्योगीकरण, कृषि सहित अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के विस्तार की एक महत्वपूर्ण शर्त था। औद्योगीकरण की तीव्र गति और श्रम के ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर झुकाव के साथ-साथ खाद्य सामग्री तथा कृषि संबंधी कच्चे माल जैसे कपास, जूट, तिलहन, गन्ने आदि की

मांग बढ़ेगी। उर्वरक, कीटनाशक दवाइयों, कृषि उपकरण व मशीनों की आपूर्ति में वृद्धि से कृषि उत्पादन को बढ़ाने में मदद मिलेगी। इस प्रकार तीव्र औद्योगीकरण और बाज़ार के आकार में वृद्धि से व्यापार और व्यवसाय, यातायात और बैंक तथा वित्त का विस्तार होगा।

चौथे, कृषि की अपेक्षा निर्माण उद्योग में श्रम की उत्पादिता अधिक होती है और इसकी संवृद्धि दर भी कृषि की अपेक्षा उद्योग में कहीं अधिक होती है। इस प्रकार, तीव्र औद्योगीकरण राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में सहायता करेगा।

पांचवे, औद्योगिक वस्तुओं के लिए मांग की, आय लोच बहुत अधिक थी और निर्मित वस्तुओं के लिए निर्यात के अवसर भी अपेक्षाकृत अधिक थे। वास्तव में, पूंजीगत वस्तु उद्योग को अत्यधिक प्राथमिकता देने की नीति के कई परिणाम हुए। अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों में अर्थव्यवस्था की कार्यनीति पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। अल्पकाल में, विकास का ढांचा पूंजी प्रधान रहा। सीमित साधनों का अधिकतर भाग पूंजी निर्माण के लिए प्रयोग किए जाने के कारण उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के लिए कम साधन उपलब्ध होंगे और पूंजी-प्रधान होने के कारण, रोज़गार अवसरों में अधिक वृद्धि नहीं होगी। लेकिन दीर्घकाल में जैसे-जैसे पूंजीगत वस्तु क्षेत्र का विस्तार होगा, इसकी उपभोग वस्तु उत्पादन करने की क्षमता में भी वृद्धि होगी। इसका अर्थ है दीर्घकाल में अधिक उपभोग वस्तुओं की उपलब्धि। इसी प्रकार, दीर्घकाल में, रोज़गार स्थिति में भी सुधार की आशा की जा सकती है और अधिक आय स्तर पर अधिक रोज़गार उपलब्ध होगा क्योंकि पूंजी प्रधान इकाइयां अधिक लाभ कमाएंगी जिससे पुनर्निवेश किया जाएगा। इस प्रकार, इस नीति में वर्तमान और भविष्य के बीच 'लेन-देन' अर्थात् ट्रेड-आफ (Trade off) सम्मिलित है। अल्पकाल में, वर्तमान समय में अधिक पूंजी निर्माण के लिए उपभोक्ता वस्तुओं तथा रोज़गार में कम वृद्धि के रूप में कीमत चुकानी होगी जिससे भविष्य में उपभोक्ता वस्तुओं और रोज़गार में अधिक वृद्धि सम्भव हो सके। इस परिप्रेक्ष में देखने से 1950 के मध्य वर्षों में बनाई गई भारत की विकास नीति का अर्थ था राष्ट्रीय उत्पादन क्षमता को कम से अधिक की ओर ले जाना जिसका अन्तिम उद्देश्य भविष्य में बाहुल्य था। इस युक्ति के कार्यान्वयन में निहित लागतों और बलिदानों को कम से कम करने के लिए, आयोजकों को आवश्यक सावधानियाँ बरतनी होंगी।

8.5.2 पूरक नीतियाँ

मुख्य आवश्यकताएं उपभोक्ता वस्तुओं, बचत, आयात और निर्यात से संबंधित हैं। इस नीति को लागू करने के लिए कुछ संस्थागत परिवर्तन किए गए हैं। इसके सफल कार्यान्वयन के लिए उपभोक्ता वस्तुओं की पर्याप्त पूर्ति का प्रबंध करना आवश्यक है। पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में अधिक साधन लगने के कारण उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के लिये अधिक साधन नहीं बच पाते। लेकिन, तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या और पूंजीगत वस्तु उद्योग में लगे लोगों की आय में वृद्धि के कारण उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में वृद्धि होने की संभावना थी। इस समस्या को ध्यान में रखा गया और निर्विघ्न पूर्ति के अन्य साधन जुटाकर उपभोक्ता वस्तुओं की कमी को पूरा करने के प्रयास किए गए।

पहले, लघु तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने का निर्णय लिया गया जिससे अपेक्षाकृत कम पूंजी निवेश द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन किया जा सके। अधिक श्रम प्रधान होने के कारण लघु व कुटीर उद्योगों से रोज़गार की समस्या हल करने में सहायता मिलने की आशा की गयी थी।

दूसरे, अनुकूल मानसून के कारण पहली पंचवर्षीय योजना में खाद्य सामग्री तथा कृषि के उत्पादन में असाधारण वृद्धि हुई। इस प्रकार इस नीति को बनाते समय आयोजक बुनियादी उपभोक्ता वस्तु जैसे भोजन की उपलब्धि के संबंध में हद से अधिक संतुष्ट हो गये। लेकिन, भोजन के संबंध में अनुकूल स्थिति मुख्यता अच्छी वर्षा के कारण थी जो अधिक समय तक न रही। इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिए अनाजों के आयात पर निर्भर होना पड़ा। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंत में, देश के अधिकतर भागों में अकाल पड़ने के कारण, खाद्य पदार्थों का उत्पादन 10 करोड़ मीट्रिक टन के लक्ष्य के विपरीत केवल 7.2 करोड़ मीट्रिक टन ही हो पाया।

तब देश ने कृषि में अधिक उपज वाले बीजों पर आधारित नई तकनीक का "पैकेज" अपनाया जिससे हरित क्रांति के युग का प्रारंभ हुआ। नई तकनीक की सफलता के लिए आवश्यक पर्याप्त समर्थन प्रणाली न होने के कारण खाद्य पदार्थों की कमी को पूरा करने के लिए कभी-कभी अनाजों का आयात करना आवश्यक था।

इन आयोजन कार्यनीतियों की सफलता के लिये, बचत व पूंजी निर्माण की ऊँची दर की आवश्यकता थी। बचत की सीमांत दर को बढ़ाने के लिये प्रयत्न किए गए। इसके लिए उपभोग को नियंत्रित करना आवश्यक था और उसके लिये परिवार नियोजन द्वारा जनसंख्या की वृद्धि दर को कम करने के प्रयास किए गए। यह आशा की जाती थी कि पूंजीगत वस्तु क्षेत्र बचत की ऊँची दर पैदा करने में समर्थ होगा। अधिक पूँजी-प्रधान तथा कम श्रम-प्रधान होने के कारण इस क्षेत्र में उत्पादित आय का अधिक भाग लाभ तथा कम भाग मजदूरी को प्राप्त होगा। यह माना गया कि लाभ कमाने वालों की सीमांत उपभोग प्रवृत्ति कम और बचत प्रवृत्ति अधिक होती है जैसा कि खंड 7, ई.ई.सी-01 में कालडर-कैलेस्की सिद्धांत में हमने पढ़ा। इसलिए, इससे बचत की मात्रा में वृद्धि होगी। यदि ये इकाइयाँ सार्वजनिक क्षेत्र की होंगी, तो सम्पूर्ण अतिरेक को बचाकर पुनः निवेश किया जा सकेगा।

8.5.3 व्यापार पद्धति, नियंत्रण और सार्वजनिक क्षेत्र

जब भी आंतरिक बचत, औद्योगीकरण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त हुई, तब इस अन्तर को भरने के लिए विदेशी सहायता का सहारा लिया गया। पूँजी संचय की नीति के लिए आयात-निर्यात पद्धति में भी परिवर्तन की आवश्यकता थी। एक नीति आयात प्रतिस्थापन्न से संबंधित थी, क्योंकि भारत अनेक प्रकार की निर्मित वस्तुएं जिनमें पूँजीगत वस्तुएं भी शामिल थीं, का आयात करता था। इन आयातों में कमी करने से,वस्तुओं की घरेलू माँग में वृद्धि होती थी जिससे घरेलू उत्पादक उसे उत्पादित करने का प्रयास करते। विकास नीति के अनुरूप अति आवश्यक मशीनरी के आयात के लिये विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए निर्यात वस्तु क्षेत्र के विस्तार के लिये कदम उठाए गए। यह समझा गया कि इस नीति के सफल कार्यान्वयन के साथ भारत का औद्योगिक ढाँचा अधिक विविधीकृत बन जाएगा और निर्यात बढ़ेंगे।

विकास की इस नीति को लागू करने के लिये भौतिक नियंत्रण भी कुछ हद तक आवश्यक है। इसकी सफलता के लिये संस्थागत प्रबंधों में, एक ऐसी नियंत्रण प्रणाली की आवश्यकता थी जो योजनाओं की आवश्यकताओं के अनुसार उद्योगों के बीच वास्तविक साधनों का आबंटन कर सके और उपभोक्ताओं के बीच उपभोग्य वस्तुओं का समान रूप से वितरण कर सके। उपभोक्ता वस्तुओं और पूँजीगत वस्तु उद्योग के लिये आवश्यक मूलभूत कच्चे माल की आपूर्ति की कमी से पैदा होने वाली स्थिति का सामना करने के लिए इन दोनों ही प्रकार के नियंत्रणों की आवश्यकता थी। पूँजीगत वस्तु क्षेत्र की ओर कच्चे माल को मोड़ने और गैर पूंजीगत वस्तु क्षेत्र की ओर जाने से रोकने के लिए लाइसेंस तथा विदेशी विनिमय का कोटा (quota) आदि तरीकों का प्रयोग किया गया। खाद्य सामग्री में सार्वजनिक वितरण प्रणाली सहित उपभोक्ता वस्तुओं की प्राप्ति और वितरण के लिए आवश्यक कदम उठाए गए। यद्यपि उपभोक्ता वस्तुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये लघु व कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया, फिर भी उपभोक्ता वस्तुओं की कमी से लागत और कीमतों पर प्रभाव पड़ा। उचित मूल्यों पर आवश्यक वस्तुओं की निर्विघ्न पूर्ति के लिए सरकार ने राशनिंग, उचित दर की दुकानें और सुपर-बाज़ार तथा सहकारी स्टोर आदि को संरक्षण दिया।

इसके अतिरिक्त, इस नीति के कार्यान्वयन के लिये सार्वजनिक क्षेत्र को उचित माध्यम समझा गया। भारी उद्योग तथा आधारभूत संरचना, ये दोनों नये थे, इस कारण इनमें भारी मात्रा में निवेश की आवश्यकता, इनकी लम्बी परिपाक अवधियों तथा इनके सामाजिक लाभ विस्तृत होने के कारण, केवल सार्वजनिक क्षेत्र को ही इस कार्य के लिये उपयुक्त समझा गया। जहाँ निजी क्षेत्र लाया भी गया जैसे संयुक्त उद्यमों में, वहां मुख्य सांझेदार राज्य ही था। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार उस वित्त पर कुछ नियंत्रण लगाने में समर्थ थी जो निजी क्षेत्र के उद्योग सरकारी वित्तीय संस्थाओं और व्यावसायिक बैंकों से मांगते थे। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र,अर्थव्यवस्था में नेतृत्व करने की स्थिति में था। संक्षेप में, विकास नीति देश के पूंजी भंडार को तीव्र गति से बढ़ाने की रही और उसके अनुसार साधनों का एक बड़ा भाग उत्पादक वस्तुओं और आधारभूत संरचना के उत्पादन से संबंधित उद्योगों के लिए रखा गया।

8.5.4 आलोचना

तर्क संगत होने के बावजूद इस नीति की तीन प्रकार से आलोचना की गई है। पहली आलोचना भारी उद्योगों की आवश्यकता को स्वीकार तो करती है लेकिन आलोचकों का मत है कि अधिक सही रास्ता उन निर्यात वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित करना है जिनमें हमें तुलनात्मक लाभ हैं और उसके बदले में पूंजीगत वस्तुओं का आयात किया जा सकता है। यह तर्क दो आधारों

पर कमजोर है : पहले इसमें भारत के तुलनात्मक लाभ की वर्तमान स्थिति को अलंघनीय तथा दिया हुआ माना गया जबकि, वास्तव में ऐसा नहीं था। हमारी प्रारंभिक क्षमता ऐतिहासिक रूप से स्पष्ट थी और किसी भी तरह देश की साधन सम्पन्नता की सूचक नहीं थी। इसलिए घरेलू रूप से पूंजीगत वस्तुओं का निर्माण एक "बंद अर्थव्यवस्था" का निरंकुश सिद्धांत का दिखावा हो सकता था। लेकिन यह कार्य करने का कम कुशल तरीका नहीं था। केवल हमें उद्योगों के लागत ढाँचे के बारे में सावधान रहना था जिससे वे कम से कम लागत पर चलाए जा सकें।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से उद्योग आयात प्रतिस्थापन के आवरण में अकुशल साबित हुए। लेकिन इसका अर्थ केवल यह हुआ कि हमें योजना बनाने में अधिक कुशलता बरतनी चाहिये। इस विवाद की दूसरी कमजोरी इस तथ्य से पता चलती है कि यह रास्ता पूंजीगत वस्तुओं के विस्तार को विदेशी तथा अविश्वसनीय साधनों पर निर्भर बना देता है। निर्यात वस्तुओं की पर्याप्त पूर्ति की कठिनाइयों के अतिरिक्त पूंजीगत वस्तुओं की आपूर्ति के लिये आयातों पर निर्भरता अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिकूल अनार्थिक स्थितियाँ उभरने पर काफी खतरनाक हो सकती है। न केवल उद्योगों के विकास की विस्तृत संभावनाओं वाला देश भारत बल्कि कोई भी देश ऐसा नहीं कर सकता। लेकिन फिर भी, विश्व निर्यातों में भारत के हिस्से में निरंतर कमी होने के बावजूद हमारे निर्यात बनावट और स्थान के दृष्टिकोण से काफी विविधीकृत हुए हैं। अभी हाल के वर्षों में विश्व-निर्यातों में भारत के गिरते अनुपात में भी कुछ कमी आई है।

एक और आलोचना यह है कि इस नीति द्वारा अपेक्षित त्याग काफी ज्यादा हैं। आम उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी तथा उनकी ऊँची कीमतें इसके उदाहरण के रूप में दी जाती हैं। आलोचकों का सुझाव है कि इस मोर्चे पर नीति की असफलता को टाला जा सकता था यदि भारी उद्योगों में कम तथा उपभोक्ता वस्तु उद्योग पर अधिक जोर दिया जाता। लेकिन यह विवाद उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि दिखाई देता है। मुख्य रूप से पहले दो दशकों में कृषि के मोर्चे पर असफलता के कारण ही समस्याएं पैदा हुई। तीव्र संस्थागत सुधार और सिंचाई तथा उचित जल प्रबंध पूरे देश में नई कृषि तकनीक व रीति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में समर्थ थे।

इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जाता है कि भारी उद्योगों के उत्पादन की मांग की व्यवस्था किए बिना उन की स्थापना करना उचित नहीं था। इन आलोचकों का कहना है कि आवश्यकता स्थानीय साधनों के प्रयोग द्वारा हल्के उपभोक्ता वस्तु उद्योगों का विकास करने की थी। अधिक रोज़गार पैदा करने के अतिरिक्त, इस रास्ते से कृषि व छोटे तथा बड़े उद्योगों में प्रयोग होने वाली सभी प्रकार की मशीनों के लिए मांग में वृद्धि होती। इसके साथ-साथ, इन बातों के परिणामस्वरूप भारी उद्योग बड़ी संख्या में होने चाहिए थे। लेकिन दुर्भाग्यवश, ऐसा नहीं हुआ। इसलिए गरीबी और बेरोज़गारी आज भी मौजूद है। आलोचना पूर्णतया सही नहीं है क्योंकि यह आज के विकसित पश्चिमी देशों के अनुभवों की नकल करती है जिन्होंने पहले उपभोक्ता वस्तु उद्योगों का विकास किया और जिनकी माँग के फलस्वरूप पूँजीगत और भारी उद्योग स्थापित हुये। उपभोक्ता वस्तु उद्योग तथा पूँजीगत और भारी उद्योग प्रति गामी संबंधों (backward linkages) के द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं। लेकिन पश्चिमी देशों की तरह यह क्रम औद्योगीकरण की प्रक्रिया को शताब्दियों के लिए स्थगित कर देगा। भारत को तीव्र गति से विकास करना था और यदि उसे आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ-साथ राजनैतिक स्वाधीनता को मजबूत बनाना था, तो उसी स्थान पर बने रहने के लिये भी उसे इस क्रम को बदलना आवश्यक हो गया।

संक्षेप में, उस समय तीव्र औद्योगीकरण, तीव्र विकास तथा एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के लिए विकास नीति ठीक प्रकार से सोची और बनाई गई। लेकिन बेहतर क्षमता उपयोग, अधिक उपभोग वस्तुएँ और रोज़गार अवसरों में वृद्धि के लिए एक अधिक कुशल कार्यान्वयन, और अंतर्क्षेत्रीय संबंधों तथा कृषि और रोजगार उन्मुख क्रियाएं के प्रति और अधिक सर्तकता की आवश्यकता थी।

बोध प्रश्न 3

1 औद्योगिकरण पर अधिक जोर देने का औचित्य समझाइए (पांच वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

.....

2 उपभोक्ता वस्तुओं को समान रूप से वितरित करने के लिए क्या तरीके अपनाए गए? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

3 लाइसेंस और विदेशी विनिमय कोटा (quota) संबंधी नीतियों के क्या उद्देश्य हैं? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

4 वर्तमान विकास कार्यनीति की किन आधारों पर आलोचना की जाती है? (चार वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

8.6 सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों की सापेक्ष भूमिका

भारत जैसे विकासशील देश में आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। परंपरागत रूप से सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की पहचान उद्यमों में लगे साधनों के स्वामित्व स्वरूप में अंतर के रूप में की जाती है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के साधन सरकार के स्वामित्व में होते हैं जबकि निजी क्षेत्र के उद्यमों के साधन, सामान्यतया व्यक्तियों, साझेदारियों या कंपनियों में संगठित व्यक्ति समूहों के स्वामित्व में होते हैं। सार्वजनिक हित में निजी क्षेत्र के उद्यम राज्य की आर्थिक नीति के अनुरूप सरकार द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं। स्वामित्व के रूप ऐसे भी होते हैं जो न तो शत-प्रतिशत सार्वजनिक होते हैं और न ही निजी। इन्हें संयुक्त कहा जाता है जहाँ स्वामित्व आंशिक रूप से सार्वजनिक है और आंशिक रूप से निजी। लेकिन इन स्थितियों में निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों के स्वामित्व के सापेक्षिक अंश के अनुसार, उद्यम उनके सार्वजनिक या निजी श्रेणी में वर्गीकृत किये जा सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र के उद्योगों में स्वामित्व के संगठनात्मक स्वरूप में अंतर है। सार्वजनिक क्षेत्र में, भारत में संगठन के तीन मुख्य रूप हैं।

1 विभागीय उद्यम, अर्थात् जो मंत्रालयों, जैसे – रेल तथा डाक व तार आदि के विभागों की तरह चलाए जाते हैं। ये अन्य सरकारी विभागों की तरह बजट लेखा तथा लेखा जांच के अंतर्गत आते हैं।

2 कम्पनी अधिनियम के अंतर्गत स्थापित सरकारी कम्पनियाँ जैसे कोई भी कम्पनी जिसमें सम्पूर्ण पूंजी या 51 प्रतिशत पूंजी सरकार के स्वामित्व में है तथा जिनके अधिकतर निदेशक सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

3 विशेष नियमों द्वारा बनाए गए सार्वजनिक निगम जिनका स्वामित्व सरकार के हाथ में हैं।

8.6.1 निजी क्षेत्र की भूमिका

निजी क्षेत्र में, निगम क्षेत्र होता है, जिसमें सार्वजनिक सीमित दायित्व व निजी सीमित दायित्व वाली संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ शामिल हैं। इसके अतिरिक्त और कई प्रकार के स्वामित्व के स्वरूप हैं, जैसे एकल स्वामित्व और साझेदारी, जो अधिकतर कृषि, व्यापार, तथा लघु व कुटीर उद्योगों में प्रचलित हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सार्वजनिक क्षेत्र का भारी विस्तार होने के बावजूद, भारत में अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ निजी क्षेत्र में हैं। औद्योगिक क्षेत्र में, जहाँ दोनों क्षेत्रों के सापेक्ष महत्व के बारे में काफी विवाद हैं, निजी क्षेत्र का ही प्रभुत्व है। भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में,

मूल नीति "सभी फूलों को खिलने दो" रही है। इस व्यवस्था में, सार्वजनिक क्षेत्र अधिकतर मूलभूत उद्योगों और आधारभूत संरचना के विकास में ही संलग्न रहा जबकि अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ निजी क्षेत्र में ही रही।

स्वतंत्रता से पूर्व, रेलवे डाक व तार आदि सरकारी विभागीय उद्यमों को छोड़कर, संगठित उद्योग पर निजी क्षेत्र का प्रभुत्व रहा। ब्रिटिश शासन ने देश की अर्थव्यवस्था का शोषण करने के लिए निवेशकर्ताओं तथा ब्रिटिश व्यापारियों को एक उपजाऊ भूमि प्रदान की।

स्वतंत्रता के पश्चात्, गोखले, नेहरू और राष्ट्रीय योजना आयोग के विचारों का अनुसरण करते हुए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की धारणा को अपनाया जिसमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की भूमिकाएँ पूरक हैं तथा विकास के कार्यों में दोनों बराबर के भागीदार हैं। वास्तव में, मूलभूत उद्योगों, आधारभूत संरचना और इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शेष अर्थव्यवस्था के आयोजन व नियंत्रण के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को उच्च भूमिका देने का विचार किया गया। हमने लोकतांत्रिक आयोजन का चुनाव किया जिसका उद्देश्य विकास की ऊँची व स्थिर दर प्राप्त करना, देश के लोगों के जीवन स्तर में उत्तरोत्तर सुधार करना, गरीबी व बेरोज़गारी को दूर करना तथा एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की आधारशिला रखने के लिए उपलब्ध साधनों का प्रयोग करना था। सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को इच्छित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने का माध्यम बनाया गया।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र को उसकी उपयुक्त भूमिका दी गई। 1948 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव में कहा गया कि, "उचित रूप से निर्देशित और व्यवस्थित निजी उद्यम" को अर्थव्यवस्था में एक मूल्यवान भूमिका अदा करनी है। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में भी कहा गया कि राज्य अनेक आधारभूत संरचनात्मक सुविधाएं प्रदान करके निजी क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहित करेगा और सुविधाजनक बनाएगा। ये भी उल्लेख किया गया कि निजी क्षेत्र की सहायता करने के लिए वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की जाएंगी। लेकिन साथ ही सरकार ने सार्वजनिक हित में निजी क्षेत्र की व्यवस्था और नियंत्रण का भी विचार किया। चूंकि आधारभूत उद्योगों तथा मूलभत और पूंजीगत वस्तु उद्योगों की स्थापना का उत्तरदायित्व सरकार ने लिया था निजी क्षेत्र का कार्यक्षेत्र कुछ उद्योगों तक ही सीमित रह गया। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में औद्योगिक क्षेत्र में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की जो सीमायें निर्धारित की गईं, वे 1985 के नीति वक्तव्य के बावजूद अब भी जारी हैं।

8.6.2 औद्योगिक मिश्रण

उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। पहले उद्योग जो अनुसूची-क के नाम से जाने जाते हैं (जैसे अस्त्र-शस्त्र, और अन्य सुरक्षा संबंधी सामान, परमाणु शक्ति, लोहा और इस्पात, लोहा और इस्पात उत्पादन के लिये भारी मशीनरी आदि) पूर्ण रूप से सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखे गए। दूसरे, अनुसूची-ख के उद्योग (उदाहरण के लिए, रसायन उद्योग, उर्वरक, मूलभूत और मध्यवर्ती उत्पादन आदि) धीरे-धीरे सरकार अपने स्वामित्व में करेगी लेकिन राज्य के प्रयत्नों को अनुपूरित करने के लिए इस सूची के उद्योगों में निजी क्षेत्र को भी अनुमति दी जाएगी। तीसरे, अनुसूची-ग में अनुसूची (क) व (ख) से बाहर आने वाले उद्योग – अधिकतर उपभोक्ता वस्तु उद्योग – सामान्य रूप से निजी उद्यम पर छोड़ दिए गए। इसके अतिरिक्त सरकार ने किसी भी प्रकार के औद्योगिक उत्पादन को आरंभ करने का अधिकार सुरक्षित रखा।

उपभोक्ता वस्तु उद्योगों को निजी क्षेत्र को दिया गया। निजी क्षेत्र पहले ही कुछ महत्वपूर्ण उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में स्वयं को स्थापित कर चुका था। ये भी अनुभव किया गया कि आधारभूत संरचना और मूलभूत पूंजीगत वस्तुओं की अपेक्षा इन उद्योगों को कम पूंजी की आवश्यकता होती है और लाभ भी जल्दी प्राप्त होते हैं।

इन उत्पादों को अनिश्चित और घटती-बढ़ती बाज़ार मांग का सामना करना पड़ता है जिससे इनमें जोखिम रहता है। 1969 में राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग प्रणाली सहित, अनेक नियत अवधि के लिए ऋण देने वाली संस्थाओं ने इन समस्याओं का सामना करने में निजी क्षेत्र की मदद की। बाज़ार मांग के स्वरूप के अनुसार तथा योजना की प्राथमिकता के अनुरूप भिन्न-भिन्न उद्योगों में निवेश को नियंत्रित करने के दृष्टिकोण से इन उद्योगों को भी नियंत्रित किया जाता है। जबकि योजनाओं में अधिकतर उपभोक्ता वस्तु उद्योगों को ही निजी क्षेत्र पर छोड़ा गया था अनेक मध्यवर्ती वस्तु उत्पादन तथा कुछ मशीन उत्पादक उद्योगों को भी इस क्षेत्र में शामिल किया गया। इनमें रसायन, इंजीनियरिंग, सीमेंट, रबड़ और रबड़ के सामान, कागज और कागज के समान, प्रिंटिंग और प्रकाशन आदि से संबंधित उद्योग शामिल हैं।

8.6.3 लघु और कुटीर उद्योग

बड़े पैमाने के उद्योगों, जो नियंत्रित और व्यवस्थित हैं, के विपरीत लघु व कुटीर उद्योगों को पुराने क्षेत्रों में बढ़ाने के लिए तथा उनका नए क्षेत्रों में सुरक्षित प्रवेश करने को प्रोत्साहित किया गया। अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिए गए जैसे रियायती दर पर ऋण व आगतें, बिक्री के लिए सुविधाएँ, मूल्य वरीयता, उत्पादन शुल्क में रियायत आदि। काफी संख्या में उत्पाद इस क्षेत्र के लिये सुरक्षित रखे गए हैं। ये उद्योग उपभोक्ता वस्तु और इंजीनियरिंग वस्तु समेत अनेक किस्म की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद से ये उद्योग उपभोक्ता वस्तुओं का मुख्य साधन माने जाते हैं जबकि सार्वजनिक क्षेत्र अधिकतर मूलभूत और पूंजीगत वस्तु उद्योगों तक ही सीमित हैं। जैसे-जैसे बेरोजगारी तथा क्षेत्रीय असमानताओं की समस्याएं सामने आईं, श्रमिकों को रोज़गार देने तथा अधिक स्थानों पर फैलाने की सुविधा के कारण भी इन उद्योगों को और प्रोत्साहन दिए गए। और भी, चूँकि गरीबी दूर करने को योजना के उद्देश्यों में प्राथमिकता दी गई, ये उद्योग गरीबों की आय बढ़ाने की आवश्यकता के दृष्टिकोण से ठीक पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त, आवश्यक आयातों के लिए धन प्राप्त करने में एक मुख्य बाधा विदेशी मुद्रा होने के कारण इन उद्योगों को विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए तथा निर्यात बढ़ाने के लिए भी बढ़ावा दिया गया।

निजी क्षेत्र वास्तव में बहुत विशाल है जिसमें देश भर के बड़े पैमाने के उद्योग, लघु व कुटीर उद्योग, वितरण व्यापार, होटल व रेस्तरां आदि शामिल हैं। देश की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया, कृषि पूर्णतया इस क्षेत्र में है, और इस क्षेत्र के घरेलू उत्पाद का 98 प्रतिशत निजी क्षेत्र से प्राप्त होता है। व्यापार, होटल और रेस्तरां में निजी क्षेत्र का योगदान 94 प्रतिशत है। निर्माण में निजी क्षेत्र का प्रभुत्व है और इस क्षेत्र के शुद्ध घरेलू उत्पाद में इसका भाग लगभग 90 प्रतिशत है। उद्योगों, जहां सार्वजनिक क्षेत्र ने काफी तरक्की की है, के क्षेत्रीय शुद्ध घरेलू उत्पाद में निजी क्षेत्र का भाग 85 प्रतिशत से अधिक है। रोज़गार के संबंध में भी, निजी क्षेत्र का प्रभुत्व है और 90 प्रतिशत से अधिक श्रम इसमें लगा हुआ है।

नियंत्रण, व्यवस्था और प्रोत्साहन तथा अर्थव्यवस्था में एक निश्चित स्थान होने के साथ-साथ निजी क्षेत्र की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं :

1 इसने देश के विकास में योगदान दिया है। औद्योगिक क्षेत्र में बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है।

2 औद्योगिक ढाँचे के विविधीकरण में भी निजी क्षेत्र ने योगदान दिया है। उदाहरण के लिये निजी क्षेत्र परंपरागत उद्योग – सूती कपड़ा, जूट, चीनी, सीमेंट लोहा व इस्पात कागज आदि के उत्पादन में संलग्न हैं। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र के इंजीनियरिंग, रसायन, दवाइयों, अल्यूमीनियम, विद्युत आदि क्षेत्रों में बहुत से बड़े पैमाने के नए उद्योग हैं।

8.6.4 समस्याएँ

भारत के आर्थिक विकास में इसके महत्व और इसकी विशालता के बावजूद भी निजी क्षेत्र को कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे औद्योगिक रुग्णता, उत्पादन की गुणवत्ता की अनिश्चितता, सरकार की व्यवस्था और नियंत्रण का धीमापन, आदि। कुछ छोटी इकाइयों को धन की कमी का सामना करना पड़ता है। बड़ी कंपनियाँ शेयरों, ऋणपत्रों तथा जमा द्वारा खुले बाज़ार से वित्त एकत्रित कर सकती हैं तथा वित्तीय संस्थाओं से भी काफी मात्रा में ऋण ले सकती हैं।

निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास का एक विशेष खतरनाक पहलू कुछ बड़े औद्योगिक घरानों में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण और एकाधिकार का प्रादुर्भाव है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक औद्योगिक झगड़ों की पुनरावृत्ति है। यदि इन कठिनाइयों को दूर किया जा सके, तो निजी क्षेत्र; अपनी विशालता के साथ, देश के उद्देश्यों और प्राथमिकताओं को पूरा करने में एक बेहतर भूमिका अदा कर सकता है।

जबकि निजी क्षेत्र अपनी "विशालता" के लिए महत्वपूर्ण है, सार्वजनिक क्षेत्र अपनी "शक्ति" के लिए है। मात्रात्मक रूप में, निजी क्षेत्र निश्चित रूप से विशाल है लेकिन यह मिश्रित अर्थव्यवस्था की गुणात्मक प्रकृति का उचित सूचक नहीं है। महत्वपूर्ण बात तो ऊर्जा, इस्पात, पैट्रोल साफ करने, उर्वरक कागज व सीमेंट आदि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सरकार के योगदान की है। इन उद्योगों में स्थापित क्षमता में सार्वजनिक क्षेत्र का भाग 60 प्रतिशत से 100 प्रतिशत तक है। इसकी यही विशेषता सार्वजनिक क्षेत्र को उजागर करती है। अपने नियंत्रण में अर्थव्यवस्था की प्रभावशाली ऊँचाइयों (commanding heights) के साथ सार्वजनिक क्षेत्र आर्थिक विकास की गति और स्वरूप को निर्धारित करने में काफी प्रभाव डालता है।

विकास के अनुकूल कार्य करना सार्वजनिक क्षेत्र की सबसे प्रमुख विशेषता है। एक स्वायत्त विकास प्रक्रिया की पूर्व शर्त के तौर पर पूँजी वस्तु क्षेत्र में राष्ट्रीय क्षमता विकसित करने के लिए भारत में इस तरीके का प्रयोग किया गया। भारी तथा आधारभूत उद्योगों की स्थापना, जिससे मशीनों के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सके, के लिये सार्वजनिक क्षेत्र ही मुख्य साधन था। पूँजी वस्तु क्षेत्र के तीव्र प्रसार पर आधारित कार्यनीति में, निजी क्षेत्र उन उद्योगों के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन जुटाने में असमर्थ था, जहाँ परिपक्व काल अधिक होता है और जिनमें भारी निवेश की आवश्यकता होती है।

रेल, सड़क, संचार, शक्ति व पानी आदि आधारभूत संरचना, जो सार्वजनिक सेवाओं के रूप में हैं और सामाजिक कारणों से इन्हें निजी क्षेत्र पर नहीं छोड़ा जा सकता, प्रदान करने में सार्वजनिक क्षेत्र एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

यद्यपि सम्पूर्ण सार्वजनिक क्षेत्र में केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों के उद्यम शामिल हैं, केवल केन्द्रीय सरकार के अंतर्गत आने वाली इकाइयाँ ही विकास की इच्छित दर और स्वरूप प्राप्त करने के लिए अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए अधिक महत्वपूर्ण तरीका है।

जन उपयोगी सेवाओं के रूप में और मूलभूत और महत्वपूर्ण उद्योगों को औद्योगिक नीति के उद्देश्यों के अनुरूप स्थापित करने के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र आयोजन के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने में काफी हद तक सफल हुआ है। लेकिन भावी विकास के लिए साधन प्रदान करने के लिए सार्वजनिक उद्यमों की कुशलता और लाभप्रदता में सुधार करना आवश्यक है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अपनाए गए नेहरू महालानोबिस सिद्धांत ने आत्मनिर्भर आर्थिक विकास की शर्तों को पूरा करने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र के विकास के लिए आधारभूत कारण दिए लेकिन केवल पैट्रोलियम को छोड़कर बाकी सार्वजनिक उद्देश्यों में प्रत्याय की दर आशा के अनुरूप कभी नहीं रही। इससे संसाधनों की दुर्लभता और बढ़ी है।

बोध प्रश्न 4

1 औद्योगिक नीति में परिभाषित उद्योगों की तीन श्रेणियाँ बताइये। (तीन वाक्यों में)

.....

.....

.....

2 लघु और कुटीर उद्योगों की भूमिका का वर्णन कीजिए। (तीन वाक्यों में)

.....

.....

.....

3 उन समस्याओं का वर्णन कीजिए जिनका सामना निजी क्षेत्र को करना पड़ता है। (तीन वाक्यों में)

.....

.....

.....

4 बताइये कि निम्न कथन "सही" (✓) हैं या "गलत" (×)

क) अधिकतर उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में होता है।

ख) संगठित क्षेत्र में रोज़गार की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र प्रभावशाली है।

ग) कृषि अधिकतर सार्वजनिक क्षेत्र में है।

8.7 निवेश स्वरूप

नियोजित विकास के लिए अपनाई गई कार्यनीति को अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच साधनों के आबंटन द्वारा दिखाया जा सकता है। विभिन्न योजना कालों में साधनों के आबंटन से संबंधित आंकड़ों पर प्रकाश डालना लाभदायक होगा।

तालिका 8.1 विभिन्न योजनाओं में साधनों का बंटवारा (प्रतिशत)

		I	II	III	वार्षिक योजनाएँ	IV	V	VI	VII
1	2	3	4	5	6	7	8	9	
1	कृषि तथा संबंधित क्षेत्र, सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण	37.0	20.9	20.5	23.8	23.3	22.1	23.8	21.8
2	संचालन शक्ति	7.6	9.7	14.6	18.3	18.6	18.8	28.3	30.4
3	उद्योग	4.9	24.1	22.9	24.7	19.7	24.3	15.7	13.4
4	परिवहन एवं संचार	26.4	27.0	24.6	18.5	19.5	17.4	16.0	16.4
5	सामाजिक सेवाएँ	24.1	18.3	17.4	14.7	18.9	17.4	16.2*	18.0
	कुल	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

* विज्ञान और टेक्नोलोजी पर 0.90 प्रतिशत भी शामिल है।

8.7.1 प्रथम योजना

पहली पंचवर्षीय योजना में साधनों के आबंटन की मुख्य विशेषताएं ये हैं :

क) योजना में कृषि विकास और उससे संबंधित क्षेत्र बाढ़ नियंत्रण और सिंचाई को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई।

ख) योजना काल के दौरान कुल व्यय का लगभग एक-तिहाई भाग ऊर्जा, परिवहन एवं संचार के विकास कार्यक्रमों के लिए रखा गया। इन क्षेत्रों में निवेश इसलिये "मूलभूत" है कि बहुत से संबंधित उद्योगों का विकास इन निवेशों की सफलता से जुड़ा है। इनका उद्देश्य विभाजन से अस्त-व्यस्त स्थिति और द्वितीय महायुद्ध के दौरान देश के विभिन्न भागों की गिरी हुई अवस्था को पुर्नस्थापित करना था। योजना में आशा की गई है कि इन क्षेत्रों का विकास कृषि और उद्योग के पूरे क्षेत्र में उत्पादक क्रिया को गतिशील कर देगा।

ग) पहली योजना में एक अन्य पहलू जिस पर जोर दिया गया वह सामाजिक सेवाओं पर व्यय था। शुरू की अवस्था से ही भारत में आयोजक आर्थिक विकास की प्रक्रिया में मानवीय पूंजी के महत्व के बारे में एकदम स्पष्ट थे।

योजना में उद्योग एक अपेक्षाकृत उपेक्षित क्षेत्र रहा, कुल व्यय का केवल 4.9 प्रतिशत ही औद्योगिक विकास के कार्यक्रमों पर खर्च किया गया। औद्योगिक क्षेत्र की यह "उपेक्षा" शायद योजना में अपनाई गई विकास की युक्ति के परिणामस्वरूप थी। योजना में युद्ध और विभाजन से प्रभावित मुख्यतया एक कृषि प्रधान देश के आर्थिक विकास के मूलभूत ढांचे को सुधारने पर और कृषि क्षेत्र की विकास क्षमता के प्रयोग पर जोर दिया गया।

8.7.2 द्वितीय योजना और उसके पश्चात

पहली योजना में कार्यनीति विकास का "मूल आधार" रखने की थी, द्वितीय और बाद की योजनाओं में विकास के अधिक स्पष्ट और महत्वाकांक्षी कार्यक्रम चालू किए गए। इन योजनाओं में साधनों के आबंटन की मूल विशेषताएं निम्न हैं :

क) द्वितीय योजना के बाद "उद्योग" प्रभावशाली स्थिति में रहे। चौथी योजना को छोड़कर पांचवी तक लगभग सभी योजनाओं में नियोजन के दौरान किए गए कुल व्यय का लगभग एक चौथाई उद्योगों ने प्राप्त किया। लेकिन छठी योजना में कुल व्यय का केवल 15.8 प्रतिशत इस क्षेत्र के लिये रखा गया जो तत्कालीन योजनाओं में निम्नतम था, और सातवीं योजना के दौरान यह घटकर 13.4 प्रतिशत रह गया।

ख) औद्योगिक विकास कार्यक्रमों की सफलता के लिए एक आवश्यक शर्त अर्थव्यवस्था में शक्ति साधनों का विस्तार है। जैसे-जैसे उद्योग का विस्तार होता है, अर्थव्यवस्था में संचालन शक्ति की आवश्यकताएं बढ़ती हैं, इसी प्रकार सामान्य आर्थिक विकास के साथ विभिन्न क्षेत्रों में शक्ति की आवश्यकताएं निरंतर बढ़ती हैं, इस बात की स्पष्ट झलक साधनों के आबंटन के स्वरूप में दिखाई देती है। जबकि पहली योजना में अर्थव्यवस्था में शक्ति के विकास के कार्यक्रमों पर कुल व्यय का 7.6% खर्च किया गया, यह अनुपात उसके बाद से निरंतर बढ़ रहा है और सातवीं योजना में बढ़कर 30.4 प्रतिशत हो गया है। विशेषकर 1980 के दशक में संचालन शक्ति क्षेत्र अर्थव्यवस्था के लिए अधिक निर्णायक हो गया है।

फिर भी, मध्यम स्तर के विकसित देशों की तुलना में भी हमारे यहां शक्ति का सृजन और खपत बहुत कम है जबकि आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं, परिणामस्वरूप ऊर्जा की बहुत कमी है जिससे कई औद्योगिक इकाईयों में अक्सर बंद होने की स्थिति रहती है। इसलिए चालू योजनाओं में शक्ति क्षेत्र के लिए सभी संभव साधनों का प्रयोग करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं।

ग) द्वितीय योजना के दौरान परिवहन एवं संचार को कुल व्यय का सबसे अधिक अर्थात् 27 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ। जैसे कि पहले कहा जा चुका है परिवहन एवं संचार, अर्थव्यवस्था के औद्योगिक, कृषि विकास के लिए आवश्यक तथा मूल आधारभूत संरचना प्रदान करते हैं। लेकिन आगे की योजनाओं में इस क्षेत्र के प्राप्त व्यय का अनुपात धीरे-धीरे घटता जा रहा है। योजनाओं में साधन आबंटन की इस विशेषता का संभावित कारण यह हो सकता है कि इन वर्षों में देश ने काफी बड़ी आधारभूत संरचना का निर्माण कर लिया है जिसमें परिवहन एवं संचार के विभिन्न तरीके भी शामिल हैं। परिणामस्वरूप विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में आवश्यक पूंजी वस्तु व सामान पर भारी प्रारंभिक निवेश को कम करना संभव हो गया है, लेकिन रेलों में रेल पटरी और "रोलिंग स्टॉक" की आयु के साथ रेलवे हमेशा बढ़ते दबाव में रही है।

घ) भारत में आयोजक हमेशा यह बताने में असमर्थ रहे हैं कि विकास की कार्यनीति में निहित औद्योगीकरण की ओर झुकाव का अर्थ कृषि और इस क्षेत्र के विकास कार्यक्रमों की उपेक्षा नहीं होगा। द्वितीय और तृतीय योजनाओं सहित प्रत्येक योजना ने देश में तीव्र आर्थिक विकास के लिये कृषि क्षेत्र के तीव्र विकास की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से एक पूर्व शर्त के तौर पर उल्लेख किया है, लेकिन फिर भी, कृषि क्षेत्र में विकास के कार्यक्रमों पर व्यय का प्रतिशत योजना के 37 से घटाकर द्वितीय योजना में केवल 20.9 रह गया। तीसरी योजना में इसी प्रवृत्ति को जारी रखा गया जब इस क्षेत्र में विकास कार्यक्रमों पर व्यय कुल व्यय का 20.5 प्रतिशत हो गया। 1962-63 और फिर 1965-66 में कृषि उत्पादन में गिरावट के कारण यह अनुभव किया कि जब तक कृषि क्षेत्र एक स्थिर गति से विकसित नहीं होता तब तक कोई भी फलदायक लाभ सम्भव नहीं है। वार्षिक योजनाओं और बाद की योजनाओं के दौरान कुल व्यय में कृषि क्षेत्र पर व्यय का अनुपात काफी बढ़ा दिया गया है।

ङ) विभिन्न योजनाओं में साधनों के आबंटन के स्वरूप का एक निरूत्साहित करने वाला पहलू सामाजिक सेवाओं पर व्यय में कटौती है जो पहली योजना में 24.1 प्रतिशत से द्वितीय योजना में 18.3 प्रतिशत, तृतीय योजना में 17.4 प्रतिशत, वार्षिक योजनाओं में 14.7 प्रतिशत, चौथी योजना में 18.9 प्रतिशत और सातवीं योजना में 18.0 प्रतिशत तक हो गई है। सामाजिक सेवाओं, विशेषतया शिक्षा और स्वास्थ्य पर व्यय की कटौती आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव डालती है।

8.8 उपलब्धियाँ और सीमाएँ

उनमें से एक परिणाम तो संविधान द्वारा निर्देशित व्यापक साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा के स्तर को प्राप्त करने की असफलता है। एक दूसरा परिणाम यह है कि बाल मृत्यु दर अधिक है और परिवार नियोजन उपाय अपना लक्ष्य प्राप्त करने में असफल है। इनका मूल कारण साधनों की बेहद कमी है जो सार्वजनिक वित्त पिछले 25 वर्षों से अनुभव कर रहा है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि क्रमबद्ध योजनाओं को बनाने के कारण योजना के सिद्धांत और तकनीक से संबंधित प्रश्नों पर एक स्थिर आर्थिक विचारधारा का विकास हुआ है। जैसे-जैसे विकास की प्रक्रिया ने जोर पकड़ा है, नई शक्तियों से निपटने के लिए सरकार की सजगता भी बढ़ी है। योजनाओं का एक सैद्धांतिक ढांचा है जो आर्थिक सिद्धांतों और धारणाओं पर आधारित है। पहली योजना हैरड-डोमर मॉडल, द्वितीय योजना महालानोबिस मॉडल तथा बाद की योजनाएं लियोन्टिफ के संगति मॉडलों पर आधारित हैं और इनमें लक्ष्यों और माध्यमों का एक विस्तृत अंतर्क्षेत्रीय संतुलन और फिर इनको विकास की दर, बचत व निवेश आदि के सम्पूर्ण आर्थिक लक्ष्यों के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है।

एक विकासशील देश को अपने दुर्लभ साधनों का इस प्रकार इस्तेमाल करना चाहिए जिससे अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में पूंजी आधार तैयार हो सके ताकि उत्पादन की संभावनाएं बढ़ाना और अधिक बचत सम्भव हो सके। बढ़ा हुआ उत्पादन और बढ़ी हुई बचत का संतुलित अंतर्क्षेत्रीय आबंटन विकास को प्रोत्साहित करता है। एक योजना से दूसरी योजना के लक्ष्यों और

मान्यताओं में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। लेकिन फिर भी, प्रकाश स्तम्भ के पथप्रदर्शक की तरह 38 वर्षों के योजनाकाल में कुछ मूलभूत उद्देश्य स्थिर रहे हैं।

8.8.1 सामाजिक न्याय के साथ विकास

आयोजन की प्रक्रिया की निरंतरता ने, अपने प्रहारों और अवरोधों के साथ, समाज के कमजोर वर्गों और पिछड़े क्षेत्रों के सुधार के लिए कार्यक्रम बनाने और राष्ट्रीय परिसंपत्तियों के सृजन और नवीनीकरण में सहायता की है। हमने स्थिरता और सामाजिक न्याय के साथ आत्मनिर्भर विकास को प्राप्त करने का प्रयास किया है लेकिन हम खासकर अंतिम उद्देश्य को प्राप्त करने में बिल्कुल असफल रहे हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद से योजनाओं ने राष्ट्रीय आय में लगभग 5 प्रतिशत की वृद्धि दर का उद्देश्य रखा है। 20 वीं सदी के पहले चार दशकों में प्राप्त की गई लगभग 1.5 प्रतिशत की वृद्धि दर की तुलना में पिछले चार दशकों के काल में हमने औसतन 4 प्रतिशत से कुछ कम वृद्धि दर प्राप्त की है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के दौरान साधनों को गतिमान करने के लिए आत्मनिर्भरता के उद्देश्य पर जोर दिया गया है। लेकिन साधन गतिमान करने के हमारे प्रयास बड़ी मात्रा में घाटे की वित्त व्यवस्था तथा विदेशी सहायता व ऋण पर बुरी तरह आश्रित रहे हैं। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था मुद्रास्फीति की ओर उन्मुख रही है जो सामाजिक न्याय के विरुद्ध है। हम इस समस्या का विस्तृत अध्ययन अगली इकाइयों में करेंगे।

जहां तक उत्पादन में आत्मनिर्भरता का प्रश्न है, हमने खाद्य सामग्री (सिवाय कुछ आयातों के जो हमने "खाद्य सामग्री के भंडार बढ़ाने" के लिए किए) और कुछ अन्य क्षेत्रों जैसे रेल, जहां कुछ तकनीकी आयातों के अलावा शेष आयातों को त्याग दिया गया है, के क्षेत्र में इसे प्राप्त कर लिया है। लेकिन हम अपनी प्रौद्योगिकीय स्वायत्तता विकसित करने में असफल रहे हैं। मात्रात्मक व गुणात्मक, दोनों रूपों में हमारे निर्यात अपर्याप्त रहे हैं जबकि हम बड़ी मात्रा में हार्डवेयर, कच्चा तेल और पैट्रोलियम आदि आयात कर रहे हैं जिससे अभी भी हमें विदेशी विनिमय की कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है।

जनसंख्या विस्फोट के संदर्भ में, हम जो प्राप्त करते हैं वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है जिससे दीर्घकालीन प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत प्रति वर्ष से अधिक नहीं हो पाती। प्रो. राजकृष्णा ने विकास की इस धीमी "हिंदू" गति पर चिंता प्रकट की है। लेकिन 1980 के वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में कुछ ऊँची वृद्धि दर दिखाई देने के संकेत हैं।

इस बीच कीमतें लगातार बढ़ रही हैं जिससे स्थिर आय वर्गों के जीवन स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। प्रायः बार-बार दोहराए गए सामाजिक उद्देश्य, गरीबी का निवारण, असमानता को कम करना और आर्थिक विकेन्द्रीकरण अधिकतर राजनैतिक नारे बनकर रह गए हैं। आयोजन के चार दशकों के बावजूद निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की कुल संख्या में वृद्धि हुई है और हमारे गरीबी निवारक तथा रोज़गार बढ़ाने वाले कार्यक्रम अव्यवस्था और कमज़ोर कार्यान्वयन के कारण ईच्छित सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी संगठित व असंगठित क्षेत्रों के श्रमिकों के बीच वास्तविक आय में असमानताएं बढ़ी हैं जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र को निजी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक फायदा हुआ है।

8.8.2 कुछ उपलब्धियाँ

इस सबके बावजूद, आज भारतीय अर्थव्यवस्था 1950 की तुलना में, जब से योजनाएं आरंभ हुई थी अधिक मजबूत है। अब हमारे पास काफी अधिक और विविधीकृत औद्योगिक क्षमता है और हम खाद्य सहायता पर भी निर्भर नहीं है।

आयोजन ने पिछले 38 वर्षों में, 3.8 प्रतिशत की औसत विकास दर प्राप्त कर ली है जबकि छठी पंचवर्षीय योजना में भी अर्थव्यवस्था पांचवी पंचवर्षीय योजनाकाल (1974-79) की भाँति 5.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की लाक्षित दर से विकसित हुई है। 1979-80 के बीच के काल में सकल राष्ट्रीय उत्पाद में कमी को ध्यान में रखते हुए भी पिछले दशक में कुल औसत विकास दर 4.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। यह पिछले दशक की औसत से काफी अधिक है और आशा के अनुरूप हम विकास की "हिंदू" दर 3.5 प्रतिशत पर अटके नहीं रहे हैं।

एक अन्य बड़ी उपलब्धि आर्थिक आधारभूत संरचना का सृजन है जो आर्थिक विकास के लिए आधार प्रदान करता है। एक बड़ी अधःसंरचना, सिंचाई साधनों जैसे– जल भंडारों और नहरों का जाल, पन-बिजली और तापीय बिजली का उत्पादन, क्षेत्रीय बिजली ग्रिड, व्यापक बिजली चालित और डीजल चालित रेल व्यवस्था, राष्ट्रीय और राज्यों के राजमार्गों पर बढ़ते यातायात, साधन जो भारत को विश्व के अन्य देशों के साथ जोड़ सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, हमने एक बड़ा वैज्ञानिक और तकनॉलोजी आधार स्थापित करने में कुछ सफलता प्राप्त कर ली है। एक आधुनिक औद्योगिक ढाँचे को चलाने के लिये हम एक पर्याप्त तकनीकी और प्रबंधक व्यवस्था विकसित करने में समर्थ रहे हैं जिससे विदेशी विशेषज्ञों पर निर्भरता काफी कम हो गई है। उत्साहजनक बात यह है कि भारतीय तकनीकी विशेषज्ञों की मांग अपने विकास कार्यक्रमों के लिए अन्य विकासशील देशों द्वारा की जा रही है, लेकिन स्वयं तकनीकी विकास की जिम्मेदारी लेने की हमारी सामर्थ्य अभी काफी सीमित है।

इस प्रकार, पिछले 34 वर्षों के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की कार्यविधि – देश में आर्थिक आयोजन के निरंतर बढ़ते महत्व को पर्याप्त औचित्य प्रदान करती है। लेकिन, आर्थिक आयोजन के इन चार दशकों के दौरान अपनी कमियों से कुछ सीखना और भविष्य में इन कमियों को दूर करने के लिए नीतियाँ तथा तरीके ढूँढना आवश्यक है। साधनों की बाधा, प्राप्त साधनों के कुशल प्रयोग के महत्व को और बढ़ा देती है। आठवीं पंचवर्षीय योजना में धनी वर्गों के लिये उपयोग की वस्तुओं की बज़ाय शीघ्र परिपक्व होने वाले, अधिक उत्पादक निवेश विशेषकर उन क्षेत्रों में जो पूंजी प्रधान नहीं है और आम उपभोग की वस्तुएं उत्पादित करते हैं, को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। कृत्रिम रूप से बढ़ते पूंजी-उत्पाद अनुपात और गिरती हुई बचत दर की प्रवृत्ति को पलटना आवश्यक है। अर्थव्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अनेक क्षेत्रों में अधिक क्षमता का सृजन किया गया है जिसका पूर्ण प्रयोग नहीं किया जा रहा। विद्यमान संयंत्रों के आधुनिकीकरण और विकास में अपेक्षाकृत कम निवेश द्वारा विद्यमान क्षमता से उत्पादन में काफी वृद्धि करना संभव है। अनेक क्षेत्रों में, छोटी परियोजनाएँ, जिनमें अधिक मात्रा में साधन नहीं लगाने पड़ते, अधिक कुशल हो सकती हैं और स्थानीय स्तर पर आयोजन और कार्यान्वयन क्षमता के अधिक उपयुक्त हो सकता है। अपने मानवीय, प्राकृतिक और पूंजीगत साधनों का पूर्ण प्रयोग करके भारत आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान पर्याप्त विकास की दर प्राप्त कर सकता है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में मनोनीत जनसंख्या वृद्धि की दर 1.8 प्रतिशत तक रहने पर, भारत गरीबी पर एक अधिक प्रभावशाली प्रहार करने के लिये प्रतिव्यक्ति आय की वृद्धि दर प्राप्त कर सकता है।

बोध प्रश्न 5

1 पहली पंचवर्षीय योजना में किन क्षेत्रों को प्राथमिकता दी गई? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

2 आयोजन के चार दशकों के दौरान हमारी मुख्य उपलब्धियाँ क्या रही हैं? (चार वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

3 सही उत्तर के आगे चिन्ह (✓) लगाइए :

क) सातवीं योजना के दौरान किस क्षेत्र को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई?

i) कृषि व संबद्ध क्रियाएं
ii) उद्योग
iii) संचालन-शक्ति (ऊर्जा)
iv) सामाजिक सेवाएँ

ख) द्वितीय योजना में निम्न को साधनों का अधिकतम अनुपात दिया गया :

i) कृषि
ii) उद्योग
iii) परिवहन और संचार
iv) संचालन शक्ति

ग) योजनाकाल के दौरान प्रतिव्यक्ति आय में औसत विकास की दर रही है:

i) लगभग 1.5 प्रतिशत
ii) लगभग 5.0 प्रतिशत

iii) लगभग 3.8 प्रतिशत
iv) लगभग 4.5 प्रतिशत

ङ) किस योजना के दौरान महालानोबिस मॉडल अपनाया गया:
i) पहली पंचवर्षीय योजना
ii) दूसरी पंचवर्षीय योजना
iii) तृतीय पंचवर्षीय योजना
iv) चौथी पंचवर्षीय योजना

8.9 सारांश

भारत ने 1 अप्रैल, 1951 में पंचवर्षीय योजना आरंभ की। तब से भारतीय आयोजन के चार मूलभूत उद्देश्य रहे – राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, उत्पादन ढाँचे का आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय।

पहली योजना के सिवाय लगभग सभी योजनाओं में आयोजकों ने राष्ट्रीय आय में लगभग 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि दर की आशा की। लेकिन अर्थव्यवस्था ने केवल 3.5 प्रतिशत की दीर्घकालीन विकास दर प्राप्त की है जिसे "हिंदू" दर कहा जाता है। केवल 1980 के वर्षों में ही विकास की दर में कुछ सुधार हुआ है।

कृषि सहित उत्पादन के लगभग सभी क्षेत्रों में आधुनिकीकरण हुआ है। अर्थव्यवस्था का उत्पादन आधार मजबूत और विविधीकृत हुआ है। पहली योजना के सिवाय सभी योजनाओं में कृषि की अपेक्षा उद्योगों और आधारभूत संरचना पर अधिक जोर दिया गया है।

उपनिवेशी विरासत में प्राप्त कृषि अर्थव्यवस्था में एक संरचनात्मक परिवर्तन लाने के लिए, अधिक निकट कृषि-उद्योग संबंधों के द्वारा कृषि को आधुनिक बनाने, दीर्घकाल में उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाने और आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये भारी और मूलभूत उद्योगों की ओर झुकाव के साथ तीव्र औद्योगीकरण का औचित्य स्पष्ट है। लेकिन इस कार्यनीति ने पूंजी-उत्पाद अनुपात में वृद्धि की है। लघु व कुटीर उद्योगों पर जोर देने के बावजूद आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण अधिक गहरा हुआ है। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र के आश्चर्यजनक विकास ने राज्य के हाथ में अर्थव्यवस्था की प्रभावशाली ऊँचाइयों को स्थान दिया है, यद्यपि रोज़गार और उत्पादन में निजी क्षेत्र का एक प्रमुख भाग है। सार्वजनिक क्षेत्र ने देश को पूंजी वस्तुओं में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के योग्य बनाया है। जहां तक समाज के निर्धन वर्ग का संबंध है प्रत्येक योजना में सामाजिक न्याय का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाया है। बढ़ते हुए विदेशी ऋण और बड़े पैमाने पर बजट में घाटे भी रहे हैं। फसल में बढ़ते हुए वार्षिक उतार-चढ़ाव के कारण खराब स्थिति होते हुए भी खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली गई है।

लेकिन योजनाकाल के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था का निष्पादन भारत में आर्थिक आयोजन के बढ़ते महत्व के लिये पर्याप्त औचित्य प्रदान करता है।

8.10 शब्दावली

पूंजी को गहरा करना : श्रम को खपाने की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से पूंजी को संचय करने की प्रक्रिया, इस स्थिति में पूंजी-श्रम अनुपात बढ़ता है।

पूंजी को विस्तृत करना : श्रम शक्ति में श्रम को पूंजी संचय के समान गति से खपाने की प्रक्रिया जिससे पूंजी-श्रम अनुपात स्थिर रहता है।

विदेशी सहायता : एक देश को दी जाने वाली कोई भी सहायता या पूंजी का प्रवाह जो देश को बाज़ार शक्तियों (अर्थात् निर्यात अधिशेष के द्वारा) द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। यह अन्य देशों या बहुदेशीय वित्तीय संस्थाओं जैसे विश्व बैंक, आई.एम.एफ., आई.डी.ए. आदि से प्राप्त हो सकते हैं। यह सरकारी विकास सहायता (ओ.डी.ए.) या दीर्घकालीन ऋण या कम ब्याज पर ऋण (Soft loans) आदि के रूप में होती है।

हरित क्रांति : यह शब्द कृषि उत्पादकता में हुई उस वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है जो विकासशील देशों में अधिक उपजाऊ और बीमारी रहित बीजों के प्रयोग से प्राप्त होती है। इस

नीति की सफलता के लिये पर्याप्त जल आपूर्ति और रासायनिक खाद आवश्यक हैं। इस प्रकार की नीति भारत में 1960 के मध्य के वर्षों में पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गेहूं के उत्पादन से प्रारंभ की गई।

मिश्रित उद्यम : इनका स्वामित्व सरकार और आंशिक रूप से निजी व्यक्तियों के हाथ में होता है। लेकिन स्वामित्व के मुख्य अंश के अनुसार इसे सार्वजनिक या निजी श्रेणी में रखा जा सकता है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली : खाद्यान्नों की कीमतें स्थिर रखने और आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिये, सरकार फसल के समय में खाद्यान्न संग्रह करती है और कमी के समय में उसे बाजार में बेचती है।

सार्वजनिक क्षेत्र : अर्थव्यवस्था का वह भाग जो सरकार के स्वामित्व में है। इसमें सभी सरकारी विभाग, एजेंसियां और सभी सार्वजनिक निगम शामिल हैं। इस प्रकार यह स्वामित्व के रूप में परिभाषित किया जाता है।

8.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* 1990 लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, खंड 5 (अध्याय 40, 41, 44 एवं 45)

रूद्रदत्त एवं के.पी.एम. सुंदरम् : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* 1990, एस. चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली, अध्याय 11 एवं 15.

मिश्र, एस. के एवं वी.के. पुरी : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* 1989, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, अध्याय 14 एवं 18

धींगरा, ईश्वर एवं वी.के. गर्ग : *भारत में आर्थिक विकास एवं नियोजन,* नई दिल्ली, सुलतान चंद एंड कंपनी, 1989, अध्याय 11 एवं 15

Balasubramanyam V.N., *The Economy of India,* Westview Press, Colorado, 1985 (Chapter 3).

Chakraborty S., *Development Planning,* OUP, New Delhi, 1988 (Chapters 1 & 2).

Kapila Uma (ed.), *Indian Economy Since Independence,* Vol. 1 SYNAPSE, Delhi, 1988, particularly article Nos. 3, 4 and 5, reproduced from Planning Commission Documents for the Second Plan, Sixth Plan and Seventh Plan.

Sundrum R.M., *Growth and Income Distribution in India,* Sage Publications, New Delhi, 1987, (Chapters 4, 8 and 9).

Wadhva C.D. (ed)., *Some Problems of India's Economic Policy,* Tata McGraw-Hill, New Delhi, 1983, refer to the following articles, particularly : Planning Commission, "Objectives of Planned Economic Development of India"; Planning Commission, "Objectives and Policy Frame for the Fifth Plan", D.R. Gadgil, "Planning without a Policy Frame"; H.K. Paranjape, "Industrial Growth with Justice—India's Strategy."

8.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 ये विकास, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय हैं। भाग 8.3 पढ़िए।
2 भाग 8.3.3 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3 क) iii ख) ii

बोध प्रश्न 2

1 क) iv ख) i ग) ii
2 भाग 8.4.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 3

1 भाग 8.5.1 पढ़ें और उत्तर दीजिए।
2 भाग 8.5.3 का दूसरा पैरा पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3 भाग 8.5.3 का दूसरा पैरा पढ़िए और उत्तर दीजिए।
4 भाग 8.5.4 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

मुख्य आलोचना: निर्यात क्षेत्र की उपेक्षा, उपभोक्ता वस्तुओं की कमियां और मांग पक्ष की [illegible]ा है।

बोध प्रश्न 4

1 भाग संख्या 8.7.1 पहला पैरा पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2 भाग संख्या 8.7.2 पहला पैरा पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3 भाग 8.7.3 पहले दो पैरे पढ़िए और उत्तर दीजिए।
4 क) गलत ख) गलत ग) गलत

बोध प्रश्न 5

1 भाग 8.8.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2 भाग 8.9.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3 क) iii) ख) iii) ग) i) ङ) ii)

इकाई 9 योजनाओं की वित्त व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 वित्त व्यवस्था : मुख्य समस्या
  9.2.1 संसाधन संग्रह के साधन (Instruments)
  9.2.2 कराधान
  9.2.3 सार्वजनिक ऋण
  9.2.4 सार्वजनिक उद्यमों का आधिक्य (Surplus)
9.3 घाटा वित्तीयन
  9.3.1 घाटे के घटक
  9.3.2 घाटा वित्तीयन : एक दवा है न कि दैनिक खुराक
9.4 विदेशी सहायता
9.5 सार्वजनिक क्षेत्र के संसाधन
  9.5.1 सार्वजनिक उद्यम के पक्ष में तर्क
  9.5.2 सार्वजनिक उद्यमों का विकास
9.6 योजना-वित्त के स्रोत
9.7 घाटे और कीमतें
  9.7.1 पहली योजना
  9.7.2 दूसरी और तीसरी योजनाएँ
  9.7.3 चौथी और पांचवी योजनाएँ
  9.7.4 छठी और सातवीं योजनाएँ
9.8 विदेशी संसाधन
  9.8.1 परिमाण
  9.8.2 तीन अंतराल
  9.8.3 सहायता के स्रोत
  9.8.4 सहायता-स्वीकृति (Authorization) और उपयोग (Utilisation)
  9.8.5 भारत के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता की भूमिका
  9.8.6 विदेशी सहायता से संबंधित समस्याएँ
  9.8.7 ऋण सेवा (Debt Servicing)
  9.8.8 बद्ध सहायता (Tied Aid)
  9.8.9 स्वयं-पोषित अर्थव्यवस्था (Self-sustaining economy) की ओर
9.9 संसाधन-आबंटन : वर्धमान-पूंजी-उत्पाद-अनुपात (ICOR)
  9.9.1 वर्धमान-पूंजी-उत्पाद-अनुपात (ICOR) एवं आयोजन-विधि
  9.9.2 वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) समीक्षा
9.10 सारांश
9.11 शब्दावली
9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में योजनाओं के लिए संसाधनों के जुटाव के ढाँचे की व्याख्या की गई है। इसे पढ़कर आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- योजना की वित्त व्यवस्था की समस्या के मुख्य मसलों और संसाधन संग्रह के विभिन्न साधनों को समझ सकेंगे,
- योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश की समस्याओं और घाटे के वित्तीयन की भूमिका एवं उसके परिणामों को जान लेंगे,
- ऋण-सेवा की समस्या सहित विदेशी सहायता के कार्यों और समस्याओं का विश्लेषण कर सकेंगे, और
- वर्धमान-पूंजी-उत्पाद-अनुपात (ICOR) की गतिविधि के संबंध में निवेश के स्वरूप और वृद्धि दर में परस्पर संबंधों की व्याख्या कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

योजना से समय और दूरी का एक ऐसा ढांचा उपस्थित होता है जिसमें क्षेत्र, प्रदेश और राज्य सब एक साथ मिलकर राष्ट्रीय उद्देश्यों तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। इसके द्वारा सारे देश के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को मजबूत करके राष्ट्रीय और व्यक्तिगत प्रगति संभव की जाती है। निर्धनता-निवारण, आधुनिक अर्थव्यवस्था का निर्माण, विज्ञान और तकनीक का अनुकूलतम प्रयोग करना, द्रुत आर्थिक वृद्धि और विकास और अंत में स्वयं-पोषित अर्थव्यवस्था की प्राप्ति भारतीय नियोजन के उद्देश्य हैं। इन मूल उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हमें बहुत बड़े व्यय और निवेश की आवश्यकता है। हम देख चुके हैं कि योजना के लिए किए गए हमारे प्रयत्नों के लिए संसाधनों की कमी बढ़ती जा रही है।

9.2 वित्त-व्यवस्था : मुख्य समस्या

योजना के लिए वित्त व्यवस्था करने हेतु कराधान सहित विभिन्न वित्तीय उपकरणों का इस ढंग से उपयोग किया जाना चाहिए कि मुद्रास्फीति के बिना निवेश हेतु संसाधनों की उचित मात्रा प्राप्त हो सके। भौतिक और वित्तीय योजना की परस्पर निर्भरता इस तथ्य पर आधारित होती है कि मूल संसाधनों की जो मात्रा निवेश के लिए लाई जाती है वह निवेश की दर पर निर्भर करती है और यह निवेश दर स्वयं इस बात पर निर्भर होती है कि मुद्रास्फीति के बिना कितने संसाधनों को बचत के रूप में जुटाया जा सकता है। नहीं तो जैसा हमने ई.ई.सी-01 के खंड 9 में पढ़ा है, वित्तीय संसाधन योजना के लिए प्रतिबंध नहीं बल्कि भौतिक संसाधन प्रतिबंध हैं। अतएव निवेश में भौतिक योजना लक्ष्य का और उसके वित्तीय लक्ष्य का हिसाब साथ-साथ लगाया जाना चाहिए। निवेश के लिए संसाधनों की कुल उपलब्धि देशीय बचतों और विदेशों से पूंजी के आंतरिक प्रवाह से होती है। आंतरिक बचतों की जो मात्रा जुटाई जा सकती है यह गत व्यवहार और अर्थव्यवस्था की दीर्घकालीन प्रवृत्तियों जैसे लोगों की बचत को इच्छा और बचत की क्षमता, कर प्रणाली की लोच और कराधान द्वारा बचत की दर को बढ़ाने के लिए किए गए विवेकपूर्ण प्रयत्न, संस्थागत परिवर्तन, प्रोत्साहन और नीति संबंधी अन्य परिवर्तनों पर निर्भर करती है। वित्तीय योजना का संबंध भौतिक निवेश के परिमाण के लक्ष्य के अनुरूप संसाधनों के जुटाव मात्र से नहीं होता बल्कि इसमें यह भी शामिल होता है कि कुल उपलब्ध बचतों का प्रमुख निवेश क्षेत्रों में उनकी निजी आवश्यकता के अनुसार किस प्रकार बंटन किया जाए।

इस प्रकार, देशीय संसाधनों की कुल उपलब्धि विभिन्न क्षेत्रकों की बचतों का लगाकर अर्थात् परिवारों, निजी निगमीय व्यवसायों सरकारी और सार्वजनिक उद्यमों की बचतों से होती है। फिर क्षेत्रों के लिए निर्धारित निवेश लक्ष्य को ध्यान में रखकर और उन्हें अंतर्क्षेत्रीय हस्तांतरण तथा विदेशों से पूंजी के अंतर्प्रवाह प्रत्येक क्षेत्र के साधन स्रोतों और उनके प्रयोगों के बीच के संतुलन का हिसाब लगाया जाता है। सरकारी क्षेत्र की बचतों का अनुमान लगाते समय, जो वर्तमान राजस्व से वर्तमान व्यय को घटाने से प्राप्त होती हैं, अतिरिक्त संसाधनों के जुटाव की राशि को भी देखना पड़ता है। जिसे केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा यथोचित रीति से प्रशासन में सुधार, संरचनात्मक परिवर्तनो और दरों में समायोजित करके प्राप्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार से, सार्वजनिक उद्यमों के संदर्भ में बचतों का अनुमान लगाते समय, (प्रतिधारित लाभ और मूल्य ह्रास) उत्पादिता और क्षमता बढ़ाने वाले साधनों के प्रभाव का तथा साथ ही प्रक्रिया में समायोजन, जहां जरूरी और उचित प्रतीत हो, हिसाब रखना चाहिए। करों से प्राप्त आय तथा सरकार से पारिवारिक क्षेत्र के हस्तांतरणों का अनुमान लगाकर परिवारों की प्रायोज्य आय प्राप्त की जा सकती है। तब पारिवारिक बचतें, बचत दरों की प्रवृत्तियों का अनुमान लगाकर प्राप्त की जा सकती हैं।

निजी क्षेत्र की बचतों का अनुमान अवित्तीय कंपनियों के संचालन-विश्लेषण के आधार पर एवं वित्तीय कंपनियों की पिछली प्रवृत्तियों के आधार पर अलग से लगाया जा सकता है।

वित्तीय योजना का सार यह सुनिश्चित करना है कि माँग और पूर्ति का इस ढंग से मिलान किया जाए कि अर्थव्यवस्था में कीमतों के ढांचे में कोई प्रमुख और अनियोजित परिवर्तन किए बिना भौतिक उत्पादन के सामर्थ्य का पूरा-पूरा उपयोग हो सके।

9.2.1 संसाधन संग्रह के साधन (Instruments)

सरकार के पास जो वित्तीय संसाधन उपलब्ध होते हैं उन्हें मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

क) देशीय बजटीय संसाधन

ख) विदेशी सहायता, और

ग) घाटा वित्तीयन

क) **देशीय बजटीय संसाधन** : देशीय बजटीय संसाधनों में वे स्रोत आते हैं। जिन्हें सरकार देश में ही एकत्रित करती है। ये निम्नलिखित हैं :

1) वर्तमान राजस्व का आधिक्य, अर्थात् वर्तमान व्यय से वर्तमान राजस्व की अधिकता;

2) सार्वजनिक उद्यमों का अंशदान,

3) बाजार से ऋण, अन्य बचत, भविष्य निधि आदि द्वारा आंतरिक बचतों का संग्रह।

4) सार्वजनिक उद्यमों को अतिरिक्त राजस्व और अतिरिक्त करों से अतिरिक्त संसाधनों का जुटाव।

ख) **विदेशी सहायता** : इसमें विदेशी सरकारों से ऋण और अनुदान, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं यथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों आदि से ऋण तथा विश्व वित्तीय बाज़ारों से वाणिज्यिक उधार आदि शामिल होते हैं।

ग) **घाटा वित्तीयन** : अगर आंतरिक बजटीय संसाधन और विदेशी सहायता विकास योजनाओं की वित्त-व्यवस्था में अपर्याप्त सिद्ध होती है तो सरकार उपलब्ध संसाधनों और योजनाओं के लिए अपेक्षित व्यय के बीच के अंतराल को करने के लिए घाटा वित्तीयन की व्यवस्था भारतीय रिजर्व बैंक से उधार लेकर या संग्रहित नकद कोष मुद्रा निकाल कर करती है।

निजी क्षेत्र में वित्त के साधन : निजी क्षेत्र में व्यक्तियों और कंपनियों की बचतें सीधे या वित्तीय प्रणाली द्वारा उपलब्ध होती हैं। निजी क्षेत्र भी सार्वजनिक क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं यथा भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (आई.एफ.सी.आई), राज्य वित्त निगम (एम.एफ.सी), भारतीय औद्योगिक ऋण और निवेश निगम (आई.सी.आई.सी.आई), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (आई.डी.बी आई) आदि से निधियां प्राप्त कर सकता है, यह शेयर (shares) और ऋणपत्र बेचकर बाज़ार से भी निधियां जमा कर सकता हैं; यह राज्य से अनुदान और सहायता के रूप में विधियों को पा सकता है और अंत में यह ईक्विटी (equity) पूंजी या विदेशी सहयोग द्वारा या प्रवासी भारतीयों (एन.आर.आई.एस) द्वारा ईक्विटी शेयर में योगदान या अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम आदि से विदेशी पूंजी प्राप्त कर सकता है।

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था की आवश्यकताएं इतनी विशाल हैं कि संसाधनों की अपेक्षित राशि प्राप्त करने हेतु विभिन्न प्रकार के साधनों का दोहन करना पड़ता है। इन विभिन्न साधनों के अपने विशेष लक्षण भी होते हैं। संसाधनों के जुटाव के विभिन्न तरीकों की समीक्षा करना उपयोगी और रोचक होगा।

9.2.2 कराधान

विकास के लिए संसाधनों के जुटाव में कराधान अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वर्द्धमान-आय (incremental income) से बचत प्राप्त करने का यह एक प्रभावी तरीका है। कराधान अतिरिक्त आय का वितरण या उपभोग होने से पहले उसके कुछ हिस्से को फिर से विकास कार्य में लगाता है। साथ ही कराधान द्वारा विकास कार्य के लिए अधिक से अधिक लोगों का योगदान प्राप्त किया जा सकता है।

उच्च आय वाले वर्गों के लिए प्रगतिशील ढांचे वाले प्रत्यक्ष कर आमतौर से प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। इसके बाद उत्पाद-शुल्क, बिक्री कर, मूल्य वृद्धि कर आदि अप्रत्यक्ष करों की सीमा के अंतर्गत बहुत से ऐसे लोग भी आ जाते हैं जो किसी प्रकार के प्रत्यक्ष कर नहीं देते। संसाधनों का जुटाव करने के लिए गरीबों के उपभोग में आने वाली आवश्यक चीजों पर कर न लगाकर जरूरी उपभोग में न आने वाली वस्तुओं पर कर लगाना, कराधान का एक प्रभावशाली तरीका है क्योंकि अप्रत्यक्ष करों से कीमतें बढ़ती हैं। इसके अतिरिक्त कराधान विकास के बोझ को समाज के विभिन्न वर्गों के बीच उनकी अदा करने की क्षमता के अनुसार वितरित कर देता है।

अंततोगत्वा, कराधान सरकार के पास एक ऐसा-बेजोड़ साधन है जिसका उपयोग कुछ निश्चित वितरक लक्ष्यों (distributive goals) को प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है। इस उपकरण का विवेकपूर्ण ढंग से इस तरह समायोजन किया जा सकता है जिससे कर राजस्व का आकार परिवर्तित राष्ट्रीय आय और उसके वितरण के अनुरूप हो जाए। विभिन्न प्रकार के करों के उचित संयोजन द्वारा इच्छित स्तर का राजस्व प्राप्त किया जा सकता है और आय व उपभोग के बीच की असमानताओं को कम करने के उद्देश्य को भी प्रभावित किया जा सकता है। चूंकि प्रत्यक्ष कर करदाता की प्रयोज्य आय को कम करते हैं इसलिए इस तरीके से सरकार लोगों की बाज़ार मांग को नियंत्रित कर सकती हैं और विकास के लिए संसाधन प्राप्त कर सकती है। एक गरीब देश में गैर जरूरी उपभोग पर व्यक्तिगत कर लगाकर संसाधनों का बेकार का विनियोजन रोका जा सकता है।

कराधान की बुनियादी बाध्यता यह है कि ऐसे कर कदापि न लगाए जाएं जो लोगों की अदा करने की क्षमता से अधिक हों। एक सीमा से आगे ये लोगों की काम करने, बचाने और निवेश करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इसलिए, लोगों को उनकी क्षमता से अधिक अदा करने के लिए बाध्य करने से उसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, जिससे कर राजस्व घटता है और कर-चोरी को प्रोत्साहन मिलता है। एक योग्य और चतुर वित्तमंत्री देश की राजनीतिक वास्तविकताओं और प्रशासन के सामर्थ्य को भी ध्यान में रखता है।

9.2.3 सार्वजनिक ऋण

योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए संसाधनों का जुटाव करने वाले तरीकों में सार्वजनिक ऋण एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। एक निश्चित सीमा से आगे कर लगाना उचित नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि विकास के लिए संसाधनों का जुटाव करने में कराधान के साथ-साथ सार्वजनिक ऋणों का भी उपयोग किया जाए। कराधान का अर्थ होता है आय से सीधी कटौती जबकि सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज देना पड़ता है और मूल रकम की वापसी किसी नियत समय-अवधि में करनी होती है। इसलिए लोग आमतौर पर सार्वजनिक ऋण को ही पसंद करते है जो लगभग ऐच्छिक होता है। इस प्रकार सार्वजनिक ऋण कराधान से कुछ बेहतर है और वह अधिक लोकप्रिय भी है। हालांकि सार्वजनिक ऋणों को ब्याज सहित लौटाना पड़ता है लेकिन इस प्रकार जुटाये गये संसाधनों के उपयोग से जो आय बढ़ती है उससे ब्याज का भुगतान किया जा सकता है। मूल राशि भी वापस की जा सकती है। विकास के लिए निजी बचतों को जुटाने के लिए सार्वजनिक ऋण एक प्रभावी साधन है। सार्वजनिक ऋण उत्पादन कार्य के लिए देश की कुल बचत को बढ़ाते हैं क्योंकि आमतौर पर लोगों का वर्तमान सरकार पर विश्वास होता है और वे सोचते हैं कि उनकी गाढ़ी कमाई और उस पर मिलने वाला ब्याज सरकार के हाथों में सुरक्षित है। सार्वजनिक कर्जों की समुचित व्यवस्था करके उन्हें अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है। और यह विकास के लिए संसाधनों को जुटाने के लिए एक प्रभावशाली तरीका सिद्ध हो सकता है। अर्थव्यवस्था के विकास व उसकी विकास दर में वृद्धि के साथ-साथ लोगों की आय भी बढ़ती जाती है और इससे उनकी बचत करने की क्षमता और उसे बचत योजनाओं में लगाने की सामर्थ्य भी बढ़ती है। हमारे देश की वर्तमान अवस्था में यह जरूरी है कि अल्प बचतों की ओर विशेष ध्यान दिया जाए। इस प्रकार की वित्तीय व्यवस्था लोगों को मितव्ययी होने के लिए प्रोत्साहित करती है, उनके उपयोग को सीमित करती है और कीमतों को नियंत्रित करने के लिए उपयोगी हो सकती है। यह आय के वितरण को सुधार सकती है। यह लोगों में इस प्रकार की भावना उत्पन्न करती है कि वे देश के विकास कार्यक्रम में भाग ले रहे हैं। यह ठीक है कि इसके लिए हर व्यक्ति से मिलने वाली राशि बहुत छोटी होगी लेकिन कुल मिलाकर वह बहुत बड़ी हो जाएगी।

9.2.4 सार्वजनिक उद्यमों का आधिक्य (Surplus)

विकास कार्यक्रमों के लिए संसाधनों का जुटाव करने में सार्वजनिक उद्यमों का आधिक्य भी महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। सरकारी उद्यम सरकारी राजस्व का बढ़ता हुआ और संभावित महत्वपूर्ण साधन है।

आयोजित विकास के पूरे चार दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र की तीव्र गति से वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप, अर्थव्यवस्था में अब इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसके क्रिया कलापों का फैलाव सिर्फ निर्माण क्षेत्र में ही नहीं हुआ है बल्कि व्यापार और अन्य क्षेत्र भी इसके अंतर्गत आते हैं। इसके अंतर्गत केंद्र, राज्य और स्थानीय सरकारों के अधीन उद्योग सम्मिलित हैं। वे इकाइयां जो पूरी तरह से केंद्र सरकार के अधीन हैं वे अर्थव्यवस्था को विकास के वांछित लक्ष्य और स्वरूप के अनुरूप आगे ले जाने में महत्वपूर्ण उपकरण सिद्ध हुई हैं। इनमें विनिर्माण और सेवाएं आती हैं

जिनके अंतर्गत बुनियादी और पूंजीगत माल वाले उद्योग यथा स्टील, रासायनिक पदार्थ, खनिज और धातुएं, पेट्रोल और बैंक तथा बीमा जैसी सेवाएं बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनकी संख्या जो 1950-51 में सिर्फ 5 थी वह अब 221 हो गई है और इन पर होने वाला निवेश जो 1950-51 में सिर्फ 29 करोड़ रु. था, वह बढ़कर 1984-85 में 42 हजार करोड़ रुपये हो गया। सार्वजनिक क्षेत्र की सबसे बड़ी देन अर्थव्यवस्था में पूंजी निर्माण की दर को बढ़ाने में रही है। सभी पंचवर्षीय योजनाओं में निवेश का एक बहुत बड़ा भाग सार्वजनिक क्षेत्र में हुआ है जिसकी पुष्टि नीचे दी गई तालिका से होती है।

तालिका 9.1 योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश
(करोड़ों रुपयों में)

	सार्वजनिक क्षेत्र	कुल	कुल का प्रतिशत
पहली पंचवर्षीय योजना वास्तविक	1560	3360	46.4
दूसरी ,, ,, ,,	3731	6831	54.6
तीसरी ,, ,, ,,	7180	11280	63.7
चौथी ,, ,, प्राक्कलित	13655	22637	60.3
पांचवी ,, ,, ,,	36703	63751	57.6
छठी ,, ,, ,,	84000	158710	52.9
सातवीं ,, ,, लक्ष्य	154218	322366	47.8

सार्वजनिक क्षेत्र की अपनी अनेक उपलब्धियां हैं। अर्थव्यवस्था को इच्छित दिशा की ओर ले जाने और उसका मार्ग दर्शन करने का यह एक प्रभावशाली उपकरण रहा है। यह अर्थव्यवस्था के पूंजी आधार का निर्माण और फैलाव करता रहा है, अपने निजी संसाधनों का प्रयोग करके तकनीकी प्रतियोगितात्मक क्षमता को उन्नत करता रहा है और इस प्रकार योजना के सभी उद्देश्यों यथा स्वयं-पोषण, (self-reliance), रोज़गार को बढ़ाने तथा सामाजिक न्याय को प्राप्त करने में योगदान करता रहा है।

किंतु यह जरूरी है कि ये सार्वजनिक उद्यम अपने विकास व्यय का भार स्वयं वहन करें। इन उद्यमों को अपनी कुशलता और उत्पादिता को बढ़ाना चाहिए। अब समय आ गया है जबकि पिछले चार दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र में बड़ी मात्रा में हुआ निवेश अब देश के निवेश संसाधनों में योगदान दे। रेलवे को छोड़कर दूसरे सार्वजनिक उद्यमों ने तीसरी पंचवर्षीय योजना में पहली बार निवेश संसाधनों में योगदान किया। लेकिन तीसरी और चौथी दोनों ही योजनाओं में इनसे जो भी संसाधन उपलब्ध हुए वे योजनाओं में अपेक्षित संसाधन की तुलना में बहुत कम रहे। यहां तक कि पांचवीं योजना में भी सार्वजनिक उद्यमों का योगदान काफी कम रहा। सार्वजनिक उद्यम पर्याप्त मात्रा में संसाधनों को जुटाने में असफल रहे और दूसरी ओर लोहा, इस्पात, उर्वरक और कुछ अन्य उद्योग उत्पादन बढ़ाने में असफल रहे क्योंकि मजदूरी की दरों, कच्चे माल व पूंजी उपस्करों की लागत में लगातार वृद्धि होती रही। निर्मित माल की कीमत कम रखी गई है, स्टाक में जरूरत से ज्यादा वृद्धि, अप्रयुक्त क्षमता तथा श्रमिक विवादों के कारण ऐसा हुआ। पिछले दो दशकों में बहुत से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में अप्रयुक्त क्षमता में वृद्धि हुई है। जहां तक प्रबंधात्मक कुशलता का संबंध है उसके बारे में प्रशासनिक सुधार समिति द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का अध्ययन करने हेतु जो दल गया था, उसने उनके संगठन और क्रार्मिक प्रबंध (personnel management) में कमियां बताई हैं। इनमें से कुछ समस्याओं का समाधान छठी योजना में हो गया और सरकारी उद्यमों ने सार्वजनिक क्षेत्र की योजना हेतु लगभग 16.8 प्रतिशत का योगदान किया।

हाल में केंद्रीय सार्वजनिक उद्यमों के निष्पादन में काफी महत्वपूर्ण सुधार हुए हैं। उन्होंने 1988-89 में 3025 करोड़ रुपयों का शुद्ध लाभ कमाया है जबकि उसमें पिछले वर्ष वह 2183 करोड़ रुपये ही था। इस प्रकार इसमें लगभग 39 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे पहले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का कुल लाभ कभी इतना नहीं हुआ। दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि लाभ अर्जित करने वाले उद्यमों की संख्या बढ़ती जा रही है जबकि हानि उठाने वाले उद्यमों की संख्या घटती जा रही है। 1988-89 में लाभ अर्जित करने वाले उद्यमों की संख्या 120 हो गई जबकि पिछले वर्ष वह 115 थी। 1988-89 में हानि उठाने वाले उद्यमों की संख्या घटकर 94 रह गई जबकि वह 1987-88 में 102 थी।

लाभ अर्जित करने वाले उद्यमों से 1987-88 की तुलना में 1988-89 में 1155.75 करोड़ रुपयों का अधिक शुद्ध लाभ हुआ जो 29.6 प्रतिशत अधिक था। कच्चे तेल के अलावा अन्य क्षेत्रों का

शुद्ध लाभ 1987-88 की तुलना में 1988-89 में 524.71 करोड़ रुपए बढ़ गया। इस्पात, खनिज और धातुएं, परिवहन सेवाएं और कृषि पर आधारित क्षेत्रों ने भी 1988-89 में लाभ कमाया है जबकि 1987-88 में इन क्षेत्रों से हानि हुई थी। कच्चा तेल, शक्ति, दूर संचार सेवा और भारी इंजीनियरिंग क्षेत्रों में भी लाभ और अधिक बढ़ा है। किंतु कच्चे तेल के क्षेत्र में कीमतों में भारी वृद्धि करके लाभ दिखाया गया है जबकि सारी दुनिया में तेल की कीमतें गिरी हैं।

बोध प्रश्न 1

1 आंतरिक बजटीय संसाधनों के चार स्रोत कौन-कौन से हैं? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

2 कराधान के प्रमुख कार्य क्या हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.3 घाटा वित्तीयन

घाटा वित्तीयन के द्वारा सरकार के लिए यह संभव है कि वे अपने वर्तमान राजस्व से अधिक व्यय कर सके। यह तभी संभव होता है जबकि वह सार्वजनिक ऋण के अलावा अतिरिक्त मुद्रा का निर्गम करे।

9.3.1 घाटे के घटक

भारत में घाटा वित्तीयन का संबंध चालू और पूंजी खातों को मिलाकर कुल सरकारी आय की तुलना में कुल सरकारी व्यय के आधिक्य से है। केन्द्र सरकार का घाटा भारतीय रिजर्व बैंक को ट्रेजरी बिल बेचकर और वहां से नकद शेष (cash balances) निकालकर पूरा किया जाता है जबकि राज्य सरकारों का घाटा नकद-शेष निकालकर, अर्थोपाय ऋण (ways and means advances) और भारतीय रिजर्व बैंक से ओवरड्राफ्ट करके पूरा किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि केन्द्र सरकार के कुल बजटीय घाटे को पूरा करने की महत्वपूर्ण मद ट्रेजरी बिलों की बिक्री है। राज्य सरकारें आमतौर पर अर्थोपाय ऋण तथा भारतीय रिजर्व बैंक से ओवरड्राफ्ट करके अपना घाटा पूरा करती हैं।

घाटा वित्तीयन के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल पूर्ति बढ़ जाती है जिससे अक्सर कीमतें बढ़ जाती हैं। इसलिए घाटा वित्तीयन को वित्तीय व्यवस्था की मुद्रा स्फीति कारक प्रणाली कहा जाता है। जब मुद्रास्फीति का दवाब एक सीमा से आगे पहुंच जाता है तो अर्थव्यवस्था को भारी क्षति होती है। मुद्रास्फीति के परिणामस्वरूप संसाधन अनिश्चित मार्गों की ओर जाने लगते हैं; बचत की क्षमता नष्ट होने लगती है; सट्टे द्वारा लाभ कमाने और काला बाज़ारी जैसे दुर्गण बढ़ जाते हैं, भुगतान संतुलन प्रतिकूल बनता है और आय की असमानताएं बढ़ती हैं। इस प्रकार बहुसंख्यक लोगों के रहन-सहन के स्तर पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पढ़ता है और विकास का लाभ गरीबों तक पहुंचने में रुकावट आती है।

9.3.2 घाटा वित्तीयन एक दवा है न कि दैनिक खुराक

घाटा वित्तीयन ऐसी स्थिति में एक स्वस्थ अवस्फीति सुधारात्मक तरीका साबित हो सकता है जबकि देश की अर्थव्यवस्था में मंदी और अवस्फीति की स्थिति हो, प्रभावी मांग की कमी हो तथा अप्रयुक्त क्षमता मौजूद हो। यह अल्पविकसित और विकासशील देशों की विकास की वित्तीय

व्यवस्था करने में भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है यदि वहां पर विकास के लिए बढ़े हुए व्यय को पूरा करने की समस्या हो, साथ ही श्रमिकों के उपभोग वस्तुओं की पूर्ति बहुत प्रतिबंधित न हो और कराधान, बचतें और सार्वजनिक उद्यमों से प्राप्त होने वाले लाभ पर्याप्त न हों। भारतीय अर्थव्यवस्था इस प्रकार का एक विशिष्ट उदाहरण है। इस बात का ध्यान रखा जाए कि अंततः निवेश की व्यवस्था बचतों में की जाए और बचत के बराबर हो। लेकिन आर्थिक विकास में यह समानता दीर्घकालीन आवश्यक उत्पादन क्षमता के निर्माण में ही देखी जा सकती है न कि अल्प काल में एक पूर्व शर्त के रूप में। इस प्रकार घाटा वित्तीयन आर्थिक विकास की पूर्व वित्तीय व्यवस्था मानी जा सकती है और उसे देश के निवासियों की संभाव्य बचतों से अग्रिम ऋण कहा जा सकता है। किंतु यह जरूरी है कि घाटा वित्तीयन की राशि बड़ी सावधानी से और ठीक समय पर उपयोग की जाए। इसके साथ ही घाटा वित्तीयन को राजकोषीय और मुद्रा नीतियों का सहयोग दिया जाए और जरूरी चीजों के वितरण और उनकी कीमतों पर नियंत्रण रखा जाए ताकि मुद्रा स्फीति से उत्पन्न बाध्य बचतों का बोझ उच्च आय वर्ग पर अर्थात् उन पर पड़े जो उसे सहन कर सकें। मुद्रा स्फीति के कारण कीमतों में वृद्धि होती है इसमें उपभोग कम हो जाता है। और इस प्रकार बचत हो जाती है।

हमें युद्ध के समय की गई मुद्रा स्फीति, उपयोग के लिए की गई मुद्रा स्फीति और आर्थिक विकास के लिए घाटा वित्तीयन हेतु की गई मुद्रा स्फीति के अंतरों को ठीक से समझ लेना चाहिए। अगर घाटा वित्तीयन का प्रयोग युद्ध के खर्चों को पूरा करने के लिए किया जाता है या सिर्फ उपभोग की जरूरतें पूरा करने के लिए किया जाता है तो उससे न तो उत्पादन क्षमता बढ़ती है और न ही उत्पादन बढ़ता है। इस स्थिति में यह प्रबल मुद्रा स्फीति का रूप ले लेता है जैसा कि (1914-1918) के प्रथम विश्व युद्ध और (1939-45) के द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कुछ देशों में हुआ था। किंतु घाटा वित्तीयन का प्रयोग सूझ-बूझ के साथ विकास कार्यक्रमों हेतु वित्तीय व्यवस्था के लिए संसाधन जुटाने के लिए किया जा सकता है जिससे उत्पादन क्षमता बढ़ती है और उत्पादन, रोज़गार एवं आय की वृद्धि में सहयोग मिलता है। किंतु मध्यवर्ती अवधि में कीमतों में कुछ वृद्धि हो सकती है जिसके फलस्वरूप स्फीति कारक प्रवृत्तियों का अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। कुछ अर्थशास्त्री कीमतों की इस वृद्धि को आर्थिक विकास की जरूरी लागत मानते हैं बशर्ते कि वह नियंत्रण के बाहर न हो जैसा कि लैटिन अमरीकी देशों में अक्सर हुआ है। वहां कीमतें बेलगाम बढ़ी हैं।

9.4 विदेशी सहायता

"विदेशी सहायता" शब्द पूंजी के उस हस्तांतरण को बताता है जो एक देश से दूसरे देश को रियायती शर्तों पर होता है अर्थात् उन शर्तों पर होता है जो दुनिया के पूंजी और तकनीक के बाजार में उस समय की प्रचलित शर्तों से अधिक सुविधाजनक होती हैं। अल्प विकसित देशों के आर्थिक विकास में आंतरिक संसाधन अक्सर उसकी तेजी से वृद्धि की जरूरतों को पूरा करने के लिए अपर्याप्त होते हैं। अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाएं अक्सर अल्प विकास के दुष्चक्र में फंस जाती हैं जैसा कि हम ई.ई.सी-1 के खंड 9 में पढ़ चुके हैं। इससे बचने के उद्देश्य से निवेश हेतु पर्याप्त संसाधनों को जुटाना आवश्यक होता है। इसलिए देशीय संसाधनों की कमी को विदेशी सहायता द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। अल्फ्रेड मार्शल ने "अर्थशास्त्र के सिद्धांत" में लिखा है कि अगर कोई समुदाय स्वयं पूंजी नहीं जुटा सकता तो उसे पूंजी या तो ऋण के रूप में अथवा उपहार के तौर पर प्राप्त करनी चाहिए। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के आर्थिक विकास की योजनाओं के लिए बहुत बड़े निवेश व्यय की जरूरत होती है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की तीव्र गति से वृद्धि और विकास के लिए जितने निवेश की आवश्यकता होती है उसके लिए आंतरिक साधन कम पडते हैं इसलिए विदेशी सहायता जरूरी हो जाती है। नीचे दिया गया समीकरण आवश्यक विदेशी संसाधनों की मात्रा बताता है :

$$F_A = \Delta_I - \Delta_S$$

जबकि एफए (F_A) विदेशी सहायता की राशि बताता है, डीआई (D_I) उस आंतरिक निवेश को बताता है जिसकी विकास के लिए आवश्यकता है और डीएस (D_S) उस आंतरिक बचत को बताता है जो कि उपलब्ध है। इस प्रकार, देशीय बचत पर्याप्त न होने पर आर्थिक विकास की गति को तेज करने के लिए विदेशी सहायता का अंतर्वाह अपरिहार्य है। इस प्रकार के विदेशी संसाधन योजना के लक्ष्य से मेल खाते हैं और उन्हें "शोषण का इंजन" नहीं माना जाता। यह अंतर्राष्ट्रीय जागृति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है कि गरीबी वह चाहे जहां भी हो संपन्नता के लिए खतरा है और संपन्नता वह चाहे जहां भी हो उसका बंटवारा सब जगह होना चाहिए।

किंतु यह ध्यान रखा जाए कि आर्थिक प्रगति के लिए पहले राष्ट्रीय स्तर पर प्रयत्न होने चाहिए। विदेशी सहायता की भूमिका इसके लिए केवल एक उत्प्रेरक है और इसकें अलावा कुछ नहीं। विदेशों से उधार ली गई पूंजी से तब तक कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सकता जब तक कि उसका उचित उपयोग करने के लिए प्राप्तकर्त्ता देश द्वारा समान प्रयत्न नहीं किए जाते। प्रोफेसर नर्कसे ने सही कहा है कि, "पूंजी का निर्माण घर में होता है।" विदेशी सहायता का अंतिम उद्देश्य विकास को स्वयं-पोषित बनाना होना चाहिए। इसका अर्थ होता है कि देश को तेजी से लगातार आर्थिक वृद्धि अनुकूल निवेश की स्थिति, उच्च तकनीक द्वारा आंतरिक उत्पादन को अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा के योग्य बनाने और उसमें रखरखाव एवं बढ़ते हुए आयात की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्याप्त मात्रा में निर्यात की कमाई करने की ओर बढ़ना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1 केन्द्र सरकार का घाटा कैसे पूरा किया जाता है? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

2 घाटा वित्तीयन अपनाते समय क्या सावधानियां बरतनी चाहिए? (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

3 यह बताइए कि नीचे लिखी बातें सच (स) हैं या गलत (ग)

क) घाटा वित्तीयन वित्तीय व्यवस्था का एक स्फीति कारक तरीका है।

ख) भारी घाटा एक सुधारात्मक तरीका है, जबकि अनाजों की कीमतें तेजी से न बढ़ रही हों।

ग) एक ऐसी अर्थव्यवस्था में जिसमें भारी मात्रा में बेकारी हो उसमें घाटा वित्तीयन को वित्तीय संसाधनों का स्थायी स्रोत माना जाना चाहिए।

9.5 सार्वजनिक क्षेत्र के संसाधन

"सार्वजनिक उद्यम" शब्द के अंतर्गत वे सभी उपक्रम आ जाते हैं जो कि या तो स्वयं सरकार की अपनी किसी शाखा द्वारा निदेशित होते हैं अथवा सरकार द्वारा बनाए गए किसी निकाय के निदेशन में रहते हैं जो उपक्रम का सार्वजनिक हित में काम करने का निर्देश देते रहते हैं। इस प्रकार यह एक ऐसा उद्यम होता है जिसमें निजी स्वामित्व नहीं रहता, इसके कार्य सिर्फ लाभ को अधिकतम बनाने या उद्यम के निजी हितों को बढ़ाने तक ही सीमित नहीं रहते बल्कि वे सार्वजनिक या सामाजिक हित से नियंत्रित रहते हैं, जबकि उसका प्रबंधक वर्ग सरकार और विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी होता है।

9.5.1 सार्वजनिक उद्यम के पक्ष में तर्क

भारत में सार्वजनिक उद्यमों के पक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं। पहला, कुछ उद्यमों में प्रत्यक्ष लागतों की तुलना में अप्रत्यक्ष लागतें बहुत अधिक होती हैं। ऐसे उद्यमों में ऊपरी व्यय एक बहुत बड़ा हिस्सा होता है। ये ऐसे उपक्रम होते हैं जिन्हें स्थापित करने के लिए बहुत अधिक व्यय की आवश्यकता होती है। रेलवे और बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजनाएं इस श्रेणी के अंतर्गत आती हैं। इस प्रकार की कुछ परियोजनाओं जैसे – ताप बिजली संयंत्र (थर्मल पावल प्लांट) में परिपक्व काल बहुत लंबा होता है। ये परियोजनाएं आर्थिक संवृद्धि और विकास को तेजी से आगे बढ़ाने के लिए बहुत जरूरी होती हैं और निजी क्षेत्र शुरू-शुरू में इस प्रकार की परियोजनाओं को अपने हाथ में लेने के लिए आगे नहीं आ पाता क्योंकि उनके लिए बहुत बड़े निवेश की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक क्षेत्र अपने विस्तृत संसाधनों से इस प्रकार की परियोजनाओं के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। सार्वजनिक निवेश का उद्देश्य सिर्फ विकास को ही आगे बढ़ाना नहीं होता अपितु एक नया सामाजिक ढांचा और नई संस्थाएं बनाना भी होता है जो

कि एक नया उद्दीपन ला सके। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह तर्क है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों और सामरिक बिंदुओं पर हो ताकि अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के कार्यों को सरकारी नीति के अनुसार सामाजिक हित के अनुरूप चलाने में इनका उपयोग किया जा सके।

भारत में, कुछ सार्वजनिक उद्यमों का प्रारंभ सार्वजनिक हित में हुआ है और उनके मूल्यांकन की कसौटी "सामाजिक लागत-लाभ विश्लेषण" है। सार्वजनिक क्षेत्र के ये उद्यम संतुलित क्षेत्रीय विकास में भी सहायता कर सकते हैं। भारत में योजना का एक उद्देश्य देश के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक विकास की असमानताओं को दूर करना रहा है। इसीलिए बहुत से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम देश के ऐसे क्षेत्रों में लगाए गए हैं जो अपेक्षाकृत पिछड़े हुए हैं। इसके अलावा सार्वजनिक क्षेत्र की वित्तीय संस्थाएं निजी क्षेत्र को रियायती दर पर वित्तीय सहायता देती हैं ताकि वे देश के पिछड़े क्षेत्रों में उत्पादक उद्यमों की शुरुआत कर सकें।

इसके अतिरिक्त सार्वजनिक उद्यम आय और संपत्ति की असमानताओं और आर्थिक शक्ति के असमान वितरण को कम करने में सहायता कर सकते हैं। भारत में, जहां तीव्र गति से आर्थिक संवृद्धि और विकास की प्रक्रिया में निवेशात्मक संसाधनों की अपर्याप्तता के कारण अवरोध आ जाता है वहां आर्थिक आधिक्य पैदा करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को स्थापित करने का एक बहुत बड़ा औचित्य है। राजस्व के आधिक्य का कुछ भाग फिर से इन्हीं उद्यमों में निवेश किया जा सकता है ताकि इन उद्यमों की उत्पादन क्षमता बढ़े और उसका शेष भाग सरकार के साधारण राजस्व में दिया जा सकता है जिससे उनका अन्य क्षेत्रों में निवेश हो सके। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सामाजिक रूपांतरण करने में भी एक उपकरण का काम कर सकते हैं.

9.5.2 सार्वजनिक उद्यमों का विकास

आजादी से पहले के समय में सार्वजनिक उद्यम परिवहन और संचार (यथा रेलवे, पोर्ट ट्रस्ट, डाक, तार और टैलीफोन दूर संचार, प्रसारण आदि) एवं थोड़े से विभागीय कारखानों तक ही सीमित थे। किंतु 1948 और 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव और 1951 से भारत में आर्थिक नियोजन की शुरूआत के साथ सार्वजनिक उद्यमों की संवृद्धि और विकास बहुत तेजी से हुए। विभागीय उद्यमों के अलावा गैर विभागीय उद्यमों की संख्या भी 700 से अधिक है। केन्द्र सरकार के गैर विभागीय औद्योगिक और वाणिज्यिक उपक्रमों में जिनकी संख्या 233 है, उनमें कुल मिलाकर 50,000 करोड़ रुपये से अधिक का निवेश किया गया है। केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की संख्या और उन पर किया गया निवेश 1951 से लगातार तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है जिसे निम्नलिखित तालिका में दिया जा रहा है:

तालिका 9.2 केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश की संवृद्धि
(गैर विभागीय)

अवधि	उद्यमों की संख्या	कुल निवेश (करोड़ रुपयों में)
1 पहली पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1951)	5	29
2 दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1956)	21	81
3 तीसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1961)	48	953
4 तीन वार्षिक योजनाओं के प्रारंभ के समय (1-4-1966)	74	2415
5 चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1969)	85	3902
6 पांचवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1974)	122	6237
7 छठी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1980)	186	8225
8 सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के समय (1-4-1985)	233	42811

9.6 योजना-वित्त के स्रोत

ये निवेश योजना-वित्त से किए गए हैं। योजनाओं के लिए वित्त के महत्वपूर्ण स्रोतों की मुख्य प्रवृत्तियों की जांच करना उपयोगी होगा।

तालिका 9.3 : सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय की वित्तिय व्यवस्था
(करोड़ रुपयों में)

	स्रोत	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	वार्षिक योजनाएँ	चौथी योजना	पांचवी योजना	छठी योजना	सावतीं योजना
1.	वर्तमान राजस्व शेष*	637 (33)	11 (0.2)	–419 (–4.9)	346 (5.2)	–236 (–1.5)	6636 (16.3)	1893 (1.7)	(–)5249 (–)2.9
2.	रेलवे का योगदान	115 (6)	167 (3.6)	62 (0.6)	115 (1.6)	–165 (1.0)	2583 (6.3)	5870 (5.2)	4225 (2.4)
3.	राज्य उद्यमों का आधिक्य	—	***	373 (4.3)	513 (7.7)	1300 (8.0)		18634 (16.9)	31260 (17.3)
4.	जनता से कर्ज़	204 (10)	756 (16.1)	823 (9.6)	725 (10.9)	3145 (19.4)	7443 (18.3)	24702 (22.3)	35201 (19.5)
5.	अल्प बचतें	243 (13)	422 (9.0)	565 (6.6)	355 (5.3)	1162 (7.2)	2132 (5.2)	9912 (9.0)	17916 (10.0)
6.	अतिरिक्त संसाधन संग्रह	—	1052 (22.5)	2892 (33.6)	908 (13.7)	4250 (26.5)	10300 (25.3)	32970 (29.7)	44702 (24.8)
7.	दूसरे संसाधन**	239 (12)	261 (5.6)	725	810 (12.2)	2527 (15.6)	2849 (7.0)	11321 (10.2)	1.9945 (11.1)
8.	घाटा वित्तीयन	333 (17)	954 (20.4)	1133 (13.2)	676 (10.2)	2060 (12.8)	3560 (8.8)	15684 (14.1)	14000 (7.7)
9.	विदेशी सहायता	189 (9.6)	1049 (22.5)	2423 (28.3)	2410 (36.4)	2087 (12.9)	5209 (12.8)	8529 (7.7)	18000 (10.0)
	कुल	1960	4672	8577	6628	16160	40712	110821	180000

* वर्तमान राजस्व से आधिक्य में अतिरिक्त कराधान भी शामिल रहता है।

** अनिधिक ऋण और फुटकर पूँजी प्राप्तियाँ

*** वर्तमान राजस्व शेष और दूसरे संसाधनों के अंतर्गत शामिल।
(कोष्ठक के अंदर की संख्या प्रतिशत बताती है)

स्रोत: योजना के विभिन्न दस्तावेज

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि पहली पंचवर्षीय योजना में जबकि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय का स्तर 1960 करोड़ रुपये था उस समय घाटा वित्तीयन सहित आंतरिक वित्त व्यवस्था 90.4 प्रतिशत की सीमा तक पहुंची थी। शेष 9.6 प्रतिशत विदेशी सहायता द्वारा पूरा किया गया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान (1956-61) 4672 करोड़ के व्यय की वित्त व्यवस्था करने के लिए भारत को 22.5 प्रतिशत राशि विदेशी सहायता से जुटानी पड़ी और इसके बावजूद भी 20.4 प्रतिशत राशि के लिए घाटा वित्तीयन का सहारा लेना पड़ा। दूसरी योजना में भारी उद्योगों की स्थापना के लिए मशीनें और अन्य साज-समान के आयात की बहुत जरूरत थी। यह जरूरत तो पूरी योजना के दौरान बनी रही। इसके साथ ही विकास को कायम रखने के लिए रख-रखाव की तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात की आवश्यकता भी थी। इसके अलावा अनाज और कच्चे माल का भी आयात किया गया। इस कारण तीसरी योजना में 8577 रुपयों के कुल व्यय में विदेशी सहायता की सीमा बढ़कर 28.3 प्रतिशत तक पहुंच गई। तीन वार्षिक योजनाओं के दौरान (1966-69) 6828 करोड़ रुपयों के कुल वित्तीय व्यय में विदेशी सहायता की राशि बढ़कर 36.4 प्रतिशत हो गई। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि वार्षिक योजनाओं के अंत तक तो विदेशी सहायता की राशि में पर्याप्त वृद्धि होती रही लेकिन वृद्धि का यह स्तर चौथी और पांचवी

योजनाओं में घटकर क्रमशः 12.9 प्रतिशत और 12.8 प्रतिशत रह गया। इसका यह अर्थ है कि पर्याप्त क्षमता बढ़ा देने के बाद विदेशी साधनों की निर्भरता घटती गई, आंतरिक संसाधनों पर निर्भरता बढ़ती गई। सातवीं योजना में विदेशी सहायता पर निर्भरता का अनुमान लगभग 10 प्रतिशत किया गया है। विभिन्न आंतरिक संसाधनों के योगदान की गहराई तक जाना हमारे लिए हितकर होगा। जहां तक कराधान के संसाधनों का प्रश्न है, उसकी प्रवृत्ति बढ़ती हुई नहीं है। यह सबसे अधिक तीसरी योजना में हुई थी जबकि इसका भाग कुल का एक तिहाई हो गया था। पहली योजना बहुत बड़ी योजना नहीं थी। उसके लिए जितने संसाधानों की आवश्यकता थी उसका 33 प्रतिशत चालू राजस्व शेष और अतिरिक्त संसाधनों से एकत्रित किए गए। उस समय संसाधनों की कोई समस्या नहीं थीं। अन्य अधिकतर योजनाओं में भी अतिरिक्त संसाधनों के जुटाव में काफी फेर बदल होता रहा। यह वार्षिक योजनाओं के दौरान 13.7 प्रतिशत था और छठी योजना में 29.7 प्रतिशत पहुंच गया और इस प्रकार विकास योजनाओं हेतु वित्त की उपलब्धता में अनिश्चितता की स्थिति बनी रही। इसके अतिरिक्त ही वर्तमान राजस्व शेष (अर्थात् तात्कालिक कर की दरों के आधार पर राजस्व का आधिक्य) की प्रवृत्ति भी संतोषजनक नहीं है। पहली योजना (जिसके अंकों में अतिरिक्त कर के प्रयत्न भी शामिल हैं) और पांचवीं योजना जब इस साधन से 16.3 प्रतिशत का योगदान मिला, के आलावा अन्य सभी योजनाओं से यह प्रकट होता है कि सरकारी उपभोग व्यय के लिए राजस्व की कमी की समस्या लगातार बनी रही क्योंकि यह तीसरी, चौथी और सातवीं योजनाओं में ऋणात्मक रहा।

इसके अलावा दूसरे साधन रेलवे सहित सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का आधिक्य (लाभ) जिनसे पर्याप्त योगदान मिलना चाहिए वे भी विकास योजनाओं हेतु उतनी राशि नहीं दे सके जितनी कि उनसे आशा की गई थी। हालांकि छठी और सातवीं योजनाओं में उनका योगदान काफी बढ़ गया। अल्प बचत योजनाओं ने भी विकास योजनाओं के लिए महत्वपूर्ण अतिरिक्त संसाधन जुटाए। इसका योगदान प्रतिशत का रूप पहली योजना में सबसे अधिक था क्योंकि उसमें यह कुल वित्तीय व्यय का 13 प्रतिशत रहा जबकि दूसरी और छठी योजनाओं में 9 प्रतिशत, तीसरी में 6.6 प्रतिशत, वार्षिक योजनाओं के दौरान 5.3 प्रतिशत, चौथी में 7.2 प्रतिशत, पांचवी में 5.2 प्रतिशत और सातवीं योजना में यह 10 प्रतिशत रहा। यद्यपि प्रतिशत के रूप में इसका हिस्सा घटता गया लेकिन अल्प बचतों की वास्तविक राशि जो पहली योजना में मात्र 243 करोड़ रुपये थी वह सातवीं योजना में बढ़कर 17,916 करोड़ रुपये हो गई।

दूसरे साधन जैसे वित्तीय संस्थाओं से आवधिक कर्जे, फुटकर पूंजी प्राप्तियां आदि से विभिन्न योजनाओं के लिए 5.6 प्रतिशत से 15.6 प्रतिशत तक का योगदान प्राप्त हुआ।

9.7 घाटे और कीमतें

घाटा वित्तीयन ने विकास वित्त के एक साधन के रूप में हमेशा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

9.7.1 पहली योजना

पहली योजना को घाटा वित्तीयन से 290 करोड़ रुपयों की राशि मिली जो उसके द्वारा किए गए कुल मूल व्यय का 14 प्रतिशत होती है। वास्तविक लेखों में (Actual accounts) यह राशि 333 करोड़ रुपये तक पहुंची है जो सार्वजनिक क्षेत्र में किए गए कुल व्यय का 17 प्रतिशत होती है। यह जान लेना रूचिकर होगा कि योजना के दौरान (1951-56) किए गए कुल घाटा वित्तीयन का लगभग 70 प्रतिशत भाग योजना के अंतिम दो वर्षों में हुआ। पहली योजना में प्रथम चार वर्षों के दौरान मुद्रा की पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुए और इसके विपरीत कीमतों के स्तर में गिरावट आई। यह स्थिति योजना के अंतिम वर्ष में बदल गई।

योजना के बाद के चरणों में जबकि योजना का व्यय काफी बढ़ गया तब घाटा वित्तीयन की राशि बहुत बढ़ा दी गई। ऐसा इसलिए हुआ है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के तीसरे वर्ष के अंत में सरकार ने यह महसूस किया कि बड़े पैमाने पर घाटा वित्तीयन से उत्पन्न स्फीतिकारक दबाव से डरने की जरूरत नहीं है। विदेशी विनिमय की स्थिति ऐसी थी जो इस विश्वास को जगाती थी कि घाटा वित्तीयन के फलस्वरूप होने वाली मौद्रिक आय की बढ़ोतरी को संभाला जा सकता है।

घाटा वित्तीयन की प्रभाव योजना के दौरान महसूस नहीं हुआ और कीमतों का स्तर लगातार गिरता रहा। इस विरोधाभास का एक उत्तर यह दिया जा सकता है कि आंतरिक बजट के घाटों

को आयात के उस आधिक्य से पूरा किया गया जिसका भुगतान लंदन में स्टर्लिंग की शेष राशि से किया गया। ये शेष राशि जो 1950-51 में 884 करोड़ रुपये थी वे 1955-56 में घटकर 746 करोड़ रुपये रह गई। दूसरी योजना अधिक महत्वाकांक्षी थी। पहली योजना के उत्साहपूर्ण अनुभव के आधार पर दूसरी योजना में घाटा वित्तीयन द्वारा 1200 करोड़ रुपये की राशि जुटाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया जो इतना अधिक था कि कुल वित्तीय व्यय का 25 प्रतिशत था।

9.7.2 दूसरी और तीसरी योजनाएं

दूसरी योजना के अंतर्गत (1956-61) घाटा वित्तीयन की राशि 954 करोड़ रुपये हो गई जो कुल व्यय का 20.4 प्रतिशत थी। घाटा वित्तीयन की राशि पहले दो वर्षों में खासतौर से ऊँची रही। इस बीच स्थिति में कुछ सुधार किया गया और 1960-61 में इस राशि में कुछ कमी आई। इस अवधि में मुद्रा की पूर्ति का झुकाव कुछ ऊपर की ओर रहा और उसमें औसतन 6 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हो गई। कीमत सुचकांक 1956-57 में बहुत अधिक ऊपर की ओर बढ़ गया। यहाँ इस बात की ओर ध्यान देना जरूरी है कि 1955-56 के दौरान 157 करोड़ रुपये के घाटा वित्तीयन के कारण मुद्रा की पूर्ति में 10.8 प्रतिशत की वृद्धि हो गई। दूसरी योजना के दौरान थोक वस्तुओं की कीमतों और मुद्रा पूर्ति में सीधा संबंध देखा जा सकता है। मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार, कीमत प्रवृत्तियां मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को अनुभवजन्य प्रमाण प्रदान करती हैं। दूसरी योजना की अवधि में मुद्रा की पूर्ति उत्पादन से अधिक बढ़ गई। इसलिए कीमतें बढ़ गईं। दूसरी पंचवर्षीय योजना यह सबक सिखाती है कि आर्थिक विकास की स्फीतिकारक वित्तीय व्यवस्था करते समय बहुत सावधानी बरतने की जरूरत होती है।

दूसरी योजना के दौरान किए गए अनियमित और बहुत अधिक घाटा वित्तीयन के दुष्परिणामों को दृष्टि में रखते हुए तीसरी योजना के दौरान इस विधि से योजना के कुल व्यय की सिर्फ 7.4 प्रतिशत राशि जुटाने की व्यवस्था की गई। किंतु वास्तविकता यह रही कि तीसरी योजना (1961-66) में कुल घाटा 1133 करोड़ रुपए तक पहुंच गया जो योजना के कुल व्यय का 13.2 प्रतिशत था। नतीजा यह हुआ कि इस योजना में बहुत अधिक घाटा वित्तीयन हुआ खासतौर से 1965-66 में। अकेले इसी वर्ष में इस साधन से 398 करोड़ रुपए की राशि जुटाई गई। तीसरी योजना के दौरान मुद्रा की पूर्ति में औसतन 11.4 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई और थोक कीमतों का सूचकांक 32 प्रतिशत ऊपर की ओर चला गया। कीमतों की यह वृद्धि बड़े पैमाने पर विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों को अपनाने के बावजूद भी हुई। देश को इस बीच 1962 और 1965 में विदेशी हमलों का सामना करना पड़ा, 1962-63 और 1965-67 के दौरान कृषि के उत्पादन में गिरावट आई विदेशी सहायता की उपलब्धता में अनिश्चितता बढ़ती गई, इन सब कारणों से योजना के बारे में आयोजकों की गणना एक ओर रखी रह गई।

अन्य बातों के साथ-साथ मुद्रा स्फीति से उत्पन्न दबाव जो घाटा वित्तीयन के कारण हुआ था, चौथी योजना के स्थगन का एक प्रधान कारण था। तीन एक वर्षीय योजनाओं (1966-69) में घाटा वित्तीयन की वास्तविक राशि दुगुनी हो गई। इस अवधि में मुद्रा की पूर्ति में औसतन 9 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई। कीमत-सूचकांक तेजी से ऊपर की ओर उठता गया, जिससे इसमें 1966-67 में 13.9 प्रतिशत की ओर 1967-68 में 11.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किंतु 1968-69 में कीमतों में 2 प्रतिशत की गिरावट दिखाई पड़ी क्योंकि उसके पिछले वर्ष में कृषि में बहुत अधिक उत्पादन हुआ जिससे राष्ट्रीय उत्पादन में 9 प्रतिशत की वृद्धि हो गई। इससे हम यह नतीजा निकालते हैं कि जब मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि के साथ-साथ तदनुरूप माल के प्रवाह में भी वृद्धि होती है तो वह स्फीतिकारक नहीं हो सकती। मुद्रा स्फीति तभी होती है जब मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के अनुरूप संसाधनों में वृद्धि नहीं होती।

9.7.3 चौथी और पांचवी योजनाएं

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) जिसका एक प्रमुख उद्देश्य कीमतों में स्थिरता लाना था, में घाटा वित्तीयन के लिए सिर्फ 450 करोड़ रुपए की राशि निश्चित की गई जो योजना के कुल व्यय का 5.3 प्रतिशत ही थी। यहां पर इस बात पर ध्यान देना रोचक होगा कि वास्तविक घाटा वित्तीयन 2000 करोड़ रुपए तक पहुंच गया जो चौथी योजना में दिए गए कुल व्यय का 12.7 प्रतिशत हो गया। इस दौरान मुद्रा की पूर्ति में 15 प्रतिशत की एक अभूतपूर्व वृद्धि हुई। वृद्धि की यह दर लगातार ऊँची रही जो बढ़ते-बढ़ते 1973-74 में 18.7 प्रतिशत तक पहुंच गई जबकि देश को इस अवधि की सबसे भयंकर मुद्रा स्फीति का अनुभव हुआ। 1962-72 के दौरान कीमत-सूचकांक सामान्य गति से आगे बढ़ा। यह 1972-73 तक 10 प्रतिशत था जो 1973-74 में बढ़कर 20 प्रतिशत से भी अधिक हो गया। उस वर्ष तेल को भी पहला धक्का लगा जबकि

कच्चे तेल का निर्यात करने वाले देशों के संगठन (ओ.पी.ई.सी.) ने दुनिया में तेल की कीमतों में तेजी से वृद्धि कर दी। पांचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79) में बड़ी सावधानी बरती गई। देश की अर्थव्यवस्था भयंकर मुद्रा स्फीति की पकड़ में थी। इसलिए योजना में घाटा वित्तीयन को 1354 करोड़ रुपए तक सीमित रखने का प्रस्ताव किया गया, जो योजना के कुल व्यय का सिर्फ 3.7 प्रतिशत था। लेकिन यहां इस बात पर ध्यान दिया जाए कि घाटा वित्तीयन की वास्तविक राशि शुरू में प्रस्तावित राशि से लगभग तीन गुना अधिक थी और वह पांचवीं योजना के कुल व्यय का लगभग 9 प्रतिशत हो गई थी। पांचवीं योजना के प्रथम वर्ष में ही थोक कीमतों का सूचकांक 25 प्रतिशत से भी अधिक ऊपर चला गया। उसके अगले वर्ष कीमत सूचकांक तुलनात्मक रूप से स्थिर रहा। यह इस कारण था कि उत्पादन बढ़ गया और विदेशी विनिमय संरक्षित कोष आदि की उपलब्धता भी बढ़ गई। लेकिन कीमतों की यह स्थिरता सिर्फ अल्प समय तक ही रही। 1979-80 के दौरान कीमत सूचकांक एक बार फिर 11.2 प्रतिशत आगे चला गया और मुद्रा की पूर्ति में 13 प्रतिशत की वृद्धि हो गई जबकि राष्ट्रीय उत्पादन में 4 प्रतिशत की गिरावट आ गई।

9.7.4 छठी और सातवीं योजनाएं

छठी योजना में घाटा वित्तीयन को सीमित रखने का लक्ष्य सामने रखकर यह तय किया गया कि घाटा वित्तीयन की राशि कुल वित्तीय व्यय की सिर्फ 5.12 प्रतिशत ही हो। योजना की प्राथमिकताओं के आधार पर आर्थिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को प्रश्रय देने के लिए मौद्रिक और साख-नीतियां इस प्रकार की बनाई गई कि माल और सेवाओं की कुल मांग और पूर्ति के बीच संतुलन कायम रह सके। फिर भी, वास्तविकता यह रही कि 1980-85 के दौरान घाटा वित्तीयन की राशि कुल व्यय का 14 प्रतिशत हो गई। इसके परिणामस्वरूप छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान थोक कीमतों के सूचकांक में कुल मिलाकर लगभग 51 प्रतिशत की वृद्धि हो गई और मुद्रा स्फीति की वार्षिक दर दो अंको की हो गई।

अर्थव्यवस्था की स्फीति कारक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) के आयोजकों ने घाटा वित्तीयन की राशि को योजना के कुल व्यय के 7.78 प्रतिशत तक सीमित रखने का निश्चय किया। हालांकि इस योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र के लिए बहुत अधिक मात्रा में संसाधनों की आवश्यकता थी। किंतु, एक बार फिर हम योजना के प्रथम चार वर्षों में "सुरक्षित सीमा" के अतर्गत बने रहने में सफल नहीं हो सके। सातवीं योजना में घाटा वित्तीयन की वास्तविक राशि 35000 करोड़ रुपए से भी अधिक अर्थात् लक्ष्य से अढ़ाई गुना से भी अधिक होने की आशा है।

इस प्रकार भारतीय योजनाओं की वित्त व्यवस्था में घाटा वित्तीयन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विभिन्न योजनाओं में घाटा वित्तीयन के अनुभव अलग-अलग रहे हैं। पहली योजना में घाटा वित्तीयन द्वारा सृजित अतिरिक्त मुद्रा राशि अर्थव्यवस्था में खप गई। बाद की दूसरी और तीसरी योजनाओं में घाटा वित्तीयन से अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने से मुद्रा स्फीति की भयावह स्थिति पैदा हो गई। पिछले दशक के दौरान अर्थव्यवस्था की स्फीतिकारक प्रवत्तियों का एक कारण घाटा वित्तीयन है और अन्य कारण यह था कि पूर्ति तात्कालिक माँग के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सकी। सार्वजनिक निधियों का एक बहुत बड़ा भाग कथित कल्याणकारी योजनाओं और सरकारी प्रशासन के खर्च में बहुत वृद्धि हो जाने से बरबाद हो गया। इस बात के कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं कि मुद्रा स्फीति के साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र के वास्तविक निवेश की प्रवृत्ति भी अस्थिर रही है। इसके अतिरिक्त अधिक मुद्रा स्फीति वाले वर्षों में वृद्धि की वास्तविक दर भी नीची रही है।

बोध प्रश्न 3

1 सार्वजनिक उद्यम किस आधार पर उचित कहे जा सकते हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए घाटा वित्तीयन का ठीक ढंग से उपयोग किया गया। चार वाक्यों में इसका समर्थन या खंडन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 घाटा वित्तीयन के साथ-साथ यदि उत्पादन नहीं बढ़ा तो मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा हो जाएगी। चार वाक्यों में इसका औचित्य सिद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.8 विदेशी संसाधन

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी सहायता एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। यह प्राप्तकर्ता देश में उपलब्ध आंतरिक संसाधनों की मात्रा में वृद्धि करती है। ऐसे देशों में प्रति व्यक्ति आय बहुत नीची होती है और उपभोग की प्रवृत्ति ऊँची होती है इसलिए बचत और निवेश को बढ़ाने की बहुत कम गुंजाइश रह जाती है। अतः विदेशी सहायता के द्वारा विकासशील देश के संसाधनों में जो वृद्धि होती है, इससे देश को कई तरह के लाभ होते हैं। पहला, इसके द्वारा ऐसी बहुत सी परिस्थितियों को पूरा करना संभव होता है जिसके लिए बड़े पैमाने के निवेश की आवश्यकता होती है और विकासशील देश के आंतरिक संसाधन उसके लिए अपर्याप्त होते हैं। बड़ी परियोजनाएं और ऐसी परियोजनाएं जिनके लिए अधिक आयातित वस्तुओं की आवश्यकता होती है, की स्थापना से अक्सर लाभदायक निवेश के अवसर बढ़ जाते हैं। इसके अलावा आर्थिक विकास के प्रारंभिक चरणों में कुछ खास पूंजीगत वस्तुओं और तकनीकी जानकारी की आवश्यकता होती है और वे सिर्फ विकसित देशों में ही उपलब्ध होती है इसलिए वहां से उनका आयात करना पड़ता है। एक तरीका यह होता है कि इस माल को अपने देश में ही अपनी तकनीक को विकसित करके उत्पन्न किया जाए। किंतु, विकासशील देशों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है वे इतनी बड़ी होती है कि पूंजीगत माल के आंतरिक उत्पादन और तकनीकी जानकारी के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा नहीं की जा सकती, हालांकि इस प्रकार के पूंजीगत माल के आयात और तकनीकी जानकारी को हमेशा के लिए जारी भी नहीं रखा जा सकता। अततः एक देश इस प्रकार का माल बनाने की प्रक्रिया को विकसित करता है जिसका बंदोबस्त उसके अपने यहा मिलने वाले संसाधनों से हो सकता है।

इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि इस प्रकार की मध्यवर्ती तकनीकों को विकसित किया जाए तो संसाधनों और श्रम की पूर्ति की दृष्टि से भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप हों। जब अपने पूंजीगत माल और अपनी तकनीक को विकसित करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि प्रारंभिक चरणों में इन्हें किसी दूसरी जगह से आयात किया जाए। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देशों के पास आयात की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण और विदेशी विनिमय संरक्षित निधि उपलब्ध नहीं होती। निर्यात से आय

भी अपर्याप्त होती है। अतः प्रारंभिक चरणों में विदेशी सहायता जरूरी हो जाती है। विदेशी सहायता का एक विकल्प यह है कि निर्यात की आय बढ़ायी जाए जिससे विदेशी विनिमय की अधिक राशि उपलब्ध हो सके। किंतु ऐसे देशों का निर्यात कुछ आंतरिक कमियों से ग्रसित होता है जो अल्प विकास का परिणाम होती हैं। इस प्रकार आर्थिक विकास की प्रक्रिया को प्रारंभ करने और उसे गति देने के लिए विदेशी सहायता जरूरी होती है। यहां तक कि यू.एस.ए., कनाडा, फ्रांस आदि बहुत अधिक विकसित देश भी अपने विकास के प्रारंभिक चरणों में विदेशी सहायता पर निर्भर रहे। किंतु, यू.एस.एस.आर. और चीन जैसे कुछ देशों ने अपने विकास के प्रारंभिक चरणों में पश्चिमी विदेशी सहायता नहीं मांगी। जापान ने भी बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी का आयात किए बिना अपने विकास की व्यवस्था कर ली। लेकिन उन्हें विकास के लिए भयंकर प्रयत्न और त्याग करने पड़े। चीन ने शुरू में पश्चिमी विदेशी सहायता तो नहीं मांगी किंतु उसे भी प्रारंभिक वर्षों में विकास परियोजनाओं के हेतु यू.एस.एस.आर. से भारी सहायता मिली और बाद में दूसरे पश्चिमी देशों और जापान से भी मदद मिली।

9.8.1 परिमाण

गरीबी और बेरोज़गारी को दूर करने के लिए प्रभावशाली उपाय जरूरी हैं। इसके लिए बड़ी-बड़ी विकास योजनाएं प्रारंभ की जाएं किंतु विकासशील-अर्थव्यवस्था वाले देश ऐसी बड़ी योजनाओं के लिए पर्याप्त आंतरिक संसाधन जुटाने में असमर्थ होते हैं। आंतरिक बचतें एक निश्चित सीमा के आगे संभव नहीं हो पाती और खास तौर से एक ऐसे देश में जहां लोकतंत्र हो। पंचवर्षीय योजनाओं का एक प्रमुख उद्देश्य स्वयं पोषित अर्थव्यवस्था रहा है। फिर भी हमने विदेशी सहायता का उपयोग किया और विदेशी सहायता का अनुपात तीन वार्षिक योजनाओं के अंत तक क्रमशः बढ़ता ही चला गया। कुल संसाधनों में विदेशी सहायता का अनुपात जो पहली योजना में 9.6 प्रतिशत था बढ़कर दूसरी योजना में 22.5 प्रतिशत और तीसरी योजना में 28.3 प्रतिशत हो गया। यह अनुपात तीन वार्षिक योजनाओं (1966-69) के दौरान बढ़कर 36.4 प्रतिशत तक पहुंच गया। इसके परिणामस्वरूप ऋण सेवा का बोझ बहुत भारी हो गया जिसके कारण जो विदेशी सहायता मिलती थी उसके एक बहुत बड़े भाग का प्रयोग ब्याज के भुगतान के लिए करना पड़ता था।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) में स्वयं-पोषित अर्थव्यवस्था प्राप्त करने के लिए एक जोरदार प्रयत्न प्रारंभ किया गया। योजना के आकार के विस्तार के साथ-साथ हालांकि विदेशी सहायता की वास्तविक राशि स्वभावतः बढ़ती गई लेकिन योजना के पूरे आकार की दृष्टि से विदेशी सहायता के प्रतिशत में महत्वपूर्ण गिरावट आई क्योंकि सातवीं योजना (1985-90) में विदेशी सहायता की राशि कुल व्यय की 10 प्रतिशत ही रह गई। निरपेक्ष आंकड़ों की दृष्टि से पिछले चार दशकों में भारत की गणना उन देशों में रहीं जिन्हें विकास कार्यों के लिए बहुत बड़ी विदेशी सहायता मिलती रही। किंतु, यदि हम सहायता की राशि की अपनी जनसंख्या से तुलना करें तो हमें मालूम होगा कि प्रति व्यक्ति के हिसाब से यह बहुत अधिक नहीं होगी।

9.8.2 तीन अंतराल

विदेशी सहायता तीन अंतरालों को भर देती है जिनका सामना आम तौर से विकासशील अर्थव्यवस्था की संवृद्धि की प्रक्रिया के दौरान करना पड़ता है। ये हैं :

क) बचत-निवेश अंतराल

ख) विदेशी विनिमय अंतराल

ग) तकनीकी अंतराल

क) **बचत निवेश अंतराल** : हमारी विकास योजनाओं में विदेशी सहायता का सबसे प्रमुख कार्य यह रहा है कि वह निवेश के लिए आवश्यक आंतरिक संसाधनों के अनुपूरक बने। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में निवेश पर बचत का शुद्ध आधिक्य था। 1950-51 में आंतरिक बचतें शुद्ध राष्ट्रीय आय का 4.96 प्रतिशत थीं जबकि निवेश राष्ट्रीय आय का सिर्फ 4.94 प्रतिशत हुआ था। उसके बाद से लगभग हमेशा आंतरिक बचतों की दर आय के अनुपात में निवेश से कम रही है। इस अंतराल में सदा विभिन्नता रही है। यह पांचवीं पंचवर्षीय योजना के अंत में बहुत कम अर्थात् मात्र 0.8 प्रतिशत रहा था जबकि तीन वार्षिक योजनाओं के अंत में यह बहुत ऊंचा अर्थात् 3.8 प्रतिशत हो गया था। यह अंतराल छठी योजना के अंतिम वर्ष में 1.6 प्रतिशत रहा था जबकि सातवीं योजना के अंतिम वर्ष अर्थात् 1989-90 में इसके 1.4 प्रतिशत होने का अनुमान लगाया गया है। हालांकि वास्तविक अंतराल इससे ऊँचा हो सकता है।

ख) **विदेशी विनिमय अंतराल** : हमारी विकास योजनाओं में विदेशी सहायता को दूसरा प्रमुख कार्य यह दिया गया है कि वह आयात की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय उपलब्ध कराए। सातवीं योजना की रूपरेखा ऐसे समय में बनाई गई थी जबकि भुगतान संतुलन की स्थिति बहुत गंभीर थी और अब योजना की समाप्ति पर इसकी स्थिति और भी खराब होती जा रही थी। निर्यात आय का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी ऋण चुकाने व उस पर ब्याज चुकाने में खर्च हो जाता था इसलिए स्थिति बहुत भयंकर होती जा रही थी।

ग) **तकनीकी अंतराल** : विदेशी सहायता एक अन्य प्रमुख कार्य यह है कि वह भारत और विकसित देशों की तकनीकी जानकारी के अंतर को दूर करने के लिए सेतु बनाती है। विकास के प्रारंभिक चरणों में विदेशी तकनीक की जानकारी के आयात ने देश की सहायता की है जिससे वह भविष्य में स्वयं पोषित अर्थव्यवस्था के लक्ष्य तक पहुंचने में समर्थ हो सके। आयात की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति बढ़ती हुई निर्यात आय और आंतरिक प्रयत्नों द्वारा उन्नत की गई तकनीक से करनी होगी।

9.8.3 सहायता के स्रोत

भारत में विकास योजनाओं के प्रारंभ से ही विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संगठन तथा विभिन्न देश भारत को उसके आयोजित विकास के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में सहायता देते रहे हैं। सहायता देने वाले विभिन्न वर्गों में से अकेले भारत सहायता संघ के सदस्यों ने पहली छह पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान कुल विदेशी सहायता का लगभग 66 प्रतिशत भाग दिया है जो नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट होता है :

तालिका 9.4 विदेशी सहायता के स्रोत

(प्रतिशत में)

प्रथम तीन योजनाएँ	वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	चौथी योजना (1969-74)	पांचवी योजना (1974-76)	1978-79 से 1984-85	1950-51 से 1984-85
1 संघ के सदस्य	92	93	90	74	90	88
2 यू.एस.एस.आर. एवं पूर्वी यूरोपीय देश	7	6	8	6	3	5
3. अन्य	1	1	2	20	7	7
4 कुल योग	100	100	100	100	100	100
मुख्य सहायता दाता						
यू.एस.ए.	58	49	27	5	3	19
यू.के.	7	7	12	9	11	9
पश्चिमी जर्मनी	8	6	9	8	7	7
यू.एस.एस.आर.	6	4	7	4	3	4
जापान	2	4	8	7	5	5
आई.बी.आर. डी.और आई.डी.ए.	13	14	18	30	50	33
आइ.एम.एफ. ट्रस्ट निधि					5	3

टिप्पणी :

1) संघ के सदस्यों में आस्ट्रिया, बेलज्यिम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, जापान, नीदरलैंड, स्वीडन, यू.के., यू.एस.जेड., आई.बी.आर.डी. और आई.डी.ए. शामिल हैं।

2) यू.एस.एस.आर. और पूर्वी यूरोपीय देशों में बलगेरिया,चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैंड, यू.एस.एस.आर. और यूगोस्लाविया शामिल हैं।

3) अन्य में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, स्पेन, स्विटजरलैंड और यूरोपीय आर्थिक समुदाय शामिल हैं।

स्रोत : 1985-86 के **आर्थिक सर्वेक्षण** और पहले के निर्गमों से संकलित

यू.एस.एस.आर. और अन्य पूर्वी यूरोपीय देश जो समाजवादी गुट के हैं, उनकी सहायता का हिस्सा 5 प्रतिशत से अधिक नहीं रहा और अन्य दूसरे देशों का भाग कुल विदेशी सहायता का 7 प्रतिशत से भी कम रहा।

चौथी योजना तक सबसे अधिक विदेशी सहायता देने वाला देश यू.एस.ए. ही था किंतु उसके बाद इसका विदेशी सहायता का हिस्सा 1978-79 से 1984-85 के दौरान घटकर कुल प्राप्त सहायता का 3 प्रतिशत ही रह गया। फिर भी, (1951-52 से 1984-85) तक की कुल अवधि को देखने से ज्ञात होता है कि यू.एस.ए. ने कुल विदेशी सहायता का लगभग पांचवां भाग दिया है और अब भी सहायता देने वाला प्रमुख देश है। अब यू.एस.ए. इस सहायता को अप्रत्यक्ष रीति से आई.बी.आर.डी. और आई.डी.ए. के माध्यम से दे रहा है जिसका भाग 1978-79 से 1984-85 के दौरान कुल प्राप्त सहायता का 56 प्रतिशत तक पहुंच गया। इससे यह स्पष्ट है कि भारत भी आई.बी.आर.डी., आई.डी.ए. (अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ) जैसे अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से उनकी बहुराष्ट्रीय और रियायती प्रकृति के कारण उनसे सहायता लेना पसंद करता है। इसके बाद प्रमुखता के क्रम में यू.के. और पश्चिमी जर्मनी का नंबर आता है और उसके बाद जापान आता है। कुछ सहायता यू.एस.एस.आर. और अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों से मिलती है जो कुल सहायता का सिर्फ 5 प्रतिशत ही होती है फिर भी अक्सर इस सहायता का विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

9.8.4 सहायता स्वीकृति (Authorisation) और उपयोग (Utilisation)

1950-51 से 1986-87 की पूरी अवधि में कुल प्राधिकृत सहायता की राशि 52, 369 करोड़ रुपए थी जबकि इस अवधि में 39,711 करोड़ रुपये का उपयोग किया गया जो कुल प्राधिकृत सहायता का 75 प्रतिशत होता है। यह ठीक है कि सहायता के प्राधिकरण और उसके उपयोग के बीच कुछ अंतर अवश्य रहेगा किंतु यदि पर्याप्त अग्रिम तैयारी कर ली जाती है और प्रक्रिया को आसान बना लिया जाता है तो प्राधिकरण और उपयोग के बीच की दूरी कम की जा सकती है। पहली और दूसरी योजनाओं के दौरान उपयोग की सीमा प्राधिकृत राशि क्रमशः 53 और 56 प्रतिशत रही थी। तीसरी योजना के दौरान प्राधिकृत सहायता से अधिक का उपयोग किया गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस बात के प्रयत्न किए गए कि अप्रयुक्त सहायता को उपयोग में लाया जाए। इसके लिए अग्रिम तैयारियाँ की जाएँ, साथ ही विदेशी सहायता प्राप्त करने हेतु औद्योगिक लाइसेंस देने और परियोजनाओं की निकासी की प्रक्रिया को सरल बनाया जाए। किंतु इसके बाद उपयोग के प्रतिशत में तेजी से गिरावट आई और वह पांचवीं योजना के दौरान 61 प्रतिशत और 1978-79 से 1985-86 के दौरान 63 प्रतिशत हो गयी। यह नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 9.5 सहायता उपयोग का प्रतिशत

(प्रतिशत)

पहली पंचवर्षीय योजना	53
दूसरी पंचवर्षीय योजना	56
तीसरी पंचवर्षीय योजना	103
वार्षिक योजनाएं (1966-69)	102
चौथी पंचवर्षीय योजना	100
पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-78)	61
1978-79 से 1986-87	63

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1975-76 और 1987-88 से संकलित

यह एक विरोधाभास प्रतीत होता है कि जबकि बहुत-सी परियोजनाएं विदेशी सहायता के लिए तड़प रही थी उस समय कई अनुमोदित परियोजनाओं की स्वीकृत राशि अप्रयुक्त पड़ी रही। ऐसा इसलिए हुआ कि भारत को प्राप्त विदेशी सहायता का एक बहुत बड़ा भाग विशेष परियोजनाओं और ऋणदाताओं की मुद्रा के साथ बंधा रहता है। अनुभव बताता है कि ऐसी परिस्थितियों में माल और सेवाओं की कीमतें व्यावसायिक ढंग से बेची गई वस्तुओं की कीमतों की तुलना में ऊंची निश्चित की जाती है। बद्ध सहायता (Tied Aid), प्राप्तकर्ता देश को अच्छा माल प्रतियोगी कीमतों पर खरीदने की बहुत कम आज़ादी देती है। सामान भेजने में देर और अपर्याप्त परिमाण और गुणवत्ता के कारण परियोजनाओं के चलाने में रुकावट आती है और विकास योजना की प्राथमिकताएं विकृत हो जाती हैं। प्राधिकृत सहायता का उपयोग न हो पाने का यह एक प्रमुख कारण रहा है। विदेशी सहायता के प्रभावशाली उपयोग के लिए आवश्यकता इस बात की है कि इसे पूरे कार्यक्रमों से संबंधित रखा जाए न कि किसी अकेली परियोजना से। इसमें प्राधिकृत सहायता के उपयोग में जो देर होती है वह नहीं होगी और साथ ही उपयोग की गति और मात्रा में भी वृद्धि होगी।

9.8.5 भारत के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता की भूमिका

पहला, विदेशी सहायता ने प्रतिशत और निरक्षेप दोनों दृष्टियों से निवेश का स्तर ऊपर उठाने में सहायता की है। निवेश की दर में इससे पर्याप्त वृद्धि हुई है। यह दर प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में वार्षिक आय की लगभग 5 प्रतिशत ही थी जो सातवीं योजना में बढ़कर वार्षिक आय की 25 प्रतिशत हो गई। किंतु, इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि विदेशी संसाधनों का आसानी से अंतर्प्रवाह होने से आंतरिक बचत के प्रयत्नों में सुस्ती आ जाती है। *दूसरा,* खाद्य के रूप में मिलने वाली विदेशी सहायता ने खाद्य की कीमतों को स्थिर रखने और कच्चे माल के आयात में सहायता की है। *तीसरा,* विदेशी सहायता ने सिंचाई और शक्ति के साधनों को बढ़ाने और उन्हें सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और कृषि की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में काफी योगदान किया है। डेयरी (दुग्धशाला) के क्षेत्र में "दुग्ध क्रांति" के कार्यक्रम में विदेशी सहायता ने दुग्ध उत्पादन की तकनीक का आधुनिकीकरण करने में मदद की है। इसने देश को मशीनें और उपकरण आयात करने के योग्य बनाया है जिससे देश में शक्ति उत्पादन की क्षमता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। यह क्षमता 1950 में 2.3 मिलियन किलोवाट थी जो 1984-85 में बढ़कर 36.5 मिलियन किलोवाट हो गई। *चौथा,* परिवहन में विदेशी सहायता का एक बहुत बड़ा भाग अर्थात् 14 प्रतिशत उपयोग में लाया गया, उसमें से 12 प्रतिशत रेलवे को दिया गया। इसने रेलवे परिवहन का नवीनीकरण और आधुनिकीकरण करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और साथ ही इसने रेल-इंजनों और गाड़ियों को बढ़ाने में भी मदद की। *पांचवां,* विदेशी सहायता ने देश में बुनियादी वस्तुओं के उत्पादन, जैसे इस्पात, को बढ़ाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विनिर्माण उद्योगों में उपयोग की गई सहायता की 80 प्रतिशत से भी अधिक की राशि इस्पात के उत्पादन और उसकी उत्पादन क्षमता को बढ़ाने और उसका विस्तार करने में लगाई गई। इस्पात का उत्पादन 1951 की तुलना में लगभग छह गुना बढ़ गया है। यू.एस.एस.आर., पश्चिमी जर्मनी और यू.के. से इसके लिए आवश्यक सहायता प्राप्त हुई। *छठा,* भारत पेट्रो-रासायनिक समूह और इलेक्ट्रानिक्स एवं कंप्यूटर उद्योग विकसित करने का प्रयत्न कर रहा है। वे उद्योग जिनको सामान्यतया प्रातःकालीन उद्योग अर्थात् नये उभरने वाले उद्योग (Sunrise industries) कहा जाता है, विश्व में नई औद्योगिक क्रांति के अग्रदूत हैं। इसे विदेशी सहायता के बिना पूरा करना संभव नहीं हो सकता और राजीव गांधी की सरकार हमारे औद्योगिक ढांचे को विदेशी सहयोग से एकदम आधुनिक बनाने के लिए बहुत प्रयत्नशील है। *अंत में,* विदेशी सहायता ने तकनीकी संसाधनों को (क) निर्यात सेवाओं की सुविधा (ख) भारतीय कार्मिकों के प्रशिक्षण और (ग) देश में नये शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना और पहले से चल रहे संस्थानों को विकसित करके, बढ़ाने में पर्याप्त मदद प्रदान की है।

9.8.6 विदेशी सहायता से संबंधित समस्याएँ

किंतु, विदेशी सहायता के संबंध में कितनी ही समस्याएं उत्पन्न होती हैं। विभिन्न कठिनाइयां और बाधाएं विदेशी सहायता के मार्ग में आती हैं। इन समस्याओं में सबसे बड़ी यह है कि भारत को अन्य देशों पर खास कर यू.एस.ए. पर, बहुत ज्यादा और बहुत लंबे समय तक निर्भर रहना पड़ रहा है। ऐसे अवसर भी आते हैं जब भारत दोनों देशों के दबाव का विरोध नहीं कर सका और वे भारत की आयोजना और आर्थिक नीतियों में दखलअंदाजी करते रहे। यू.एस.ए. का प्रभाव पूंजीगत माल के उत्पादन के स्थान पर टिकाऊ उपयोग की वस्तुएं बनाने वाले उद्योगों की ओर ले जाने में देखा जा सकता है। सिर्फ इतना ही नहीं, औद्योगिक विकास के लिए निजी उद्यम पर अत्यधिक निर्भरता, सार्वजनिक क्षेत्र के विनिर्माण उद्योगों को विदेशी सहायता उपलब्ध न होना, वाणिज्यिक ऋण और विदेशी निजी पूंजी को ज्यादा प्रश्रय देना क्योंकि भारत के विकास कार्यक्रम में उच्च प्राथमिकता वाले उद्योग में जैसे रासायनिक उर्वरक आदि का तेजी से विस्तार करने के लिए विदेशी सहायता का मात्र वही साधन था, इन सब में भी यू.एस.ए. का प्रभाव दिखाई देता है। अंत में, 1966 में रुपए के अवमूल्यन की असफलता के बावजूद अभी तक रुपए का अवमूल्यन जारी है। दिसंबर 1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान यू.एस. सरकार ने धमकी के रूप में भारत की सहायता रोक दी। 1976 में यू.एस.ए. ने यह तय किया कि तारापुर परमाणु शक्ति संयंत्र को परमाणु ईंधन देने के समझौते का पालन न किया जाए। हमें इस प्रकार की समस्याओं का और भी कई बार सामना करना पड़ा। विदेशी सहायता के संबंध में एक अन्य बड़ी समस्या ऋण की सेवा करने अर्थात् उसका ब्याज और मूलधन लौटाने की है, इस समस्या पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। नीचे तालिका 9.6 में दिए गए आंकड़ों से यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि

तालिका 9.6 विदेशी ऋण का भुगतान

(करोड़ रुपयों में)

अवधि	परिशोधन	ब्याज भुगतान	कुल ऋण सेवा
पहली योजना (1951-56)	10.5	13.3	23.8
दूसरी योजना (1956-61)	55.2	64.2	119.8
तीसरी योजना (1961-66)	305.6	237.0	542.6
वार्षिक योजनाएं (1966-69)	606.8	375.7	982.5
चौथी योजना (1969-74)	1584.2	860.8	2445.0
पांचवीं योजना (1974-79)	2539.4	1236.0	3875.4
वार्षिक योजना (1979-80)	503.9	296.9	800.8
छठी योजना (1980-85)	2905.9	1903.3	4809.2
1985-86	775.8	590.8	1366.6
1986-87	1175.7	853.4	2029.1
1987-88	1290.6	794.1	2084.7

● अनुमानित

स्रोत : भारत सरकार, आर्थिक सर्वेक्षण, 1987-88

योजना अवधि में हमारी विदेशी ऋण सेवा का बोझ अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ा है। किंतु, ये आंकड़े स्थिति की गंभीरता को पूरी तरह से नहीं प्रकट करते।

9.8.7 ऋण सेवा (Debt Servicing)

हाल के वर्षों में ऋण सेवा का व्यय कुल विदेशी सहायता का 50 प्रतिशत हो गया है। अर्थव्यवस्था पर उसका कितना बोझ पड़ रहा, इसे इस साधारण तथ्य से ही महसूस किया जा सकता है कि अब राष्ट्रीय आय का लगभग 1 प्रतिशत विदेशी ऋण सेवा के कारण लगातार बाहर जा रहा है। इसके अलावा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का ऋण जिसने विदेशी विनिमय के संकट में भारत की सहायता की थी, उसकी भी वापसी करनी होती है। इसकी वार्षिक वापसी सातवीं योजना के पहले चार वर्षों में अर्थात् 1985-89 में 3,500 करोड़ रुपए तक पहुंच गई।

यदि हम ऋण सेवा को 1) कुल विदेशी सहायता, 2) राष्ट्रीय आय, 3) निर्यात आय, 4) सरकार का कर राजस्व, 5) आंतरिक बचतों के अनुपात के रूप में देखें तो इसके बोझ की गंभीरता को समझा जा सकता है। 1986-87 वर्ष के ये अनुपात नीचे तालिका 9.7 में दिखाए गए हैं :

तालिका 9.7 ऋण सेवा प्रतिशत के रूप में

	विदेशी सहायता	राष्ट्रीय आय	निर्यात आय	कर राजस्व	आंतरिक बचतें
1986-87	56.36	0.89	16.14	4.1	4.86

ऊपर की तालिका पर दृष्टि डालने से ऋण सेवा की गंभीरता स्पष्ट हो जाती है। जब विदेशी सहायता के अनुपात के रूप में 1986-87 की ऋण सेवा को देखते हैं तो पता चलता है कि वह इसके 56 प्रतिशत तक पहुंच गई थी। इसका अर्थ हुआ कि विदेशी सेवा का एक बहुत बड़ा भाग पुराने ऋणों को चुकाने में चला जाता है और इस प्रकार नए प्राप्त ऋणों का एक छोटा भाग ही विकास कार्यक्रमों में लग पाता है।

राष्ट्रीय आय का ऋण सेवा अनुपात जो 1952-53 में मात्र 0.02 प्रतिशत था वह बढ़कर 1979-80 में 0.98 प्रतिशत, 1982-83 में 0.70 प्रतिशत 1986-87 के दौरान 0.89 प्रतिशत तक पहुँच गया। यह ऋण सेवा के बोझ की वृद्धि को बताता है।

ऋण सेवा के बोझ का अंदाज निर्यात आय के साथ इसके संबंध को देखकर भी लगाया जा सकता है। ऋण सेवा का निर्यात आय के साथ अनपात देखना और भी सार्थक होगा क्योंकि अंतिम

विश्लेषण के समय तक यदि दाता देश का पुराना ऋण माफ नहीं हो जाता तो सारे ऋण का निर्यात आय से ही भुगतान करना पड़ेगा। यह अनुपात 1986-87 में 16.14 प्रतिशत तक पहुंच गया जबकि पहली योजना के दौरान यह 1 प्रतिशत तक से भी कम रहा था। यह 1987-88 में 20 प्रतिशत से भी अधिक हो गया और सातवीं योजना के अंत तक यह 30 प्रतिशत तक पहुंच सकता है।

इसी प्रकार से, ऋण सेवा के कर राजस्व और आंतरिक बचतों के अनुपात भी महत्वपूर्ण हैं। ऋण सेवा का कर राजस्व के अनुपात बजटीय समस्या की ओर भी संकेत करता है। जब आंतरिक बचतों के साथ ऋण सेवा का संबंध देखते हैं तो यह ज्ञात होता है कि ऋण सेवा की राशि, आंतरिक निवेश के लिये आवश्यक राशि को कम कर देते हैं, क्योंकि अंतिम विश्लेषण के समय समाज की बचतों (निर्यात द्वारा) को ही विदेशी ऋण का बोझ वहन करना पड़ता है। यद्यपि अब तक हमने अपने आप को "ऋण संकट" और "ऋण फंदा" की स्थिति से बचाए रखा है जिनका सामना मैक्सिको, ब्राजील, पोलैंड आदि जैसे कुछ विकासशील देशों को करना पड़ा है किंतु अस्सी के दशक में स्थिति तेजी से बिगड़ी है।

9.8.8 बद्ध सहायता (Tied Aid)

सहायता का एक बहुत बड़ा अनुपात ऋण दाता देशों और परियोजनाओं के साथ बंधा है। बद्ध ऋण से प्राप्तकर्त्ता देश को होने वाली हानियां जग जाहिर हैं। जहां तक कीमतों, गुणवत्ता के निर्दिष्टीकरण और वितरण के समय का संबंध है, उसे प्राप्तकर्त्ता देश को जरूरी तौर पर मानना ही पड़ता है भले ही वे खुले विदेशी बाज़ार उपलब्ध स्थितियों के अनुकूल न हों। इसके अलावा प्राप्तकर्त्ता देश को ऐसी तकनीक चुनने की सुविधा भी नहीं रहती जो प्रस्तावित उद्योगों के लिए बहुत अनुकूल हो। एक अध्ययन में इस संदर्भ में कुछ ऐसे मामलों का जिनमें यू.एस.ए. की कीमतें अन्य यूरोपीय देशों से तीन गुना अधिक रही हैं, पता चलता है कि पूंजीगत माल की जो कीमतें यू.एस. भारत से लेता है वे दूसरे देशों द्वारा की गई आपूर्तियों की कीमतों से औसतन 30 से 40 प्रतिशत ऊँची होती है। चूंकि भारत के कुल ऋण में यू.एस.ए. का हिस्सा बहुत ज्यादा है इसलिए बद्ध सहायता के फलस्वरूप भारत को सचमुच बहुत नुकसान हो रहा है।

जब ऋण परियोजनाओं के साथ बंधे होते हैं तो व्यवहार में उसमें आयात की वे सभी मदें शामिल नहीं होती जिनकी उस विशेष परियोजना के लिए आवश्यकता होती है। उदाहरण के तौर पर शक्ति परियोजना के लिए जिस विदेशी विनिमय की जरूरत है उसकी व्यवस्था ऋणदाता देश द्वारा की जाती है तो भी ट्रांसफार्मर, सर्किट ब्रेकर, कंट्रोल पैनल और अन्य सहायक वस्तुओं की वित्तीय व्यवस्था अलग से करनी होती है। इसका परिणाम यह होता है कि इन विभिन्न मदों को जुटाने में देर हो जाती है। कभी-कभी कच्चा माल उपलब्ध न होने से उद्योगों को उनकी क्षमता से कम पर ही चलाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साधारण उद्देश्यों हेतु पर्याप्त अनुपूरक ऋण की कमी परियोजना को ठीक ढंग से चलाने में एक बहुत बड़ी बाधा रही है।

भारत द्वारा 1988-89 के अंत तक 44,890 करोड़ रुपये की जिस सहायता का उपयोग किया जाना है, उसमें से 30,151 करोड़ रुपए अर्थात् कुल का 80 प्रतिशत मुक्त रूप से बदली जाने वाली करेंसियों में वापस करना है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से अधिकतम ऋण "बद्ध ऋण" हैं और उन्हें मुक्त मुद्राओं में ही वापस करना पड़ेगा। इससे ऋणी देश पर दोहरी लागत पड़ती है। इस संदर्भ में 1972-73 का आर्थिक सर्वेक्षण यह टिप्पणी करता है; "चूंकि अधिकतर विदेशी सहायता बद्ध होती है या उसका उपयोग किसी खास प्रकार की वस्तुओं का आयात करने के लिए किया जा सकता है अतः मुक्त विदेशी विनिमय में ऋण सेवा एक अतिरिक्त बोझ लाद देती है क्योंकि बद्ध कर्जों की क्रय शक्ति समान परिवर्तनशील विदेशी विनिमय की तुलना में काफी कम होती है।"

9.8.9 स्वयं-पोषित अर्थव्यवस्था (Self-sustaining Economy) की ओर

विदेशी निजी उद्यम अर्थव्यवस्थाएं भारत को सार्वजनिक क्षेत्र के विकास के लिए ऋण देने में प्रायः उदासीन रही हैं। मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्थाओं में सार्वजनिक क्षेत्र की संकल्पना को अच्छा नहीं माना जाता। एक इस्पात संयंत्र स्थापित करने हेतु भारत की सहायता की मांग को विश्व बैंक द्वारा सिर्फ इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि वह सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजना को ऋण देने के बारे में विचार नहीं कर सकता। इसी प्रकार, भारत द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में बोकारो स्टील संयंत्र लगाने हेतु यू.एस.ए. से सहायता के लिए की गई मांग को वापस लेना

पड़ा। ये उदाहरण विकासशील देशों खासकर भारत के प्रति विकसित देशों के रुख को दिखाने के लिए दिए गए हैं।

भारत को विदेशी सहायता का मिला-जुला अनुभव हुआ है। एक ओर तो विदेशी सहायता ने भारत की अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में उसका उत्पादन बढ़ाने में मदद दी है किंतु इसके साथ-साथ इसने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की लागतों को बढ़ा दिया है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि भारत अपने विकास वित्त के लिए सिर्फ विदेशी सहायता प्राप्त करने में ही न लगा रहे अपितु स्वयं पोषित अर्थव्यवस्था के लिए काफी प्रयत्नशील रहे। विदेशी सहायता के बिना लंबी अवधि में महान राष्ट्रीय प्रयत्नों द्वारा बचतों में पर्याप्त वृद्धि करके निर्यात को तथा आयात-प्रतिस्थापन को बढ़ाकर और राष्ट्रीय वैज्ञानिक जन शक्ति के द्वारा कृषि और औद्योगिक क्षेत्र की उत्पादकता को बढ़ाकर विकास संभव हो सकता है। इसके अलावा, आबंटित सहायता का उपयोग बहुत तेजी के साथ किया जाना चाहिए, सहायता का उपयोग वहीं करना चाहिए जहां वह बहुत उत्पादक सिद्ध हो और साथ ही सहायता का उपयोग इस ढंग से किया जाए कि इसके प्रयोग के बाद आगे की सहायता अनावश्यक जान पड़े और हमें इस लायक बना दे कि उसे बार-बार आयात करने की जरूरत न पड़े। इसके साथ-साथ यह कोशिश की जाए कि भविष्य में बढ़ते हुए ऋण के बोझ को संभालने के लिए लंबी अवधि और कम ब्याज वाले (Soft loan) ऋण हों। शायद आगे के कुछ वर्षों में बड़ी मात्रा में विदेशी सहायता आवश्यक मालूम होती है फिर भी सभी प्रकार की सहायता का उद्देश्य सहायता में उत्तरोत्तर कमी होना चाहिए जब तक कि हम बिना किसी सहायता के अपना विकास करने और स्वयं-पोषित अर्थव्यवस्था प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो जाते।

बोध प्रश्न 4

1 विदेशी सहायता ने भारत में जो भूमिका अदा की है उसके प्रमुख लक्षण बताइये। (पांच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 विदेशी ऋण के बोझ के प्रमुख लक्षण तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 बद्ध सहायता की समस्याएं तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.9 संसाधन आबंटन : वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात (ICOR)

ऊपर बताए गए विभिन्न प्रकार के साधनों से जब एक बार संसाधनों को जुटा लिया जाता है उस समय आयोजना की मुख्य समस्या यह होती है उनका उत्तम आबंटन सुनिश्चित कर लिया जाए। प्रदेशों में उनका बंटवारा केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंधों पर निर्भर करता है जिसे बाद के खंडों में बताया जायेगा। हम यहां पर संसाधनों के अंतः क्षेत्रीय आबंटन के औचित्य की चर्चा करेंगे।

9.9.1 वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) एवं आयोजन विधि

वृद्धि-पूंजी-उत्पादअनुपात बताता है कि एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने के लिये कितनी अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता होती है। यह संसाधनों को विभिन्न क्षेत्रों में आबंटन में निर्णायक भूमिका अदा करता है। भारतीय योजना के गठन का नीचे दिए गए ढंग से संक्षेपण किया जा सकता है :

1) पहले, योजनाएं और परियोजनाएं राज्य सरकारों और केन्द्र सरकार के मंत्रालयों द्वारा बनाई जाती हैं, फिर उनके व्यय का योग किया जाता है और उसका उन आंतरिक संसाधनों के साथ मिलान किया जाता है। जिनके जमा होने की संभावना होती है, यह अनुमान पिछली प्रवृत्तियों के आधार पर लगाया जाता है, फिर उसमें उन विदेशी संसाधनों को जोड़ा जाता है जिनका देश में अंतर्प्रवाह होने की संभावना होती है। यदि उसके बाद कोई अंतराल रह जाता है तो नए कराधान, प्रायोजित ऋणों और सीमित घाटा वित्तीयन से अतिरिक्त संसाधनों को जुटाकर सार्वजनिक क्षेत्र, जो योजना का निर्णायक उपकरण होता है, के आयोजित व्यय के शेष भाग को पूरा करने के प्रयत्न किए जाते हैं।

2) फिर हम निवेश के लिए आयोजित राशि का योग देखते हैं जिससे पूरी अर्थव्यवस्था की आय की वृद्धि दर के लक्ष्य का अनुमान पूरी अर्थव्यवस्था के वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात के प्राक्कलन की सहायता में हैरड-डोमर के नमूने के अनुसार लगा सकते हैं, जिसे हम ई.ई.सी.-01 के खंड 9 में पढ़ चुके हैं।

3) इसके बाद विभिन्न वस्तुओं की उपभोक्ताओं द्वारा की जाने वाली अंतिम माँग की संभावित दर का अनुमान लगाया जाता है, यह आय की प्रायोजित वृद्धि की दर के साथ आय के प्राक्कलन और माँग की लोचों के अनुसार लगाया जाता है, इसके साथ ही जनसंख्या की वृद्धि का भी ध्यान रखा जाता है। तब मांग के इन अनुमानों को विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों के कार्यक्रमों हेतु सरकार की अंतिम माँग के लक्ष्यों के साथ मिला दिया जाता है, और आगत-निर्गत तालिकाओं का उपयोग करके मध्यवर्ती वस्तुओं की मांग का अनुमान लगाया जाता है। आगत-निर्गत तालिका के संक्षिप्त विवरण को हम पहले खंड 2 में पढ़ चुके हैं।

   तब मांग के इन अनुमानों के बराबर सब वस्तुओं की पूर्ति आयोजित की जाती है। इसके बाद उत्पादन के कुछ भाग का निर्यात करने की अनुमति देकर, मांग के कुछ भाग को आयात द्वारा पूरा किया जाता है, इस प्रकार से प्राप्त हुए प्राक्कलन विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक क्रियाकलाप में आंतरिक उत्पादन की वृद्धि के लक्ष्य होते हैं।

4) विभिन्न क्षेत्रों और उद्योगों के ये उत्पादन लक्ष्य जब एक बार उपलब्ध हो जाते हैं तब तदनुरूप वर्धमान-पूंजी-उत्पादअनुपात के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों की निवेश आवश्यकताओं का अंदाज लगाया जाता है। अंत में, इन निवेश आवश्यकताओं की आंतरिक बचतों और विदेशी संसाधनों के प्रारंभिक प्राक्कलनों के साथ जांच की जाती है जिनसे यह सारा प्रयोग प्रारंभ किया गया था और उनके समायोजन की तब तक कोशिश की जाती है जब तक कि ये दोनों एक दूसरे के अनुरूप और समान नहीं हो जाते।

वृद्धि पूंजी-उत्पाद अनुपात की स्थिरता इस प्रक्रिया की एक प्रमुख समस्या है। चूंकि राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग कृषि उत्पादन से आता है जो अब भी मौसम पर पूरी तरह से आश्रित है, इससे उत्पादन घटता बढ़ता रहेगा जो सिर्फ संबंधित कीमतों और वृद्धि के लक्ष्यों को ही तितर-बितर नहीं कर देती बल्कि संसाधनों के जुटाव और उसके आबंटन को भी प्रभावित करती है। इसके अतिरिक्त कुल वर्धमान पूंजी-उत्पादन अनुपात, उत्पादन की क्षेत्रीय संरचना से प्रभावित होता है क्योंकि कुछ क्रियाकलाप अन्य की तुलना में अधिक पूंजी-प्रधान होते हैं। हाल के कुछ वर्षों को छोड़कर भारत के वर्धमान-पूंजी उत्पाद अनुपात में लगातार वृद्धि हो रही है। इसका यह अर्थ होता है कि वृद्धि की दर को बढ़ाने में सफलता नहीं मिली हालांकि निवेश-आय के अनुपात में पर्याप्त वृद्धि की गई।

9.9.2 वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) समीक्षा

योजना के पहले दशक में कुल वर्धमान पूंजी-उत्पाद अनुपात का औसत लगभग 3.9 था जो अगले दशक में बढ़कर 5.5 हो गया, और फिर बढ़कर 70-80 के दशक में 6 से भी अधिक हो गया। 80 के दशक में वर्धमान पूंजी उत्पाद अनुपात में गिरावट आने की प्रवृति दिखाई पड़ी है और उसी के अनुसार वृद्धि की दर में भी गति आई है किंतु दोनों ही बिल्कुल अस्थिर रहे।

भारत में संसाधनों के आबंटन की नीति की आलोचना का एक मुख्य विषय रहा है, भारी उद्योग, आधारिक संरचना वाले क्षेत्रों, जिनमें वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात ऊँचा रहा है, को संसाधनों के आबंटन में प्राथमिकता दी गई है और यह कार्य छोटे पैमाने के उद्योग और सेवाओं के विकास की लागत पर किया गया है। हालांकि इनका वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात काफी कम है। हमारी योजना का जानबूझकर शहरी क्षेत्र की ओर झुकाव रहा है जिससे निवेश-आय अनुपात में पांच गुना वृद्धि के बावजूद वृद्धि की ऊंची दर प्राप्त करने में तीन से अधिक दशकों तक रुकावट रही है। हालांकि, इस अवधि में कृषि क्षेत्र के वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात एवं खनन व विनिर्माण, आधारभूत संरचना या निर्माण और वास्तविक संपदा आदि के क्षेत्र में वर्धमान-पूंजी उत्पाद अनुपात के अंतर में महत्वपूर्ण गिरावट आई है। कृषि का वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात जो योजना के पहले दशक में 2.3 था वह बढ़कर तीसरे दशक में लगभग 4.8 हो गया, इसके विपरीत इसी अवधि का गैर-कृषि वर्धमान-पूंजी उत्पाद अनुपात 4.9 से बढ़कर 6.4 तक पहुंच गया। भारत का कृषि विकास भी अब पूँजी प्रधान हो गया है। योजना के पहले तीन दशकों का भारत का समग्र वर्धमान पूंजी उत्पाद अनुपात 5.3 था जबकि 1960-1975 के दौरान 10 अन्य विकासशील देशों का औसत 3.4 रहा था, हालांकि छह विकसित देशों का उसी अवधि का वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात 6.5 हो गया था।

यद्यपि, उपलब्ध प्रभागों से यह ज्ञात होता है कि पिछले दशक से समग्र वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात की वृद्धि में गिरावट रही है और उत्पाद के क्षेत्रीय संरचना के परिवर्तनों ने वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात की समग्र बढ़ती और साथ ही खुद क्षेत्रीय वृद्धि पूंजी उत्पाद अनुपात की वृद्धि में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। किंतु, यदि हम पूंजी के प्राक्कलन से स्टाकों की सूचियों को हटा दें और सिर्फ स्थायी पूंजी के भाग पर विचार करें तो क्या स्थिति बदल सकती है? मान लो, किसी ने मकान संपत्ति को समग्र औसत पूंजी उत्पाद अनुपात की बढ़ती से अलग कर दिया तो भी स्थायी पूंजी की क्षेत्रीय रचना में इन परिवर्तनों का लगभग वही योगदान रहेगा जैसा कि प्रथम दो दशकों के दौरान औसत पूंजी उत्पाद अनुपात की बढ़ती में रहा था, और तीसरे दशक में जबकि क्षेत्रीय औसत पूंजी उत्पाद अनुपात बदल गया है अर्थात् ऋणात्मक हो गया है तो स्थायी पूंजी की क्षेत्रीय रचनायों में परिवर्तनों का योगदान निर्णायक बन जाता है हालांकि इस दशक में समग्र औसत पूंजी उत्पाद खुद घटता जा रहा है।

निवेश आय अनुपात में पांच गुना वृद्धि के बावजूद वृद्धि की दर में महत्वपूर्ण वृद्धि न होने का एक कारण यह है कि इतना बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र प्रतिफल की दर को पर्याप्त गति देने में पूरी तरह असफल रहा है। लेकिन, यह कुछ हद तक इस कारण से है कि सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उत्पाद यथा आधारभूत सेवाओं का निजी क्षेत्र के उत्पाद कीमतों की तरह मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, और सीधे उत्पादक उद्योगों में भी सार्वजनिक क्षेत्र का कुछ उत्पाद यथा उर्वरक आदि रियायती कीमतों पर बेचा जाता है। इस प्रकार के सावर्जनिक क्षेत्र के निवेश का लाभ अधिकतर निजी क्षेत्र को जाता है। किंतु, यह सच है कि ऊंची कीमत वाली टिकाऊ उपभोगी वस्तुएं सिर्फ पूंजी ही ज्यादा नहीं लेती अपितु आयात को भी बढ़ाती है, इस प्रकार बहुमूल्य संसाधनों को गैर प्रभावी वस्तुओं के निर्माण में लगा दिया जाता है और साथ ही वृद्धि की दर भी कम हो जाती है। हाल के वर्षों में इस प्रकार का गैर-प्रमुख आबंटन वृद्धि की दर और पूंजी गहनता को गलत दिशा में लिए जा रहा है। इस प्रकार, ऊपर के विवरण से यह ज्ञात होता है कि हमारी योजना के गठन में संसाधनों का जुटाव और आबंटन दोनों को ही इस बात की आवश्यकता है कि पर्याप्त लंबी अवधि के अनुभव और अब तक की उपलब्धियों और कमियों को ध्यान में रखकर इसका ठीक ढंग से पुनर्गठन किया जाए।

बोध प्रश्न 5

1 हमारी योजना प्रणाली के निर्माण के प्रमुख चरणों को पांच वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 तीन वाक्यों में उन प्रमुख कारकों को बताइए जो समग्र वृद्धि-पूंजी-उत्पाद अनुपात में वृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

3 यह बताइए कि नीचे लिखे बयानों में कौन-सा सच (स) और कौन-सा गलत (ग) है :

भारत में संवृद्धि की दर नीची रही है क्यों:

1 शिशुओं की मृत्यु-दर नीचे चली गई है
2 घाटा वित्तीयन बहुत अधिक हुआ है
3 निवेश सार्वजनिक क्षेत्र में चला गया है
4 समग्र वृद्धि पूंजी-उत्पाद अनुपात बहुत बढ़ गया है
5 अर्थव्यवस्था में बहुत-सी क्षमता बेकार पड़ी है

9.10 सारांश

हमने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों और उसकी समस्याओं को इस इकाई में पढ़ा है। हमने यह नोट किया है कि योजना की वित्तीय व्यवस्था करने की एक मुख्य समस्या यह है कि संसाधनों का जुटाव राज्य के हाथ में हो और उनका आबंटन इस प्रकार हो जो अस्फीतिकारी रहे। हमने वित्तीय व्यवस्था के मुख्य उपकरणों यथा राजस्व और पूंजीगत प्राप्तियों से आंतरिक बजटीय संसाधन जुटाने, घाटा वित्तीयन और विदेशी सहायता, की समीक्षा की है। हमने देखा है कि सातों योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेशों में अद्‌भुत वृद्धि हुई है, हालांकि कुल मिलाकर ऐसे निवेशों के हिस्से में गिरावट आई है, यह निवेश तीसरी योजना में सबसे ऊँचा अर्थात् 63.7 प्रतिशत था जो सातवीं योजना में घटकर 47.8 प्रतिशत रह गया। इसके साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की संख्या और उनमें निवेश किये गये संसाधनों में भी वृद्धि हुई है। राज्य द्वारा बहुत बड़ा दायित्व ले लेने के कारण उसे कठिन वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है और इसके लिए घाटा वित्तीयन और विदेशी सहायता का सहारा लेना पड़ा है।

विदेशी सहायता तीन वार्षिक योजनाओं के दौरान बहुत ऊँची, अर्थात् कुल वित्तीय व्यय का 36.4 प्रतिशत थी और यह सातवीं योजना में घटकर 10 प्रतिशत रह गई। वर्तमान राजस्व आधिक्य कुछ समय से घटता रहा है जो तीसरी, चौथी और पांचवीं योजनाओं में नकारात्मक हो गया। इससे पर्याप्त मात्रा में घाटा वित्तीयन किया गया जिसका कीमतों पर अक्सर बहुत भयंकर स्फीतिकारक प्रभाव पड़ा। छठी और सातवीं योजनाओं के दौरान घाटों को नियंत्रित करने के प्रयत्न असफल रहे। बचत-निवेश अंतराल को भरने के लिए विदेशी संसाधनों पर निर्भरता, विदेशी विनिमय का अंतराल और तकनीकी अंतराल इन सब का समाधान करने के लिए ऋण सेवा का दायित्व इतना अधिक बढ़ गया है कि अब स्थिति नियंत्रण के बाहर जाती हुई दिखाई दे रही है। बद्ध सहायता के रूप में मिलने वाली विदेशी सहायता ने भी समस्याएं बढ़ा दी हैं। निवेश-आय अनुपात में 5 प्रतिशत से भी कम की सीमा से लेकर 25 प्रतिशत की ऊँची सीमा तक वृद्धि की गई, किंतु इसके बावजूद भी अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर में तदनुरूप वृद्धि नहीं हुई। यही प्रवृत्ति कभी-कभी समग्र और क्षेत्रीय वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात के व्यवहार के कारण पाई जाती है।

9.11 शब्दावली

भारत सहायता संघ : यह भारत के कुछ पश्चिमी दाता देशों का एक गुट है। भारत सहायता संघ के माध्यम से भारत को अधिकतम विदेशी सहायता मिली है। यह गुट विश्व बैंक की पहल से बनाया गया था। इनमें यू.एस.ए. एक प्रमुख दाता है, गुट के अन्य सदस्यों में कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, जापान, यू.के., बेलजियम, डेनमार्क, आस्ट्रिया, इटली, नार्वे, स्वीडन, फ्रांस, नीदरलैंड, विश्वबैंक तथा आई.डी.ए. शामिल हैं।

ऋण फंदा (Debt trap) : एक जाल की स्थिति जो दोनों दिशाओं से आ सकती है, विदेशी और आंतरिक। कोई भी देश उस समय विदेशी ऋण जाल में फंस सकता है जबकि उसकी निर्यात-आय पर ऋण सेवा के भार का अनुपात एक निश्चित सीमा जैसे 20 प्रतिशत को भी पार कर जाता है और विदेशी सहायता के अंतर्प्रवाह से आगे निकल जाने की प्रवृत्ति दिखाता है। आंतरिक ऋण जाल उस समय फैलता है जब कर्जों का ब्याज चुकाने के लिए सरकार जनता से अतिरिक्त उधार लेती है।

राजकोषीय नीति : यह सरकार की एक बजटीय भंगिमा होती है जो सरकारी व्यय के स्तर, समय या रचना और/या कर राजस्व और अन्य प्राप्तियों में परिवर्तन करती रहती है। राजकोषीय नीति के प्रमुख उपकरण कराधान, व्यय, उधार और घाटा वित्तीयन है।

बाध्य बचत : जहां तक आंतरिक बचतों का संबंध है वे मोटे तौर पर तीन प्रकार की होती हैं – स्वैच्छिक, अनैच्छिक और वे बचतें जिन्हें बेकार पड़े हुए या आंशिक रूप से बेकार संसाधनों का उत्पादन बढ़ाने की नीतियों द्वारा परिचालित किया जाता है। स्वैच्छिक बचतें वे होती हैं जो व्यय होने वाली आय से स्वेच्छा से उपभोग में कटौती करके की जाती हैं। परिवार और व्यापार क्षेत्र दोनों ही स्वैच्छिक बचतों के स्रोत हो सकते हैं। इसके विपरीत अनैच्छिक बचतें (या जिन्हें अतिशयोक्ति में सामूहिक किफायत कहा जाता है) वे होती हैं जिन्हें उपभोग में अनैच्छिक कटौती करके किया जाता है। सभी प्रकार के कराधान और सरकार को अनिवार्य रूप से ऋण देने की सभी योजनाएं उपभोग में अनैच्छिक कटौती लाने के परंपरागत उपाय हैं। इसके अलावा मुद्रा स्फीति अर्थात् कीमतें बढ़ाने की प्रक्रिया द्वारा भी उपभोग को कम किया जा सकता है, और इसे अक्सर बाध्य बचतें कहा जाता है।

वृद्धि-पूंजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) : पूंजी और उत्पाद के बीच की कड़ी पूंजी-उत्पाद अनुपात की संकल्पना से बनती है जो भौतिक इकाइयों या मूल्य के रूप में पूंजी और उत्पाद के बीच के औसत या सीमांत संबंध को माप सकती है। किसी अर्थव्यवस्था का औसत-पूंजी-उत्पाद अनुपात के लिये पूंजी स्टाक को उत्पाद के वार्षिक प्रवाह द्वारा भाग दिया जाता है जबकि सीमांत या वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) पूंजी स्टाक और उत्पाद की वृद्धियों के बीच के संबंध को मापता है। एक निश्चित मात्रा से उत्पादन को बढ़ाने हेतु निवेश की आवश्यक राशि का प्राक्कलन करने के लिए वर्धमान-पूंजी-उत्पाद अनुपात का उपयोग करने की प्रक्रिया को हैरड और डोमर के कार्यों में प्रोत्साहन मिला था।

मध्यवर्ती तकनीक : कम विकसित देशों में उन देशों के अंदर या बाहर से तकनीक का चुनाव करने की सुविधा सीमित होती है। यह देश के अंदर इसलिए सीमित होती है कि वहां पूंजीगत वस्तु क्षेत्र नहीं होता और बाहर से वह इसलिए सीमित होती है कि आयात की गई तकनीक पूंजी प्रधान होती है जो तकनीकी प्रगति में विकसित देशों की श्रम-बचत नीति को दर्शाती है। इस संबंध में अब यह विचारधारा जोर पकड़ती जा रही है कि एक ऐसी मध्यवर्ती तकनीक का प्रयोग किया जाए जिसमें पूंजी की प्रत्येक इकाई के लिए अधिक श्रम का उपयोग हो और उसके लिए विदेशी आगतों को कम किया जाए। आवश्यकता इस बात की है कि तकनीकों की संपूर्ण व्यवस्था इस प्रकार की हो जो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में अनुकूल सिद्ध हो सके, और उसमें से विकासशील देश अपने अनुकूल तकनीकों का चुनाव कर सके।

मुद्रा नीति : मुद्रा नीति का यह अर्थ होता है कि केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण में सरकारी उपकरणों का इस प्रकार प्रयोग किया जाए कि मुद्रा की उपलब्धता, लागत और उसका उपयोग व्यवस्थित हो सके और उसके द्वारा उत्पाद और रोज़गार के उच्चतम स्तरों तक पहुंचाने के लिए उधार की व्यवस्था हो सके, कीमतों में स्थिरता आ सके, भुगतान शेष में संतुलन बने और साथ ही राज्य द्वारा निर्धारित अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति संभव हो सके।

उभरते हुए उद्योग (Sunrise industries) : उन नए और बढ़ते हुए उद्योगों को कहा जाता है जिनके लिए बहुत उन्नत तकनीक की आवश्यकता होती है और वह दिन प्रतिदिन बदलती जाती

है। 1980 के दशक के चमत्कारी उद्योगों ने, जिनकी शुरुआत माइक्रो इलैक्ट्रानिक्स के विकास के साथ जुड़ी हुई है, दुनिया की काया पलट दी है और उसे सिकोड़कर संसार के उन्नत साधनों द्वारा, उसकी दूरी को सैकंडों के अंदर कर दिया है। कंप्यूटर, इलैक्ट्रॉनिक्स और सिंथेसिस नाम की तीन बड़ी तकनीकों ने सूचना और परिवहन के क्षेत्रों में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिए हैं। अब ये उद्योग तेजी से बढ़ रहे हैं। इन उन्नत उद्योगों से बहुत अधिक मूल्य-वृद्धि प्राप्त होती है और उनकी तकनीक ऐसी होती है कि अक्सर मानव श्रम के सीधे उपयोग को बहुत सीमित कर देती है।

ओवर ड्राफ्ट : यह बैंक द्वारा अपने ग्राहकों को दी गई एक सुविधा होती है जिसके अनुसार उसके ग्राहक अपने चालू खाते से एक सुनिश्चित सीमा में एक निश्चित अवधि तक जमा राशि से अधिक का आहरण कर सकते हैं। ऋण की सुविधा का उपयोग करने पर वास्तविक रूप से ली गई राशि पर ब्याज देना पड़ता है और इसीलिए यह घटते-बढ़ते व्ययों की वित्तीय व्यवस्था करने का तुलनात्मक रूप से एक सस्ता तरीका है। ऋण की शर्त आमतौर पर यह होती है कि बैंक द्वारा मांगे जाने पर उसे वापस करना पड़ता है या समझौते की अवधि समाप्त होने पर लौटाना पड़ता है और इस प्रकार यह अवधिक ऋण से भिन्न होता है। ओवर ड्राफ्ट एक प्रकार की सुविधा है जो उधार लेने वाले को पहले किए गए समझौते के अनुसार खाते में उपलब्ध मुद्रा से अधिक राशि का आहरण करने की अनुमति देती है। राज्य सरकारों को ये सुविधाएं भारतीय रिजर्व बैंक से मिलती हैं।

सार्वजनिक ऋण : इसका संबंध सरकार द्वारा वित्त की वृद्धि करने से है। अपने क्रियाकलापों की वित्तीय व्यवस्था के लिए सरकार आम जनता से ऋण लेती है। ऋण लेते समय सरकार जनता को ब्याज वाली प्रतिभूतियां और बांड (बंध पत्र) बेचती है और इनसे उसे सार्वजनिक ऋण प्राप्त होता है। चूंकि इन प्रतिभूतियों को खरीदते समय जनता नकद पैसा देती है या वह फिर से सरकार को पुरानी प्रतिभूतियां बेचती है तो उनको मुद्रा प्राप्त होती है। इसका यह परिणाम होता है कि प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के साथ मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन आते रहते हैं। भारत में रिजर्व बैंक, केन्द्र और राज्य सरकारों की ओर से सार्वजनिक ऋणों को जारी करती है।

सामाजिक लागत-लाभ विश्लेषण : यह परियोजनाओं का मूल्यांकन करने और उनके निवेश की उपयोगिता का अंदाज लगाने का एक तरीका है जिसमें सभी सामाजिक और वित्तीय लागतें और उनसे मिलने वाले तदनुरूप लाभ शामिल होते हैं, जिनका संबंध व्यक्ति विशेष से न होकर पूरे समाज से होता है। इस विधि से यह पता लगाया जाता है कि परियोजना के लाभ उसकी लागत से अधिक है या नहीं।

बद्ध सहायता : दाता देशों से मिलने वाली सहायता में कभी-कभी बहुत-सी शर्तें लगी होती हैं। इनमें ये हो सकती हैं, यथा प्राप्तकर्त्ता देश, प्राप्त मुद्रा का उपयोग चर्चित योजनाओं को लगाने में ही कर सकता है, उस मुद्रा से वही विशेष माल ले सकता है और उसे दाता देश द्वारा बताए गए स्रोतों और खास करके दाता देश के उत्पादकों से ही खरीदा जा सकता है।

ट्रेजरी बिल : सरकार द्वारा अल्प अवधि ऋण (तीन महीने या 90 दिन) लेने के ट्रेजरी बिल प्रमुख उपकरण हैं और वे मुद्रा-बाज़ार में सुविधाजनक उत्कृष्ट (gift edged) प्रतिभूतियों का काम करते हैं। ऊँची तरलता (नकदी), चूक की जोखिम की अनुपस्थिति और परिपक्वता से पहले (समय से पहले) बेचने पर पूंजी का बहुत मामूली अवमूल्यन, इन सब विशेषताओं के कारण, बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाओं के लिए, अवधि के निवेश हेतु एक आदर्श तरीका साबित होता है।

मजदूरी माल : इसमें वे चीजें आती हैं जो आम उपयोग या जरूरतों की होती है जैसे अनाज और सस्ते कपड़े आदि, जो कामगारों की अपरिहार्य आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। आम तौर से, मजदूरी करने वाले लोगों की आय का एक बहुत बड़ा भाग इन मदों पर खर्च होता है और यही कारण है कि इन्हें मजदूरी माल कहा जाता है।

अर्थोपाय अग्रिम : अर्थोपाय अग्रिम अस्थायी अग्रिम होते हैं जो भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों को इसलिए दिए जाते हैं ताकि वे व्यय और राजस्व-प्राप्ति के प्रवाह के बीच के अंतराल को पार कर सकें। ये अग्रिम कुछ खास सीमाओं के अंदर ही दिए जाते हैं जिनका उद्देश्य सीमांत और अप्रत्याशित किंतु बिल्कुल अस्थायी कठिनाइयों को दूर करना होता है, जो राजस्व और उन प्राप्तियों में कमी आने के कारण उत्पन्न होती हैं जिनकी जरूरत सरकार को अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए होती है। इन अग्रिमों का लेने की तारीख से तीन महीने के अंदर ही भुगतान करना पड़ता है।

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नाथूराम का, लक्ष्मीनारायण : *भारतीय अर्थशास्त्र,* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक आगरा : 1990, खंड 5 अध्याय 45

धींगरा, ईश्वर एवं वी.के. गर्ग : *भारत में आर्थिक विकास एवं नियोजन,* सुलतान चंद एंड संस, नई दिल्ली : 1989, अध्याय 32

अग्रवाल, ए.एन. : *भारतीय अर्थव्यवस्था : विकास एवं आयोजन,* वाहली ईस्टर्न लि. नई दिल्ली : 1988, अध्याय 18, 19 एवं 20

रुद्रदत्त एवं के.पी.एम. सुंदरम् : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* सुलतान चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली : 1990, अध्याय 13

मिश्र एस.के. एवं वी.के. पुरी : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई : 1989, अध्याय 17

Balasubramanyam V.N., *The Economy of India,* Westview Press, Colorado, (Chapters 4 & 8).

Kapila Uma (ed.), *Indian Economy Since Independence,* SYNAPSE, Delhi, 1988, the following articles : (i) Article No. 9, Amaresh Bagchi, "Fiscal Policies for Planning Development"; (ii) Article No. 12, K. Krishnamurthy, et.al., "Savings Behaviour in India" : An Overview".

Sundrum R.M., *Growth and Income Distribution in India,* Sage Publications, New Delhi, 1987 (Chapter 11).

Wadhva C.D. (ed.), *Some Problems of India's Economic Policy,* Tata McGraw-Hill, New Delhi, 1983; refer to the following articles : Sukhamoy Chakraborty, "Reflections on the Growth Process in the Indian Economy"; I.Z. Bhatty and M.T.R. Sarma, "Savings Behaviour in India and Implications for Policy".

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 9.2.1, ए पढ़िए और उत्तर दीजिए।

2) उपभाग 9.2.2. पढ़िए। कराधान के तीन प्रमुख कार्य हैं—संसाधनों का जुटाव आय का पुनर्वितरण और बाजार की मांग का नियंत्रण।

3) यह चालू और पूंजी प्राप्तियों सहित बजटीय प्राप्तियों की तुलना में सरकारी व्यय का आधिक्य है।

बोध प्रश्न 2

1) उपभाग 9.3.1 का पहला पैरा पढ़िए और उत्तर दीजिए।

2) उपभाग 9.3.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

3) क) स, ख) ग, ग) ग

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 9.5.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए प्रादेशिक विभिन्नताओं, आय की असमानताओं और परियोजना की सामाजिक लागत में कमी की बातें इनके पक्ष में कही जा सकती हैं।

2) भाग 9.7 पढ़िए। घाटा वित्तीयन की प्रवृत्ति को समझिए और उत्तर दीजिए।

3) भाग 9.7 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) उपभाग 9.8.2 और 9.8.5 पढ़िए और विदेशी सहायता के प्रमुख कार्यों और योगदान को मालूम कीजिए।

2) उपभाग 9.8.7 पढ़िए, ऋण-सेवा भार की, सकल विदेशी सहायतां, राष्ट्रीय आय, निर्यात आय, कर राजस्व और आंतरिक बचतों के साथ इसके संबंधों के संदर्भ में, व्याख्या कीजिए।

3) उपभाग 9.8.8 पढ़िए और बद्ध सहायता द्वारा लादी गई बाध्यता के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए।

बोध प्रश्न 5

1) उपभाग 9.9.1 पढ़िए और उसमें बताए गए विभिन्न चरणों का संक्षेपण कीजिए।

2) उपभाग 9.9.2 पढ़िए और देखिए कि समग्र वृद्धि-पूंजी-उत्पाद अनुपात की वृद्धि तो क्षेत्रीय औसत-पूंजी-उत्पाद अनुपात में बढ़ौती होने से होती है और कुछ पूंजी निर्माण की रचना में परिवर्तनों के कारण होती हैं, इस बात पर भी ध्यान हो कि योजना काल में कृषि और गैर-कृषि क्षेत्र के बीच क्षेत्रीय वृद्धि-पूंजी-उत्पाद का अंतराल घटा है।

3) i) ग, ii) ग, iii) ग, iv) स, v) स

खंड

5

मुद्रा, बैंकिंग तथा लोक वित्त

इकाई 10
मुद्रा-नीति, बैंकिंग और सहकारी समितियाँ 5

इकाई 11
लोक वित्त 28

विशेषज्ञ समिति

प्रो॰ व्हाई. के. अलघ
सदस्य, योजना आयोग
नई दिल्ली

प्रो॰ अमिय के॰ बागची
निदेशक
समाज विज्ञान अध्ययन केंद्र
कलकत्ता

प्रो॰ बी॰ बी॰ भट्टाचार्य
इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनोमिक ग्रोथ
दिल्ली

प्रो॰ बी॰ सर्वेश्वर राव
अर्थशास्त्र विभाग (सेवा-निवृत्त)
आन्ध्र विश्वविद्यालय
वाल्टेयर
(आन्ध्र प्रदेश)

प्रो॰ सी॰ एच॰ हनुमंत राव (अध्यक्ष)
इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनोमिक ग्रोथ
दिल्ली

प्रो॰ टी॰ एन॰ कृष्णन्
अध्यक्ष
सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज़
त्रिवेन्द्रम

प्रो॰ नीलकंठ रथ
गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स
एण्ड इकॉनोमिक्स
पुणे (महाराष्ट्र)

प्रो॰ बोधायन चट्टोपाध्याय (संयोजक)
अर्थशास्त्र विभाग,
इं॰गां॰रा॰मु॰वि॰
नई दिल्ली

पाठ निर्माण दल

डॉ॰ बी॰ बी॰ भट्टाचार्य
इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

डॉ॰ अमल सान्याल
सेंटर फॉर इकोनॉमिक स्टडीज़
एण्ड प्लानिंग
स्कूल ऑफ सोशल साइंसेज़
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

सचिवालयिक सहायक:
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय

प्रवीण कुमार शर्मा
श्रीमती शान्ति रामचन्द्रन

संकाय सदस्य: इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो॰ बोधायन चट्टोपाध्याय
डॉ॰ श्रवण कुमार सिंह

श्री अर्घ्य कुसुम मित्र
श्री कौस्तुभ बरिक
कु॰ मधु बाला
डॉ॰ एस॰ सी॰ शर्मा
श्री गौतम चंद्र
श्री आर॰ए॰ चौधरी
श्री जी॰ वी॰ रमणा

प्रो॰ बी॰ एन॰ कौल (संरचना संपादक)
प्रो॰ जी॰ सांबशिव राव (भाषा संपादक)

अनुवाद

श्री रामतप पाण्डेय
नई दिल्ली

श्री ओमप्रकाश अग्रवाल
नई दिल्ली

सचिवालयिक सहायक:
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री हरीश कुमार सेठी

संकाय सदस्य: इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो॰ वी॰ रा॰ जगन्नाथन
डॉ॰ भगत सिंह
श्री नूर नबी अब्बासी

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अगस्त, 199' (पुनर्मुद्रित)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991
ISBN-81-7091-541-4

खंड 5 का परिचय

खंड 5 में नियोजन रणनीति के अस्त्र स्वरूप सार्वजनिक नीति से सम्बद्ध मौद्रिक एवं वित्तीय पक्षों का विवेचन किया गया है। नियोजन रणनीति की चर्चा पिछले खंड में की जा चुकी है।

इस खंड में दो इकाइयाँ हैं – इकाई 10 और इकाई 11 इकाई 10 में मौद्रिक संस्थाओं और नीतियों के संबंध में चर्चा की गई है जिसके अंतर्गत केन्द्रीय बैंक तथा ग्रामीण और सकहारी बैंक आ जाते हैं। इकाई 11 में लोक वित्त और नीतियों के क्षेत्र के संबंध में चर्चा की गई है, अर्थात् वित्तीय संसाधनों को जुटाने तथा केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच उनका वितरण/इस इकाई में कराधान और घाटा वित्तीयन के सिद्धान्तों और समस्याओं के संबंध में भी विवेचन किया गया है।

इकाई 10 मुद्रा नीति, बैंकिंग और सहकारी समितियाँ

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 हमारी मुद्रा प्रणाली का ढाँचा
  10.2.1 संगठित मुद्रा बाज़ार
  10.2.2 असंगठित मुद्रा बाज़ार
10.3 मुद्रा पूर्ति तंत्र
  10.3.1 मुद्रा पूर्ति की परिभाषा
  10.3.2 भारत में मुद्रा पूर्ति में वृद्धि
  10.3.3 मुद्रा चलन-वेग
  10.3.4 मुद्रीकरण
10.4 रिज़र्व मुद्रा और मुद्रा गुणक
  10.4.1 रिज़र्व मुद्रा
  10.4.2 मुद्रा गुणक
10.5 बैंकिंग और साख पद्धति
  10.5.1 बैंकों के प्रकार
  10.5.2 बैंक ऋण का ढाँचा
  10.5.3 ब्याज दरों का ढाँचा
10.6 रिज़र्व बैंक की भूमिका
  10.6.1 केन्द्रीय बैंक के रूप में रिज़र्व बैंक
  10.6.2 संस्थाओं के संवर्धक के रूप में रिज़र्व बैंक
  10.6.3 सरकार के बैंकर के रूप में रिज़र्व बैंक
10.7 भारत में मुद्रा नीति
  10.7.1 भारत में मुद्रा नीति का क्षेत्र
  10.7.2 भारत में मुद्रा नीति की सीमाएँ
10.8 भारत में मुद्रा नीति के उद्देश्य
  10.8.1 कीमत स्थिरता
  10.8.2 मुद्रा नीति के अन्य उद्देश्य
10.9 मुद्रा नीति के साधन
  10.9.1 नकदी-रिज़र्व अनुपात
  10.9.2 सांविधिक नकदी अनुपात
  10.9.3 बैंक दर
  10.9.4 पुनर्वित्त नीति
  10.9.5 खुले बाज़ार की क्रियाएँ
  10.9.6 चयनात्मक साख नियंत्रण
  10.9.7 ब्याज दर नीति
  10.9.8 नैतिक प्रत्यायन
10.10 चक्रवर्ती समिति की रिपोर्ट
10.11 वाणिज्य बैंकिंग में प्रारंभिक विकास
10.12 बैंक राष्ट्रीयकरण
  10.12.1 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य
  10.12.2 राष्ट्रीयकरण के बाद की मुख्य कार्रवाइयाँ
10.13 राष्ट्रीयकरण के बाद विकास
  10.13.1 बैंक जमा में वृद्धि
  10.13.2 बैंक जमा का ढाँचा
  10.13.3 बैंक ऋण का स्वरूप
  10.13.4 कठिनाइयाँ और चुनौतियाँ
10.14 सहकारी बैंकिंग और कृषि ऋण
  10.14.1 रिज़र्व बैंक और ग्रामीण ऋण प्रणाली
  10.14.2 सहकारी बैंकिंग
  10.14.3 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक
  10.14.4 कृषि और ग्राम विकास राष्ट्रीय बैंक
  10.14.5 कृषि वित्त का संस्थागत ढाँचा
10.15 सारांश
10.16 शब्दावली
10.17 कुछ उपयोगी पुस्तकें
10.18 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप भारत की मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओं के स्वरूप और कार्यों के संबंध में पढ़ेंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- भारत की मुद्रा प्रणाली के ढाँचे को समझ सकेंगे;
- भारत में मुद्रा नीति के उद्देश्यों और साधनों के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- यह बता पाएंगे कि मुद्रा संबंधी नीतियों के निरूपण और कार्यान्वयन में भारतीय रिज़र्व बैंक की क्या भूमिका होती है और उससे संबंधित वाणिज्य बैंकों के क्या कार्य हैं;
- वाणिज्य बैंकिंग की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

विभिन्न अंकित मूल्यों के रुपए के नोटों (2 रु०, 5 रु०, 10 रु० आदि) और सिक्कों से हम सभी परिचित हैं और जानते हैं कि भारत में खरीदे-बेचे जाने वाले किसी भी पदार्थ (वस्तुओं, सेवाओं, ऋण) के भुगतान के लिए उन्हें उपयोग में लाया जा सकता है। किसी देश के अंतर्गत, जिन वस्तुओं को किसी वस्तु, सेवा या ऋण के लिए भुगतान के रूप में स्वीकार किया जाता है उन्हें **मुद्रा** कहा जाता है। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि जिस वस्तु को भी लोग अन्य वस्तुओं के विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार करने को इच्छुक हो जाते हैं वह मुद्रा का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार प्राचीन काल में अधिकतर समाजों में लोग आम सहमति से धातु, पत्थर, सीप-शंख, पक्षियों के पंख और चोंच, पशुओं तथा कभी-कभी दासों जैसी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उपयोग मुद्रा या **विनिमय के माध्यम** (Medium of Exchange) के रूप में करते थे। इसी प्रकार से मुद्रा के रूप में काम में आने वाली किसी वस्तु को लोग यदि अपनी वस्तु की कीमत के रूप में स्वीकार करने से मना करने लगें तब वह मुद्रा नहीं रह जाती। इसका एक दृष्टांत है **अतिस्फीति** (Hyper inflation) की स्थिति, जब कीमतें बड़ी तेज़ी से बढ़ती हैं। मान लीजिए कि कीमतें प्रतिदिन दुगुनी होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में कुछ बेचने से यदि 100 रुपये मिलते हैं परंतु उसी दिन उनका उपयोग नहीं किया जाता, इसके बदले कल जो कुछ मिलेगा वह आज की तुलना में आधा हो जायेगा। इसका अर्थ है कि बिक्री-आय के आधे का नुकसान उठाना होगा। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि लोग अपनी वस्तुओं की कीमत के रूप में रुपया लेने से मना कर दें और वे भुगतान के रूप में अन्य उपयोगी वस्तुओं को लेना चाहें। इस प्रकार रुपया मुद्रा नहीं रह पाएगा। **अतिस्फीति** की स्थिति में अनेक देशों में ऐसा हुआ भी है।

रुपयों के नोटों तथा सिक्कों के अतिरिक्त एक और भी वस्तु है जो मुद्रा का कार्य करती है। इसे बैंकों की **माँग जमा राशि** (Demand deposit) कहा जाता है। माँग जमा राशि से अभिप्राय उस राशि से होता है जो चैक-योग्य बैंक खाते में जमा होती है, अर्थात् वह खाता जिसमें जमा राशि के एक अंश को निकालने के लिए धारक किसी को चैक दे सकता है। मान लीजिए कि स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में मेरा चैक-योग्य खाता है। "क" नामक एक अन्य व्यक्ति का भी खाता इसी बैंक में है। मान लीजिए कि मैं "क" से 1000 रुपये की कोई वस्तु खरीदता हूँ और उसे 1000 रुपये का चैक दे देता हूँ। इस स्थिति में बैंक मेरे खाते से 1000 रुपये घटाकर "क" खाते की राशि में 1000 रुपये जोड़ देगा। यह ध्यान देने की बात है कि "क" को वस्तु तो मेरे पास आ गई परंतु इसके लिए किसी करेन्सी नोट का आदान-प्रदान नहीं हुआ बल्कि आदान प्रदान हुआ है बैंक जमा का — मेरे खाते से "क" के खाते में। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समाज में बैंकिंग की आदतें विकसित हो चुकी हैं उसमें चैक योग्य या माँग जमा करेन्सी नोटों का काम कर सकती है। इसलिए माँग जमा को करेन्सी नोटों के बराबर मूल्य पर मुद्रा पूर्ति का अंग माना जाता है।

ई० ई० सी०-01 के खंड 4 में आपको मुद्रा की संकल्पना और भूमिका तथा मुद्रा नीति के संबंध में बताया जा चुका है। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि विभिन्न प्रकार की मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओं का भारत के आर्थिक विकास में क्या योगदान है, समय के साथ-साथ उनमें किस प्रकार से विकास हुआ है, उनकी क्या सफलताएँ और असफलताएँ रही हैं तथा उन पर सरकार का कितना नियंत्रण है।

10.2 हमारी मुद्रा प्रणाली का ढाँचा

स्वतंत्रता के पूर्व इस देश की मौद्रिक और वित्तीय संस्थाएँ अविकसित थीं और वे केवल बड़े पैमाने के उद्योगों, वाणिज्य एवं विदेश व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं। बैंकिंग प्रणाली पर भी कुछ थोड़ी-सी मैनेजिंग एजेन्सियों का आधिपत्य था। ये विस्तृत कृषि क्षेत्र एवं अन्य असंगठित आर्थिक क्रियाओं की लगभग पूर्णतः उपेक्षा करती थीं। ई० ई० सी०-02 के खंड 1 में इस संबंध में हम कुछ पढ़ चुके हैं। परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओं में तेजी से विकास हुआ। 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद विशेषतः ऐसा हुआ। अब तो लगभग समस्त नगर अर्थव्यवस्था

और ग्राम अर्थव्यवस्था के बहुत बड़े भाग में ये संस्थाएँ फैली हुई हैं। सभी प्रमुख बैंक तथा वित्तीय संस्थाएँ सरकार के स्वामित्व में हैं। मैनेजिंग एजेंसियों को समाप्त कर दिया गया है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों और नगरों के असंगठित मुद्रा बाज़ारों में निजी वित्तीय संस्थाएँ तथा साहूकार और महाजन अभी भी कार्यरत हैं।

इस देश में बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएँ अपने परंपरागत व्यवसाय तो करती ही हैं परन्तु इसके साथ-साथ देश के आर्थिक विकास में भी उनकी प्रमुख भूमिका है। उद्योग, कृषि तथा अन्य उत्पादक क्रियाओं में निजी और सरकारी निवेश के लिए वे घरेलू बचतों को जुटाती हैं। बैंकिंग विकास के फलस्वरूप घरेलू बचत दर में भी वृद्धि हो गई है। निर्धनता निवारक कार्यक्रमों, रोज़गार मूलक क्रियाओं तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों के लिए बैंक धन की व्यवस्था करते हैं। अर्थव्यवस्था के पिछड़े तथा अन्य प्राथमिक क्षेत्रकों को ऋण देने के लिए सरकार बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का विनियमन करती है। फिर भी बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के विकास के संबंध में अनेक कमियाँ हैं। दूसरी बात यह है कि मौद्रिक एवं वित्तीय संस्थाएँ अपने आप ही विकास और कल्याण को बढ़ावा नहीं दे सकतीं।

भारत के मुद्रा बाज़ार की परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि यह मौद्रिक और वित्तीय परिसंपत्तियों के लेन-देन का केन्द्र है। इस देश के मुद्रा बाज़ार के दो क्षेत्रक हैं: संगठित क्षेत्रक और असंगठित क्षेत्रक।

10.2.1 संगठित मुद्रा बाज़ार

संगठित मुद्रा बाज़ार के अंतर्गत मुख्यतः भारतीय रिज़र्व बैंक (जो देश के केन्द्रीय बैंक का कार्य करता है), स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, अन्य वाणिज्य बैंक, जीवन बीमा निगम, जनरल इंश्यूरेंस कार्पोरेशन और यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया आते हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक संगठित मुद्रा बाजार का विनियमन करता है। वाणिज्य बैंक रिज़र्व बैंक से दो प्रकार से निधियाँ ले सकते हैं: ऋण लेकर या प्रतिभूतियों को बेचकर। इस प्रकार रिज़र्व बैंक केवल ऋण प्रवाह को ही प्रभावित नहीं करता बल्कि अन्य वित्तीय संस्थाओं के लिए अपने ऋण की लागत और उसकी उपलब्धता में कमी-बेशी करके अर्थव्यवस्था की समस्त नकदी पर भी प्रभाव डालता है। संगठित मुद्रा बाजार का क्षेत्र जितना ही विस्तृत होगा, मुद्रा प्रणाली में रिज़र्व बैंक का प्रभाव उतना ही अधिक होगा। संगठित मुद्रा बाज़ार के व्यवहार के संबंध में इसी इकाई में आप और अधिक पढ़ेंगे।

10.2.2 असंगठित मुद्रा बाज़ार

असंगठित मुद्रा बाज़ार के अंतर्गत साहूकार (Money lender), महाजन (Indigenous bankers) तथा चिट फंड जैसे अनेक वित्तीय बिचौलिए आते हैं। इस बाज़ार में अल्पकालिक और दीर्घकालिक वित्त तथा वित्त के विभिन्न प्रयोजनों के बीच विशेष अंतर नहीं होता। इस बाज़ार में अधिकतर लेन-देन का काम वित्तीय प्रतिभूतियों के औपचारिक हस्तांतरण के बिना ही हो जाता है। आम विनिमय का माध्यम हुंडी होती है जो देशी विनिमय पत्र है। कभी-कभी हुंडी उस दर पर बट्टागत की जाती है जिसे ब्याज हुंडी दर कहा जाता है। यह दर प्रायः संगठित मुद्रा: बाजार की ब्याज दरों से बहुत अधिक होती है। असंगठित मुद्रा-बाज़ार की ऋण और जमा राशि की ब्याज दरें प्रायः संगठित मुद्रा बाज़ार की दरों की तुलना में बहुत अधिक होती हैं।

ग्रामीण-क्षेत्रों में महाजनों तथा साहूकारों की ही प्रधानता है। 1981 के अखिल भारतीय ऋण और निवेश सर्वेक्षण के अनुसार कृषि ऋण का 90 प्रतिशत महाजनों, मित्रों और संबंधियों से लिया जाता है। नगर क्षेत्रों में भी छोटे-छोटे और खुदरे व्यापारियों तथा लघु उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति असंगठित मुद्रा बाज़ार करता है। महाजन (Indigenous bankers) लोगों की राशि को अपने पास जमा रखते, हुंडियों को बट्टागत करते तथा खुदरा व्यापार और लघु उद्योगों के लिए वित्त की व्यवस्था करते हैं। महाजन प्रायः जमानत पर उधार देते हैं जो वस्तु या वित्त के रूप में होता है। साहूकार (Money lender) लोग प्रायः लोगों की राशियों को अपने पास जमा नहीं रखते हैं तथा वे बिना जमानत के ही उधार दे देते हैं। इसी कारण साहूकारों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दर महाजनों की तुलना में बहुत अधिक होती है। महाजन वाणिज्य बैंकों की अपेक्षा अधिक दर से ब्याज लेते हैं। साहूकार विवाह आदि समारोह तथा कार्यों पर उपभोग के लिए भी उधार देते हैं। संगठित बैंकिंग क्षेत्र के कार्यों का बहुत बड़े भौगोलिक क्षेत्र में विस्तार तथा छोटे-छोटे उधार लेने वालों और ग्राम परिवारों को दिए जाने वाले बैंक ऋण में वृद्धि से असंगठित मुद्रा बाज़ार की भूमिका धीरे-धीरे घटती जा रही है।

10.3 मुद्रा पूर्ति तंत्र

मुद्रा पूर्ति के संबंध में 1961 में रिज़र्व बैंक द्वारा गठित कार्यकारी दल ने भारत में मुद्रा पूर्ति की परिभाषा और उसके विश्लेषण के लिए ढाँचा प्रस्तुत किया है।

10.3.1 मुद्रा पूर्ति की परिभाषा

जनता के पास की मुद्रा पूर्ति के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं:

i) जनता के पास के करेन्सी नोट और सिक्के,

ii) अनुसूचित बैंक, रिपोर्टिंग अनुसूचित बैंक और राज्यों के सहकारी बैंकों की माँग जमा, और

iii) रिज़र्व बैंक (RBI) का अन्य चालू खाता जमा।

कार्यकारी दल ने यह भी सुझाव दिया कि मुद्रा पूर्ति की परिभाषा व्यापक होनी चाहिए जिसके अंतर्गत उपर्युक्त संकुचित परिभाषा तथा बैंकों के पास का मियादी जमा भी आ जाए। व्यापक परिभाषा को समस्त मुद्रा संसाधन (Aggregate Monetary Resources) का नाम दिया गया।

रिजर्व बैंक ने मुद्रा-पूर्ति के संबंध में दूसरे कार्यकारी दल का गठन 1977 में किया। इस दल ने मुद्रा पूर्ति की परिभाषा में संशोधन किया और निम्नलिखित विकल्प सुझाए:

M_1 : जनता के बीच संचलन में करेन्सी, वाणिज्य और सहकारी बैंकों की माँग जमा राशि तथा रिज़र्व बैंक के पास की अन्य चालू खाता जमा राशि का योग।

M_2 : M_1 और डाकघर बचत बैंकों के पास की बचत जमा राशि का योग।

M_3 : M_1 और बैंकों की मियादी जमा राशि का योग।

M_4 : M_3 और कुल डाकघर जमा का योग (राष्ट्रीय बचत प्रमाणपत्रों को छोड़कर)।

भारत में मुद्रा पूर्ति की माप के लिए M_1 और M_3 का प्रयोग सबसे अधिक किया जाता है। M_1 शुद्ध मुद्रा है और M_3 मुद्रा का व्यापक माप है। मुद्रा नीति विश्लेषण में M_2 और M_4 का प्रयोग नहीं किया जाता क्योंकि इनके अंतर्गत डाकघर जमा भी आ जाती है जिसे सामान्य रूप में विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता।

10.3.2 भारत में मुद्रा पूर्ति में वृद्धि

आप जानते हैं कि मुद्रा की माँग और पूर्ति के ही अनुसार मुद्रा के स्टॉक में भी वृद्धि हो जाती है। मुद्रा की माँग राष्ट्रीय आय, ब्याज दर और संपत्ति पर निर्भर करती है। भारत में मुद्रा की माँग इसलिए भी बढ़ती जा रही है क्योंकि यहाँ पर परंपरागत रूप से हो रहे मुद्राहीन लेन-देनों का धीरे-धीरे मुद्रीकरण होता जा रहा है जैसे कि मज़दूरी और लगान तथा वस्तु-विनिमय के रूप में किए जाने वाले ब्याज का भुगतान। मुद्रा पूर्ति का सृजन सरकार और बैंकों द्वारा होता है। मुद्रा के विभिन्न घटकों में विभिन्न रूपों में वृद्धि होना उनके लिए सापेक्ष माँग और पूर्ति के ऊपर निर्भर करता है।

तालिका 10.1 में दिखाया गया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल में इस देश में पूंजी के स्टॉक में कितनी वृद्धि हुई है। इसमें आप देखेंगे कि पाँचवे दशक में करेन्सी मुद्रा पूर्ति का प्रमुख घटक थी और कुछ मुद्रा पूर्ति (M_3) में इसका अंश लगभग 70 प्रतिशत था। M_3 में संचलन के अंतर्गत की करेन्सी का अंश भी बहुत अधिक था, अर्थात् लगभग 60 प्रतिशत 1960-61 में भी चलन के अंतर्गत की करेन्सी मुद्रा पूर्ति का सर्वप्रमुख घटक थी। उसके पश्चात् मुद्रा पूर्ति में करेन्सी का अंश घटने लगा। 1970-71 में यह घटकर M_3 का 40 प्रतिशत और 1987-88 में 20 प्रतिशत हो गया। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग की सुविधाएँ पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं होने के कारण वहाँ पर करेन्सी की माँग अपेक्षाकृत अधिक होती है। कृषक, अशिक्षित और निर्धन लोग बैंक चैकों की तुलना में नकद लेन-देन को अधिक पसंद करते हैं। जब अर्थव्यवस्था अधिक अविकसित और गतिहीन थी तब बैंक जमा की अपेक्षा करेन्सी की माँग अधिक थी। सामान्य तौर पर समस्त देश में और विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में जैसे-जैसे बैंकिंग की सुविधाएँ बढ़ती जाती हैं वैसे-वैसे बैंकिंग आदतों का भी प्रसार होता जाता है; और अर्थव्यवस्था में जैसे-जैसे गति आती जाती है वैसे-वैसे आर्थिक क्रियाओं की गतिशीलता और मात्रा भी बढ़ती जाती है तथा इन क्रियाओं को सरल बनाने के उद्देश्य से लोग बैंकों का अधिकाधिक उपयोग करते हैं। राष्ट्रीय आय में कृषि तथा अन्य असंगठित आर्थिक क्रियाओं के सापेक्ष अंश के कम होने और कृषि के वाणिज्यीकरण में वृद्धि होने के फलस्वरूप भी विनिमय के माध्यम के रूप में करेन्सी की अपेक्षा बैंक जमा में अधिक तेजी से विस्तार हुआ है।

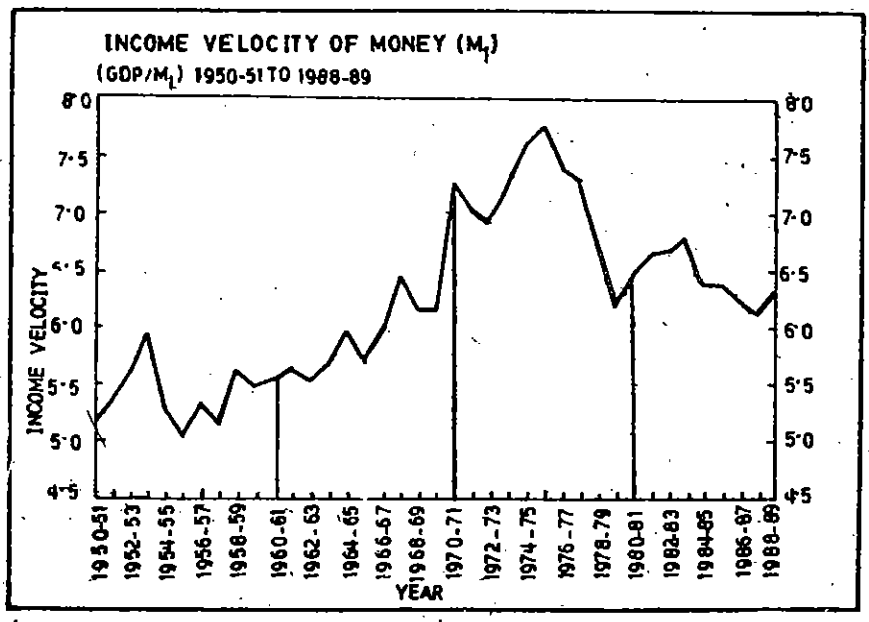

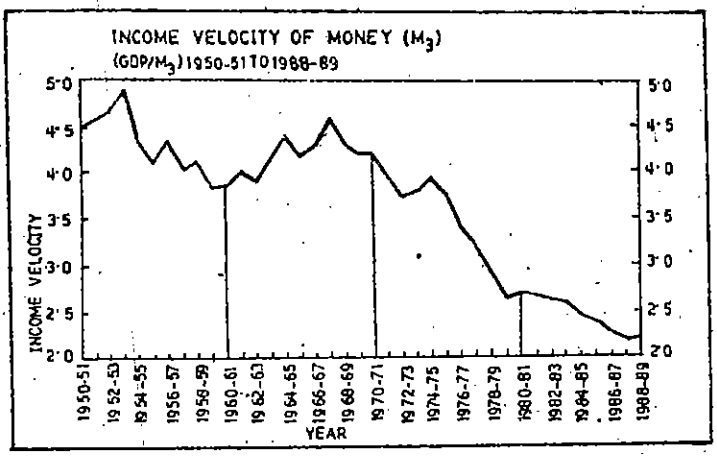

चित्र 10.2

तालिका 10.1: भारत म मुद्रा पूर्ति में वृद्धि

(वर्ष के अंत में, करोड़ रुपये में)

वर्ष	चलन में मुद्रा	माँग जमा *	मुद्रा पूर्ति M_1	मियादी जमा	मुद्रा पूर्ति M_3	डाकघर	व्यापक मुद्रा
1950-51	1367	609	1976	311	2287		
1960-61	2098	769	2867	1095	3962		
1970-71	4367	2954	7321	3637	10958	1184	12142
1975-76	6704	6439	13143	9143	22286	3179	25465
1980-81	13464	9653	23117	32241	35358	6512	61870
1985-86	25168	18431	43599	74739	118338	11772	130110
1987-88	33644	24012	57656	104549	162205	11004	173209

स्रोत: * रिज़र्व बैंक के पास अन्य जमा राशि को सम्मिलित करके।
रिज़र्व बैंक रिपोर्ट आफ करेंसी एंड फ्यनेंस

1950-51 में माँग जमा की राशि 609 करोड़ रुपए थी जो 311 करोड़ रुपए की मियादी जमा राशि की लगभग दुगुना थी। लेकिन कुछ समय के बाद मियादी जमा राशि माँग जमा राशि के आगे ही नहीं बढ़ गई बल्कि इसमें इतनी तेज़ी से वृद्धि हुई कि 1987-88 तक माँग जमा राशि मियादी जमा राशि की एक-चौथाई से भी कम हो गई। मांग जमा राशि के अंतर्गत व्यवसाय प्रतिष्ठानों की चालू जमा राशि तथा व्यक्तियों की बचत जमा राशि के वे अंश आते हैं जिनका उपयोग वे अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लिए करते हैं। मियादी जमा राशि के अंतर्गत सावधि जमा राशि तथा बचत जमा राशि का वह अंश आता है जिसे बचत करने के लिए रखा जाता है। माँग जमा की अपेक्षा मियादी जमा में तेजी से वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि माँग जमा मात्र तरल मुद्रा परिसम्पत्ति है जबकि मियादी जमा बचत के साधन का भी काम करती है।

तालिका 10.1 से यह भी पता चलता है कि डाकघर बचत जमा राशि की अपेक्षा वाणिज्य बैंक बहुत अधिक लोकप्रिय हैं। 1970-71 में डाकघर बचत जमा कुल बचत जमा का लगभग पाँचवाँ भाग थी परन्तु 1987-88 तक यह घटकर दसवें भाग से भी कम हो गई। डाकघर प्रायः वाणिज्य बैंकों की तुलना में अधिक ब्याज दर देते हैं। लेकिन डाकघर जमा वाणिज्य बैंक जमा के समान तरल नहीं होती। इसके अतिरिक्त डाकघर में चैकों द्वारा भुगतान भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए डाकघर बचत जमा से अधिक ब्याज मिलने के बावजूद लोग डाकघरों की अपेक्षा बैंकों में जमा करना अधिक पसंद करते हैं।

10.3.3 मुद्रा चलन वेग (Velocity of Money)

भारत में मुद्रा के आय वेग (Income Velocity of Money) में काफी उतार-चढ़ाव होता रहा है। मुद्रा के आय-वेग का अर्थ होता है वर्तमान बाज़ार कीमतों पर सकल देशीय उत्पाद (GDP) और वर्ष के अंतर्गत मुद्रा के औसत स्टॉक का अनुपात (तालिका 10.2 तथा चित्र 10.1 और चित्र 10.2 देखें)। वर्ष 1950-51 और 1976-77 के बीच M_1 का आय वेग 5.2 से बढ़कर 7.8 हो गया और इसके बाद 1988-89 में घटकर यह 6.3 हो गया। M_3 का आय वेग प्रायः लगातार गिरता गया है। 1950-51 के 4.5 से गिरते हुए यह 1988-89 तक 2.2 रह गया। ग्राफों में हम देखते हैं कि इन वर्षों के बीच M_1 और M_3 के आय वेग में काफी उतार-चढ़ाव हुए।

तालिका 10.2 मुद्रा का आय वेग

वर्ष	सकल देशीय उत्पाद M_1 का औसत स्टॉक	सकल देशीय उत्पाद M_3 का औसत स्टॉक
1950-51	5.2	4.5
1960-61	5.5	3.8
1970-71	7.3	4.2
1980-81	6.5	2.7
1985-86	6.4	2.4
1988-89	6.3	2.2

स्रोत: भारतीय रिज़र्व बैंक — 1989-90 की वार्षिक रिपोर्ट

10.3.4 मुद्रीकरण (Monetisation)

विकसित देशों में लगभग सभी आर्थिक कार्यों का मुद्रीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में लगभग 99 प्रतिशत राष्ट्रीय आय का सृजन मुद्रीकृत कार्य द्वारा होता है। कम विकसित अर्थव्यवस्था में उत्पादन के बहुत बड़े भाग की शुरुआत मुद्रेतर कार्यों से होती है। भारत में प्रमुख मुद्राहीन आर्थिक कार्य हैं—कृषकों द्वारा किया गया खाद्यान्नों का स्वयं उपभोग, मज़दूरी की वस्तु रूप में अदायगी, वस्तुओं और सेवाओं का वस्तु-विनिमय व्यापार और उत्पादन में परिवार के श्रम का उपयोग। अर्थव्यवस्था के विकसित होने के साथ ही साथ इन कार्यों का भी वाणिज्यीकरण होता जाता है तथा मुद्रा की माँग बढ़ती जाती है।

1952-53 से 1964-65 के बीच भारत में कुल व्यय में मुद्राहीन व्यय का अनुपात 37 प्रतिशत से घटकर लगभग 20 प्रतिशत हो गया। हाल के वर्षों में इसमें और भी कमी हुई होगी, फिर भी यह महत्वपूर्ण बना हुआ है क्योंकि कृषक वर्ग एक बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों का उपभोग स्वयं ही कर जाता है (खाद्यान्नों के कुल उत्पादन का 30 प्रतिशत)। तालिका 10.3 से पता चलता है कि शहरी क्षेत्रों और कृषेतर कार्यों में मुद्रीकरण बहुत अधिक है।

तालिका 10.3 : 1964-65 में मुद्रीकरण की मात्रा (प्रतिशत)

कार्य	ग्रामीण	शहरी	अखिल भारतीय
कृषि	39	52	42
विनिर्माण	67	96	91
व्यापार	92	93	92
परिवहन	74	88	85
सेवाएँ	74	88	85
कुल	66	85	81

स्रोत: वी० बी० भट्टाचार्य — मोनिटाइजेशन ऐंड इकनॉमिक डेवलपमेंट

10.4 रिज़र्व मुद्रा और मुद्रा गुणक

मुद्रा का सृजन रिज़र्व बैंक और भारत सरकार के द्वारा होता है। बैंक जमा राशि का सृजन वाणिज्य और सहकारी बैंकों के द्वारा होता है। बैंक जमा राशि पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण नहीं होता क्योंकि यह राष्ट्रीय आय, ब्याज दर, परिवारों के बचत व्यवहार तथा अन्य कारकों पर निर्भर करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रिज़र्व मुद्रा के माध्यम से सरकार मुद्रा पूर्ति पर नियंत्रण रखती है।

10.4.1 रिज़र्व मुद्रा

भारत में रिज़र्व मुद्रा या उच्च शक्ति मुद्रा (H) की परिभाषा के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं:

क) जनता के पास की करेन्सी

ख) बैंकों के पास की नकदी

ग) रिज़र्व बैंक के पास बैंक जमा राशि

घ) रिज़र्व बैंक के पास अन्य जमा राशि

1987-88 में इस देश में कुल 53,266 रुपये की रिज़र्व मुद्रा थी जिसमें जनता के पास की करेन्सी की रकम 33,664 रुपये अर्थात् 63 प्रतिशत थी। 1970-71 में रिज़र्व मुद्रा में करेन्सी का अंश और भी अधिक अर्थात् 90 प्रतिशत था।

1970-71 में रिज़र्व बैंक के पास बैंक जमा राशि का अंश मात्र 5 प्रतिशत था जो बढ़कर आज 33 प्रतिशत हो गया है। इससे भी यही पता चलता है कि कुल मुद्रा पूर्ति में बैंकों का योगदान बढ़ता जा रहा है।

रिज़र्व मुद्रा में निम्नलिखित में से किसी एक प्रकार से परिवर्तन हो सकता है:

क) सरकार द्वारा रिज़र्व बैंक से उधार लेना जिसे सामान्यतः घाटा वित्तीयन कहा जाता है;
ख) रिज़र्व बैंक की विदेशी मुद्रा परिसम्पत्तियों में वृद्धि;
ग) वाणिज्य और सहकारी बैंकों तथा नेशनल बैंक फॉर एग्रिकल्चर ऐंड रूरल डेवलपमेंट को रिज़र्व बैंक का ऋण;
घ) निजी क्षेत्रक को रिज़र्व बैंक द्वारा दिए जाने वाले ऋण;
च) सरकार के राजकोष शेष (Government treasury balances) में उतार-चढ़ाव;
छ) रिज़र्व बैंक की निवल मुद्रा-देयता (Net monetary liabilities) में उतार-चढ़ाव।

रिज़र्व मुद्रा में बड़े परिवर्तन का कारण होता है सरकार को रिज़र्व बैंक का निवल ऋण या सरकारी घाटा वित्तीयन में उतार-चढ़ाव होना। 1987-88 में रिज़र्व मुद्रा की कुल रकम 53266 रुपये की थी जिसमें सरकार को रिज़र्व बैंक का निवल ऋण 52793 रुपये का था। विदेशी लेनदेन के कारण रिज़र्व मुद्रा और मुद्रा पूर्ति में बहुत कम वृद्धि हुई। रिज़र्व मुद्रा की वृद्धि में देश के निजी लेनदेनों का भी कोई विशेष योगदान नहीं रहा है। इसीलिए भारत में मुद्रा पूर्ति का नियंत्रण इस बात पर निर्भर करता है कि घाटा वित्तीयन पर सरकार कहाँ तक नियंत्रण रख पाती है।

10.4.2 मुद्रा गुणक

रिज़र्व मुद्रा व मुद्रा पूर्ति के अनुपात को मुद्रा गुणक कहा जाता है जिससे पता लगता है कि रिज़र्व मुद्रा में प्रति एक रुपये की वृद्धि के फलस्वरूप मुद्रा पूर्ति में कितनी वृद्धि हुई। यदि मुद्रा गुणक स्थिर हो तब मुद्रा पूर्ति के संबंध में पहले से बताना सरल होता है। परंतु यदि यह अस्थिर है तथा इसमें बहुत उतार-चढ़ाव होता है तब मुद्रा पूर्ति के संबंध में पहले से अनुमान लगाना तक कठिन होता है, रिज़र्व मुद्रा की सहायता से मुद्रा पूर्ति पर नियंत्रण करना तो दूर की बात है। तालिका 10.4 से पता लगता है कि बहुत समय तक मुद्रा गुणक का मूल्य बहुत स्थिर नहीं था।

तालिका 10.4 : मुद्रा गुणक

	M_1/H	M_3/H
1950-51	1.3	1.5
1960-61	1.3	1.8
1970-71	1.5	2.3
1980-81	1.2	2.9
1987-88	1.1	3.0

स्रोत: रिज़र्व बैंक — रिपोर्ट ऑन करेन्सी ऐंड फाइनेंस

10.5 बैंकिंग और साख पद्धति

भारत में दो प्रकार के बैंक हैं : वाणिज्य बैंक और सहकारी बैंक। इस देश की संगठित बैंकिंग प्रणाली में वाणिज्य बैंकों की संख्या अधिक है।

10.5.1 बैंकों के प्रकार

वाणिज्य बैंकों की स्थापना की विधि और उनके स्वामित्व के स्वरूप के आधार पर उन्हें चार वर्गों में बांटा जाता है। ये हैं: सार्वजनिक क्षेत्रक बैंक, निजी क्षेत्रक बैंक, विदेशी बैंक और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक। वाणिज्य बैंकिंग कार्यों का बहुत बड़ा भाग 28 सार्वजनिक क्षेत्रक बैंकों द्वारा होता है। विदेशी बैंकों की संख्या 18 है और ये मुख्य रूप से विदेशी व्यापार का वित्तीयन करते हैं। निजी क्षेत्रक बैंकों की संख्या 38 है जिनके पास कुल जमा राशि का 5 प्रतिशत है। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक राज्य द्वारा प्रायोजित, क्षेत्रों पर आधारित तथा ग्रामोन्मुख वाणिज्य बैंक होते हैं। सहकारी बैंकों का मुख्य कार्य होता है कृषि ऋण का वित्तीयन करना। नगरों में भी कुछ सहकारी बैंक होते हैं जिनका मुख्य कार्य है भवन निर्माण एवं लघु उद्योग कार्यों के लिए ऋण देना।

बैंकों का वर्गीकरण अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंकों (Scheduled and non-scheduled banks) के रूप में भी किया जाता है। वाणिज्य तथा सहकारी अनुसूचित बैंक ऋण, जमा और ब्याज दरों के संबंध में रिज़र्व बैंक अधिनियम के अंतर्गत आते हैं। गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या मात्र चार है तथा इनके पास कुल जमा राशि और ऋण राशि का अत्यंत अल्प अनुपात है।

10.5.2 बैंक ऋण का ढाँचा

बैंक निम्नलिखित प्रकार की राशियों से ऋण देते हैं: (क) शेयर पूंजी (ख) जमा तथा (ग) रिज़र्व बैंक, अन्य बैंकों और संस्थाओं से ऋण लेकर। वाणिज्य बैंक मुख्य रूप से जमा राशि से उधार देते हैं। सहकारी बैंकों के पास जमा राशि कम होती है अतः वे मुख्य रूप से राज्य सरकारों, रिज़र्व बैंक तथा उसके सहायक बैंकों से उधार लेकर ऋण देते हैं।

बैंक जमा राशि का सृजन दो प्रकार से किया जा सकता है: (क) नकद राशि या किसी दूसरे बैंक के चैक को जमा करके; और (ख) बैंक ऋण को जमा राशि के रूप में पुनः दर्ज करके। इनमें से पहली स्थिति में मुद्रा पूर्ति में प्रत्यक्ष रूप से कोई परिवर्तन नहीं होता क्योंकि वर्तमान मुद्रा पूर्ति से ही नई जमा राशि आती है। लेकिन बहुत बड़ी मात्रा में बैंक रिज़र्व होने के कारण मुद्रा पूर्ति में अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन हो सकता है। दूसरी स्थिति में मुद्रा पूर्ति में प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि होती है। भारत में करेन्सी-मुद्रा पूर्ति (M_1) अनुपात बहुत अधिक है (1988 में यह लगभग 60 प्रतिशत तथा 1950 के दशक में यह 70 प्रतिशत था) और इसके फलस्वरूप भारत में अधिकतर बैंकों के पास ऋण के द्वारा जमा राशि सृजन के लिए क्षमता सीमित हो जाती है। ऋण गुणक के द्वारा ऋण सृजन के सही तंत्र के संबंध में हम ई॰ ई॰ सी॰-01, खंड 4 में पढ़ चुके हैं।

तालिका 10.5 और तालिका 10.6 में क्रमशः वाणिज्य बैंकों और राज्य सहकारी बैंकों के तुलन-पत्रों (Balance sheets) में प्रमुख मदों को दिखाया गया है। इसमें आप देखेंगे कि वाणिज्य बैंकों की नकदी (रोकड़ शेष और रिज़र्व बैंक में बैलेंस का योग) जमा राशि और निवेश-जमा राशि के अनुपात में वृद्धि होती गई है तथा साख-जमा राशि के अनुपात में कमी होती गई है। वर्तमान स्थिति यह है कि वाणिज्य बैंक अपनी जमा राशि के 60 प्रतिशत से कम ही निजी क्षेत्रक को (जिसमें सरकारी उपक्रम भी शामिल हैं) उधार रूप में देते हैं। इसके विपरीत सहकारी बैंक अपनी जमा राशि से भी अधिक उधार देते हैं।

तालिका 10.5 : सभी अनुसूचित वाणिज्य बैंकों के भारत में व्यवसाय

(करोड़ में रुपये)

	1971	1981	1988
कुल जमा राशि	5906	37988	118045
रिज़र्व बैंक से ऋण	368	598	1753
रोकड़ शेष	167	766	1306
रिज़र्व बैंक में जमा राशियां	197	4092	17656
सरकारी और स्वीकृत प्रतिभूतियों में निवेश	1362	13186	46504
बैंक साख	4684	25371	70536

स्रोत : रिज़र्व बैंक — रिपोर्ट ऑन करेंसी ऐंड फाइनेंस

तालिका 10.6 : राज्य सहकारी बैंक जिनका रिज़र्व बैंक में खाता है

	1971	1981	1988
1 कुल जमा राशि	138	623	1381
2 रिज़र्व बैंक से उधार	307	656	—
3 स्टेट बैंक तथा राज्य सरकारों से उधार	55	85	1069
4 रोकड़ शेष	2	6	18
5 रिज़र्व बैंक में जमा राशियाँ	9	54	123
6 बैंक साख	139	757	1628

स्रोत : रिज़र्व बैंक — रिपोर्ट ऑन करेंसी ऐंड फाइनेंस

10.5.3 ब्याज दरों का ढाँचा

केन्द्रीय सरकार रिज़र्व बैंक के सहयोग से संगठित मुद्रा बाज़ार की लगभग समस्त ब्याज दरों को विनियमित करती है। बैंकिंग विनियम अधिनियम की धारा 21 और 35 A के अधीन रिज़र्व बैंक वाणिज्य बैंकों के ऋण और जमा दरों का विनियमन करता है। केन्द्रीय और राज्य सहकारी बैंकों की ब्याज दरों का विनियमन भी अब रिज़र्व बैंक ही करता है। गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं की ब्याज दरों पर नियंत्रण भी रिजर्व बैंक ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करता है। परन्तु असंगठित मुद्रा बाज़ार की ब्याज दरें रिज़र्व बैंक के नियंत्रण तंत्र के अंतर्गत नहीं आतीं। तालिका 10.7 में संगठित बाज़ार की कुछ चुनी हुई ब्याज दरों को दिखाया गया है।

तालिका 19.7 : ब्याज दरों (प्रतिशत प्रति वर्ष) का ढाँचा

	1970-71	1987-88
1 बैंक दर	5.00 - 6.00	10.00
2 ट्रेज़र बिल दर	3.00 - 3.50	4.60
3 माँग मुद्रा (Call money) दर (बम्बई)	6.91	10.00
4 वाणिज्य बैंक उच्चतम जमा राशि (Ceiling deposit) दर (5 वर्ष से ऊपर)	7.25	11.00
उच्चतम ऋण दर	—	16.50
5 भारतीय औद्योगिक विकास बैंक उधार दर	8.50	14.00
6 कंपनी जमा राशि दर (3 वर्ष)	—	12-14.00
7 डाकघर बचत खाता	—	5.50

स्रोत : रिज़र्व बैंक—रिपोर्ट ऑन करेन्सी ऐंड फाइनेंस

बोध प्रश्न 1

1 रिज़र्व बैंक संगठित बाजार के कार्य को किस प्रकार से प्रभावित करता है?

.....

.....

.....

.....

.....

2 मुद्रेतर आर्थिक कार्यों के कुछ दृष्टांत दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 भारत में करेन्सी-मुद्रा पूर्ति अनुपात क्यों गिर रहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

4 भारत में रिज़र्व मुद्रा को बदलने के क्या उपाय हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

5 मुद्रा गुणक से आप क्या समझते हैं? समय के साथ-साथ इसकी क्या प्रवृत्ति रही है?

.....

.....

.....

.....

10.6 रिज़र्व बैंक की भूमिका

सभी देशों में उस देश की करेन्सी को जारी करने एवं उसके संचलन की व्यवस्था करने का दायित्व केवल शिखर बैंक को ही सौंपा जाता है, जिसे केन्द्रीय बैंक कहा जाता है। भारत में इस बैंक को भारतीय रिज़र्व बैंक (संक्षेप में, RBI) कहा जाता है। भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम, 1934 के उपबंधों के अनुसार इसकी स्थापना अप्रैल, 1935 में हुई। भारत की करेन्सी और वित्त के संबंध में शाही आयोग (जिसे हिल्टन यंग कमीशन भी कहा जाता है) द्वारा 1926 में की गई सिफारिशों के अनुसार इस अधिनियम को बनाया गया था। शुरू-शुरू में यह बैंक निजी स्वामित्व में था लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद केन्द्रीय सरकार ने इसे 1949 में अपने स्वामित्व में ले लिया। रिज़र्व बैंक सरकार तथा वाणिज्य बैंकों (अर्थात् वे बैंक जो जनता को उधार देते हैं तथा उनसे जमा राशि के रूप में उधार लेते हैं) को उधार देता है। यह बैंक व्यक्तियों के बैंकर का काम नहीं करता।

10.6.1 केन्द्रीय बैंक के रूप में रिज़र्व बैंक

भारतीय रिज़र्व बैंक के प्रमुख कार्य विश्व के अन्य केन्द्रीय बैंकों के ही समान हैं। ये कार्य हैं करेन्सी जारी करना, बैंकों के बैंकर तथा सरकार के बैंकर का काम करना, रुपये के आंतरिक और बाह्य मूल्य को विनियमित करना, देश की मुद्रा का निरूपण तथा कार्यान्वयन और देश की समग्र आर्थिक नीति के व्यापक ढांचे के अंतर्गत अर्थव्यवस्था को और भी उन्नत बनाना। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में भारत की सदस्यता के संबंध में रिज़र्व बैंक सरकार के एजेंट का काम करता है। यह बैंक विदेशी विनिमय संबंधी कार्यों पर नियंत्रण रखता है तथा विदेशी मुद्रा और स्वर्ण रिज़र्व (Gold reserves) को अपने पास जमा रखता है। आम तौर पर आर्थिक मामलों में और विशेष कर वित्तीय मामलों में यह बैंक सरकार के सलाहकार का भी काम करता है।

ई॰ई॰सी-01 के खंड 4, इकाई 8 में भारतीय रिज़र्व बैंक के प्रमुख कार्यों के संबंध में चर्चा की जा चुकी है। अपनी याद को ताजा करने के लिए आप उस इकाई को फिर पढ़ सकते हैं। मुद्रा नीति के संबंध में रिज़र्व बैंक की भूमिका के बारे में यहाँ पर विस्तार से चर्चा की जाएगी तथा वाणिज्य बैंकिंग और ग्रामीण तथा सहकारी बैंकिंग के विकास के संबंध में आगे के पैराग्राफों में चर्चा की जाएगी।

10.6.2 संस्थाओं के संवर्धक के रूप में रिज़र्व बैंक

वित्तीय संस्थाओं के संवर्धन और विकास के संबंध में शुरू से ही रिज़र्व बैंक की प्रमुख भूमिका रही है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यों कहा गया था:

"किसी योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक को ऋण की समस्त पूर्ति के विनियमन या बैंक जमा के प्रवाह के निषेधात्मक विनियमन कार्य तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो आवश्यक होता है कि वह दो विषयों के संबंध में प्रत्यक्ष और सक्रिय भूमिका निभाए---समस्त देश में विकासात्मक कार्यों के लिए धन जुटाने वाले तंत्र का निर्माण करना या उसके निर्माण में सहायता करना और यह देखना कि उपलब्ध वित्तीय साधनों का प्रवाह उसी ओर हो रहा है जहाँ उसकी आवश्यकता है।" शुरू से ही रिज़र्व बैंक ने कृषि ऋण की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया तथा ग्रामीण क्षेत्रों में वाणिज्य और सहकारी बैंकिंग कार्यों के समन्वय और संपूर्ति के लिए अलग से एक कृषि ऋण विभाग की स्थापना की। आगे चलकर कृषि ऋण के क्षेत्र में विस्तार होने पर रिज़र्व बैंक ने 1982 में नेशनल बैंक फॉर एग्रिकल्चर ऐंड रूरल डेवलपमेंट (NABARD) की स्थापना की। उसके पूर्व 1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (Regional Rural Banks) की स्थापना में रिज़र्व बैंक ने सहायता की जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में समाज के कमज़ोर वर्ग के लोगों को संस्थागत ऋण दिए जा सकें। छोटे-छोटे ऋणकर्त्ताओं के विभिन्न वर्गों के लोगों को ऋण देने के संबंध में वाणिज्य बैंकों और अन्य संस्थाओं को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक ने 1971 में क्रेडिट गारंटी कार्पोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड की स्थापना में सहायता की जिससे विलंबित-भुगतान की जोखिम के संबंध में गारंटी दी जा सके।

औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में रिज़र्व बैंक ने 1964 में इंडस्ट्रियल डेवलपमेंट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना में सहायता की। हाल ही में निर्यात-आयात बैंक की भी स्थापना की गई जिससे देश के विदेश व्यापार की वित्त व्यवस्था के संबंध में मदद दी जा सके। आधार स्तर पर भवन निर्माण में रुपया लगाने के लिए नेशनल हाऊसिंग बैंक की भी स्थापना की गई है।

10.6.3 सरकार के बैंकर के रूप में रिज़र्व बैंक

रिज़र्व बैंक केन्द्रीय और राज्य सरकारों को सभी प्रकार की बैंकिंग सेवाएँ प्रदान करता है, जैसे सरकार के जमा लेखा को रखना, सरकार की ओर से प्राप्तियों को स्वीकार करना, निधियों का अंतरण करना आदि। सार्वजनिक ऋण के प्रबंध का कार्य भी इस बैंक को सौंपा जाता है। रिज़र्व बैंक सरकार एवं वित्तीय संस्थाओं (जिनके अंतर्गत वाणिज्य और सहकारी बैंक आ जाते हैं) के बीच का प्रमुख संचार माध्यम है।

रिज़र्व बैंक का प्रमुख कार्य है सरकार को ऋण देना। सरकार रिज़र्व बैंक से ट्रेज़री बिलों, बाज़ार ऋणों, अर्थोपाय ऋणों तथा ओवर ड्राफ्ट की सुविधाओं द्वारा उधार लेती है। अर्थोपाय ऋणों एवं ओवरड्राफ्ट की सुविधाओं द्वारा सरकार के ऋण लेने के संबंध में तो कानूनी सीमाएँ हैं लेकिन ट्रेज़री बिलों और अन्य प्रतिभूतियों द्वारा रिज़र्व बैंक से ऋण लेने के संबंध में सरकार पर कोई कानूनी बाधा नहीं है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, रिज़र्व बैंक सरकार को उस स्थिति में उधार देता है जब सरकार के पास मुद्रा की कमी होती है। मान लीजिए कि किसी वर्ष में सरकार देखती है कि करों, करेतर आयों तथा सीधे जनता से लिए गए ऋणों (जैसे विकास बांडों, राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों आदि की बिक्री) से प्राप्त रकम वर्ष में होने वाले व्यय के लिए पर्याप्त नहीं हो सकेंगे। ऐसी स्थिति में व्यय और इन संसाधनों के बीच के अंतराल (जिसे सरकार का अपूरित घाटा कहा जाता है) को दूर करने के लिए सरकार रिज़र्व बैंक से ऋण लेती है जिसके संबंध में आप ई॰ ई॰ सी॰-02 की इकाई 9 में पढ़ चुके हैं। होता यह है कि सरकार रिज़र्व बैंक को कुछ ऋण प्रमाण-पत्रों को बेचती है जिसे सरकारी प्रतिभूतियाँ (Government securities) कहा जाता है और इसके बदले में रिज़र्व बैंक सरकार को उनके बराबर रकम देती है। यह स्मरणीय है कि चूंकि रिज़र्व बैंक "प्रबंधित कागजी मुद्रा मान" (Managed paper currency standard) का पालन करता है अतः सरकार को जितना भी उधार देना हो उतनी रकम के लिए वह नोटों को छाप सकता है। सरकार इस मुद्रा का प्रयोग जब वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में करने लगती है तब वह मुद्रा जनता के हाथ में आने लगती है और पहले की स्थिति की तुलना में मुद्रा पूर्ति की मात्रा बढ़ जाती है। उसी प्रकार सरकार यदि रिज़र्व बैंक से लिए जाने वाले ऋण को घटा देती है तब वह रिज़र्व बैंक के हाथ बेची गई कुछ सरकारी प्रतिभूतियों को खरीद लेगी। इस प्रक्रिया में चलन से हटकर कुछ नकद रकम रिज़र्व बैंक के हाथ में आ जाएगी और जनता के पास की मुद्रा पूर्ति की मात्रा घट जाएगी।

10.7 भारत में मुद्रा नीति

मुद्रा नीति से अभिप्राय होता है सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक के नियंत्रण के अधीन सरकारी प्रपत्रों का इस तरह से प्रयोग जिससे उत्पादन, रोज़गार, कीमत स्तर और भुगतान शेष के इष्टतम स्तर की प्राप्ति को ध्यान में रखते हुए मुद्रा और साख की प्राप्यता, लागत और उपयोग को विनियमित किया जा सके। समग्र पूर्ति-माँग स्थिति, नकदी स्थिति तथा मौद्रिक लेन-देनों के ऊपर नियंत्रण की मात्रा पर मुद्रा नीति की प्रभावकारिता निर्भर करती है। मुद्रा नीति सुचारू रूप से तभी चल पाती है जब इसका पालन राजकोषीय नीति के साथ-साथ ही किया जाए। बैंकिंग और ऋण ढाँचे में होने वाले संस्थागत परिवर्तन भी मुद्रा नीति के अंतर्गत आ जाते हैं।

10.7.1 भारत में मुद्रा नीति का क्षेत्र

भारत में मुद्रा नीति का पालन समग्र आर्थिक नीति और योजनाबद्ध विकास युक्तियों के संदर्भ में किया जाता है। एक अर्थ में भारत में मुद्रा नीति को कार्यान्वित करना इसलिए सरल है कि इस समय प्रायः सभी प्रमुख मौद्रिक और वित्तीय संस्थाएँ सीधे सरकार के स्वामित्व में हैं। फिर भी बहुत बड़ी मात्रा में, लेन-देन के कार्य मुद्रेतर साधनों द्वारा होते हैं तथा बैंकिंग और वित्तीय संस्थाओं के कार्यक्षेत्र भी सीमित ही हैं। इन कारणों से मुद्रा नीति का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है।

10.7.2 भारत में मुद्रा नीति की सीमाएँ

परन्तु सबसे पहले ध्यान देने की बात यह है कि मुद्रा नीति में फेरबदल के संबंध में रिज़र्व बैंक के पास भी असीमित क्षमता नहीं होती। मान लीजिए कि रिज़र्व बैंक चाहता है कि किसी वर्ष में मुद्रा पूर्ति में वृद्धि न हो। लेकिन अपनी बजट नीतियों से बाध्य होकर सरकार को यदि इतना अधिक खर्च करना पड़ रहा है जिसकी पूर्ति वर्तमान राजस्व और जनता से ली गई ऋण राशि से नहीं की जा सकती तब न चाहते हुए भी रिज़र्व बैंक सरकार को उधार देने के लिए बाध्य हो जाता है और इसका नतीजा होगा सरकारी बजट से बाध्य होकर मुद्रा पूर्ति में वृद्धि।

दूसरी स्थिति यह हो सकती है जबकि रिज़र्व बैंक मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करना चाहता है और इस उद्देश्य से वह वाणिज्य बैंकों को ऋण देना शुरू करता है। परन्तु इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि वाणिज्य बैंक जनता को ऋण देकर इस मुद्रा का उपयोग अतिरिक्त जमा के निर्माण में करना चाहेंगे। लेकिन उस स्थिति में क्या होगा जब वाणिज्य बैंकों से उधार लेने वाला व्यवसायी वर्ग उधार लेना नहीं चाहता। ऐसा प्रायः मंदी (recession) के समय में होता है अर्थात् वह स्थिति जब व्यवसायों और उद्योगों की हालत अच्छी नहीं होती। ऐसी स्थिति में रिज़र्व बैंक चाहेगा कि वाणिज्य बैंक व्यवसायियों को अधिकाधिक ऋण दें। जिससे वे अपने कारोबार को बढ़ा सकें और अर्थव्यवस्था को मंदी से मुक्त किया जा सके। लेकिन व्यवसायी वर्ग के लिए ऋण लेकर अपने कारोबार को बढ़ाना लाभप्रद नहीं भी हो सकता है। इसलिए ऐसी स्थिति में भी रिज़र्व बैंक और वाणिज्य बैंकों के मुद्रा पूर्ति बढ़ाने के प्रयास सफल नहीं हो पाते। महामंदी (Great depression) के समय ऐसी ही स्थिति आ गई थी। और ऐसी स्थितियों में राजकोषीय नीति पर जोर दिया जाता है, जिसके संबंध में हम अगली इकाई में पढ़ेंगे। फिर भी इन सीमाओं के अंतर्गत रहते हुए रिज़र्व बैंक बहुत हद तक मुद्रा नीति का प्रसार और संकुचन (Contraction) कर सकता है। परन्तु इस संबंध में प्रश्न यह उठता है कि ऐसा करने का क्या लक्ष्य हो?

10.8 भारत में मुद्रा नीति के उद्देश्य

मुद्रा नीति का सर्वप्रमुख उद्देश्य होता है कीमत को स्थिर रखते हुए संवृद्धि की स्थिति लाना। भारत जैसे निर्धन देश में विकास की प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती है कि बचतों की पूर्ति निवेश की माँग के बराबर नहीं हो पाती। इस स्थिति में वांछित

बचत और मांग के बीच के अंतराल की पूर्ति मुद्रा और साख के विस्तार प्रसार द्वारा की जाती है।

10.8.1 कीमत स्थिरता

आप जानते ही हैं कि व्यवसाय के दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लिए कुछ उधार लेने की आवश्यकता पड़ती है। जब उत्पादक उत्पादन कर रहे होते हैं तब उन्हें कच्चे माल, मज़दूरी, परिवहन, विपणन आदि पर व्यय करने होते हैं जिनकी वसूली उत्पादित माल की बिक्री के बाद ही हो पाती है। इसके बीच उन्हें उत्पादन कार्य के लिए धन (नकदी या माँग जमा के रूप में) की आवश्यकता होती है। आम तौर पर उनके पास इतनी मात्रा में अपनी रकम नहीं होती और इस कारण उन्हें बैंकों से उधार लेना होता है। कृषि, व्यापार आदि कार्यों में भी इसी प्रकार से उधार लेना होता है। किसान को फसल को बोने और काटने के बीच, बीज, उर्वरक, औज़ार आदि को खरीदने तथा पानी, बिजली, मज़दूरी आदि के लिए भुगतान करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार व्यापारी भी पहले उत्पादकों से माल को खरीदकर अपने पास रखता है जिससे भविष्य में वह उपभोक्ताओं के हाथ उन्हें बेच सके। मुद्रा नीति के लक्ष्यों में एक यह भी होता है कि इस बात का ध्यान रखा जाए कि ऋण के अभाव में आर्थिक क्रियाओं के सामान्य कार्य में बाधा न होने पाए। ऋण के विस्तार के फलस्वरूप मुद्रा पूर्ति का भी प्रसार होता है।

संवृद्धि के बावजूद भी यदि मुद्रा का प्रसार बहुत अधिक हो जाता है तो उससे अर्थव्यवस्था में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। यदि सरकार रिज़र्व बैंक से बहुत बड़ी मात्रा में उधार ले रही है तो इसके फलस्वरूप मुद्रा पूर्ति में तेज़ी से वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह होता है कि रिज़र्व बैंक से बहुत बड़ी मात्रा में नोटों को छपवाकर सरकार एक ओर तो अत्यधिक क्रय शक्ति अपने हाथ में ले रही है पर साथ ही साथ वह लोगों पर कर लगाकर या उनसे ऋण लेकर उनकी क्रय शक्ति को कम भी नहीं कर रही है। इस प्रकार सरकार और जनता की क्रय शक्ति के योग से वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की तुलना में उनकी माँग बढ़ जाएगी। कई बार माँग के फलस्वरूप वस्तुओं की पूर्ति भी बढ़ जाती है, पर ऐसा होने में देर लगती है और कभी-कभी तो पूर्ति बिल्कुल ही नहीं बढ़ती। इस प्रकार, अतिरिक्त माँग के दबाव से वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं।

इसी प्रकार बैंक ऋण यदि अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं अर्थात् वह उत्पादन और व्यापार के सामान्य वित्तीयन की आवश्यकता से अधिक है, तब इस अतिरिक्त ऋण का उपयोग सट्टा कार्यों में हो सकता है, अर्थात् वस्तुओं के स्टॉक को इसलिए रोक रखना कि ऐसा करने से कीमतें चढ़ेंगी और लाभ अधिक मात्रा में होगा। पहले हम देख चुके हैं कि व्यापारी पहले माल खरीदते हैं और बाद में बेचते हैं। इसीलिए खरीद और बिक्री के बीच की अवधि के लिए उन्हें ऋण की आवश्यकता पड़ती है। यदि बैंक से पर्याप्त मात्रा में ऋण उपलब्ध हैं तब सट्टा प्रवृत्ति वाले व्यापारी वस्तुओं को बेचने में विलंब करेंगे। इस अवधि के दौरान कृत्रिम कमी की स्थिति होने से वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाएँगी और सटोरिए उन्हें तब बेचेंगे जब उनकी कीमतें काफ़ी बढ़ चुकी हों। इस प्रकार, ऋण के अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होने से स्फीतिकारी दबाव उपस्थित हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा पूर्ति में यदि अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, मुद्रा में या बैंक जमा में या इन दोनों ही में, तब कीमत स्थिति में अस्थिरता आ जाती है। मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य यह देखना होता है कि मुद्रा और बैंक जमा का प्रसार न तो बहुत धीरे-धीरे हो और न ही बहुत तेजी से, क्योंकि पहली स्थिति में तो संवृद्धि में रुकावट आती है और दूसरी में स्फीति आती है।

पिछले खंड की इकाई 9 में आपने देखा है कि भारत में मुद्रा प्रसार की बहुत बड़ी मात्रा का कारण सरकार का घाटा वित्तीयन है। यदि मुद्रा नीति ऐसी है कि बैंकों से ऋण लेकर सार्वजनिक कार्यों पर व्यय नहीं किया जा सकता तब अनेक जन-सेवाओं और सार्वजनिक परियोजनाओं में कटौती करनी होगी या उन्हें बंद करना होगा। इसके विपरीत, मुद्रा नीति यदि बहुत ही उदार है तब स्फीति के कारण जन-सेवाओं का ही नहीं बल्कि निजी आय का भी कोई वास्तविक मूल्य ही नहीं रह जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो मुद्रा नीति को ऐसा होना चाहिए कि विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की ऋण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और दूसरी ओर उसे प्रतिबंधक भी होना चाहिए जिससे स्फीति दबाव पर रोक लगी रहे। इसीलिए लाजमी है कि मुद्रा नीति और ऋण का "नियंत्रित प्रसार" हो।

योजना के शुरू के वर्षों में भारत में कीमत स्तर तेजी से नहीं बढ़ी। 1960 के दशक के बीच के वर्षों से भारत में सामान्य कीमत स्तर में सतत रूप से वृद्धि होने लगी और कभी-कभी तो यह वृद्धि अत्यंत तेज गति से हुई। औसत रूप में 1980 तक भारत में सामान्य कीमत स्तर में लगभग 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई। 1980 के दशक में यह दर 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई। चित्र 10.3 में आप देख सकते हैं कि 1970-71 की तुलना में 1987-88 में सामान्य कीमत स्तर चौगुना हो गया। इसमें यह भी देखा जा सकता है कि सभी वर्षों में कीमतें नहीं बढ़ीं, कुछ वर्षों में यह लगभग स्थिर बनी रही और कुछ में इसमें गिरावट आई। ध्यान देने की बात यह है कि इस देश में कीमतों में वृद्धि केवल मुद्रा पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही नहीं होती। वास्तविकता तो यह है कि 1965-67, 1973-74, 1974-75, 1979-80 आदि में गंभीर रूप से कीमत-वृद्धि कृषि उत्पादन में बहुत कमी और बाह्य कारणों (युद्ध पर व्यय, तेल की कीमतों में वृद्धि आदि) से हुई। फिर भी भारत में कीमत स्थिरता में मुद्रा नीति की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

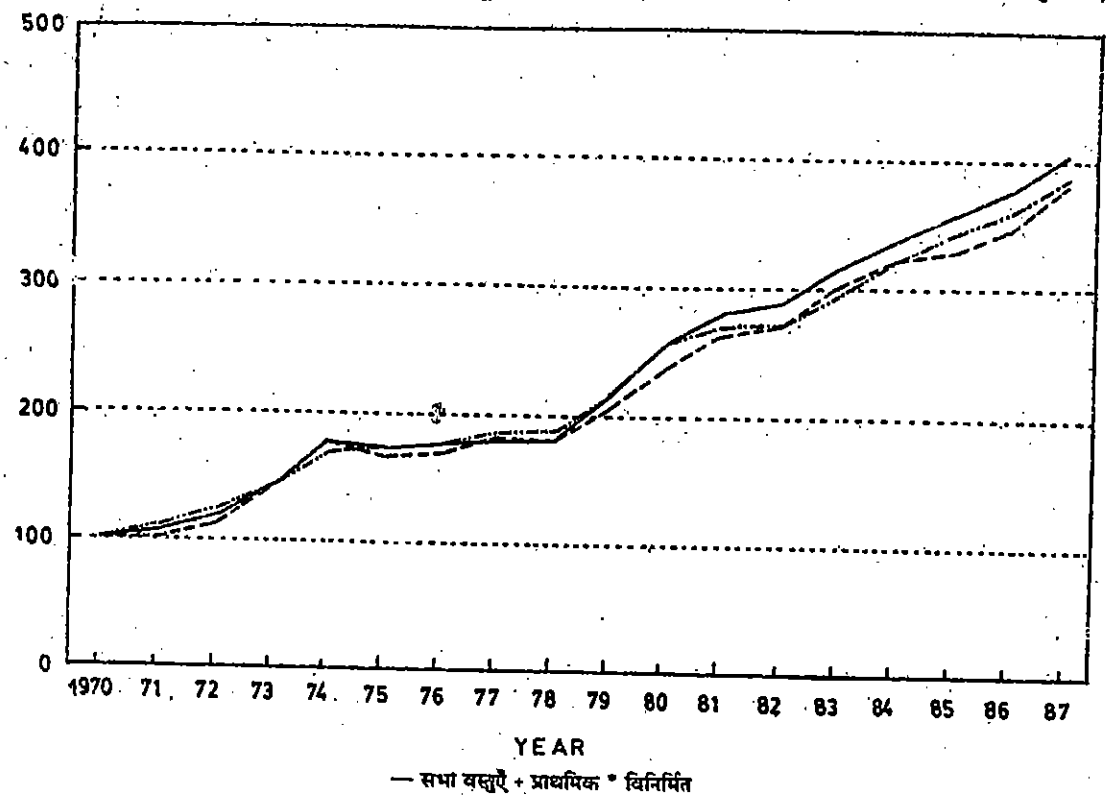

चित्र 10.3

10.8.2 मुद्रा नीति के अन्य उद्देश्य

भारत में, मुद्रा नीति के प्रमुख उद्देश्यों में से एक यह है कि न केवल कृषि एवं छोटे पैमाने के उद्योग आदि पिछड़े और प्राथमिक क्षेत्रकों को पर्याप्त मात्रा में ऋण दिया जाए बल्कि जमाखोरी और सट्टेबाजी जैसे अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देना रोका जाए। एक अन्य मुख्य उद्देश्य है रुपए के विनिमय मूल्य को विदेशी मुद्राओं की तुलना में बनाए रखना। मुद्रा नीति के अन्य उद्देश्य हैं मुद्रा और वित्त प्रणाली का संवर्धन और एकीकरण, आम तौर पर समस्त देश में लेकिन विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग का विकास, विकास कार्यों में निवेश के लिए पारिवारिक बचतों का जुटाव तथा निर्धनों और पिछड़े क्षेत्रों के लिए ऋण की व्यवस्था करना।

10.9 मुद्रा नीति के साधन

पिछले पैराग्राफ को पढ़ने के बाद हम कह सकते हैं कि मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य है स्थिरता के साथ संवृद्धि करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारत में मुद्रा नीति के दो प्रकार के साधन हैं: सामान्य या मात्रात्मक और चयनात्मक या गुणात्मक। सामान्य नियंत्रण के साधन हैं—बैंक दर, नकदी-रिज़र्व अनुपात, सांविधिक नकदी अनुपात और खुले बाज़ार की क्रियाएँ। इन साधनों को मात्रात्मक कहा जाता है क्योंकि ये मुद्रा और ऋण की समग्र पूर्ति की मात्रा को प्रभावित करते हैं। गुणात्मक नियंत्रण का सर्वप्रमुख साधन है चयनात्मक उधार नियंत्रण जो उधार की मात्रा को नहीं बल्कि उसकी दिशा को प्रभावित करता है।

10.9.1 नकदी-रिज़र्व अनुपात

रिज़र्व बैंक अधिनियम के उपबंधों के अधीन सभी अनुसूचित बैंकों के लिए आवश्यक होता है कि वे अपनी जमा राशि के एक न्यूनतम अनुपात को नकदी-रिज़र्व के रूप में रिज़र्व बैंक के पास रखें। रिज़र्व बैंक नकदी-रिज़र्व अनुपात में 3 से 15 प्रतिशत के बीच परिवर्तन कर सकता है। ई॰ ई॰ सी॰-01 के खंड 4 में हम देख चुके हैं कि नकदी-रिज़र्व अनुपात जितना अधिक होगा, ऋण और जमा को बढ़ाने के संबंध में बैंकों की क्षमता उतनी ही कम होगी।

1960 के दशक में रिज़र्व बैंक ने नकदी-रिज़र्व अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं किया। 1973 से नकदी-रिज़र्व अनुपात में अक्सर ही परिवर्तन इसलिए किया जाता है कि बैंक जमा और मुद्रा पूर्ति में होने वाली वृद्धि को नियंत्रण में रखा जा सके। नकदी-रिज़र्व अनुपात में परिवर्तन का प्रयोजन केवल कीमत स्तर को घटाना ही नहीं बल्कि घाटा वित्तीयन के कारण होने वाले मुद्रा प्रसार को रोकना भी होता है। 1973 और 1985 के बीच नकदी-रिज़र्व अनुपात में परिवर्तन 4 और 9 प्रतिशत के बीच हुआ। हाल में नकदी-रिज़र्व अनुपात को बढ़ाकर इसकी उच्चतम सीमा को 15 प्रतिशत कर दिया गया है।

10.9.2 सांविधिक नकदी अनुपात (Statutory Liquidity Ratio or SLR)

रिज़र्व बैंक बैंकों से अपेक्षा करता है कि वे रिज़र्व बैंक के पास केवल अपना रिज़र्व ही नहीं रखें बल्कि सरकारी प्रतिभूतियों जैसी नकदी और रक्षित परिसंपत्तियों को भी रखें। ऐसा करने से (क) वाणिज्य बैंकों की ऋण शोधन क्षमता बनी रहेगी, (ख) सार्वजनिक निवेश के लिए जमा राशियों का उपयोग हो सकेगा तथा (ग) सरकारी प्रतिभूतियों के लिए पूंजी बाज़ार को बढ़ावा मिल सकेगा। 1949 के बैंकिंग विनियमन अधिनियम के अधीन बैंकों के लिए आवश्यक है कि वे अपनी जमा राशि के एक निश्चित अनुपात को रिज़र्व और तरल परिसंपत्तियों के रूप में रखें। इसे सांविधिक नकदी अनुपात (SLR) कहा जाता है। बैंकिंग विनियमन अधिनियम, 1983 में किए गए संशोधन के अनुसार रिज़र्व बैंक को अधिकार दिया गया है कि वह सांविधिक नकदी अनुपात को 40 प्रतिशत तक बढ़ा सकता है। सांविधिक तरल परिसंपत्तियों के प्रमुख घटक हैं—रोकड़ शेष, रिज़र्व बैंक के पास रिज़र्व, सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, नाबार्ड, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम और राज्यों के बिजली एवं सड़क परिवहन उपक्रमों की स्वीकृत परिभूतियाँ।

1960 के दशक में सांविधिक नकदी अनुपात में 20 से 25 प्रतिशत के बीच परिवर्तन हुए। 1970 से सांविधिक नकदी अनुपात में लगातार वृद्धि की गई है। ऐसा करने का एक प्रयोजन है बैंक ऋण में वृद्धि को रोकना परन्तु मुख्य प्रयोजन है सरकार को दिए जाने वाले बैंक ऋण की मात्रा में वृद्धि करना। इस समय सांविधिक नकदी अनुपात 37.5 प्रतिशत है। नकदी-रिज़र्व अनुपात में वृद्धि तथा कमी दोनों ही की जाती है, किन्तु सांविधिक नकदी अनुपात को शायद ही कभी घटाया जाता हो। इस अर्थ में सांविधिक नकदी अनुपात को नम्य मुद्रा नीति साधन नहीं कहा जा सकता।

10.9.3 बैंक दर

बैंक दर वह मानक दर है जिसपर रिज़र्व बैंक सदस्य बैंकों से विनिमय पत्रों एवं अन्य वाणिज्यिक पत्रों को खरीदने या पुनः बट्टा काटने को तैयार रहता है। परन्तु वास्तविक रूप में इस देश में बैंक दर उस ब्याज दर को कहा जाता है जिस पर रिज़र्व बैंक वणिज्य बैंकों को ऋण देता है। बैंक दर के बढ़ने से वाणिज्य बैंकों की उधार लेने की लागत बढ़ जाती है और इसके फलस्वरूप ऋण सृजन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। फिर भी भारत में बैंक ऋण में वृद्धि को रोकने में बैंक दर को बहुत सफलता नहीं मिल पाई है। इसका कारण यह है कि बैंक ऋण पर उधार की भूमिका का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। 1950-51 में बैंक दर 3 प्रतिशत थी। तब से बढ़ते-बढ़ते 1981 तक यह 10 प्रतिशत हो गई।

10.9.4 पुनर्वित्त नीति

रिज़र्व बैंक वाणिज्य बैंकों को पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करता हैं। बैंक ऋण पर इस प्रणाली का प्रभाव पड़ता है। बैंकों द्वारा कुछ ऋणों के प्रवाह को होने देने या उनपर रोक लगाने के प्रयोजन से इस प्रणाली में समय-समय पर परिवर्तन किया जाता है। उधार-नियंत्रण के साधन के रूप में पुनर्वित्त की भूमिका इस बात पर निर्भर करती है कि वाणिज्य बैंकों की नकदी स्थिति क्या है? समय के साथ-साथ ऋण के पुनर्वित्तीयन के संबंध में वाणिज्य बैंकों की रिज़र्व बैंक पर निर्भरता घटती गई है; इसका अपवाद है कृषि और ग्रामीण ऋण का रियायती पुनर्वित्तीयन। रिज़र्व बैंक पर वाणिज्य बैंकों की निर्भरता के कम हो जाने के कारण इस साधन का प्रभाव भी घट गया है।

10.9.5 खुले बाज़ार की क्रियाएँ

खुले बाज़ार कार्रवाई में सरकारी प्रतिभूतियों को खरीद कर और बेचकर रिज़र्व बैंक अर्थव्यवस्था में तरलता को प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित कर सकता है। रिज़र्व बैंक जब प्रतिभूतियों को खरीदता है तब मुद्रा पूर्ति बढ़ जाती है और जब वह इन्हें बेचता है तब मुद्रा पूर्ति घट जाती है। विकसित देशों में इसे मुद्रा पूर्ति का अत्यंत सबल साधन माना जाता है। परन्तु इस देश में सरकारी प्रतिभूति बाज़ार अत्यंत छोटा है तथा वह संगठित मुद्रा बाज़ार में मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओं तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त सरकारी प्रतिभूतियों की ब्याज दर प्रायः इतनी कम होती है कि बैंक और वित्तीय संस्थाएँ स्वेच्छा से उन्हें बहुत ही कम खरीदती हैं। खुले बाज़ार क्रियाएँ बैंक रिज़र्व, साख और सार्वजनिक ऋण को भी विनियमित कर सकती हैं। बैंकिंग सुविधाओं में सुधार होने एवं सरकारी प्रतिभूतियों की ब्याज दरों के बढ़ने के फलस्वरूप भविष्य में इस साधन की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

10.9.6 चयनात्मक साख नियंत्रण

चयनात्मक साख नियंत्रण का उद्देश्य यह होता है कि वांछित क्षेत्रकों को पर्याप्त मात्रा में ऋण उपलब्ध कराया जा सके तथा अनुत्पादक कार्यों के लिए अत्यधिक ऋण पर रोक लगाई जा सके। ऐसा नियंत्रण प्रायः उस स्थिति में किया जाता है जब कम मात्रा में उपलब्ध कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के लिए अत्यधिक ऋण में कमी करनी होती है। इस साधन की शुरुआत मई, 1956 में की गई। रिज़र्व बैंक चयनात्मक उधार नियंत्रण का संचालन यों करता है: (i) किसी विशिष्ट क्षेत्रक को ऋण स्तर की उच्चतम सीमा निर्धारित करके और (ii) किसी विशिष्ट क्षेत्रक को अलग से या साथ में दिए जाने वाले उधार की निम्नतम ब्याज दर निर्धारित करके।

यह नीति साधन, कितना प्रभावी हो सकता है, इसके संबंध में अंदाज लगाना कठिन है। इस साधन का मुख्य उद्देश्य है खाद्यान्न, तिलहन और चीनी जैसी अनिवार्य वस्तुओं में सट्टेबाजी और कीमत वृद्धि को रोकना। लेकिन इन वस्तुओं की कीमतें केवल बैंक ऋण पर ही निर्भर नहीं होतीं। अतः अपने आप ही यह कीमत वृद्धि को नहीं रोक सकता।

10.9.7 ब्याज दर नीति

पहले ही बताया जा चुका है कि भारत के संगठित मुद्रा बाज़ार में प्रायः सभी ब्याज दरों का विनियमन रिज़र्व बैंक करता है। बचत और निवेश की मात्रा और संघटन पर प्रभाव डालने के लिए रिज़र्व बैंक, बैंक-जमा और ऋणों की ब्याज दरों में अक्सर ही कमी-बेशी कराता है। गैर बैंकीय वित्तीय संस्थाओं की ब्याज दरों का भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विनियमन होता है। वाणिज्य और सहकारी बैंकों की ब्याज दरें भिन्न-भिन्न होती हैं तथा ये दरें कृषि, छोटे पैमाने के उद्योगों और अन्य प्राथमिक क्षेत्रकों को दिए जाने वाले बैंक ऋणों पर लागू होती हैं।

10.9.8 नैतिक प्रत्यायन

चूँकि सभी प्रमुख बैंकों पर अब सरकार का स्वामित्व है अतः रिज़र्व बैंक तथा अन्य बैंकों के बीच स्वैच्छिक सहमति और मतैक्य का होना मुद्रा नियंत्रण का साधन बन गया है। मुद्रा विनियमन के इस साधन को नैतिक प्रत्यायन कहा जाता है।

10.10 चक्रवर्ती समिति की रिपोर्ट

मुद्रा प्रणाली के कार्यों की समीक्षा के लिए रिज़र्व बैंक ने दिसंबर, 1982 में प्रो॰ एस॰ चक्रवर्ती की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति को कहा गया कि वह मुद्रा और वित्त प्रणाली के सभी पक्षों की समीक्षा करे और मुद्रा नीति में उपयुक्त परिवर्तनों की सिफ़ारिश करे। समिति ने अप्रैल, 1985 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख सिफ़ारिशें निम्नलिखित थीं:

मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य कीमत स्थिरता होना चाहिए। किन्तु पूर्ण कीमत स्थिरता न तो वांछनीय है और न ही व्यावहारिक। सामाजिक न्याय के साथ-साथ संवृद्धि को लाने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए समिति ने सिफ़ारिश की कि मुद्रा नीति का लक्ष्य होना चाहिए कि स्फीति की दर प्रतिवर्ष 4 प्रतिशत से कम ही रहे। समिति इस बात से सहमत थी कि भारत में स्फीति केवल मुद्रा पूर्ति के आधिक्य के ही कारण नहीं होती, फिर भी दीर्घ काल में मुद्रा पूर्ति और वास्तविक उत्पादन के बीच स्थिर संबंध बनाए रखने से स्फीति को नियंत्रण में रखा जा सकता है। यदि उत्पादन वृद्धि दर का लक्ष्य 5 प्रतिशत है तब मुद्रा पूर्ति में वृद्धि का लक्ष्य 14 प्रतिशत होना चाहिए।

समिति ने महसूस किया कि मुद्रा पूर्ति (M_3) और रिज़र्व मुद्रा के बीच स्थिर संबंध होता है। इसलिए मुद्रा नीति में रिज़र्व मुद्रा की पूर्ति के विनियमन की व्यवस्था होनी चाहिए। चूँकि रिज़र्व बैंक द्वारा सरकार को दिया जाने वाला ऋण रिज़र्व मुद्रा के प्रसार का प्रमुख स्रोत होता है इसलिए घाटा वित्तीयन और रिज़र्व मुद्रा पर नियंत्रण के संबंध में सरकार एवं रिज़र्व बैंक के बीच पूर्ण सहयोग होना चाहिए। समिति ने यह भी महसूस किया कि कृषि उत्पादन और सामान्य पूर्ति-माँग स्थितियों में होने वाले उतार-चढ़ाव को ध्यान में रखते हुए मुद्रा पूर्ति की वृद्धि दर के लक्ष्य को नम्य होना चाहिए।

इस समिति की एक प्रमुख सिफ़ारिश प्रतिभूति बाज़ारों को विकसित करने के संबंध में है। समिति ने खुले बाज़ार की क्रियाओं की कमियों के संबंध मे विशेष रूप से प्रकाश डाला और बताया कि सरकारी प्रतिभूतियों से बहुत कम आय के कारण परिवारों के लिए इनका कोई आकर्षण नहीं हो पाता। समिति की सिफ़ारिश थी कि संगठित मुद्रा बाज़ार की ब्याज दरों की तुलना में सरकारी प्रतिभूतियों की ब्याज दरों को कम तो होना चाहिए तथापि यह लगभग 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष की धनात्मक और वास्तविक ब्याज दर (नकदी ब्याज दर तथा स्फीति दर का अन्तर) होनी चाहिए।

बोध प्रश्न

1 मुद्रा नीति का प्रमुख उद्देश्य क्या है? यह महत्वपूर्ण क्यों है?

.....

.....

.....

.....

.....

2 भारत में खुले बाज़ार क्रियाएँ बहुत प्रभावी क्यों नहीं हो पा रही हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3 इस देश में क्या मुद्रा पूर्ति स्थिर दर से बढ़नी चाहिए? इस संबंध में चक्रवर्ती समिति की रिपोर्ट में क्या कहा गया था?

.....

.....

.....

.....

.....

4 "नियंत्रित प्रसार" शब्द की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.11 वाणिज्य बैंकिंग में प्रारंभिक विकास

खंड 1 में हमने देखा है कि उपनिवेशकाल में भारत में वाणिज्य बैंकों के कुछ थोड़े से ही कार्यालय थे। 1935 में जब भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना हुई तब वाणिज्य बैंकों के केवल 946 कार्यालय थे। उस वर्ष वाणिज्य बैंकों की प्रत्येक शाखा से औसत रूप से लगभग 3 लाख व्यक्ति लाभ उठाते थे। अधिकतर वाणिज्य बैंक महानगरों में ही थे। ग्रामीण क्षेत्रों में शायद ही उनकी कोई शाखा होती थी। आज़ादी के पहले वाणिज्य बैंकों के मुख्य कार्य थे विदेशी व्यापार का तथा बड़े व्यावसायिक गृहों के द्वारा माल की खरीद का वित्तीयन।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद वाणिज्य बैंकिंग का विकास बड़ी तेजी से हुआ। उस समय ये बैंक निजी क्षेत्रक में थे तथा ये कृषि, छोटे पैमाने के उद्योगों और अन्य पिछड़े हुए लेकिन अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रकों की आवश्यकताओं के संबंध में बहुत ही कम ध्यान देते थे। उनके इस प्रकार के व्यवहार के निम्नलिखित कारण थे:

वाणिज्य बैंकों का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। अतः उनके कार्य सदा ही सामाजिक प्राथमिकताओं के अनुरूप नहीं हो सकते, वे ऐसे व्यक्तियों को उधार देना चाहेंगे जो ऋण का भुगतान अधिक ब्याज के साथ कर सकें तथा अच्छी प्रतिभूतियाँ भी दे सकें। इसका अर्थ यह होता है कि प्रतिष्ठित व्यवसाय गृह एवं बड़े उत्पादक वाणिज्य बैंकों से अधिक लाभ उठा सकते हैं, जबकि छोटे-छोटे उत्पादकों, कारीगरों, कृषकों और स्व-रोजगार व्यक्तियों को अपने कार्यों के लिए ऋण मिलना कठिन हो सकता है। उनकी परियोजनाएँ इतनी सक्षम हो सकती हैं कि उनके उत्पादन से उधार ली गई पूंजी तथा ब्याज का भुगतान हो सके परन्तु उनकी स्थिति ऐसी नहीं होती कि वे उधार लेने के लिए बैंकों को अच्छी प्रतिभूतियाँ दे सकें। अतः सामाजिक उद्देश्य यदि यह है कि छोटे पैमाने के क्षेत्रकों, कृषकों और कारीगरों की हैसियत में सुधार लाया जाए और लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाए कि वे स्व-रोजगार के अवसरों को पैदा करें तब सामाजिक उद्देश्यों के साथ वाणिज्य बैंकों के लक्ष्यों का मेल नहीं बैठता।

वाणिज्य बैंकों की प्रवृत्ति होती है कि वे अपने व्यवसाय का केन्द्रण सुविकसित शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में करें। ऐसा वे इसलिए करते हैं कि इन क्षेत्रों में अधिकाधिक लोग बैंकों में रुपया जमा करते हैं तथा मूल्यवान प्रतिभूतियों को देकर लोग बैंकों से उधार लेते हैं। इन क्षेत्रों में सुविकसित आधारिक संरचना (जैसे सड़कें, परिवहन, भवन, संचार आदि) के उपलब्ध होने के कारण यहाँ पर बैंक कार्यालयों को खोलने तथा उन्हें चलाने पर लागत भी कम पड़ती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की शायद ही कोई शाखा होती थी। ग्रामीण और अर्ध-शहरी शाखाओं में जो कुछ भी जमा हो पाता था उसका उपयोग शहरी क्षेत्रों के बडे-बड़े उद्योगों को उधार देने के काम में हो जाता था।

चूँकि उस समय वाणिज्य बैंकों पर निजी क्षेत्रक का स्वामित्व था इसलिए उनका मुख्य अभिप्रेरण अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बैंकिंग सेवाओं को प्रदान करना नहीं बल्कि अधिकाधिक लाभ कमाना होता था। लाभ अभिप्रेरण (Profit motive) के ही कारण वाणिज्य बैंक जमाखोरी एवं सट्टेबाजी तक के लिए उधार दे दिया करते थे।

10.12 बैंक राष्ट्रीयकरण

1951 के ऑल इंडिया रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी की सिफ़ारिश पर भारत सरकार ने इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया को अपने अधीन कर लिया और इस बैंक के साथ कुछ राज्य सहयोगी बैंकों को मिलाकर स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की।

1956 में 1949 के बैंकिंग विनियमन अधिनियम में संशोधन करके रिज़र्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह वाणिज्य बैंकों पर और अधिक नियंत्रण रखे। लेकिन ऐसा करने से भी वाणिज्य बैंकों के काम के ढंग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इसीलिए 1968 में बैंकों के ऊपर सामाजिक नियंत्रण की योजना लागू की गई जिसका उद्देश्य था बैंकिंग सुविधाओं को तेज करना, बैंकों की उधार देने की पद्धति में परिवर्तन लाना तथा वाणिज्य बैंकों को सामाजिक रूपांतरण का साधन बनाना। इसके बाद का कदम था जून, 1969 में 14 प्रमुख वाणिज्य बैंकों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण करना। अप्रैल, 1980 में 6 और निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया तो सरकार के अधीन था ही तथा उसके सात सहयोगी बैंक सार्वजनिक क्षेत्रक में थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाणिज्य बैंकों के कार्य का 90 प्रतिशत से अधिक सीधे सरकार के नियंत्रण में आ गया है।

10.12.1 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही निजी लाभ अभिप्रेरण तथा सामाजिक प्राथामकताओं के बीच व. रोध को समाप्त कर दिया गया है। अब तक सामाजिक बैंकिंग नामक एक व्यापक संकल्पना का विकास हो चुका है जिसका उद्देश्य लाभ कमाना मात्र नहीं बल्कि कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करना भी होता है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मुख्य उद्देश्य थे:

1) बैंकों की शाखाओं को बढ़ाना, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में,

2) वाणिज्य बैंकों के द्वारा बचतों का अधिक जुटाव,

3) ऋण प्रवाह का पुनः स्थापन जिससे कि कृषि, छोटे पैमाने के एवं कुटीर उद्योगों तथा कम उधार लेने वाले उन क्षेत्रकों को लाभ पहुँचे जिनकी अब तक उपेक्षा की गई है।

10.12.2 राष्ट्रीयकरण के बाद कार्रवाइयाँ

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 1969 से अनेक कदम उठाए गए हैं। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं:

1) बैंकों से कहा गया कि वे अपनी अधिकाधिक शाखाएँ ग्रामीण और अर्ध-नगरीय क्षेत्रों में खोलें,

2) बैंकों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे निवल बैंक ऋण के एक निश्चित अनुपात को कृषि, छोटे पैमाने के उद्योग, कुटीर उद्योग आदि प्राथमिक क्षेत्रकों को दें।

3) बैंकों के लिए आवश्यक कर दिया गया कि वे ग्रामीण और अर्ध शहरी क्षेत्रों में ऋण-जमा अनुपात को कम से कम 60 प्रतिशत रखें,

4) बैंकों से कहा गया कि वे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों जैसी दरिद्रता-निवारक योजनाओं में रुपया लगाएँ,

5) बैंकों को कहा गया कि वे आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था इस प्रकार करें कि उद्योगों और बड़े-बड़े ऋणकर्त्ताओं को दिए जाने वाले ऋण पर अधिक ब्याज दर तथा कृषि एवं छोटे उधारकर्त्ताओं से कम ब्याज दर ली जाए, तथा

6) बैंकों से कहा गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में समाज के कमज़ोर वर्ग को उधार देने के लिए वे क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को प्रायोजित करें।

10.13 राष्ट्रीयकरण के बाद विकास

जैसा कि तालिका 10.8 में देखा जा सकता है, राष्ट्रीयकरण के बाद के काल में बैंकों की अवस्थिति संबंधी चित्र में काफी परिवर्तन हुए हैं। जून, 1969 और दिसम्बर, 1988 के बीच वाणिज्य बैंकों के कार्यालयों की संख्या 8262 से बढ़कर 55797 हो गई। राष्ट्रीयकरण के बाद के पिछले 20 वर्षों में अधिकतर नए कार्यालय ग्रामीण क्षेत्रों में ही खोले गए। आज वाणिज्य बैंकों की कुल संख्या के आधे से अधिक ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित हैं जबकि राष्ट्रीयकरण के समय यह संख्या मात्र 22 प्रतिशत थी। शाखा कार्यालयों में इस प्रकार की वृद्धि का ही परिणाम है कि 1969 से 1988 के बीच समस्त देश की दृष्टि से प्रत्येक बैंक के लिए जनसंख्या 65000 से घटकर 12000 हो गई।

10.13.1 बैंक जमा में वृद्धि

जून, 1969 से दिसम्बर, 1986 के बीच अनुसूचित वाणिज्य बैंकों की जमा राशि में लगभग तीस गुना वृद्धि हुई। यह प्रगति असाधारण है। 1969 और 1988 के बीच राष्ट्रीय आय में बैंक जमा का अनुपात 15 प्रतिशत से बढ़कर 49 प्रतिशत हो गया। इन्हीं वर्षों के बीच जमा लेखाओं (Deposite accounts) में 17 गुना से भी अधिक वृद्धि हुई तथा इस समय वाणिज्य बैंकों में लगभग 28 करोड़ जमा खाते हैं। राष्ट्रीयकरण के पूर्व वाणिज्य बैंकों की कुल जमा राशि में ग्रामीण शाखाओं का अंश मात्र 3 प्रतिशत होता था परन्तु आज यह 14 प्रतिशत है।

दिसम्बर, 1988 में कुल बैंक ऋण 80,000 करोड़ रुपये का था जबकि जून, 1969 में यह 3,599 करोड़ रुपये का ही था। इस समय कुल बैंक ऋण का 43 प्रतिशत प्राथमिक क्षेत्रकों को जाता है जबकि 1969 में यह 14 प्रतिशत ही था। पहले की तुलना में इस समय वाणिज्य बैंक सरकारी तथा सरकार से अनुमोदित प्रतिभूतियों में अधिक निवेश करते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्रक निवेश के वित्तीयन के संबंध में इस समय बैंक महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। सरकारी एवं सरकार द्वारा अनुमोदित प्रतिभूतियों (जो अधिकतर सरकारी उपक्रमों की होती हैं) में तो ये निवेश करते ही हैं परन्तु साथ ही साथ ये मियादी ऋण की उन संस्थाओं के शेयरों/डिबेंचरों/बाँडों में भी रुपया लगाते हैं जो सार्वजनिक एवं निजी, इन दोनों ही क्षेत्रकों के कृषि एवं उद्योग कार्यों में निवेश करती हैं।

तालिका 10.8: 1969 से अनुसूचित वाणिज्य बैंकों में हुई प्रगति

		जून, 1969	दिसम्बर, 1988
1	भारत में कुल कार्यालय	8262	55797
	जिनमें ग्रामीण शाखाएँ	1833	31429
	ग्रामीण शाखाओं का प्रतिशत	22	56
2	जनसंख्या प्रति कार्यालय (हज़ार में)	65	12
3	भारत में जमा राशि (करोड़ रुपयों में)	4646	139000
4	जमा राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में	15	49
5	ऋण (करोड़ रुपयों में)	3599	80000
6	प्राथमिक क्षेत्रकों को बैंक ऋण (करोड़ रुपयों में)	504	34400
7	कुल बैंक ऋण में प्राथमिक क्षेत्रकों को ऋण का अंश (प्रतिशत)	14	43
8	ऋण-जमा अनुपात (प्रतिशत)	78	58
9	निवेश-जमा अनुपात (प्रतिशत)	29	40
10	बैंक जमा खातों की संख्या (करोड़ में)	1.6	28

स्रोत: रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया— रिपोर्ट ऑन करेन्सी ऐंड फाइनेंस ऐंड रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया बुलेटिन।

10.13.2 बैंक जमा का ढाँचा

भारत के वाणिज्य बैंक तीन प्रकार से जमा-राशि स्वीकार करते है: चालू बचत और मियादी (current, savings and terms)। चालू खाता व्यावसायिक प्रतिष्ठान तथा सरकार रखते हैं, बचत खाते को व्यक्ति अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों एवं बचत के लिए रखते है। मियादी जमा किसी निश्चित समय के लिए जमा (fixed deposit) को कहते है।

बैंकों की अधिकतर जमा राशि महानगरीय में स्थित उनकी शाखाओं में होती है और उनके बाद नगरों तथा अर्ध नगरों में स्थित शाखाओं का स्थान आता है। नगरीय और अर्ध नगरीय शाखाओं के अंतर्गत वाणिज्य बैंकों की कुल शाखाओं की संख्या का तीन चौथाई अंश आता है फिर भी इनमें कुल जमा राशि का 35 प्रतिशत ही है। ग्रामीण क्षेत्रों की जमा राशि बचत खाताओं में अधिक है। चालू जमा राशि तो नगरीय और महानगरीय शाखाओं में ही होती है। 1986 में ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओं की प्रति जमा खाते की औसत जमा राशि 1,944 रुपए थी जो महानगरीय शाखाओं के प्रति जमा खाते के 7,620 रुपए के लगभग एक चौथाई थी।

10.13.3 बैंक ऋण का स्वरूप

बैंकों के राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य था बैंक ऋण के स्वरूप को बदलना। राष्ट्रीयकरण के पहले ऋण के स्वरूप में दो मुख्य कमियाँ थीं। ग्रामीण एवं अर्ध नगरीय क्षेत्रों की जमा राशि का उपयोग नगरीय और महानगरीय क्षेत्रों में ऋण देने के कार्य में किया जाता था। इस प्रकार संसाधनों का प्रवाह निर्धन क्षेत्रों से सम्पन्न क्षेत्रों की ओर होता था। दूसरी बात यह थी कि बैंक ऋण के बहुत बड़े भाग को बड़े पैमाने के उद्योग एवं नगरों के थोक व्यापारी ले लेते थे जिससे कृषि एवं पिछड़े हुए क्षेत्रकों के लिए बहुत ही कम बैंक ऋण बच पाता था। राष्ट्रीयकरण के बाद के काल में वाणिज्य बैंकों से विशेष रूप से कहा गया कि वे ग्रामीण क्षेत्रों के ऋण-जमा अनुपात को बढ़ाएँ तथा विभिन्न क्षेत्रकों के बीच ऋण की व्यवस्था इस प्रकार करें कि वह कृषि एवं अन्य प्राथमिक क्षेत्रकों के अधिक अनुकूल सिद्ध हो। तालिका 10.9 में हम देख सकते हैं कि बैंकों को राष्ट्रीयकरण के बाद ग्रामीण और अर्ध नगरीय शाखाओं का ऋण-जमा अनुपात बढ़ा है तथा नगरीय और महानगरीय शाखाओं का घटा है। बैंक अब ग्रामीण क्षेत्रों में पहले की अपेक्षा अधिक ऋण दे रहे हैं। तालिका 10.10 में आप देख सकते हैं बैंक ऋण के उद्योगवार वर्गीकरण में भी परिवर्तन आया है। मार्च, 1968 में कुल बैंक ऋण का दो तिहाई भाग बड़े पैमाने के उद्योगों को जाता था। व्यापार के क्षेत्र में अधिकाधिक ऋण थोक व्यापार को मिलता था। परन्तु बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद से बैंकों ने प्राथमिक क्षेत्रकों को दिए जाने वाले ऋण के अंश को बढ़ा दिया। इन क्षेत्रकों के अंतर्गत आते हैं — कृषि, छोटे पैमाने के उद्योग, खुदरा व्यापार तथा अर्थव्यवस्था के अन्य गरीब वर्ग। इन सभी के अंश बढ़ गए हैं। बैंक ऋण को अब सामाजिक और आर्थिक पश्चगमन (Retrogression) का साधन नहीं माना जा सकता।

तालिका 10.9 : अनुसूचित वाणिज्य बैंकों का ऋण-जमा अनुपात (प्रतिशत)

	जून, 1969	जून, 1988
ग्रामीण	37.5	64.4
अर्ध नगरीय	39.7	51.8
नगरीय	59.7	55.6
महानगरीय	106.1	74.2
अखिल भारतीय	77.4	63.1

स्रोत: रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया — रिपोर्ट आन करेंसी ऐंड फाइनेंस

तालिका 10.10 : अनुसूचित वाणिज्य बैंकों के ऋणों का क्षेत्रीय वर्गीकरण *(प्रतिशत अंश)*

		मार्च, 1968	जून, 1986
i)	उद्योग	67.5	42.7
	(क) बड़े एवं मध्यम	60.6	30.4
	(ख) छोटे	6.9	12.3
ii)	कृषि एवं सहबद्ध क्रियाएँ	2.2	17.4
iii)	आंतरिक व्यापार	19.2	21.3
	(क) थोक	17.7	16.5
	(ख) खुदरा	1.5	4.8
iv)	सेवाएँ	—	3.3
v)	व्यक्तिगत ऋण		3.7
vi)	अन्य	11.1	11.6
	कुल	100.00	100.00

स्रोत: रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया — रिपोर्ट आन करेंसी ऐंड फाइनेंस

10.13.4 कठिनाइयाँ और चुनौतियाँ

वाणिज्य बैंकों की शाखाओं में बड़े पैमाने पर वृद्धि के फलस्वरूप दूर-दूर के क्षेत्रों में ये शाखाएँ खुली हैं और बैंक संबंधी सुविधाएँ भी बढ़ी हैं। लेकिन इससे कुछ समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई हैं। पहली बात तो यह है कि शाखाओं के विस्तार के अनुरूप बैंक संबंधी सुविधाएं नहीं बढ़ी हैं। असंगठित क्षेत्रकों को बड़े पैमाने पर बैंक ऋण देने के फलस्वरूप अनेक ऋणों में ज़ोखिम के तत्व आ जाते है जिससे अशोध्य ऋणों (bad debts) का अनुपात बढ़ गया है। अनुमान लगाया जाता है कि कालातीत ऋण (Overdue advance) का अंश कृषि ऋण में 50 प्रतिशत तथा कुल बैंक ऋण में 17 प्रतिशत हो गया है। इससे बैंकों की लाभप्रदता कम ही नहीं हो गई है बल्कि अर्थव्यवस्था के निवेश योग्य संसाधन भी घटते रहे हैं। राष्ट्रीयकृत बैंकों की कार्यशील निधि के प्रतिशत के रूप में लाभ अब 0.2 प्रतिशत ही रह गया है।

अब बैंकर यह महसूस करते हैं कि बैंकों में विस्तार का चरण समाप्त हो चुका है। अब तो आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीयकरण से हुए लाभ को ठोस रूप दिया जाए तथा बैंकों की सुविधाओं में सुधार लाया जाए।

10.14 सहकारी बैंकिंग और कृषि ऋण

कृषि को संस्थागत ऋण निम्नलिखित एजेन्सियों के द्वारा दिया जाता है:

1) सहकारी बैंक
2) वाणिज्य बैंक
3) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (RRB)
4) नेशनल बैंक फॉर एग्रिक्लचर ऐंड रूरल डेवलपमेंट (NABARD)
5) भारतीय रिज़र्व बैंक

10.14.1 रिज़र्व बैंक और कृषि ऋण प्रणाली

आज़ादी के पहले कृषि को दिया जाने वाला ऋण संस्थागत ऋण कृषि ऋण का बहुत ही अल्प अंश होता था। योजना की शुरुआत के बाद महसूस किया गया कि कृषि ऋण के क्षेत्र में प्रबल परिवर्तन की आवश्यकता है। कृषि को संस्थागत ऋण देने के संबंध में सुधार लाने के लिए रिज़र्व बैंक को कहा गया कि वह तीन उपाय करे: (क) वाणिज्य बैंकों के ऋण के

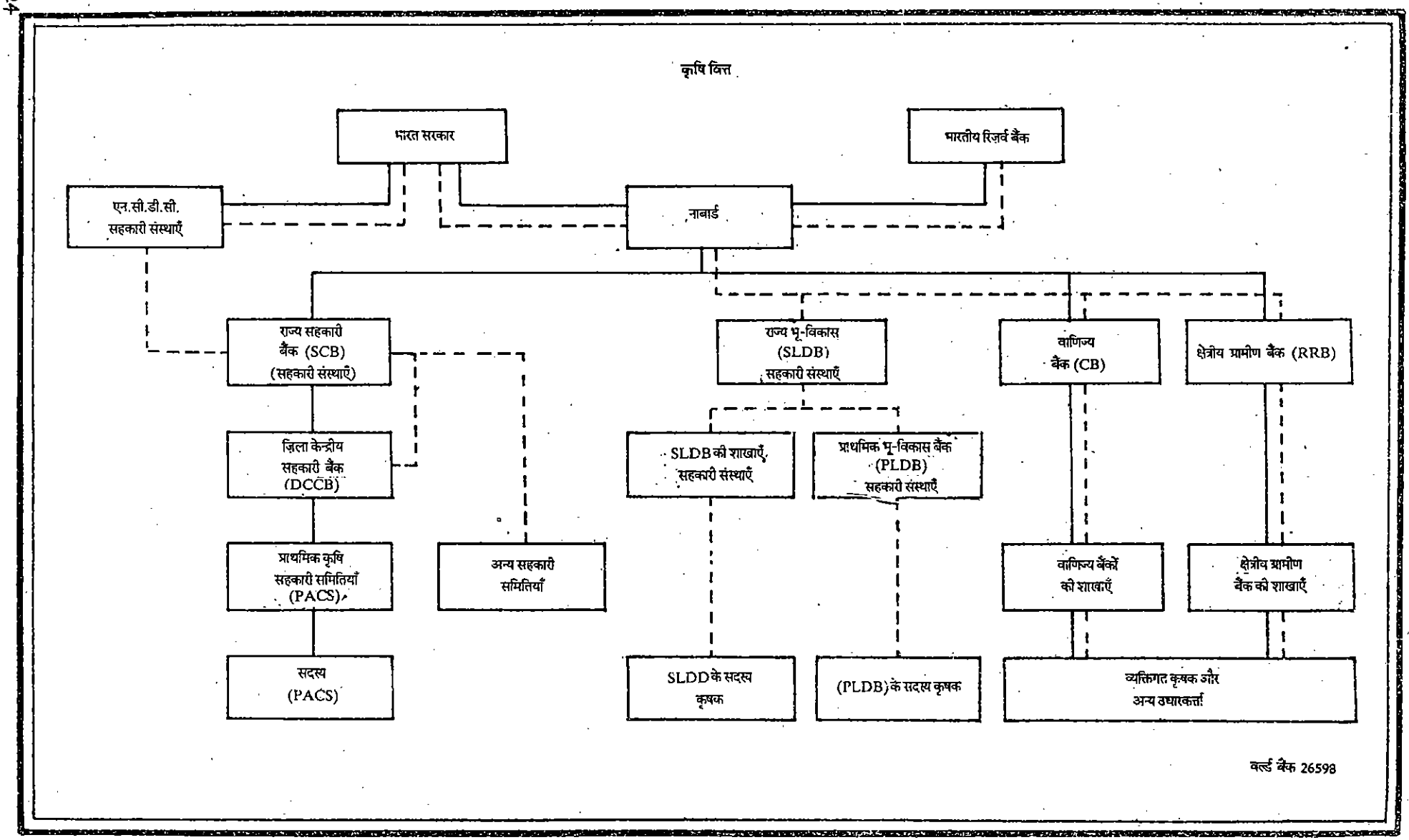
कृषि वित्त
भारत सरकार
भारतीय रिज़र्व बैंक
एन.सी.डी.सी.
सहकारी संस्थाएँ
नाबार्ड
राज्य सहकारी
बैंक (SCB)
(सहकारी संस्थाएँ)
राज्य भू-विकास
(SLDB)
सहकारी संस्थाएँ
वाणिज्य
बैंक (CB)
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (RRB)
ज़िला केन्द्रीय
सहकारी बैंक
(DCCB)
SLDB की शाखाएँ,
सहकारी संस्थाएँ
प्राथमिक भू-विकास बैंक
(PLDB)
सहकारी संस्थाएँ
प्राथमिक कृषि
सहकारी समितियाँ
(PACS)
अन्य सहकारी
समितियाँ
वाणिज्य बैंकों
की शाखाएँ
क्षेत्रीय ग्रामीण
बैंक की शाखाएँ
सदस्य
(PACS)
SLDD के सदस्य
कृषक
(PLDB) के सदस्य कृषक
व्यक्तिगत कृषक और
अन्य उधारकर्त्ता
वर्ल्ड बैंक 26598

चित्र 10.4

बहुत बड़े अंश को कृषि के लिए आवंटित करें, (ख) ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी बैंकिंग पर संवर्धन और विकास करें और कृषि ऋण के वित्तीयन के लिए नई संस्थाओं की शुरूआत करें और (ग) कृषि की रियायती संस्थागत ऋण देकर ब्याज दर को कम करें। इन सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने में रिजर्व बैंक का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। एग्रिकल्चरल रिफाइनेंस ऐंड डेवलपमेंट कार्पोरेशन (जिसका अब नाबार्ड के साथ विलय हो चुका है) के द्वारा कृषि ऋण संस्थाओं के संवर्धन के कार्य में रिजर्व बैंक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में बहुत सहायता की है। इन सबके फलस्वरूप कुल कृषि ऋण में संस्थागत ऋण का अंश बढ़कर 70 प्रतिशत से भी अधिक हो गया है।

10.14.2 सहकारी बैंकिंग

सहकारी बैंक कृषि को अल्पेकालिक एवं दीर्घकालिक, दोनों ही प्रकार के ऋण देते हैं और इनके कार्यक्षेत्र के अंतर्गत अनेक प्रकार के ग्रामीण आर्थिक कार्य आ जाते हैं जैसे उत्पादन, वितरण, परिवहन, और विपणन। सहकारी बैंक उन आर्थिक दृष्टि से कमजोर एवं निर्धन व्यक्तियों की संख्या होती है जो आपस में एक दूसरे को ऋण लेने देने के लिए अपने संसाधनों को इकट्ठा करते है। राज्य सरकारों, नाबार्ड और स्टेट बैंक से उधार लेकर वे अपनी उधारार्थ निधि में वृद्धि करते हैं। कृषि कार्यों के वित्तीयन के लिए सहकारी बैंक अल्पकालिक, मध्यकालिक तथा दीर्घकालिक ऋण देते हैं। अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋण तीन सोपान के सहकारी ढाँचे के माध्यम से दिये जाते हैं – राज्य सहकारी बैंक (SCB) जो प्रत्येक राज्यों में शिखर स्तर पर होते हैं। जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक (CCB) तथा ग्राम स्तर पर प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ (PACS) दीर्घकालिक ऋण के लिए राज्य भू-विकास बैंक (SLDS) शिखर संस्था का काम करते हैं जो सम्बद्ध प्राथमिक भू-विकास बैंकों (PLDB) के द्वारा काम करते हैं। कृषि एवं कृषि उद्योग सहकारी समितियों द्वारा चलाये जाने वाले कार्यक्रमों और परियोजनाओं के संवर्धन और वित्तीयन के लिए राष्ट्रीय सहकारिता विकास निगम (NCDC) की स्थापना 1962 में की गई। सहकारी समितियों द्वारा निवेश के लिए यह निगम राज्य सहकारी बैंकों और राज्य भू विकास बैंकों के द्वारा ऋण देता है। 1963-64 में 21,000 प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ थीं। इस समय इन समितियों की संख्या लगभग एक लाख है और ये सहकारी समितियों द्वारा दिए जाने वाले कृषि ऋण का लगभग 20 प्रतिशत देती है। इस समय 29 राज्य सहकारी बैंक, 349 केन्द्रीय सहाकरी बैंक और 19 भू-विकास बैंक हैं। सहकारी समितियों द्वारा दिए जाने वाले कृषि ऋण में इनका अंश क्रमशः 36 प्रतिशत, 41 प्रतिशत और 3 प्रतिशत है। सभी सहकारी बैंक सम्मिलित रूप से इस समय कृषि को दिए जाने वाले संस्थागत ऋण का 42 प्रतिशत देते हैं। सहकारी समितियाँ कृषि कार्य के लिए दीर्घकालिक ऋण की अपेक्षा अल्पकालिक ऋण अधिक देती है।

सहकारी समितियों ने अपने कार्यों को तो बहुत बढ़ा लिया है परन्तु उनमें अनेक कमियाँ रह गयी हैं अनेक सहकारी समितियाँ इस समय वित्तीय दृष्टि ो बीमार इकाइयाँ हैं और इनमें से कुछ को तो डूबने से बचाना ही कठिन है। कृषि को दिए गये सहकारी ऋण का लगभग 60 प्रतिशत वाकी (overdue) पड़ा है। सहकारी समितियों का संगठनात्मक ढांचा अत्यंत कमजोर होता है फिर भी उन्हें अनेक तरह के गैर बैंकीय कार्य करने होते हैं, जैसे एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रमों (Integrated Rural Development Programme) को चलाना। अनेक सहकारी समितियों में बहुत कम राशि जमा हो पाती है और ऋण देने के लिए वे अन्य एजेन्सियों से लिए जाने वाले उधार धर निर्भर करती हैं। जो सहकारी समितियाँ सफल रही हैं उन पर प्रायः ग्रामीण एवं अर्ध नगरीय क्षेत्रों के सम्पन्न व्यक्तियों का प्रभुत्व है जैसे कि महाराष्ट्र की चीनी सहकारी समितियाँ।

10.14.3 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (RRB)

1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना यही सोचकर की गई कि वाणिज्य बैंकों की प्रकृति, प्रवृत्ति और अत्यधिक लागत के कारण उनके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों,विशेषतः कमजोर वर्ग वालों की ऋण संबंधी आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकता। दिसम्बर 1985 तक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की संख्या 187 हो गई थी और उनकी शाखाओं की संख्या 12,000 थी जो 322 जिलों में फैली हुई थीं। दिसम्बर 1985 तक इन बैंकों में 1159 करोड़ रूपया जमा हुआ तथा इन्होंने 1333 करोड़ रूपया ऋण के वप में दिया। संस्थाओं द्वारा दिए जाने वाले कृषि ऋण में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का अंश लगभग 5 प्रतिशत था। इन बैंकों की मुख्य समस्याएं है।- ऋणों की वापसी कापुराना बकाया, कम लाभप्रदता, कम ब्याज दर और विशेष रूप में प्राथमिक क्षेत्रकों से ऋण का वसूल न हो पाना। इन बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋण का 90 प्रतिशत से,अधिक भाग छोटे और सीमांत किसानों, कारीगरों, ग्राम एवं कुटीर उद्योगों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के अन्य छोटे छोटे उधारकर्ताओं को जाता है। उनके सम्मुख पुराने बकायों की समस्या बनी रहती है। इनके बाकी ऋण में लगभग 50 प्रतिशत पुराना बकाया है।

10.14.4 कृषि और ग्राम विकास राष्ट्रीय बैंक

कृषि, ग्राम उद्योगों ओर सहवद्ध कार्यों के विकास से तेजी लाने के लिए 1982 में नाबार्ड (NABARD) की स्थापना की गई। नाबार्ड (NABARD) सभी प्रकार के उत्पादन के लिए पुनर्वित तथा कृषि , कारीगरों, कुटीर और ग्राम उद्योगों, हस्तशिल्पों और अन्य ग्रामीण कार्यों के लिए निवेश ऋण की व्यवस्था करता है। यह रिजर्व बैंक, सरकार एवं विशव बैंक से धन प्राप्त करता है। जून 1985 के अंत तक नाबार्ड ने सहकारी समितियों एवं क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को 200 करोड़ रूपया पुनर्वित सहायता के रूप में दिया।

10.14.5 कृषि वित्त का संस्थागत ढाँचा

अब तक आपको स्पष्ट हो गया होगा कि ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं जो लोगों को ऋण प्रदान करती हैं। वास्तव में कृषि वित्त के संबंध में भारत ने "बहु-एजेन्सी" प्रणाली को अपनाया। इस प्रणाली के अंतर्गत वाणिज्य बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और सहकारी समितियाँ ग्रामीण वित्त की व्यवस्था करती हैं तथा इन संस्थाओं को भारतीय रिज़र्व बैंक, नाबार्ड, एन. सी. डी सी., केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों से समर्थन और पुनर्वित्त प्राप्त होते हैं। चित्र 10.4 में आप देख सकते हैं कि क्षेत्रीय स्तर की अल्पकालिक ऋण देने वाली संस्थाएँ प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ (PACS) हैं और दीर्घकालिक ऋण राज्य भू-विकास बैंकों की शाखाएँ एवं प्राथमिक भू-विकास बैंक देते हैं। इसके विपरीत, वाणिज्य बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की शाखाएँ अल्पकालिक और दीर्घकालिक, दोनों ही प्रकार के ऋण देते हैं। नाबार्ड सहकारी बैंकों (SCB और SLDB) एवं वाणिज्य बैंकों को कृषि ऋण का पुनः वित्तीयन करता है और राष्ट्रीय सहकारिता विकास निगम राज्य सहकारी बैंकों एवं राज्य भू-विकास बैंकों को ऋण, अनुदान और आर्थिक सहायता देता है तथा उनकी शेयर पूंजी में भाग लेता है। इस निगम की निधियों का निर्माण भारत सरकार से मिलने वाले ऋणों और अनुदानों तथा बाज़ार से ली जाने वाली उधार राशि से होता है, जबकि नाबार्ड को अधिकार है कि वह भारत सरकार तथा रिज़र्व बैंक से निधियों को प्राप्त करे।

बोध प्रश्न 3

1 आपके विचार से भारत में वाणिज्य बैंकिंग और सहकारी बैंकिंग के बीच मूल अन्तर क्या है?

.....

.....

.....

2 वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया? राष्ट्रीयकरण के तीन मुख्य उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3 सहकारी बैंकिंग की मुख्य त्रुटियाँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

10.15 सारांश

भारत के मुद्रा बाज़ार को संगठित और असंगठित क्षेत्रेकों के बीच बाँटा जा सकता है। रिज़र्व बैंक संगठित मुद्रा बाज़ार को नियंत्रित करता है जिसके अंतर्गत वाणिज्य और सहकारी बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएँ आती हैं। असंगठित मुद्रा बाज़ार के अंतर्गत साहूकार और महाजन आ जाते हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में इसी का प्रभुत्व है। बैंकिंग में विकास होने के साथ-साथ असंगठित मुद्रा बाज़ार का क्षेत्र घटता जा रहा है।

भारत में मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य है कीमत स्थिरता को बनाए रखते हुए संवृद्धि लाना। पहले कीमत स्तर बहुत कुछ स्थिर ही रहता था लेकिन हाल के वर्षों में इसमें कुछ वृद्धि होने लगी है। मुद्रा नीति अपने आप ही कीमत स्तर को नियंत्रण में नहीं रख सकती क्योंकि मुद्रा प्रसार का मुख्य स्रोत तो सरकार द्वारा किया जाने वाला घाटा वित्तीयन है जो राजकोषीय नीति के अंतर्गत आता है।

मुद्रा नीति के संबंध में भारतीय रिज़र्व बैंक प्रमुख अधिकारी है। यह बैंक नियमन तथा विकास, इन दोनों ही कार्यों को करता है। वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण इस प्रयोजन से किया गया कि वे सामाजिक और आर्थिक रूपांतरण का साधन बन सकें, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में। राष्ट्रीयकरण के बाद वाणिज्य बैंकों में बड़ी तेजी से प्रगति हुई है। पहले की अपेक्षा अब वे कृषि, छोटे पैमाने के उद्योगों और निर्धन लोगों को अधिक ऋण देने लगे हैं। सहकारी बैंकों का कार्य क्षेत्र मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्र हैं तथा इन बैंकों में अनेक कमियाँ भी हैं।

10.16 शब्दावली

रिज़र्व बैंक (Reserve Bank): शिखर बैंकिंग संस्था जो विणिज्य बैंकों नियंत्रित करती तथा मुद्रा नीति का विनियमन करता है।

घाटा वित्तीयन (Deficit Financing): नोटों को छापकर सरकारी व्यय का वित्तीयच।

विकास बैंक (Development Banks): विकास कार्यों में रुचि रखने वाले बैंक। इन बैंकों का उद्देश्य शीघ्रता से कोई व्यावसायिक कार्य करके लाभ कमाना मात्र नहीं होता बल्कि विकास के लिए ऋण प्रदान करना होता है।

वित्तीय बिचौलिए (मध्यस्थ) (Financial Intermediaries): वे संस्थाएँ जो निवेशकर्त्ताओं को उधार देने के लिए परिवारों की बचतों को जुटाती हैं।

मुद्रा गुणक (Money Multiplier): रिज़र्व मुद्रा व मुद्रा के स्टॉक का अनुपात।

राष्ट्रीयकरण (Nationalisation): निजी क्षेत्रक से सरकार को स्वामित्व का हस्तांतरण।

अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks): भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम की द्वितीय अनुसूची में दिए गए बैंक और जो अन्य देशों के सदस्त बैंकों के समकक्ष होते हैं।

बीमार इकाइयाँ (Sick Units): घाटा उठाने वाले विणिज्यिक संगठन

10.17 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरमः *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस. चांद एवं कम्पनी, नई दिल्ली, 1990, अध्याय 30,43,44 एवं 46.

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरीः *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालय पब्लिशिंग हाऊस, मुंबई, 1989, अध्याय 25, 45 एवं 46.

नाथूरामका, लक्ष्मी नारायणः *भारतीय अर्थशास्त्र,* लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा 1990, अध्याय 21,51,52.

Reserve Bank of India, 1983. *Functions and working* (Chapters 1,4,6).

Reserve Bank of India, 1985. *Report of the Committee to Review the Working of the Monetary System)* (chapters 1, 4, 5, 6, 8-12).

World Bank Staff Working Papers, No. 739, *India's Financial System,* The World Bank: Washington D.C.

10.18 बोध प्रश्नोंके उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 रिज़र्व बैंक वाणिज्य बैंकों को ऋण देता है तथा वाणिज्य बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के नकदी-जमा अनुपात और जमा तथा ऋण की ब्याज दरों का विनियमन करता है। इसे और विस्तारपूर्वक लिखिए।

2 भाग 10.3.4 का प्रथम पैरा देखिए।

3 तालिका 10.1 देखिए और उसके बाद स्पष्टीकरण देखिए।

4 भाग 10.4 देखिए और उत्तर लिखिए

5 मुद्रा गुणक से अभिप्राय होता है रिज़र्व मुद्रा से मुद्रापूर्ति का अनुपात। तालिका 10.4.2 में इसकी समयोपरांत प्रवृत्ति को दिखाया गया है।

बोध प्रश्न 2

1 मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य है कीमतों की स्थिरता बनाए रखते हुए संवृद्धि लाना। चित्र 10.3 को देखिए और कीमत स्थिरता की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। यह भी बताइए कि कीमत स्तर को मुद्रा कैसे प्रभावित करती है।

2 भाग 10.9.5 में खुले बाज़ार कार्रवाई की परिभाषा दी गई है। सोचिए और बताइए कि परिवार सरकारी प्रतिभूतियों को क्यों नहीं खरीदते हैं।

3 संकेतः मुद्रा माँग राष्ट्रीय आय पर निर्भर है। मौसम-परिवर्तन के कारण यदि राष्ट्रीय आय में उतार-चढ़ाव होता है तब मुद्रा में वृद्धि क्या स्थिर दर से होगी?

4 भाग 10.8.1 देखिए और बताइए कि मुद्रा का प्रसार नियंत्रित दर से क्यों होना चाहिए?

बोध प्रश्न 3

1 इन दो प्रकार के बैंकों के मुख्य कार्यों को जानने के बाद आप इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं।

2 उत्तर के लिए आप सामान्य रूप से भाग 10.12 और विशेष रूप से भाग 10.12.1 को देखिए।

3 भाग 10.14.2 के पैराग्राफ 2 को देखिए और अपना उत्तर दीजिए।

इकाई 11 लोक वित्त

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 भारतीय सरकार तथा राजकोषीय नीति
  11.2.1 भारत में लोक वित्त का क्षेत्र
  11.2.2 सरकारी बजट और आर्थिक कार्यकलाप
  11.2.3 भारत में सरकार का आकार
11.3 सकल देशीय उत्पाद, बचत तथा निवेश में लोक-अंशदान
  11.3.1 सकल देशीय उत्पाद में अंशदान
  11.3.2 बचत तथा निवेश में अंशदान
11.4 भारत में राजकोषीय नीति की भूमिका तथा उद्देश्य
  11.4.1 संवृद्धि तथा माँग प्रबंधन
  11.4.2 बंटन दक्षता तथा समानता को बढ़ावा
11.5 लोक व्यय: संरचना तथा नीति
  11.5.1 लोक व्यय में वृद्धि के कारण
  11.5.2 विकास और गैर-विकास व्यय
  11.5.3 आर्थिक वर्गीकरण
  11.5.4 लोक व्यय का स्वरूप
11.6 कर संरचना तथा नीति
  11.6.1 करारोपण के सिद्धांत
  11.6.2 कर संरचना
  11.6.3 प्रत्यक्ष कर
  11.6.4 कर अपवंचन (करों की चोरी)
  11.6.5 परोक्ष कर
11.7 लोक ऋण
  11.7.1 लोक ऋण का संघटन
  11.7.2 ऋण वित्तीयन की समस्याएँ
  11.7.3 ऋण वित्तीयन का स्वरूप
  11.7.4 लोक ऋण में वृद्धि
11.8 केंद्र—राज्य राजकोषीय संबंध
  11.8.1 राजकोषीय वितरण स्वरूप
  11.8.2 वित्त आयोग
  11.8.3 योजना आयोग
11.9 सारांश
11.10 शब्दावली
11.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे —

- भारत की अर्थव्यवस्था पर सरकार के बजट-निर्णयों का प्रभाव
- सरकारी खर्च का स्वरूप
- भारत में लगाए जाने वाले कर और उन्हें लगाए जाने के कारण
- सरकार द्वारा ऋण लेने के कारण और प्रभाव, तथा
- केंद्र — राज्य राजकोषीय संबंधों की प्रकृति तथा समस्याएँ।

11.1 प्रस्तावना

आजकल विश्व में शायद ही कोई ऐसी अर्थव्यवस्था हो जो सरकार के बजट निर्णयों तथा नीति से नियंत्रित न होती हो। सरकार कर लगाती है और उससे प्राप्त धन को सार्वजनिक कामों तथा कार्यक्रमों पर खर्च करती है। सरकार ऋण भी लेती

है और विभिन्न आर्थिक कार्यकलाप में निवेश भी करती है। बहुत से ऐसे सार्वजनिक उद्यम होते हैं जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तथा सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। सरकार की ये सभी गतिविधियाँ निजी क्षेत्र के उत्पादन, रोज़गार, उपभोग, बचत तथा निवेश को प्रभावित करती हैं।

बहुत से लोग ऐसा भी सोचते हैं कि भारत में केंद्रीय और राज्य सरकारें आर्थिक कार्यकलाप में जरूरत से ज्यादा हिस्सा ले रही हैं। वे बहुत ज्यादा कर लगाती हैं। सार्वजनिक उद्यम पूरी दक्षता के साथ नहीं चलाए जा रहे। सरकार कर्ज़े भी ज्यादा ही ले रही है। लेकिन इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह विश्वास करते हैं कि सरकार विकास तथा सामाजिक न्याय के लिए काफी कुछ नहीं कर रही। सरकार अभी काफी कुछ और कर सकती है और उसे काफी कुछ करना भी चाहिए जैसे कि गरीबी को समाप्त करना और पिछड़े इलाकों का विकास करना। इस इकाई में आगे जब हम भारतीय अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा अदा की गई भूमिका की समीक्षा करेंगे तो आप स्वयं इस बारे में अपना मत निर्धारण कर सकेंगे कि सरकार के बजट निर्णय कहाँ तक सफल अथवा असफल रहे हैं।

11.2 भारतीय सरकार तथा राजकोषीय नीति

लोक वित्त सरकारी नीति का एक महत्वपूर्ण साधन होता है। अर्थव्यवस्था में इस विषय के अंतर्गत सरकार के बजट निर्णयों का आर्थिक विश्लेषण किया जाता है। यद्यपि इसे लोक वित्त कहा जाता है परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि इसका ताल्लुक सरकार के बजट से संबंधित मात्र वित्तीय मुद्दों से ही होता है, अपितु जैसा कि इस क्षेत्र के विशेषज्ञ मसग्रेव का कहना है, इसका ज्यादा ताल्लुक सरकारी व्यय तथा आय का उत्पादन, उपभोग, रोज़गार तथा अर्थव्यवस्था में वितरण पर पड़ने वाले वास्तविक प्रभाव से होता है

11.2.1 भारत में लोक वित्त का क्षेत्र

भारत एक संघीय देश है। इसमें तीन स्तरीय सरकारें काम करती हैं, अर्थात केंद्रीय सरकार, राज्य तथा संघ-राज्य क्षेत्र सरकारें और स्थानीय सरकारें जैसे नगर पालिकाएँ, पोर्ट ट्रस्ट, पंचायत आदि। इन सरकारी अभिकरणों के बजट में न केवल उनके अपने आय-व्यय की रकमों का समावेश होता है अपितु उसमें विभिन्न प्रकार के अंतरणों को भी सम्मिलित किया जाता है। रेलवे के मामले को छोड़कर केंद्रीय और राज्य सरकारों के बजटों में सरकार के विभागों द्वारा चलाए जा रहे सार्वजनिक उपक्रमों जैसे आकाशवाणी, दूरदर्शन, वानिकी तथा डाक-तार सेवाओं के आय-व्यय शामिल किए जाते हैं। लेकिन अविभागीय सार्वजनिक उद्यमों जैसे स्टील अथॉरिटी आफ इंडिया, भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स तथा हिंदुस्तान मशीन टूल्स आदि के आय-व्यय सरकारी बजट में शामिल नहीं किए जाते। इन्हें राज्य संचालित वाणिज्यिक उपक्रम माना जाता हैं और इसलिए उनके पृथक लाभ तथा हानि लेखे तैयार किए जाते हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक, भारतीय स्टेट बैंक, यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया तथा जीवन बीमा निगम जैसे गैर-विभागीय वित्तीय सरकारी उपक्रमों के कार्य व्यापार सामान्यतः मौद्रिक नीति के विश्लेषण में समाविष्ट किए जाते हैं, जैसा कि आप पूर्व इकाई में पढ़ चुके हैं।

11.2.2 सरकारी बजट और आर्थिक कार्यकलाप

संकीर्ण अर्थ में "बजट" शब्द का अर्थ किसी सरकार, मंत्रालय, विभाग या अभिकरण को व्यय का विनिधान (बंटन) करना है। लोक वित्त में बजट का आशय एक दी गई अवधि में, जो सामान्यतः एक वर्ष होती है, सरकार के संभावित आय तथा व्यय के अनुमानों को दर्शाने वाले विवरण से होता है। बजट में कुल आय हमेशा कुल खर्च के बराबर होती है। सरकार द्वारा बजट को संतुलित करने के लिए केंद्रीय बैंक से उधार ली गई राशि घाटा वित्तीयन कहलाती है। सरकार की आय और व्यय को वर्गीकृत करने के कई ढंग हैं। सरकारी बजट में उन्हें दो श्रेणियों में बांटा जाता है। एक राजस्व लेखा आय तथा व्यय और दूसरी पूंजी लेखा-आय तथा व्यय। सरकार द्वारा वसूल किए गए कर, ब्याज तथा लाभ अर्जन राजस्व-आय हैं क्योंकि सरकार को इन्हें फिर से लौटाना नहीं होता। जबकि विभिन्न प्रकार के कर्ज पूंजी-आय के अंतर्गत आते हैं। राजस्व-व्यय वे व्यय होते हैं जिनका असर बहुत थोड़े से समय तक रहता है परंतु पूंजी-व्यय का असर दीर्घ अवधि तक रहता है। वेतन तथा मज़दूरी का भुगतान राजस्व-व्यय के उदाहरण हैं जबकि मशीन या भवन की खरीद पूंजी-व्यय के उदाहरण हैं। इस तरह का वर्गीकरण बड़ा मनमाने ढंग का है इसीलिए आजकल के अर्थशास्त्री इसका वर्गीकरण सरकारी बजट के उत्पादन, उपभोग, निवेश, रोज़गार, विदेश व्यापार तथा मुद्रा पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर करने लगे हैं।

सरकारी बजट के अर्थव्यवस्था पर समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। इसके समष्टि प्रभाव ये हैं: (1) उत्पादन, उपभोग तथा निवेश पर आय और व्यय के प्रभाव, (2) मुद्रापूर्ति तथा ऋण प्रवाहों पर मौद्रिक प्रभाव, (3) विदेशी ऋण, विदेशी मुद्रा तथा भुगतान संतुलन पर व्यापार का प्रभाव, तथा (4) कीमत प्रभाव। विसमूहित या व्यष्टि स्तर पर — सरकारी बजट विभिन्न वस्तुओं, क्षेत्रकों तथा व्यक्तियों के बीच संसाधनों के बंटन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब आप सरकारी आय तथा व्यय संबंधी पाठों का अध्ययन करेंगे तब आप इस विषय में अधिक जानकारी हासिल कर सकेंगे।

आप जानते हैं कि अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका वहां पर प्रचलित आर्थिक प्रणाली के प्रकार पर निर्भर करती है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सरकार उत्पादन कार्यकलाप में प्रत्यक्ष रूप से बहुत थोड़ा ही काम कर पाती है, जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में सरकार सभी प्रकार के प्रमुख उत्पादन कार्य करती है। इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच की व्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है। आजकल शुद्ध रूप में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था किसी भी देश में प्रचलित नहीं है। इसी तरह शुद्ध रूप से समाजवादी अर्थव्यवस्था भी इनी गिनी ही हैं और इनमें भी बहुत से निजी आर्थिक कार्यकलाप किए जाते हैं। व्यावहारिक रूप में सभी अर्थव्यवस्थाएँ मिश्रित व्यवस्थाएँ हैं, हां उनमें मिश्रण अलग-अलग प्रकार का है। कुछ में सरकार अधिक सक्रिय रूप से आर्थिक भूमिका निभाती है और कुछ में कम।

पिछले सौ वर्षों के दौरान, आर्थिक कार्यकलाप में सरकार की भूमिका में तेजी से वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के तीन कारण हैं। पहला यह कि महसूस किया जाने लगा है कि कुछ वस्तुएँ सामाजिक वस्तुएँ होती हैं जिनका सामूहिक उपयोग होता है, जैसे सड़कें तथा पार्क या जो प्रत्येक के लिए अनिवार्य होती हैं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा आदि। इनको बाज़ार प्रणाली उपलब्ध नहीं करा सकती। कुछ मामलों में तो बाज़ार पूरी तरह से असफल हो जाता है और कुछ मामलों में यह अदक्षता के साथ ही काम कर सकता है। इसका दूसरा कारण है केन्ज़ के सिद्धांतों का प्रादुर्भाव जिसमें अर्थव्यवस्था का नियमन करना सरकार का मुख्य कार्य हो जाता है, तथा तीसरा कारण है "कल्याणकारी राज्य" की संकल्पना का प्रसार। इसके अंतः सरकार का यह दायित्व माना जाता है कि यह लोगों को कुछ निश्चित न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा प्रदान करे, जैसे इमदादी आवास तथा भोजन, भविष्य विधि, पेंशन तथा बेरोजगारी-लाभ आदि।

इन सभी बातों का मिला-जुला प्रभाव यह हुआ कि आज के पूंजीवादी औद्योगिक देशों में सरकार के खर्च के अंश में बढ़ोतरी हो गई, जैसा कि तालिका 11.1 से स्पष्ट है। विकासशील देशों में सरकारी खर्च में बढ़ोतरी द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् हुई। इनमें से अधिकांश देशों को स्वतंत्रता इसी अवधि में हासिल हुई। विकासशील देशों में 1972 तथा 1985 के मध्य वहाँ की केंद्रीय सरकारों के खर्च का औसत हिस्सा उनके सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 18 प्रतिशत से बढ़कर 27 प्रतिशत हो गया। पिछले कुछ वर्षों में सभी देशों में और विशेष रूप से औद्योगिक देशों में, सरकार के बढते खर्च पर पुनर्विचार किया जा रहा है। कुछ देशों में सरकारी खर्च में वृद्धि रोकने के साथ-साथ, पूर्ति पक्षीय अर्थशास्त्र के प्रभाव में कराधान को भी नियंत्रित करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

तालिका 11.1 सकल राष्ट्रीय (या देशीय) उत्पाद में सरकारी खर्च का अंश *(प्रतिशत में)*

	1880	1929	1960	1980
फ्रांस	15	19	35	52
जर्मनी	10	31	32	47
जापान	11	19	18	33
स्वीडन	6	8	31	65
ब्रिटेन	10	24	32	48
अमरीका	8	10	28	37

स्रोत: विश्व बैंक — वर्ल्ड डिवलपमेंट रिपोर्ट 1988

11.2.3 भारत में सरकार का आकार

भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला देश है। यहाँ जबसे योजना प्रक्रिया शुरू हुई है तब से आर्थिक कार्यकलाप में सरकार की भूमिका बहुत बढ़ गई है। अर्थव्यवस्था का शायद ही कोई क्षेत्र हो जिसमें सरकार सक्रिय रूप से हिस्सा न लेती हो। सरकार बहुत सी बुनियादी वस्तुओं, जैसे, इस्पात, कोयला, सीमेंट, उर्वरक, तेल, बिजली आदि की अग्रणी उत्पादक है। गैर-कृषि कार्य में सरकार ही सबसे बड़ा नियोजक है। कुल निवेश का लगभग आधा हिस्सा सरकार द्वारा ही लगाया जाता है। जहाँ सरकार सीधे उत्पादन नहीं करती वहां वह आर्थिक सहायता देकर, ऋण पर रियायती ब्याज लेकर, विपणन अथवा अन्य सुविधाएँ प्रदान करके परोक्ष रूप में उत्पादन में सहयोग देती है। इन सभी कार्यों की वजह से सहाकारी बजट का क्षेत्र बढ़ गया है। केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा संघ राज्यों-क्षेत्रों की सरकारों का कुल खर्च, 100 गुना से भी अधिक बढ़ गया है। 1950-51 में यह खर्च 918 करोड़ रुपए था जो 1988-89 में बढ़कर 1,13,427 करोड़ रुपए (बजट अनुमान) हो गया है। केंद्र, राज्यों तथा संघ राज्य - क्षेत्रों की कुल कर-आय में भी 100 गुना से अधिक की वृद्धि हो गई है। 1950-51 में यह आय 627 करोड़ रुपए थी जो 1988-89 में बढ़कर 64147 करोड़ रुपए हो गई है।

11.3 सकल देशीय उत्पाद, बचत तथा निवेश में लोक अंशदान

सरकारी बजट में वृद्धि का एक कारण तो कीमतों में हुई वृद्धि है लेकिन अधिकांश वृद्धि सरकार के अर्थव्यवस्था में बढ़-चढ़कर भाग लेने के कारण हुई है। अब हम सरकार के विभिन्न आर्थिक कार्यकलाप में हिस्सेदारी की जानकारी लेंगे।

11.3.1 सकल देशीय उत्पाद में अंशदान

इस पहलू पर हम पिछले खंड में विचार कर चुके हैं। हम यहाँ कुछ आवश्यक बातों का ही जिक्र करेंगे। सार्वजनिक क्षेत्रक

सरकारी कर्मचारियों को वेतन तथा मजदूरी का भुगतान करके आय में अंशदान करता है। इसमें सार्वजनिक उपक्रमों — विभागीय तथा गैर विभागीय — के कर्मचारी शामिल नहीं हैं। सकल देशीय उत्पाद में कुल मिलाकर सार्वजनिक क्षेत्रक का हिस्सा जो 1950-51 में 10 प्रतिशत से भी कम था वह 1986-87 में 26.5 प्रतिशत से भी अधिक हो गया। सकल देशीय उत्पाद में सरकार (राष्ट्रीय आय सांख्यिकी में जिसे "सरकारी प्रशासन" कहा जाता) तथा सार्वजनिक उपक्रमों का सापेक्षिक अंशदान 1986-87 में क्रमशः 10 तथा 16 प्रतिशत था। क्षेत्रक स्तर पर 1986-87 में सकल देशीय उत्पाद में कृषि में सार्वजनिक क्षेत्रक का अंशदान 3 प्रतिशत, उद्योगों में 28 प्रतिशत और तृतीयक क्षेत्रक में 38 प्रतिशत रहा।

सकल देशीय उत्पाद में, केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों की सरकारों के सामूहिक खर्च का अनुपात, 1950-51 के 10 प्रतिशत की तुलना में 1986-87 में बढ़कर 31 प्रतिशत हो गया। इन्हीं वर्षों के दौरान सकल राष्ट्रीय उत्पाद में सभी सरकारों की कर से प्राप्त आय का अनुपात 6.6 प्रतिशत से बढ़कर 17 प्रतिशत हो गया। आप देख सकते हैं कि मिश्रित अर्थव्यवस्था होने के बावजूद भारत के सकल देशीय उत्पाद में सार्वजनिक क्षेत्रक का अंश पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाले औद्योगिक देशों की तुलना में अभी भी काफी कम है।

भारत के औद्योगिक उत्पादन में, यद्यपि सार्वजनिक उद्यमों की हिस्सेदारी अभी भी 30 प्रतिशत से कम है, फिर भी सार्वजनिक क्षेत्रक के महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता क्योंकि यह अत्यधिक महत्वपूर्ण औद्योगिक वस्तुओं, जैसे इस्पात, कोयला, सीमेंट, उर्वरक, पेट्रोलियम वस्तुओं, बिजली अल्यूमीनियम का मुख्य उत्पादक क्षेत्रक है। इस क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्रक की गतिविधियाँ अर्थव्यवस्था के लिए अति महत्वपूर्ण हैं।

11.3.2 बचत तथा निवेश में अंशदान

चालू व्यय के ऊपर करों तथा करेतर साधनों से प्राप्त चालू आय के आधिक्य को सरकारी प्रशासन की बचत कहा जाता है। सार्वजनिक उद्यमों की बचत, प्रतिधारित लाभ तथा मूल्य-ह्रास छूट के बराबर होती है। वर्ष 1950-51 में सार्वजनिक क्षेत्रक ने सकल राष्ट्रीय बचतों में 20 प्रतिशत से थोड़ा कम अंशदान दिया था। 70 के दशक के उत्तरार्ध में यह अंशदान बढ़कर 25% हो गया, लेकिन इसके बाद इसमें गिरावट आती गई और आजकल यह अंशदान 10 प्रतिशत से भी कम हो गया है। अब सरकारी प्रशासन निर्वचत (dissaving) कर रहा है अर्थात सिविल प्रशासन, रक्षा आदि पर चालू व्यय उसके कर तथा गैर-कर प्राप्तियों की चालू आय से अधिक है।

सकल राष्ट्रीय निवेश में सार्वजनिक क्षेत्रक की हिस्सेदारी में तेजी से वृद्धि हुई, 1950-51 में यह 20 प्रतिशत थी जो 1965-66 में बढ़कर 50 प्रतिशत हो गई और इसके बाद से यह निजी क्षेत्रक से कमोवेश बराबर चल रही है। आजकल सार्वजनिक क्षेत्रक अपने कुल निवेश का केवल 1/6 भाग ही अपनी बचत से वित्तीयन कर पाता है शेष 5/6 भाग वह मुख्य रूप से देश के निजी क्षेत्रक से और थोड़ा सा विदेश से उधार लेकर वित्तीयन करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत में निजी क्षेत्रक से सार्वजनिक क्षेत्रक को, वास्तविक संसाधनों का अंतरण हो रहा है।

11.4 भारत में राजकोषीय नीति की भूमिका तथा उद्देश्य

हमारे नियोजन की कार्यनीति में सरकार तथा सार्वजनिक क्षेत्रक की इस निर्णायक भूमिका के संदर्भ में राजकोषीय नीति समग्र आर्थिक नीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक बन गई है। राजकोषीय नीति के प्रचालन ने वस्तुतः अर्थव्यवस्था के सभी पहलुओं को प्रभावित किया है। भारत में मौद्रिक नीति, व्यापार नीति तथा विनिमय दर नीति जैसी अन्य आर्थिक नीतियाँ सामान्यतः गौण तथ राजकोषीय नीति की पूरक नीतियों की भूमिका निभाती हैं।

11.4.1 संवृद्धि तथा माँग प्रबंधन

भारत में राजकोषीय नीति का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि अर्थव्यवस्था का संतुलित विकास किया जाए। बुनियादी रूप से संवृद्धि, योजना प्रणाली का मुख्य मुद्दा होती है किन्तु योजना का कार्यान्वयन सरकार की राजकोषीय नीति के प्रचालन पर ही निर्भर होता है। वार्षिक बजट के अनुरूप ही एक वार्षिक योजना भी तैयार की जाती है जिसमें विभिन्न क्षेत्रकों में सरकारी निवेश के लिए बजटीय विनिधान दर्शाए जाते हैं। सार्वजनिक निवेश निजी निवेश का मार्ग निर्देशन करता है।

राजकोषीय नीति का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य समस्त माँग तथा कीमत स्तर को स्थिरता प्रदान करना है। राजकोषीय नीति का यह उद्देश्य मौद्रिक नीति से जुड़ा रहता है। जब सामान्य कीमत स्तर बढ़ता है तो कर बढ़ा दिए जाते हैं और सरकारी व्यय की वृद्धि पर रोक लगाई जाती है। जैसा पहले बताया गया है कि भारत में राजकोषीय नीति आम तौर पर विस्तारवादी होती है अर्थात अल्प समय में यह पूर्ति की अपेक्षा माँग में ज्यादा वृद्धि कर देती है जब कीमत स्तर में तेजी से वृद्धि होती है तो सरकार लोक व्यय की वृद्धि को रोक देती है।

भारत में राजकोषीय नीति का तीसरा उद्देश्य बचत को बढ़ावा देना तथा उपभोग और विशेष रूप से प्रदर्शन उपभोग को कम करना है। विलासितापूर्ण उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे कार, टेलीफोन, रेफ्रीजिरेटर आदि पर ऊँची दर से कर लगाकर उपभोग को हतोत्साहित करती है तथा इसके लिए वह अमीर लोगों की आय तथा संपत्ति पर भी अधिक कर लगाती है। व्यक्तियों की वित्तीय बचतों पर कर में रियायतें देकर वह बचतों को प्रोत्साहित करती है। प्राइवेट कंपनियों को भी निवेश पर कर छूट दी जाती है।

11.4.2 बंटन-दक्षता तथा समानता को बढ़ावा

सामान्यतः उपभोग के लिए निरुत्साहित करने के साथ-साथ राजकोषीय नीति में उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर रोक लगाने पर विशेष बल दिया जाता है। अभी हाल तक कैमरा, टेलीविजन, कार आदि जैसी विलासिता की उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगाए जाते थे जिससे वे मध्यम वर्ग की क्रय शक्ति से बाहर हो जाएँ। अभी भी उन पर मध्यवर्ती तथा पूंजीगत माल की अपेक्षा ज्यादा आयात-शुल्क लगाया जाता है।

राजकोषीय नीति का एक अन्य मुख्य उद्देश्य संसाधनों को अधिक उत्पादक तथा सामाजिक रूप से अधिक वांछनीय क्षेत्रों में लगाना भी होता है। मिल के बने कपड़ों पर ज्यादा कर लगाया जाता है तो हथकरघा तथा खादी के कपड़ों पर कम कर लगाया जाता है, या उन्हें आर्थिक सहायता दी जाती है। इसी तरह बड़े पैमाने के उद्योगों पर कर लगाकर छोटे पैमाने के क्षेत्रक को प्रोत्साहन दिया जाता है। उत्पादन में दुर्लभ पूंजी संसाधनों के उपयोग को निरुत्साहित करके श्रम के उपयोग को प्रोत्साहित करने के काम में भी राजकोषीय नीति का प्रयोग किया जाता है। उत्पादन के श्रम-प्रधान तरीकों को करों में रियायतें तथा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। कर नीति में कृषि का पक्ष लिया गया है और इसीलिए उद्योग की तुलना में कृषि पर कम कर लगाए गए हैं।

भारत में राजकोषीय नीति का एक प्रमुख उद्देश्य संतुलित क्षेत्रीय संवृद्धि करना भी रहा है। स्वतंत्रता से पहले अधिकांश उद्योग कुछ गिने-चुने महानगरों के इर्द गिर्द ही केंद्रित होते थे। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजकोषीय नीति ने औद्योगिक विकास के विकेंद्रीकरण के लिए पुरजोर प्रयास किए हैं। अब औद्योगिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग लगाने में सरकार ने नया निवेश किया है। ग्रामीण तथा पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने पर निजी उद्योगपतियों को करों में रियायतें दी जा रही हैं।

राजकोषीय नीति का एक और मुख्य उद्देश्य व्यक्ति-व्यक्ति के बीच समानता स्थापित करना भी है। कर नीतियों द्वारा धनी लोगों पर ज्यादा कर लगाकर निर्धनों का पक्ष लिया जाता है। कम आय वर्ग के लोगों की आय तथा संपत्ति पर कोई कर नहीं लगाया जाता और ज्यादा आय वर्ग के लोगों पर वर्धमान दर से कर लगाए जाते हैं। गरीब लोगों के उपभोग में आने वाली वस्तुओं जैसे माचिस, मिट्टी का तेल आदि पर कम परोक्ष कर लगाए जाते हैं और धनी लोगों के उपभोग में आने वाली वस्तुओं पर ज्यादा कर लगाए जाते हैं। राशन की दुकान से खरीदे खाद्यान्न पर आर्थिक सहायता दी जाती है।

हालाँकि, राजकोषीय नीति के सभी उद्देश्यों का ईमानदारी से पालन नहीं किया जाता। इनमें बहुत सी विकृतियाँ आ गई हैं। उदाहरणतः वेतनभोगी उच्च आय वर्ग के लोग अपेक्षाकृत कम वेतन पाने वाले लोगों की तुलना में प्रभावी रूप से कम कर अदा करते हैं। सभी प्रकार की राजकोषीय रियायतों के बावजूद निजी उद्योगपति श्रम प्रधान उत्पादन ढंग की जगह पूंजी प्रधान उत्पादन ही अपनाते हैं। इसीलिए निजी उद्योगों में रोज़गार में धीमी गति से वृद्धि हुई है। संतुलित क्षेत्रीय विकास भी वास्तविकता से काफी दूर है। ऊँचे कराधान के बावजूद विलासितापूर्ण उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग में तेजी से वृद्धि हो रही है जबकि इसकी तुलना में गरीब आदमियों के उपभोग में आने वाली वस्तुओं की पूर्ति में कमी आ रही है। इनमें से कुछ दोष तो गलत राजकोषीय नीतियों के कारण आ गए हैं और कुछ उत्तराधिकार से प्राप्त संपत्ति के ढाँचे, शिक्षा प्रणाली आदि जैसी हमारी अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक लक्षणों के कारण उत्पन्न हुए है।

बोध प्रश्न 1

1 सरकारी बजट प्रचालनों के मुख्य समष्टि -आर्थिक प्रभावों का उल्लेख कीजिए (दो वाक्यों में)

.....

.....

2 स्वतंत्रता के बाद सकल देशीय उत्पाद में सरकार के अंशदान के दुगने से अधिक हो जाने का क्या कारण है? (एक वाक्य में)

.....

.....

3 भारत में राजकोषीय नीति का कौन सा प्रमुख उद्देश्य, मौद्रिक नीति के उद्देश्य का विरोधी है और उसका कारण क्या है? (दो वाक्यों में)

.....

.....

11.5 लोक व्यय : संरचना तथा नीति

सार्वजनिक उपभोग के लिए वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्रदान करने हेतु लोक व्यय किया जाता है। सरकार आर्थिक सहायता तथा कर्जे देने के लिए जनता पर कर लगा सकती है और उनसे उधार भी ले सकती है। राष्ट्रीय लेखा पद्धति में उपभोक्ता तथा

निवेश वस्तुओं एवं सेवाओं पर सरकार द्वारा अंतिम रूप से किए गए व्यय तथा अंतरण भुगतानों के बीच अंतर किया जाता है। लोक व्यय को भी योजना तथा गैर - योजना, विकासात्मक तथा गैर विकासात्मक और राजस्व तथा पूंजी व्ययों में बांटा जा सकता है। यदि चाहें तो लोक व्यय को सिविल तथा रक्षा, और मंत्रालयों, क्षेत्रकों तथा इसी प्रकार के अन्य वर्गों में भी विभाजित किया जा सकता है। ये सभी तरह के वर्गीकरण अर्थव्यवस्था पर लोक व्यय के विशिष्ट प्रभावों के जानने के लिए जरूरी होते हैं। अंत में, लोक व्यय को संस्थागत रूप में अर्थात केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा स्थानीय स्वशासन के रूप में विभाजित किया जाता है। यदि केंद्रीय सरकार अपेक्षाकृत अधिक व्यय करती है तो इसका आशय है कि व्यय के संबंध में निर्णय लेने की शक्ति का अधिक केंद्रीकरण हो गया है।

11.5.1 लोक व्यय में वृद्धि के कारण

आप पहले ही देख चुके है कि पिछले समय में लोक व्यय में बढ़ोतरी हुई है और लोक व्यय की संवृद्धि दर सामान्यतः सकल राष्ट्रीय उत्पाद की दर की तुलना में अधिक तेज रही है। इसीलिए लोक व्यय की आय-लोच इकाई से अधिक है। आखिर ऐसा क्यों हुआ है? बहुत से लोगों, जिनमें नोबॅल पुरस्कार विजेता बुकानन जैसे गंभीर अर्थशास्त्री भी हैं, का विचार है कि नौकरशाही और राजनीतिज्ञ दोनों ही ज्यादा खर्च करने में रुचि रखते हैं। क्योंकि उनका विश्वास है कि जितना धन उनके पास खर्च करने के लिए होगा उनका प्रभाव और शक्ति उतनी ही चढ़ेगी। इसलिए इन अर्थशास्त्रियों का कहना है कि लोक व्यय की संवृद्धि पर कड़ा नियंत्रण रखा जाए।

लेकिन, लोक व्यय में इस वृद्धि के लिए केवल नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञों को ही दोषी ठहराना गलत होगा। जनता स्वयं भी ज्यादा से ज्यादा लोक व्यय चाहती है और विडम्बना यह है कि वह इसके लिए कर कम से कम देना चाहती है। चुनावों के समय वह राजनीतिज्ञ जो ज्यादा से ज्यादा लोक व्यय करने का वायदा करता है अर्थात अधिक सड़कें, स्कूल, अस्पताल, फैक्टरी, आर्थिक सहायता आदि की बात करता है वही अक्सर चुनाव जीतता है और जो लोक व्यय में कमी की बात करता है, वह हार जाता है। सार्वजनिक नीति के प्रतिष्ठित इतिहासज्ञ डगलस नार्थ का कहना है कि 1920 के बाद से ऐसा कोई भी राजनीतिज्ञ लोकतांत्रिक चुनाव नहीं जीत सका जिसने लोक व्यय में कमी करने की बात कही हो। किन्तु लोक व्यय की भी एक सीमा होती है क्योंकि अधिक लोक व्यय के लिए लोगों को अधिक कर देना पड़ेगा और कोई भी कर देना नहीं चाहता।

भारत में लोक व्यय की वृद्धि के कुछ विशिष्ट कारण हैं। लोक व्यय में वृद्धि का संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण तो स्वयं राष्ट्रीय आय में वृद्धि होना है। लोक वस्तुओं की माँग राष्ट्रीय आय की तुलना में ज्यादा तेजी से बढ़ती है। लोगों के जीवन स्तर में जैसे जैसे बढ़ोतरी होती है, वे कार, साइकिल, स्कूटर आदि खरीदने लगते हैं और उसकी वजह से सड़कों तथा राजमार्गों के निर्माण पर ज्यादा से ज्यादा लोक व्यय करना जरूरी हो जाता है। हवाई जहाज से यात्रा करने वाले यात्रियों की संख्या में वृद्धि होने से एयरलाइनों तथा हवाई अड्डों में ज्यादा निवेश करने की जरूरत होती है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण है जनसंख्या में वृद्धि। जनसंख्या में वृद्धि के साथ ही सरकार को स्वास्थ्य, शिक्षा और लोगों की बुनियादी जरूरतों पर ज्यादा खर्च करना पड़ता है। ज्यादा जनसंख्या का अर्थ है कि सरकार को प्रति व्यक्ति सेवाओं को कायम रखने के लिए ज्यादा धन खर्च करना पड़ेगा। लोक व्यय में वृद्धि में शहरीकरण का भी महत्वपूर्ण योगदान है। हमारे देश में अधिकांश लोक सेवाएँ शहरों तक ही सीमित हैं। जितने ज्यादा लोग शहरों में रहेंगे उनके परिवहन, सफाई, पानी तथा अन्य लोक सेवाओं की पूर्ति के लिए उतना ही अधिक लोक व्यय करना पड़ेगा।

समय के साथ साथ लोक सेवाओं की लागत भी बढ़ती जा रही है और इसलिए इन सेवाओं को बनाए रखने के लिए सरकार को अधिकाधिक खर्च करना पड़ रहा है। भारत में लोक व्यय में वृद्धि होने का यह विशेष महत्वपूर्ण कारण है। लोक व्यय में वृद्धि का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण रोज़गार प्रदान करना भी है। सरकारी रोज़गार में तेजी से वृद्धि हो रही है क्योंकि गैर-कृषि कार्यों में निजी क्षेत्रक में रोज़गार में बहुत कम वृद्धि हो रही है। सरकार में ज्यादा रोज़गार से यह कतई जरूरी नहीं है कि लोक सेवाओं की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाए। यह माना जाता है कि सरकारी दफ्तरों में दो या तीन व्यक्ति केवल एक ही व्यक्ति का काम करते हैं। कलकत्ता के नगर परिवहन में सड़क पर चलने वाली एक बस के लिए 20 कर्मचारी नौकरी पाए हुए हैं। निश्चय ही यदि कर्मचारियों की संख्या आधी भी कर दी जाए तब भी परिवहन सेवा वैसी ही चलेगी। युद्ध, अकाल आदि जैसी परिस्थितियों के कारण भी लोक व्यय में वृद्धि होती है। 1962 के भारत-चीन तथा 1965 के भारत - पाकिस्तान युद्धों के बाद रक्षा बजट में काफी बढ़ोतरी करनी पड़ी। हाल के वर्षों में किसानों, लघु उद्योगों, निर्यात तथा अन्य क्षेत्रों में सरकारी आर्थिक सहायता में काफी वृद्धि की गई। आर्थिक सहायता में वृद्धि, आर्थिक और राजनीतिक, दोनों ही रूपों में एक विस्फोटक मुद्दा बन गई है। अंत में, भारत में सरकारी बजट में बढ़ोतरी करने में नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञों की भूमिका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

11.5.2 विकास और गैर-विकास व्यय

लोक व्यय को मोटे तौर पर विकासपरक और गैर-विकासपरक व्यय के रूप में विभाजित किया जा सकता है। गैर-विकासपरक खर्च वे हैं जो आर्थिक विकास में योगदान नहीं देते जैसे रक्षा तथा प्रशासन पर किए गए खर्च। इस श्रेणी में ब्याज की अदायगी तथा कुछ तरह की आर्थिक सहायताएँ भी शामिल की जाती हैं। तालिका 11.2 में विकासपरक और गैर-विकासपरक खर्चों की सापेक्षिक वृद्धि को दर्शाया गया है। इसमें आप देख सकते हैं कि गैर-विकासपरक खर्च की तुलना में विकासपरक खर्च में तेज गति से वृद्धि हुई है। 1950-51 में गैर विकासपरक खर्च विकासपरक खर्च की अपेक्षा ज्यादा था। किंतु अब बिल्कुल स्थिति उल्टी है। आप यह भी देख सकते है कि ऋण तथा अग्रिम राशियाँ अब केंद्र तथा राज्य सरकारों के कुल संवितरण (Disbursemen:) का लगभग 9 प्रतिशत हैं। इन खर्चों में सरकारों के बीच आपस में होने वाले लेन-देन

शामिल नहीं किए जाते, जैसे केंद्र राज्यों को कर्ज़ देता है और राज्य ब्याज सहित उसे लौटाते हैं तो ये केंद्र तथा राज्यों के बजटों में दिखाए जएंगे। रक्षा व्यय वर्तमान कीमतों पर 1950-51 की तुलना में लगभग 85 गुना बढ़ गया है। हालाँकि, यह तुलना ठीक नहीं है क्योंकि इसमें मुद्रास्फीति का समायोजन नहीं किया गया है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में रक्षा व्यय जहाँ 1950-51 में लगभग 2 प्रतिशत था, 1988-89 में यह बढ़कर लगभग 4.3 प्रतिशत हो गया है। अधिकतर बढ़ोतरी 1960 के बाद हुई है। भारत का रक्षा व्यय बहुत से तीसरी दुनिया के देशों की तुलना में अभी भी कम है। लेकिन चूँकि भारत विश्व के सबसे गरीब देशों में से एक है। इसलिए इस पर रक्षा व्यय का बोझ काफी अधिक है।

तालिका 11.2 केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा संघ-राज्य क्षेत्र की सरकारों का कुल विकासपरक तथा गैर विकास परक व्यय (करोड़ रुपए में)

		1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1988-89
1	गैर-विकासपरक जिसमें से	534	987	3512	12708	49300
	रक्षा	168	281	1199	3867	14100
	व्याज भुगतान	71	218	747	2956	16109
	सामान्य प्रशासन	40	79	184	810	2626
2	विकास परक	326	1261	3537	17716	53505
3	ऋण तथा अग्रिम राशियाँ	54	339	1017	4956	9775

स्रोत: भारत सरकार — भारतीय आर्थिक सांख्यिकी

11.5.3 आर्थिक वर्गीकरण

आर्थिक प्रभाव के रूप में लोक व्यय को इस प्रकार बाँटा जा सकता है: (क) उपभोक्ता व्यय, जिसे वेतन तथा मज़दूरी बिल तथा अन्य उपभोक्ता व्यय में विभाजित किया जा सकता है, (ख) ब्याज भुगतान (ग) आर्थिक सहायता, (घ) चालू अंतरण, (ङ) पूंजीगत अंतरण, (च) निवेश व्यय, तथा (छ) अन्य को निवल ऋण। लोक व्यय में इनके सापेक्षिक अंश हमारी वित्तीय स्थिति के महत्वपूर्ण सूचक होते हैं। सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा मज़दूरी का भुगतान कुल लोक व्यय का लगभग 20 प्रतिशत है। अस्सी के दशक में लोक व्यय की अन्य मदों की अपेक्षा इस मद में तेज गति से वृद्धि हुई है। निवेश व्यय भी कुल लोक व्यय का लगभग 20 प्रतिशत हैं। अस्सी के दशक में निवेश व्ययों का अंश 20 प्रतिशत से घटकर लगभग 17 प्रतिशत रह गया है। इसके विपरीत लोक व्यय में आर्थिक सहायता का अंश बढ़ा है। 1980-81 में यह 10 प्रतिशत था जो 1986-87 में बढ़कर 14 प्रतिशत हो गया। कुल आर्थिक सहायता में से 80 प्रतिशत सहायता खाद्यान्न, उर्वरक तथा निर्यातों को ही दी जाती है।

लोक व्यय में चालू तथा पूंजी अंतरण का अंश लगभग 13 प्रतिशत है। अस्सी प्रतिशत से अधिक अंतरण देश के निजी क्षेत्रक को किए जाते हैं। चालू अंतरणों में शिक्षा अनुदान, जो स्कूल, कालेजों, विश्वविद्यालयों तथा वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थानों को दिए जाते हैं, राहत अनुदान, छात्र-वृत्तियाँ आदि शामिल हैं। पूंजी अंतरण में मशीन, भवन आदि खरीदने के लिए दिए जाने वाले अनुदान आते हैं। पारंपरिक रूप से, अंतरण-भुगतान सरकार का कल्याणकारी व्यय गिना जाता है। लेकिन भारत में, अंतरणों में कल्याणकारी घटक का हिस्सा अपेक्षाकृत कम है।

योजना व्यय सरकार द्वारा नई योजना स्कीमों पर किया गया निवेश व्यय और चालू व्यय होता है। योजना व्यय का लगभग 85 प्रतिशत सामान्यतः निवेश व्यय ही होता है। 1986-87 में सरकारी प्रशासन का कुल व्यय 74,701 करोड़ रुपए का था जिसमें से लगभग 80 प्रतिशत गैर-योजना व्यय और 20 प्रतिशत योजना व्यय था।

लोक व्यय में एक दीर्घकालीन गड़बड़ पैदा करने वाला तत्व यह है कि कुल व्यय में निवेश व्यय का अंश कम हुआ है और आर्थिक सहायता में वृद्धि हुई है। लोक व्यय से रोज़गार पैदा होता है और समग्र अर्थव्यवस्था को इससे लाभ पहुँचता है। लेकिन आर्थिक सहायता से उतना रोज़गार पैदा नहीं हो पाता और बहुत से अध्ययनों से पता चला है कि आर्थिक सहायता से गरीबों को नहीं अपितु अमीरों को अधिक लाभ होता है।

11.5.4 लोक व्यय का स्वरूप

कुल लोक व्यय में एक ओर केंद्रीय सरकार और दूसरी ओर राज्य तथा संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों के सापेक्षिक अंश में पिछले पैंतीस सालों में कोई खास अंतर नहीं आया है। केंद्रीय सरकार लगभग 55 प्रतिशत और राज्य तथा संघ-राज्य क्षेत्रों की सरकारें मिलकर 45 प्रतिशत धन खर्च करती हैं। केंद्र और राज्यों के व्ययों के स्वरूप में अंतर है। रक्षा का संपूर्ण व्यय केंद्रीय सरकार ही करती है और यह व्यय कुछ समय पूर्व तक केंद्रीय बजट की सबसे बड़ी मद थी। राज्य सरकारें कृषि तथा ग्राम विकास पर ज्यादा खर्च करती है। संविधान में लोक व्यय की मदों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है — (क) केवल केंद्र द्वारा — जिसमें रक्षा, विदेशी मामले, परमाणु ऊर्जा आदि शामिल हैं, (ख) केवल राज्यों द्वारा, तथा (ग) समवर्ती जिसमें केंद्र और राज्य दोनों खर्च कर सकते हैं।

1986-87 में लोक व्यय के आर्थिक तथा प्रयोजन के आधार पर वर्गीकरण, जो तालिका 11.3 में दिया गया है, से ज्ञात

होता है कि सामान्य लोक सेवाओं-प्रशासन आदि पर कुल लोक व्यय का 13 प्रतिशत, रक्षा पर 15 प्रतिशत शिक्षा पर 14 प्रतिशत, स्वास्थ्य पर 3.5 प्रतिशत, आवास तथा सामाजिक कल्याण पर 9.5 प्रतिशत तथा आर्थिक सेवाओं — कृषि, उद्योग आदि पर 44 प्रतिशत खर्च किया जाता है। सामान्य सेवाओं तथा आर्थिक सेवाओं पर खर्च के बीच चुनाव का आर्थिक संवृद्धि पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतः रक्षा तथा सामान्य प्रशासन पर यदि एक सीमा से अधिक खर्च किया जाएगा तो उसका आर्थिक संवृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। लेकिन शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर किए जाने वाले खर्च के साथ ऐसा नहीं है क्योंकि यह मानवीय पूंजी के निर्माण में एक निवेश कहा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के खर्च से भी उत्पादक रोज़गार पर होने वाले खर्च में कमी आ जाती है, इसलिए इन दोनों प्रकार के खर्चों में समुचित संतुलन जरूरी है।

तालिका 11.3 : वर्ष 1986-87 में लोक व्यय का आर्थिक तथा प्रयोजन अनुसार वर्गीकरण
(करोड़ रुपए में)

	प्रयोजन	राशि	प्रतिशत
1.	सामान्य लोक सेवाएँ	9464	12.9
2	रक्षा	10854	14.8
3	शिक्षा	10202	13.9
4	स्वास्थ्य	2536	3.5
5	आवास, कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा	7002	9.5
6	आर्थिक सेवाएँ	32411	44.2
7	अन्य सेवाएँ	902	1.2
	योग	73371	100.00

बोध प्रश्न 2

1 शहरीकरण के कारण लोक व्यय क्यों बढ़ जाता है?
(एक वाक्य में उत्तर लिखिए)

.....

.....

2 क्या भारत में लोक व्यय में वृद्धि का मूल कारण नौकरशाहों को ज्यादा वेतन देना है? (एक वाक्य में उत्तर लिखिए)

.....

.....

3 तालिका 11.3 यह दर्शाती है कि सरकार शिक्षा पर 14 प्रतिशत और स्वास्थ्य पर केवल 3.5 प्रतिशत ही खर्च करती है। क्या आपके विचार में इसके विपरीत स्थिति होनी चाहिए अर्थात स्वास्थ्य पर अधिक खर्च और शिक्षा पर कम खर्च? दोनों पर अधिक खर्च क्यों नहीं होना चाहिए?

.....

.....

11.6 कर संरचना तथा नीति

लोक नीति का संभवतः सबसे ज्यादा विवादास्पद तत्व कराधान होता है। हम सभी अधिक से अधिक लोक व्यय चाहते हैं, ज्यादा स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, अस्पताल, सड़कें, फैक्टरियाँ तथा आफिस चाहते हैं जहां ज्यादा से ज्यादा लोग रोज़गार पाएँ, सरकारी कर्मचारियों के लिए ज्यादा वेतन, सुदृढ़ रक्षा व्यवस्था आदि चाहते हैं। लेकिन हममें से कुछ ही लोग ऐसे हैं जो इस काम के लिए ज्यादा कर देने को तैयार होते हैं। किसान चाहते हैं कि उद्योगपतियों पर ज्यादा कर लगाए जाएँ और उद्योगपति चाहते हैं कि किसानों पर ज्यादा कर लगाए जाएँ और वेतनभोगी चाहते हैं कि किसानों और उद्योगपति दोनों पर कर लगाए जाएँ।

11.6.1 कराधान के सिद्धांत

अन्य किसी भी देश की तरह भारतीय कर प्रणाली भी बहुत से राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रभावों के अंतर्गत विकसित हुई है। इसका निर्माण किसी 'आदर्श' अर्थशास्त्री द्वारा नहीं किया गया है जो इसे एक अच्छी कर संरचना के

लिए आवश्यक बातों के अनुसार तैयार करता। किन्तु कर संरचना के विश्लेषण के लिए यह जरूरी है कि एक आदर्श कर संरचना के मूल तत्वों के बारे में जाना जाए। ये तत्व इस प्रकार हैं:

i) कर भार का वितरण वर्धमान होना चाहिए अर्थात अमीर लोगों पर गरीबों की तुलना में अनुपातिक रूप से ज्यादा कर लगाए जाएँ,

ii) कर संरचना ऐसी हो जो राजकोषीय नीति को स्थिरीकरण प्रदान करे, जो संवृद्धि उद्देश्यों की पूर्ति में उपयोगी हो।

iii) कर संरचना ऐसी हो जो बाज़ार व्यवस्था में विकृति पैदा करने की बजाय उसकी दक्षता में वृद्धि करे,

iv) कर नीति ऐसी होनी चाहिए जिसे प्रशासनिक रूप से सरलता से लागू किया जा सके और कर संग्रह में कम लागत लगे।

पिछले सालों में भारतीय कर संरचना का विकास दो परस्पर विरोधी शक्तियों के दबाव के अंतर्गत हुआ है। ये शक्तियाँ हैं (क) राजस्व का अधिकतमकरण, तथा (ख) कराधान के जरिए सामाजिक तथा आर्थिक सुधार लाना। वास्तविक कर नीति में सुधार करने के उद्देश्यों की अपेक्षा अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करने पर अधिक ज़ोर दिया गया है। हालाँकि हाल के वर्षों में सुधार के उद्देश्यों को भी महत्व दिया गया है परन्तु यह भी हमेशा सकारात्मक नहीं रहा है।

11.6.2 कर संरचना

तालिका 11.4 में भारत में समग्र कर संरचना को दिखाया गया है। इसमें आप देख सकते हैं कि कर और सकल देशीय उत्पाद के अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है अर्थात 1950-51 में यह 6.6 प्रतिशत था तो 1986-87 में यह बढ़कर 16.9 प्रतिशत हो गया। यह वृद्धि परोक्षकर और सकल देशीय उत्पाद के अनुपात में वृद्धि के कारण ही संभव हुई है, आजकल यह अनुपात 14.5 प्रतिशत है। प्रत्यक्ष कर और सकल देशीय उत्पाद का अनुपात काफी लंबे समय से वस्तुतः समान ही रहा है, हालाँकि 1960-61 से इसमें गिरावट ही आई है। आज कुल कर राजस्व में परोक्ष करों का अंश 85 प्रतिशत है जबकि 1960-61 में यह 70 प्रतिशत ही था। यद्यपि भारत में कर और सकल देशीय उत्पाद का अनुपात 17 प्रतिशत के रूप में काफी ऊँचा है परंतु फिर भी यह बहुत से अन्य विकासशील देशों और अधिकांश औद्योगिक देशों की तुलना में कम है। इसलिए भारत कोई बहुत अधिक करों वाला देश नहीं है। फिर भी जनसाधारण पर परोक्ष करों का काफी बोझ है।

तालिका 11.4 : सकल देशीय उत्पाद में कर राजस्व का अंश (%)

		1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1986-87
1	**केंद्रीय कर**	4.2	6.0	8.0	9.7	11.2
	(क) प्रत्यक्ष कर	1.8	2.0	2.2	2.2	2.1
	(ख) परोक्ष कर	2.4	4.0	5.8	7.5	9.1
2	**राज्यों के कर**	2.3	3.0	3.8	4.9	5.7
	(क) प्रत्यक्ष कर	0.6	0.7	0.3	0.2	0.2
	(ख) परोक्ष कर	1.7	2.3	3.5	4.7	5.5
3	**कुल कर राजस्व**	6.6	9.0	11.8	14.6	16.9
	(क) प्रत्यक्ष कर	2.4	2.7	2.5	2.4	2.4
	(ख) परोक्ष कर	4.2	6.3	9.3	12.2	14.5

स्रोत: भारत सरकार — भारतीय आर्थिक सांख्यिकी

केंद्रीय सरकार राज्यों की तुलना में अधिक कर वसूल करती है। कुल कर-संग्रह में केंद्र का सापेक्षिक अंश पिछले सालों में लगभग वही अर्थात दो तिहाई के करीब ही रहा। हालाँकि केंद्रीय सरकार जो कर वसूल करती है उसे वही पूरा खर्च नहीं करती। इसका कुछ हिस्सा वह वित्त आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसार तथा योजना सहायता कार्यक्रमों के अंतर्गत राज्यों को बाँट देती है।

पिछले कुछ समय से कर संरचना अपेक्षाकृत अधिक प्रतिगामी होती जा रही है क्योंकि प्रत्यक्ष कर की तुलना में अब परोक्ष करों पर ज्यादा भरोसा किया जा रहा है। परोक्ष करों की बजाय प्रत्यक्ष करों द्वारा ज्यादा समानता स्थापित की जा सकती है और प्रगामी कर प्रणाली लागू की जा सकती है। इस मामले में राज्य सरकारें ज्यादा दोषी है क्योंकि वे प्रत्यक्ष कर वसूल ही नहीं करती और उनका सकल राष्ट्रीय उत्पाद में अंशदान 1960-61 के 0.7 प्रतिशत से घटकर 1986-87 में 0.2 प्रतिशत ही रह गया। यहाँ तक कि केंद्रीय सरकार भी प्रत्यक्ष कर तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात को बढ़ाने के लिए कोई प्रयास करती नजर नहीं आती। सामान्यतः विकसित देशों में प्रत्यक्ष करों के माध्यम से और विकासशील देशों में परोक्ष करों से ज्यादातर राजस्व इकट्ठा किया जाता है। इस बारे में भारत भी कोई अपवाद नहीं है। लेकिन भारत में चिंता का विषय यह है कि केंद्र और राज्य सरकारें दोनों ही सीमित प्रत्यक्ष कर स्रोतों को भी धीरे-धीरे छोड़ती जा रही हैं। विशेष रूप से भू-संपत्ति पर कोई कर नहीं लगाया जा रहा है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

11.6.3 प्रत्यक्ष कर

मोटे तौर पर करों को दो वर्गों अर्थात प्रत्यक्ष और परोक्ष करों में विभाजित किया जाता है। प्रत्यक्ष कर के मामले में जो व्यक्ति कर देता है उसका कर भार भी वही वहन करता है। आयकर, संपत्ति कर, धन कर तथा भू-राजस्व प्रत्यक्ष कर के उदाहरण हैं। परोक्ष कर के मामले में जो व्यक्ति कर देता है वह उसके भार को दूसरे पर अंतरित कर देता है और इस तरह वह कर-भार को वहन नहीं करता। बिक्री कर, उत्पादन कर, सीमा शुल्क, परोक्ष करों के उदाहरण हैं। बिक्री कर के मामले में दुकानदार यह कर सरकार को देता है किंतु वह इसका भार वहन नहीं करता क्योंकि वह इसे बिक्री कीमत में जोड़कर इसके भार को उपभोक्ता पर अंतरित कर देता है। इसी तरह फैक्टरी मालिक उत्पादन कर सरकार को देते अवश्य हैं परंतु उसे बिक्री कीमत में जोड़कर दूसरों से वसूल कर लेते हैं। कुछ मामलों में हम निश्चित रूप से कह सकते है कि आखिर में कौन कर अदा कर रहा है। लोक वित्त में इसे करापात कहते हैं, अर्थात अंतरण की वजह से कर का अंतिम भार किस व्यक्ति पर पड़ता है। लेकिन कुछ मामलों में हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि करापात किस पर हो रहा है। कंपनी के लाभों पर लगने वाले कर को सामान्यतः प्रत्यक्ष कर कहा जाता है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इसकी वजह से कंपनी मालिक की प्रयोज्य आय घट जाती है। हालाँकि ऐसा हो सकता है कि कंपनी मालिक संभावित लाभकर की आशा मे अपने उत्पादों की बिक्री कीमत में बढ़ोतरी कर दे। ऐसी स्थिति में करापात अंतरित कर दिया जाता है और उसका भार अंत में उपभोक्ता को वहन करना पड़ता है।

आप देख चुके हैं कि अब सब मिलाकर प्रत्यक्ष कर कुल कर राजस्व में केवल 15 प्रतिशत ही अंशदान करते हैं। प्रत्यक्ष कर सकल देशीय उत्पाद का अनुपात भी अब केवल 2.4 प्रतिशत ही है। पिछले पंद्रह वर्षों में जिन प्रमुख प्रत्यक्ष करों से जो राजस्व प्राप्त हुआ है, उसे तालिका 11.5 में दिखाया गया है। इस तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष करों का मुख्य स्रोत कंपनी कर है और उसके बाद आयकर का नंबर आता है। संपदा कर, धन कर, उपहार कर आदि से बहुत थोड़ी आमदनी होती है। ये कर धनीमानी और समृद्ध लोगों पर लगाए जाते हैं ताकि कर-संरचना में समता लाई जा सके। किसान केवल दो तरह के प्रत्यक्ष कर देते हैं — वे हैं मालगुज़ारी तथा कृषि-आयकर। दोनों को मिलाकर कुल प्रत्यक्ष कर राजस्व का लगभग 7 प्रतिशत बैठता है। इसलिए प्रत्यक्ष कर मूलतः गैर-किसानों द्वारा ही दिए जाते हैं।

तालिका 11.5 : प्रत्यक्ष कर राजस्व (करोड़ रुपए में)

		1974-75	1980-81	1984-85	1988-89
1	कंपनी कर	709	1312	2556	4099
2	आयकर	874	1506	1928	3710
3	संपदा शुल्क	11	16	24	3
4	ब्याज कर	11	90	171	—
5	संपत्ति कर	38	67	108	130
6	उपहार कर	5	7	11	10
7	मालगुज़ारी (भू-राजस्व)	162	157	319	521
8	कृषि-आयकर	14	46	91	99
9	अन्य प्रत्यक्ष कर	8	68	122	232

स्रोत: भारत सरकार — भारतीय आर्थिक सांख्यिकी

11.6.4 कर अप-वंचन

आज यह बात सभी जानते हैं कि गैर-वेतनभोगी वर्ग के लोग बड़े पैमाने पर करों की चोरी कर रहे हैं। यह एक सुदृढ़ धारणा है कि करों की ऊँची दरों के कारण कर अप-वंचन होता है। यह धारणा न केवल आम आदमी की है अपितु बहुत से अर्थशास्त्रियों तथा कर विशेषज्ञों की भी है। यदि करों की दर ऊँची होती है तो लोग कराधान अधिकारियों को रिश्वत देकर कर-योग्य आय छिपा लेने की ओर प्रेरित होते हैं। कर की ऊँची दर के कारण कमाने की प्रेरणा में भी कमी आ जाती है। एक अग्रणी डाक्टर या वकील जो उच्चतम कर श्रेणी में आता है तो वह नए मामले लेने से कतरा सकता है क्योंकि उससे होने वाली आमदनी पर उसे भारी कर की अदायगी करनी पड़ सकती है। एक विचारधारा के अनुसार कर की ऊँची दर के कारण न केवल कर राजस्व में ही कमी होती है अपितु आय में भी कमी आ जाती है।

भारत में एक समय तो (सत्तर के मध्य में) उच्चतम सीमांत आयकर की दर 97.5 प्रतिशत थी। उसके बाद से उसमें क्रमशः कमी की गई है और आजकल यह 60 प्रतिशत से भी कम है। आय कर राजस्व तथा सकल देशीय उत्पाद (GDP) के अनुपात में हालाँकि कोई अंतर नहीं आया है। ऐसा इसलिए हुआ है करदाता को सुविधाएँ तो दी गई हैं परंतु उल्लंघन करने पर दंडित नहीं किया जाता। कर की दर में कमी कर देने से ही लोगों को कर अदा करने को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता, अपितु जब तक उन्हें यह भय नहीं होगा कि कर की चोरी करने पर उन्हें भारी दंड भुगतना पड़ सकता है तब तक वे कर अदा नहीं करेंगे।

11.6.5 परोक्ष कर

सरकारी राजस्व का प्रमुख स्रोत परोक्ष कर होते हैं। परोक्ष करों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है — घरेलू वस्तुओं

पर कर, घरेलू सेवाओं पर कर तथा आयात एवं निर्यात पर कर। इन्हें वर्गीकृत करने का एक अन्य तरीका है — उपभोक्ता वस्तुओं पर कर, मध्यवर्ती वस्तुओं पर कर और पूंजीगत माल पर कर। समानता के सिद्धांत के अनुसार विलासिता की उपभोक्ता वस्तुओं पर ऊँची दर से कर लगाया जाना चाहिए। मध्यवर्ती वस्तुओं पर परोक्ष कर लगाने से उनका सोपानिक असर (cascading effects) पड़ता है और लागत बढ़ जाती है। परोक्ष करों की वजह से कीमत स्तर भी ऊंचा हो जाता है। इस प्रकार परोक्ष करों के माध्यम से अधिकाधिक राजस्व वसूल करने की प्रक्रिया का मूल्यांकन इस बात को मद्देनजर रखकर करना चाहिए कि ज्यादा परोक्ष करों के स्फीतिकारी प्रभाव पड़ते हैं। आयातों पर परोक्ष कर आंशिक रूप से तो राजस्व बढ़ाने और आंशिक रूप से आयातों पर रोक लगाने तथा विदेशी मुद्रा की बचत करने के लिए लगाए जाते हैं। लेकिन यदि आयात मुख्य रूप से तेल तथा खाद्यान्न जैसी आवश्यक वस्तुओं का किया जाता है तो कर लगाकर उनके आयात को कम नहीं किया जा सकता।

तालिका 11.6 में प्रमुख परोक्ष करों से होने वाली वसूली दिखाई गई है। सीमाशुल्क, केंद्रीय उत्पादन कर और सामान्य बिक्री कर तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर हैं। इनमें से सीमाशुल्क और केंद्रीय उत्पादन कर तो केंद्रीय सरकार द्वारा लगाए जाते हैं और सामान्य बिक्री कर राज्य सरकारों द्वारा। पिछले पंद्रह वर्षों के दौरान सीमाशुल्क की वसूली में दस गुना से अधिक की वृद्धि हुई है। सीमाशुल्क अधिकांशतः आयातों पर ही लगाया जाता है किंतु कुछ निर्यातों पर भी अल्प मात्रा में लगाया जाता है। सीमा-शुल्क की वसूली में जो वृद्धि हुई है उसका आंशिक कारण तो आयातों में वृद्धि होना है और आंशिक कारण यह भी है कि आयात शुल्क के ढाँचे को युक्तिसंगत बनाया गया है।

देशीय वस्तुओं तथा सेवाओं पर उत्पादन कर बिक्री कर आदि जैसे करों में सीमाशुल्क की अपेक्षा धीमी रफ्तार से वृद्धि हुई है। इसके दो कारण हैं, पहला, हाल के वर्षों में परोक्ष करों के ढ़ाँचे में सुधार किए गए हैं। कुछ समय पहले तक परोक्ष कर और विशेष रूप से उत्पादन कर उन मध्यवर्ती वस्तुओं पर लगाए जाते थे जो निविष्टियों आगतों के रूप में प्रयोग की जाती थीं। इससे सरकार के कर राजस्व में तो बढ़ोतरी हुई परंतु इससे कीमतों में भी वृद्धि हो गई। पिछले कुछ वर्षों से बहुत सी मध्यवर्ती वस्तुओं पर परोक्ष कर घटा दिए गए हैं और परोक्ष करों की "मॉडवेट" (MODVAT) नामक एक नई प्रणाली शुरू की गई। इस "मॉडवेट" (MODVAT) का अर्थ है 'माडीफाइड वेल्यू ऐडेड टैक्स' (Modified value added tax) अर्थात संशोधित मूल्य वर्धित कर। इस प्रणाली के अंतर्गत उत्पादक को मध्यवर्ती वस्तुओं पर परोक्ष कर के भुगतान के लिए उत्पादन कर में छूट मिलती है। इसका उद्देश्य यह है कि अंतिम उत्पाद पर ही कर लगाया जाएगा। यह नई प्रणाली अभी आंशिक रूप से ही लागू की गई है। उत्पादन करों में अपेक्षाकृत धीमी वृद्धि का एक अन्य कारण यह है कि पिछले दशक से केंद्रीय सरकार सरकारी उद्यमों की वस्तुओं के कीमत निर्धारण द्वारा धन इकट्ठा करने पर ज्यादा ज़ोर दे रही है और परोक्ष कराधान के ज़रिए धन इकट्ठा करने पर कम ज़ोर दे रही है।

तालिका 11.6 परोक्ष कर राजस्व (करोड़ रुपए में)

		1974-75	1980-81	1984-85	1988-89
1	सीमा शुल्क	1333	3409	7041	15626
2	केंद्रीय उत्पादन कर	3231	6500	11151	18172
3	राज्य उत्पादन कर	408	884	1951	3002
4	मुद्रक (stamp) तथा पंजीकरण	219	436	722	1281
5	सामान्य बिक्री कर	1582	4018	7326	13019
6	वाहन कर	180	424	716	1366
7	मनोरंजन कर	114	234	360	408
8	माल तथा यात्री कर	157	299	517	908
9	बिजली शुल्क	92	229	456	1002
10	अन्य कर	73	138	244	588

स्रोत: भारत सरकार — भारतीय आर्थिक सांख्यिकी

परोक्ष कराधान का करापात उपभोग के स्वरूप तथा शुल्क संरचना पर निर्भर करता है। यदि ये कर आम उपभोग वस्तुओं पर लगाए जाते हैं तो इनका बोझ निर्धन पर अपेक्षाकृत अधिक पड़ेगा। दूसरी ओर यदि ये कर विलासिता वाली वस्तुओं पर लगाए जाते हैं तो इनका बोझ अपेक्षाकृत संपन्न लोगों पर पड़ेगा। परोक्ष कराधान जाँच समिति के अनुसार ग्रामीण परिवार 1973-74 में अपने उपभोग खर्च का 8 प्रतिशत भाग परोक्ष करों के रूप में अदा करता था किन्तु शहरी परिवार 18 प्रतिशत अदा करता था। रिपोर्ट में बताया गया कि परोक्ष कराधान काफी प्रगामी है, अर्थात अपेक्षाकृत अधिक अमीर आनुपातिक रूप से अधिक परोक्ष कर अदा करते है (तालिका 11.7 देखिए)। अखिल भारतीय स्तर पर 1973-74 में जो परिवार 15 रुपए प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह खर्च करते थे वे अपने उपभोग खर्च का 3 प्रतिशत परोक्ष कर के रूप में अदा करते थे और उच्चतम खर्च करने वाली श्रेणी के लोगों ने (100 रुपए प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह) अपने उपभोग खर्च का 10.5 प्रतिशत परोक्ष कर के रूप में अदा किया।

तालिका 11.7 : उपभोग व्यय के प्रतिशत के रूप में परोक्ष कर (1973-74)

मासिक प्रतिव्यक्ति	ग्रामीण	शहरी	खर्च समूह (रु.) अखिल भारतीय
0-15	—	3.6	3.0
15-28	3.3	6.3	3.6
28.43	4.5	7.4	4.9
43-55	6.2	9.7	6.9
55-75	6.7	11.9	7.9
75-100	10.0	14.8	11.4
100 और ऊपर	16.2	30.2	22.0
सभी परिवार	8.1	18.0	10.5

स्रोत: परोक्ष कराधान जाँच समिति रिपोर्ट भाग, 1978

11.7 लोक ऋण

सरकार के कुल व्यय का वित्तीयन तीन स्त्रोतों से किया जाता है — (क) कर तथा गैर-कर चालू राजस्व, जो सरकार की अपनी आय होती है; (ख) देश तथा विदेश से अनुदान; तथा (ग) विभिन्न प्रकार के ऋण। गैर-कर चालू राजस्व अधिकांशतः ब्याज से प्राप्त उपार्जन तथा सरकारी उद्यमों से प्राप्त लाभ होते हैं। बहुत से सरकारी उद्यमों में हानि होती है या वे नगण्य लाभ ही कमा पाते हैं। वर्ष 1987-88 में गैर-कर चालू राजस्व से सरकारी व्यय का केवल 10 प्रतिशत व्यय ही पूरा हो पाया था। देश तथा विदेश से मिलने वाले अनुदान लगभग नगण्य ही हैं। विदेशी सहायता अधिकांशतः ऋणों के रूप में ही मिलती है। विश्व में ऐसे कुछ ही देश हैं जिन्हें काफी मात्रा में अनुदान मिलता है, उनमें इजराईल प्रमुख हैं। इसलिए, सरकार के कुल व्यय और चालू राजस्व के बीच जो अंतर होता है उसे लगभग पूरी तरह से विभिन्न प्रकार के ऋण लेकर ही पूरा किया जाता है और ये ऋण ही लोक ऋण कहलाते हैं।

11.7.1 लोक ऋण का संघटन

आंतरिक तथा विदेशी दोनों ही स्रोतों से ऋण लिया जा सकता है। आंतरिक ऋणों को सरकार द्वारा व्यक्तियों से सीधे भविष्य निधि अंशदान, डाकघर जमाराशि, राष्ट्रीय बचत योजनाओं आदि के माध्यम से उधार लिया जा सकता है तथा बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से भी उधार लिया जा सकता है। सरकार द्वारा रिजर्व बैंक से उधार लेने से मुद्रा पूर्ति का विस्तार हो जाता है और उसे घाटे की वित्त व्यवस्था कहा जाता है। सरकार बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से या तो नियमों के द्वारा या प्रोत्साहन देकर उधार ले सकती है। भारत में अधिकांश सरकारी प्रतिभूतियों पर अपेक्षाकृत कम ब्याज मिलता है तथा बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाएँ इन प्रतिभूतियों को सामान्यतः बाध्य होकर खरीदती हैं।

11.7.2 ऋण वित्तीयन की समस्याएँ

आदर्श स्थिति तो यह है कि लोक व्यय का वित्तीयन अधिकांशतः कराधान तथा सरकारी तथा उद्यमों से प्राप्त ब्याज लाभ उपार्जनों के माध्यम से हो। लोक व्यय से लाभ उठाने वालों को भी उसके वित्तीयन का कुछ भार उठाना चाहिए। हालाँकि, लोक व्यय की माँग अधिकतर सरकार के कर तथा गैर-कर चालू आमदनी से अधिक ही होती है। इसलिए सरकार को बाध्य होकर कुछ ऋण वित्तीयन का भी सहारा लेना पड़ता है। जब तक ऋण वित्तीयन एक सीमा के अंदर रहता है तब तक तो कोई समस्या नहीं होती। वास्तव में तो कुछ अर्थशास्त्री और विशेष रूप से केन्ज की विचारधारा के अनुयायी, कुछ परिस्थितियों में ऋण द्वारा वित्तीयन करने में वृद्धि करने की सिफ़ारिश तक करते हैं। उनके अनुसार इससे अर्थव्यवस्था में समुचित माँग उत्पन्न होगी। कुछ तरह के लोक व्यय और विशेष रूप से शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर होने वाले व्ययों को ऋण वित्तीयन द्वारा पूरा किया जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के लोक व्यय का लाभ केवल वर्तमान पीढ़ी ही नहीं अपितु भावी पीढ़ियाँ भी उठाएंगी। इसलिए कराधान के माध्यम से वर्तमान पीढ़ी को ही इसका बोझा उठाने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। युद्ध तथा अन्य असाधारण खर्चों को भी ऋण वित्तीयन द्वारा ही पूरा करना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया गया तो एक ही पीढ़ी के लिए उसे वहन कर पाना कठिन होगा।

लेकिन यदि ऋण वित्तीयन एक सीमा से अधिक किया जाए तो उससे कई समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। पहली, जैसे ही ऋण की मात्रा बढ़ जाती है उसके ब्याज का भुगतान तथा ऋण का पुनर्भुगतान भी बढ़ जाता है और एक ऐसी अवस्था भी आ सकती है जब सरकार के लिए ऋण की सेवा असंभव हो जाए। इसी को ऋण का फंदा (debt-trap) कहा जाता है। तीसरी दुनिया के बहुत से देश इस ऋण के फंदे में फंस चुके हैं। विदेशी ऋण के बारे में समस्या और भी कठिन है क्योंकि सरकार को ब्याज सहित ऋण का पुनर्भुगतान विदेशी मुद्रा में करना होता है। इस प्रकार, यदि पुराने ऋण के भुगतान के लिए सरकार की वित्तीय स्थिति सुधर भी जाती है तब भी देश की विदेशी मुद्रा का भंडार तथा भुगतान संतुलन इतना सुदृढ़ होना चाहिए कि वह ऋण पुनर्भुगतान के कारण विदेशी मुद्रा के बहिर्गमन के भार को सहन कर सके और यह ऐसी स्थिति

है जो अधिकांश विकासशील देश पूरी नहीं कर पाते। एक बार जब कोई देश किसी दूसरे देश से भारी मात्रा में ऋण ले लेता है तो वह न केवल आर्थिक दृष्टि से ही अपितु राज़नीतिक दृष्टि से भी उधार देने वाले देश पर निर्भर हो जाता है।

ऋण वित्तीयन में कुछ अन्य समस्याएँ भी हैं। यदि ऋण एक सीमा से अधिक हो जाता है तो ऋण सेवा अर्थात ब्याज का भुगतान एक भारी बोझ बन जाता है। वर्ष 1989-90 में केंद्र का 25 प्रतिशत कर राजस्व, निवल ब्याज भुगतान पर ही खर्च हो जाएगा। अत्यधिक ऋण लेने से राजकोषीय अस्थिरता पैदा हो जाती है और यहां तक कि राजनीतिक संकट भी पैदा हो सकता है, क्योंकि जो सरकार ऋण का पुनर्भुगतान नहीं कर सकती उसे लोकतांत्रिक तरीके से शासन करने का अधिकार नहीं रहता। यदि रिजर्व बैंक से उधार, घाटे की वित्त व्यवस्था की मौद्रिक सीमा से अधिक हो जाता है तो कीमत स्तर में बढ़ोतरी हो सकती है और स्फीतिकारी दबाव पैदा हो सकता है। स्फीति न केवल एक आर्थिक समस्या ही है अपितु एक सामाजिक-राजनीतिक समस्या भी है। यदि उधार लिया धन अनुत्पादक प्रयोजनों के लिए खर्च किया गया तो वह भावी पीढ़ी पर एक अनुचित बोझा होगा। बहुत से अफ्रीकी तथा लातीनी अमरीकी देशों में जीवन स्तर, यदि पहले से ही नीचा नहीं तो अवरुद्ध अवश्य हो गया है क्योंकि वहाँ पर गैर-विकासपरक व्यय का वित्तीयन करने के लिए अत्यधिक ऋण लिया गया था।

11.7.3 ऋण वित्तीयन का स्वरूप

तालिका 11.8 में सरकारी व्यय तथा चालू राजस्व के बीच अंतर को पाटने से लिए वित्तव्यवस्था का स्वरूप दिखाया गया है। इसमें आप देख सकते हैं कि पिछले पंद्रह वर्षों में व्यय के अनुपात के रूप में यह अंतर बढ़ गया है। 1974-75 में यह 26 प्रतिशत था तो 1988-89 में यह बढ़कर 35 प्रतिशत हो गया है। यह अंतर अस्सी के दशक में ज्यादा तेजी से बढ़ा है।

तालिका 11.8 : केंद्रीय, राज्य तथा संघ-राज्य क्षेत्रों की सरकारों के बजटीय अंतर के वित्तीयन का स्वरूप (करोड़ रुपए में)

	1974-75	1980-81	1984-85	1988-89
कुल व्यय	14790	35379	66734	112610
चालू राजस्व	10919	23147	42088	73693
बजटीय अंतर	3871	12233	24646	38917
वित्त प्रबंध आंतरिक पूंजीगत प्राप्तियाँ (निवल)	2361	7112	17684	26827
विदेशी पूंजीगत प्राप्तियाँ (निवल)	758	1670	1857	3734
कुल मिलाकर बजटीय घाटा	751	3450	5106	8356

स्रोतः भारत सरकार, वित्त मंत्रालय — भारतीय आर्थिक सांख्यिकी-लोक वित्त, 1988

उपर्युक्त तालिका के दो लक्षण उल्लेखनीय हैं। पहला, भारत में 1988-89 में कुल लोक व्यय का मात्र 3 प्रतिशत ही विदेशी ऋण है। सरकार ने अधिकांश उधार (97 प्रतिशत) देश के आंतरिक बाज़ार से ही लिया है। दूसरा, आप देख सकते हैं कि अब घाटे का वित्तीयन ख़तरे की घंटी हो गया है। वर्ष 1974-75 में सरकारी खर्च के केवल 5 प्रतिशत भाग को ही घाटा वित्तीयन द्वारा पूरा किया जाता था किन्तु 1988-89 में इसके लगभग 8 प्रतिशत तक पहुँच जाने की आशंका है।

सरकार देश के अंदर उधार अधिकतर तीन स्रोतों से लेती है — वाणिज्यिक बैंकों की जमाराशि से, डाकघर जमाओं तथा बचत योजनाओं (जिन्हें छोटी बचतें कहा जाता है) से और भविष्य निधियों से। सरकार जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट तथा विकास बैंकों से भी उधार लेती है। व्यक्तियों को वाणिज्यिक बैंकों, डाकघर, भविष्य निधि तथा जीवन बीमा में अपनी बचतों का निवेश करने हेतु प्रोत्साहित करने के लिए सरकार अब न केवल आकर्षक ब्याज ही देती है अपितु आयकर में भी पर्याप्त धनराशि की छूट देती है। कुछ आकर्षक कर मुक्त सरकारी प्रति-भूतियों जैसे राष्ट्रीय बचत प्रमाण पत्रों पर कर पश्चात प्रतिफल 30 प्रतिशत तक ऊंचा होता है। आयकर में रियायत देने से व्यक्तियों को वित्तीय बचतों में वृद्धि में काफी सहायता मिली है और उसकी वजह से व्यक्ति अब अन्य रूपों में बचत करने के बजाय डाकघरों तथा बैंकों में अपनी बचतें जमा करने लगे हैं।

11.7.4 लोक ऋण में वृद्धि

जैसे-जैसे सरकार ज्यादा उधार लेने लगती है वैसे लोक ऋण में वृद्धि होती जाती है। निश्चित समय पर बकाया सरकारी ऋण ही लोक ऋण होता है। यह गणना सामान्यतः वित्तीय वर्ष के अंत में की जाती है। सरकारी ऋण के प्रवाह के परिणामस्वरूप होने वाले स्टॉक को लोक ऋण कहा जाता है। पिछले समय में और विशेष रूप से अस्सी के दशक में सकल देशीय उत्पाद के अनुपात के रूप में लोक ऋण में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है। तालिका 11.9 में दिखाया गया है कि 1987-88 में सार्वजनिक क्षेत्रक का आंतरिक ऋण सकल देशीय उत्पाद का 65 प्रतिशत था और आंतरिक तथा विदेशी दोनों प्रकार का लोक ऋण अब सकल राष्ट्रीय उत्पाद का लगभग तीन चौथाई हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि अब लोक ऋण एक गंभीर चिंता का विषय हो गया है।

तालिका 11.9.: लोक ऋण में वृद्धि

	1950-51	1973-74	1980-81	1987-88
आंतरिक ऋण (और सरकार की अन्य आंतरिक देयताएँ) राशि (करोड़ रुपए में)	3024	21444	55357	190919
सकल देशीय उत्पाद (GDP) से अनुपात (%)	34	38	45	65
विदेशी ऋण राशि (करोड़ रुपए में)	32	5824	11298	22518
सकल देशीय उत्पाद से अनुपात (%)	0.3	10	9	8

स्रोत: भारत सरकार, वित्त मंत्रालय, भारतीय आर्थिक सांख्यिकी, लोक वित्त, 1988

हालाँकि, सकल देशीय उत्पाद (GDP) के अनुपात के रूप में विदेशी ऋण कोई ज्यादा नहीं है, लेकिन इसे कम करके नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि भारत के विदेशी मुद्रा के भंडार तथा निर्यात से उपार्जन की क्षमता काफी कम है। इसलिए विदेशी ऋण की इस साधारण राशि का पुनर्भुगतान भविष्य में समस्या पैदा कर सकता है।

ऋण में वृद्धि से बहुत ज्यादा चिंतित होने की जरूरत नहीं है। आखिर में महत्व इस बात का है कि इस ऋण का उपयोग किस कार्य में किया जा रहा है। यदि ऋण का उपयोग परियोजनाओं में निवेश का वित्तीयन करने के लिए किया जा रहा है तो उससे भविष्य में आमदनी बढ़ेगी और देश को फायदा होगा। लेकिन यदि इसके स्थान पर ऋण का उपयोग अनुत्पादक व्यय में किया जा रहा है, जैसे कि रक्षा या पुलिस या सामान्य प्रशासन के कर्मचारियों को ज्यादा वेतन देने में, तो इससे आमदनी पैदा नहीं होगी और परिणाम यह होगा कि पुनर्भुगतान में समस्या पैदा हो जाएगी। अभी हाल तक सरकार इस ऋण का पूंजीगत व्यय के वित्तीयन में उपयोग कर रही थी। लेकिन अभी हाल के वर्षों में सरकार ने इसका उपयोग चालू व्यय के वितीयन के लिए करना शुरू कर दिया है। यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण राजकोषीय नीति नियमों का स्पष्ट उल्लंघन है।

बोध प्रश्न 3

1 एक आदर्श कर संरचना के मूल तत्व क्या है? एक वाक्य में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

2 क्या आप सोचते हैं कि भारत में करों का अप-वंचन हो रहा है?
यदि हां तो इसके क्या कारण हैं? क्या आयकर की दरों में कमी कर देने से स्थिति में कुछ सुधार हुआ है? दो वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

3 मॉडवेट (MODVAT) क्या है? दो वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

4 आपके विचार से ऋण वित्तीयन की सर्वाधिक गंभीर समस्या कौन सी है? दो वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

11.8 केंद्र-राज्य राजकोषीय संबंध

भारत एक संघीय प्रणाली वाला देश है और यहाँ तीन स्तरीय — केंद्रीय, राज्य तथा संघ-राज्य क्षेत्र एवं स्थानीय-सरकारें हैं। भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची में केंद्र तथा राज्यों की वित्तीय शक्तियों का अलग-अलग वर्गीकरण किया गया है। प्रमुख करों जैसे आयकर, कंपनी कर, उत्पादन कर तथा सीमाशुल्क आदि को लगाने और वसूल करने का अधिकार केंद्रीय सरकार को दिया गया है जबकि राज्यों को कृषि, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सिंचाई, कानून तथा व्यवस्था आदि क्षेत्रों में काम करने का दायित्व सौंपा गया है, जिन्हें पूरा करने के लिए उनको प्रदत्त वित्तीय शक्तियों से कहीं अधिक वित्तीय साधनों की जरूरत होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वित्तीय शक्तियों तथा कार्यात्मक दायित्वों के बीच असंतुलन हो गया है। इस असंतुलन को दूर करने के लिए भारत के संविधान में यह आदेशात्मक प्रावधान किए गए हैं कि केंद्र से राज्यों की ओर व्यापक रूप से स्रोतों का अंतरण किया जाए।

11.8.1 राजकोषीय वितरण का स्वरूप

केंद्र से राज्यों की ओर स्रोतों का अंतरण तीन प्रकार से होता है: (क) केंद्र द्वारा इकट्ठे किए गए करों में राज्यों को हिस्सा दिया जाता है: (ख) राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों को केंद्र की ओर से अनुदान दिए जाते हैं: तथा (ग) केंद्र की ओर से राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों को ऋण दिया जाता है। ये सभी अंतरण मुख्य रूप से वित्त आयोग तथा योजना आयोग की सिफ़ारिशों के आधार पर किए जाते हैं। केंद्र राज्यों को कुछ विवेकाधीन अनुदान (discretionary grants) तथा ऋण भी प्रदान करता है। पिछले दो दशकों में केंद्र की ओर से राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों को वित्तीय स्रोतों का जो अंतरण किया गया है, उसे तालिका 11.10 में दर्शाया गया है।

तालिका 11.10 : केंद्र की ओर से राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों को संसाधनों का हस्तान्तरण (करोड़ रुपयों में)

		1970-75	1975-80	1980-85	1985-90
1.	केन्द्रीय करों में राज्यों का अंश	5164	10450	23728	36226
2.	केंद्र से राज्यों तथा संघराज्य क्षेत्रों को अनुदान	4462	9918	18908	33951
3.	केंद्र से राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों को ऋण (निवल)	2804	6245	14120	22637
	योग	12430	26613	56756	92814

स्रोत: भारत सरकार, वित्त मंत्रालय, भारतीय आर्थिक सांख्यिकी, लोक वित्त, 1988

11.8.2 वित्त आयोग

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 के अंतर्गत प्रत्येक पाँच साल में एक वित्त आयोग नियुक्त किया जाता है जो निम्नलिखित के बारे में सिफ़ारिशें करता है — (क) उन करों की निवल प्राप्तियों का संघ तथा राज्यों के बीच वितरण जिनको इन दोनों के बीच बाँटा जाना है: (ख) ऐसी प्राप्तियों के हिस्से का विभिन्न राज्यों के बीच बंटवारा: तथा (ग) संघ की ओर से राज्यों को सहायता अनुदान दिए जाने के सिद्धांत तय करना। वित्त आयोग संघ सरकार द्वारा सौंपे गए अन्य विषयों के बारे में भी अपनी सिफ़ारिश देता है, जैसे कि राज्यों के बिक्री कर के एवज़ में लगाए गए अतिरिक्त उत्पादन कर का बंटवारा, रेलवे यात्री भाड़े पर कर के एवज़ अनुदान, राहत व्यय का वित्तीयन, ऋण निभाव (debt accommodation) तथा राज्य स्तर पर प्रशासन के स्तर का एवं सामाजिक सेवाओं का उन्नयन। वित्त आयोग एक अर्द्धन्यायिक निकाय है। अभी तक आठ वित्त आयोग अपनी सिफ़ारिशें पेश कर चुके हैं और नौवां आयोग सिफ़ारिशें पेश करने वाला है।

आयकरों के बंटवारे के लिए हाल के वित्त आयोग ने जनसंख्या (90 प्रतिशत भार) तथा संग्रह राशि (राज्यों में संग्रह की गई धनराशि, 10 प्रतिशत भार) को आधार बनाया है। उत्पादन करों के बंटवारे के लिए हाल के वित्त आयोग ने जनसंख्या को कम अर्थात 25 प्रतिशत भार दिया है। धनराशि के बंटवारे के लिए राज्यों में प्रति व्यक्ति आय तथा उनके गरीबी के स्तर को भी मद्देनजर रखा जाता है। कर की धन राशि के बंटवारे के अतिरिक्त वित्त आयोग ने राज्यों के बजटों में राजस्व अंतर को पूरा करने के लिए केंद्र द्वारा राज्यों को सहायता अनुदान देने की भी सिफ़ारिश की है।

11.8.3 योजना आयोग

योजनाओं के लिए केंद्र राज्यों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। केंद्र द्वारा राज्यों को योजना सहायता, अनुदान तथा ऋण दोनों ही रूप में प्रदान की जाती है। असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू तथा कश्मीर, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, सिक्किम तथा त्रिपुरा जैसे कम वित्तीय स्रोत वाले विशेष श्रेणी के राज्यों के लिए केंद्रीय योजना सहायता 90 प्रतिशत अनुदान के रूप में और 10 प्रतिशत ऋण के रूप में दी जाती है। अन्य राज्यों को एक समान दर अर्थात 30 प्रतिशत अनुदान और 70 प्रतिशत ऋण के रूप में सहायता दी जाती है। राज्यों को केंद्रीय योजना सहायता संशोधित गाडगिल फ़ार्मूले के अनुसार

निर्धारित की जाती है, यह फार्मूला राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा अनुमोदित है। इस फार्मूले के अनुसार यह अंश इस प्रकार तय किया जाता है — (क) 60 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर (ख) 20 प्रतिशत राष्ट्रीय औसत से कम प्रतिव्यक्ति आय वाले राज्यों को (ग) 10 प्रतिशत प्रतिव्यक्ति कर स्तर के आधार पर, तथा (घ) 10 प्रतिशत विशेष समस्याओं के आधार पर।

वित्त आयोग तथा योजना आयोग द्वारा अपनाई गई प्रगामी वितरण कसौटियों के बावजूद केंद्र और राज्यों के राजकोषीय संबंध अभी भी एक विवादास्पद मुद्दा बने हुए हैं। अपेक्षाकृत कम साधन वाले राज्य यह महसूस करते हैं कि केंद्र से राज्यों को बंटवारा इतना प्रगामी नहीं है कि संपन्न और गरीब राज्यों के बीच अंतर को कम किया जा सके। राज्यों को यह भी शिकायत है कि पिछले कुछ वर्षों से केंद्र की राजकोषीय नीति से राज्यों के स्रोत आधारों में कमी आ गई है और फलस्वरूप राज्य अधिकाधिक केंद्रीय सहायता पर निर्भर होते जा रहे हैं। केंद्र और राज्यों में अलग-अलग राजनीतिक दलों की सरकारें बन जाने के कारण यह अब एक राजनीतिक समस्या बन गई है।

बोध प्रश्न 4

1 केंद्र से राज्यों को संसाधन अंतरण करना क्यों आवश्यक है?
दो वाक्यों मे उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

2 वित्त आयोग के तीन मुख्य कार्य बताइए। एक वाक्य में उत्तर लिखिए:

.....

.....

3 संशोधित गाडगिल फार्मूला क्या है? एक वाक्य में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

11.9 सारांश

सरकार का बजट भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह आय, रोज़गार तथा कीमत स्तर का नियमन करता है। क्षेत्रकों तथा क्षेत्रों के बीच स्रोतों का आबंटन करता है और समानता तथा सामाजिक न्याय स्थापित करने का प्रयास करता है। सरकार इस्पात, बिजली, उर्वरक, सीमेंट आदि जैसी बहुत सी महत्वपूर्ण वस्तुओं का उत्पादन भी करती है। इसलिए अर्थव्यवस्था का समग्र निष्पादन सरकार के व्यवहार पर निर्भर करता है। सरकार के बजटीय प्रचालनों से संबंधित राजकोषीय नीति भारत में समग्र आर्थिक नीति का बहुत महत्वपूर्ण अंग है।

पिछले कुछ समय से सकल देशीय उत्पाद के अनुपात के रूप में लोक ऋण में काफी वृद्धि हो गई है। सरकार के कर राजस्व में समान दर से वृद्धि नहीं हुई है और इसीलिए लोक व्यय में ऋण वित्तीयन का हिस्सा बढ़ गया है। सकल देशीय उत्पाद में प्रत्यक्ष कर का अनुपात लगभग जड़ सा हो गया है, इसका आंशिक कारण तो सरकारी नीतियां हैं और बड़े पैमाने पर कर अपवंचन है। परोक्ष कर ही लोक व्यय का अधिकांश भार उठाते है, हालाँकि ये स्फीतिकारी होते हैं। लोक व्यय का एक बड़ा हिस्सा आर्थिक सहायता तथा ब्याज की अदायगी पर खर्च होता है।

भारत में लोक ऋण अधिकांशतः आंतरिक है और थोड़ा सा विदेशी है। आंतरिक और विदेशी दोनों प्रकार के ऋण अब चिंता का विषय हो गए हैं। भविष्य में, सरकार को या तो लोक व्यय में कटौती करनी होगी या अपने बजट को संतुलित बनाने के लिए अधिक कर लगाने होंगे। एक अन्य गंभीर समस्या घाटा वित्तीयन के बढ़ने की है।

योजना आयोग और वित्त आयोग केंद्र से राज्यों को साधनों के अंतरण का नियमन करते है। ये अंतरण आवश्यक हैं क्योंकि संविधान के प्रावधनों के अनुसार राज्यों का स्रोत आधार उनको सौपे गए दायित्वों को पूरा करने के लिए अपर्याप्त हैं। योजना आयोग तथा वित्त आयोग दोनों ने ही केंद्र से राज्यों को स्रोतों के वितरण के बारे में कुछ सूत्र बनाए हैं। लेकिन केंद्र तथा राज्यों के राजकोषीय संबंधों को अभी तक सुधारा नहीं जा सका है जिससे कि राज्यों की संतुष्टि हो सके।

11.10 शब्दावली

संतुलित संवृद्धि: क्षेत्रकीय तथा क्षेत्रीय संवृद्धि में समुचित संतुलन।

बजट: सरकार की संभावित आय तथा व्यय का अनुमान।

पूंजी प्रधान: ऐसी उत्पादन तकनीक जिसमें श्रम की अपेक्षा पूंजी का ज्यादा उपयोग किया जाए।

प्रदर्शन उपभोग: अमीरों द्वारा ऐसा उपभोग जो जनता का ध्यान आकृष्ट करे, जैसे कि पांच सितारा होटल में खर्च करना या फैंसी कार खरीदना।

ऋण-फंदा: एक ऐसी अवस्था जब कर्ज़दार अपने पिछले ऋण को नया कर्ज़ लिए बिना चुका न पाए। अधिक स्पष्ट रूप में कहें तो यह ऐसी स्थिति है जिसमें सरकार का नया कर्ज़ पिछले कर्ज़ की ब्याज तथा पुनर्भुगतान की राशि से कम होता है या उसके बराबर होता है।

घाटा वित्तीयन: लोक व्यय का नोट छापकर वित्तीयन करना।

विकासपरक व्यय: अर्थव्यवस्था की संवृद्धि में योगदान करने वाला लोक व्यय।

संघीय देश: ऐसा देश जिसमें एक से अधिक स्तर की सरकारें हों।

करापात: व्यक्तियों अथवा क्षेत्रकों पर कराधान का वास्तविक अंतिम भार।

श्रम प्रधान: ऐसी उत्पादन तकनीक जिसमें पूंजी की अपेक्षा श्रम का ज्यादा उपयोग किया जाए।

वर्धमान कराधान: कराधान की ऐसी प्रणाली जिसमें करापात अधिक अमीर लोगों पर वर्धमान रूप से अधिक पड़ता है।

सामाजिक वस्तुएँ: सामान्य उपयोगिता वाली चीजें जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएँ, पार्क, सड़कें आदि।

सामाजिक सुरक्षा: आकस्मिकताओं जैसे बेरोज़गारी, असमर्थता, बीमारी, वृद्धावस्था आदि के लिए वित्तीय सुरक्षा।

विशेष श्रेणी राज्य: योजनाओं के प्रयोजन के लिए 'पिछड़े वर्ग' की श्रेणी में रखे गए राज्य।

कल्याणकारी राज्य: एक ऐसी अर्थप्रणाली जिसमें जनता का आर्थिक कल्याण स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा आदि सरकार के बुनियादी दायित्व माने जाते है।

11.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मिश्र, एस. के. एवं वी. के. पूरी: *भारतीय अर्थव्यवस्था* 1989, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, अध्याय 47 एवं 48.

दत्ता, रुद्र एवं के. पी. एम. सुनदरम्: *भारतीय अर्थव्यवस्था* 1990, एस. चन्द एवं कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय 45 एवं 46.

नाथूरामका लक्ष्मीनारायण: *भारतीय अर्थशास्त्र* 1990, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, अध्याय 53-56.

Government of India, Ministry of Finance — *Long Term Fiscal Policy*, December 1985.

Government of India, Planning Commission — *Seventh Five Year Plan*

Government of India — *Report of the Eighth Finance Commission*

Government of India — *Indirect Taxation Enquiry Committee Report* 1978.

Government of India — Ministry of Finance — *Economic Survey* 1987-88.

B.B. Bhattacharya — *Public Expenditure, Inflation and Growth* Ch. 3

11.12 बोध प्रश्नों के उत्तर तथा / या संकेत

बोध प्रश्न 1

1 11.2.2 का पैरा 2 देखिए।

2 संकेत: औद्योगिक देशों में सरकार का सकल देशीय उत्पाद में अंशदान क्यों बढ़ गया है इस संबंध में 11.2.3 में की गई चर्चा को पढ़िए और भारत में सरकार की वृद्धि को स्पष्ट करने की चेष्टा कीजिए।

3 संकेत: इकाई 10 में संवृद्धि तथा कीमत स्थिरता पर की गई चर्चा को पढ़िए और फिर 11.4 में दिए राजकोषीय नीति के उद्देश्यों पर विचार करिए।

बोध प्रश्न 2

1 लोक व्यय में वृद्धि के कारणों के बारे में भाग 11.5.1 पढ़िए।

2 संकेतः वेतन तथा मज़दूरी बिल के सापेक्षिक अंश तथा संवृद्धि, जो 11.5.2 में दी गई है, की तुलना करिए।

संकेतः दोनों पर अधिक खर्च करने के लिए या तो अन्य लोक व्ययों में कटौती करनी होगी या लोक व्यय की कुल मात्रा में बढ़ोतरी करनी होगी।

स्वास्थ्य तथा शिक्षा के बीच यह एक की दूसरे के ऊपर सामाजिक तरजीह है। विकास की आरंभिक अवस्था में संभवतः सामान्य प्रयोजन वाली उच्च शिक्षा पर खर्च करने की बजाय स्वास्थ्य पर अधिक खर्च करना बेहतर होगा।

बोध प्रश्न 3

1 11.6.1 कराधान के सिद्धांत पढ़िए।

2 प्रत्यक्ष कर संरचना पर 11.6.3 तथा कर वंचन पर 11.6.4 पढ़िए।

3 परोक्ष कर संरचना पर 11.6.5 पढ़िए।

4 पैरा 11.7.2 में समस्याओं पर चर्चा की गई है। समस्याओं का विश्लेषण करिए और आपकी समझ में जो सबसे गंभीर समस्या हो उस पर अपने विचार व्यक्त करिए।

बोध प्रश्न 4

1 क्योंकि केंद्र को कुछ करों को छोड़कर सभी प्रमुख करों को वसूल करने का काम सौंपा गया है और राज्यों को सरकार के विभिन्न कार्यों पर खर्च करना पड़ता है।

2 पैरा 11.8.2 पढ़िए और 3 सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों को लिखिए।

3 पैरा 11,8.3 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGEC-02

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास

खंड

6

भारतीय अर्थव्यवस्था का क्षेत्रकीय अध्ययन: कृषि

इकाई 12

कृषि: विरासत 5

इकाई 13

स्वतंत्रता के बाद कृषि-विकास 24

खंड 6 का परिचय

यह खंड आपके सामने भारतीय कृषि के विस्तृत क्षेत्र की एक झलक प्रस्तुत करता है। इसमें इकाई 12 और 13, दो इकाइयाँ हैं। इकाई 12 यह बताती है कि 200 वर्ष के लंबे औपनिवेशिक शासन के बाद आज़ादी के समय भारत को विरासत के रूप में यहाँ कृषि किस स्थिति में मिली थी। यह इकाई यह भी बताती है कि आज़ादी के समय कृषि के उत्पादन में जो ठहराव आ गया था उसका प्रमुख कारण था—देश में पुरातन ढंग की कृषि व्यवस्था और उत्पादन के लिए आदिम काल से चली आ रही तकनीक। इकाई 13 में आज़ादी के बाद के भारतीय कृषि के विकास का विस्तृत विवरण मिलता है। इसमें पिछले 38 वर्षों के उत्पादन का विश्लेषण किया गया है। यह इकाई हमें यह भी बताती है कि कृषि की संवृद्धि में जो गतिरोध आ गया था, उसे दूर करने के लिए उसके ढाँचे में क्या-क्या परिवर्तन किए गए हैं। संवृद्धि और सामाजिक न्याय के मिले-जुले उद्देश्यों को पाने के लिए राज्य द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई हैं उनकी समीक्षा भी इसमें मिलती है।

इकाई 12 कृषि: विरासत

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 पिछड़ेपन के कारण
  12.2.1 प्रति व्यक्ति उपलब्धता
  12.2.2 न्यून उत्पादकता
  12.2.3 भूमि का वितरण
  12.2.4 फसल की देखरेख
  12.2.5 पिछड़ापन: एक औपनिवेशिक विरासत
12.3 कृषि उत्पादन की संवृद्धि
  12.3.1 खाद्य फसलें बनाम नकदी फसलें
  12.3.2 क्षेत्रफल और उत्पादन
  12.3.3 कृषि-उत्पादकता
  12.3.4 नकदी फसलों की उत्पादकता की प्रवृत्तियाँ
  12.3.5 कृषकों की आर्थिक तर्कसंगतता
12.4 उत्पादकता के निर्धारक तत्व
  12.4.1 उन्नत आगतों का प्रयोग
  12.4.2 सिंचाई
  12.4.3 कृषि-अनुसंधान और प्रौद्योगिकी
12.5 मानसून पर निर्भरता
  12.5.1 घटता-बढ़ता उत्पादन
  12.5.2 प्रभाव
12.6 संस्थागत पक्ष
  12.6.1 पट्टेदारी या लूटमार
  12.6.2 ज़मींदारी प्रथा
  12.6.3 रैयतवारी प्रथा
  12.6.4 महलवारी प्रथा
  12.6.5 आर्थिक और सामाजिक परिणाम
  12.6.6 ग्रामीण ऋणग्रस्तता
  12.6.7 सुधार की आवश्यकता
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

यह इकाई आपको यह बताती है कि आज़ादी के समय भारतीय कृषि की क्या स्थिति थी। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- औपनिवेशिक पिछड़ेपन और भारतीय कृषि की न्यून उत्पादकता के प्रमुख लक्षण की व्याख्या कर सकेंगे;
- भूमि वितरण के स्वरूप की असमानताओं की प्रकृति बता सकेंगे; और
- कृषि विकास में बाधक तीन प्रमुख भूमि पट्टेदारी प्रथाओं के बारे में बता सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

खंड 1 में हम यह पढ़ चुके हैं कि आज़ादी के समय भारत में कृषि ही यहाँ की आर्थिक गतिविधि का प्रमुख केंद्र थी। हालाँकि कृषि की यह विशेष स्थिति भारत में वर्षों तक बनी

रही, किन्तु कुल राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि का भाग जो आज़ादी के समय 60 प्रतिशत था, वह घटकर 35 प्रतिशत रह गया। 1951 में कृषि में रोज़गार पाने वालों का प्रतिशत भारत में 68 था, जबकि उसी समय यह प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका में सिर्फ 12 ही था। यद्यपि आज भी कृषि के इस भाग में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया है। कुल क्षेत्रफल, कृषित क्षेत्रफल या जनसंख्या, किसी भी दृष्टि से स्वतंत्र भारत की गिनती संसार के पाँच बड़े देशों में होती थी। भारतीय अर्थव्यवस्था निश्चित रूप से बहुत ही अल्प विकसित थी हालाँकि उसके पास कृषि का बहुत बड़ा उत्पादक क्षेत्र उपलब्ध था जिसमें आर्थिक विकास की प्रक्रिया को प्रारंभ करने के लिए विशेष प्रयत्न करने की बहुत अधिक आवश्यकता थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चौथे दशक के अंत में कृषि की स्थिति बिगड़ गई तथा अनाज की उपलब्धता घट गई और कृषि पदार्थों की कीमतें बढ़ गईं। देश के विभाजन के फलस्वरूप अनाज की उपलब्धता की स्थिति और भी भयंकर हो गई क्योंकि जनसंख्या की तुलना में एक बड़ा कृषि-क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चला गया। 1943 का बंगाल का अकाल जो इस शताब्दी का सबसे भयंकर अकाल था, उसकी स्मृति आज भी राष्ट्र को इस बात की याद दिलाती रहती है कि कृषि में आत्म-निर्भर होना कितना ज़रूरी है।

12.2 पिछड़ेपन के कारण

भारत में 9.91 करोड़ हैक्टेयर भूमि के शुद्ध क्षेत्र में कृषि होती थी और उसमें से सिर्फ 1.68 करोड़ हैक्टेयर भूमि में सिंचाई की ज़ाती थी। भूमि की उपलब्धता और उत्पादकता, दोनों ही न्यून थीं।

12.2.1 प्रति व्यक्ति उपलब्धता

1951 की जनगणना के अनुसार, भारत में कृषि योग्य भूमि की औसतन उपलब्धता 97 सेंट प्रति व्यक्ति थी, जबकि उस समय दुनिया का यह औसत 126 सेंट था। देश के अंदर भी कृषि योग्य भूमि की यह विभिन्नता बहुत ज्यादा थी, जिसे तालिका 12.1 में दिखाया गया है। 1947 में 5.48 करोड़ टन अनाज से 33.94 करोड़ जनसंख्या का गुजारा होता था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय दुनिया के दूसरे राष्ट्रों की तुलना में भारत की जनता को सबसे कम खुराक मिलती थी। यह अनुमान लगाया गया था कि भारत में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति को अपने भोजन में 1740 कैलोरी मिलती थी, जबकि पाँचवें दशक के शुरू में यह संयुक्त राज्य अमेरीका एवं ग्रेट ब्रिटेन में 3090 कैलोरी थी और जापान में 2150 कैलोरी थीं। भारत, जो कभी अनाज का निर्यातक था, वह तीसरे दशक के मध्य से लगातार अनाज का आयात करने लगा था।

भारत में कई तरह की फसलें होती थीं लेकिन इसकी कृषि-भूमि के एक बहुत बड़े क्षेत्र में अनाज ही पैदा किया जाता था। 1945-46 से 1949-50 की पाँच वर्ष की अवधि में 84 प्रतिशत एकड़ भूमि में अनाज पैदा किया गया, जबकि शेष 16 एकड़ भूमि में दूसरी अन्य फसलें उगाई गईं। अनाज के अलावा अन्य प्रमुख फसलों की भूमिका का प्रतिशत इस प्रकार था – तिलहन 9, कपास 4 और गन्ना 1.3। भूमि का शेष भाग, बागान फ़सलें, जूट या अन्य गैर खाद्य-फ़सलें उगाने में उपयोग किया जाता था।

तालिका 12.1

1951-52 का कुछ चुने हुए राज्यों का प्रति व्यक्ति शुद्ध बुआई क्षेत्र (Net Sown Area)

		प्रति व्यक्ति शुद्ध बुआई क्षेत्र (एकड़ में)
1	मध्य प्रदेश	1.38
2	बंबई	1.14
3	उड़ीसा	0.96
4	पंजाब	0.92
5	आंध्र प्रदेश	0.83
6	उत्तर प्रदेश	0.64
7	असम	0.61
8	बिहार	0.53
9	पश्चिम बंगाल	0.47
10	मद्रास	0.27
	संपूर्ण भारत	0.83

स्रोतः भारत सरकार, Statistical Abstract of India, 1953-54.

तालिका 12.2

अविभाज्य भारत के कृषि उत्पादन का सूचकांक

समाप्त होने वाली पंचवर्षीय अवधि का औसत	अनाज	अन्य	सभी फसलें
1904-05	100.0	100.0	100.0
-10	97.5	106.8	99.6
-15	105.6	121.7	109.1
-20	107.2	122.8	110.5
-25	101.8	124.7	106.8
-30	97.3	138.7	106.3
-35	100.3	137.9	108.5
-40	97.9	159.1	111.1
-45	100.9	154.2	112.4
1945-46*	93.5	141.4	103.6
1946-47*	95.7	143.2	106.1

*सिर्फ दिए गए वर्ष का उत्पादन बताता है।

स्रोत: राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट, 1976.

12.3.2 क्षेत्रफल और उत्पादन

उत्पाद में परिवर्तन क्षेत्रफल या उत्पादकता अथवा दोनों का परिणाम हो सकता है। तालिका 12.3 में उपलब्ध आंकड़े अविभाज्य भारत के हैं, जिसमें आज का पाकिस्तान और बंगला देश भी शामिल हैं, लेकिन बर्मा नहीं। आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि अनाज और ग़ैर-अनाज दोनों प्रकार की फ़सलों के बुआई क्षेत्र में वृद्धि हुई थी किन्तु दूसरे की वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक थी। उत्पादन की दृष्टि से 50 वर्षों की इस अवधि में अनाज के उत्पादन में गिरावट आई जबकि ग़ैर-अनाज फसलों के उत्पादन में कुछ वृद्धि दिखाई दी। इस अवधि में कुल फ़सल क्षेत्र (crop area) का सूचकांक 18.4 प्रतिशत बढ़ गया जबकि उत्पादकता का सूचकांक 6 प्रतिशत घट गया। यह ठीक है कि आँकड़ों का और खासकर उत्पादन के आँकड़ों का आधार कमज़ोर है किन्तु आँकड़ों के सभी प्रमुख स्रोत इसका समर्थन करते हैं। दीर्घकालीन प्रवृत्तियाँ यह बताती हैं कि एक ऐसी अवधि में जिसमें जनसंख्या में 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, उसमें कृषि के उत्पादन में ठहराव आ गया।

अनाज के उत्पादन में प्रयुक्त आगतों को ग़ैर-अनाज फ़सलों के उत्पादन में लगाकर उसके उत्पाद में वृद्धि की गई थी, यह बात क्षेत्र और उत्पादकता दोनों की प्रवृत्तियों से स्पष्ट होती है। हालाँकि अनाज के क्षेत्र में कुछ वृद्धि हुई थी, किन्तु उसकी उत्पादकता में कमी आई। लेकिन 50 वर्ष की इस अवधि में, जिसकी समीक्षा की जा रही है, ग़ैर-अनाज व्यावसायिक फ़सलों के क्षेत्र और उत्पादकता दोनों में ही वृद्धि हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्नत विधियों और अच्छे किस्म के आगतों का प्रयोग ग़ैर-अनाज फ़सलों के उत्पादन में किया गया। रेलवे के विकास से व्यवसायीकरण बढ़ गया और विदेशी बाज़ार का रास्ता खुल गया, किन्तु इससे तो व्यावसायिक फ़सलों के उत्पादन में ही वृद्धि हुई न कि अनाज की फ़सलों में।

तालिका 12.3

अविभाज्य भारत में क्षेत्रफल और उत्पादन की प्रवृत्तियां

समाप्त होने वाली पाँच वर्ष की अवधि का औसत	सकल बुआई क्षेत्र सूचकांक (पंचवर्षीय अवधि का औसत)			प्रति एकड़ उत्पादन (सूचकांक)		
	अनाज	ग़ैर-अनाज	कुल	अनाज	ग़ैर-अनाज	कुल
1904-05	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0
1909-10	104.7	111.3	105.8	92.8	95.5	93.8
1914-15	107.6	120.6	109.8	98.0	98.9	99.3
1919-20	107.9	113.4	108.8	99.3	109.4	101.7
1924-25	107.1	118.2	108.9	94.7	106.5	97.9
1929-30	107.1	135.3	111.8	90.2	103.4	94.5
1934-35	111.3	132.5	114.8	90.1	104.0	94.5
1939-40	110.2	140.5	115.3	88.6	113.2	96.4
1944-45	113.8	141.3	118.4	88.7	108.8	94.9

स्रोत: राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट, 1976.

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप अनाज की माँग बहुत बढ़ गई और खाद्य वस्तुओं की भयंकर कमी हो गई। अतः "अधिक अन्न उपजाओ" अभियान प्रारंभ किया गया।

इन प्रवृत्तियों से यह बात साफ़ प्रकट होती है कि भारत की आज़ादी से पहले कम से कम आधी शताब्दी की अवधि में कृषि के उत्पादन में ठहराव की स्थिति बनी रही। उत्पादन में वृद्धि मुख्यतया क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण हुई लेकिन भविष्य में क्षेत्रफल में वृद्धि करने की गुंजाइश कम होती गई। इसका यह अर्थ हुआ कि उत्पादन में अधिक वृद्धि तब तक संभव नहीं हो सकती थी जब तक उत्पादकता में वृद्धि नहीं लाई जाती। वास्तव में कृषि की तकनीक, प्रयुक्त होने वाले आगतों और निवेश के स्तर में परिवर्तन की ज़रूरत थी। इससे भी ज्यादा इस बात की आवश्यकता थी कि कृषि-संबंधों (agrarian relations) की ओर अधिक ध्यान दिया जाए।

12.3.3 कृषि उत्पादकता

सबसे पहले हम कुछ मूल संकल्पनात्मक सरलीकरण पर विचार करते हैं जिनकी हमारी कृषि उत्पादकता की चर्चा में ज़रूरत है। कृषि उत्पादकता का अर्थ है **"प्रति इकाई आगत से प्राप्त औसत उत्पादन"**। चूँकि उत्पादन की प्रक्रिया में बहुत से आगतों का इस्तेमाल किया जाता है, अतः यह आवश्यक हो जाता है कि आगतों के स्तर की माप एक सूचकांक के रूप में की जाए। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि एक महत्वपूर्ण आगत जैसे भूमि की उत्पादकता को मापा जाए क्योंकि अल्पकाल में इस आगत की पूर्ति काफी सीमित रहती है और भूमि की उत्पादकता को बढ़ाकर ही उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। कृषि में तो बहुत सी चीज़ों का उत्पादन होता है और उनकी उत्पादकता भिन्न-भिन्न हो सकती है जैसे गेहूँ की उत्पादकता चावल की उत्पादकता से एकदम भिन्न हो सकती है। अतः उत्पादन के सूचकांक की उस समय ज़रूरत होगी जबकि पूरी कृषि उत्पादकता पर विचार करना हो। अंत में, हम यह भी देखते हैं कि विभिन्न प्रदेशों की उत्पादकता में भी अंतर होता है। पूरे भारतीय कृषि क्षेत्र की उत्पादकता, कुछ अति उन्नत क्षेत्रों की कृषि उत्पादकता से कम होगी।

फिर भी, तकनीकी पिछड़ेपन के कारण किसी अन्य उपाय से उत्पादकता बढ़ाने का प्रयत्न निरर्थक ही रहा क्योंकि प्रति एकड़ उपज की वृद्धि न के बराबर हुई। यदि हम भारत में उगाई जाने वाली कुछ प्रमुख फ़सलों जैसे चावल, गेहूँ, मूंगफली और कपास की उपज पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि कुछ बहुत उन्नत देशों की तुलना में हमारे देश का उत्पादन क्रमशः 23 प्रतिशत, 24 प्रतिशत, 41 प्रतिशत और 21 प्रतिशत ही है (तालिका 12.4)।

स्वतंत्रता से पूर्व पूरे 50 वर्ष की अवधि में उत्पादकता का स्तर लगातार नीचा ही रहा, जो इस समय की कृषि की स्थिति को आँकने के लिए एक महत्वपूर्ण तथ्य है। तालिका 12.3 से यह स्पष्ट है कि पूरे कृषि-क्षेत्र का प्रति हैक्टेयर अन्न का उत्पादन स्तर उस स्तर से गिरता ही चला गया जो इस शताब्दी के प्रथम पाँच वर्षों में उपलब्ध था। दीर्घकाल में कृषि के उत्पादन में आए ठहराव की समीक्षा उस काल में जनसंख्या में हुई वृद्धि के आधार पर की जानी चाहिए। 1904-05 और 1944-45 के बीच प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन लगभग 25 प्रतिशत कम हो गया।

12.3.4 नकदी फसलों की उत्पादकता की प्रवृत्तियाँ

आज़ादी से पहले के समय में कपास और गन्ना जैसे नकदी फसलों की उत्पादकता की प्रवृत्ति कुछ भिन्न रही। यद्यपि दूसरे उन्नत देशों की तुलना में इन चीज़ों का प्रति हैक्टेयर उत्पादन कम ही था, फिर भी उनके प्रति हैक्टेयर उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई। तालिका 12.5 से यह ज्ञात होता है कि 1900-05 की अवधि में प्रति हैक्टेयर 80 गाँठ कपास की पैदावार हुई, जो चौथे दशक में बढ़कर 100 गाँठ प्रति हैक्टेयर हो गई। गन्ने का उत्पादन 1904-05 में सिर्फ 26 टन प्रति हैक्टेयर था, जो 1946-47 में बढ़कर 33 टन प्रति हैक्टेयर हो गया। स्वतंत्रता से पहले के काल की निम्न उत्पादकता की व्याख्या करने के लिए तालिका 12.5 में 1980-81 वर्ष की कुछ प्रमुख फ़सलों की उपज के स्तरों को भी दर्शाया गया है। इन सबको देखने से ज्ञात होता है कि इन 40 वर्षों में कृषि के उत्पादन के स्तर में वृद्धि हुई, जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले 40 वर्षों में उसमें ठहराव आ गया था। स्वतंत्रता से पूर्व के काल में नकदी फसलों की उत्पादकता में खाद्य फसलों की तुलना में जो वृद्धि हुई थी उसका एक प्रमुख कारण यह था कि अनाज की फ़सलों की तुलना में नकदी फ़सलों को सिंचाई की विस्तृत सुविधाएँ उपलब्ध हो गई थीं। फ़सलों के निर्यात बाज़ार ने किसानों को इस लायक बना दिया था कि वे अच्छे आगतों का उपयोग कर सकें।

12.3.5 कृषकों की आर्थिक तर्कसंगतता

इससे यह पूरी तरह से स्पष्ट होता है कि किसान वर्ग पूरी तरह से तर्क संगत था और वह अपने संसाधनों को वहीं लगाने को तैयार रहता था जहाँ से उसे लाभप्रद उत्पादन मिलने की आशा होती थी। इस बात पर ध्यान देने की खास ज़रूरत है क्योंकि कृषकों द्वारा तर्कसंगतता से संसाधनों का बंटन करने के बारे में अल्प विकसित देशों में जो अनुसंधान किए गए थे उनमें इस बात पर बहुत वाद-विवाद हुआ था। एक वर्ग के छात्रों का यह तर्क था कि सांस्कृतिक, धार्मिक और अन्य सामाजिक कारणों से अल्प विकसित देशों के किसानों में अपने संसाधनों का तर्कसंगतता से बंटन करने की योग्यता नहीं होती। यही कारण है कि वे आगतों का खास कर श्रम का उपयोग तब तक कम नहीं करने जब तक कि सीमांत उत्पादन शून्य नहीं हो जाता। इसके साथ ही वे उन विधियों को भी नहीं अपनाते जिनसे उनका कृषि उत्पादन बढ़ सकता है। हालाँकि कुछ अन्य अनुसंधानों द्वारा विशेष आर्थिक स्थितियों का हवाला देते हुए यह साबित किया गया है कि उन परिस्थितियों में किसानों द्वारा संसाधनों के बंटन में आर्थिक दृष्टि से कोई तर्कहीनता नहीं थी और उस बाध्यता की स्थिति में उनका उपयोग बिल्कुल उचित था।

तालिका 12.4

प्रमुख फ़सलों के उत्पादन की तुलना

देश (1948-52 का औसत)	गेहूँ	चावल (कि.ग्रा./हैक्टेयर)	मूँगफली (प्रति हैक्टेयर में 180 की गाँठें)	कपास कि.ग्रा.
भारत	660	1110	730	90
जापान	1850	4000	1290	120
इटली	1520	4850	1800	160
फ्रांस	1830	3640	—	—
ग्रेट ब्रिटेन (यू.के.)	2720	—	—	—
संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए.)	1120	2560	920	320
सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.)	840	—	—	430
1980-81				
भारत	1630	1336	—	152

स्रोत: (1) प्रोडक्शन ईयर बुक्स, एफ.ए.ओ.
(2) आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार

तालिका 12.5

भारत में प्रमुख फ़सलों का उत्पादन

पंचवर्षीय अवधि का औसत	चावल	गेहूँ	ज्वार (कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर)	मक्का	कपास (प्रति हैक्टेयर 180 कि.ग्रा. की गाँठें)	गन्ना (टनों में) प्रति हैक्टेयर
1901-05	920	807	738	951	81	26
1905-10	877	844	544	939	79	24
1911-15	909	866	574	988	80	24
1916-20	957	875	594	975	83	26
1921-25	919	827	541	902	90	26
1926-30	927	788	533	917	95	26
1931-35	946	744	567	901	85	34
1936-40	924	792	520	868	94	35
1941-45	868	778	505	934	103	31
वार्षिक						
1945-46	804	673	386	928	94	33
1946-47	824	621	372	986	87	33
1980-81	1336	1630	660	1159	152	58

स्रोत: (1) राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट, 1976.
(2) प्रमुख फ़सलों के क्षेत्र, उपज और उत्पादन का अनुमान, भारत सरकार

12.4 उत्पादकता के निर्धारक तत्व

उत्पादकता का निम्न स्तर हमको उसके कारणों की जाँच करने की प्रेरणा देता है। जब भूमि और श्रम, दोनों की तुलना में उत्पादन का स्तर निम्न हो जाता है तो उत्पादन का संबंध यह संकेत देता है कि दूसरे आगतों का उपयोग अपेक्षाकृत कम हुआ होगा। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हमें यह ज्ञात होता है कि चौथे दशक के मध्य में कुल बुआई क्षेत्र के सिर्फ 20 प्रतिशत भाग को सिंचाई की सुविधा मिल पाती थी; पोषण के नाम पर प्रति हैक्टेयर कृषि भूमि के लिए एक किलोग्राम से भी कम उर्वरक उपलब्ध हो पाता था और उन्नत किस्म के बीजों का बहुत ही सीमित मात्रा में उपयोग होता था।

12.4.1 उन्नत आगतों का प्रयोग

भारत कृषि पर आधारित एक विशाल देश था और वह एक ऐसे देश का उपनिवेश बन गया जो दुनिया के कृषि क्षेत्र के समुन्नत राष्ट्रों में से एक था। फिर भी अंग्रेज़ी शासन के दौरान ब्रिटिश भारत के किसानों ने इंग्लैंड के कृषि-ज्ञान की विशेषज्ञता का बहुत ही कम उपयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी की कृषि की स्थिति के संबंध में एक विद्वान निम्नलिखित बातों का उल्लेख करता है:

i) इस बात का किंचित मात्र भी प्रमाण नहीं मिलता कि कृषि में उत्पादन के तरीकों या तकनीक में 19वीं शताब्दी के दौरान किसी प्रकार के परिवर्तन हुए थे। हाँ, इस दिशा में इतना अवश्य हुआ था कि नील और जूट जैसी नकदी फ़सलों की शुरुआत की गई थी।

ii) मशीनों की तो बात करना ही बेकार है, 1951 में यहाँ पर 931,000 लोहे के हल और 3.178 करोड़ लकड़ी के हल थे। 1891-1941 की 50 वर्ष की अवधि में औज़ारों की किस्म में नाम-मात्र के ही परिवर्तन दिखाई पड़े।

iii) रासायनिक उर्वरक के उपयोग से क्या लाभ होते हैं, यह आमतौर से लोगों को पता ही नहीं था और उसकी प्रयुक्त मात्रा तो न के बराबर थी।

iv) 1922-23 में कुल कृषि क्षेत्र के सिर्फ 1.9 प्रतिशत भाग में उन्नत बीजों का प्रयोग होता था। 1938-39 तक यह प्रतिशत बढ़कर 11.1 प्रतिशत हो गया था।

v) 1916 में, भारत के कृषि कॉलेजों की संख्या 5 थी और उनमें 445 छात्र पढ़ते थे।

चौथे दशक के मध्य तक स्थिति में कुछ सुधार हुआ था। किन्तु यह सिर्फ सिंचाई का क्षेत्र था, जिसमें अंग्रेज़ी शासन के दौरान कुछ उल्लेखनीय प्रगति हुई थी, जबकि देश के उत्तरी-पश्चिमी भाग में कुछ बड़ी नहर परियोजनाएँ शुरू की गई।

12.4.2 सिंचाई

प्राचीन भारत में भी सिंचाई कोई अनजान तरीका नहीं था। हालाँकि, बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के लिए बड़ी मात्रा में लोकनिधि के निवेश की आवश्यकता होती है। अंग्रेज़ी शासन के दौरान 19वीं शताब्दी के अंत में यह संभव हुआ था और देश में कुछ बड़ी सिंचाई परियोजनाएँ प्रारंभ की गई थीं। तालिका 12.6 में अंग्रेज़ी शासन के अंतिम 40 वर्षों में सिंचाई के क्षेत्र में हुई संवृद्धि को दर्शाया गया है। 1930 तक सरकारी निर्माण विभाग द्वारा सिंचाई का क्षेत्र कुल सींचे जाने वाले क्षेत्र का 50 प्रतिशत से भी अधिक था। उसके बाद, सरकारी परियोजनाओं द्वारा सिंचाई का भाग आधे से भी कम रह गया। इसमें तेज़ी से जो गिरावट आई उसका एक कारण आँकड़ों की सीमाएँ भी हो सकती हैं, किन्तु यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि 20वीं शताब्दी में सरकारी सिंचाई योजनाओं का कुल सिंचाई सुविधाओं में काफी बड़ा भाग था।

तालिका 12.6

अविभाजित भारत में सिंचित क्षेत्र

समाप्त होने वाली पंचवर्षीय अवधि का औसत	शुद्ध सिंचित क्षेत्र	सरकारी निर्माण विभाग द्वारा सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत
1904-05	13.2	56.8
1909-10	15.9	54.1
1914-15	18.0	52.8
1919-20	18.8	55.9

1924-25	18.6	55.9
1929-30	18.9	58.2
1934-35	23.6	42.8
1939-40	25.4	44.5
1944-45	27.4	44.9
वार्षिक		
1945-46	28.1	44.8

स्रोत: राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिर्पोट, 1976.

तालिका 12.7

सिंचित क्षेत्र में प्रादेशिक अंतर: शुद्ध बुआई क्षेत्र में सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत (1930 से 1947 तक)

अवधि	मद्रास	संयुक्त प्रदेश	मध्य प्रदेश	बंगाल	पंजाब	बंबई और सिंध
1931-35	27.5	28.6	4.5	14.3	53.1	16.1
1936-40	27.4	31.2	5.0	15.3	60.4	18.0
1941-45	29.5	31.5	6.5	16.5	57.9	19.0
1945-46	30.3	31.2	6.6	17.0	58.9	20.3

स्रोत: ब्लन् जी. (Blyn G.) (1966) **भारत में कृषि की प्रवृत्तियाँ** (Agricultural Trends in India, 1891 to 1947) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई।

ब्रिटिश भारत में सिंचाई का विस्तार कुछ ही प्रदेशों में केंद्रित था। तालिका 12.7 से यह स्पष्ट है कि शुद्ध बुआई क्षेत्र में से सिंचाई वाला भाग पंजाब प्रांत के पास सबसे अधिक था। मद्रास और संयुक्त प्रदेश में शुद्ध बुआई क्षेत्र के लगभग एक-तिहाई भाग को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी, जबकि बंगाल, बंबई और मद्रास में सींचे जाने वाले भाग का प्रतिशत क्रमशः 16, 16 और 5 ही था।

देश के विभाजन के साथ नहरों से सींचा जाने वाला पंजाब प्रदेश का एक बहुत बड़ा भूभाग पाकिस्तान में चला गया। पाकिस्तान का 48 प्रतिशत बुआई क्षेत्र सिंचाई के अंतर्गत आता था, जबकि भारत का यह प्रतिशत सिर्फ 19.7 ही था।

सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होने पर भी खाद और अच्छे किस्म के बीजों का प्रयोग किया जा सकता है। उन्नत विधियों का उपयोग मुख्य रूप से सिंचाई वाले क्षेत्र तक ही सीमित था, या फिर इन विधियों का लाभ उन अमीर किसानों को मिल पाता था जिन्होंने अपने खुद के निवेश द्वारा सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। कृषि के राष्ट्रीय आयोग ने 1900 से 1930 की अवधि के बारे में यह लिखा है, "सिंचाई ने सिर्फ पैदावार को असफल होने से नहीं रोका बल्कि कृषि को अधिक सघन बनाने, उत्पादन का स्तर उठाने और विभिन्न प्रकार के फसलों के स्वरूपों को अपनाकर मिट्टी की उत्पादकता को बनाए रखने में भी बहुत योगदान किया है।" 1931-47 की अवधि में आयोग ने यह नोट किया, "सिंचाई के अलावा उन्नत बीज और कृषि शिक्षा ऐसे तकनीकी तत्व थे जिनसे देश की कृषि अर्थव्यवस्था में कुछ सुधार आना प्रारंभ हुआ।" हालाँकि, उर्वरक और उन्नत बीजों का प्रयोग बागान-फसलों और व्यावसायिक फसलों तक ही सीमित था।

12.4.3 कृषि अनुसंधान और प्रौद्योगिकी

शाही कृषि अनुसंधान परिषद् जिसको अब भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् कहते हैं, की स्थापना 1929 में की गई थी। 1916 से 1946 तक कृषि कालेजों की संख्या 5 बढ़कर 9 हो गई और उनके छात्रों की संख्या 445 से बढ़कर 3,110 तक पहुँच गई। निम्न स्तर के स्कूलों की संख्या एक से बढ़कर 9 हो गई और इन स्कूलों में छात्रों की संख्या 14 से बढ़कर 91 तक पहुँच गई।

व्यवसायिक फसलों की कृषि से तकनीक में परिवर्तन लाने के लिए ज़रूरी प्रोत्साहन तो मिला किन्तु यह कुछ मुट्ठी-भर बड़े किसानों तक ही सीमित रहा। उदाहरण के तौर पर,हम कह सकते हैं कि पंजाब में बड़े-बड़े कृषि स्वामियों और कृषकों ने नई तकनीक को अपना लिया। लोहे के पहिए, उन्नत हल, भूसा काटने वाली मशीन, ढेले तोड़ने वाले लोहे के यंत्र आदि का प्रयोग तीसरे दशक में शुरू हो गया; लुधियाना और जालंधर में उन्नत किस्म के औज़ार बनाने के लिए छोटे-छोटे कारखाने खोले गए। मद्रास में भी गन्ना, कपास और मूँगफली के

क्षेत्र का सवृद्धि के लिए नई तकनीक अपनाने को प्रोत्साहित किया गया। 1926-27 और 1938-39 के बीच अकाल जाँच आयोग ने यह नोट किया कि कुल कृष्य क्षेत्र में उन्नत किस्म के क्षेत्र का प्रतिशत गन्नों की कृषि में 7.2 से बढ़कर 68.2 हो गया; जूट में यह प्रतिशत 13.1 से बढ़कर 50.2 पहुँच गया और कपास में यह 22.7 से बढ़कर 27.5 हो गया है। जहाँ तक अनाज के क्षेत्र का प्रश्न है उसमें सिर्फ गेहूँ उत्पादकों ने 1938-39 में 22.4 प्रतिशत क्षेत्र में उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग किया था।

फिर भी सारे देश में छोटे किसानों की संख्या अधिक थी। तकनीकी परिवर्तन सिर्फ़ थोडे से बड़े किसानों द्वारा व्यावसायिक फसलों के लिए अपनाए गए थे। छोटे उत्पादकों के लिए पूँजी की कमी और पट्टे की असुरक्षा ऐसी रुकावटें थीं, जिनके कारण वे नई-नई तकनीकों का उपयोग करने से वंचित रहे।

बोध प्रश्न 2

1 अंग्रेज़ों द्वारा सिर्फ नकदी फसलों को ही क्यों प्रोत्साहन दिया गया था? दो वाक्यों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित में से सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए।

i) अंग्रेज़ों ने व्यावसायिक फसलों को इसलिए विकसित किया क्योंकि इनसे इंग्लैंड की मिलों को आगत (कच्चा माल) मिलता था।

ii) ब्रिटिश भारत में उत्पाद की संवृद्धि मुख्य रूप से उत्पादकता की वृद्धि का परिणाम थी।

iii) ब्रिटिश भारत में किसान संसाधनों के बंटन के बारे में पूरी तरह से तार्किक थे।

iv) शताब्दी के पूर्वार्ध में कृषि का उत्पादन लगभग स्थिर-सा बना रहा।

3 फ़सल/कृषि-उत्पादक की उत्पादकता में वृद्धि लाने वाले प्रमुख स्रोत कौन-कौन से थे? तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

12.5 मानसून पर निर्भरता

सिंचाई की उचित व्यवस्था के अभाव में तकनीकी निर्भरता के दुष्परिणाम प्रकट होते हैं जिससे साल-दर-साल फसलों के उत्पादन में उतार-चढ़ाव होता रहता है। भारतीय कृषि का यह एक प्रमुख लक्षण रहा है, इसलिए भारतीय कृषि के बारे में यह टिप्पणी की जाती है कि वह मानसून का जुआ है। भारतीय पौराणिक कथाओं में वर्षा के देवता इंद्र को बहुत शक्तिशाली देवता माना जाता है। अंग्रेज़ी प्रशासन के लिए भारत में अकाल और अकाल राहत कार्य प्रमुख मुद्दा रहा। 1901 से 1966 तक के वर्षों के आँकड़ों से यह मोटी धारणा बन गई है कि अकाल की संभावना अर्थात् दक्षिणी पश्चिमी मानसून से होने वाली सामान्य वर्षा की 25 प्रतिशत या उससे कम वर्षा की संभावना असम को छोड़कर देश के अन्य भागों में हर पाँचवें साल बनी रहती है।

12.5.1 घटता-बढ़ता उत्पादन

फ़सलों के वार्षिक उत्पाद के आँकड़े भी अल्पकाल में उपज में बहुत उतार-चढ़ाव होने की पुष्टि करते हैं। 1900 से 1947 तक के अनाज-उत्पाद के आँकड़ों का अवलोकन करने से यह

पता चलता है कि हर पाँचवें साल अनाज का उत्पादन पिछले साल की तुलना में पाँच प्रतिशत से भी अधिक घट जाता है। प्रमुख अकालों के वर्षों में तो उत्पादन का स्तर 10 प्रतिशत से भी ज्यादा नीचे चला गया था। तालिका 12.8 में कुछ प्रमुख वस्तुओं के उत्पादन में पिछले वर्ष की तुलना में हुए परिवर्तनों को प्रतिशत के रूप में दर्शाया गया है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिन फ़सलों के लिए सिंचाई की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं उनमें उतार-चढ़ाव अधिक नहीं हैं। अनाज के संबंध में एक लंबी समय-श्रेणी उपलब्ध है जिसे तालिका 12.9 में दिखाया गया है। इसके साथ ही देश के उन प्रदेशों में वर्षा की सूचना भी दर्शायी गई है जहाँ हर साल अकाल या बाढ़ आती रहती है। लगभग हर साल देश का कोई न कोई क्षेत्र अकाल या बाढ़ का सामना करता रहा है।

12.5.2 प्रभाव

मानसून की अनिश्चितता और उसके वास्तविक उतार-चढ़ाव का प्रभाव फ़सलों के चुनाव और कृषि की विधियों पर पड़ा है। संस्थागत ढाँचा और प्रकृति की चंचलता इन दोनों का मिला-जुला प्रभाव खासकर छोटे किसानों पर बहुत कठोर रहा है। फ़सल खराब हो जाने पर छोटे किसान खाद्य और आय दोनों से वंचित हो जाते थे। ऐसी स्थिति में जीविका और लगान की समस्या का समाधान करने के लिए उनके सामने ऋण का ही एक रास्ता रह जाता था। ब्याज की अत्यधिक ऊँची दर और समय-समय पर अकालों ने यह सुनिश्चित कर दिया था कि किसान स्थानीय ऋणदाताओं के हमेशा कर्ज़दार बने रहेंगे। किसान आदिम काल से चले आ रहे मुट्ठी भर आगतों से मुख्य रूप से खाद्य फसलें ही उगाते थे, जिससे यह सुनिश्चित रहता था कि परिवार के सदस्यों को साधारण भोजन तो मिलता रहेगा, भले ही इसमें नकद राशि की हानि की अधिक संभावना न हो। व्यावसायिक भूमि वाले बड़े-बड़े भूस्वामी, जो साथ ही व्यापारी भी थे और ऋणदाता भी, जिन्हें प्रथम भारतीय साख सर्वेक्षण रिपोर्ट में त्रिमूर्ति की संज्ञा दी गई थी, उन्होंने दुर्लभता की स्थिति का लाभ उठाया। किसानों की इस विपत्ति का लाभ इन्होंने बंधक भूमि या अन्य भूमि को खरीदने के साथ-साथ, ऋणी किसानों को बंधुआ मज़दूर बनाकर भी उठाया।

तालिका 12.8

कुछ चुनी हुई फसलों का, पिछले वर्ष की तुलना में, उत्पादन के परिवर्तन का प्रतिशत

वर्ष	चावल	गेहूँ	गन्ना	कपास	तिलहन	अनाज	गैर-अनाज
1930-31	2.51	(—) 11.06	17.32	(—) 0.22	16.09	1.25	(—) 7.25
-32	5.47	(—) 3.13	24.26	(—) 21.82	(—) 4.25	1.51	1.87
-33	— 8.13	4.95	17.82	11.05	10.52	(—) 4.38	10.92
-34	— 1.85	(—) 1.00	5.17	11.35	(—) 3.67	(—) 1.95	2.53
-35	— 0.99	4.03	5.09	(—) 4.81	(—) 27.20	(—) 0.20	— 1.33
-36	— 10.62	(—) 3.08	13.74	23.34	17.31	(—) 5.87	15.02
-37	21.07	3.72	9.56	4.78	7.64	12.68	3.68
-38	— 4.07	9.72	(—) 16.34	(—) 7.08	7.20	(—) 2.34	— 8.48
-39	— 7.81	(—) 7.34	(—) 37.31	(—) 11.92	(—) 15.00	(—) 7.30	— 11.83
-40	5.34	8.44	37.78	(—) 2.84	1.73	6.53	14.91
-41	— 3.28	(—) 6.91	24.57	23.89	3.62	(—) 6.52	1.66
-42	13.29	0.08	(—) 24.15	2.36	(—) 3.90	4.47	— 1.80
-43	— 1.52	9.72	15.35	(—) 24.47	7.90	5.28	— 6.63
-44	21.76	(—) 10.96	22.20	(—) 2.57	(—) 11.58	5.86	9.16
-45	— 10.96	7.16	(—) 6.28	(—) 40.15	(—) 13.66	(—) 5.54	— 15.92

स्रोत: (भारतीय कृषि अर्थशास्त्र का अध्ययन, जे.पी. भट्टाचार्य द्वारा संपादित, कृषि अर्थशास्त्र की भारतीय समिति, बंबई, 1958). (Studies in Indian Agricultural Economics: edited by J.P. Bhattacharjee The Indian Society of Agricultural Economics, Bombay, 1958.)

तालिका 12.9

अनाज के उत्पादन में प्रतिशत परिवर्तन, अकाल और बाढ़ (1901-02 से 1944-45)

वर्ष	पिछले वर्ष की तुलना में उत्पादन में प्रतिशत परिवर्तन	वर्षा-प्रदेशों की संख्या, जो पीड़ित हैं अकाल (सूखा) से	बाढ़ से
(1)	(2)	(3)	(4)
1901-02	(—) 7.64	2	0

1902-03	16.86	2	0
1903-04	(—) 1.59	2	3
1904-05	(—) 2.07	3	0
1905-06	(—) 4.87	6	0
1906-07	2.03	0	0
1907-08	12.87	3	0
1908-09	3.04	1	4
1909-10	31.19	0	2
1910-11	0.88	0	2
1911-12	(—) 4.62	5	0
1912-13	11.35	1	0
1913-14	(—) 17.24	2	0
1914-15	(—) 2.36	0	5
1915-16	13.45	7	1
1916-17	6.46	5	0
1917-18	(—) 1.61	0	8
1918-19	(—) 30.06	18	2
1919-20	36.89	0	4
1920-21	(—) 19.89	9	0
1921-22	24.11	0	0
1922-23	0.82	1	3
1923-24	(—) 15.63	1	1
1924-25	4.99	1	3
1925-26	(—) 2.74	0	1
1926-27	(—) 3.48	0	2
1927-28	(—) 7.02	0	1
1928-29	21.09	2	0
1929-30	0.17	0	0
1930-31	0.78	0	0
1931-32	(—) 0.17	0	0
1932-33	(—) 3.35	1	0
1933-34	(—) 3.65	0	5
1934-35	0.00	1	2
1935-36	(—) 7.20	0	1
1936-37	14.33	0	4
1937-38	(—) 2.61	1	0
1938-39	(—) 10.63	0	4
1939-40	8.10	2	0
1940-41	(—) 8.60	0	0
1941-42	12.25	4	0
1942-43	(—) 3.97	0	5
1943-44	16.06	0	0
1944-45	(—) 5.66	0	5
1945-46	—	0	1
1946-47	—	0	1

स्रोत: 1) भारतीय कृषि अर्थशास्त्र का अध्ययन, जे. पी. भट्टाचार्य द्वारा संपादित
(Studies in Indian Agricultural Economics, edited by J.P. Bhattacharji)
2) 1951 की भारत की जनगणना, इंडिया

बोध प्रश्न 3

1 "भारतीय कृषि मानसून का जुआ है"। इस कथन की 50 शब्दों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 फ़सलों के विस्तृत उतार-चढ़ाव के क्या आर्थिक परिणाम होते हैं? तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 यह बताइए कि निम्नलिखित में से कौन-सा सही (स) है और कौन-सा गलत (ग):

i) ब्रिटिश भारत में मानसून के कारण अकाल अपरिहार्य थे।

ii) फ़सलों के उतार-चढ़ाव से किसानों के लिए विपत्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ क्योंकि वे इतने समझदार नहीं थे कि बुरे समय के लिए कुछ चीजें आरक्षित करके रख लेते।

iii) फ़सलों के उतार-चढ़ाव से कीमतों में भी उतार-चढ़ाव आता था, जिससे कुछ किसानों को लाभ होता था।

iv) फ़सलों के उतार-चढ़ाव से किसानों और असामियों को मज़बूरी में उत्पादन बेचना पड़ता था।

12.6 संस्थागत पक्ष

आज़ादी पाने से पहले भारत के बड़े भाग पर लगभग 150 वर्षों तक अंग्रेज़ों का शासन रहा था। हमने पहले ही खंड 1 की दूसरी इकाई में आपको संस्थागत ढाँचे के बारे में बताया था, जो अंग्रेज़ी शासन के दौरान कृषि व्यवस्था के अंतर्गत विकसित हुआ था। यह देखा गया था कि भारत औपनिवेशिक शासन के दौरान ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की कड़ी के रूप में काम करता था।

12.6.1 पट्टेदारी या लूटमार

हम पहले ही खंड 1 में पढ़ चुके हैं कि भारतीय कृषि में अंग्रेज़ों की रुचि पहले सिर्फ भूमि राजस्व तक ही सीमित थी। हम यह जानते ही हैं कि बंगाल की लूटमार ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भूमि राजस्व वसूल करने से ही शुरू हुई थी। अठारहवीं शताब्दी के अंत में भारत के पूर्वी भाग के अकाल कंपनी द्वारा किसानों के शोषण से सीधे जुड़े थे। यह इस बात की शुरुआत थी कि अंग्रेज़ शासकों का यहाँ की कृषि से संबंध स्थापित हुआ था, जो आगे चलकर औपनिवेशिक कृषि नीति का महत्वपूर्ण पक्ष बन गया।

हम यह भी जानते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल शासकों से विभिन्न प्रकार की भूमि की पट्टेदारी विरासत के रूप में मिली थी। पहले नंबर पर एक बहुत बड़ा क्षेत्र राज्य द्वारा **खास** भूमि के नाम से अपने पास ही रखा गया था। इसके बाद जागीर और इनाम आदि आते थे जो सामंती ज़मींदारों को उनके द्वारा राज्य को दी गई वित्तीय और सैनिक सहायता के बदले में दिए जाते थे। तीसरे नंबर में राजस्व देने वाले किसान या लगान समाहर्ता आते थे, जो आमतौर से ज़मींदार कहलाते थे, जिन्हें सालाना कुछ नियत राशि राज्य को देनी पड़ती थी। चौथे नंबर पर वह भूमि आती थी जो उन किसानों द्वारा जोती जाती थी जो भूमि का राजस्व किसी मध्यस्थ के हस्तक्षेप के बिना सीधे सरकार को ही अदा करते थे। हर स्थिति में राज्य की स्थिति सर्वश्रेष्ठ भू-स्वामी की थी। अंग्रेज़ों ने कृषि विकास की परवाह किए बिना भूमि की प्रचलित प्रथाओं में सुधार या परिवर्तन लाना प्रारंभ किया ताकि वे अधिक से अधिक राजस्व वसूल कर सकें। भूमि-राजस्व वसूल करने का ढंग, ऐसी प्रथा की शुरुआत जो कृषि की कीमत या लेनदार के हित की रक्षा करती थी, ऐसी व्यापार नीति को अपनाना जिससे औद्योगिक संवृद्धि रुक गई और ग्रामीण उद्योग लगभग नष्ट हो गए, भूमि पर जनसंख्या के दबाव की वृद्धि, ये सब ऐसे तत्व थे जिनका सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि कृषि का विकास रुक-सा गया।

हम जानते हैं कि अंग्रेज़ों के शासन काल में यहाँ तीन प्रकार की भूमि-पट्टेदारी की प्रथाएँ प्रचलित थीं: (क) ज़मींदारी प्रथा जिसमें संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार और उड़ीसा का एक प्रमुख भाग शामिल था; (ख) रैयतवारी प्रथा जो बंबई प्रांत के बड़े भाग (महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक) एवं मद्रास, असम और मध्य प्रदेश में प्रचलित थीं; और (ग) महलवारी प्रथा जो संयुक्त प्रदेश और पंजाब के कुछ भागों तक सीमित थी। 1947-48 में ब्रिटिश भारत में ग़ैर सरकारी भूमि का 57% भाग ज़मींदारी प्रथा के अंतर्गत 38 प्रतिशत

भाग रैयतवाड़ी प्रथा के अंतर्गत और शेष 5 प्रतिशत भाग महलवारी प्रथा के अंतर्गत था। यहाँ पर हम इस पर मोटे तौर पर विचार करेंगे क्योंकि इस विषय पर पहले ही खंड 1 की दूसरी इकाई में चर्चा हो चुकी है।

12.6.2 ज़मींदारी प्रथा

बंगाल प्रसीडेंसी में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के प्रारंभिक वर्षों में कंपनी की तुरंत और अत्यावश्यक ज़रूरत थी कि कंपनी के वित्तीय दायित्व को निभाने के लिए एक नियत और स्थायी आधार पर भूमि-राजस्व से अधिक से अधिक संभव राशि संग्रहित की जा सके अर्थात् कंपनी दीवानी दायित्व के रूप में सालाना एक बड़ी राशि ब्रिटेन के राजा को दे सके, सिविल न्याय के लिए व्यय की व्यवस्था करने तथा सेना रखने का व्यय वहन कर सके और इसी तरह के दूसरे खर्चे भी पूरे कर सके।

स्थायी बंदोबस्त जो 18वीं शताब्दी के अंत में लागू हुआ, उसके द्वारा सांमती ज़मींदारों के वे राजनीतिक और सैनिक अधिकार समाप्त कर दिए गए जिनका उपयोग वे मुगल काल में बंगाल के शासक होने के नाते कर रहे थे। किन्तु, बंदोबस्त ने भूस्वामियों की, जो अब ज़मींदार बन गए थे, आर्थिक स्थिति में स्थायित्व ला दिया।

इस प्रथा से अर्थव्यवस्था में मौद्रीकरण बढ़ाने में सहायता मिली क्योंकि भूमि का लगान मुद्रा के रूप में नियत किया जाता था। इससे गृहस्थ किसानों को लगान अदा करने के लिए अपने उत्पादन का एक बहुत बड़ा भाग बाज़ार में बेचना पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप किसान और ज़मींदार के बीच कई मध्यस्थ भी आ गए। महाजनों का प्रभाव बढ़ने लगा। अन्ततः ज़मींदारों की खेती करने और कृषि में निवेश करने की कम रुचि थी इसलिए वे लगान वसूल करते रहना चाहते थे और छोटे-मोटे सामंतवादी बने रहना चाहते थे। इससे कृषि क्षेत्र में परेशानी बढ़ी और खजाने में राजस्व के अंतर्प्रवाह में भी इसका प्रभाव पड़ा।

ऊपर बताए गए परिणामों के कारण स्थायी बंदोबस्त अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। 1882 में संयुक्त प्रदेश और देश के अन्य भागों में अस्थायी बंदोबस्त लागू किया गया। ज़मींदारों या दूसरे प्रकार के किसानों जैसे-रैयत और महल के साथ अस्थायी बंदोबस्त का एक निश्चित अवधि के बाद परिवर्तन किया जाता था।

12.6.3 रैयतवारी प्रथा

इस प्रथा की शुरुआत 19वीं शताब्दी में प्रथम चतुर्थांश में हुई थी। इस प्रथा के अंतर्गत प्रत्येक भू-धारक किसान या रैयत के साथ अलग-अलग बंदोबस्त किया गया था, जो उस भूमि का स्वामी कहलाता था तथा उसे उस भूमि को किराए पर देने, बंधक रखने अथवा उपहार या बिक्री द्वारा स्वामित्व बदलने का अधिकार होता था। जब रैयत सरकार को नियत राशि अदा करता रहता था, तब तक वह बेदखली से सुरक्षित रहता था। लगान की राशि उत्पाद, भूमि की किस्म और उसकी मात्रा के आधार पर नियत की जाती थी।

हालाँकि, इस प्रथा के अंतर्गत हर एक रैयत के साथ बंदोबस्त होता था, किन्तु छोटे रैयत का अकाल या मंदी के सालों में नकद राशि जुटाना बहुत कठिन होता था। अतः बड़े भूस्वामियों का प्रभाव बढ़ता गया। वे उस भूमि को खरीद लेते थे जिसका लगान देने में रैयत असमर्थ होती थी। बड़े भू-धारक साझे में फ़सलें उगाने और भूमि को अधिक किराए पर उठाने तथा ऊँची ब्याज दरों आदि की प्रथाएँ भी अपनाते थे। यह प्रथा मद्रास, बंबई और मध्य प्रदेश में अपनाई गई थीं।

12.6.4 महलवारी प्रथा

महलवारी प्रथा पंजाब, अवध और संयुक्त प्रदेश के कुछ भागों में अपनाई गई थी। रैयतवारी प्रथा के विपरीत, इसमें राजस्व का निर्धारण गाँव के स्तर पर किया गया था। गाँव के किसान अपना-अपना हिस्सा अदा करने के लिए उत्तरदायी होते थे। अगर कोई एक किसान अपना भाग अदा नहीं कर पाता था तो गाँव के दूसरे किसानों को उसके भाग का भुगतान करना पड़ता था और बकायादार किसान की भूमि पर उनका अधिकार हो जाता था। इस प्रकार रैयतवारी प्रथा की तरह बड़े-बड़े भू-धारक छोटे-छोटे किसानों की भूमि पर कब्ज़ा करने लगे।

12.6.5 आर्थिक और सामाजिक परिणाम

भूमि पट्टेदारी की जिन प्रथाओं के बारे में ऊपर बताया गया है उनके दूरगामी परिणाम सिर्फ भूमि-संबंधों तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उनका प्रभाव सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों पर

भी पड़ा। अर्थव्यवस्था को विदेशी व्यापार के लिए भी खोल दिया गया। गाँव की अर्थव्यवस्था जो पहले आत्मनिर्भर थी वह अब बाज़ार पर निर्भर हो गई। मौद्रीकरण और व्यावसायीकरण बढ़ गया। भू-पट्टेदारी प्रथाएँ कृषि पर पूँजी के निवेश को प्रोत्साहित नहीं करती थीं।

जोतों के बंटवारे की प्रकृति की व्याख्या करने के लिए तालिका 12.10 में विभिन्न प्रकार की जोतों के परिवारों में वितरण के आँकड़े प्रतिशत के रूप में दर्शाए गए हैं। ये आँकड़े ५० ये दशक के मध्य के हैं। उड़ीसा, मद्रास और उत्तर प्रदेश में ऐसे छोटे किसानों की संख्या जिनके पास दो एकड़ से भी कम भूमि थी, कुल गृहस्थ किसानों की संख्या का 50 प्रतिशत या उससे अधिक थी। मध्य प्रदेश, असम, गुजरात, पश्चिम बंगाल और पंजाब में उनका अनुपात 25 और 50 प्रतिशत के बीच था।

12.6.6 ग्रामीण ऋणग्रस्तता

मानसून की असफलता के परिणामस्वरूप अकाल पड़े और समय के साथ-साथ भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ने एवं निवेश की कमी के कारण स्थिति और भी गंभीर होती गई। व्यावसायीकरण एवं बढ़े हुए मौद्रीकरण के फलस्वरूप कृषि-क्षेत्र बाज़ार प्रवृत्तियों से प्रभावित होने लगे। तीसरे दशक की भीषण मंदी का प्रभाव भारत पर अंग्रेज़ी शासन से जुड़ा रहने के कारण पड़ा। कीमतों के गिरने से राजस्व की हानि हुई और इससे किसानों के लिए राजस्व तथा लगान अदा करना बहुत कठिन हो गया। इससे महाजनों का महत्व बढ़ गया और ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या उठी। वैसे ऋण का विस्तार स्वतः कोई चिंता का विषय नहीं है। किन्तु ब्याज की ऊँची दरों के कारण यह सुनिश्चित हो जाता था कि किसान हमेशा ऋणदाता या भू-स्वामी का कर्ज़दार बना रहेगा और जिसकी वजह से भूमि पर किसी प्रकार का निवेश करने में असमर्थ रहेगा।

1951 की ग्रामीण-साख-सर्वेक्षण रिर्पोट से ग्रामीण क्षेत्र में ऋण के प्रयोग के बारे में विस्तृत सूचना मिलती है। इससे पता चलता है कि छोटा किसान जो एक हैक्टेयर भूमि से भी कम पर कृषि करता है वह बड़े किसानों की तुलना में पारिवारिक व्यय के लिए अधिक ऋण लेता है। तालिका 12.11 में इससे संबंधित आँकड़े दिए गए हैं।

चूँकि महाजन, जो भू-स्वामी भी होते थे, सामान्यता दूरस्थ भू-स्वामी होते थे। अतः फ़सल-साझेदारी या दूसरे प्रकार की पट्टेदारी प्रथा जो स्वयं भूमि जोतने वाले की तुलना में कम कुशल होती थी, का उदय हुआ।

12.6.7 सुधार की आवश्यकता

अंग्रेज़ी शासन के दौरान कृषि का सामाजिक ढाँचा इस ढंग से विकसित हुआ कि समाज में सामंती और अर्ध-सामंती सम्पत्ति संबंध स्थापित हुए, इससे समाज में असमानता बढ़ गई और बहुसंख्यक किसानों का अनेक प्रकार से शोषण होने लगा। उस समय भूमि के स्वामित्व पर कुछ लोगों का अधिकार और भूमि स्वामित्व का यह केंद्रीकरण सिर्फ ज़मींदारी वाले क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था अपितु यह बात रैयतवारी क्षेत्रों में भी देखी जाती थी। इन सबके कारण भूमि-सुधार की अत्यंत आवश्यकता थी।

तालिका 12.10

विभिन्न आकार की जोतों वाले परिवारों का प्रतिशत

प्रांत	प्रति जोत एकड़			
	2 से कम	2 – 5	5 – 10	10 और अधिक
बंबई-गुजरात	27.5	25.7	22.3	24.5
असम	38.9	27.4	21.1	12.6
डेक्कन (दक्षिणी पठार)	19.8	16.7	18.8	44.7
पश्चिम बंगाल	34.7	28.7	20.0	16.6
मध्य प्रदेश (सी.पी.)	49.0	—	21.0	30.0
उड़ीसा	50.0	27.0	13.0	10.0
मद्रास	51.0	31.0	7.0	11.0
उत्तर प्रदेश	55.8	25.4	12.8	6.0
पंजाब	37.9	17.9	20.5	23.7

स्रोत: कृषि सुधार समिति की रिर्पोट, 1949 से उद्धृत सेन, एस. (1979)

तालिका 12.11

किसानों के ऋण का प्रयोजन (1951)

	कुल ऋण में प्रयोजन विशेष के लिए ऋण का प्रतिशत			
	बहुत बड़े किसान (Big Cultivators)	बड़े किसान (Large Cultivators)	मध्यम किसान	छोटे किसान
फार्म पर पूँजी व्यय	35.5	34.7	30.5	23.2
फार्म पर चालू व्यय	13.3	12.1	10.1	6.8
पारिवारिक व्यय	37.2	41.2	49.5	59.8
गैर-फार्म व्यवसाय व्यय	6.4	4.9	3.3	6.0
अन्य व्यय	7.2	6.6	6.0	3.9
एक से अधिक प्रयोजन	0.4	0.5	0.6	0.3

स्रोतः "अखिल भारतीय ग्रामीण-साख सर्वेक्षण रिपोर्ट," 1951 से उद्धृत. सेन, एस. (1978).

1945 में बंगाल में 14.3 प्रतिशत ऐसे परिवार थे जिनके पास 5 एकड़ से अधिक भूमि थी और प्रांत की कुल भूमि का 62.4 प्रतिशत भाग उनके पास था; जबकि 85.7 प्रतिशत परिवार ऐसे थे जिनके पास 5 एकड़ से कम भूमि थी और उनके पास प्रांत की कुल भूमि का सिर्फ 37.6 प्रतिशत भाग ही था। उत्तर प्रदेश में ज़मींदारी उन्मूलन से ठीक पहले वहाँ की कुल ज़मीन का एक-तिहाई से भी बड़ा भाग 20 एकड़ से बड़ी जोतों वाला था जो सिर्फ 12 प्रतिशत कृषक परिवारों के पास था। वहाँ की लगभग 50 प्रतिशत भूमि की जुताई उन ग़रीब और मध्य श्रेणी के किसानों द्वारा की जाती थी जिनके पास 5 एकड़ से भी कम आकार वाले छोटे-छोटे भूमि के टुकड़े थे। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार भूमि का बिखराव उस सीमा तक नहीं पहुँचा था जहाँ तक बंगाल में पहुँच चुका था। चूँकि भूमि का सेंकेंद्रण कम प्रतिशत लोगों के हाथ आ जाने के कारण भूमिहीन किसानों का एक नया वर्ग बन गया, जो मज़दूरी करके अपनी जीविका चलाता था। इस वर्ग के अधिकतर लोग समाज की निम्न जातियों के थे इसलिए ऊँची जाति वाले लोगों द्वारा उनका शोषण होने लगा; यह एक ऐसा शोषण था जिसे समाज की मौन स्वीकृति मिल रही थी। ग्रामीण क्षेत्र के बढ़ते हुए तनाव को कम करने के लिए कृषि की स्थिति में तुरंत सुधार करने की ज़रूरत थी। स्वतंत्र भारत के नीति निर्धारक इस दिशा में प्रयत्न करने लगे जिससे इस समस्या का आंशिक उपचार हो सका। यह अनुभव किया गया कि जब तक प्रमुख संस्थागत सुधार नहीं किए जाते तब तक तकनीक और उत्पादकता में उन्नति नहीं हो सकती, हालाँकि जल और मृदा (मिट्टी) के प्रबंध, ग्रामीण साख और उर्वरक में बडे पैमाने के निवेश को भी आवश्यक समझा गया।

बोध प्रश्न 4

1 ब्रिटिश भारत में भूमि के पट्टे की कौन-कौन सी प्रमुख प्रथाएँ विकसित हुई थीं? 50 शब्दों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 औपनिवेशिक भारत में चलाई गई भूमि-पट्टे की प्रथाओं के सामाजिक-आर्थिक परिणाम क्या हुए? तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित में से सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए:

i) ज़मींदारी प्रथा दक्षिण भारत में प्रचलित थी।

ii) महलवारी प्रथा में गाँव के किसान अपना हिस्सा अलग-अलग अदा करने के लिए उत्तरदायी थे।

iii) रैयतवारी प्रथा में, सरकार और रैयत के बीच मध्यस्थ होते थे।

4 इस बात की दो वाक्यों में व्याख्या कीजिए कि ऋणदाता भू-स्वामी दूरस्थ भू-स्वामी की तरह काम किस प्रकार करते थे?

.....

.....

.....

.....

12.7 सारांश

आज़ादी के समय भारत की कृषि पिछड़ेपन की स्थिति में थी, प्रति हैक्टेयर और प्रति श्रमिक उत्पादकता बहुत ही न्यून थी। कृषि में जिन तकनीकों का प्रयोग किया जाता था, वे सदियों पुरानी और परंपरावादी थीं। भूमि का वितरण बहुत ही विषम था और बड़े किसानों के पक्ष में था। यह सब संस्थागत ढाँचे का परिणाम था जो लगभग दो सौ वर्ष के विदेशी शासन ने थोपा था। पूँजी के निष्कासन ने अर्थव्यवस्था को आवश्यक निवेश से भी वंचित कर दिया था।

कृषि उत्पादन में ठहराव-सा आ गया था। यह आज़ादी से पहले के 17 वर्षों में सिर्फ 0.03 प्रतिशत बढ़ा था। प्रति व्यक्ति अनाज की उत्पादकता कम होती गई। उत्पादन में जो भी वृद्धि हुई, वह सिर्फ कृषि भूमि के क्षेत्र में विस्तार का परिणाम थी और इस प्रकार कृषि क्षेत्र में और अधिक वृद्धि करने की गुंजाइश भी कम रह गई थी। ऐसी स्थिति में उत्पादन में किसी प्रकार की वृद्धि उत्पादकता अर्थात् प्रति इकाई भूमि की उपज में वृद्धि करके ही संभव हो सकती थी।

ब्रिटिश भारत के किसानों ने 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड के कृषि संबंधी ज्ञान या विशेषज्ञता का बहुत ही कम लाभ उठाया। यह तो वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध का समय था, जबकि इस पहलू की ओर कुछ ध्यान दिया गया। लेकिन यह तो प्रकृति और क्षेत्र, दोनों ही दृष्टियों से पूरी तरह से सीमित था। तकनीकी परिवर्तन सिर्फ उन मुट्ठी भर किसानों द्वारा अपनाए गए थे जो व्यावसायिक फसलें उगाते थे। बहुसंख्यक छोटे किसानों के सामने पूँजी की समस्या बनी रही। वास्तव में सिंचाई की कोई खास सुविधा उपलब्ध नहीं थी और किसान वर्षा के देवता पर ही आश्रित रहते थे।

भारत को आज़ादी के समय विरासत के रूप में कृषि की परजीवी और आदिम कालीन प्रणाली मिली थी। देश में भूमि के पट्टे की तीन प्रथाएँ प्रचलित थीं, जो ज़मींदारी, महलवारी और रैयतवारी कहलाती थीं। भू-पट्टे की प्रथा कानूनी प्रथा से मिलकर सिर्फ भू-स्वामियों और ऋणदाताओं के ही हित का ध्यान करती थी। ज़मींदार लोग किसानों पर दबाव डालकर अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे। असहाय किसान मजबूर होकर ग्रामीण ऋणदाताओं के चंगुल में फँस जाते थे। ब्याज की बहुत अधिक ऊँची दर और उसे अदा करने की असमर्थता से यह सुनिश्चित रहता था कि उसका ऋण उसके बेटों और पोतों के पास उत्तराधिकार में पहुँच जाएगा।

भारत की आज़ादी के समय योजना निर्माताओं का प्रमुख कार्य यह था कि भूमि को जोतने वालों के पक्ष में भूमि संबंधों को पुनर्गठित किया जाए और उनमें भूमि जोतने वालों के पक्ष में लाया जाए; साथ ही उसकी आधारिक संरचना का विस्तार किया जाए, उत्पादकता बढ़ाने के लिए नई तकनीकों को अपनाया जाए और आम तौर से कृषि का आधुनिकीकरण किया जाए।

12.8 शब्दावली

नकदी फसलें: कपास, गन्ना, तिलहन, जूट आदि जैसी फसलें जिनका उपयोग उद्योगों द्वारा

कच्चे माल या मध्यवर्ती माल के रूप में किया जाता है।

आर्थिक तर्कसंगतता: आर्थिक आकर्षण से लागत को कम करने और लाभ को बढ़ाने हेतु आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन; उदाहरण के रूप में,हम कह सकते हैं कि यदि किसान को कीमत का संकेत मिल जाए,तो वह एक फसल के स्थान पर दूसरी फसल उगा सकता है क्योंकि उसे लागत की तुलना में अधिक कीमत मिलेगी और इस प्रकार लाभ होगा।

खाद्य फसलें: इनमें अनाज, दालें, सब्जियाँ और फल शामिल होते हैं; अनाज में चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि आते हैं।

भूमि-पट्टा: एक ऐसी प्रथा जिसके अंतर्गत भूमि का स्वामी अपने असामियों को इस शर्त पर खेती करने का अधिकार देता था कि वे भूमि के स्वामी को लगान अदा करते रहेंगे, जो संविदागत प्रकृति का होता था।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता: ग्रामीण गृहस्थों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारी ऋण लेने पड़ते थे। ऋणदाताओं के अनाचारों और ऋण अदा करने में किसानों की असमर्थता के कारण ये ऋण पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते थे और कंगाली को बढ़ाते रहते थे।

तकनीकी परिवर्तन: उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन के परिणामस्वरूप फार्म का प्रति हैक्टेयर उत्पादन बढ़ जाता है। इसमें उन्नत बीज, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक दवाइयाँ और फार्म के आधुनिक औज़ार आते हैं।

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, ए. एन., *भारतीय अर्थव्यवस्था: विकास एवं आयोजन, 1988,* वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, अध्याय 22 एवं 27.

मिश्र, एस. के. एवं वी. के. पुरी: *भारतीय अर्थव्यवस्था, 1989,* हिमालया पब्लिशिंग हाऊस, मुंबई, अध्याय 20, 21 एवं 23.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण: *भारतीय अर्थशास्त्र, 1990,*लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, अध्याय 10, 16, 20, 23 एवं 24.

रुद्रदत्त एवं के. पी. एम. सुंदरम्: *भारतीय अर्थव्यवस्था, 1990,* एस. चाँद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय 24, 25 एवं 32.

Bhatia, B.M. 1967. *Famines in India*, Second Edition, Asia Publishing House, Bombay.

Bhattacharya, J.P. (Ed.) 1958. *Studies in Indian Agricultural Economics,* The Indian Society of Agricultural Economics, Bombay.

Blyn, George, *The Agricultural Crops in India, 1893-94 to 1945-46; A Statistical Study.*

Ghosh, Ambica, 1988. *Emerging Capitalism in Indian Agriculture,* PPH; New Delhi.

National Commission on Agriculture, Ministry of Agriculture and Irrigation, Government of India, 1976. *Report, Part I — Review and Progress.* New Delhi.

Registrar General, Census. *Census of India, 1951, Vol. I, India, Part I. A Report;* Census Bureau, Calcutta.

Sen, Sunil, 1979. *Agrarian Relations in India (1793-47),* People's Publishing House, New Delhi.

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 भाग 12.1 पढ़िए।

2 i) अपने उपभोग ii) व्यावसायिक फसलें

3 i) स ii) स iii) स

बोध प्रश्न 2

1 भाग 12.3.1 पढ़िए।

2 i) स ii) ग iii) स iv) स

बोध प्रश्न 3

1 भाग 12.5 पढ़िए।

2 भाग 12.5.1 पढ़िए।

3 i) ग ii) स iii) स iv) स

बोध प्रश्न 4

1 भाग 12.6 पढ़िए।

2 भाग 12.6.2 पढ़िए।

3 i) ग ii) स iii) ग

4 भाग 12.6.4 पढ़िए।

इकाई 13 स्वतंत्रता के बाद कृषि-विकास

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 कृषि का ढाँचा
13.3 भूमि-सुधार
  13.3.1 मध्यस्थों की समाप्ति
  13.3.2 काश्तकारी प्रथा में सुधार
  13.3.3 लगान का नियम
  13.3.4 जोतों की अधिकतम सीमा
  13.3.5 चकबन्दी
13.4 टैक्नोलॉजी परिवर्तन और संवृद्धि का स्वरूप
  13.4.1 दो चरण
  13.4.2 टैक्नोलॉजी पैकेज
  13.4.3 अधिक उपज देने वाले बीज
  13.4.4 सिंचाई
  13.4.5 उर्वरक और कीटनाशक औषधियाँ
  13.4.6 ऋण
13.5 कृषि मूल्य नीति
  13.5.1 उत्पादक मूल्य
  13.5.2 सार्वजनिक वितरण व्यवस्था और उपभोक्ता मूल्य
13.6 टैक्नोलॉजी परिवर्तन का प्रभाव
  13.6.1 दालें और तिलहन
  13.6.2 अपर्याप्त सिंचाई व्यवस्था
  13.6.3 कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित
  13.6.4 व्यक्तियों के बीच असमता
  13.6.5 कृषि का यंत्रीकरण
  13.6.6 परिवहन और भंडारण व्यवस्था
13.7 अनाज उत्पादन में अस्थिरता
13.8 कृषि-मज़दूर
13.9 सारांश
13.10 शब्दावली
13.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप यह बता सकेंगे कि स्वतंत्रता से पूर्व भारत की कृषि में ठहराव आ गया था लेकिन बाद में वह कैसे एक गतिशील और आत्मनिर्भर कृषि बन गई और आप:

- उन तत्वों की पहचान कर सकेंगे जिनके कारण यह परिवर्तन हुआ;
- कृषि के विकास में प्रत्येक तत्व की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे;
- यह पता लगा सकेंगे कि स्वतंत्रता के बाद कृषि का जो विकास हुआ है वह राष्ट्र के लक्ष्यों के अनुरूप हुआ है अथवा नहीं, अर्थात् विकास के साथ-साथ न्याय भी संभव हुआ है अथवा नहीं;
- कृषि के विकास और उसके सामाजिक और आर्थिक प्रभाव के लिए वैकल्पिक नीतियों के बारे में सोच पायेंगे।

13.1 प्रस्तावना

1987-88 का वर्ष भारत के इतिहास में इस शताब्दी के उन वर्षों में से था जब सबसे भीषण सूखा पड़ा था। पूर्वी क्षेत्र को छोड़कर देश के लगभग सभी दूसरे क्षेत्रों में वर्षा नहीं हुई। फिर भी इस वर्ष में अन्न का उत्पादन हाल के कुछ सूखे वर्षों की तुलना में अधिक हुआ। अनाज की कीमतों में कोई असाधारण वृद्धि नहीं हुई, अनाज की प्रति व्यक्ति उपलब्धता समुचित रही और कोई भी व्यक्ति भुखमरी का शिकार नहीं हुआ। यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि स्वतंत्रता के बाद अनाज के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर जनसंख्या के वृद्धि दर की तुलना में अधिक थी। दूसरा कारण यह था कि देश में अनाज की बिक्री और वितरण की व्यवस्था विकसित थी। अनाज के उत्पादन की अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि दर के कारण हमारे पास आड़े समय के लिए इकट्ठा किए गए अनाज का भंडार था। बिक्री और वितरण की विकसित व्यवस्थाओं के कारण सरकार लोगों तक अनाज पहुँचा सकी।

जैसा कि हम पिछले पाठ में पढ़ चुके हैं, कृषि की वर्तमान स्थिति उस स्थिति से बहुत भिन्न है जो स्वतंत्रता के समय देश में थी।

13.2 कृषि का ढाँचा

हमारी अर्थव्यवस्था में ठहराव आ गया था और अन्न का सदा अभाव रहता था। प्रश्न यह है कि वही अर्थव्यवस्था किस प्रकार गतिशील और आत्म-निर्भर बन गयी। इसे समझने के लिए आपको उन तत्वों की जानकारी लेनी पड़ेगी जिनका प्रभाव कृषि के विकास पर पड़ता है। मोटे तौर पर ये तत्व निम्नलिखित हैं: कृषि का ढाँचा, कृषि संबंध और संस्थाएँ, टैक्नोलॉजी, कृषि क्षेत्र में प्राप्त सुविधाएँ तथा कृषि में प्रयुक्त आवश्यक वस्तुओं और कृषि उत्पादन के कारण इस बात का निर्धारण होता है कि किसान अपने साधनों का प्रयोग किस प्रकार करते हैं। इन्हीं का प्रभाव किसानों के व्यवहार पर पड़ता है। किसी भी समय किसानों द्वारा साधनों के प्रयोग के बारे में किए जाने वाले निर्णय अनुकूल हैं या प्रतिकूल, उसका फैसला इन तत्वों का विश्लेषण करके किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, हम यह देख सकते हैं कि इन अलग-अलग तत्वों या इनकी परस्पर अन्योन्य क्रिया किसानों के अधिक उत्पादन करने के फैसले पर कैसा प्रभाव डालती है। राज्य की जो नीतियाँ किसानों के साधनों के प्रयोग के क्षेत्र को विस्तृत बनाती हैं और उन्हें अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा देती हैं, उन्हें सकारात्मक कृषि नीतियाँ कहा जाता है। जिन नीतियों से किसानों का यह "क्षेत्र" सीमित हो जाता है और उनके फैसला करने की सामर्थ्य को प्रोत्साहन नहीं मिलता, उन्हें नकारात्मक कृषि नीतियाँ कहा जाता है। राज्य की नीतियाँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि देश की सरकार किन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही है। इसका मतलब यह हुआ कि स्वतंत्रता के बाद भारतीय कृषि के लक्ष्य और नीतियाँ उनसे बहुत अधिक भिन्न रहीं हैं जिनका अनुसरण स्वतंत्रता से पहले किया जाता था।

आप जानते ही हैं कि औपनिवेशिक सरकार का मुख्य उद्देश्य तो यह था कि भारत के अतिरिक्त कृषि उत्पादन को किस प्रकार हथियाया जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंग्रेज़ों ने शोषण की कई प्रकार की व्यवस्थाओं का सहारा लिया। हम जानते हैं कि स्वतंत्रता के समय देश में लगान की तीन प्रकार की मुख्य व्यवस्थाएँ थीं – ज़मींदारी, महलवाड़ी, और रैयतवाड़ी। राज्य और खेत जोतने वाले के बीच बहुत से बिचौलिये थे और वे सभी खेती करने वाले की मेहनत पर पलते थे। किसानों की भूमि के प्रयोग को नियंत्रित करने के लिए न तो उनके पास कोई शक्ति थी और न इसके लिये उनको कोई प्रोत्साहन था। काश्त की अवधि निश्चित नहीं होती थी और लगान बहुत अधिक लिया जाता था और इन कारणों से किसानों में न तो भूमि की उत्पादकता बढ़ाने की क्षमता थी और न उसके लिए कोई प्रोत्साहन। ज़मींदार जो जमीन पट्टे पर देते थे, उसकी कोई लिखित-पढ़त तो होती ही नहीं थी और कानून में काश्तकारों की कृषि भूमि पर खेती करते रहने के अधिकार की अवधि सुरक्षित नहीं थी।

कृषि के ढाँचे में दमन के इस पुट के साथ-साथ अन्य तत्वों संबंधी नीतियाँ जो कृषि उत्पादन पर प्रभाव डालती हैं, सकारात्मक नहीं थीं। मूल्यों के बारे में सरकार की कोई स्पष्ट नीति नहीं थी। बैंक, साधारणतया निर्यात व्यापार को सहायता देते थे और कृषि के उत्पादन के लिए पैसा नहीं लगाते थे। सरकार ने पुरानी नहरों की मरम्मत के साथ-साथ नई नहरों का निर्माण करके सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध कराने की कोशिश तो की, लेकिन कृषि के उत्पादन पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा।

इस संदर्भ में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात तो यह है कि कृषि का ढाँचा और कृषि संबंधों में इतना दमन था कि उत्पादन हो ही नहीं सकता था। यदि ठीक टैक्नोलॉजी अपना भी ली जाती और कृषि के ढाँचे संबंधी सुविधाएँ दे भी दी जाती तो भी किसानों को इन्हें अपनाने का प्रोत्साहन नहीं था, क्योंकि जो भी अधिक उत्पादन होता वह या तो बिचौलियों के हाथ में चला जाता या राज्य के। भारतीय कृषि को ठहराव की स्थिति से बाहर लाने के लिए यह आवश्यक हो गया कि कृषि के औपनिवेशिक ढाँचे और संबंधों में सुधार किया जाए। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने इस बात को समझ लिया था। सच तो यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1930 के दशक में "जोतने वाले को भूमि" का नारा देकर जनसाधारण में अपनी लोकप्रियता बढ़ा ली।

13.3 भूमि-सुधार

स्वतंत्रता के बाद भारत के नेताओं का मुख्य काम ऐसे सुधार करना था, जिससे किसान को यह विश्वास हो सके कि उसकी मेहनत का फल न तो औपनिवेशिक परजीवी या शोसक वर्ग ले सकेगा और न राज्य। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस ने श्री जे.सी. कुमारप्पा की अध्यक्षता में कृषि सुधार समिति का गठन किया, जिससे कि तत्कालीन कृषि ढाँचे और संबंधों की समीक्षा की जा सके और "न्याय के साथ संवृद्धि" के राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक भूमि सुधारों का सुझाव दिया जा सके। कुमारप्पा समिति ने अपनी रिपोर्ट 1949 में दी, जिसका स्वतंत्रता के बाद की भूमि-सुधार नीति पर, जिसके मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं, बहुत प्रभाव पड़ा:

- मध्यस्थों की समाप्ति;
- काश्तकारी प्रथा में सुधार;
- भूमि की जोतों की सीमा, अतिरिक्त भूमि का वितरण; और
- चकबंदी

13.3.1 मध्यस्थों की समाप्ति

कुमारप्पा समिति की सिफारिशों के अनुसार केंद्र ने सभी सरकारों से कहा कि मध्यस्थों को समाप्त करने के लिए कानून पास करें। इस कानून का मुख्य उद्देश्य राज्य और भूमि पर खेती करने वाले के बीच सभी मध्यस्थों को समाप्त करना था, लेकिन जो ज़मींदार स्वयं खेती करते थे उनके पास जमीनें रहने दी गईं। 1950 के दशक में लगभग सभी राज्यों में मध्यस्थों को समाप्त करने के लिए कानून बनाये गये, यद्यपि प्रत्येक राज्य में ये कानून और इनके प्रभाव अलग-अलग थे। पश्चिमी बंगाल, और जम्मू तथा कश्मीर में यह कानून पास करने के साथ-साथ जोतों की सीमा भी निर्धारित कर दी गयी लेकिन अन्य राज्यों में ज़मींदारों को वह भूमि रखने की अनुमति दे दी गई जिस पर वे स्वयं खेती करते थे और उस भूमि की कोई सीमा नहीं थी।

ज़मींदारों ने इस कानून का बड़ा तीव्र विरोध किया और लंबे समय तक चलने वाली कानूनी लड़ाई के बाद इस प्रश्न का निपटारा ज़मींदारों को क्षतिपूर्ति देकर किया गया। अनुमान लगाया गया है कि 1950 और 1960 के बीच लगभग दो करोड़ किसानों का राज्य के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया। अधिकतर मामलों में जिन कांश्तकारों ने ज़मींदारों से ज़मीन पट्टे पर ले रखी थी वे सीधे राज्य के सम्पर्क में आ गए चाहे वे स्वयं खेती करते हों या नहीं। सारी परती भूमि और जंगल, जिसके मालिक मध्यस्थ थे, राज्य की संपत्ति बन गई। सरकार की ओर से यह कहा गया कि मध्यस्थों की समाप्ति और काश्तकारों को संरक्षण देने का लक्ष्य यह है कि किसान को कृषि व्यवस्था में उसका उचित स्थान दिलाया जाए, उसके वे बोझ समाप्त कर दिए जाएँ जो सदियों से उस पर पड़े हुए थे और उसे कृषि की पैदावार बढ़ाने का अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाए।

यद्यपि इस कानून की मंशा तो बहुत अच्छी थी, लेकिन यह वांछित परिवर्तन नहीं ला सका। ये कानून सामंतवादी और अर्द्धसामंतवादी ज़मींदार वर्ग द्वारा किसानों का शोषण समाप्त करने में सफल नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि दूरवासी ज़मींदार अर्थात् वे ज़मींदार जो स्वयं खेती नहीं करते थे, बने रहे। हाँ, उनकी संख्या में कुछ कमी अवश्य हुई। भारत में भूमि सुधार के इन कानूनों की सीमित सफलता के लिए कई तत्व ज़िम्मेदार हैं। उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तो, जैसा कि थार्नर ने कहा है, यह था कि भूमि धारण की जो औपचारिक

व्यवस्था थी उसके नीचे कुछ छिपे हुए अधिकार थे जिनकी ओर इस कानून में कोई ध्यान नहीं दिया गया।

विभिन्न राज्य सरकारों ने कानून बनाने और उन पर अमल करने के लिए बड़ी विलम्बकारी प्रक्रिया का सहारा लिया। कानून की अनेक त्रुटियों, प्रशासनिक उपेक्षा और अदालतों में मामले निपटाने में विलम्ब के कारण बिचौलियों को कानून से बचने का मौका मिल गया। अधिकतर राज्यों में इस कानून के साथ-साथ भूमि की सीमा निर्धारित करने के कानून नहीं बनाए गए इसका परिणाम यह हुआ कि कानून काश्त पर दी गई भूमि पर ही लागू होता था और किसी एक परिवार की पूरी जोत पर नहीं। तीसरी बात यह थी कि कुछ राज्यों, विशेषकर, तमिलनाडु और गुजरात में, यह कानून 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में लागू किया गया जिसके कारण ज़मींदारों को ऐसी कार्रवाई करने का मौका मिल गया कि वे इससे बच सकते थे। चौथी बात यह थी कि खुद काश्त की धारणा को उचित रूप से पारिभाषित नहीं किया गया जिससे भू-स्वामियों ने कानून के इन दोषों का लाभ उठाया। और अन्त में, यद्यपि काश्तकारों को यह अधिकार दिया गया था कि वे उस भूमि को खरीद सकते हैं जो उन्होंने पट्टे पर ली है, अधिकतर मामलों में उस भूमि की बिक्री की शर्तें उनके अनुकूल नहीं थीं।

13.3.2 काश्तकारी प्रथा में सुधार

इसमें कोई संदेह नहीं कि मध्यस्थों की समाप्ति के बाद बहुत से दखली काश्तकार सीधे राज्य के संपर्क में आ गये। लेकिन गैर-मौसमी काश्तकारों के चार ऐसे वर्ग थे जिनको संरक्षण प्रदान करना आवश्यक था। वे थे: (1) "खास" जोतों के काश्तकार और उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दिल्ली और राजस्थान के कुछ भागों को छोड़कर सभी राज्यों में बिचौलियों की जमीनों पर खेती करने वाले; (2) बिचौलियों के उप-काश्तकार; (3) रैयतवाड़ी क्षेत्रों में भूमि के मालिकों से पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले काश्तकार; (4) बटायीदार जिन्हें 70 के दशक में पश्चिमी बंगाल को छोड़कर और किसी भी राज्य के कानून में मान्यता नहीं दी गई है।

स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों के पहले चरण में इस बात पर तो बल दिया गया कि बिचौलियों को समाप्त कर दिया जाए और काश्तकारी के कानूनों में संशोधन किए जाएँ जिससे कि काश्तकारों को संरक्षण प्रदान किया जा सके, लेकिन इन संशोधनों के बजाय उसके कि काश्तकारों को संरक्षण मिलता उनकी बड़े पैमाने पर बेदखली शुरू हो गई। ज़मींदारों को यह डर लगा कि जो जमीनें उन्होंने पट्टे पर दे रखी हैं वे कहीं उनके हाथ से न निकल जाएँ और इसलिए उन्होंने निम्न बातों का लाभ उठाया:(i) कुछ पट्टे मौखिक थे (अर्थात् उनके बारे में कोई लिखत-पढ़त नहीं थी); (ii) पटवारी अर्थात् भू-लेखों में कुछ त्रुटियाँ थीं और; (iii) कानून में बटायीदारों को काश्तकार नहीं माना जाता था।

लेकिन बाद में अधिकतर राज्य सरकारों ने कानून बनाए जिससे कि काश्तकारों को ग़ैर-कानूनी बेदखलियों से संरक्षण प्रदान किया जा सके। कुछ राज्यों जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और जम्मू तथा कश्मीर में राज्य सरकारों ने काश्तकारी के माध्यम से खेती पर प्रतिबंध लगा दिया, जिससे कि काश्तकारों को भूमि का स्वामी बनाया जा सके। लेकिन इन कानूनों के बावजूद ग़ैर मौसमी काश्तकारों की दशा में अधिक सुधार नहीं हुआ। केरल और पश्चिम बंगाल को छोड़कर, जहाँ काश्तकारों को संरक्षण प्राप्त है। बिहार, उड़ीसा, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और गुजरात के कुछ हिस्सों, पंजाब और हरियाणा में काश्तकारों को अभी तक संरक्षण नहीं है। एक अनुमान से पता चला है कि 80 प्रतिशत काश्तकार सुरक्षित नहीं हैं क्योंकि उन्हें या तो मौखिक रूप से पट्टे दिए गए और या उनके काश्तकार होने की बात कानून से छिपाई गई है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह असुरक्षा इस कारण नहीं है कि कानून काश्तकारों को संरक्षण प्रदान नहीं करता बल्कि इस कारण अधिक है कि गांवों में "गरीबी का दुष्चक्र" चलता रहता है। अधिकतर काश्तकारों को अपने घर के खर्च या खेती के लिए ऋण लेने के लिए ज़मींदारों पर निर्भर करना पड़ता है और इसलिए उन्हें ज़मींदारों को नाराज करके अपने अधिकारों का प्रयोग करने में कठिनाई होती है। ऐसी परिस्थिति में जब तक गरीब काश्तकार और भूमिहीन लोग वर्ग आधार पर संगठित नहीं होते और उन्हें बैंकों जैसी संस्थाओं से ऋण देने की व्यवस्था नहीं की जाती और गाँवों में गरीबी मिटाने के क्रांतिकारी कार्यक्रम नहीं बनाये जाते, तब तक वे लोग उन कानूनों का लाभ नहीं उठा सकते जो उन्हीं के लिए बनाए गए।

13.3.3 लगान का नियमन

आपको पता ही है कि स्वतंत्रता से पहले बिचौलिये काश्तकारों से बहुत अधिक किराया लेते थे। और इस प्रकार कृषि से प्राप्त बचत को स्वयं हड़प लेते थे। परिणाम यह होता था कि खेती करने वालों के पास न तो खेती में लगाने के लिए पैसा बचता था और न उन्हें कोई प्रोत्साहन प्राप्त होता था। पहली पंचवर्षीय योजना में सिफारिश की गयी कि लगान उचित होने चाहिए जिससे कि खेती करने वाला उत्पादन बढ़ाने के लिए पूँजी लगा सके और जोखिम उठा सके।

अधिकतर राज्यों ने जो लगान निर्धारित किए वे समग्र उत्पादन के एक चौथाई से पाँचवें हिस्से तक थे। तमिलनाडु, आँध्र प्रदेश, पंजाब और हरियाणा में लगान समग्र उत्पादन के 25 प्रतिशत से 40 प्रतिशत थे। लेकिन वास्तव में ज़मींदार जो लगान लेते हैं वे इनसे कहीं अधिक होते हैं। जहाँ बटायीदारी की व्यवस्था है वहाँ तो इनका प्रतिशत 50 तक होता है। यह तो सीधी सी बात है कि जब तक काश्तकार को सुरक्षा न दी जाए तब तक किराए निर्धारित करने से कोई फर्क नहीं पड़गा लेकिन काश्तकार को सुरक्षा तभी दी जा सकती है जब गाँवों में फैली हुई गरीबी, भूमिहीनता और बेरोजगारी की समस्याओं का समाधान खोजा जाए।

13.3.4 जोतों की अधिकतम सीमा

स्वतंत्रता के समय आय और संपत्ति के स्वामित्व में बहुत अधिक विषमता थी। भारत के गाँवों में मुख्य संपत्ति भूमि ही है जिससे आय हो सकती है और अगर इसका बंटवारा असमान हो तो ग्रामीण आय के वितरण में असमानता अनिवार्य है। ग्रामीण आय की असमता को कम करने के.लिए सरकार ने जोतों पर सीमा लगाने के हथियार का प्रयोग किया।

भारत में जोतों की सीमा के कानून दो अवधियों में बनाए गए। पहली अवधि तो 1960 से 1972 तक की थी जब राष्ट्रीय मार्गदर्शक सिद्धान्त नहीं बनाए गए थे। दूसरी अवधि 1972 से प्रारम्भ हुई। जम्मू-कश्मीर और पश्चिम बंगाल को छोड़कर, जहाँ जोतों की सीमा और मध्यस्थों की समाप्ति का कानून पचास के दशक के प्रारंभिक वर्षों में पास किया गया, अन्य राज्यों में ये कानून 1960 के दशक में पास किए गए। पहली अवधि में जोतों की सीमा गुजरात के कुछ भागों में चार हैक्टेयर से लेकर राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में 136 हैक्टेयर तक थी। पहली अवधि में जब जोतों की सीमा के कानूनों को लागू किया गया तो 8,20,000 हैक्टेयर अतिरिक्त भूमि मिली।

दूसरी अवधि में, अर्थात् जब राष्ट्रीय मार्गदर्शक सिद्धांत लागू किए गए, राज्यों में जोतों की सीमा एकरूपता से लागू की गयी और उसका आधार अधिक संगत था। एक परिवार के लिए सिंचाई वाली भूमि की सीमा 3.68 हैक्टेयर और बारानी (असिंचित) भूमि की सीमा 24.48 हैक्टेयर निर्धारित की गयी।

50 के दशक के बाद जोतों की सीमा लागू करने के बाद लगभग 72.3 लाख हैक्टेयर भूमि फालतू घोषित की गयी, जिसमें से लगभग 57 लाख एकड़ भूमि राज्य ने अपने हाथ में ले ली है और उसमें से 43 लाख एकड़ भूमि भूमिहीन मजदूरों और अन्य वर्गों के लोगों में बांट दी गयी है जो ऐसी भूमि पाने के अधिकारी थे। लेकिन ऐसा लगता है कि जितनी भूमि फालतू घोषित की गयी है उससे अधिक की जानी चाहिए थी।

सीमा कानूनों की असफलता के कई कारण हैं। पहला तो यह कि उनमें विमुक्तियों (छूटों) की एक लम्बी सूची थी। उदाहरण के लिए, पश्चिमी बंगाल में मत्स्य पालन क्षेत्रों, बागानों और फलों के बागों को इस कानून से मुक्त रखा गया था। लगभग सभी राज्यों द्वारा पास किए गए कानूनों में एक त्रुटि यह थी कि धार्मिक न्यासों को छूट दी गई थी जिसके कारण बहुत से जमींदारों ने किसी न किसी हिंदू देवता को अपनी भूमि समर्पित करके फालतू जमीन एक न्यास या ट्रस्ट को दे दी लेकिन उसी देवता के एजेंट के नाते उस भूमि का प्रयोग करते रहे और उससे लाभ कमाते रहे। दूसरे, बहुत से लोगों ने परिवार के अन्य सदस्यों और ऐसे लोगों के नाम झूठमूठ भूमि स्थानांतरित कर दी, जिनका अस्तित्व ही नहीं था और कुछ ऐसे लोगों के नामों में भूमि स्थानांतरित की जिन्हें पता ही नहीं था कि वे इस भूमि के मालिक हैं। पहले चरण में तो भूमि के स्थानांतरण का यही तरीका अपनाया गया। इस कानून को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए सरकार के लिए यह जरूरी था कि वह यह पता लगाती कि प्रत्येक व्यक्ति के नाम में कितनी भूमि है। लेकिन यह काम बहुत बड़ा था और भूमि के रिकार्ड अद्यतन (update) नहीं थे।

अब तक यह बात तो स्पष्ट हो गयी है कि भूमि सुधारों से वे परिणाम नहीं निकले जिनकी आशा थी। इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण एक कारण तो यह था कि सरकार में प्रशासनिक और इच्छाशक्ति का अभाव था और वह भूमि के स्वामित्व के इस प्रकार के स्थानांतरण किए जाने की समस्या का सामना करने और ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन लोगों को शक्ति हस्तांतरित करने या उनको संगठित करने के लिए तैयार नहीं थी। जिन कानूनी त्रुटियों का लाभ उठाकर बड़ी-बड़ी जोतों के मालिक कानून के चंगुल से निकल गए उन्हें दूर किया जा सकता था, लेकिन उसके लिए यह जरूरी था कि सरकार में इन कानूनों को लागू करने की इच्छाशक्ति होती। यह तो सभी जानते हैं कि बड़ी-बड़ी जोतों में मालिक देश की राजनीति में बहुत प्रभावशाली हैं और इन्हीं जमींदारों के दबाव के कारण भूमि सुधारों को लागू करने में इच्छाशक्ति का अभाव सरकार में हो जाता है। इस बात को भी सभी जानते हैं कि ग्राम दान और भूदान जैसे शांतिपूर्ण आंदोलन भी, जो कि जमींदारों की सदाशयता पर निर्भर करते थे, सामाजिक और आर्थिक असमताओं को दूर नहीं कर सके। भूमि सुधारों का पूरा लाभ उठाने का एकमात्र तरीका यह है कि जिन लोगों को इनसे लाभ पहुँचना है उन्हें संगठित किया जाए और ऐसे संगठन बनाए जाएँ जो न केवल सरकार बल्कि शोषण करने वाले वर्ग पर भी दबाव डाल सकें, जिससे कि गरीब लोग देश की संपत्ति में अपना उचित हिस्सा ले सकें। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को इसके लिए तरीका ढूंढ़ना पड़ेगा और वह यही है कि गाँव अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से अपना प्रबंध चला सकें और काश्तकारों और भूमिहीनों को संरक्षण प्रदान किया जा सके।

13.3.5 चकबन्दी

भारत में भूमि पर निर्भर करने वाले लोगों की जनसंख्या का बोझ बढ़ता जा रहा है और गैर कृषि में रोजगार की सुविधाएँ सीमित हैं। इस कारण भूमि की जोतों का विभाजन और उसके टुकड़े-टुकड़े होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जोतों के छोटे-छोटे टुकड़े में बिखरने पर खेती करने में अधिक समय और धन का व्यय करना पड़ता है, जिस कारण कृषि उत्पादनों की उत्पादन लागत बढ़ जाती है। ऐसी जोतों को सींचना, उनका प्रबंध चलाना और वहां पर चल रहे काम पर दृष्टि रखना, सभी कुछ कठिन हो जाता है। इस कारण चकबन्दी जैसे काम पर कोई मतभेद नहीं होना चाहिए क्योंकि चकबन्दी करके ही कृषि के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

स्वतंत्रता के बाद तमिलनाडु, केरल, मणिपुर, नागालैंड, त्रिपुरा और आँध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर लगभग सभी राज्यों ने चकबन्दी के कानून बनाए लेकिन इन कानूनों का स्वरूप और उन पर अमल में मिलने वाली सफलता अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग थीं। लेकिन चकबन्दी के कानून को यदा-कदा ही और कहीं-कहीं ही लागू किया गया है और वह भी अपूर्ण ढंग से। चकबन्दी का काम केवल पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पूरा किया गया है। महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में भी काफी बड़े क्षेत्र में चकबन्दी कर दी गई है। लेकिन अन्य राज्यों में या तो इस काम की प्रगति बड़ी धीमी है और या यह काम किया ही नहीं गया। अब तक देश में जितने क्षेत्र पर खेती होती है उसके कुल 36 प्रतिशत भाग पर चकबन्दी की गई है।

इस धीमी प्रगति का मुख्य कारण तो यह है कि काश्तकारों और छोटे तथा सीमान्त किसानों की बेदखली का डर बना रहता है। सच तो यह है कि चकबन्दी के नाम पर बड़ी-बड़ी जोतों के कुछ मालिकों ने काश्तकारों और बटायीदारों को बेदखल कर दिया है। और दूसरे, कानून के अंतर्गत, यह भी अपेक्षा है कि जिस जोत की चकबन्दी करनी है उसका एक न्यूनतम क्षेत्र होना चाहिए। भारत में अधिकतर किसानों के पास छोटी-छोटी जोतें ही हैं और चकबन्दी संयुक्त या सहकारिता पर आधारित खेती की व्यवस्था के अन्तर्गत ही की जा सकती है। तीसरी समस्या यह भी है कि जिन जमीनों की चकबन्दी करनी है और विनिमय किया जाना है उनका मूल्यांकन उचित ढंग से किया जा सके।

बोध प्रश्न 1

1 पाँच वाक्यों में उन सुधारों का विवरण दीजिए जो भूमि सुधार नीति के अन्तर्गत शुरू किए गए हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 पाँच वाक्यों में वे मुख्य कारण बताइये जिनकी वजह से अब तक भूमि सुधार असफल रहे हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 काश्तकारों के लिए संरक्षण क्यों आवश्यक है? सबसे अधिक संरक्षण की आवश्यकता किस प्रकार के काश्तकारों को है? उन्हें यह संरक्षण क्यों नहीं मिला?
(तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

4 भूमि सुधारों के बारे में निर्णय करने की प्रक्रिया में किसी देश की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था कहाँ तक और किस प्रकार बाधक होती है? (तीन वाक्य लिखिये)

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 टैक्नोलॉजी परिवर्तन और सवृद्धि का स्वरूप

स्वतंत्रता के बाद कृषि के संबंध में सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों से सिंचाई, कृषि में काम आने वाली वस्तुओं की आपूर्ति, टैक्नोलॉजी, कृषि के ढाँचे और कृषि उत्पादों की बिक्री में काफी प्रगति हुई। स्वतंत्रता के बाद किए गए कृषि संबंधी सुधारों से कृषि की उन्नति में बहुत योगदान हुआ है। यह बात इस प्रकार स्पष्ट होती है कि इन सुधारों से न केवल स्वतंत्रता से पहले कृषि में जो ठहराव आ गया था, वह दूर हो गया बल्कि, कृषि के उत्पादन में औसत प्रति वर्ष 2.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसकी तुलना में जनसंख्या में वृद्धि की दर 2.2 प्रतिशत है।

13.4.1 दो चरण

स्वतंत्रता के बाद कृषि की प्रगति मुख्य रूप से दो चरणों में हुई। 60 के दशक के मध्य से टैक्नोलॉजी में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जब उगायी जाने वाली फसलों की किस्मों

में वृद्धि हुई और उर्वरकों और कीट नाशकों का प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रक्रिया को 'हरित क्रांति' का नाम दिया गया है। इन दो अवधियों में कृषि की प्रगति की सकल दरों में कोई विशेष अन्तर नहीं है लेकिन दोनों के कुछ अलग-अलग पहलू हैं जिनका उल्लेख करना जरूरी है।

- 1950 से 1965 की अवधि में अनाज की पैदावार 2.58 प्रतिशत बढ़ी और दूसरी फसलों की तीन प्रतिशत प्रति वर्ष, जबकि 1965 से 1985 की अवधि में ये दरें, क्रमानुसार, 2.81 प्रतिशत और 1.75 प्रतिशत थीं।
- पहली अवधि में कृषि का क्षेत्र बढ़ जाने से अनाज के उत्पादन में 1.4 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई और दूसरी फसलों में 2.3 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। दूसरी अवधि में ये दरें 0.44 प्रतिशत और 1.19 प्रतिशत रहीं।
- क्षेत्र की प्रति इकाई के हिसाब से अनाज के उत्पादन में वृद्धि की दर 1.5 प्रतिशत थी और दूसरी फसलों की 1.66 प्रतिशत यह पहली अवधि की दरें हैं। दूसरी अवधि में यह दरें, क्रमानुसार, 2.30 प्रतिशत और 1.25 प्रतिशत थीं।
- यह स्पष्ट है कि पहली अवधि में उत्पादन में वृद्धि की दर इस कारण अधिक थीं कि खेती के लिए उपलब्ध क्षेत्र बढ़ गया था। लेकिन भूमि तो सीमित ही है और इसलिए यह क्षेत्र लगातार बढ़ता नहीं रह सकता। यही मुख्य कारण है कि 1958 से 1965 तक की अवधि में कृषि के उत्पादन, विशेषकर अनाज के उत्पादन में अपेक्षाकृत ठहराव आ गया था। दूसरे शब्दों में, 60 के दशक के मध्य तक ऐसी स्थिति हो गयी थी कि कृषि के क्षेत्र में वृद्धि के द्वारा उत्पादन बढ़ने की संभावना नहीं रही थी। उत्पादन में वृद्धि मुख्य रूप से उत्पादिता बढ़ाकर ही की जा सकती थी। और हुआ भी यही। 60 के दशक के मध्य से उत्पादन में वृद्धि की दर बनी रही है और उसका मुख्य कारण उत्पादिता वृद्धि है।

13.4.2 टैक्नोलॉजी पैकेज

भारतीय कृषि की उत्पादकता में वृद्धि इस कारण हुई है कि नई तकनीकों का इस्तेमाल होने लगा है। टैक्नोलॉजी में परिवर्तन का मतलब है कि सभी उन उपलब्ध साधनों का प्रयोग किया जाए जो दुर्लभ साधनों की क्षमता में वृद्धि करके उत्पादन बढ़ाते हैं। इसका मतलब यह है कि नए साधनों और ज्ञान का प्रयोग किया जाए जिससे कि ऐसी स्थिति आ जाए कि पहले जितने साधनों का प्रयोग करके अधिक उत्पादन किया जा सके और या कम साधनों का उपयोग करके पहले जितना उत्पादन प्राप्त किया जा सके।

भारतीय कृषि में जिस नए टैक्नोलॉजी पैकेज का प्रयोग किया गया है वह निम्नलिखित हैं:

अधिक उपज देने वाले बीज, सिंचाई का अधिक प्रयोग उर्वरक और कीटनाशक दवाएँ। नई टैक्नोलॉजी में खेती में मशीनों का प्रयोग भी शामिल है। कृषि में प्रगति के लिए इन घटकों का महत्व इस बात में है कि एक-एक का प्रयोग करने की बजाय उन सब का एक साथ अर्थात् पैकेज के रूप में प्रयोग किया जाए। सबसे अधिक महत्व तो "चमत्कारी बीजों" का है। इनका विकास चयनात्मक प्रजनन विधि द्वारा किया गया है ताकि रासायनिक खाद के प्रयोग से अधिक उत्पादन किया जा सके। इन नए बीजों पर कीड़ों का प्रभाव बहुत होता है और अधिक उर्वरकों के प्रयोग से खर-पतवार भी बहुत बढ़ जाते हैं। इस कारण कीटनाशक दवाओं और खर-पतवार नष्ट करने वाली औषधियों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि जब तक सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध न हो नए किस्म के बीजों का भी कोई प्रभाव नहीं हो सकता। नई प्रकार के जो बीज हैं उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे कम समय में विकसित होते हैं। और इस कारण वर्ष में भूमि के किसी टुकड़े से दो या अधिक फसलें प्राप्त की जा सकती हैं। इसके लिए यह जरूरी है कि फसलों की बुवाई और कटाई बहुत कम समय में की जाये। फसल काटने वाली मशीन और ट्रैक्टरों की सहायता से एक फसल की कटाई और दूसरे की बुवाई के बीच के समय को कम किया जा सकता है।

13.4.3 अधिक उपज देने वाले बीज

भारत और दूसरे देशों में लगातार वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणामस्वरूप बीजों की नई किस्मों का विकास किया गया है जिनसे भूमि की उपज में बहुत वृद्धि की जा सकती है। इन

बीजों से खाद के माध्यम से अधिक पैदावार सम्भव है। इन बीजों के पौधे कम समय में पक जाते हैं और इसलिए भूमि के एक ही टुकड़े पर दो या अधिक फसलें उगायी जा सकती हैं। भारतीय वैज्ञानिकों ने अब तक अधिक उपज वाले बीजों का विकास किया है जिसके कारण उत्पादकता में वृद्धि हुई और अनाज का उत्पादन बढ़ गया है। सन् 60 के दशक के मध्य में गेहूँ का उत्पादन कुल एक करोड़ टन था लेकिन अब 5 करोड़ टन हो गया है। इसी अवधि में चावल का उत्पादन 3 करोड़ 5 लाख टन से बढ़कर 6 करोड़ टन हो गया है। लेकिन मक्का, बाजरा और ज्वार के उत्पादन में अधिक सफलता नहीं मिली है। इन अनाजों पर कीड़ों और बीमारियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। और चूंकि इन अनाजों के संकर बीज तैयार नहीं किए गए जो कीड़ों और बीमारियों का सामना कर सकें, इसलिए इनके उत्पादन में समुचित वृद्धि नहीं हो पाई है।

13.4.4 सिंचाई

नए जैव-रासायनिक पदार्थों की टैक्नोलॉजी पर आधारित गहन कृषि के लिए यह आवश्यक है कि सिंचाई के लिए समुचित पानी उपलब्ध हो सके। जब से भारत में नियोजित विकास प्रारम्भ हुआ है सिंचाई में काफी निवेश किया गया है और इस कारण जिस क्षेत्र में सिंचाई होती है उसमें वृद्धि हुई है। स्वतंत्रता के समय दो करोड़ हैक्टेयर से कम भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था थी। लेकिन 1988 तक यह क्षेत्रफल बढ़कर 7 करोड़ हैक्टेयर हो गया था। लेकिन इसके बावजूद यह हालत है कि जितने क्षेत्र पर खेती की जाती है उसके कुल 32% हिस्से पर सिंचाई की व्यवस्था है। 1960 के दशक के मध्य में जब जैव-रासायनिक टैक्नोलॉजी उपलब्ध हुई, जिस क्षेत्र पर खेती की जाती थी उसके कुल 20 प्रतिशत हिस्से पर सिंचाई की व्यवस्था थी। जब सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ गईं तो उस क्षेत्र में भी वृद्धि हुई जिसमें अधिक उपज देने वाले बीज बोए जाते थे।

सिंचाई के कारण कृषि के उत्पादन में दो प्रकार से वृद्धि हुई है। एक तो यह हुआ है कि फसलों के सकल क्षेत्र में वृद्धि हुई है और दूसरे भूमि की उत्पादकता बढ़ गई है। सिंचाई के कारण दो या अधिक फसलें उगाना सम्भव है और इस कारण फसलों के सकल क्षेत्र में वृद्धि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उर्वरकों और अधिक उपज वाले बीजों के प्रयोग जैसे अनुपूरक उपायों से भी उत्पादकता बढ़ायी जा सकती है। औसतन भारत में सिंचाई के कारण फसलों के सकल क्षेत्र में लगभग 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। भूमि की उत्पादिता तथा कृषि में सिंचित क्षेत्र में धनात्मक संह-संबंध है।

भारत में सिंचाई के लिए सरकार बहुत अधिक सहायता देती है। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े पैमाने की सिंचाई की जो परियोजनाएँ प्रारम्भ की हैं, उन्हें चालू रखने की लागत की तुलना में किसानों से लिया गया धन बहुत कम है। किसानों के अपने नलकूपों में भी सरकारी सहायता का अंश है। वह इस प्रकार कि जो किसान नलकूप लगवाना चाहते हैं उन्हें बड़ी उदारता से ऋण दे दिया जाता है जो वे लम्बी अवधि में चुका सकते हैं। नलकूपों के लिए इस्तेमाल की जाने वाली बिजली में भी सरकारी सहायता का अंश हैं।

लेकिन सिंचाई के लिए जो पानी दिया जाता है —वह चाहे अलग-अलग क्षेत्रों में हो या किसी एक क्षेत्र में — उसके वितरण में बड़ी असमानता है। 1984-85 में सिंचाई के कुल क्षेत्र की तुलना में सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत पंजाब में 90 था, हरियाणा में 65, तमिलनाडु में 49, और उत्तर प्रदेश और आँध्र प्रदेश में 48, और असम में 15, मध्य प्रदेश में 14, महाराष्ट्र में 13 और केरल में 15 था। अन्य अधिकतर राज्यों में यह 15 और 25 प्रतिशत के बीच था।

सिंचाई की सुविधाओं में इसी अन्तर के कारण कृषि के मामले में राज्यों की उपलब्धियों में अन्तर है। नई तकनीकों और भूमि की उत्पादकता की दर उन क्षेत्रों में सबसे अधिक है, जिनमें सिंचाई की व्यवस्था का विकास हो चुका है और फसलों के लिए पानी उपलब्ध है। कई अध्ययनों से इस बात का भी पता चला है कि पानी के वितरण के प्रशासन पर प्रभाव होने के कारण अमीर और शक्तिशाली किसानों को सिंचाई के लिए अपने हिस्से से अधिक पानी मिलता है। इस प्रकार सिंचाई के पानी के वितरण में असमानताओं के कारण न केवल क्षेत्रों बल्कि किसानों के बीच असमता देखी गई है और कृषि का विकास वे ही लोग अधिक कर पाए हैं जिन्हें पानी अधिक मात्रा में उपलब्ध है।

13.4.5 उर्वरक और कीटनाशक औषधियां

अनाज की उपज 60 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में 700 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर थी जो 80 के दशक के अंतिम वर्षों में बढ़कर 1150 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर हो गई थी। भूमि की

उपज में यह वृद्धि इस कारण सम्भव हुई है कि किसानों में अधिक उपज वाले बीजों का प्रयोग किया है और अधिक उर्वरकों का भी प्रयोग किया है। लेकिन यह बात मुख्य रूप से गेहूँ उगाने वाले क्षेत्रों पर लागू होती है। भारत में उर्वरकों की खपत 60 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में कुल 3 लाख टन थी लेकिन 1987 में बढ़कर यह 90 लाख टन हो गयी थी। 50 के दशक में और उससे पहले भारत में उर्वरकों की खपत नाममात्र को थी। हाँ, यह बात और है कि पहली पंचवर्षीय योजना में भी इसके महत्व को समझ लिया गया था। उर्वरकों की खपत मुख्य रूप से तब प्रारंभ हुई जब अधिक उपज वाले बीजों का प्रयोग शुरू हुआ क्योंकि इन बीजों के लिए जितने अधिक उर्वरकों का प्रयोग होता था, उत्पादन भी उतना ही अधिक हो जाता था।

किसानों को रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग करने योग्य बनाने और उन्हें उन्नत बीजों के प्रयोग का प्रोत्साहन देने के लिए सरकार उन्हें लागत मूल्य से भी कम कीमत पर उर्वरक देती है। इसके लिए सहायता देनी आवश्यक है। आजकल सरकार उर्वरकों के लिए 2000 करोड़ रुपये प्रति वर्ष से अधिक सहायता देती है। सरकार के उर्वरकों के वितरण के लिए बड़े पैमाने पर केंद्र खोल रखे हैं जिससे कि किसान अपने गाँव के पास और नियंत्रित मूल्य पर उर्वरक खरीद सके।

यद्यपि पिछले दो दशकों में उर्वरकों की खपत बड़ी तेजी से बढ़ी है, क्षेत्र की प्रति इकाई उर्वरकों का प्रयोग उस मात्रा से बहुत कम था, जिसकी सिफारिश वैज्ञानिक करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस नई तकनीक का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका। उर्वरकों के प्रयोग में वृद्धि की दर अपेक्षाकृत इस कारण भी कम रही है कि सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि बड़ी धीमी रही है और देश में पानी के वितरण की व्यवस्था घटिया रही है। यह देखा गया है कि भूमि की प्रति इकाई उर्वरक की खपत सबसे अधिक पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और आँध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु के उन इलाकों में है जहाँ सिंचाई की व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित है। पूर्वी और उत्तर पूर्वी राज्यों में सिंचाई और उर्वरकों की खपत में वृद्धि नाममात्र को हुई है। क्षेत्रवार उर्वरकों की खपत में तो विषमता है ही, अलग-अलग फसलों के लिए भी उर्वरकों के प्रयोग में विभिन्नता रही है। गेहूँ और चावल के अधिक उपज वाले उन्नत बीजों का विकास सम्भव हुआ है जो स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल हैं और उन्हें किसानों ने इस्तेमाल करना शुरू किया है। देश में उर्वरक की कुल खपत का तीन चौथाई इन्हीं फसलों के लिए इस्तेमाल होता है।

रासायनिक उर्वरकों की अधिक मात्रा के प्रयोग से पौधों का विकास अधिक तेजी से होता है लेकिन उन पर कीड़ों मकोड़ों का आक्रमण होने की आशंका भी बढ़ जाती है। साथ ही उर्वरकों के प्रयोगों से पौधों के आसपास खरपतवार भी बढ़ जाते हैं। कीड़े मकोड़ों और खरपतवार की समस्याओं का समाधान करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कीटनाशक और खरपतवार नाशक रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाए जो हानिकारक भी होते हैं। लेकिन नई टैक्नोलॉजी की सफलता के लिए इन रासायनिक पदार्थों का प्रयोग अनिवार्य हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि अधिक उपज वाले बीजों और रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग के साथ-साथ कीटनाशक, खरपतवार नाशक, कृमि नाशक पदार्थों का प्रयोग भी बड़ी तेजी से बढ़ गया है।

13.4.6 ऋण

उर्वरकों, अधिक उपज वाले बीजों और सिंचाई जैसे तकनीकी तत्वों की उपलब्धता कृषि के विकास के लिए आवश्यक है, परंतु उतना ही काफी नहीं है। किसान नई टैक्नोलॉजी को अपनायेंगे या नहीं, यह दो तत्वों पर निर्भर करता है। पहला तो यह है कि किसानों के पास इस काम में लगाने के लिए पूँजी हो और दूसरे कृषि की लाभप्रदता पर नई टैक्नोलॉजी के प्रयोग का महत्व को समझा जाए। यद्यपि जैव-रासायनिक टैक्नोलॉजी के कारण कृषि की लाभप्रदता काफी है, लेकिन भारत के अधिकतर किसानों की आर्थिक परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि वे इस टैक्नोलॉजी का प्रयोग कर सकें, जिसमें उर्वरकों और कीट नाशक औषधियों जैसे गैर-परंपरागत तत्वों की आवश्यकता पड़ती है, जो बाजार से खरीदने पड़ते हैं और जिन्हें खरीदना अधिकतर किसानों के बस की बात नहीं है। जोतें छोटी-छोटी और टुकड़ों में बंटी हुई हैं, जिस कारण किसान अपने बूते पर उनकी सिंचाई की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं। ग्रामीण पूँजी बाजार में शोषण बहुत है और इसलिए किसान ऋण लेकर आवश्यक पूँजी नहीं जुटा सकते। ये सब बातें नई टैक्नोलॉजी के अपनाये जाने और उसके प्रसार में बाधक होती हैं।

किसानों को नई टैक्नोलॉजी अपनाने योग्य बनाने के लिए सरकार ने कई सुधार किए, जिससे कि उनके लिए ऋण उपलब्ध हो सके। कई ग्रामीण विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए जिनका मुख्य साधन किसानों के लिए ऋण उपलब्ध कराना था। 60 के दशक के अंतिम वर्षों में और उसके बाद ऋण की नीतियों को उदार बनाया गया – वह इस प्रकार कि किसानों से जमानत लेकर ऋण लेने के बजाय इस आधार पर ऋण दिए जाने लगे कि उनमें उस पैसे को लौटाने की क्षमता है या नहीं 1969 में बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उसका एक उद्देश्य यह भी था कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अधिक पैसे की व्यवस्था की जा सके। सहकारी संस्थायें मुख्य रूप से ऐसे संगठन थे जिनके माध्यम से किसानों को खेती के लिए ऋण दिए जाने लगे।

दो प्रकार के ऋण दिए गए है: (क) उत्पादन अथवा अल्पावधि ऋण और (ख) निवेश अथवा लम्बी अवधि के ऋण। 80 के दशक के मध्य तक लगभग 3 करोड़ 20 लाख किसान ऐसे थे, जो ऋण संबंधी नीतियों से लाभ उठा चुके थे। उनके पास कुल जोतों का 25 प्रतिशत था। लेकिन संस्थाओं के माध्यम से दिए गए इन ऋणों से भी मुख्य रूप से खाते-पीते किसानों को ही लाभ हुआ है।

13.5 कृषि मूल्य नीति

किसी टैक्नोलॉजी विशेष के संदर्भ में खेती की लाभप्रदता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि खेती के लिए आवश्यक आगतों और उसके उत्पादन की कीमतें कैसी हैं। उन्हीं कीमतों से किसानों के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। नई टैक्नोलॉजी की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि इसके प्रयोग से खेती की लाभप्रदता में कितनी वृद्धि की जा सकती है। खेती की लाभप्रदता को सुनिश्चित करने के लिए सरकार ने कृषि पदार्थों के मूल्यों को विनियमित करने की कई नीतियाँ अपनायीं जिससे कि किसानों को अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिले। सिंचाई की दरें कम रखने, कम ब्याज पर ऋण देने और उर्वरकों की कीमतों पर नियंत्रण रखने से किसानों को इस बात का प्रोत्साहन मिला कि वे सिंचाई के लिए पानी और उर्वरकों का प्रयोग करें। हम इस बात की चर्चा तो पहले ही कर आए हैं कि खेती के लिए आवश्यक आगतों की कीमतों के सम्बंध में कैसी नीतियाँ रहीं हैं। और अब हम कृषि के उत्पादों की कीमतों सम्बंधी नीतियों पर बल देंगे।

13.5.1 उत्पादक मूल्य

जीवन निर्वाह कृषि वाले क्षेत्रों में फसल कटने के बाद किसानों के पास नकद धन की कमी हो जाती है क्योंकि एक तो उसे अपने घर का खर्च चलाना होता है और दूसरे वे कर्जे लौटाने होते हैं जो उसने उत्पादन के लिए उठाये हैं। बड़े-बड़े किसानों को छोड़कर जो अपना माल अपने पास रोक सकते हैं, अधिकतर किसान अपनी उपज को बेचने की जल्दी में होते हैं। जब बाजार नियंत्रित न हो और समर्थन मूल्यों की व्यवस्था समुचित न हो, तो किसान पैसा उगाहने के लिए जल्दबाजी में अपनी उपज व्यापारियों और महाजनों को बेच देते हैं।

कृषि मूल्य आयोग (जिसका नया नाम कृषि लागत और मूल्य आयोग है) और 1965 में भारतीय खाद्य निगम की स्थापना के बाद किसानों को इस बात का आश्वासन मिला है कि उन्हें अपनी उपज के लिए उचित मूल्य मिलेगा। 70 के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक कृषि लागत और मूल्य आयोग सभी कृषि उत्पादों के न्यूनतम समर्थन मूल्य की सिफारिश करता था और भारतीय खाद्य निगम से यह अपेक्षा थी कि वह उन मूल्यों पर वह सारा सामान खरीद लेगा जो कि किसान बेचना चाहते हैं। लेकिन वास्तविकता यह थी कि 70 के दशक के मध्य तक अनाज की आपूर्ति लगभग सदा ही मांग से कम रहती थी और इसलिए बाजार में मूल्य अधिक होते थे और समर्थन मूल्य अधिक प्रभावी नहीं होते थे। 70 के दशक के मध्य से सरकार ने औसत उत्पादन लागत और बाज़ार मूल्यों के रुझान के आधार पर उगाही मूल्यों की घोषणा करनी शुरू कर दी। जब तक अनाज की आपूर्ति की स्थिति भी काफी सुधारी गयी थी क्योंकि नई टैक्नोलॉजी का प्रसार हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उगाही मूल्य लाभप्रद हो गया और किसानों ने अनाज और अन्य कृषि उत्पाद उगाही मूल्यों पर देने शुरू कर दिए। लेकिन 1988-89 में अच्छी फसल के बावजूद मूल्यों में मौसमी परिवर्तन की स्थिति उलट ही रही।

यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि सरकार ने जिन सकारात्मक कृषि मूल्य नीतियों का अनुसरण किया है उनका किसानों को नई टैक्नोलॉजी अपनाने और उत्पादन बढ़ाने का

प्रोत्साहन देने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि प्रारम्भ में समर्थन मूल्य बहुत प्रभावी सिद्ध नहीं हुए, व्यापारियों को इस बात के लिए मजबूर होना पड़ा कि वे किसानों का माल अधिक कीमतों पर खरीदें। उगाही मूल्य किसानों के लिए आकर्षित सिद्ध हुआ और इसका प्रमाण यह है कि 1976 के बाद से भारतीय खाद्य निगम द्वारा खरीदे गये अनाज की मात्रा बढ़ती ही चली गयी है। लेकिन उगाही मूल्य केवल गेहूँ और चावल पर लागू होते हैं। जहां तक अन्य कृषि उत्पादों का संबंध है सरकार जिन मूल्यों की घोषणा करती है वे कभी प्रभावी नहीं हुए हैं।

13.5.2 सार्वजनिक वितरण व्यवस्था और उपभोक्ता मूल्य

भारत ने अनाज के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था दूसरे विश्व युद्ध से प्रारम्भ की गयी जब ब्रिटिश सरकार यह चाहती थी कि सेना को लगातार अनाज मिलता रहे। सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के लिए सरकार की ओर से अनाज की खरीद अनिवार्य हो गयी। स्वतंत्रता के बाद भी अनाज की कमी बनी रही और इसलिए राष्ट्रीय सरकार को उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को बनाए रखना अनिवार्य हो गया। 60 के दशक के मध्य तक सरकार इस संबंध में केवल तदर्थ आधार पर कार्यवाही करती थी और देश में अनाज की आपूर्ति की स्थिति के अनुसार काम करती थी। लेकिन एक अर्थ में सरकार का दृष्टिकोण एक जैसा रहा। वह यह था कि उसने बहुधा ऐसे काम किए जिनसे बाजार में अनाज की कीमतें कम ही रहें। सरकार ने उपभोक्ताओं के लिए अनाज की कीमतें स्थिर रखने के लिए बड़े पैमाने पर अनाज का आयात प्रारम्भ किया। लेकिन चूँकि देश में अनाज की परिस्थितियाँ सुधर नहीं पाई इस कारण अमरीका के पी.एल.-480 कानून के अन्तर्गत सस्ते अनाज का आयात कई वर्ष तक बढ़ता रहा। 60 के दशक के मध्य तक यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि सस्ते अनाज का आयात जल्दी ही कम हो जाएगा क्योंकि उस समय अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के प्रतिकूल परिस्थितियाँ बन गयीं थीं। यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि कृषि पदार्थों के मूल्य इतने लाभप्रद अवश्य होने चाहिएं कि देश अनाज में आत्मनिर्भर हो सके। उस समय सरकार के सामने एक आधारभूत दुविधा उत्पन्न हो गयी। वह यह थी कि किसानों को लाभप्रद मूल्य देने के साथ-साथ उपभोक्ताओं के लिए भी उचित मूल्य हों। इस कारण यह आवश्यक हो गया कि अनाज और कृषि के सम्बंध में ऐसी समेकित नीति का विकास किया जाए कि गरीब उपभोक्ताओं के हितों को हानि पहुँचाये बिना अर्थव्यवस्था लम्बी अवधि में उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सके।

किसानों के लिए अधिक मूल्यों और उपभोक्ताओं के लिए कम मूल्यों के बीच जो संघर्ष है उसे दूर करने के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को और मजबूत बनाया गया। सरकार किसानों से उनके लिए लाभप्रद मूल्यों पर अनाज खरीदती थी और उपभोक्ताओं को कम कीमत पर अनाज बेचती थी। अनाज का वितरण (1) संस्थाओं और सेनाओं, (2) आटे की चक्कियों, और (3) उचित मूल्य की दुकानों को किया जाने लगा जिससे कि वे अनाज उपभोक्ताओं को बांटा जा सकें। सरकार आटे की चक्कियों को अनाज इसलिए देती थी कि अगर वे लोग भी बाजार में गेहूँ खरीदने लगे तो उसकी कीमतें बढ़ जाएंगी और सरकार के स्वयं अनाज खरीदने के काम में बाधा पड़ेगी।

उपभोक्ताओं को उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से अनाज बेचा जाने लगा। इस नीति के दो उद्देश्य थे – पहला यह कि बाजार में अनाज की कीमतें कम की जाएं और दूसरा यह कि निम्न आय वर्ग के उपभोक्ताओं को अधिक कीमत पर अनाज खरीदने के लिए मजबूर न होना पड़े। उपभोक्ताओं के लिए अनाज की कीमतें उचित रखने के लिए यह आवश्यक हो गया कि उसके लिए सहायता सरकार की ओर से दी जाए। अगर इस तरह की सहायता प्राप्त अनाज गरीबों को बांटा जाता तो सार्वजनिक वितरण व्यवस्था की नीति के कारण सरकार समता और सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति कर सकती थी। लेकिन वास्तव में हुआ यह कि सार्वजनिक वितरण व्यवस्था नागरिक उपभोक्ताओं के लिए कम कीमतों पर अनाज की आपूर्ति बनाए रखने का साधन बन गयी। दूसरे शब्दों में, इस व्यवस्था का प्रयोग राजनीतिक असंतोष को रोकने के लिए किया गया, चूँकि यह असंतोष नगरों के लोगों से ही फैलता है।

गाँवों में रहने वाले अधिकतर गरीब लोगों को सहायता प्राप्त नहीं होती अथवा सस्ता अनाज नहीं मिलता। जब कभी सूखा पड़े, बाढ़ आए या दूसरी कोई प्राकृतिक विपत्ति का सामना हो तभी उन्हें राहत कार्यक्रमों के माध्यम से बांटे जाने वाले सस्ते अनाज के दर्शन ग्रामीण निर्धन को होते हैं। कुछ ही समय पहले सरकार ने ग्रामीण और जनजाति विकास कार्यक्रमों के माध्यम से नियमित रूप से अनाज बांटने की व्यवस्था की है। लेकिन उस अनाज की मात्रा बहुत कम है और उसके बांटे जाने का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता।

बोध प्रश्न 2

1 कोष्ठों में दिए गए वाक्यांश चुन कर उन्हें खाली स्थानों में भरिए।

क) कृषि उपज, विशेषकर अनाज की उपज में अपेक्षाकृत जो ठहराव था उसका कारण ..... (क्षेत्र के प्रसार की सीमाएं/उत्पादकता में वृद्धि की सीमाएं) हैं।

ख) कृषि के उत्पादन में वृद्धि की सकल दर 60 के दशक के मध्य से मुख्य रूप से ... द्वारा बनायी रखी गयी जो कि ..... का परिणाम थी। (क्षेत्र के प्रसार, उत्पादिता में वृद्धि, टैक्नोलॉजी में परिवर्तन, संस्थागत परिवर्तन)

2 लगभग चार वाक्यों में यह बताइये कि भारतीय कृषि में टैक्नोलॉजी के परिवर्तन के मुख्य घटक कौन-कौन से थे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 पिछले दो दशकों में उर्वरकों की खपत बड़ी तेजी से बढ़ी है लेकिन भूमि की प्रति इकाई जितना उर्वरक इस्तेमाल होता है वह उस मात्रा से कम है जिसकी सिफारिश वैज्ञानिक करते हैं। इसके कारण बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 टैक्नोलॉजी परिवर्तन का प्रभाव

आधुनिक आगतों के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण भारतीय कृषि के ढाँचे में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ है। इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच संबंध बढ़ा है, जो जीवन-निर्वाह परम्परागत खेती को एक वाणिज्यिक उपक्रम का रूप देने के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नई टैक्नोलॉजी का अनाज के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यह उत्पादन 1967-68 में 9½ करोड़ टन था और 1988-89 में बढ़कर 17 करोड़ टन हो गया है। यह कहा जा सकता है कि भारत अनाज के मामले में आत्म निर्भर हो गया है, वह इस अर्थ में कि उसकी जनसंख्या की न्यूनतम पौष्टिक आहार की आवश्यकताएँ देश में ही पूरी की जा सकती हैं। लेकिन नई टैक्नोलॉजी शुद्ध वरदान नहीं है। इसके कारण अर्थव्यवस्था के ढाँचे में कुछ असंतुलन पैदा हो गए हैं और कुछ हानिकारक, सामाजिक-आर्थिक परिणाम भी हुए हैं।

13.6.1 दालें और तिलहन

पहली बात तो यह है कि नई तकनीकों का प्रयोग कुछ ही फसलों और कुछ ही क्षेत्रों में किया गया है जिसका मतलब यह हुआ कि इसका लाभ कुछ फसलों और कुछ क्षेत्रों को मिला है। इसका सबसे अधिक प्रभाव तो गेहूँ पर पड़ा है। किसी सीमित हद तक चावल को भी इस टैक्नोलॉजी से लाभ पहुँचा है। लेकिन दालों के उत्पादन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा है। दालों

से ही गरीब जनता प्रोटीन प्राप्त करती है। तिलहन के उत्पादन पर भी, जिससे हमारी अधिकतर जनसंख्या चिकनाई प्राप्त करती है, इस टैक्नोलॉजी का बुरा प्रभाव पड़ा है। दालों और खाद्य तेलों की कीमतें इतनी अधिक हो गयी हैं कि गरीब लोग उन्हें खरीद नहीं सकते। हमने विदेशों से अनाज का आयात कम करके जो पैसा बचाया था वह विदेशों से खाद्य तेल और उर्वरक मंगाने पर खर्च करने लगे हैं। 1988-89 में खाद्य तेलों में काफी वृद्धि हुई है। सरकारी सूत्रों का कहना है कि तिलहन के उत्पादन में जो प्रगति हुई है उससे उसकी पैदावार और अधिक बढ़ेगी।

13.6.2 अपर्याप्त सिंचाई व्यवस्था

नई टैक्नोलॉजी के लिए यह आवश्यक है कि सिंचाई की समुचित और नियंत्रित व्यवस्था हो और यही कारण है कि यह टैक्नोलॉजी उन्हीं क्षेत्रों में सफल हुई है, जहाँ पर सिंचाई का ढाँचा ठीक है। इसलिए देश के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र को ही लाभ पहुँचा है जिसमें पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और कुछ अन्य राज्यों के क्षेत्र आते हैं जहाँ पर सिंचाई की सार्वजनिक व्यवस्था विकसित है, चकबंदी हो चुकी है और किसानों में इस बात की सामर्थ्य है कि वे नई टैक्नोलॉजी अपना कर जोखिम उठा सकें और पूँजी लगा सकें। नई टैक्नोलॉजी से न केवल उत्पादकता बल्कि आय बढ़ती है, इस कारण आय की क्षेत्रवार असमताएं बढ़ गयी हैं।

13.6.3 कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित

सरकारी नीतियां और कृषि में सार्वजनिक पूँजी निवेश उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रहा है जो नई टैक्नोलॉजी को अपना सकते हैं। यही कारण है कि सिंचाई में सहायता (सार्वजनिक और व्यक्तिगत), उर्वरक, बिजली (निजी नलकूपों के लिए) और ऋण व्यवस्था, विपणन व्यवस्था में पूँजी निवेश, भंडारण तथा परिवहन, गेहूँ और चावल के लिए सकारात्मक मूल्यों नीतियों और अन्य सरकारी नीतियों से इन्हीं क्षेत्रों को लाभ हुआ है। इस कारण साधनों के अभाव की समस्या भी अधिक विकट हो गयी है। इन अनुकूल सरकारी नीतियों ने आय और संपत्ति में प्रादेशिक असमताओं को और अधिक गम्भीर बना दिया है।

13.6.4 व्यक्तियों के बीच असमता

नई टैक्नोलॉजी से प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्तियों के बीच आय की असमता भी और बढ़ा दी है। यद्यपि देश के अन्य भागों में इस टैक्नोलॉजी का प्रसार सीमित है, लगभग सभी राज्यों के बड़े-बड़े किसानों को सरकार की अनुकूल नीतियों के कारण इस टैक्नोलॉजी को अपनाने का प्रोत्साहन मिला है। इस कारण लगभग सभी राज्यों में किसान और किसान के बीच आय की असमता बढ़ गई है। लेकिन इस बात को याद रखना बड़ा महत्वपूर्ण है कि नई टैक्नोलॉजी के इस प्रतिकूल प्रभाव का मुख्य कारण भूमि और सिंचाई जैसे दुर्लभ साधनों के वितरण में असंतुलन है, न कि टैक्नोलॉजी को अपनाना।

13.6.5 कृषि का यंत्रीकरण

बड़े-बड़े किसानों की समृद्धि और सरकार की अनुकूल ऋण नीतियों का प्रभाव यह हुआ है कि कृषि में मशीनों का प्रयोग होने लगा है। नई टैक्नोलॉजी से फसलें पहले की तुलना में कम समय में तैयार हो जाती हैं और इस कारण दो या अधिक फसलें उगाए जाने की सम्भावना से खेती में रोजगार के अवसर बढ़ सकते थे। लेकिन मशीनों के प्रयोग से ऐसा सम्भव नहीं हो सका।

13.6.6 परिवहन और भंडारण व्यवस्था

अनाज के उत्पादन में वृद्धि कुछ ही क्षेत्रों में केंद्रित रही है और इसका परिणाम यह हुआ है कि अनाज के परिवहन और भंडारण पर अलाभप्रद सार्वजनिक व्यय हुआ है। सरकार को देश में हर स्थान पर अनाज पहुँचाने के लिए अधिक खर्च करना पड़ा है। यदि अनाज के उत्पादन में विभिन्न क्षेत्रों में संतुलन रहता तो सैकड़ों करोड़ रुपये प्रति वर्ष होने वाला यह खर्चा बचाया जा सकता था और सरकारी पैसे का इस्तेमाल अधिक अच्छी तरह किया जा सकता था।

इस प्रकार अधिक उपज वाले उन्नत बीजों और उर्वरकों के प्रयोग की नई नीति "उन्नति और समता" के राष्ट्रीय उद्देश्यों के विरुद्ध रही है। इसके कारण देश की अनाज की समस्या का तकनीकी हल तो हो गया है लेकिन सामाजिक-आर्थिक और संस्थागत समस्याएं ज्यों की त्यों बनी हुई हैं।

बोध प्रश्न 3

1 क्या भारत की कृषि में किया गया विकास उन्नति और सामाजिक न्याय के हमारे राष्ट्रीय लक्ष्य के अनुरूप रहा है? तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित वक्तव्यों पर निशान लगाकर बताइये कि वे ठीक हैं या गलत।

1) नई कृषि नीति से ग्रामीण असमताओं को कम करने में सहायता मिली है।

2) कृषि में टैक्नोलॉजी के परिवर्तन से दालों के उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ा है।

3) नई टैक्नोलॉजी से केवल उन क्षेत्रों को लाभ पहुँचा है जहाँ चकबंदी नहीं हुई है।

4) नई टैक्नोलॉजी के प्रयोग से भारत में दो या अधिक फसलें उगायी जाने लगी हैं।

5) अधिक उपज वाले बीज मुख्य रूप से गेहूँ की क्रांति के प्रतीक हैं।

13.7 अनाज उत्पादन में अस्थिरता

कृषि के उत्पादन में स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि सिंचाई के लिए समय पर पानी उपलब्ध हो। लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि पानी की आपूर्ति पर किसानों का नियंत्रण रहे। भारत में लगभग 70 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि वर्षा पर निर्भर है और इसलिए वर्ष प्रतिवर्ष कृषि उत्पादन घटना-बढ़ता रहता है। वर्षा होती है तो यह अधिक होता है और नहीं होती तो यह गिर जाता है। जिस भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था है उसके एक भाग में ही पानी न तो समुचित मात्रा में मिलता है और न समय पर। इसका कारण कुछ हद तक तो यह है कि बड़ी और मध्यम सिंचाई परियोजनाओं का प्रबंध दोषपूर्ण है और कुछ यह भी है कि बांधों और कुओं में भी पानी की उपलब्धि इस बात पर निर्भर करती है कि वर्षा हुई है या नहीं।

कृषि के उत्पादन में थोड़ा बहुत अन्तर तो स्वाभाविक है क्योंकि पानी पर किसानों का पूरा नियंत्रण कभी नहीं हो सकता। यह आशा अवश्य है कि सिंचाई उपलब्ध हो तो कृषि के उत्पादन में होने वाली घट-बढ़ कम हो जाएगी। नियोजित विकास के इस युग में सिंचित क्षेत्रों का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है और इसलिए यह आशा की जा सकती है कि आगे चलकर भारत के कृषि उत्पादन में घट-बढ़ कम हो जाएगी। लेकिन इस बारे में मतभेद हैं कि उत्पादन में जो घट-बढ़ होती है वह कम हुई या बढ़ी है। कुछ लोगों ने साक्ष्य देकर यह प्रमाणित किया है कि यह बढ़ती गयी है। लेकिन ऐसा प्रमाण भी मिलता है कि यह बात ठीक नहीं है। उदाहरण के लिए सूखे के प्रत्येक वर्ष में –60 के दशक के मध्य से अब तक – भारत में कृषि का उत्पादन सूखे के पहले के किसी भी वर्ष की तुलना में अधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त 1987-88 में जब देश में अत्यंत भीषण सूखा पड़ा था तो अनाज के उत्पादन में मामूली सी कमी हुई। यह 1986-87 में 14.4 करोड़ टन से घटकर 1987-88 में 13.85 करोड़ टन हो गया था।

जो लोग यह कहते हैं कि अनाज के उत्पादन में घट-बढ़ की प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी है, वे इसका दोष नई टैक्नोलॉजी को देते हैं। यह बात तो सर्वविदित है कि नई टैक्नोलॉजी की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध है या नहीं। लेकिन, भारत में नई टैक्नोलॉजी अस्थिर सिंचाई की परिस्थितियों में और वर्षा पर निर्भर कुछ क्षेत्रों में भी अपनायी गयी है। इसके कारण उत्पादन में अस्थिरता आ सकती है, क्योंकि उर्वरकों के अधिक प्रयोग से उपज तभी बढ़ती है जब बरसात का पानी समय पर और उचित मात्रा में मिले, परन्तु सूखे के वर्षों में उत्पादन बहुत घट जाता है। इस प्रकार पश्चिमी बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, तमिलनाडु, और कुछ अन्य राज्यों में, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था सुविकसित नहीं है और नई टैक्नोलॉजी उन क्षेत्रों में भी अपनायी गयी है जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं है, इस कारण ऐसा लगता है कि उत्पादन में प्रति वर्ष होने वाली घट-बढ़

बढ़ती गयी है। दूसरी ओर, पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और आँध्र प्रदेश के कुछ भागों में, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था विकसित है और नई टैक्नोलॉजी के अपनाये जाने की दर ऊँची है, उत्पादन में काफी स्थिरता रही है। कुल मिलाकर देखा जाए तो नई टैक्नोलॉजी का सकारात्मक प्रभाव उसके नकारात्मक प्रभाव को दूर करने में सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि देश का सकल उत्पादन बढ़ता ही चला गया है। हाँ, यह अवश्य है कि यह कहा जा सकता है कि वृद्धि की दर उस क्षेत्र में कम होने लगी है जहाँ पर यह अधिक थी। ऐसा उत्तर-पूर्वी भारत में देखने को मिला है।

लेकिन इस बात को ध्यान में रखना पड़ेगा कि उत्पादन में अस्थिरता, वह किसी क्षेत्र तक सीमित हो या व्यापक हो, कुछ प्रतिकूल प्रभाव अवश्य डालती है। इसके कारण कृषि में पूँजी लगाने में जोखिम हो सकता है। इससे नीति-निर्माताओं का ध्यान भी बंट जाता है और इस बात की संभावना रहती है कि लम्बी अवधि के विकास की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए जिन साधनों का प्रयोग किया जाना है वे राहत कार्यक्रमों की तात्कालिक आवश्यकताओं में लगा दिए जाते हैं। यह तब करना पड़ता है जब सूखा पीड़ित क्षेत्रों में छोटे किसानों और कृषि मजदूरों की आय बहुत घट गई हो। भारत में यही होता रहा है। एक ओर तो सकल उत्पादन बढ़ता चला गया है, लेकिन दूसरी ओर हर वर्ष राहत कार्यों पर करोड़ों रुपए का खर्च करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, प्रगति का लाभ अनुत्पादक उपभोग व्यय में चला जाता है और विकास के लिए पूँजी निवेश के रूप में उसका प्रयोग नहीं होता।

13.8 कृषि-मजदूर

यहाँ पर हम कुछ ऐसे पहलुओं की ओर ध्यान देंगे कि जिनका सम्बंध हाल ही के कृषि सम्बंधी ढाँचे से है। कृषि मजदूरों की समस्याओं की चर्चा ब्यौरेवार तो हम बाद में करेंगे। स्वतंत्रता से पहले कृषि मजदूरों की हालत दासों से बेहतर नहीं थी। प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों में उनमें से बहुत से बहुत कम मजदूरी पर और लम्बे समय तक काम करने के लिए अपने जमींदारों और महाजनों के बंधुआ बन जाते थे। आजादी के बाद उनकी दशा सुधारने के लिए कार्यवाही की गयी है। इस दिशा में निम्नलिखित कदम उठाए गए हैं: (क) न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण; (ख) बंधुआ मजदूरी की प्रथा का उन्मूलन; (ग) भूमिहीनों को भूमि का वितरण; (घ) मकानों के लिए भूमि के टुकड़े देने की व्यवस्था; और (ङ) जिन दिनों खेतों में काम न चल रहा हो उन दिनों रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के विशेष कार्यक्रम। इसमें संदेह नहीं कि इनमें से कुछ बातों के कारण कृषि मजदूरों को बहुत राहत मिली है। लेकिन बेरोजगारी और निर्धनता की समस्या अभी तक बड़ी भीषण बनी हुई है।

कृषि में मजदूरों से काम लेने पर जो तत्व प्रभाव डालते हैं उनमें से कुछ का निदान कर लिया गया है। वे हैं: – काश्तकारी की व्यवस्था, भूमि का आकार और उसका वितरण, सिंचाई की व्यवस्था, फसलों की गहनता और खेती की टैक्नोलॉजी।

जैसा कि भूमि सुधारों की चर्चा करते समय कहा गया है कि भारतीय कृषि में काश्तकारों के लिए अभी तक सुरक्षा की व्यवस्था नहीं हो सकी। इस कारण खेती में मजदूरों के प्रयोग पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सिंचाई से खेती का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है और एक से अधिक फसलें उगायी जा सकती हैं। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की व्यवस्था है वहां अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक मजदूरों को काम मिल सकता है। लेकिन भारत में सिंचाई की व्यवस्था अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। इस असमता के कारण कुछ ही क्षेत्रों के मजदूरों को सिंचाई की व्यवस्था के प्रसार से लाभ पहुँचा है। छोटी जोतों में बड़ी जोतों की तुलना में प्रति हैक्टेयर अधिक श्रमिकों का प्रयोग होता है। इसलिए भूमि के पुनः वितरण से अधिक मजदूरों को काम मिल सकता है।

अधिक उपज देने वाले बीजों के कारण फसलें कम समय में पकने लगी हैं और एक से अधिक फसलें उगाने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी है। इस कारण अधिक मजदूरों को खेती में रोजगार दिलाने की सम्भावना अधिक हो सकती थी। लेकिन नई टैक्नोलॉजी से कृषि में अधिक लाभ कमाकर उसमें मशीनों में प्रयोग की सुविधा उत्पन्न हो गयी है, चकबंदी हो गयी है और ऋण की नीतियाँ किसानों के अनुकूल हैं इसलिए अधिक मजदूरों को रोजगार देने की सम्भावना बहुत कम हो गयी है। इसके अतिरिक्त नई टैक्नोलॉजी में कृषि मजदूरों की हालत और बिगाड़ दी है क्योंकि खेती से आय में वृद्धि की दर कृषि मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि की दर से कहीं अधिक है। इसके अतिरिक्त नई टैक्नोलॉजी कुछ ही क्षेत्रों में अपनायी गयी है और विभिन्न क्षेत्रों के कृषि मजदूरों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में बहुत अधिक भिन्नता दिखाई देती है।

बोध प्रश्न 4

1 लगभग 50 शब्दों में यह बताइये कि अधिक उपज देने वाले बीजों और अन्य घटकों के प्रयोग का खेती पर क्या प्रभाव पड़ा है।

.....

.....

.....

.....

.....

2 कृषि मजदूरों की हालत सुधारने के लिए क्या कदम उठाए गए हैं।

.....

.....

.....

3 कृषि मजदूरों के काम पर लगाये जाने को प्रभावित करने वाले कौन से तत्व हैं? चार वाक्यों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.9 सारांश

अब तक हम यह जान चुके हैं कि किसी देश की कृषि के विकास के लिए विकास की समुचित नीति बनाने की आवश्यकता पड़ती है। कृषि के विकास की नीति में कृषि के ढाँचे उसके संबंधों और संस्थाओं, टैक्नोलॉजी के विकास और उसके प्रयोग, ढाँचे के विकास, कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओं और उसके उत्पादन के मूल्य आदि की नीतियाँ शामिल हैं, जिनसे किसानों को अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है और यह फैसला किया जा सकता है कि विकास की प्रक्रिया से होने वाले लाभ विभिन्न क्षेत्रों और सामाजिक-आर्थिक वर्गों के बीच किस प्रकार बांटे जा सकते हैं। इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि यदि हम उन्नति के साथ-साथ सामाजिक न्याय भी चाहते हैं तो इन नीतियों का एक उचित सम्मिश्रण होना चाहिए जिससे कि विकास की नीतियों के विभिन्न पहलुओं के बीच संतुलन बनाये रखा जा सके। यदि नीतियों में केवल विकास पर ही बल दिया जायेगा तो उनका परिणाम यह हो सकता है कि विकास तो हो लेकिन साथ ही सामाजिक असमताएं भी बढ़ जाएं।

कृषि के उत्पादन और विकास से प्राप्त लाभों के वितरण पर प्रभाव डालने वाले सभी तत्वों के बारे में हमारी सरकार ने स्वतंत्रता के बाद बहुत सी नीतियाँ अपनायीं हैं। इन नीतियों से भारतीय कृषि प्रगति के पथ पर अग्रसर हुई है लेकिन प्रगति के लाभ का वितरण अनुकूल ढंग से नहीं हो पाया है। क्षेत्रों और व्यक्तियों के बीच असमताएं बढ़ती ही चली गयी हैं।

भूमि सुधारों का उद्देश्य यह था कि असमताओं को कम किया जाए जिससे कि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से विभिन्न वर्गों में अधिक असमता न रहे। लेकिन इन सुधारों को उचित ढंग से लागू नहीं किया गया। अधिक उपज देने वाले बीजों और उर्वरकों के आने के बाद 60 के दशक के मध्य में जो कृषि नीति अपनाई गई थी उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि उसका उद्देश्य वर्तमान कृषि संबंधों में कोई फेर-बदल किए बिना, देश की खाद्य समस्या को हल करना था। इसके अतिरिक्त इस टैक्नोलॉजी का प्रयोग सिंचाई और किसानों की पूँजी निवेश की सामर्थ्य के साथ ही अधिक श्रेयस्कर हो सकता है। और इस कारण यह केवल उन क्षेत्रों में अपनाई गई जहाँ सिंचाई की विकसित व्यवस्था थी। और फिर, इसे उन्हीं किसानों ने अपनाया जिनमें अधिक पूँजी लगाने की क्षमता थी।

व्यक्तियों और क्षेत्रों के बीच बढ़ती हुई असमता जैसे कुछ प्रतिकूल प्रभावों को दूर करने के लिए सरकार ने गरीबों के लिए विशेष कार्यक्रम शुरू किए हैं, सूखा पीड़ित और कम विकसित क्षेत्रों में राहत के कार्य शुरू किए हैं और सहायता प्राप्त मूल्यों पर अनाज बेचने के लिए व्यापक सार्वजनिक वितरण व्यवस्था की है। दूसरे शब्दों में, भारत में विकास की जो नीति अपनाई गई है उससे विकास के लिए साधन उत्पन्न करने के स्थान पर, आर्थिक सहायता पर आधारित अनुत्पादक उपभोग व्यय पर भारी राशियाँ खर्च की गई हैं।

13.10 शब्दावली

आबंटन अधिकार क्षेत्र: वह परिवेश जिसमें किसान इस बारे में निर्णय करता है कि भूमि, श्रम और पूँजी जैसे साधन विभिन्न फसलों पर किस प्रकार लगाए जाएँ। इसमें कृषि के ढाँचे, सिंचाई और बिक्री व्यवस्था जैसी सुविधाओं, उत्पादों और खेती के लिए आवश्यक सामान की कीमतों और टैक्नोलॉजी आदि तत्व सम्मिलित हैं। इनमें से किसी भी तत्व में कोई परिवर्तन हो तो उसका प्रभाव विभिन्न फसलों के लिए रखे जाने वाले साधनों पर पड़ता है। उदाहरण के लिए ऐसी परिस्थिति की कल्पना कीजिए जहां किसान अपनी भूमि पर, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं है, केवल ज्वार और बाजरा जैसी फसलें उगाता है। मान लीजिए कि सरकार ने नहरों की कोई व्यवस्था बनायी है जिसके माध्यम से उसे सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध करा दिया गया है। उस स्थिति में उसकी फसलों का ढाँचा अचानक बदल जायेगा। वह चावल और गेहूँ अधिक उगाना पसंद करेगा क्योंकि सिंचाई की सुविधा होने से ये फसलें उगाने में अधिक लाभ होता है। उसी प्रकार टैक्नोलॉजी, कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओं, या कीमतों आदि में कोई परिवर्तन होता है तो किसान के साधनों का आवंटन करने के निर्णयों पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनमें परिवर्तन करके वह अपना लाभ बढ़ा सकता है।

चकबंदी: उत्तराधिकार के कानूनों और जीवन-निर्वाह खेती की परिस्थितियाँ होने के कारण कृषि भूमि की जोतों के बार-बार टुकड़े होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी और आर्थिक दृष्टि से वे जोतें अलाभप्रद हो गयीं थीं। स्वतंत्रता के बाद भारत में इस बात का प्रबंध किया गया कि चकबंदी करके इन जोतों को आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद बनाया जाए।

सकल फसल क्षेत्र: इसका अर्थ है, किसी वर्ष में ऐसा क्षेत्र जिस पर खेती की जाती हो। "शुद्ध फसल क्षेत्र" और "सकल फसल क्षेत्र" के बीच अन्तर है। इसको समझने के लिए किसान की कल्पना कीजिए, जिसके पास 10 हैक्टेयर भूमि है। वह खरीफ के मौसम में 10 हैक्टेयर पर धान उगाता है। लेकिन रबी के मौसम में वह पाँच हैक्टेयर में गेहूँ उगाता है लेकिन बाकी पाँच हैक्टेयर परती छोड़ देता है क्योंकि सिंचाई की व्यवस्था नहीं हैं। अगर वर्ष भर में खेती के दो ही मौसम हों – खरीफ और रबी – तो उसका सकल फसल क्षेत्र 15 हैक्टेयर हो जाता है, अर्थात् खरीफ के मौसम में 10 हैक्टेयर और रबी के मौसम में 5 हैक्टेयर। लेकिन उसका शुद्ध फसल क्षेत्र 10 हैक्टेयर ही रहता है।

क्षेत्रों के बीच संबंध: विभिन्न क्षेत्र – कृषि, विनिर्माण और अर्द्ध-विनिर्माण-आगतों और अंतिम माँग के लिए एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। कृषि से कुछ बड़े उद्योगों जैसे सूती कपड़ा उद्योग, पटसन उद्योग और चीनी उद्योग के लिए कच्चा माल मिलता है। कृषि से ही निर्माण उद्योग में लगे श्रमिकों को उनकी जरूरत की चीजें मिलती हैं। विनिर्माण क्षेत्र कृषि को महत्वपूर्ण वस्तुएँ जैसे उर्वरक, बिजली, कीट नाशक दवाएँ, ट्रैक्टर और फसल काटने की मशीनें देता है। यह ग्रामीण जनसंख्या की खपत के लिए गैर-कृषि पदार्थ भी प्रदान करता है। किसी भी एक क्षेत्र के उत्पादन में कमी के कारण दूसरे क्षेत्र के काम में बाधा आ सकती है और कीमतें बढ़ सकती हैं।

भूमि की अधिकतम सीमा: औपनिवेशिक भूमि व्यवस्था के कारण आय का वितरण अत्यंत असंतुलित था और बड़ी-बड़ी जोतों के मालिकों के अनुकूल था। छोटे किसानों से उनकी जमीनें छीन जाती थीं और वे भूमिहीन मजदूरों के वर्ग में शामिल हो जाते थे। 60 के दशक में विभिन्न राज्यों की सरकारों ने कानून पास किए जिससे कि किसी परिवार (पति, पत्नी और तीन अवयस्क बच्चों) के लिए भूमि की जोत की सीमा निर्धारित की जाए। इस प्रकार जो भूमि बच गयी उसे भूमिहीन लोगों में बांटा जाना था।

न्यूनतम समर्थन मूल्य: कृषि उत्पादों का न्यूनतम मूल्य जिस पर भारतीय खाद्य निगम और कपास तथा पटसन निगम उस दशा में कृषि उत्पादों को खरीदते हैं जब कीमतें उस स्तर से नीचे गिरने लगें।

न्यूनतम शारीरिक आवश्यकता: यह पौष्टिक आहार की वह न्यूनतम आवश्यकता है जो हर व्यक्ति को चाहिए। यह आवश्यकता आयु, पुरुष या स्त्री, जलवायु और काम के स्वरूप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न हो सकती है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के अनुसार,ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति न्यूनतम कैलोरी आवश्यकता प्रतिदिन 2400 है और शहरी क्षेत्रों में 2100। उसी प्रकार प्रोटीन की आवश्यकता लगभग 45.5 ग्राम प्रति दिन प्रति व्यक्ति होनी चाहिए। यदि प्रति व्यक्ति को प्रतिदिन 450 ग्राम अनाज उपलब्ध हो तो उससे उसकी न्यूनतम शारीरिक आवश्यकता अर्थात् पौष्टिक आहार की न्यूनतम आवश्यकता पूरी की जा सकती है।

उगाही मूल्य: फसलों का वह क्रय मूल्य है जो कि सरकार औसत लागत मूल्य और बाजार के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित करती है।

सार्वजनिक वितरण व्यवस्था: सरकार कृषि के उत्पाद, विशेष रूप से अनाज उगाही मूल्यों पर किसानों से खरीदती है और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के लिए उसका वितरण उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से करती है।

ग्रामीण पूँजी बाज़ार: यह ग्रामीण क्षेत्रों का असंगठित पूँजी बाज़ार है जहाँ महाजन लोग किसानों को उनके उपभोग और कृषि में निवेश के लिए बड़ी ऊँची दरों पर ऋण देते हैं।

गैर-मौसमी काश्तकार: ये काश्तकार दखली काश्तकारों से भिन्न हैं इन्हें कानून में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता और ज़मींदार जब भी चाहे उन्हें निकाल सकता है।

13.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, ए.एन., *भारतीय अर्थशास्त्रः विकास एवं नियोजन,* 1988. वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, अध्याय 22-29.

दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम्: *भारतीय अर्थव्यवस्था,* 1990. एस. चांद एंड कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय 24-27, 31, 32 एवं 39.

मिश्र, एस.के. एवं वी.एके. पुरी: *भारतीय अर्थव्यवस्था,* 1989. हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, अध्याय 22-24, 28 एवं 29.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण: *भारतीय अर्थशास्त्र,* 1990, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, अध्याय 10-16, 20.

Bergmann, Theodor; 1984. *Agrarian Reforms in India,* Agricole Publishing Academy.

Dantwala, M.L.; (ed) et.al., 1986. *Indian Agricultural Development since Independence,* Indian Society of Agricultural Economics.

Dasgupta, Biplab; 1977. *The New Agrarian Technology and India,* The Macmillan Company of India Ltd.

Hanumantha Rao, C.H.; 1975. *Technological Study and Distribution of Gains in Indian Agriculture,* The Macmillan Company of India Ltd., New Delhi.

Hanumantha Rao, C.H.; Ray, S.K., & Subbarao, K.; 1988. *Unstable Agriculture and Droughts,* Vikas Publishing House Pvt. Ltd.

Haque, T., Sirohi, A.S.; 1986. *Agrarian Reforms and Institutional Changes in India,* Concept Publishing Co.

Report of the National Commission on Agriculture, Part XV, 1976.

13.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 भाग 13.3 पढ़िए।
2 भाग 13.3 और भाग 13.3.4 पढ़िए।
3 भाग 13.3.2 पढ़िए।
4 भाग 13.3 विशेष रूप से भाग 13.3.4 पढ़िए।

बोध प्रश्न 2

1 क) क्षेत्र के प्रसार की सीमाएँ
   ख) उत्पादकता में वृद्धि, टैक्नोलॉजी में परिवर्तन
2 भाग 13.4 पढ़िए।
3 भाग 13.4.4 पढ़िए।

बोध प्रश्न 3

1 भाग 13.6 पढ़िए।
2 i) गलत ii) ठीक iii) गलत iv) ठीक v) ठीक

बोध प्रश्न 4

1 भाग 13.7 और भाग 13.8 पढ़िए।
2 भाग 13.8 पढ़िए।
3 भाग 13.8 पढ़िए।

Notes

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास

खंड

7

स्वतंत्रता के पश्चात औद्योगिक क्षेत्रक

इकाई 14
उद्योग : नीति, विनियमन, लघु उद्योग तथा सार्वजनिक क्षेत्रक 5

इकाई 15
औद्योगिक प्रगति, रुग्णता और वित्त व्यवस्था, विदेश व्यापार-प्रणाली और पूँजी 35

विशेषज्ञ समिति

प्रो. व्हाई.के. अलघ
सदस्य, योजना आयोग
नई दिल्ली

प्रो. अमिय के. बागची
निदेशक
समाज विज्ञान अध्ययन केंद्र
कलकत्ता

प्रो. बी.बी. भट्टाचार्य
इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ
दिल्ली

पो. टी.एन. कृष्णन
अध्यक्ष
मेंटर फॉर डेवेलपमेंट स्टीडीज़
त्रिवेन्द्रम

प्रो. वी. सर्वेश्वर राव
अर्थशास्त्र विभाग (सेवा-निवृत्त)
आन्ध्र विश्वविद्यालय
वाल्टेयर
(आन्ध प्रदेश)

प्रो. सी.एच.हनुमंत राव (अध्यक्ष)
इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ
दिल्ली

प्रो. नीलकंठ रथ
गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स
एण्ड इकॉनॉमिक्स.
पूणे (महाराष्ट्र)

प्रो. बोधायन चट्टोपाध्याय (संयोजक)
अर्थशास्त्र विभाग,
इं.गां.रा.मु.वि.वि., नई दिल्ली

पाठ निर्माण दल

प्रो. एन.एस. सिद्धार्थन्
इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ
दिल्ली

डॉ. हीरेन सरकार
नेशनल काउंसिल ऑफ अप्लाइड
इकॉनॉमिक रिसर्च
नई दिल्ली

श्री एम.के. मण्डल
नेशनल काउंसिल ऑफ अप्लाइड
इकॉनॉमिक रिसर्च
नई दिल्ली

सचिवालयिक सहायक : इं.गां.रा.मु.वि.
श्री प्रवीण कुमार शर्मा
श्रीमती शान्ति रामचन्द्रन

संकाय सदस्य :
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बोधायन चट्टोध्याय
डॉ. श्रवण कुमार सिंह
श्री अच्यं कुमार मित्र
श्री कौस्तुभ वरिक
कु. मधु बाला
डॉ. एस.सी. शर्मा
श्री जी.वी. रामन्ना

प्रो. वी.एन. कौल (संरचना संपादक)
प्रो. जी. सांबशिव राव (भाषा संपादक)

अनुवाद

श्री ओमप्रकाश अग्रवाल
नई दिल्ली

श्रीमती शकुंतला रायज़ादा
दिल्ली

सचिवालयिक सहायक :
इं.गां.रा.मु.वि.
श्री हरीश कुमार सेठी

संकाय सदस्य :
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
श्री नूर नबी अब्बासी

डॉ. भगत सिंह

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री एम.पी. शर्मा
संयुक्त कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल 1993 (पुनः मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1990, पुनर्मुद्रित, 1991
ISBN-81-7091-559-7

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ या अन्य किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी. पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015
मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना कटरा, इलाहाबाद।

खंड 7 स्वतंत्रता के पश्चात औद्योगिक क्षेत्रक

इस खंड में स्वतंत्रता के पश्चात भारत के आर्थिक विकास की समग्र कार्यनीति के संदर्भ में औद्योगिक क्षेत्रक के प्रमुख लक्षणों, उपलब्धियों तथा समस्याओं के बारे में बताया गया है। इस खंड में दो इकाइयां–14 तथा 15 हैं।

इकाई–14 में औद्योगिक नीति के उभरते हुए ढांचे की रूपरेखा; सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रक के रूप में उद्योगों का श्रेणीकरण; लाइसेंस प्रणाली का कार्यान्वयन तथा उसको उदार बनाना; लघुउद्योग, कुटीर उद्योग तथा अनौपचारिक उद्योग की संवृद्धि और अंत में सार्वजनिक क्षेत्रक उद्यमों के कार्यनिष्पादन की समीक्षा भी की गई है।

इकाई–15 में औद्योगिक संवृद्धि का स्वरूप हमारी औद्योगिक संरचना के गठन में होने वाले परिवर्तन, उसका क्षेत्रीय वितरण तथा संकेंद्रण की मात्रा; औद्योगिक रुग्णता की समस्या के बारे में बताया गया है–और अंत में विदेशी व्यापार तथा निवेश क्षेत्र, हाल के उदारीकरण के प्रयासों के बारे में संक्षेप में चर्चा की गई है।

इकाई 14 उद्योग : नीति, विनियमन, लघु उद्योग तथा सार्वजनिक क्षेत्रक

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 प्रारंभिक परस्पर विरोधी विचार
  14.2.1 दो चरम विचार
  14.2.2 मुख्यधारा विचार
14.3 औद्योगिक नीति का आधार
  14.3.1 आयात प्रतिस्थापन तथा नियंत्रण
  14.3.2 विदेशी पूँजी
14.4 औद्योगिक नीति प्रस्ताव
  14.4.1 उद्देश्य
  14.4.2 उद्योगों का वर्गीकरण
  14.4.3 औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956
  14.4.4 लाइसेंस प्रणाली
14.5 औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956—एक मूल्यांकन
  14.5.1 मूल्यांकन की कसौटियाँ
  14.5.2 नियंत्रणों का मूल्यांकन
14.6 उदारीकरण की ओर
  14.6.1 औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1970
  14.6.2 औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1977 और उसके परिणाम
  14.6.3 नवीनतम दौर: सातवीं पंचवर्षीय योजना
14.7 लघु, कुटीर तथा अनौपचारिक उद्योग
  14.7.1 "लघु उद्योग" की परिभाषा और तर्क
  14.7.2 समीक्षा
14.8 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की संवृद्धि तथा भविष्य
  14.8.1 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के प्रकारों का तुलनात्मक महत्व
  14.8.2 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की भविष्य की संभावनाएँ
  14.8.3 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की वित्तीय, विपणन तथा तकनीकी प्रशिक्षण संबंधी आवश्यकताएँ
14.9 सार्वजनिक क्षेत्रक : कार्य निष्पादन
  14.9.1 सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्देश्य
  14.9.2 सार्वजनिक उद्यमों का कार्य निष्पादन
  14.9.3 सार्वजनिक क्षेत्रक में दक्षता
  14.9.4 स्वायत्तता तथा जवाबदेही
14.10 सारांश
14.11 शब्दावली
14.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- स्वतंत्रता की पूर्वसंध्या पर हमें किस प्रकार का औद्योगिक ढाँचा विरासत में मिला और अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण की कार्यनीति (strategy); के बारे में जान पाएंगे;
- विभिन्न औद्योगिक नीति संकल्पों तथा उनकी प्राथमिकताओं को बता पाएंगे;
- भारत के आर्थिक विकास में लघु तथा कुटीर उद्योगों की भूमिका का विश्लेषण कर पाएंगे;
- लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की भावी संवृद्धि और आवश्यकताओं की जाँच कर पाएंगे; तथा

सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए निर्धारित विभिन्न उद्देश्यों के संदर्भ में सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों के कार्यनिष्पादन की समीक्षा कर पाएंगे।

14.1 प्रस्तावना

हम खंड 1 की इकाई 3 में पहले ही पढ़ चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के पहले भारत में जूट तथा सूती कपड़ा उद्योग काफी विकसित था। इसके अतिरिक्त दोनों विश्वयुद्धों के बीच कई उद्योग, विशेष रूप से इस्पात, चीनी, सीमेंट, माचिस, वनस्पति तेल, साबुन तथा इंजीनियरी की बहुत सी शाखाओं के उद्योग स्थापित किए गए। लेकिन उद्योगों की इस विविधता को किसी भी तरह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता था। स्वतंत्रता के समय बड़े औद्योगिक क्षेत्रक की सापेक्षिक महत्वहीनता इसी तथ्य से परिलक्षित हो जाती है कि वर्ष 1948-49 में देश की कुल श्रमशक्ति का केवल 6.5 प्रतिशत भाग ही फैक्टरियों में काम करता था। औद्योगिक ढाँचें की सबसे बड़ी कमी इसका एकतरफा स्वरूप था, यह मुख्यतः उपभोक्ता वस्तुओं पर ही आधारित था। कुछ उल्लेखनीय अपवादों को छोड़कर उद्योग पूरी तरह निजी क्षेत्रक में ही था, अधिकांशतः विदेशी पूँजी के नियंत्रण में था, हाँ सूती कपड़ा तथा कुछ अन्य उद्योगों पर देशीय नियंत्रण अवश्य था। इसके अलावा, जो भी संवृद्धि हुई वह उन कारकों से प्रेरित हुई नहीं कही जा सकती जो आगे चलकर दक्षता के लिए महत्वपूर्ण होते हैं जैसे लाभदायक अवस्थिति, बाज़ार का आकार, कच्चे माल की उपलब्धता आदि। यह संवृद्धि संभवतः आंशिक रूप से सुरक्षित बाजारों और युद्ध की आकस्मिकताओं का परिणाम थी।

उसी इकाई में हम यह भी देख चुके हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भारत में जो औपनिवेशिक सरकार थी वह न तो कृषि के और न ही उद्योगों के विकास में रुचि रखती थी क्योंकि उनके हित भारतीय जनता के हितों से मेल नहीं खाते थे। किन्तु स्वतंत्रता मिलने के बाद सरकार को गरीबी के इस दुष्चक्र को तोड़ने का और औद्योगीकरण तथा आर्थिक संवृद्धि के लिए उचित परिस्थितियाँ पैदा करने का मौका मिला। उस समय प्रश्न यह था कि अल्प विकास और आम गरीबी की इस औपनिवेशिक विरासत को कैसे खत्म किया जाए? खण्ड 1 की इकाई 1 में हमने राष्ट्रीय आंदोलन के उदय तथा उसके पनपने के साथ-साथ राष्ट्रीय आयोजना के विचारों के विकास की संक्षेप में समीक्षा की थी। इस इकाई में हम इस बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे कि इन विचारों को औद्योगिक नीति तथा नियमन, नियंत्रण आदि के अर्थ में कैसे क्रियान्वित किया गया।

14.2 प्रारंभिक परस्पर विरोधी विचार

पचास के दशक में देश में इस बात को लेकर गरमागरम बहस चल रही थी कि सामान्य रूप से आर्थिक विकास की कार्यनीति क्या हो और विशेष रूप से गरीबी के इस दुष्चक्र को कैसे तोड़ा जाए। उस समय कई प्रकार के विचार विद्यमान थे।

14.2.1 दो चरम विचार

एक चरम विचार मुक्त उद्यम संप्रदाय का था जिसके अनुसार सभी आर्थिक गतिविधियाँ निजी पहल और बाज़ार शक्तियों पर छोड़ देनी चाहिए। मुक्त उद्यम की इस विचारधारा का समर्थन कुछ उद्योगपतियों तथा अर्थशास्त्रियों ने किया।

इसके विपरीत बहुत से लोगों का यह विचार था कि स्वतंत्रता से पहले भारत के अल्पविकास का मुख्य कारण यह था कि उस समय की सरकार ने औद्योगीकरण का संवर्धन नहीं किया तथा देशीय उद्यमों को बाज़ार शक्तियों पर छोड़ दिया गया और इसलिए वे विकसित नहीं हो पाये। इसीलिए सरकार के लिए यह जरूरी है कि वह आर्थिक कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग ले जिससे कि औद्योगिक विस्तार के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बन सकें। उनके तर्क के अनुसार सरकार का हस्तक्षेप कम से कम दो कारणों से जरूरी है: 1) आधारिक संरचनात्मक सुविधाएँ अर्थात् सड़कें, बिजली, संचार आदि की व्यवस्था करने के लिए तथा 2) औद्योगिक क्षेत्रक में असंतुलन को खत्म करने हेतु मशीन विनिर्माण क्षेत्र स्थापित करने के लिए।

बाज़ार शक्तियों पर निर्भरता कई अन्य कारणों की वजह से भी अनुचित मानी जाती है। यह तर्क दिया जाता है कि बाज़ार शक्तियों के प्रभाव में जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया उभरेगी वह देश के विकास में कहीं ज्यादा समय लेगी जैसा कि इंग्लैंड तथा पश्चिमी यूरोप में हुआ था। विकास की प्रक्रिया को एक लंबे समय तक जैसे कि एक शताब्दी या उससे अधिक समय तक बाज़ार की सहज शक्तियों पर छोड़ देना न तो भारतीय उद्योगपति ही चाहेंगे और न ही भारत की सामान्य जनता। सोवियत संघ तथा जापान का आर्थिक विकास इस बात को सिद्ध कर देता है कि शताब्दी लंबी विकास प्रक्रिया को एक ही पीढ़ी अर्थात् 30–40 वर्ष तक सीमित किया जा सकता है बशर्ते राज्य आर्थिक कार्यकलाप को समुचित ढंग से नियमित तथा योजनाबद्ध कर दे। इन सभी कारणों की वजह से मुक्त उद्यम का समर्थक संप्रदाय अल्पसंख्या में रह गया।

एक अन्य चरम विचारधारा संपत्ति संबंधों में आमूल परिवर्तन कर देने की समर्थक है जिसके अनुसार सभी संपत्तियों को, चाहे वे ग्रामीण क्षेत्र में हो या शहरी क्षेत्र में, कृषि से संबंधित हों या उद्योगों से संबंधित, राज्य तथा समाज को अंतरित कर दिया जाए और उत्पादन समाजवादी देश के प्रतिरूप के समान किया जाए। इस विचारधारा को भी अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि ऐसे परिवर्तन को पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाया।

14.2.2 मुख्यधारा-विचार

इन चरम विचारों को नजरंदाज करके तीन और विचारधाराएँ सामने आईं जिनमें सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए आपस में होड़ लगी है। गांधीवादी विचारधारा लघु उद्योगों तथा आत्म-निर्भरता की समर्थक है। राष्ट्रवादी उद्योगपति बड़े-बड़े उद्योगों के जरिए तेज गति से औद्योगीकरण चाहते थे, जो विदेशी प्रतिस्पर्धा से समुचित रूप से संरक्षित क्षेत्रक के अधीन पूँजीगत माल बनाने वाले उद्योगों के साथ लघु और कुटीर उद्योगों के लिए समुचित व्यवस्था करके तीव्रगति से औद्योगीकरण करना चहते थे।

लघु और बड़े पैमाने के उद्योगों के बीच यह मत भिन्नता रोज़गार तथा तीव्रगति से संवृद्धि के बीच चुनाव करने पर केंद्रित थी। गांधीवादियों का तर्क था कि बड़े पैमाने के उद्योगों की बजाय छोटे पैमाने के उद्योग मज़दूरों को ज्यादा रोजगार प्रदान कर सकते है। समाजवादी लोकतांत्रिक लोगों ने इस कार्यनीति (strategy) की इस आधार पर आलोचना की कि इसकी वजह से संवृद्धि की दर नीची रह जाएगी। आखिर में, पूँजीगत मालों के उत्पादन के आधार पर औद्योगीकरण करने और लघु तथा कुटीर उद्योगों के पनपने के लिए काफी क्षेत्र छोड़ देने का निर्णय लिया गया। इस बात पर जोर दिया गया कि पूँजीगत मालों (मशीनें बनाना) के क्षेत्रक का समुचित विकास किए बिना विकास की कोई कार्यनीति आगे नहीं बढ़ेगी फिर चाहि वह लघु उद्योगों पर आधारित हो या बड़े पैमाने के उद्योगों पर।

इस तर्क को अकादमिक समर्थन प्रो. महालनोबिस से मिला जिन्होंने यह दिखाया कि अर्थव्यवस्था की समग्र संवृद्धि दर का पूँजीगत माल के क्षेत्रक में किए गए निवेश के अनुपात से प्रत्यक्ष संबंध होता है–अर्थात् यह अनुपात जितना ज्यादा होगा उत्पादन और आय की संवृद्धि दर उतनी ही ऊँची होगी।

एक बार जब उत्पादन का प्रतिरूप बड़े पैमाने के पूँजीगत माल उत्पादित करने वाले उद्योगों के पक्ष में तय हो गया तो अब प्रश्न यह उठा कि इस कार्य को करे कौन? पूँजीगत माल के क्षेत्रक का विकास सरकार करे या निजी उद्यमी? इस प्रश्न का हल वित्त की उपलब्धता को मद्देनज़र रखकर किया गया। उस समय निजी क्षेत्रक के पास धातुओं और मशीनों के विनिर्माण के लिए जरूरी बड़े उद्यमों को लगाने के लिए न तो तकनीकी जानकारी ही उपलब्ध थी और न ही वित्तीय संसाधन।

इसलिए यह महसूस किया गया कि यदि तेज गति से विकास करना ही हमारा उद्देश्य है तो यह जरूरी है कि बुनियादी तथा सामरिक महत्व के उद्योगों अथवा लोकोपयोगी सेवाओं वाले उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्रक में रखा जाए। अन्य उद्योग भी जो अत्यंत आवश्यक हों और जिनमें इतनी बड़ी मात्रा में धनराशि लगाने की जरूरत होगी जो केवल राज्य ही लगा सकता है,तो ऐसे उद्योगों को भी सार्वजनिक क्षेत्रक में ही रखा जाए। इसके अलावा जितने उद्योग शेष बचें उन्हें निजी क्षेत्रक की पहल तथा उद्यम के लिए छोड़ दिया जाए।

अतः सरकार को व्यापक क्षेत्र में उद्योगों के विकास करने का दायित्व संभालना था। सरकार ने यह निर्णय लिया कि औद्योगिक विकास को योजना ढाँचे के अंतर्गत ही संवर्धित

तथा नियमित किया जाए। भारतीय औद्योगिक कार्यनीति (strategy) के सामान्य दृष्टिकोण पर खंड 4 की इकाई 8 में चर्चा की गई है। यहाँ तो हम केवल यही कहेंगे कि भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के लिए केंद्रीय योजना पद्धति को अपनाया है जिसमें विकास के सामूहिक कार्य में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक एक दूसरे की पूरक भूमिकाएँ निभाएंगे। औद्योगीकरण की जो कार्यनीति रची गई उसका जिस प्रकार से प्रचालन किया जाएगा, उसकी चर्चा आगे की गई है।

बोध प्रश्न 1

1 सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए।

i) भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले का औद्योगिक ढाँचा मुख्य रूप से पूँजीगत माल के उद्योगों के विकास का द्योतक है। ( )

ii) भारत में औपनिवेशिक सरकार कृषि या उद्योग का विकास करने में रुचि नहीं रखती थी। ( )

iii) समाजवादी लोकतांत्रिक लोग लघु उद्योगों के विकास और आत्मनिर्भरता के पक्षपाती थे। ( )

iv) प्रो. महालनोबिस के अनुसार "अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर का पूँजीगत माल के क्षेत्रक में निवेश के अनुपात से सीधा संबंध होता है।" ( )

2 औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए सरकार का हस्तक्षेप क्यों आवश्यक है? दो वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

3 विकास संबंधी गांधीवादी और नेहरूवादी दृष्टिकोण में अंतर तीन वाक्यों में स्पष्ट करिए।

.....

.....

.....

14.3 औद्योगिक नीति का आधार

सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों में जो निवेश किया जाना था उसका चयन तथा कार्यान्वयन दोनों ही प्रत्यक्ष नियोजन के अधीन होना था और निजी क्षेत्रक में औद्योगिक निवेश राज्य द्वारा निर्देशित होना था। ये निर्देशन मुख्यतः व्यापक लाइसेंस प्रणाली और योजना आयोग द्वारा एक के बाद दूसरी पंचवर्षीय योजनाएँ बनाते समय व्यापक रूप से "लक्ष्य" निर्धारित करने के ज़रिए भौतिक नियंत्रणों द्वारा किए जाते थे। यह व्यवस्था इस ढंग से प्रचलित होनी थी कि वह यह आँके और निर्धारित करे कि (1) उत्पाद स्तर तक निवेश का प्रतिरूप क्या होगा, तथा (2) प्रौद्योगिकी का चयन, पैमाना, विस्तार, अवस्थिति, सीधा आयात-अंश, वित्तीयन तथा तकनीकी जानकारी में विदेशी सहयोग की शर्तें आदि क्या होंगी।

14.3.1 आयात-प्रतिस्थापन तथा नियंत्रण

औद्योगिक नीति में आयात-प्रतिस्थापन को शामिल करने के दो प्रमुख कारण थे, एक तो यह निर्यात में निराशावाद से संबंधित था और दूसरा तथा सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि अर्थव्यवस्था में नवजात उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता थी।

भारत में विकास की आयात-प्रतिस्थापन प्रधान कार्यनीति के पक्ष में सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता था कि विकास के दौरान नवजात उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक है। इस कार्यनीति के अंतर्गत बाहर से आने वाले माल पर बहुत ऊँची दर से शुल्क लगाकर या उस पर कोटा प्रतिबंध लगाकर देश के नवजात उद्योगों को आयातों की प्रतिस्पर्धा से बचाना था।

इस कार्यनीति में आगे यह कहा गया कि समय के बीतने के साथ जैसे ही नवजात उद्योग विकसित हो जाएंगे वैसे ही विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचने के लिये, उन्हें प्राप्त संरक्षण वापिस ले लिए जाएंगे और फिर यहाँ के उद्योग अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रतिस्पर्धा करके निर्यात उपार्जनों में अंशदान करेंगे जिसे इनके और आगे के विकास में उपयोग किया जाएगा। यह देखा जा सकता है कि इस तर्क ने एक ऐसे गतिशील औद्योगिक क्षेत्रक की स्थापना, जो भविष्य में आंतरिक बाज़ार की विस्तृत मांग को पूरा करने में सक्षम होगा, के लाभों के प्रतिफल में अल्पकालीन हानियों की कुछ मात्रा को स्वीकार करने के लिए, एक आधार प्रदान किया। वास्तव में यह आत्मनिर्भरता की ओर ही एक कदम था। लेकिन महत्वपूर्ण प्रश्न यह पैदा हुआ कि आयात-प्रतिस्थापन को कहाँ तक और कितनी दक्षता से क्रियान्वित किया जाए।

भौतिक नियंत्रणों का सहारा केवल औद्योगिक लाइसेंस तथा आयात लाइसेंस जारी करने के मामले में ही नहीं लिया गया अपितु बहुत सी विनिर्मित तथा अर्धनिर्मित वस्तुओं के कीमत निर्धारण तथा वितरण भी नियंत्रणों के जरिए नियंमित किए गए। वितरण और कीमतों का सीधा नियमन करने के पीछे जो प्रेरक कारण थे उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

i) प्राथमिकता वाले क्षेत्रकों को उचित कीमतों पर पर्याप्त आबंटन सुनिश्चित करने की इच्छा;

ii) समानता का विचार; तथा

iii) स्फीतिकारी प्रभावों को रोकना क्योंकि यदि बुनियादी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाएगी तो आगे सहलग्नता के कारण समग्र अर्थव्यवस्था में कीमतें बढ़ जाएंगी।

14.3.2 विदेशी पूँजी

इनके अतिरिक्त, औद्योगिक कार्यनीति में विदेशी निवेश तथा प्रौद्योगिकी के आयात के विषय में एक नीति वक्तव्य भी शामिल था। विदेशी पूँजी के प्रति सरकार का रुख प्रधान मंत्री श्री नेहरू द्वारा 1949 में संसद में दिए गए नीति वक्तव्य के अनुरूप ही होना था, सरकार ने विदेशी पूँजी और उद्यम और विशेष रूप से औद्योगिक तकनीक और जानकारी की सहभागिता को स्वीकार किया क्योंकि इससे भारतीय अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण की गति तीव्र होनी थी। वक्तव्य में यह पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया गया था कि नियम के रूप में स्वामित्व में मुख्य हित तथा प्रभावी नियंत्रण भारतीयों के हाथ में ही रहेगा। नीति यह थी कि विदेशी निवेश के जरिए प्रौद्योगिकी को लाने की बजाय प्रौद्योगिकी का एक बार भुगतान करके पूरी तरह खरीद लेने को प्रोत्साहन दिया जाए और तकनीकी जानकारी को फीस या रॉयल्टी भुगतान के आधार पर प्राप्त किया जाए।

14.4 औद्योगिक नीति प्रस्ताव

भारत में औद्योगिक नीति के समग्र उद्देश्यों को 1948, 1956 तथा 1973 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों और 1975, 1980 तथा 1985-86 के औद्योगिक नीति वक्तव्यों में स्पष्ट किया गया है।

14.4.1 उद्देश्य

इन उद्देश्यों को मोटे तौर पर निम्नलिखित प्रकार से सूचीबद्ध किया जा सकता है:

i) योजना की प्राथमिकताओं तथा लक्ष्यों के अनुसार औद्योगिक निवेशों तथा उत्पादन का विकास तथा नियमन;

ii) उद्योगों में स्वामित्व के संकेन्द्रण को रोकना;

iii) लघु तथा कुटीर उद्योगों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन देना;

iv) देश के उद्योगों में विदेशी निवेश को सीमित तथा नियंत्रित करना;

v) देश के विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित आर्थिक विकास करना जिससे विकास के स्तरों में असमानता कम की जा सके;

vi) औद्योगिक विकास की आयात-विकल्प प्रधान नीतियों के जरिए आत्म-निर्भरता प्राप्त करने की कोशिश करना; तथा

vii) विकास प्रक्रिया में सार्वजनिक क्षेत्रक को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करना।

14.4.2 उद्योगों का वर्गीकरण

1948 की औद्योगिक नीति का मुख्य जोर एक ऐसी मिश्रित अर्थव्यवस्था की नींव डालना था जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों प्रकार के उद्यम एक साथ मिलकर औद्योगिक विकास की गति बढ़ाने का काम करेंगे। इसमें उद्योगों को चार श्रेणियों में बाँटा गया था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पहला प्रयास औद्योगिक अधिनियम, 1951 के रूप में किया गया। इस अधिनियम के अनुसार (i) अनुसूचित उद्योगों में सभी विद्यमान उपक्रमों को सरकार के पास अपना पंजीयन कराना होगा,; तथा (ii) केन्द्रीय सरकार से पहले लाइसेंस लिए बिना न तो नए औद्योगिक उपक्रम खोले जा सकते हैं और न विद्यमान संयंत्रों में कोई महत्वपूर्ण विस्तार ही किया जा सकता है।

1948 के संकल्प को अपना लिए जाने के बाद भारत में महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई। आयोजना को संगठित आधार पर शुरू किया गया और 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारंभ हुई। सामाजिक तथा आर्थिक नीति के बुनियादी तत्व के रूप में 1954 में संसद ने समाज का समाजवादी ढाँचा स्वीकार किया। इन महत्वपूर्ण घटनाओं की वजह मे औद्योगिक नीति के संबंध में एक नए वक्तव्य की आवश्यकता महसूस हुई। इसीलिए अप्रैल 1956 में दूसरा औद्योगिक नीति प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

14.4.3 औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 में उद्योगों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया। यह वर्गीकरण राज्य द्वारा प्रत्येक श्रेणी में निभाई जाने वाली भूमिका के आधार पर किया गया था। अनुसूची "क" में दिखाई गई पहली श्रेणी में वे उद्योग सम्मिलित किए गए जिनके भावी विकास का दायित्व केवल राज्य का होगा। अनुसूची "ख" वाली दूसरी श्रेणी में वे उद्योग रखे गए जो प्रगामी रूप से राज्य के स्वामित्व में आते रहेंगे और इसलिए इनमें नए उपक्रम स्थापित करने के लिए सामान्यतः राज्य ही पहल करेगा किन्तु निजी उद्यमियों से भी राज्य के इन प्रयासों में सहायता की आशा की जाती थी। तीसरी श्रेणी में शेष बचे सभी उद्योग आते थे जिनका आगे का विकास सामान्यतः निजी क्षेत्रक की पहल तथा उद्यम पर छोड़ दिया गया था।

लेकिन ये श्रेणियाँ अनम्य या कठोर नहीं थीं। उदाहरणतः अनुसूची 'क' में उल्लिखित उद्योगों में निजी स्वामित्व वाली विद्यमान इकाइयों के विस्तार पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया था और यदि राष्ट्रीय हित में आवश्यक हो तो राज्य नई इकाइयों की स्थापना में निजी उद्यम का सहयोग प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र था। लेकिन यह एक शर्त के अधीन था कि ऐसा सहयोग लेते समय राज्य उपक्रम की पूँजी में अपना अधिकांश हिस्सा या अन्यथा उपक्रम की नीति का संचालन तथा उसके प्रचालन पर नियंत्रण के माध्यम से राज्य के लिए आवश्यक अधिकार सुनिश्चित करेगा। अनुसूची 'ख' को मिश्रित क्षेत्रक कहा जा सकता है। इस क्षेत्रक में राज्य प्रगामी रूप से प्रवेश करेगा और अपने प्रचालनों का विस्तार करेगा किन्तु साथ ही साथ निजी उद्यम को भी अपने बल पर या राज्य के सहयोग मे विकास करने का अवसर मिलेगा। बाकी के क्षेत्र में सामान्यतः निजी क्षेत्रक अपनी पहल तथा उद्यम से विकास करेगा। लेकिन राज्य इस क्षेत्र में भी किसी उद्योग को प्रारंभ करने के लिए स्वतंत्र होगा।

14.4.4 लाइसेंस प्रणाली

उद्यमों के सार्वजनिक और निजी क्षेत्रकों में विभाजन को लाइसेंस प्रणाली के द्वारा कायम रखा जाना था। इसलिए कोई भी नया उद्यमी जो किसी नई वस्तु का उत्पादन शुरू करना चाहता है या क्षमता का विस्तार करना चाहता है तो उसे सरकार से लाइसेंस लेने के लिए आवेदन करना जरूरी होगा। इस आवेदन की तकनीकी विकास महानिदेशालय में तकनीकी–आर्थिक दृष्टि से जांच की जाएगी और वह यह निर्णय करेगा कि उस उद्योग में वर्तमान क्षमता पर्याप्त है या नहीं, क्या उसको मशीनों, कच्चे माल या तकनीकी जानकारी का आयात करने की जरूरत होगी और क्या वह उद्यम योजना की प्राथमिकताओं के अनुरूप है? इस कड़ी जाँच पड़ताल के बाद औद्योगिक लाइसेंस को एक (अंतर-मंत्रालय)

लाइसेंस समिति पास करेगी, जो 1951 के औद्योगिक अधिनियम के ढांचे के अंदर 1952 में गठित की गई थी।

औद्योगिक लाइसेंस समिति के अलावा संभावित निवेशकर्ता को बहुत से भौतिक नियंत्रणों की बाधाओं को पार करना होता था। पूँजीगत माल के लिए लाइसेंस पूँजीगत माल लाइसेंस समिति से प्राप्त करना होता था जो इसके लिए आयात लाइसेंस भी प्रदान करती थी। इसके अतिरिक्त यदि इसमें विदेशी सहयोग निहित है तो (अन्तर-मंत्रालय) विदेशी समझौता समिति तस्वीर में आ जाती थी और उससे सहयोग की शर्तों पर स्वीकृति लेनी होती थी।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव से लघु उद्योगों की समस्याओं के प्रति सरकार के दृष्टिकोण का भी संकेत मिलता है। इस प्रकार के उद्योगों के कुछ विशिष्ट लाभ होते हैं विशेष रूप से, तत्काल रोज़गार की व्यवस्था हो जाती है और इनके द्वारा राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत अधिक समान वितरण होना संभव हो जाता है तथा ये पूँजी और कुशलता के ऐसे संसाधनों का प्रभावी और व्यापक आधार वाला जुटाव संभव कर देते हैं जो अन्यथा अप्रयुक्त ही रह जाते। इस संबंध में सरकार की भूमिका यह थी कि वह लघु उद्योगों को अपनी उत्पादन-विधियों को आधुनिक बनाने और अपने संगठनात्मक स्वरूप में सुधार करने के लिए प्रोत्साहित करे। इस क्षेत्र में नए तरीकों से विकास करने पर भी जोर दिया गया।

14.5 औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956–एक मूल्यांकन

सबसे पहले भगवती और देसाई (1970) ने औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 के प्रकाश में पहली तीन योजना अवधियों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया, कीमत निर्धारण तथा वितरण नियंत्रण और प्रचलित व्यापार नीति व्यवस्थाओं के बारे में अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने भारत सरकार की विभिन्न समितियों की रिपोर्टों में दी गई सूचनाओं को एक जगह एकत्र किया। उन्होंने अपने अध्ययन को मुख्यतः औद्योगिक आयोजन तथा लाइसेंस नीति पर हजारी समिति (1967) की रिपोर्ट, एकाधिकार जाँच आयोग रिपोर्ट (1964), औद्योगिक लाइसेंस पर प्राक्कलन समिति की नौवीं रिपोर्ट (1967-68), तकनीकी विकास महानिदेशालय पर माथुर अध्ययन दल (1965) तथा स्वामीनाथन समिति की दो रिपोर्टों (1964 तथा 1966) पर आधारित करते हुए औद्योगिक आयोजन की दृष्टि से लाइसेंस प्रणाली की आर्थिक दक्षता, पंचवर्षीय योजनाओं के ज़रिए निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रकों के लिए लक्ष्य निर्धारण करने में प्रयुक्त विश्लेषणात्मक तरीकों तथा कीमत निर्धारण और वितरण नियंत्रणों की जाँच की।

14.5.1 मूल्यांकन की कसौटियाँ

औद्योगिक आयोजन के लिए लाइसेंस प्रणाली की आर्थिक दक्षता की निम्नलिखित के माध्यम से जाँच की गई :

i) संयंत्रों के वास्तविक चयन में प्रयुक्त की गई आर्थिक कसौटी;

ii) तकनीकी विकास महानिदेशालय द्वारा एकत्र की गई सूचना जिसे इन प्रश्नों पर निर्णय लेने के लिए प्रयोग किया गया;

iii) लक्ष्यों को पूरा करने के लिए आवेदनों के चयन में प्रयुक्त की गई लाइसेंस समिति की कार्यविधि;

iv) आवेदनों को निपटाने में लिया गया समय; तथा

v) औद्योगिक स्वामित्व के संकेन्द्रण को रोकने तथा प्रतियोगी प्रणाली के संवर्धन में लाइसेंस तथा नियमन प्रणाली की भूमिका।

इस विश्लेषण ने स्पष्ट किया कि उभरने वाली तस्वीर वास्तव में बिल्कुल असंतोषजनक है। तीनों योजनाओं की पूरी अवधि के दौरान जो लक्ष्य निर्धारित किए गए उनका आर्थिक आधार तो कमज़ोर था किन्तु वे जरूरत से ज्यादा ब्यौरे वाले और व्यापक थे। लाइसेंस पद्धति को, और कम से कम जहाँ तक प्रतिबंधकारी क्षमता का संबंध है, कुछ ज्यादा ही गंभीरता से लिया गया। लाइसेंस जारी करने की प्रक्रिया लक्ष्यों को पूरा करने या प्रोत्साहित करने में असफल रही। प्रणाली का अनुसरण कमज़ोर था, आवेदकों में से कार्यकुशल को

चुनने की कसौटी समुचित रूप से परिभाषित नहीं थी। लाइसेंस देने की कार्यविधियां ऐसी बनाई गई थीं जो ऐसे चुनाव को विचारार्थ ही नहीं आने देती थी। संतुलित क्षेत्रीय विकास और स्वामित्व के संकेन्द्रण को रोकने जैसे उद्देश्य बार-बार दोहराए तो गए परन्तु ऐसी कोई कार्यविधि नहीं बनाई गई जिससे इन्हें न्यूनतम आर्थिक लागत पर प्राप्त किया जा सके। वास्तव में कुछ मामलों में तो कार्यविधि ने इन उद्देश्यों को असफल करने की भी कोशिश की। बड़े-बड़े औद्योगिक घराने अपने प्रभावों का उपयोग करके नए उद्योगों को स्थापित करने या विद्यमान क्षमता का विस्तार करने हेतु लाइसेंस प्राप्त करने की काफी लाभदायक स्थिति में थे। बड़े-बड़े व्यवसाय-समूहों के बड़ी तादाद में उत्पन्न हो जाने और इन बड़े व्यवसाय–समूहों द्वारा क्षमता पर पहले से ही अधिकार कर लेने की वजह से छोटे–छोटे तथा मझोले उद्यमियों को पनपने का मौका ही नहीं मिला।

14.5.2 नियंत्रणों का मूल्यांकन

जिन प्रमुख कानूनी प्रावधानों के अंतर्गत सरकार कार्रवाई करती थी वे थे: (i) अनिवार्य वस्तु अधिनियम, तथा (ii) औद्योगिक (विकास तथा नियमन) अधिनियम। इसके अतिरिक्त "अनौपचारिक" कीमत नियंत्रण लागू करना भी आम बात थी। 1970 तक की पूरी अवधि के दौरान बहुत से विनिर्मित मालों की कीमत तथा वितरण पर नियंत्रण लागू था, जैसे–लोहा, इस्पात, अलोह धातुएँ, कोयला, उर्वरक, कार्बन, सूती कपड़ा, कागज, चीनी, मोटर कार, स्कूटर, वाणिज्यिक वाहन, एथील अल्को लह, शीरा, सीमेंट, दवाइयाँ, मिट्टी का तेल एवं अन्य पेट्रोल-उत्पाद, साइकिल टायर और ट्यूब, प्राकृतिक रबड़, वनस्पति तेल, साबुन और माचिस आदि। ऐसा नहीं है कि इन सभी चीजों पर हर समय नियंत्रण रहा हो और ऐसा भी नहीं है कि सभी की कीमत और वितरण दोनों पर नियंत्रण रहा हो, बहुत सी वस्तुएँ तो ऐसी थी जिनपर केवल कीमत नियंत्रण ही लगाया गया था।

ब्यौरेवार समीक्षा करने पर ये नियंत्रण गलत सलाह पर आधारित पाए गए और देसाई ने तर्क दिया कि ये नियंत्रण, निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के वैकल्पिक उपायों की तुलना में, इसकी दक्षता की सावधानी से जाँच किए बिना, प्रत्यक्ष हस्तक्षेप की आम आर्थिक दर्शनधारा का हिस्सा थे।

प्रशासनिक तंत्र के जरिए लागू किए जाने वाले नीति ढाँचे की वजह से बड़े तकलीफदेह आर्थिक परिणाम निकले। यह तथ्य है कि बड़े-बड़े औद्योगिक घराने न केवल नई इकाइयाँ स्थापित करने अपितु विद्यमान क्षमता में विस्तार करने के लिए बड़ी संख्या में लाइसेंस प्राप्त करने में सफल हो गए इससे न केवल उद्योग-विशेष में प्रवेश के लिए अवरोध पैदा हो गए और देश के अंतर्गत प्रतिस्पर्धा की संभावना सीमित कर दी गई अपितु उद्योगों को विभिन्न क्षेत्रों में फैलने से भी रोक दिया गया। भौतिक नियंत्रणों की प्रणाली में निहित प्रशासनिक रुकावटों की वजह से लाइसेंस प्राप्त उद्योगों के लिए आवश्यक नम्यता को गंभीर रूप से सीमित कर दिया गया और परियोजना को अक्सर इस ढंग से बोझिल कर दिया गया कि परियोजना लागतों और उसकी उत्पादन लागतों में वृद्धि हो गई। विदेशी प्रतिस्पर्धा की अनुपस्थिति और भारतीय उद्योग को अंधाधुंध तथा अनिश्चित संरक्षण प्रदान कर देने से न केवल निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा अपितु उससे अकुशलता को भी बढ़ावा मिला।

इसके अलावा, लघु उद्योग इकाइयों को तरजीही बरताव इस आधार पर दिया गया था कि इन इकाइयों में पूँजी कम लगती है और इनमें पूँजी की प्रति इकाई पर अधिक रोज़गार पैदा होता है, परन्तु यह बात भी गलत धारणा पर आधारित थी। साठ के दशक के उत्तरार्ध में किए गए अध्ययनों में आधारिक प्रबलता तथा आकार और उत्पादन-पूँजी अनुपात के बीच प्रबलता की जाँच की गई। इन अध्ययनों में पैमाने तथा पूँजी या श्रम प्रबलता के बीच कोई निर्णायक संबंध नहीं पाया गया। इसके अतिरिक्त, अनार्थिक या असमर्थ इकाइयों को सरलता से खत्म न होने देने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप एक ऐसी स्थिति आ गई जिसमें सरकार लाइलाज बीमार इकाइयों का इलाज करने में ही उलझ कर रह गई। इकाई को इस हालत में डालने वाले उद्यमी बिना किसी वित्तीय जोखिम के बचकर निकल गए। अंत में, औद्योगिक नीतियों तथा कार्यविधियों में निहित अनिश्चितताओं की वजह से उद्यमी दीर्घकालीन योजनायें बनाने में हतोत्साहित हो गए।

14.6 उदारीकरण की ओर

सत्तर के दशक में और विशेष रूप से इसके मध्य से औद्योगिक नीति में परिवर्तन आया और अब यह आंतरिक तथा विदेशी दोनों प्रकार के उद्यमों के संबंध में लाइसेंस तथा नियंत्रण की कठोर प्रणाली से अलग हटने लगी। भगवती के अनुसार, सामान्य रूप से भारत की आर्थिक नीति में और विशेष रूप से उसकी औद्योगिक लाइसेंस नीति में [illegible] के दशक के मध्य में, जब 1 जून,1966 को भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया गया, जो परिर्तन आया वह एक ऐतिहासिक घटना थी। हालाँकि, कुछ दिशाओं में औद्योगिक नीति में पहला परिर्वतन 1970 में ही दिखाई दिया जब औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली पर दत्त समिति (1969) की रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर 1969 में एकाधिकार तथा प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम (एम.आर.टी.पी.एक्ट) पारित किया गया और 1 जून, 1970 से उसे लागू किया गया। इस कानून के अंतर्गत एक दूसरे से जुड़े उद्यमों में 20 करोड़ रुपए से अधिक परिसंपत्तियों वाले या आधिपत्य वाले उद्यम में एक करोड़ रुपये से अधिक परिसंपत्ति वाले बड़े औद्योग्गिक घरानों के विस्तार पर रोक लगाने का प्रावधान किया गया।

14.6.1 औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1970

औद्योगिक लाइसेंस नीति, 1970 के माध्यम से 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में अनुसूचित उद्योगों को इस समय की औद्योगिक प्राथमिकताओं तथा लक्ष्यों के समानुरूप बनाने के लिए तीन श्रेणियों में बाँटा गया। इसी तरह का परिवर्तन औद्योगिक-नीति वक्तव्य, 1973 में भी किया गया। मोटे तौर पर इस वक्तव्य में नियमित क्षेत्रक, एकाधिकार गृहों तथा मुख्यत: बहुराष्ट्रीय निगमों के रूप में अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के साथ सीधे करने की पेशकश की गई थीं। यह मोटे तौर पर पिछली नीति से पलटा खाना था और स्पष्ट आशय यह था कि किसी भी तरीके से और यथासंभव किसी भी स्रोत से संसाधनों का जुटाव करके औद्योगिक आधार का विस्तार किया जाए। उदाहरणत: समूचे औद्योगिक क्षेत्रक को छह श्रेणियों में विभाजित करके इस वक्तव्य ने बुनियादी परिवर्तन किए। ये छह श्रेणियाँ इस प्रकार थीं :

मूल क्षेत्रक : वे उद्योग जो राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिए बुनियादी हैं, जो मूल उद्योगों के साथ सीधे संलग्न हैं, जिनमें निर्यात का काफी सामर्थ्य है।

सार्वजनिक क्षेत्रक : वे उद्योग जो औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 की अनुसूची "क" में सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए आरक्षित है।

दोहरी व्यवस्था : शेष मूल क्षेत्रकों में बड़े औद्योगिक घराने (20 करोड़ रुपए की परिसंपत्ति से कम नहीं) भी लाइसेंस-क्षमता के लिए आवेदन कर सकते हैं।

लघु तथा मझोला क्षेत्रक : लघु तथा मझोले क्षेत्रक के लिए आरक्षण किया गया। इसमें आशय यह था कि इन क्षेत्रकों में बड़े औद्योगिक घरानों के प्रवेश को रोका जाए। इस क्षेत्रक में सहकारिताओं को भी, विशेष रूप से बहुमात्रा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र में, प्रोत्साहित किया जाए।

विदेशी कंपनियाँ : विदेशी प्रतिष्ठानों, उनकी सहायक कंपनियों तथा विदेशी कंपनियों की भारतीय शाखाओं को लाइसेंस-शुदा क्षमता हेतु आवेदन करने के लिए पात्र बना दिया गया।

संयुक्त क्षेत्रक : एक मध्यवर्ती क्षेत्रक, जिसे संयुक्त क्षेत्रक कहा जाएगा, के संवर्धन के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारें निजी क्षेत्रक के साथ स्वयं सीधे सहयोग करके उद्योग स्थापित करेंगी।

सभी क्षेत्रकों से संसाधन आकृष्ट करने की प्रक्रिया को लाइसेंस नीति, 1975 से और भी बल मिला जिसके द्वारा महत्वपूर्ण छूटें प्रदान की गई थीं। ये छूटें उन 21 उद्योगों को, जिनके उत्पाद केवल निर्यात प्रयोजन के लिए होते थे, लाइसेंस से मुक्त करके या असीमित विस्तार की अनुमति देकर प्रदान की गई। ये अनुमति एकाधिकार वाले उद्यमियों समेत बड़े औद्योगिक घरानों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों दोनों को दी गई थीं। उन लघु तथा मझोले उद्यमियों को एक करोड़ रुपए तक की नई इकाई स्थापित करने और पाँच करोड़ रुपए तक की विद्यमान क्षमता में विस्तार के लिए औद्योगिक लाइसेंस लेने से मुक्त कर दिया

गया जो एम.आर.टी.पी.अधिनियम के अंतर्गत नहीं आते। यदि लाइसेंस शुदा क्षमता के ऊपर 25% अधिक क्षमता विस्तार हो जाने पर उसे सामान्य रूप से स्वीकृत कर लिया गया।

14.6.2 औद्योगिक नीति, 1977 और उसके परिणाम

1977 में केन्द्र में सरकार बदल जाने से 1977 की औद्योगिक नीति द्वारा पिछली औद्योगिक नीतियों की फिर से समीक्षा की गई। यह महसूस किया गया कि पिछली औद्योगिक नीतियों को लागू करने से बेरोज़गारी बढ़ी है, ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के बीच असमानता में वृद्धि हुई है, औद्योगिक रुग्णता एक राष्ट्रव्यापी बीमारी बन गई है, और वास्तविक औद्योगिक संवृद्धि तथा कुल औद्योगिक निवेश दोनों ही अवरुद्ध हो गए हैं। प्रत्यक्ष तथा प्रच्छन्न बेरोज़गारी दोनों को दूर करने के लिए और अर्थव्यवस्था के असंतुलित विकास को ठीक करने के लिए औद्योगिक नीति, 1977 में कुटीर तथा लघु उद्योगों के पुनरुत्थान तथा संवृद्धि को प्रमुख स्थान दिया गया। बड़े पैमाने के उद्योग को जनता की बुनियादी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के कार्यक्रम के साथ जोड़ा गया, तथा लघु और ग्रामीण उद्योगों को व्यापक रूप से छितराना तथा कृषि क्षेत्रक को सुदृढ़ बनाना इस नीति का उद्देश्य रखा गया। जिन क्षेत्रों को कुटीर, लघु या मझोले क्षेत्रक के लिए नियत कर दिया गया उनमें बड़े तथा एकाधिकार वाले व्यावसायिक घरानों को प्रवेश करने या विस्तार करने की अनुमति नहीं दी गई। सार्वजनिक क्षेत्रक को समूचे औद्योगिक क्षेत्र का विकास करने के लिए स्थायित्व प्रदान करने वाले और उत्प्रेरक के रूप में कार्य करते रहने की अनुमति दे दी गई। विदेशी पूँजी तथा प्रौद्योगिकी पर निर्भरता में कटौती की जानी थी, हालांकि कुछ देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सुविधायें दी गयी।

चूंकि केन्द्र में नई सरकार कुछ ही साल तक चल पाई, इसलिए इसमें कोई खास प्रगति नहीं हो पाई और सत्तर के दशक के मध्य में आंतरिक उदारीकरण की जो प्रक्रिया शुरू की गई थी, 1980 में सरकार के परिवर्तन के साथ वह फिर से चालू हो गई।

1975 में एक योजना शुरू की गई थी जिसके अनुसार 15 इंजीनियरी उद्योगों को अपनी लाइसेंस शुदा क्षमता में 5% वार्षिक की वृद्धि-दर से विस्तार करने का अनुमोदन दिया गया था और इसके लिए उन्हें बार-बार आवेदन करने की जरूरत नहीं थी। 1980 में यह सुविधा परिशिष्ट I में उल्लिखित 19 और उद्योगों को प्रदान कर दी गई। यह सुविधा बड़े घरानों को भी प्रदान कर दी गई बशर्ते उनके उद्योग औद्योगिक नीति, 1975 की अधिसूचना के परिशिष्ट I में उल्लिखित हों। जो अन्य उपाय किए गए उनमें परिशिष्ट I में आने वाले उद्योगों की अधिक क्षमता को नियमित करना तथा केवल निर्यात हेतु उत्पादन के लिए उदार नीति अपनाना शामिल है। फिर 1982 में उत्पादन क्षमताओं के प्रबलन की एक योजना शुरू की गई। तब तक नियम यह था कि यदि प्राधिकृत क्षमता से अधिक क्षमता उत्पन्न कर ली गई है तो ऐसी स्थिति में उसे अधिक क्षमता की माँग विद्यमान होने के बावजूद उपयोग में नहीं लाया जा सकता था। इस प्रकार 1982 की योजना में पिछले सर्वाधिक उत्पादन के अलावा उसके एक तिहाई तक के अधिक उत्पादन के बराबर क्षमता प्रबलन की अनुमति दे दी गई। किन्तु यह कुल क्षमता, प्राधिकृत क्षमता जमा 25% अतिरिक्त क्षमता से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। औद्योगिक लाइसेंस की विस्तार सीमा भी 1978 की 3 करोड़ रुपए से बढ़ाकर 1982 में पाँच करोड़ कर दी गई।

जैसा पहले उल्लेख किया गया है कि साठ के दशक के उत्तरार्द्ध तक प्रचलित औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के अंतर्गत लघु उद्योगों का समुचित विकास संभव नहीं था। हालांकि, लघु उद्योग क्षेत्रक का स्पष्ट उल्लेख 1973 के नीति वक्तव्य में ही किया गया था तथापि 1967 में पहली बार कुछ आधुनिक औद्योगिक उत्पादों का उत्पादन लघु उद्योग-फर्मों के लिए आरक्षित किया गया था जिससे उद्यमशीलता का फैलाव तथा रोज़गार में वृद्धि संभव हो सके। 1967 तथा 1977 के दौरान 180 वस्तुएँ आरक्षित की गई। हालांकि, 1977 में इस आरक्षण पर ज्यादा जोर दिया गया और तब यह सूची बढ़कर 500 वस्तुओं की हो गई। 1980 में इसे बढ़ाकर 800 वस्तुओं की कर दिया गया। आरक्षण के अलावा लघु उद्योग फर्मों को उत्पादन शुल्क तथा कंपनी आयकर में भी रियायतें दी गई।

औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को हाल के वर्षों में उद्योगों को क्षेत्रीय रूप से छितराने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी अधिकाधिक प्रयोग में लाया जा रहा है। पिछड़े क्षेत्रों अथवा बिना उद्योग वाले ज़िलों में उद्योग लगाने को प्रोत्साहन देने के लिए भाड़ा समानीकरण,

विशिष्ट वित्तीय तथा कर रियायतों को हाल के समय में ज्यादा से ज्यादा दिया जा रहा है। कुल आशय पत्रों में से पिछड़े जिलों को जारी किए आशय-पत्रों का प्रतिशत 1978 के 33% से बढकर 1982 में 56% हो गया।

14.6.3 नवीनतम दौर : सातवीं पंचवर्षीय योजनः

औद्योगिक नीति को अनुकूल बनाने की प्रक्रिया को सातवीं पंचवर्षीय योजना अर्न्तगत और भी गति मिली। भौतिक नियंत्रणों के स्थान पर वित्तीय नियंत्रण लागू करने की संभावना के सिद्धांतों की जांच के लिए 1985 के प्रारंभ में बनाई गई समिति की रिपोर्ट ने सुधार की गति को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पिछले कुछ सालों में जो बहुत सी नीतिपरक पहल की गई है वे ये हैं:

i) बहुत से और उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त करना;

ii) कई प्रकार के उत्पादों का उत्पादन करने के लिए विनिर्माण में नम्यता प्रदान करने की दृष्टि से कुछ उद्योगों को एक विस्तृत समूह में रखना;

iii) बड़े घरानों की भूमिका को बढ़ाना और उनके लिए खुले उद्योगों की सूची को व्यापक बनाना (अब इसमें 32 उद्योग आते हैं);

iv) एम.आर.टी.पी. घरानों के लिए परिसंपत्ति सीमा को बढ़ाकर 100 करोड़ रुपये कर देना, इससे अब ज्यादा संख्या में कंपनियाँ इस अधिनियम के प्रतिबंधों के बिना काम कर सकेंगी;

v) लघु उद्योग क्षेत्रक के लिए निवेश सीमा को बढ़ा देना तथा लघु क्षेत्रक के संवर्धन के लिए कर-प्रोत्साहन प्रदान करना;

vi) आधुनिकीकरण, नवीकरण, पुनस्थापन के प्रयोजनों के लिए लाइसेंस शुदा क्षमता में 49% तक की वृद्धि के लिए लाइसेंस जरूरतों से छूट;

vii) कपड़ा, चीनी, इलैक्ट्रानिक्स, तथा कंप्यूटर आदि जैसे विशिष्ट उद्योगों के संबंध में राष्ट्रीय नीतियों की घोषणा;

viii) आधुनिकीकरण तथा क्वालिटी को बेहतर बनाने के लिए विदेशी प्रौद्योगिकी के आयात को सरल बनाना; तथा

ix) अभी हाल में, सरकार ने कुछ उद्योगों में प्रचालनों के न्यूनतम आर्थिक स्तर को प्राप्त करने हेतु विद्यमान औद्योगिक उपक्रमों को प्रोत्साहित करने के लिए एक योजना की घोषणा की है।

बोध प्रश्न 2

1 खाली स्थान भरिए :

i) 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव का मुख्य जोर एक .... अर्थ-व्यवस्था की आधारशिला रखना था (समाजवादी, मिश्रित)

ii) सातवीं पंचवर्षीय योजना ने ..... की भूमिका को सुदृढ़ बनाया। (लघु क्षेत्रक, बड़े घरानों)

iii) औद्योगिक नीति प्रस्ताव ..... ने लघु उद्योगों को कुछ महत्व दिया है। (1948, 1956)

2 उन विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों के नाम बताइए जो सरकार विनिर्माताओं पर कायम करती है। एक वाक्य में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

3 औद्योगिक लाइसेंस नीति सफल सिद्ध नहीं हुई है। क्यों? तीन वाक्यों मे उत्तर लिखिए।

14.7 लघु, कुटीर तथा अनौपचारिक उद्योग

हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि हमारी औद्योगिक नीति में लघु उद्योगों, कुटीर उद्योगों तथा अनौपचारिक उद्योगों के लिए एक प्रमुख भूमिका आरक्षित की गई है। अब हम उस पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

14.7.1 "लघु उद्योग" की परिभाषा और तर्क

लघु, मझोले और बड़े उद्योगों के बीच भेद करने की कोई एक कार्यमूलक आर्थिक कसौटी नहीं है। विभिन्न देशों में जो इनकी परिभाषाएँ विकसित की गई है वे वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में की गई है। हमने भारत में जो औपचारिक परिभाषा की है वह करों में, वित्तीय तथा अन्य प्रोत्साहन देने के लिए इकाइयों की पहचान करने के लिए की है। नवीनतम आधिकारिक परिभाषा के अनुसार जिस इकाई में स्थिर परिसंपत्तियों अर्थात् संयंत्र तथा मशीनरी में 2 लाख से लेकर 45 लाख रुपए तक का निवेश किया हुआ है, वह इकाई "लघु" उद्योग इकाई की श्रेणी में आती है। जिस इकाई में स्थिर परिसंपत्तियों के रूप में 2 लाख रुपए तक का निवेश किया गया है और जो 50,000 या इससे कम जनसंख्या (1971 की जनगणना के आधार पर) वाले कस्बों तथा गाँवों मे अवस्थित है, उन्हें "अतिलघु" अनौपचारिक उद्योग की श्रेणी मे रखा गया है।

1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में भारत के समग्र आर्थिक विकास के संदर्भ में लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देने के पीछे जो तर्क दिया गया वह चार बुनियादी कारकों की वजह से था और ये चार कारक थे–(क) रोजगार, (ख) विकेंद्रीकरण, (ग) समानता तथा (घ) अंतर्हित संसाधन। आइए अब हम इनमें से प्रत्येक कारक का विवेचन करें।

रोज़गार

इन उद्योगों के पक्ष में जो सबसे बड़ा तर्क दिया जाता है वह यह है कि ये पूँजी निवेश की तुलना में रोज़गार ज्यादा पैदा करते हैं। हमारे जैसी अर्थव्यवस्था में जहाँ श्रम तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है किन्तु पूँजी दुर्लभ है वहाँ विकल्प यही है कि लघु और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाए जो श्रम-प्रधान होते हैं और जिनमें पूँजी-उत्पादन अनुपात कम होता है। बड़े उद्योगों, विशेष रूप से भारी उद्योगों तथा आधारिक संरचना वाले उद्योगों के लिए न केवल भारी निवेश की जरूरत पड़ती है अपितु उन्हें पनपने में काफी लंबा समय लगता है और उनकी रोज़गार सामर्थ्य भी कम ही होती है। इसीलिए बेरोज़गारी और गरीबी की भीषण समस्या पर विजय पाने में लघु तथा कुटीर उद्योगों को बड़ी अहम भूमिका निभानी है।

विकेंद्रीकरण

लघु तथा कुटीर उद्योगों को थोड़ी सी पूँजी और साधारण मशीनों, औजारों से लगाया और चालू किया जा सकता है। इसलिए उन्हें एक बड़े क्षेत्र में आसानी से फैलाया जा सकता है। बड़े उद्योगों का विकास अधिकांशतः बड़े शहरों या उसके आसपास ही हुआ है क्योंकि वहाँ आवश्यक आधारिक संरचना तथा कच्चा माल आसानी से उपलब्ध हो जाता है। उद्योगों के कुछ शहरी क्षेत्रों में केंद्रित हो जाने की वजह से बहुत सी सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ पैदा हो गई हैं, जैसे शहरों में भीड़भाड़ हो जाना, वायु और शोर प्रदूषण जैसे पर्यावरण दोषों की वजह से स्वास्थ्य को खतरा पैदा हो जाना, अपराधों तथा अन्य सामाजिक बुराइयों में वृद्धि हो जाना आदि।

लघु तथा कुटीर उद्योग स्थानीय संसाधनों और श्रम शक्ति का तो उपयोग कर ही लेते हैं इसके अतिरिक्त वे क्षेत्रीय असमानताओं तथा ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच असंतुलन को भी कम कर देते हैं।

समान

"सामाजिक न्याय" के उद्देश्य को पूरा करने के लिए लघु तथा कुटीर उद्योगों को अहम भूमिका निभानी होगी। बड़े पैमाने के उद्योगों से कुछ पूँजीपतियों के हाथ में आर्थिक शक्ति का संकेद्रण हो जाता है और वे लोग मुनाफा कमाकर खूब धन इकट्ठा कर लेते हैं। इससे उद्योगों के मालिक और वहां काम करने वाले श्रमिकों के बीच आर्थिक असमानता पैदा हो जाती है। लघु और कुटीर उद्योगों से ग्रामीण तथा अर्द्धशहरी इलाकों के ऐसे अधिसंख्य लोगों में आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीकरण हो जाता है जो अपने उद्योग खुद चलाते हैं और इससे उद्योग से प्राप्त लाभों का अधिक समान वितरण हो जाता है।

अंतर्हित संसाधन

लघु उद्योगों की वजह से ग्रामीण और अर्द्धशहरी क्षेत्रों में अंतर्हित तथा उपयोग में न आए बेकार पड़े संसाधनों को तीन तरह से काम में लगाया जा सकता है। पहला, व्यक्तिगत इकाइयों को चलाने में सक्षम अधिसंख्य उद्यमियों की सेवाओं का उपयोग किया जा सकता है। दूसरे ऐसे अधिसंख्य समर्थ्यवान उद्योगों की क्षमता को लघु इकाइयों में उत्पादन करके पूरी तरह से उपयोग में लाया जा सकता है जिनकी क्षमताओं को अभी तक पूरी तरह उपयोग में नहीं लाया जा सका है। अंत में उद्योगों को इस रूप में छितराकर देश के कोने-कोने में विरल रूप से फैली निष्क्रिय बचतों को लघु तथा कुटीर उद्योगों में निवेश करके लाभदायक कामों में जुटाया जा सकता है।

लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के पक्ष में इन बुनियादी तर्कों के अतिरिक्त इनके समर्थन में निम्नलिखित बातें भी उल्लेखनीय हैं :

बड़े तथा मझोले पैमाने के उद्योगों में मुख्य रूप से पूँजीगत माल ही उत्पादित किए जाते हैं और इनकी पक्वनावधि (उत्पादन-पूर्व अवधि) भी ज्यादा समय की होती है। पूँजीगत माल पैदा करने वाले उद्योगों से जो आय उत्पन्न होगी उसकी वजह से उपभोक्ता वस्तुओं की मांग भी बढ़ेगी। इस बढ़ी मांग को मुख्यतः ग्रामीण तथा लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओं द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इसलिए, उद्योगों की संतुलित संवृद्धि के लिए उपभोक्ता वस्तुएँ उत्पादित करने वाले लघु उद्योगों का विकास पूँजीगत माल उत्पादित करने वाले उद्योगों के विकास का पूरक होगा।
लघु तथा ग्रामीण उद्योग मूल्यवान विदेशी मुद्रा की बचत करने में भी सहायक होते हैं क्योंकि उनकी स्थापना के लिए आयातित सामान या मशीनों की या तो बिल्कुल आवश्यकता नहीं होती या फिर बहुत कम जरूरत पड़ती है।

इसके अतिरिक्त, इन उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से बहुमूल्य विदेशी मुद्रा अर्जित करने की भी व्यापक संभावना होती है। पारंपरिक उत्पाद जैसे सूती, हथकरघा और सिल्क-वस्त्र, नारियल के रेशों से बने उत्पाद, हस्तशिल्प की वस्तुएँ आदि और बहुत से गैर-पारंपरिक उत्पादों का 1984-85 में 4558 करोड़ रुपए का निर्यात किया गया जो कुल निर्यात उपार्जन का लगभग 39% था। अंतिम किन्तु बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उद्योगों की वजह से पारंपरिक कौशल, कलाएँ तथा शिल्पों को जीवित रखने में सहायता मिलती है। इस तरह वे लोगों की सर्जनात्मक प्रतिभा का उपयोग करके देश की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा करते हैं।

14.7.2 समीक्षा

लघु उद्योगों के पक्ष में ऊपर दिए तर्कों की समय-समय पर तीव्र आलोचना की गई है। बड़े पैमाने के उद्योगों की तुलना में लघु उद्योगों की रोजगार सामर्थ्य, पूँजी गहनता, संसाधन उपयोगीकरण आदि के संबंध में सापेक्षिक दक्षता का व्यवहारिक मूल्यांकन करने के लिए कई अध्ययन किए गए हैं।

इस विषय में सबसे पहले 1961 में धर तथा लीडाल ने एक अध्ययन किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि छोटी फैक्टरी में बड़ी फैक्टरी की तुलना में प्रति उत्पाद इकाई ज्यादा पूँजी और ज्यादा श्रम लगता है। उनका कहना था कि "रोज़गार" तो किसी भी समय और यहाँ तक कि उत्पादन की हानि करके भी अतिरिक्त श्रमिकों को मात्र इकट्ठा करके कभी भी बढ़ाया जा सकता है। "दूसरे शब्दों में, महत्वपूर्ण समस्या यह नहीं है कि देशी संसाधनों का अवशोषण कैसे किया जाए अपितु यह है कि दुर्लभ संसाधनों का सर्वोत्तम

उपयोग कैसे किया जाए।" विकेंद्रीकरण के प्रश्न पर उनका मत था कि कुछ आधुनिक फैक्टरियों को ग्रामीण क्षेत्रों मे इसलिए स्थापित नहीं किया जा सका कि वहाँ व्यापार, संचार तथा वित्त की आवश्यक सुविधाओं का अभाव था और वहाँ उद्यमशीलता तथा कुशल श्रमिक, दोनों दुर्लभ थे। उनके विचार में दक्ष विकेंद्रीकरण का नेतृत्व बड़े उद्योगों को करना चाहिए और जब वहां अनुकूल वातावरण पैदा हो जाए तो फिर छोटी फर्मों को उनका अनुसरण करना चाहिए।

समानता के तर्क का धर तथा लीडाल ने इस आधार पर विरोध किया है कि लघु उद्योगों की बहुत बड़ी संख्या जितनी आय उत्पन्न करेगी वह कुछ ही बड़े उद्योगों द्वारा उत्पन्न आय की मात्रा से निश्चित ही कम होगी। अतः हम समानता तो ला सकते हैं पर वह अर्थव्यवस्था की संवृद्धि तथा उत्पादिता दोनों को हानि पहुंचाकर ही लाई जा सकेगी। लेकिन धर तथा लीडाल ने यह भी स्वीकार किया है कि "भारत जैसे अल्पविकसित देश में श्रमिकों को उच्च मजदूरी वाले काम और कम मजदूरी वाले काम के बीच नहीं अपितु कम मजदूरी वाले काम और कोई काम ही नहीं के बीच चयन करना होता है। इसलिए यदि छोटे उद्यम कम मज़दूरी वाले काम भी प्रदान करते हैं तब भी वे भारत जैसी अर्थव्यवस्था के लिए अति महत्वपूर्ण होंगे क्योंकि यहाँ तो करोड़ों लोग रोज़गार की तलाश में ही फिरते रहते हैं।"

आर्थिक दक्षता के प्रश्न पर तो सांदेसरा इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं जिस पर धर तथा लीडाल पहुंचे थे। उनके अनुसार "छोटी इकाइयों में बड़ी इकाई की तुलना में प्रति श्रमिक कम उत्पादन, कम मज़दूरी तथा कम अधिशेष मिलता है और पूँजी की प्रति इकाई पर भी कम उत्पादन तथा कम अधिशेष मिलता है।"

लेकिन बहुत से अध्ययनों में छोटे पैमाने की इकाइयों की रोज़गार पैदा करने की क्षमता तथा कम पूँजी प्रधानता को स्वीकार किया गया है। उदाहरण के रूप में मेहता ने "लघु" "मझोले" तथा "बड़े" उद्योगों में पूँजी-श्रमिक, उत्पादन-श्रमिक तथा उत्पादन-पूँजी के अनुपातों की तुलना करते हुए बताया कि लगभग सभी मामलों में आकार के बढ़ने के साथ-साथ पूँजी-श्रमिक अनुपात में वृद्धि होती है और आकार के घटने के साथ-साथ उत्पादन-पूँजी अनुपात गिरता है।

14.8 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की संवृद्धि तथा भविष्य

भारत में छोटे पैमाने के क्षेत्रक के विकास का हम (i) उत्पादन (ii) रोज़गार तथा (iii) निर्यात के संदर्भ में मूल्यांकन कर सकते है। हालांकि, अधिक उपयुक्त यह होगा कि लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के निष्पादन का अलग-अलग स्तरों यथा, खादी तथा हैंडलूम, ग्रामीण उद्योग, हस्तशिल्प तथा आधुनिक लघु उद्योगों आदि, पर मूल्यांकन किया जाए।

किसी भी आर्थिक कार्यकलाप के कार्यनिष्पादन को दो बुनियादी सूचकों यथा, (i) संरचना तथा (ii) संवृद्धि के रूप में नापा जा सकता है।

"संरचना" का अर्थ है कुल कार्यकलाप में पृथक्-पृथक् आर्थिक कार्यकलाप का सापेक्षिक अंशदान या हिस्सा। उदाहरणतः कृषि, उद्योग या सेवाओं से प्राप्त होने वाली आय सभी क्षेत्रकों से होने वाली कुल आय का हिस्सा होती हैं और वे आय की संरचना का निर्धारण करती हैं। इसलिए "संरचना" कुल कार्यकलाप में एक दी हुई आर्थिक गतिविधि के सापेक्षिक निष्पादन का माप होती है।

दूसरी ओर, किसी अर्थव्यवस्था की "संवृद्धि" किसी समय में निरपेक्ष रूप से आर्थिक कार्यकलाप में होने वाले परिवर्तनों का माप होती है। इस प्रकार "संरचना" "स्थिति" की द्योतक है तो "संवृद्धि" परिवर्तन की "दिशा" तथा "परिमाण" का द्योतन करती है।

14.8.1 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के प्रकारों का तुलनात्मक महत्व

तालिका 14.1 से यह देखा जा सकता है कि पंजीकृत विनिर्माण उद्योग के कुल उत्पादन में लघु तथा ग्रामीण उद्योगों का हिस्सा लगातार बढ़ता जा रहा है। 1973 में यह हिस्सा 59% था तो 1984-85 में बढ़कर 61% हो गया।

विनिर्माण क्षेत्रक के कुल रोज़गार में लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के रोज़गार का हिस्सा सबसे अधिक है (1984-85 में 96%)। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह हिस्सेदारी लगातार बढ़ रही है क्योंकि 1973-74 में 83% से बढ़कर 1979-80 में यह 94% हो गई।

वर्ष 1984-85 में हुए कुल औद्योगिक निर्यात में 39% निर्यात लघु तथा ग्रामीण उद्योगों से हुआ। 1973-74 में यह 34% था।

जहाँ तक संवृद्धि का संबंध है, यह देखा गया है कि लघु तथा ग्रामीण उद्योगों का उत्पादन (चालू कीमतों पर) पंजीकृत विनिर्माण इकाइयों की संवृद्धि की अपेक्षा थोड़ी सी तेज दर से बढ़ा। हालाँकि, यह सापेक्षिक अर्थ में है। वास्तविक संवृद्धि को मापने के लिए निरपेक्ष रूप से संवृद्धि का आकलन नहीं किया जा सकता क्योंकि स्थिर कीमतों पर उत्पादन के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

1973-74 से 1984-85 तक के ग्यारह वर्षों में रोज़गार की मिश्रित संवृद्धि 5% प्रतिवर्ष थी किन्तु इसी अवधि में कुल औद्योगिक रोज़गार 4% प्रतिवर्ष की कम संवृद्धि दर से बढ़ा। इसलिए लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के निर्यात भी कुल औद्योगिक निर्यातों की तुलना में ऊँची वृद्धि दर से बढ़े।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विशेष रूप से भारत के औद्योगिक क्षेत्रक में और सामान्य रूप से समग्र अर्थव्यवस्था में लघु तथा ग्रामीण उद्योगों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। 1984-85 में 328 लाख का कुल औद्योगिक रोज़गार था जिसमें से 315 लाख लोगों को इसी क्षेत्रक में रोज़गार मिला हुआ था। इसी तरह 1984-85 में कुल औद्योगिक उत्पादन में 61% और कुल निर्यातों में 39% हिस्सा इसी क्षेत्रक का था।

जैसा पहले कहा जा चुका है, लघु तथा ग्रामीण उद्योगों में मोटे तौर पर ये उद्योग शामिल हैं—(i) पारंपरिक उद्योग जैसे हैंडलूम, खादी, रेशम उत्पादन, नारियल रेशा तथा अन्य ग्रामीण उद्योग; तथा (ii) आधुनिक लघु उद्योग जिनमें छोटी इकाइयाँ तथा पावरलूम शामिल हैं। पारंपरिक उद्योग सामान्यतः दस्ताकारों पर आधारित होते हैं। ग्रामीण तथा अर्ध शहरी इलाकों में अवस्थित होते हैं, इनमें बहुत कम निवेश तथा मशीनों की जरूरत और अधिकांशतः ये अंशकालिक रोज़गार प्रदान करते हैं। आधुनिक लघु इकाइयों में आधुनिक मशीनों का उपयोग किया जाता है और ये सामान्यतः शहरी क्षेत्रों या शहर के आसपास ही अवस्थित होती हैं।

लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की संवृद्धि के विश्लेषण से पता चलता है (तालिका 14.2) कि इस प्रकार के उद्योगों के उत्पादन का अधिकांश हिस्सा आधुनिक लघु उद्योगों द्वारा ही उत्पादित किया जाता है और उनके इस हिस्से में निरंतर वृद्धि भी होती जा रही है जैसे 1973-74 में यह 68% था तो 1979-80 में 72% और 1984-85 में बढ़कर 86% हो गया। लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के अंतर्गत आने वाली अन्य श्रेणियों का उत्पादन इसकी अपेक्षा बहुत कम है तथा साल-दर-साल उसमें गिरावट आ रही है। खादी तथा हैंडलूम का हिस्सा 1973-74 में 6% था जो 1979-80 में गिरकर 5.9% रह गया और 1984-85 में 5% ही रह गया। इसी तरह ग्रामीण उद्योगों (रेशम तथा नारियल रेशा समेत) का हिस्सा भी 1973-74 और 1984-85 में एक समान स्तर अर्थात 1.8% पर ही स्थिर रहा।

रोज़गार के लिहाज से खादी तथा हैंडलूम उद्योग प्रथम आता है हालाँकि कुल रोज़गार में इसके हिस्से में कमी हो रही है जैसे 1973-74 में 34% रोज़गार इस क्षेत्रक में था जबकि 1984-85 में यह घटकर 28% ही रह गया। दूसरी ओर, आधुनिक लघु उद्योगों का हिस्सा बढ़ा है, 1973-74 में इस क्षेत्रक का हिस्सा कुल रोज़गार का 28% था जबकि 1984-85 में बढ़कर यह 39% हो गया।

कुल रोज़गार में ग्रामीण उद्योग तथा हस्तशिल्प का हिस्सा पिछले कई सालों से स्थिर बना हुआ है। ग्रामीण उद्योगों का हिस्सा 1984-85 में लगभग 15% था और इसी वर्ष में हस्तशिल्प की हिस्सेदारी लगभग 9% थी।

निर्यातों की दृष्टि से आधुनिक लघु उद्योगों की स्थिति अभी भी महत्वपूर्ण बनी हुई है और इस क्षेत्रक से 50% से अधिक निर्यात होता है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में इसके हिस्से में गिरावट आई है, 1973-74 में इसकी हिस्सेदारी 64% थी जो 1984-85 में घटकर 32% ही रह गई है। दूसरी ओर हस्तशिल्प का निर्यात बढ़ा है, 1973-74 में इसका हिस्सा 23% ही था जो 1984-85 में बढ़कर 37% हो गया है। ग्रामीण उद्योगों में रेशम उत्पादन के निर्यात में भी वृद्धि हुई है। 1973-74 में कुल निर्यातों में इसकी हिस्सेदारी 2% की थी जो

1984-85 में बढ़कर 3% हो गई है। नारियल रेशा और खादी समेत हैंडलूम के निर्यात के हिस्से में कमी आई है। 1973-74 में इसका हिस्सा 11% था जो 1984-85 में घटकर 8% रह गया।

सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि उत्पादन तथा रोज़गार दोनों ही दृष्टियों से इसकी संरचना आधुनिक लघु उद्योगों के पक्ष में बदलती जा रही है। कुल क्षेत्रक उत्पादन में लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की अन्य श्रेणियों का अंशदान घटता जा रहा है।

निर्यातों के मामले में आधुनिक लघु उद्योगों का अंशदान कम हुआ है। निर्यातों में उनके हिस्से में तो कमी आई है किन्तु दूसरी ओर हस्तशिल्पों के निर्यात-अंश में काफी वृद्धि हुई है। अन्य लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के हिस्से में भी गिरावट आई है। कुल मिलाकर आधुनिक इकाइयों का निष्पादन बेहतर रहा है और वह निर्यातो की अपेक्षा आंतरिक माँग को अधिक पूरा कर रही है।

14.8.2 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की भविष्य की संभावनाएँ

पिछले भाग में व्यष्टि स्तर पर लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के "संरचना"और "संवृद्धि" सम्बन्धी आँकड़ों के आधार पर हम इसकी भविष्य की संवृद्धि की संभावनाओं को उजागर कर सकते हैं।

इस प्रयोजन के लिए लघु तथा ग्रामीण उद्योगों को तीन बुनियादी विशेषताओं के आधार पर कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। ये बुनियादी विशेषताएँ हैं–(क) प्रौद्योगिकी, (ख) संगठन तथा (ग) उत्पादन का स्वरूप।

प्रौद्योगिकी के रूप में उद्योग दो प्रकार के हो सकते है यथा,

i) आधुनिक प्रौद्योगिकी (मशीन आधारित) वाले उद्योग जैसे पावरलूम, तथा

ii) पारंपरिक प्रौद्योगिकी (गैर-मशीनी) वाले उद्योग जैसे हैंडलूम।

संगठन के रूप में (i) औपचारिक (संगठित) उद्योग तथा (ii) अनौपचारिक (असंगठित) उद्योग होते हैं।

फिर उत्पाद के स्वरूप के आधार पर ये दो प्रकार के हो सकते हैं: (i) वे इकाइयाँ जो उसी प्रकार का उत्पाद बनाती हैं जिन्हें बड़े पैमाने के उद्योग भी उत्पादित कर सकते हैं बस अंतर केवल पैमाने का होता है; तथा (ii) वे इकाइयाँ जो भिन्न प्रकार के उत्पाद पैदा करती है जैसे पारंपरिक हैंडलूम तथा हस्तशिल्प, चीनी के स्थान पर गुड़ या मर्सराइन्ड कपड़े की जगह खादी आदि।

तथ्यत: प्रौद्योगिकी, संगठन तथा उत्पाद का स्वरूप ये तीनों बातें एक दूसरे से घनिष्ट रूप से संबंधित हैं और इसीलिए लघु तथा ग्रामीण उद्योगों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: क) ऐसे लघु उद्योग जो संगठित (औपचारिक) क्षेत्रक में आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग करके लगभग वैसे ही उत्पाद पैदा कर रहे हैं जिन्हें बड़े पैमाने के उद्योग भी उत्पादित करते हैं जैसे साइकिल टायर, सिलाई की मशीनें आदि। इन उद्योगों को आधुनिक लघु उद्योग क्षेत्रक कहा जा सकता है; (ख) ग्रामीण तथा कुटीर उद्योग जो संगठित (औपचारिक) क्षेत्रक में पारंपरिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग करके बिल्कुल भिन्न प्रकार के उत्पाद बना रहे हैं। इन उद्योगों को आगे फिर दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–(i) पारंपरिक इकाइयाँ जो पारंपरिक कला कौशल के आधार पर उत्पादों का उत्पादन करके देश तथा विदेश की विस्तृत माँग पूरी कर रही है तथा (ii) पारंपरिक इकाइयाँ जो देश की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अधिकांशत: उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन कर रही हैं।

ख) (i)–पारंपरिक कला कौशल पर आधारित पारंपरिक इकाइयों में अधिकतर पारंपरिक प्रौद्योगिकी का ही इस्तेमाल होता है, हालाँकि बिजली के प्रयोग से कुछ मामलों में इनकी तकनीक में कुछ सुधार अवश्य हुआ है। उत्पादन परिवार के स्तर पर ही किया जाता है, यहाँ काम करने वाले मज़दूरों ने कौशल या तो अपनी पारिवारिक परंपरा से, उत्तराधिकार में प्राप्त किया है या लम्बे समय तक प्रशिक्षण लेने के बाद काम सीखा है। इनके उत्पाद कलात्मक और अत्यधिक सौंदर्यात्मक मूल्य वाले तथा निर्यात संभावनाओं वाले होते हैं।

लेकिन इस प्रकार के उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों की कमाई निर्वाह स्तर से थोड़ी सी ही ज्यादा हो पाती है और मालिकों को भी जितना लाभ मिलना चाहिए उतना नहीं मिल पाता। खरीदार की कीमत और उत्पादक की कीमत में काफी बड़ा अंतर होता है। इनमें बिचौलियों की अहम् भूमिका होती है और वे सौदों की मलाई खुद खा जाते हैं। सरकार द्वारा प्रायोजित संगठन और सहकारिताएँ बिचौलियों को इस क्षेत्र से खदेड़ नहीं पाई हैं। खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड ने कच्चे माल की पूर्ति को आसान बनाकर और अतिरिक्त बाज़ार उपलब्ध कराकर इन उद्योगों को जीवित रखने में सहायता दी है। इस तरह के उद्योगों के उदाहरण हैं–हैंडलूम, रेशम उत्पादन, एम्ब्रॉयडरी, कालीन बुनने का काम, पीतल का काम, चंदन की लकड़ी के काम, सिल्क, ज़री, चिकन का काम आदि। यद्यपि इन उद्योगों के लुप्त हो जाने का कोई डर नहीं है और उन्हें बनाए भी रखा जा सकता है लेकिन वर्तमान स्थिति में इन उद्योगों की संवृद्धि संभावनाएँ सीमित हैं।

ख) ii)–स्थानीय आवश्यकताओं के लिए उपभोक्ता वस्तुएँ पैदा करने वाली इकाइयाँ इन पारंपरिक उद्योगों में आती हैं। ये कम सौभाग्यशाली रही हैं, क्योंकि इन्हें आधुनिक प्रौद्योगिकी के उत्पादों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी होती है। गुड़ तथा खांडसारी, जूता-निर्माण, मिट्टी के बर्तन बनाना, पारंपरिक बुनाई आदि की इकाइयाँ इसके उदाहरण हैं। इनमें से अधिकांश या तो लुप्त हो चुकी हैं या लुप्त होने के कगार पर हैं (जैसे प्लास्टिक की वस्तुओं के कारण मिट्टी के बर्तन) यदि कुछ अभी तक जीवित बची हैं तो इस कारण कि या तो वे आधुनिक प्रौद्योगिकी क्षेत्रक में चली गई हैं या उन्हें सरकार द्वारा प्रदत्त सहायता, रियायतों तथा कुछ विशेष लाभों का सहारा मिल गया है। उदाहरणतः जूते बनाने का काम फिर से पारंपरिक क्षेत्रक में पनपने लगा है क्योंकि जूते बनाने वाली बड़ी कंपनियों ने उनके उत्पादों को अपने ब्रांड नामों के तहत बेचना प्रारंभ कर दिया और उसकी वजह से इन पारंपरिक इकाइयों पर भी कुछ मात्रा में मानकीकरण तथा क्वालिटी नियंत्रण का अंकुश लग गया। बड़ी इकाइयों ने भी इस व्यवस्था को स्वीकार कर लिया क्योंकि उनकी इकाइयों में उत्पादन के पैमाने से होने वाली किफायतें फैक्टरी के संगठित श्रमिक वर्ग द्वारा निष्प्रभावी कर दी जाती थीं। यही बात अब कपड़े के क्षेत्र मे भी आ गई है अब छोटे-छोटे पावरलूम बड़ी-बड़ी कपड़ा मिलों के लिए अच्छी क्वालिटी के कपड़े बनाते हैं। इस व्यवस्था में बड़ी मिलें बड़े पैमाने के संगठन की लागत से तो बच ही जाती है, छोटे पैमाने की इकाइयों से लाभ भी प्राप्त कर लेती हैं। यही माचिस बनाने के क्षेत्र में भी हो रहा है। ऐसे "लघु" पैमाने के पीछे वास्तव में आर्थिक शक्ति के भीषण संकेंद्रण को छुपाया जा सकता है।

वर्तमान स्थिति के अंतर्गत जीवित रहने के लिए पारंपरिक लघु इकाइयों को या तो अपनी प्रौद्योगिकी को ऊँचा उठाना होगा (और इस प्रकार आधुनिक लघु क्षेत्रक का हिस्सा बनना होगा) या संगठित क्षेत्रक के लिए काम करना होगा।

आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित लघु उद्योगों का जन्म आधुनिक प्रौद्योगिकीय विकास से हुआ है। कुछ समय तक, प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति के साथ-साथ उत्पादन के पैमाने को वृहद् कर दिया जाता था। समय गुजरने के साथ, बढ़ते हुए पैमाने तथा प्रौद्योगिकी ने अत्यधिक विशेषीकरण को जन्म दिया है। इस प्रकार, कच्चे माल की अवस्था से लेकर अंतिम रूप से निर्मित माल की अवस्था तक बहुत सी विशेषीकृत प्रक्रियाएँ निहित होती हैं और उन्हें भिन्न-भिन्न संयंत्रों द्वारा पूरा किया जाता है। इसकी वजह से पैमाने का लाभ अब मूल प्रक्रमण अर्थात् नीचे के क्रम की प्रक्रिया (जो निर्मित उत्पाद की अपेक्षा कच्चे माल के अधिक निकट है) की ओर अधिकाधिक खिसकता जा रहा है। इसीलिए मूल प्रक्रमण उद्योगों (जैसे मूल धातु, मूल कैमिकल्स, उर्वरक तथा पैट्रोकैमिकल्स आदि) को पैमाने का अत्यधिक लाभ मिलता है।

चूंकि प्रक्रमण नीचे के क्रम से ऊँचे क्रम की ओर बढ़ता है इसलिए कुछ मामलों में पैमाने का लाभ कम होने की ओर प्रवृत्त हो जाता है। कभी-कभी प्रक्रमण की सबसे ऊँची अवस्था केवल संयोजन करने की होती है, जैसे कि इलैक्ट्रोनिकी में। वहाँ उत्पादन में पैमाने का लाभ, हो सकता है कोई खास न हो, तथापि निविष्ट तथा उत्पादन दोनो बाज़ारों में वह महत्वपूर्ण हो सकता है। इसकी वजह से आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित लघु उद्योगों के लिए एक नया क्षेत्र खुल गया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि प्रौद्योगिकीय तथा औद्योगिक विकास की वजह से आधुनिक लघु

उद्योग उभरे हैं, न कि पारंपरिक उद्योगों की वजह से। हालाँकि, ऊँचे प्रक्रमण क्रम की वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने के क्षेत्र में भी किया जा सकता है किन्तु इस अवस्था में पैमाने का लाभ कोई खास न होने की वजह से इनका छोटे उद्योगों में उत्पादन करके विकास का उद्देश्य बेहतर तरीके से प्राप्त किया जा सकता है। इससे दो बड़े लाभ होते हैं : (क) स्वामित्व का प्रसरण होता है जिससे बड़ी संख्या में लोग उद्यमी हो जाते हैं, तथा (ख) बड़े क्षेत्र में इनके बिखरे होने के कारण संवृद्धि की प्रक्रिया एक विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती है। इसलिए, आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित लघु उद्योगों में तेज संवृद्धि की काफी संभावनाएँ हैं।

14.8.3 लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की वित्तीय, विपणन तथा तकनीकी प्रशिक्षण संबंधी आवश्यकताएँ

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 एक ऐसा बुनियादी दस्तावेज़ है जिसमें लघु, मझोले तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास से संबंधित राज्य नीति के सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है। कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति और लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के मार्ग में आने वाले अवरोधों को समाप्त करने के लिए 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में उल्लिखित उद्देश्यों के आधार पर बाद के वर्षों में बहुत से संशोधन किए गए और नए नीति उपायों की घोषणा की गई जिनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

भारत में लघु उद्योगों के विकास मार्ग में 1980 की औद्योगिक नीति घोषणा एक मील का पत्थर है। इसका लक्ष्य लघु उद्योगों की संवृद्धि को मझोले तथा बड़े पैमाने के क्षेत्रक की संवृद्धि के साथ समरस बना देना था। सरकार द्वारा घोषित 20 सूत्री कार्यक्रम में इसी बात पर और जोर दिया गया था।

अब हम सरकार द्वारा अभी तक अपनाए गए नीति उपायों के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे और कहेंगे कि ये लघु तथा ग्रामीण उद्योगों की संवृद्धि के इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति में किस हद तक सफल हुए हैं।

क) प्रभाव क्षेत्रों का संरक्षण तथा निर्धारण

हम यह तो जानते ही हैं कि कुछ चुनिंदा उद्योगों, वस्तुओं को केवल लघु क्षेत्रक में उत्पादन के लिए आरक्षित करके सरकार कुटीर, ग्रामीण तथा लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देने की नीति का अनुसरण कर रही है। ऐसा इसलिए किया गया है कि लघु उद्यमों को बड़े पैमाने के क्षेत्रक की अनुचित प्रतिस्पर्धा से बचाया जा सके।

जब 1967 में यह आरक्षण नीति अपनाई गई तब मात्र 47 वस्तुओं को लघु क्षेत्रक में उत्पादन करने के लिए आरक्षित किया गया था। किन्तु मार्च, 1987 के अंत तक यह संख्या 850 तक पहुँच गई है।

जिन लघु उद्योगों के लिए बहुत सी वस्तुएँ आरक्षित की गई हैं, वे हैं : खाद्य तथा संबंधित उद्योग, कपड़ा उत्पाद, हौज़री, आर्ट-सिल्क, मानव निर्मित फाइबर, काष्ठ तथा काष्ठ उत्पाद, कागज उत्पाद, चमड़ा तथा जूते समेत चमड़ा उत्पाद, साइकिल के हिस्से पुर्जे, ट्रायसाईकिल, तथा बच्चों की बग्घी, इलैक्ट्रोनिक उपस्कर, रासायनिक उत्पाद आदि।

इसके अतिरिक्त, कुछ बड़े उद्योगों में क्षमता के विस्तार की अनुमति नहीं दी गई है जिससे कि उन वस्तुओं के लघु उद्योगों में उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा सके। उदाहरणत: कपड़ा उद्योग में संगठित मिल क्षेत्रक की बुनाई क्षमता को प्रतिबंधित कर दिया गया है ताकि श्रम प्रधान पावरलूम क्षेत्रक विकास कर सके। यह क्षेत्रक ग्रामीण क्षेत्रों के लगभग 1 करोड़ 20 लाख लोगों को जीविकोपार्जन का अवसर देता है।

ख) तकनीकी सहायता तथा प्रशिक्षण

जैसे ही कोई उद्यमी लघु इकाई स्थापित करने का निर्णय लेता है, वह स्थानीय लघु उद्योग सेवा संस्थान, या अन्य किसी संवर्धनात्मक एजेंसी से इकाई स्थापना के लिए व्यापक योजना तैयार करने हेतु सहायता ले सकता है। लघु उद्योग विकास संगठन ने बड़ी संख्या में योजनाएँ/रिपोर्ट तथा अन्य सूचना साहित्य तैयार किया है जिसमें बहुत से उद्योगों के संबंध में तकनीकी और सामान्य सूचनाएँ दी गई हैं। लघु उद्योग सेवा संस्थान तथा विस्तार केंद्र तकनीकी सहायता तथा इकाई के रोज़मर्रा के काम के संबंध में सलाह देते हैं। इकाइयों का

दौरा करते समय तकनीकी अधिकारी मौके पर ही समुचित सहायता प्रदान करते हैं।

उद्यमियों को विशेष प्रशिक्षण देने के लिए राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के अंतर्गत दिल्ली, गुजरात तथा पश्चिम बंगाल में प्रोटो टाइप उत्पादन-व-प्रशिक्षण केंद्र स्थापित किए गए हैं। औज़ार डिजाइन (टूल डिज़ाइन) तथा औजार निर्माण (टूल मेकिंग) में उच्च प्रशिक्षण के लिए हैदराबाद में एक संस्थान स्थापित किया गया है और विद्युत मापन उपकरण (इलैक्ट्रिकल मैज़रिंग इंस्ट्रूमेंट) के लिए एक संस्थान बंबई में खोला गया है। लघु उद्योगों को इन संस्थानों की सुविधाओं का लाभ उठाने तथा कुछ प्रशिक्षणार्थियों को इनमें प्रायोजित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इनके अतिरिक्त दो टूल रूम तथा प्रशिक्षण केंद्र—कलकत्ता तथा लुधियाना में स्थापित किए गए हैं जिनमें औज़ारों, जिगों (jigs) तथा फिक्शचरों आदि में प्रशिक्षण दिया जाता है। राज्य सरकारों ने भी बहुत से प्रशिक्षण केंद्र खोले हैं। पारंपरिक कुटीर उद्योगों के लिए संबंधित बोर्डों तथा विशेषीकृत संस्थानों ने, जैसे खादी ग्रामोद्योग कमीशन, तकनीकी सहायता तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था की है जिसमें डिजाइन विकसित करने तथा उत्पादन की सुधरी तकनीकों का विकास करने से संबंधित प्रशिक्षण भी शामिल है। इसी प्रकार का प्रशिक्षण हस्तशिल्प, रेशम उत्पादन तथा नारियल रेशों के कारीगरों को भी प्रदान किया जाता है।

ग) वित्तीय सहायता

छोटी फर्मों को चाहे वे उपभोक्ता, मध्यवर्ती या कुटीर उद्योग में काम कर रही हों, अपने प्रचालन के छोटे आकार के कारण कर्ज़ (दीर्घ तथा अल्पकालीन) पाने में कठिनाई होती थी। इस कमी को महसूस करते हुए सरकार ने लघु क्षेत्रक को संस्थागत अहम् सुविधाओं के लिए प्राथमिकता वाला क्षेत्रक मानने की नीति अपनाई। सभी राज्यों में स्थापित राज्य वित्तीय निगम आधुनिक लघु उद्यमों को दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन कर्ज़ प्रदान करते हैं। सभी अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक लघु उद्योगों को कच्चे माल तथा/या निर्मित, अर्धनिर्मित माल की जमानत लेकर, फिर वे उसे ताला लगाकर रखें या फैक्टरी में ही रखें, रियायती ब्याज पर कर्ज़े की सुविधा प्रदान करते हैं।

कुटीर और ग्रामीण उद्योगों के क्षेत्रक को अधिकांश वित्तीय संसाधन विशेषीकृत संस्थानों के माध्यम से सरकार से ही प्राप्त हो रहे हैं। भारतीय रिजर्व बैंक सहकारी बैंकिंग प्रणाली के माध्यम से हैंडलूम तथा अन्य पारंपरिक उद्योगों को वित्त प्रदान करता है। हैंडलूम क्षेत्रक में बुनकरों को सरकार की "विभेदकारी ब्याज दर" योजना के अंतर्गत बहुत नीची ब्याज दर पर कर्ज़ा मिलता है। इस क्षेत्रक को वाणिज्यिक बैंकों ने कर्ज़ देना भी प्रारंभ कर दिया है। कुटीर इकाइयों तथा छोटे कारीगरों को भी बहुत कम ब्याज पर कर्ज़ मिलता है। ब्याज सहायता योजना उन ग्रामीण उद्योगों पर लागू की गई है जिन्होंने अपना आंशिक कर्ज़ क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों से लिया है।

उदारीकृत वित्तीयन की इन योजनाओं के फलस्वरूप लघु उद्योगों के लिए उपलब्ध कर्ज़े की राशि में काफी अधिक वृद्धि हो गई है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने लघु उद्योगों को जून, 1969 में कुल 251 करोड़ रुपए का कर्ज़ दिया था जबकि जून, 1987 में यह राशि बढ़कर 9309 करोड़ रुपए हो गई। इसके अतिरिक्त 1969-1987 की अवधि में कर्ज़ लेने वाली इकाइयों की संख्या भी 51,000 से बढ़कर 20,41,000 हो गई । आगे यह भी देखा जा सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्रक की बैंकों द्वारा दिए गए कुल कर्जों में लघु उद्योगों को दिए गए कर्जों का प्रतिशत भी 1969 के 8.3% से बढ़कर 1987 में 16.40% हो गया है।

अभी तक हुई प्रगति के बावजूद, यह कहा जा सकता है कि आधुनिक लघु उद्यमों में सावधिक कर्ज़ तथा कार्यशील पूँजी दोनों में अभी भी काफी अंतर है। और जहाँ तक संस्थागत वित्तीय सहायता का संबंध है ग्रामीण उद्योग अभी भी उपेक्षित क्षेत्र बने हुए हैं।

घ) विपणन

मुनाफे के साथ उत्पादों को बेचना ऐसी प्रमुख समस्या है जिसका सामना पारंपरिक तथा आधुनिक, दोनों ही क्षेत्रकों के लघु उद्योगों को करना पड़ता है। सरकार इस क्षेत्र में निम्नलिखित सहायता देती है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम लघु उद्योगों को सरकारी बिक्री/खरीद कार्यक्रमों में सहायता प्रदान करती है। नवंबर, 1980 तक पूर्ति तथा निपटान महानिदेशक ने 382 वस्तुओं को

लघु उद्योगों से ही खरीदने के लिए आरक्षित कर दिया था। इसके अतिरिक्त, 75 प्रतिशत तक वस्तुएँ खरीदने तथा 50 प्रतिशत आवश्यकताओं का एक श्रेणीकृत आरक्षण भी शुरू किया गया है। ऐसी वस्तुओं में, जो लघु उद्योग तथा बड़े पैमाने के उद्योग दोनों द्वारा खरीदी जाती हैं, लघु इकाइयों को 15 प्रतिशत तक का कीमत अधिमान प्रदान किया गया है। इसके अलावा राज्य सरकारों के सामान खरीद कार्यक्रम भी हैं।

लघु उद्यमियों को अपने उत्पादों को बाज़ार में बेचने के काम में सहायता देने के लिए भारत सरकार ने देश के विभिन्न भागों में 9 व्यापार केंद्र स्थापित करने का निर्णय लिया है। ये केंद्र क्रेता और विक्रेता के लिए मिलन स्थल का काम करते हैं और लघु उद्योगों को उत्पादों की स्थायी प्रदर्शनी, औद्योगिक सूचना लाइब्रेरी और प्रलेखीकरण, परीक्षण तथा क्वालिटी नियंत्रण आदि जैसी सेवाएँ प्रदान करते हैं। ये केंद्र जयपुर, बंगलौर, कानपुर, लुधियाना, हैदराबाद, अहमदाबाद, चंडीगढ़, भुवनेश्वर तथा कोचीन में काम कर रहे हैं। इस योजना को अब राज्य सरकारों को सौंप दिया गया है। क्वालिटी नियंत्रण तथा परीक्षण सुविधाओं की व्यवस्था इसलिए भी की गई है कि लघु उद्योगों के उत्पादों में आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़े।

इन सब सुविधाओं के बावजूद लघु उद्यमियों को अपने उत्पाद बेचने में अब भी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उत्पादों का विपणन उनके अस्तित्व के लिए बहुत महत्वपूर्ण है और इसकी वजह से वे बड़े पैमाने पर औद्योगिक रुग्णता तथा बंद हो जाने के डर का शिकार हो रहे हैं।

सारांश

लघु उद्योगों के बारे में पूरे एवं विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में पिछले तीन दशकों के दौरान कार्यान्वित किए गए विकास कार्यक्रमों तथा योजनाओं की प्रभावकारिता का मूल्यांकन कर पाने में कठिनाई हो रही है। पंचवर्षीय योजना (1978-83) के मसौदे में अभी तक की प्रगति का मूल्यांकन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि कुछ उद्योगों में कुल मिलाकर, विभिन्न कार्यक्रमों के उद्देश्यों को वांछनीय स्तर तक प्राप्त नहीं किया जा सका है। इसका योजना-दस्तावेज़ में उल्लेख किया है कि "समान उत्पादन" कार्यक्रमों को व्यापक रूप में तैयार नहीं किया गया। योजनाओं, एजेन्सियों तथा संस्थानों की संख्या में वृद्धि तो कर दी गई परन्तु उनकी गतिविधियों के बीच तालमेल बिठाने और निगरानी करने का कोई समुचित प्रबंध नहीं किया गया। अधिकांश कारीगरों, दस्तकारों तथा अन्य लघु उद्यमियों को सहायता तथा सेवाएँ और विशेष रूप से दुर्लभ कच्चा माल एकमुश्त रूप में नहीं मिल पाए। इस क्षेत्र में रुग्णता में बढ़ोतरी होने के मुख्य कारण प्रबंध में कम दक्षता, खरीदारों द्वारा देर से भुगतान करना, वित्त की अपर्याप्तता और बिक्री केंद्रों की कमी भी है।

तालिका 14.1

लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के अंतर्गत उत्पादन, रोज़गार तथा निर्यात

					यौगिक वार्षिक वृद्धि दर (%)		
					1973-74 से 1979-80 तक	1979-80 से 1984-85 तक	1973-74 से 1984-85 तक
I	उत्पादन (करोड़ रुपए)						
	(चालू कीमत पर)	1973-74	1979-80	1984-85			
1)	पंजीकृत विनिर्माण	19146	50184	105520	17.42	16.02	16.78
2)	ग्रामीण तथा लघु उद्योग	11363	26729	64468	15.32	19.25	17.09
3)	(2. 1 के % रूप में)	59.4	53.3	61.1	-	-	-
II	रोजगार (लाखों में)						
1)	कुल विनिर्माण में	213	249	328	2.64	5.66	4.00
2)	ग्रामीण तथा लघु उद्योग में	176	234	315	4.86	6.12	5.43
3)	(2. 1 के % के रूप में)	82.8	93.9	96.00	-	-	-
III	निर्यात						
1)	कुल निर्यात	2523	6418	11744	20.53	12.84	15.00

2)	ग्रामीण तथा लघु उद्योग	853	2281	4558	17.81	14.84	16.46
3)	(2, 1 के % के रूप में)	33.78	35.53	38.81	-	-	-

स्रोत : 1) **राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण–रोज़गार तथा बेरोज़गार सर्वेक्षण,** 27 वाँ चक्र 1972-73; 32वा चक्र–1977-78; 38 वाँ चक्र–1983; सर्वेक्षण, योजना मंत्रालय, भारत सरकार (टिप्पणी–वर्ष 1973-74; 1979-80 तथा 1984-85 के जो आँकड़े यहाँ दिए गए हैं वे 27 वें, 32 वें तथा 38वें चक्रों के लिए दिए आँकड़ों के आधार पर अनुमानित हैं)।

2) **लघु उद्योग विकास संगठन की रिपोर्ट** (1980-81) विकास आयोग, लघु उद्योग, उद्योग मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली (पृ. 20)।

3) **राष्ट्रीय लेखे,** योजना मंत्रालय, भारत सरकार

4) **आर्थिक सर्वेक्षण,** वित्त मंत्रालय, भारत सरकार, (परिशिष्ट–व्यापार निदेशक)

टिप्पणी : विनिर्माण क्षेत्रक के कुल उत्पादन संबंधी आँकड़ों के उपलब्ध न होने के कारण लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के उत्पादन को पंजीकृत विनिर्माण क्षेत्रक के कुल उत्पादन के सामने दिखाया गया है। पंजीकृत विनिर्माण क्षेत्रक में वे लघु उद्योग भी आते हैं जिन पर फैक्टरी कानून लागू होता है। लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के यहाँ प्रस्तुत आँकड़ों से इसकी संरचना की स्पष्ट तस्वीर नहीं उभरती।

तालिका 14.2

लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के अंतर्गत उत्पादन, रोज़गार तथा निर्यात

					चक्रवृद्धि वार्षिक संवृद्धि दर		
					1973-74 से 1979-80 के दौरान	1979-80 से 1984-85 के दौरान	1973-74 से 1984-85 के दौरान
उत्पादन (करोड़ रुपए) (चालू कीमतों पर)		1973-74	1979-80	1984-85			
क)	**पारंपरिक उद्योग**						
	1) खादी तथा हैंडलूम	873	1838	3050	13.2	10.7	12.0
		(6.4)	(5.9)	(4.6)			
	2) ग्राम उद्योग (रेशम उत्पादन सहित)	245	531	1176	13.8	17.2	15.3
		(1.8)	(1.7)	(1.8)			
	3) हस्तशिल्प	1065	2050	3500	11.5	11.3	11.4
		(7.8)	(6.5)	(5.3)			
ख)	**आधुनिक लघु उद्योग** (पावरलूम सहित)	9180	22310	56743	15.9	20.5	18.0
		(67.5)	(72.2)	(86.3)			
ग)	अन्य	2237	4206	1261	11.1	(-)21.4	(-)5.1
		(16.5)	(13.6)	(2.0)			
	कुल (क+ख+ग)	13600	30935	65730	14.7	16.3	15.4
		(100.0)	(100.0)	(100.0)			
	रोज़गार (लाख व्यक्ति)						
क)	**पारंपरिक उद्योग**						
	1) खादी तथा हैंडलूम	61	73	89	3.0	4.0	3.5
		(34.5)	(30.9)	(28.3)			
	2) ग्रामीण उद्योग	26	40	48	7.4	3.7	5.7
		(14.7)	(16.9)	(15.2)			
	3) हस्तशिल्प	15	20	27	4.9	6.2	5.5
		(8.5)	(8.5)	(8.6)			
ख)	**आधुनिक लघु उद्योग**	50	78	122			
		(28.2)	(38.0)	(38.7)			
ग)	**अन्य**	25	25	29	0.0	3.0	1.4
		(14.1)	(5.7)	(9.2)			

	कुल रोज़गार (क+ख+ग)	177	236	315	4.9	5.9	5.4
		(100.0)	(100.0)	(100.0)			
	निर्यात (करोड़ रुपए)						
क)	**पारंपरिक उद्योग**	93	291	377	20.9	5.3	13.6
	1) खादी तथा हैंडलूम	(11.1)	(13.1)	(8.3)			
	2) रेशम उत्पाद	14	49	131	23.2	21.7	22.5
		(1.7)	(2.2)	(2.9)			
	3) हस्तशिल्प	195	835	1700	27.4	15.3	21.8
ख)	**आधुनिक लघु उद्योग**	538	1050	2350	11.8	17.5	14.3
		(64.0)	(47.2)	(51.5)			
ग)	**अन्य**	--	--	--	--	--	--
	कुल निर्यात (क+ख+ग)	840	2225	4558	100.0	100.0	100.0
		(100.0)	(100.0)	(100.0)			

स्रोत : 1) **लघु उद्योग विकास संगठन की रिपोर्ट**-(1980-81), विकास आयुक्त, उद्योग, लघु उद्योग, मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली (पृष्ठ 20)
2) **सातवीं पंचवर्षीय योजना मसौदा**-1985-90-खंड II, योजना मंत्रालय, भारत सरकार।

बोध प्रश्न 3

प्रश्न 1) भारत के आर्थिक विकास में लघु तथा कुटीर उद्योगों के योगदान के बारे में बताइए। उत्तर लगभग 50 शब्दों में हो।

.....

.....

.....

प्रश्न 2) लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के विकास में प्रौद्योगिकी की भूमिका को स्पष्ट करिए। लगभग 50 शब्दों में अपना उत्तर लिखे।

.....

.....

.....

प्रश्न 3) लघु तथा ग्रामीण उद्योगों के उत्पादों के विपणन के बारे में सरकारी नीति बताइए। उत्तर तीन वाक्यों में दीजिए।

.....

.....

.....

14.9 सार्वजनिक क्षेत्रक : कार्य निष्पादन

सार्वजनिक क्षेत्र की संकल्पना और निवेश, उत्पादन क्षमता तथा गतिविधियों के क्षेत्र-विस्तार में हुई इसकी अत्यधिक संवृद्धि के बारे में खण्ड-4 में चर्चा की गई है। जैसा आप जानते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्रक को सरकारी स्वामित्व वाले क्षेत्रक के रूप में परिभाषित किया जाता है। इसलिए, आयोजना और राष्ट्रीय लेखा पद्धति के प्रयोजन के लिए सार्वजनिक क्षेत्रक में वे सब गतिविधियाँ शामिल की जाती हैं जिनका सरकारी बजट से निधीयन होता है। इसमें न केवल सरकारी विभाग ही अपितु कंपनी अधिनियम के अंतर्गत स्थापित सरकारी कंपनियाँ और संविधि के अधीन गठित सरकारी निगम भी आते हैं। भारत में सरकार का ढ़ाँचा तीन स्तरों वाला है, ये स्तर हैं : (i) केन्द्रीय सरकार, (ii) राज्य तथा संघ राज्य-क्षेत्र की सरकारें, तथा (iii) नगरों, कस्बों तथा गांवों का स्थानीय

शासन। स्थानीय शासन के स्वामित्व में निगमित उद्यम नहीं होते, वे या तो केन्द्रीय सरकार के या राज्य सरकारों के स्वामित्व में होते हैं। व्यापक अर्थ में ये सभी सार्वजनिक क्षेत्रक के अंतर्गत आते हैं। तथापि, हम अपने अध्ययन को सामान्य रूप से सार्वजनिक उद्यमों और विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार के उद्यमों तक ही सीमित रखेंगे। सार्वजनिक उद्यम वे होते हैं जिनमें 50% या उससे अधिक स्वामित्व सरकार का होता है, जो स्वामित्व वाले सार्वजनिक प्राधिकारियों के प्रबंध नियंत्रण में होते हैं तथा व्यावसायिक गतिविधियों में लगे होते हैं एवं वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में जो उत्पादन करते हैं और उसका विपणन करते हैं। अब आप कुछ सार्वजनिक उद्यमों के नाम बताने की स्थिति में हो गए होंगे।

भारत में सार्वजनिक उद्यम विभिन्न क्षेत्रकों में चलाए जाते हैं, कुछ मूल क्षेत्रक में हैं और कुछ उसके बाहर के हैं। अर्जुन सेनगुप्त समिति की रिपोर्ट (1984) के अनुसार मूल क्षेत्रक (कोर सैक्टर) में निम्नलिखित शामिल होते हैं : कोयला तथा लिग्नाइट, कच्चा तेल, पैट्रोल तथा प्राकृतिक गैस, बिजली, प्राथमिक इस्पात उत्पादन, प्राथमिक अल्यूमीनियम उत्पादन, तांबा, सीसा, जस्ता तथा निकल, उर्वरक, और पैट्रोरसायन मध्यवर्तियों का प्राथमिक उत्पादन। सार्वजनिक उद्यमों के महत्वपूर्ण योगदान का अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि वे लिग्नाइट, पैट्रोल, अल्यूमीनियम तथा तांबे जैसी बुनियादी निविष्टियों में शत प्रतिशत राष्ट्रीय उत्पादन करते हैं। वे देश का 97% कोयला उत्पादन तथा इस्पात का 75% से अधिक उत्पादन करते हैं। सार्वजनिक उद्यमों की संसाधन आवश्यकताओं को शेयर पूँजी, बैंकों से दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा नकद कर्जों जैसे बाह्य स्रोतों और अपने धारित लाभों तथा मूल्यह्रास और आस्थगित राजस्व व्ययों को बट्टेखाते डालने के प्रावधानों से उत्पन्न आंतरिक स्रोतों से पूरा किया जाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों की नीति निर्धारण करने तथा उन्हें समग्र रूप से मार्गदर्शन देने के लिए और उनके निष्पादन का लगातार मूल्यांकन करते रहने के उद्देश्य से 1965 में सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो का गठन किया गया। यह ब्यूरो प्रत्येक वर्ष केन्द्रीय सार्वजनिक उद्यमों के भौतिक, वित्तीय तथा सामाजिक-आर्थिक निष्पादन का जायज़ा लेता है और अपनी रिपोर्ट संसद को प्रस्तुत करता है। ब्यूरो के विचार क्षेत्र में आने वाले उद्यमों में विभागीय रूप से चलाए जाने वाले सार्वजनिक उपक्रम तथा बैंक संस्थाएँ शामिल नहीं है। सार्वजनिक उद्यम सर्वेक्षण 1986-87 के अनुसार 31.3.87 को 239 केन्द्रीय सार्वजनिक उद्यम काम कर रहे थे। इनमें से 154 उद्यम विनिर्माण/उत्पादन कार्य कर रहे थे, 62 सेवाएँ प्रदान कर रहे थे, 6 बीमा कंपनियाँ थीं, 2 वित्तीय संस्थाएँ थीं, 9 ऐसे उद्यम थे, जिनमें निवेश तो केंद्रीय सरकार ने कर रखा था लेकिन प्रबंध के लिए वह सीधी उत्तरदायी नहीं थी और 6 उद्यम ऐसे थे जो निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में थे।

14.9.1 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्य

खण्ड-4 के भाग 9.5.1 में हम सार्वजनिक क्षेत्रक को स्थापित किए जाने के पक्ष-समर्थन के बारे में लिख चुके हैं। जैसा खण्ड-2 के अध्ययन से आपको पता चल चुका है कि स्वतंत्रता मिलने के समय भारत मूलतः एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाला देश था जहाँ औद्योगिक आधार कमज़ोर, बचत तथा निवेश का स्तर काफी नीचा, आधारिक संरचना का अभाव, जीवन स्तर नीचा और जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग गरीबी की रेखा से नीचे, रोज़गार के अवसर बहुत कम, आय तथा संपत्ति में काफी असमानताएँ, कुशल जनशक्ति का अभाव और गंभीर क्षेत्रीय असंतुलन व्याप्त था। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए और विकास प्रक्रिया में तेजी लाने के लिए यह जरूरी था कि राज्य अपनी ओर से कुछ पहल करे।

विविध गतिविधियाँ होने के कारण सार्वजनिक उद्यम का कोई एकमात्र उद्देश्य नहीं है। वास्तव में तो ये उद्देश्य बहुआयामी है, जैसे–क्षेत्रीय असंतुलनों को ठीक करना, बुनियादी निर्विष्टियों में अवरोधों को समाप्त करना, रोज़गार सामर्थ्य पैदा करना, अर्थव्यवस्था की निर्देशन पराकाष्ठाओं को नियंत्रित करना आदि। विभिन्न कोनों से किए गए प्रयासों के बावजूद सार्वजनिक क्षेत्रक के किसी एक स्पष्ट उद्देश्य को गिना पाना कठिन है सिवाय इसके कि इसका उद्देश्य आत्म-निर्भरता के ढ़ाँचे के अंतर्गत आर्थिक विकास का संवर्धन करना है। सरकार ने 1986 में संसद में सार्वजनिक क्षेत्रक पर एक श्वेतपत्र प्रस्तुत करने का वायदा किया था जो कभी पूरा नहीं हुआ। सार्वजनिक उद्यमों के प्रचालन के पीछे

तालिका 14.3
लाभकारिता का खाका

(करोड़ रुपए में)

	1977-78	1978-79	1979-80	1980-81	1981-82	1982-83	1983-84	1984-85	1985-86	1986-87
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
1) उद्यमों की संख्या	155	159	169	168	188	193	201	207	211	214
2) निवेशित पूँजी	12065	13969	16182	18207	21935	26526	29851	36382	42965	51931
3) सकल मार्जिन (मूल्यह्रास, ब्याज तथा कर से पहले अधिशेष)	1489.16	1765.82	2054.66	2400.89	4012.16	5184.49	5770.54	7386.21	8270.27	9893.54
4) मूल्यह्रास तथा डीआरई (DRE)*	574.49	694.59	825.50	983.06	1357.59	1719.75	2205.14	2758.40	2982.99	3381.89
5) सकल लाभ (3-4)	914.67	1071.23	1229.16	1417.83	2654.37	3464.74	3565.40	4627.81	5287.28	6511.65
6) ब्याज	755.13	886.18	1004.03	1399.15	1629.71	1922.74	2085.81	2529.20	3114.62	3416.31
7) कर पूर्व लाभ (5-6) हानि वाली इकाइयों की हानि को समायोजित करने के बाद	159.54	185.05	225.13	18.68	1024.66	1542.00	1479.59	2098.61	2172.66	3095.34
8) निवेशित पूँजी से संकल मार्जिन का %	12.34	12.64	12.70	13.19	18.29	19.54	19.33	20.30	19.25	19.05
9) निवेशित पूँजी से सकल लाभ का %	7.58	7.60	7.60	7.79	12.10	13.06	11.94	12.72	12.31	13.54

* विलंबित चालू व्यय (Deferred revenue expenditure)

स्रोत : सार्वजनिक उद्यम सर्वेक्षण, 1986-87

तर्काधार तथा उससे प्रत्याशाओं के बारे में औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 में कहा गया है, "राज्य के अधिकाधिक रूप में भाग लेने के कारण यह काफी महत्वपूर्ण हो गया है कि उनके कार्यकलाप को किस ढंग से संचालित और प्रबंधित किया जाए। यदि इन उद्यमों को सफलता प्राप्त करनी है तो उन्हें जल्दी निर्णय लेने तथा उत्तरदायित्व वहन करने की तत्परता दिखानी होगी। इसके लिए, जहाँ संभव हो, सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और उनका प्रबंधन व्यावसायिक आधार पर किया जाना चाहिए। यह आशा की जाती है कि सार्वजनिक उद्यम राज्य के राजस्व में वृद्धि करेंगे और नए क्षेत्रों में आगे विकास के लिए संसाधन प्रदान करेंगे। लेकिन इन उद्यमों का उनके कुल परिणामों की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाएगा और उन्हें काम में यथासंभव अधिकाधिक स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए....."

14.9.2 सार्वजनिक उद्यमों का कार्य-निष्पादन

हाल के वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्रक की इसलिए आलोचना की जा रही है कि उनमें भारी हानियाँ हो रही हैं और उनमें अदक्षता व्याप्त है। वर्ष 1986-87 में केवल 109 सार्वजनिक उद्यमों में ही लाभ हुआ था। वर्ष 1986-87 में केन्द्रीय सार्वजनिक उद्यमों ने कुल मिलाकर 1769.08 करोड़ रुपए का निवल लाभ कमाया। यह संख्या उस वर्ष में राष्ट्रीयकृत की गई बीमार इकाइयों के 319.46 करोड़ रुपए के नुकसान को समायोजित करने के बाद आई है, हालाँकि, यह नुकसान निजी क्षेत्रक की असफलता का परिणाम था। वर्ष 1987-88 में हालात में और सुधार हुआ है।

सार्वजनिक उद्यमों से यह आशा की जाती है कि वे उनमें लगे निवेश पर उपयुक्त प्रतिफल प्रदान करें। सार्वजनिक उद्यमों के कार्य निष्पादन का मूल्यांकन करते हुए लाभकारिता को भिन्न दृष्टिकोण से देखना होगा। सामान्यतः अर्थशास्त्रियों का कहना है कि निवेश पर प्रतिफल को मापने के लिए सकल सीमांत की संकल्पना को मद्देनजर रखा जाता है, इसमें मूल्यह्रास तथा ब्याज के भुगतान को शामिल नहीं किया जाता। दूसरी ओर लेखाकार सकल लाभ पर जोर देते हैं जिसमें कर-पूर्व लाभ दर को मद्देनजर रखा जाता है, क्योंकि कर की दर सरकार द्वारा निर्धारित होती है जो प्रबंधन के नियंत्रण से बाहर की बात है। हालाँकि, निवेशकर्ता की रुचि कर पश्चात् लाभों में होती है क्योंकि वही निवेशित पूँजी के एवज उसकी प्रतिपूर्ति करती है। चालू सार्वजनिक उद्यमों की, जिनमें विनिर्माण/उत्पादन करने वाले तथा सेवा प्रदान करने वाले दोनों प्रकार के उद्यम शामिल होते हैं, लाभकारिता को तालिका 14.3 में सकल सीमांत सकल लाभ तथा कर पूर्व लाभ के रूप में दिखाया गया है।

सकल मार्जिन में 564.37% की वृद्धि हुई है क्योंकि 1977-78 में यह 1489.16 करोड़ रुपए था जो 1986-87 में बढ़कर 9893.54 करोड़ रुपए हो गया, निवेशित पूँजी से सकल मार्जिन का अनुपात भी इसी अवधि में 12.34% से बढ़कर 19.05% हो गया है। इसी प्रकार इसी अवधि में सकल लाभ तथा निवेशित पूँजी से उसका अनुपात भी बढ़ गया है। हालाँकि, सकल मार्जिन और निवेशित पूँजी तथा सकल।

लाभ और निवेशित पूँजी के अनुपातों में जो प्रभावशाली सुधार हुआ उसमें 1980-81 के बाद से, केवल 1987-88 को छोड़कर, कुछ कमी आई और वह न्यूनाधिक अवरुद्ध ही पड़ा रहा।

पृथक-पृथक उद्यम के रूप में तेल तथा प्राकृतिक गैस कमीशन सबसे अधिक लाभ कमाने वाला संगठन था जिसने 2104.96 करोड़ रुपए का कर-पूर्व लाभ कमाया जो कुल कर-पूर्व लाभों का 43.82% है। इसके बाद इंडियन ऑयल कार्पोरेशन आता है जिसने 671.22 करोड़ रुपए का कर-पूर्व लाभ कमाया जो कुल का 13.97% है लाभ कमाने वाले 109 उद्यमों में से प्रथम दस उद्यमों ने कुल का 77.01% लाभ कमाया। ये उद्यम इस प्रकार हैं : तेल तथा प्राकृतिक गैस कमीशन, इंडियन ऑयल कार्पोरेशन, राष्ट्रीय ताप विद्युत निगम, भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि., महानगर टेलीफोन निगम लि., ऑयल इंडिया लि., इंडियन पैट्रोकेमिकल्स कार्पोरेशन लि., भारत पैट्रोलियम कार्पोरेशन लि. तथा नेवेली लिग्नाइट कार्पोरेशन लि.।

वर्ष 1986-87 के दौरान 100 उद्यमों में 1708.38 करोड़ रुपए की हानि हुई। दिल्ली परिवहन निगम में सबसे ज्यादा 164.00 करोड़ रुपए की हानि हुई जो कुल हानियों का 9.60% बैठती है। सबसे ज्यादा हानि उठाने वाले अन्य दस उद्यम इस प्रकार हैं : ईस्टर्न

कोल फील्ड्स लि., फर्टिलाइज़र कार्पोरेशन ऑफ इंडिया लि., भारत कोकिंग कोल लि., हिन्दुस्तान फर्टिलाइज़र कॉर्पोरेशन लि., इंडियन आयरन एंड स्टील कं. लि., सेन्ट्रल कोल फील्ड्स लि., तथा हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन लि.। सबसे ज्यादा हानि उठाने वाले दस उद्यमों में कुल हानियों की 52.69% हानि हुई। सार्वजनिक उद्यमों के कार्य-निष्पादन की मुख्य रूप से तभी आलोचना की जाती है जब (i) उनकी तुलना निजी क्षेत्रक के कार्य निष्पादन से की जाती है; तथा (ii) उनका वित्तीय क्षमता के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है और यह माना जाता है कि सार्वजनिक उद्यमों को व्यावसायिक आधार पर चलाया जाए तथा उनसे यह आशा की जाती है कि वे नए क्षेत्रों में आगे विकास करने के लिए संसाधन उपलब्ध कराएँ। लेकिन अधिकतर इस दर्शन को मद्देनजर नहीं रखा जाता। बहुत से निजी उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। जब उनमें नुकसान होने लगता है तो राष्ट्रीयकरण की माँग की जाने लगती है। सार्वजनिक क्षेत्रक की बहुत सी विद्यमान बीमार इकाइयाँ निजी क्षेत्रक की ही देन है, उन्हें चूँकि मरने नहीं दिया जाता इसलिए उनमें नया निवेश करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ कार्यकलाप ऐसे भी हैं, विशेषकर सेवाओं के क्षेत्र में, जिन्हें पूरी तरह से निजी हाथों में नहीं रखा जा सकता भले ही उनमें नुकसान क्यों न उठाना पड़े। उदाहरण के रूप में हम परिवहन सेवाओं को ही लें। कुछ राज्यों में निजी व्यक्ति भी सार्वजनिक क्षेत्रक के साथ-साथ बस सेवा चलाते हैं। ये निजी व्यक्ति तो लाभ कमाते हैं और सरकार नुकसान उठाती है। क्या आप सोच सकते हैं कि नुकसान से बचने के लिए सरकार बस सेवा पूरी तरह से निजी व्यक्तियों के हाथों में ही छोड़ दे? यदि हाँ तो निजी व्यक्ति केवल भीड़ वाले मार्गों पर ही बसें चलाएंगे और दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्र अन्य भागों से कटकर रह जाएंगे। इसलिए सार्वजनिक उद्यमों के समग्र परिणामों पर विचार किया जाना चाहिए, केवल वित्तीय निष्पादन पर ही नहीं। यह भी उल्लेखनीय है कि बहुत-सी हमारी सार्वजनिक क्षेत्रक की इकाइयों को, जैसे राज्य विद्युत बोर्ड, उर्वरक इकाइयाँ आदि, इसलिए नुकसान उठाना पड़ता है कि उपभोक्ताओं को सहायता देने के लिए उनके उत्पादों की कीमतें कम रखी जाती हैं।

14.9.3 सार्वजनिक क्षेत्रक में दक्षता

किसी सार्वजनिक उद्यम के कुशल कार्य निष्पादन का एक अच्छा सूचक यह है कि उसमें क्षमता का पूरा उपयोग किया जा रहा है या नहीं। क्षेत्रक स्तर पर अर्थात् यदि सार्वजनिक उद्यमों को हम कई समूहों में बाँट दें तो हमें 1986-87 की बड़ी विषम तस्वीर दिखाई देगी। इस्पात उत्पादन के क्षेत्र में स्टील अथारिटी ऑफ इंडिया की 7 इकाइयों में से 4 इकाइयाँ अपनी क्षमता का 75% से अधिक, 3 इकाइयाँ 50 से 75% के बीच तथा एक इकाई 50% से कम उत्पादन कर रही थी। उर्वरक उत्पादक इकाइयों की स्थिति बड़ी रोचक है। 10 इकाइयों में क्षमता का 57% से अधिक, 7 इकाइयों में 50 से 75% के बीच तथा 5 इकाइयों में 50% से कम उत्पादन हो रहा था।

क्षमता का उपयोग न कर पाने के जो कारण अक्सर दिये जाते हैं वे हैं बिजली की काफी कमी, उपस्करों का बार-बार टूट जाना, डिजाइन में दोष और धनराशि की कमी। सार्वजनिक उद्यमों को कुशलता के साथ चलाने के लिए जरूरी है कि प्रौद्योगिकी को उन्नत बनाया जाए, रखरखाव प्रबंध को सुधारा जाए तथा ऊर्जा संरक्षण पर विशेष जोर दिया जाए।

एक ओर तो सार्वजनिक उद्यम अपनी क्षमता से कम उत्पादन कर रहे हैं तो दूसरी ओर निजी क्षेत्रक तथा विदेशों में कार्यरत सार्वजनिक क्षेत्रक की तुलना में भारत के सार्वजनिक क्षेत्रक में स्टाफ जरूरत से ज्यादा है, पूँजी-उत्पादन अनुपात तथा मज़दूरी लागत ऊँची है। इनमें कोई सीधी तुलना तो नहीं की जा सकती क्योंकि इनमें भिन्न वातावरण होता है, मशीनीकरण का स्तर भिन्न होता है और उद्यमों के साथ लगी हुई टाउनशिपों का निर्माण भी भिन्न होता है। सार्वजनिक उद्यमों में काम के प्रति वचनबद्धता का भी अभाव होता है। लेकिन इस पर भी सार्वजनिक उद्यम में औसत आमदनी 1960-61 में प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद के 5.5 गुना से बढ़कर 1980-81 में 6.5 गुना हो गयी है। ऐसा इसलिए हुआ है कि यहाँ बड़ी मात्रा में पदोन्नतियाँ और वेतन में बढ़ोतरी हुई है। यदि उत्कृष्ट कार्य निष्पादन के पुरस्कार के रूप में पदोन्नतियाँ की जाँये तो ये अच्छे प्रोत्साहन सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्रक में पुरस्कार के रूप में पदोन्नतियाँ कभी-कभी ही होती हैं क्योंकि अक्सर अनुभव की अवधि के आधार पर ये स्वतः ही हो जाती हैं और

यदि पदोन्नति नहीं होती तो उसे दण्ड मान लिया जाता है। सेनगुप्त समिति ने सिफ़ारिश की थी कि कर्मचारी की मूल मज़दूरी संरचना या तो उद्योग के आधार पर या उद्योग-व-क्षेत्र के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। मूल मज़दूरी के अतिरिक्त उत्पादिता संलग्न उपार्जन का तत्व भी शामिल किया जाना चाहिए।

14.9.4 स्वायत्तता तथा जवाबदेही

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 के अनुसार सार्वजनिक उद्यमों को यथासंभव अधिकाधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और वहाँ सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। लेकिन उनके प्रबंध में और यहाँ तक कि उनके रोजमर्रा के काम में नौकरशाही तथा/या राजनीतिक लोगों का हस्तक्षेप होता रहता है। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक उद्यमों के निदेशकों को दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। एक ओर तो प्रशासक के रूप में उन्हें मार्गदर्शक सिद्धान्तों का अनुसरण करना होता है तो दूसरी ओर उद्यमी के रूप में उन्हें निर्धारित लक्ष्यों का अनुगमन और जोखिमें उठानी पड़ती हैं। यदि सार्वजनिक उद्यमों के काम में बार-बार हस्तक्षेप करने के बजाय उनके लिये व्यापक मार्गदर्शन सिद्धान्त जारी कर दिए जाएँ तो ये दोनों प्रकार की भूमिकाएँ साथ-साथ निभाई जा सकती हैं। आर्थिक प्रशासन और सुधार के लिए गठित एल.के. झा आयोग ने सिफारिश की थी कि निजी क्षेत्रक की इकाइयों की तरह सार्वजनिक उद्यमों पर भी केवल सांविधिक नियंत्रण ही होने चाहिए, जो कि विद्यमान हैं, इसके अतिरिक्त उन पर अन्य किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होना चाहिए। हाँ, जब वे सरकार से धन चाहते हैं तो उसका पूरा औचित्य उन्हें सिद्ध करना होगा।

स्वायत्तता और जवाबदेही साथ-साथ चलती हैं। प्रबंध वर्ग को अपने कार्यनिष्पादन तथा परिणामों के रूप में उपलब्धियों के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। परन्तु यह जवाबदेही व्यापक अर्थ में हो, संकुचित अर्थ में नहीं। अर्थात् व्यक्तिगत कार्रवाई या निर्णयों का ठीक तथा औचित्यपूर्ण होना या नियमों तथा कार्यविधि के अनुसार होने पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए। प्रत्येक उद्यम के लिए सरकार द्वारा बनाए गए चार्टर के ढाँचे के अन्दर पृथक-पृथक उद्यम के प्रबंधन को अपनी कंपनी के उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा निश्चित समयावधि के साथ चरणबद्ध निष्पादनों के विवरण तैयार करने चाहिए। इस दस्तावेज़ को संगठन की वचनबद्धता माना जाए और प्रबंध वर्ग को इसे पूरा करने के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए लेकिन इस व्यापक ढाँचे के अन्तर्गत उद्यम को चलाने के लिए प्रबंध को स्वतंत्र छोड़ दिया जाए।

बोध प्रश्न 4

1 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

2 वे कौन से कारक हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के कार्यनिष्पादन में बाधक होते हैं? पाँच वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

14.10 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद हमें जानकारी मिली कि स्वतंत्रता के समय भारत को एक ऐसा औद्योगिक ढाँचा विरासत में मिला जो मुख्यतः उपभोक्ता वस्तु उद्योगों पर आधारित था। उस समय न केवल आधारिक संरचना का ही अभाव था अपितु बचत तथा निवेश का

भी तोड़ा था। स्वतंत्र भारत की सरकार को इन गतिरोधों को तोड़ने और औद्योगीकरण तथा आर्थिक विकास के लिए समुचित परिस्थितियाँ पैदा करने का अवसर मिला। लेकिन, आर्थिक विकास की कार्यनीति क्या हो? इस प्रश्न पर देश में तीव्र बहस शुरू हो गई। एक ओर गांधी जी ने लघु उद्योगों तथा आत्म निर्भरता का समर्थन किया तो दूसरी ओर नेहरू तथा उन जैसे समाजवादी लोकतंत्रवादियों ने पूँजीगत माल पैदा करने वाले उद्योगों के माध्यम से तेज औद्योगीकरण का समर्थन किया। फिर सरकार ने औद्योगिक विकास को आयोजना के ढाँचे के अन्तर्गत बढ़ावा देने तथा उसका नियमन करने का निर्णय लिया। औद्योगीकरण की कार्यनीति विभिन्न औद्योगिक नीति प्रस्तावों द्वारा प्रचलित की गई।

परिणामस्वरूप पहला औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1948 में प्रसारित किया गया और उसके बाद 1956, 1973, 1975, 1980 तथा 1985-86 में इसमें परिवर्तन किए गए। इन सभी नीति वक्तव्यों में मिश्रित अर्थव्यवस्था की संकल्पना को अपनाया गया और विकास के सामूहिक काम में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रकों को एक दूसरे की पूरक भूमिकाएँ सौंपी गई। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रकों में उद्यमों के विभाजन को एक लाइसेंस प्रणाली के माध्यम से कायम किया गया। लघु उद्योगों को कुछ संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्रदान किए गए ताकि वे अपनी उत्पादन विधियों को आधुनिक बना सकें और अपने संगठनात्मक स्वरूप में सुधार कर सकें।

सत्तर के दशक की औद्योगिक नीतियों में लाइसेंस तथा नियंत्रण की अनम्य प्रणाली में कुछ रियायतें प्रदान की गईं। 1977 में, केन्द्रीय सरकार में परिवर्तन हो जाने के कारण, औद्योगिक नीतियों की समीक्षा की गई और कुटीर तथा लघु उद्योगों को प्रमुख भूमिका सौंपी गई। औद्योगिक नीतियों के नवीकरण की प्रक्रिया सातवीं पंचवर्षीय योजना अवधि के दौरान और अधिक गति प्राप्त कर गई। भौतिक के स्थान पर वित्तीय नियंत्रणों को प्रधानता दी गई तथा अधिक उदारीकरण अनुमत किया गया।

लघु तथा कुटीर उद्योगों को हमारी औद्योगिक नीतियों में प्रमुख भूमिका दी गई है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के उद्योग श्रम-प्रधान होते हैं इसलिए ज्यादा रोज़गार प्रदान करते हैं। इसी तरह, ये विकेन्द्रीकरण में भी सहायक होते हैं क्योंकि ये विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं और अप्रयुक्त संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं। हालाँकि समय-समय पर इन तर्कों की काफी आलोचनां की गई है।

विभिन्न नीति उपायों द्वारा संरक्षण तथा सहायता प्रदान किए जाने के बावजूद इन उद्योगों को बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है और इनके अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया है। पंचवर्षीय योजना के मसौदे (1978-83) में इनकी प्रगति का मूल्यांकन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि कुल मिलाकर विभिन्न कार्यक्रमों के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सका है। इन उद्योगों को सहायता प्रदान करने के लिए सरकार ने जो एजेंसियाँ तथा संस्थाएँ स्थापित की हैं उनमें समुचित तालमेल का अभाव है और उनकी गतिविधियों को मानीटर भी नहीं किया जा रहा है। इसके अलावा, इस क्षेत्रक में बीमार इकाइयों की संख्या भी बढ़ी है।

सार्वजनिक क्षेत्रक इसलिए बनाया गया था कि क्षेत्रीय असंतुलन को ठीक किया जा सके, रोजगार सामर्थ्य बढ़ाई जा सके और बुनियादी निविष्टियों में अवरोधों को समाप्त किया जा सके। पिछले सालों में सार्वजनिक क्षेत्रक में सकल सीमांत में वृद्धि हुई जो 1977-78 से 1986-87 के दौरान 564.37% से बढ़ गई। पिछले सालों में इसके सकल लाभ में वृद्धि हुई है। पृथक उद्योग के रूप में तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग 1986-87 में सबसे ज्यादा लाभ कमाने वाला उद्यम था। हाल के वर्षों में, सार्वजनिक क्षेत्रक की इस बात को लेकर काफी आलोचना की गई है कि इसमें भारी नुकसान हो रहा है और अदक्षता व्याप्त है। इसके अतिरिक्त, निजी क्षेत्रक के निष्पादन की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्रक के निष्पादन की आलोचना की जाती है। ये अपनी क्षमता का समुचित रूप से उपयोग नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि बिजली की काफी कमी है, उपस्कर बार-बार टूट-फूट जाते हैं, डिजाइन में दोष हैं और वित्त की कमी है। निजी क्षेत्रक की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्रक में स्टॉफ तादाद से ज्यादा हैं, पूँजी-उत्पादन अनुपात ऊंचा है आदि।

तथापि, यह सुझाव दिया जाता है कि प्रबंध वर्ग को अपने कार्य निष्पादन तथा प्राप्त परिणामों के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। उन्हें सरकार द्वारा प्रत्येक उद्योग के लिए निर्धारित चार्टर के ढाँचे के अन्दर अपनी-अपनी कंपनी के एक समय सीमा के साथ उद्देश्य

तथा लक्ष्य निर्धारित करते हुए विवरण तैयार करना चाहिए। इसके बाद प्रबंध वर्ग को उन लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रति वचनबद्ध तथा जवाबदेह होना चाहिए, किन्तु इस व्यापक ढाँचे के अन्दर उद्यम चलाने की उन्हें पूरी आजादी होनी चाहिए।

14.11 शब्दावली

मूल (कोर) क्षेत्रक : राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिए बुनियादी उद्योग जिनमें कोयला तथा लिग्नाइट, कच्चा तेल, पैट्रोल और प्राकृतिक गैस, बिजली, उर्वरक, पैट्रो-रसायन आदि शामिल हैं।

सकल मार्जिन : मूल्यह्रास, ब्याज तथा कर को काटने से पहले सार्वजनिक उद्यमों द्वारा कमाई गई वेशी आमदनी।

सकल लाभ : सकल मार्जिन में से मूल्यह्रास को घटा देने पर जो राशि बचे, उसे सकल लाभ कहते हैं।

भौतिक नियंत्रण : किसी नई वस्तु का उत्पादन शुरू करने के इच्छुक किसी नए उद्यम को क्षमता, कर्ज़, आयात, अवस्थिति आदि के लिए लाइसेंस तथा परमिट प्राप्त करने हेतु आवेदन करना आवश्यक है। इसे कई अवस्थाओं में होकर गुजरना होता है। इस तरह के नियंत्रण को भौतिक नियंत्रण कहते हैं।

आयात प्रतिस्थापन : आयातों पर निर्भरता को कम करने के लिए आयात-प्रतिस्थापन का समर्थन किया जाता है। इसका अर्थ है, आयातित वस्तुओं के स्थान पर देश में ही उसी प्रकार की अथवा उसके निकट की वस्तु उत्पादित कर लेना।

14.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल ए.एन. : **भारतीय अर्थशास्त्र : विकास एवं आयोजन,** 1988 वाईली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, अध्याय 33 से 37.

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी : **भारतीय अर्थव्यवस्था,** 1989, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, अध्याय 31, 32, 33 और 35.

नाथूराम्का, लक्ष्मीनारायण : **भारतीय अर्थशास्त्र,** लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, 1990, प्रकाशक, आगरा, अध्याय 25, 27, 29 और 30.

रुद्रदत्त एवं के.पी.एम. सुन्दरम् : **भारतीय अर्थव्यवस्था,** 1990, एस.चाँद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय 10, 11, 33 एवं 35.

Ahulwalia, I.J. (1985) *Industrial Growth in India.* Oxford University Press (Ch. 6 and 8).

Bhagwati, J.N. and Desai, P. (1970). *India : Planning for Industrialization.* Oxford University Press (Ch. 12-16).

Bhagwati, J.N. & Srinivasan T.N. (1975). *Foreign Trade Regime and Economic Development in India.* Columbia University Press.

Chaudhury, P. (1979). *The Indian Economy : Poverty and Development,* Vikas Publishing House, New Delhi (ch.6).

Chellaswami, T."Policy Relating to Small Scale Sector" in Mongia, J.N. (ed) (1980). *India's Economic Policies, 1947-77,* Allied Publishers, New Delhi.

Government of India -*Economic Survey,* (1986). Ministry of Finance, P.39.

Hashim, S.R. "Nature of small Scale Industry and Its Developmental Role" in Suri, K.B., (ed) (1988). *Small Scale Enterprises In Industrial Development; The Indian Experience,* (p.261).

Hazari, R.K. and Oza, A.N. "The Public Sector in India" in Robinson, E.A.G. & Kidron, M. (eds) (1970). *Economic Development in South Asia,* Macmillan and Company Ltd, London.

Rangnekar, D.K: "Industrial Policy" in Mongia, J.N. (ed) (1980), *India's Economic Policies*, 1947-77 Allied Publishers, New Delhi

Suri, K.B. (1988), *Small Scale Enterprises in Industrial Development*, Sage Publications, New Delhi.

14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (i) गलत (ii) सही (iii) गलत (iv) सही

2) भाग 14.2 पढ़िए

3) भाग 14.2.2 पढ़िए

बोध प्रश्न 2

1) (i) समाजवादी (ii) बड़े घराने (iii) 1956

2) भाग 14.5.2 पढ़िए

3) भाग 14.5.2 पढ़िए

बोध प्रश्न 3

1) भाग 14.7 पढ़िए

2) भाग 14.8.2 पढ़िए

3) भाग 14.8.3 पढ़िए

बोध प्रश्न 4

1) भाग 14.9.1 पढ़िए

2) भाग 14.9.3 पढ़िए

इकाई 15 औद्योगिक प्रगति, रुग्णता और वित्त व्यवस्था, विदेश व्यापार-प्रणाली और पूँजी

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 औद्योगिक विकास का स्वरूप
  15.2.1 विकास दरें
  15.2.2 उत्पादन की विविधता
  15.2.3 क्षेत्रीय ढाँचा
  15.2.4 केन्द्रीयकरण की मात्रा
15.3 औद्योगिक रुग्णता : समस्या
  15.3.1 रुग्णता : परिभाषा और आकार
  15.3.2 रुग्णता के कारण
  15.3.3 औद्योगिक रुग्णता : नीतियाँ
15.4 औद्योगिक वित्त व्यवस्था
  15.4.1 वित्तीय परिसम्पत्ति के प्रकार
  15.4.2 बाह्य वित्त प्रबंध
  15.4.3 पूँजी बाज़ार
15.5 व्यापार प्रणाली और उदारीकरण
  15.5.1 संरक्षण का स्वरूप
  15.5.2 उदारीकरण
15.6 विदेशी पूँजी निवेश और उदारीकरण
  15.6.1 बहुराष्ट्रीय निगम
  15.6.2 उदारीकरण के उपाय
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको निम्न बातों का ज्ञान हो सकेगा :

- औद्योगिक विकास के ढाँचे से, किस प्रकार उत्पादन की संरचना में विकेन्द्रीकरण की ओर झुकाव हुआ;
- किस प्रकार औद्योगीकरण के भिन्न-भिन्न संकेतकों के अंतर्राज्यीय-स्वरूप में परिवर्तन समय के साथ परिवर्तित हुए हैं;
- इसके अंतर्निहित कारणों पर प्रकाश और औद्योगिक रुग्णता के निवारण के लिए उपाय;
- उद्योग विशेष में वित्त के आन्तरिक तथा बाह्य स्रोत; और
- नियंत्रित विदेशी पूँजी निवेश की नीति और इसमें उदारीकरण और हाल में हुए परिवर्तन।

15.1 प्रस्तावना

औद्योगिक प्रगति संबंधी सरकार की नीतियों और कौशल का मूल्याकन करने का एक

तरीका यह है कि आंकड़ों को देखा जाए और औद्योगिक निष्पादन (performance) को परखा जाए। किन्तु इस कार्यविधि में एक डर यह है कि चुने हुए तथ्यों को प्रस्तुत करके सफलता या असफलता, किसी भी प्रकार की तस्वीर खींची जा सकती है। भारतीय संदर्भ में ऐसा ही हुआ है। जो लोग औद्योगीकरण की भारतीय नीति का अनुमोदन करते हैं उन्होंने सफलता की तस्वीर खींचने का प्रयत्न किया है, जबकि वे लोग जो इस नीति का अनुमोदन नहीं करते थे, उन्होंने इसके विपरीत तस्वीर खींची है।

सत्य इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच में ही कहीं पर है। पिछले चार दशकों में भारत का औद्योगिक निष्पादन कुछ अंशों में असफलता और निराशा की तस्वीर है, किन्तु इसके साथ ही कुछ अंशों में यह सफलता की तस्वीर भी है। दुर्भाग्यवश सफलता की अपेक्षा भारत की सफलता का ढिंढोरा कुछ अधिक ही पीटा गया है। भारतीय निष्पादन को समझने, उसका मूल्यांकन करने तथा सही निष्कर्ष निकालने के लिए दोनों पहलुओं को जाँचना आवश्यक है। औद्योगिक विकास और उन्नति का विश्लेषण करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सूचक सापेक्ष होते हैं; निरपेक्ष नहीं। ऊँची या नीची विकास दर जैसी कोई चीज़ नहीं है। दोनों सापेक्ष शब्द हैं। यह इस बात से संबंधित है कि भारत ने पहले कहाँ तक प्रगति की और दूसरे देशों का निष्पादन कैसा रहा। इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि 1901-46 के दौरान भारत के औद्योगिक उत्पादन की विकास दर मुश्किल से दो प्रतिशत थी। इसी संदर्भ में हम स्वतंत्रता के बाद कार्य-निष्पादन की समीक्षा करेंगे।

15.2 औद्योगिक विकास का स्वरूप

1951-86 की अवधि को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है। 1951 से 1965, जिसमें औद्योगिक विकास की दर आम तौर पर अधिक थी और 1966 के बाद, जब विकास की दर आम तौर से कम थी। इससे ऐसी धारणा बनी है कि प्रथम तीन योजनाओं के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में एक प्रकार का दीर्घकालीन ठहराव आ गया था। दूसरे काल को 1966-74 और 1975-86 के दो और उप-भागों में बाँटा जा सकता है। अंतिम भाग में विकास की दर अपेक्षाकृत कुछ अधिक रही है, यद्यपि प्रथम तीन योजनाओं के निष्पादन तक नहीं पहुँच सकी। विकास दर का यह विवेचन औद्योगिक उत्पादन सूचकांक आधार वर्ष (1980-81) पर आधारित है।

15.2.1 विकास दरें

1951 से 1986 तक, समूचे काल की विकास दर 5.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। यदि इसको दो कालों में विभाजित किया जाए तो 1951 से 1965 तक की विकास दर 7.3 प्रतिशत होगी और 1966 से 1986 तक की यह दर 5 प्रतिशत है। यदि बाद के काल को 1966-74 और 1975-86 में बाँटा जाए तो 1966-74 की विकास दर 4.3 प्रतिशत होगी और 1975-86 की 5.6 प्रतिशत होगी।

1951-86 के समूचे काल की क्षेत्रवार विकास दरें ये हैं : खनन और उत्खनन 5 प्रतिशत, विनिर्माण 5.2 प्रतिशत और विद्युत 10.5 प्रतिशत। प्रत्येक क्षेत्र में प्रथम पन्द्रह वर्षों की विकास दरें अगले बीस वर्षों की तुलना में अधिक हैं।

यदि योजनाओं के अनुसार देखें तो तीसरी योजना में औद्योगिक उत्पादन के विकास की औसत वार्षिक दर सबसे अधिक अर्थात् 10.2 प्रतिशत थी जो 1966 से 1969 तक की तीन वार्षिक योजनाओं में घटकर 2.2 प्रतिशत रह गई। चौथी योजना में यह बढ़कर 4.1 प्रतिशत और पांचवीं योजना में 7.7 प्रतिशत हो गई। 1979-80 में जब केन्द्र सरकार में एक बड़ा राजनीतिक परिवर्तन हुआ यह दर गिरकर 1.1 प्रतिशत तक पहुँच गई, किन्तु 1980-81 से 1984-85 की छठी योजना में फिर बढ़कर यह 7.7 प्रतिशत हो गई। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1977 में जब जनता सरकार बनी तो "चल" (Rolling) योजना का प्रस्ताव रखा गया जो कार्यान्वित नहीं हो सका और इसके पश्चात् अंतिम छठी योजना 1980-81 में आरंभ हुई। छठी योजना में खनन उद्योग और उत्खनन तथा दूसरी योजना में विद्युत उत्पादन सबसे तेजी से बढ़े।

यदि विकास दरों पर कारखानों में रोज़गार की दृष्टि से विचार करें तो 1951-83 के समस्त

काल में यह केवल 3.5 प्रतिशत प्रति वर्ष थी। यदि हम इसका दो भागों मे विभाजन करें तो 1951-65 में विकास दर 5.1 प्रतिशत और 1966-83 में 3.1 प्रतिशत थी। 1966-74 के काल में यह केवल 2.5 प्रतिशत थी, जो बढ़कर 1975-83 के काल में 3.3 प्रतिशत हो गई। इस सारे काल में बुद्धिमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR) बढ़ता रहा, जिसके कारण रोज़गार की विकास दर में रूकावट आई। किन्तु उत्पादन की विकास दर और रोज़गार की विकास दर में किसी सीमा तक साम्य है। 15.1 और 15.2 तालिकाओं में उत्पादन/रोज़गार के आँकड़े दिए गए हैं। 1960 के दशक के मध्य से 1980 के दशक के मध्य तक विकास दर की अवनति का कारण माँग में कमी थी। माँग में कमी आय के असमान वितरण और कृषि क्षेत्र के धीमे विकास के कारण रही।

तालिका 15.1 1951-1985 में औद्योगिक उत्पादन की विकास दरें

(1970-71 की कीमतों पर)

काल/क्षेत्र	प्रतिशत प्रति वर्ष प्रवृत्ति दर			
	खनन और उत्खनन	विनिर्माण	विद्युत	सामान्य
भाग क				
1951-1965	6.0(5.4)	6.6(5.8)	12.1(10.9)	6.7(5.9)
1966-1985	4.8(4.2)	4.5(4.4)	7.9(7.6)	4.7(4.6)
क) 1966-1974	1.7(1.9)	4.3(3.7)	7.0(6.3)	4.3(3.7)
ख) 1975-1985	6.4(5.2)	4.4(4.8)	7.4(7.2)	4.8(5.0)
1951-1985	4.6(4.8)	4.8(4.9)	9.6(9.2)	5.1(5.1)
भाग ख				
1951-1960	4.7(4.6)	6.1(5.4)	10.4(9.4)	6.1(4.7)
1961-1970	3.9(3.3)	3.7(3.8)	10.4(9.5)	4.0(4.0)
1971-1980	3.9(3.4)	5.0(3.8)	8.5(6.9)	5.1(4.1)
1981-1985	7.4(5.8)	6.0(4.6)	8.3(6.6)	6.3(4.9)
1951-1985	4.6(4.8)	4.8(4.9)	9.6(9.2)	5.1(5.1)
	औसत वार्षिक प्रतिशत			
भाग ग)				
1951-52-1955-56 (I योजना)	2.6	6.9	10.0	6.6
1956-57-1960-61 (II योजना)	8.2	5.0	16.7	6.2
1961-62-1965-66 (III योजना)	7.9	6.6	16.4	7.1
1966-67-1968-69 (वार्षिक योजनाएँ)	1.1	3.0	10.0	3.2
1969-70-1973-74 (IV योजना)	1.4	3.6	6.2	3.6
1974-75-1978-79 (V योजना)	4.1	7.5	13.6	7.7
1979-80 (वार्षिक योजनाएँ)	2.0	-0.4	2.1	0.2
1980-81-1984-85 (VI योजना)	11.7	5.7	9.5	6.6

कोष्ठकों में दिए गए अंक चक्रवृद्धि दरें (Compound rates) हैं।

स्रोत : सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकोनॉमी, **बेसिक स्टेटिस्टिक्स रिलेटिंग टू दि इंडियन इकोनॉमी**, भाग 1, आल इंडिया, बम्बई, अगस्त, 1987

तालिका 15.2 : कार्यरत कारखानों में अनुमानित औसत दैनिक रोज़गार की 1951-1983 में विकास दरें

(प्रतिशत प्रति वर्ष)

	काल	प्रवृत्ति दर	मिश्रित दर
	(1)	(2)	(3)
1)	1951-1965	5.1	4.3
2)	1966-1983	3.1	2.6
	(क) 1966-1974	2.5	2.1
	(ख) 1975-1983	3.3	2.9
3)	1951-1983	3.5	3.3
			औसत वार्षिक दर
1)	1951-52-1955-56 (I योजना)		2.8
2)	1956-57-1960-61 (II योजना)		5.3
3)	1961-62-1965-66 (III योजना)		5.2
4)	1966-67-1968-69 (वार्षिक योजनाएँ)		0.6
5)	1969-70-1973-74 (IV योजना)		3.7
6)	1974-75-1978-79 (V योजना)		3.8

स्रोत : भारत सरकार, श्रम मंत्रालय, श्रम ब्यूरो, **भारतीय श्रम वार्षिक पुस्तक**, शिमला से विभिन्न वर्षों के आँकड़े लिए गए।

15.2.2 उत्पादन की विविधता

स्वतंत्रता के बाद प्रथम 30 वर्षों में भारत की मुख्य उपलब्धि है भारतीय उद्योग की उत्पादन संरचना में भारी परिवर्तन। 1950 में (जब भारत गणराज्य बना), खाद्य वस्तुयें, सूती कपड़े और जूट, भारत के विनिर्माण-उत्पादन का 75 प्रतिशत थे। किन्तु तीस साल बाद 1979-80 में इन तीनों उद्योगों का उत्पादन कुल विनिर्माण उत्पादन का 27 प्रतिशत ही रह गया। दूसरी ओर, जबकि इंजीनियरी और रासायनिक उद्योगों का 1950 में कुल औद्योगिक उत्पादन का केवल 19 प्रतिशत ही था, तीस वर्षों बाद कुल औद्योगिक उत्पादन में इन उद्योगों का भाग लगभग 50 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार 30 वर्षों की अवधि में हमारे उद्योगों की उत्पादन संरचना में प्रमुख परिवर्तन आया। पारम्परिक निम्न प्रौद्योगिकी वाले उद्योगों से आधुनिक उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकीय उद्योगों की ओर उत्पादन संरचना का इस प्रकार का पूर्णरूपेण परिवर्तन बहुत से देश नहीं प्राप्त कर पाए हैं।

निम्न प्रौद्योगिकी उद्योगों से अपेक्षाकृत उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकीय उद्योगों की ओर उत्पादन का आमूल परिवर्तन भारत के निर्यात के आँकड़ों में प्रतिबिंबित होता है। 1960 में निम्न प्रौद्योगिकी वस्तुएँ जैसे प्राथमिक वस्तुएँ हमारे निर्यात का 55 प्रतिशत थीं। 1980 में इनका भाग घटकर 41 प्रतिशत रह गया और 1987 में और भी कम होकर 30 प्रतिशत ही रह गया। दूसरी ओर, मशीनरी, परिवहन उपकरण और दूसरे अन्य विनिर्माण उत्पादन जो 1960 में निर्यात के केवल 10 प्रतिशत थे, बढ़कर 1980 में 37 प्रतिशत और 1987 में लगभग 60 प्रतिशत हो गए। इस तरह, विगत 40 वर्षों में भारत न केवल उत्पादन संरचना को पारम्परिक औद्योगिक उत्पादन और निम्न प्रौद्योगिकी वस्तुओं से मध्य और उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी उत्पादन की ओर उन्मुख करने में सफल हुआ, बल्कि उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी उत्पादनों को निर्यात करने में भी सफल हुआ। निर्यातों की वस्तु संरचना में परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यह नये उभरते हुए उत्पादनों की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में टिक पाने की क्षमता को आंशिक रूप से प्रदर्शित करती है। आगे के भाग में हम औद्योगीकरण और विदेश व्यापार प्रणाली के सबंध का अध्ययन करेंगे।

यदि हम उत्पादन संरचना के विविधीकरण में वस्तुओं के विभिन्न वर्गों की भूमिका का उनके प्रयोग के दृष्टिकोण से अध्ययन करें तो सारी औद्योगिक संरचना का मूलभूत पूँजीगत, मध्यवर्ती और उपभोक्ता वस्तु-स्थायी और अस्थायी-उद्योगों में वर्गीकरण किया जा सकता है। यह वर्गीकरण भारतीय रिजर्व बैंक प्रयोग करता है। तालिका 15.3 में इन चार मुख्य वर्गों के उपलब्ध आँकडें (1956, 1960 1970 और 1980-81 वर्षों के) दिए गए

हैं। 1950 के आंकड़े नहीं दिए गए हैं क्योंकि इस वर्ष मूलभूत और पूँजीगत वस्तुओं का भाग कुल औद्योगिक उत्पादन में नगण्य था, जोकि हमारी औपनिवेशिक विरासत का एक भाग था। 1956 में उपभोक्ता वस्तुओं के स्थायी और अस्थायी वर्गों में विभाजन के आंकड़े उपलब्ध नहीं है। उत्पादन के वर्गों के कुल औद्योगिक उत्पादन में अंश को "भार" माना गया है।

तालिका 15.3: 1956, 1960, 1970 और 1980-81 में विभिन्न उद्योगों के सूचकांकों में उद्योगों का भार

	उद्योग	1956	1960	1970	1980-81
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
1)	मूलभूत वस्तुएँ	22.33	25.11	32.28	33.23
2)	पूँजीगत वस्तुएँ	4.71	11.76	15.25	14.98
3)	मध्यवर्ती वस्तुएँ	24.59	25.88	20.95	21.33
4)	उपभोक्ता वस्तुएँ	48.37	37.25	31.52	30.46
	क) स्थायी वस्तुएँ	-	5.68	3.41	3.81
	ख) अस्थायी वस्तुएं	-	31.57	28.11	26.65
	योग	100.00	100.00	100.00	100.00

स्रोत: कालम (2) में आंकड़े एम.वाई. खान की "**औद्योगिक उत्पादन में प्रवृत्तियाँ**, 1951-1977, भारतीय रिजर्व बैंक के "ओकेयशनल पेप्र्स", बम्बई, भाग 1, जून, 1980 तालिका 2, पृष्ठ 73 से लिए गए हैं।

कालम (3) में आँकड़ें भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा और वित्त पर रिपोर्ट, 1974-75 भाग-2, सांख्यिकीय विवरण, बम्बई, विवरण 11, पृष्ठ 26 से तथा कालम (4) और (5) के आंकड़े उसी पुस्तक के विवरण 19 पृष्ठ 22 से लिए गए हैं।

तालिका से मालूम होता है कि मूलभूत और पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का "भार" इस अवधि में बहुत बढ़ गया, उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के "भार" में बहुत गिरावट आई तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के "भार" में भी थोड़ी गिरावट आई है। 1956 से 1970 के दौरान प्रत्येक वर्ग में बहुत परिवर्तन हुआ किन्तु 1970 से 80-81 के बीच परिवर्तन सीमांतक ही हैं। वस्तुओं की संख्या में भी जैसा कि औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक से प्रदर्शित होता है, उत्पादन का विविधीकरण बहुत था। उदाहरण के लिए, 1951 में खनन उद्योग और उत्खनन के सूचकांक में केवल दो ही वस्तुएँ थीं। 1960 में यह संख्या बढ़कर 33 और 1970 में 61 हो गई, जो 1980-81 तक स्थिर रही। विनिर्माण में 1951 में वस्तुओं की संख्या 85 से बढ़कर 1960 में 278 और 1970 में 290 हो गई, जो 1980-81 तक स्थिर रही। खाद्य और कपड़े के वर्गों में वस्तुओं की संख्या 1956 से 1980-81 तक लगभग स्थिर रही। धातु आधारित वर्ग में संख्या 1951 में 30 से बढ़कर 1960 में 99 और 1970 में 115 हो गई तथा 1980-81 में घटकर 113 रह गई। इसी प्रकार, दूसरे उत्पादकों में वस्तुओं की संख्या 1951 में 35 से बढ़कर 1960 में 48 हो गई जो 1980-81 तक करीब-करीब स्थिर रही।

1970-71 और 1982-83 के बीच पंजीकृत कारखाना क्षेत्र और अपंजीकृत लघु और ग्रामीण उद्योग क्षेत्र के भार में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। पहले क्षेत्र का भाग 62.7 प्रतिशत से थोड़ा-सा बढ़कर 63.7 प्रतिशत हो गया और दूसरे क्षेत्र में यह 37.3 प्रतिशत से घटकर, 36.3 प्रतिशत रह गया।

कारखाना क्षेत्र में रोज़गार के संबंध में खाद्य और कपड़े के वर्गों का भाग 1950 में कुल विनिर्माण रोज़गार में 64.6 प्रतिशत से घटकर 1978 में 46.6 प्रतिशत हो गया। धातु आधारित और दूसरे उत्पादनों का भाग बढ़कर क्रमशः 19.8 प्रतिशत से 30 प्रतिशत और 15.6 प्रतिशत से 23.4 प्रतिशत हो गया।

यदि हम औद्योगिक उत्पादन के आंकड़ों को अपंजीकृत विनिर्माण क्षेत्र और विनिर्माण क्षेत्र में क्षेत्रवार निवल घरेलू उत्पाद के संदर्भ में देखे तो पाएंगें कि अपंजीकृत विनिर्माण उद्योगों का अनुपात, आज़ादी के प्रथम दो दशकों में, अर्थात् 1950-51 से 1970-71 तक तेजी से घटा। यह 46.3 प्रतिशत से घटकर 37.8 प्रतिशत हो गया और फिर 1982-84 तक स्थिर

रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि लघु और ग्रामीण उद्योगों को आरक्षण, संरक्षण और प्रोत्साहन 1970-71 के बाद अधिक प्रभावी रहा।

15.2.3 क्षेत्रीय ढाँचा

स्वतंत्रता के समय केवल पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात, तीन राज्यों में महत्वपूर्ण सीमा तक औद्योगीकरण हुआ था। औद्योगीकरण के स्तर में क्षेत्रीय और अंतर्राज्यीय विषमताओं को कम करना हमारी विकास नीति का एक मुख्य लक्ष्य रहा है। यदि विभिन्न राज्यों और संघ राज्यों के क्षेत्रीय वितरण को देखा जाए तो निम्नलिखित तस्वीर सामने आएगी।

राज्यों के अनुसार संकेतकों को हम प्रति लाख जनसंख्या में पंजीकृत कारखानों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या के आधार पर अध्ययन कर सकते हैं, जैसा कि पांडे कार्यकारी दल (Pande Working Group) ने सुझाया है। या फिर शिवरामन समिति द्वारा सुझाये गए विनिर्माण में प्रति व्यक्ति मूल्य संवर्द्धन के आधार पर भी इसका अध्ययन किया जा सकता है।

पांडे दल के मापदंड के अनुसार 5 राज्यों को विकसित राज्य कहा जा सकता है क्योंकि इनके औसत अखिल भारतीय स्तर से अधिक थे और शिवरामन समिति के मापदंड के अनुसार 7 राज्यों को विकसित समझा जाएगा क्योंकि इनके औसत अखिल भारतीय स्तर से ऊँचे हैं। कारखाना रोज़गार के संदर्भ में 5 विकसित राज्य—गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल को मिलाकर 1951 में उनका भाग कुल कारखाना रोज़गार का 66 प्रतिशत था जो घटकर 1967 में 60 प्रतिशत रह गया। इन 5 राज्यों मे तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल में गिरावट आई है, जबकि महाराष्ट्र, गुजरात और केरल में इसी अवधि में सुधार हुआ है। कम विकसित राज्यों में असम और बिहार में भी इसी अवधि के दौरान गिरावट आई, जबकि 6 राज्यों में बढ़ोत्तरी हुई।

रोज़गार, पूँजी, उत्पादन मूल्य और मूल्य संबर्द्धन के बहुल मापदंडों (multiple criteria) के अनुसार राज्यों के भाग का अध्ययन करें तो 1973-74 और 1982-83 में राज्यों के भाग तालिका 15.4 से स्पष्ट हो जाएंगे।

तालिका 15.4: राज्यों की चुनी हुई विशेषताएँ, 1973-74 और 1982-83

(प्रतिशत)

राज्य	रोज़गार		उत्पादक पूँजी		उत्पाद का मूल्य		निवल मूल्य संवृद्धि	
	1973—74	1982—83	1973—74	1982—83	1973—74	1982—83	1973—74	1982—83
(1)	(2	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
1) आंध्र प्रदेश	6.7	9.5	4.8	5.7	5.6	5.5	5.1	6.1
2) असम	1.5	1.4	1.3	0.9	1.3	0.8	1.3	0.9
3) बिहार	4.5	4.6	7.1	9.5	4.9	6.6	4.9	6.7
4) गुजरात	9.1	9.5	7.5	9.0	10.3	11.9	9.5	9.1
5) हरियाणा	2.4	2.7	2.7	2.8	2.4	3.3	2.2	3.1
6) हिमाचल प्रदेश	0.4	0.3	0.3	0.8	0.2	0.3	0.2	0.8
7) जम्मू और कश्मीर	0.3	0.4	न	0.3	0.1	0.2	0.1	0.2
8) कर्नाटक	5.1	4.9	1.4	4.3	4.2	4.1	5.1	4.9
9) केरल	4.1	3.3	0.8	2.7	2.6	2.9	2.9	2.9
10) मध्य प्रदेश	4.1	4.5	6.2	7.2	4.6	4.2	4.8	5.7
11) महाराष्ट्र	19.1	16.1	18.9	17.1	25.4	22.0	26.8	21.6
12) मणिपुर	न	न	न	न	न	न	न	न
13) मेघालय	0.2	0.1	0.7	0.1	न	न	0.1	न

14)	नागालैंड	-	न	-	न	-	न	-	न
15	उड़ीसा	1.7	1.7	3.5	2.8	1.6	1.5	2.0	1.4
16)	पंजाब	2.8	3.3	3.5	3.9	3.4	4.0	2.2	2.7
17)	राजस्थान	2.1	2.7	3.1	3.7	2.1	2.4	1.8	2.4
18)	तमिलनाडु	9.9	10.2	8.8	8.0	9.5	10.4	9.3	10.1
19)	त्रिपुरा		न	0.2	न	न	न	न	न
20)	उत्तर प्रदेश		7.6	10.1	11.0	10.9	7.1	8.3	6.4	9.0
21)	पश्चिम बंगाल		15.5	11.8	10.3	8.4	12.2	8.6	13.3	9.8
22)	अंडमान और निकोबार द्वीप समूह		न	0.1	न	न	न	न	न	न
23)	अरुणांचल प्रदेश		-	-	-	-	-	-	-	-
24)	चंडीगढ़		0.1	0.1	0.1	न	0.2	0.1	0.2	0.1
25)	दिल्ली		1.9	1.8	1.6	1.4	1.9	2.3	1.5	1.6
26)	गोवा, दमन व दियू		0.1	0.2	0.5	0.4	0.1	0.5	0.1	0.4
27)	पांण्डिचेरी		0.2	0.2	0.1	0.1	0.2	0.1	0.2	0.1
	योग		100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

न = नगण्य

स्रोत: भारत सरकार, केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन, सांख्यिकी विभाग, योजना मंत्रालय, **उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण, फैक्ट्री क्षेत्र के संक्षिप्त नतीजे,** नई दिल्ली संबंधित वर्षों की रिपोर्ट।

आम तौर से ऊपर दी गई चार विशेषताओं में प्रत्येक में विकसित राज्यों के भाग 1973-74 की तुलना में 1982-83 में कम थे। गिरावट की प्रवृत्ति राज्यों के 5 (पांण्डे) के दल की अपेक्षा 7 (शिवराम) के दल में कम प्रदर्शित थी। 7 राज्यों में महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल को हानि हुई, जबकि गुजरात, पंजाब और हरियाणा में सुधार हुआ।

यदि अंतर्ज़िला परिवर्तन को देखें तो इसी प्रकार की प्रवृत्ति देखने में आती है। कुल अखिल भारतीय कारखाना रोज़गार में औद्योगिक विकसित ज़िलों का भाग 1974-1985 की अवधि में 81.4 प्रतिशत से घटकर 75.2 प्रतिशत हो गया; और विकसित राज्यों में कुल कारखाना रोज़गार में औद्योगिक विकसित ज़िलों का भाग भी कम हुआ। किन्तु कम विकसित राज्यों में इन ज़िलों का भाग इस अवधि के दौरान बढ़ गया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक विकास के कई उद्देश्यों में अंतप्रादेशिक विषमताओं में कुछ कमी आई है।

15.2.4 केंद्रीयकरण की मात्रा

भारत में औद्योगीकरण के विभिन्न उद्देश्यों का व्यक्तिगत स्वामित्व के हाथों में आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण की सामान्य प्रक्रिया की रोकथाम करना एक महत्वपूर्ण लक्ष्य रहा है। इसे पाने के लिए राज्य के पास लाइसेंस जैसी नियंत्रण प्रणाली थी। श्री आर.के. हज़ारी की पुस्तक में दी गई व्यावसायिक समूह/घराने की संकल्पना के आधार पर एकाधिकार जाँच आयोग ने केंद्रीकरण की परिभाषा की है। इस मापदंड के अनुसार एक व्यावसायिक समूह के अधीनस्थ कम्पनियों को इस वर्ग में रखा जा सकता है यदि उनका नियंत्रण मैनेजिंग एजेंसी या सहायक कम्पनियों के माध्यम से एक विशेष समूह/घराने के पास है। या फिर वित्तीय और प्रबंध नियंत्रण के माध्यम से व्यावसायिक समूह के अंतर्गत कम्पनी के किसी सदस्य द्वारा व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से संचालित किया जाता है। नियंत्रणकारी हितलाभ (controlling interest) की परिभाषा इक्विटी शेयरों के बहुसंख्यक स्वामित्व द्वारा की गई थी। एकाधिकार जाँच आयोग के अनुसार बड़े व्यावसायिक समूह वे थे जिनका 5 करोड़ रुपये से अधिक की परिसम्पत्ति पर नियंत्रण था। 1964 में इनकी संख्या 75 थी, जिनकी परिसम्पत्ति उस वर्ष की गैर सरकारी और गैर बैंकिंग कम्पनियों की कुल परिसम्पत्ति का 47 प्रतिशत थी।

व्यावसायिक समूह की संकल्पना का औद्योगिक लाइसेंस नीति जाँच समिति (आई.एल.पी.आई.सी., 1969) ने दो तरह से संशोधन किया है:

i) यदि किसी कम्पनी के एक-तिहाई या अधिक प्रभावी इक्विटी शेयरों को कोई घराना

नियंत्रण करता है तो वह कम्पनी उसके नियंत्रण में मानी जाएगी।

ii) प्रभावी इक्विटी शेयरों में वे शेयर शामिल नहीं हैं जो राज्य स्वामित्व/प्रायोजित सावधि ऋण द्वारा संस्थाओं, सरकारी और अप्रवासी शेयरधारियों के पास हैं। औद्योगिक लाइसेंस नीति जाँच समिति ने उस व्यावसायिक समूह को बड़ा कहा है जिसका 35 करोड़ रुपयों से अधिक की कुल परिसम्पत्ति पर नियंत्रण है। 1965 में इस प्रकार के 20 व्यावसायिक समूह थे।

एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969 (एम.आर.टी.पी.ऐक्ट) ने केंद्रीकरण को इस प्रकार मापा है, वे कम्पनियाँ/समूह जिनकी कुल परिसम्पत्ति 20 करोड़ रुपये से कम नहीं है, एकाधिकारी वर्ग की परिभाषा में आते हैं। और जिनकी कुल परिसम्पत्ति एक करोड़ रुपये या उससे अधिक है, चाहे वह अकेले हों या किसी अंतर्संबंधित तरीके से हों, वे प्रमुख-उपक्रम की परिभाषा में आती हैं।

आर.के. हज़ारी ने मालूम किया कि वर्ष 1951 से 1958 तक चार सबसे बड़े, 13 बड़े और 20 व्यावसायिक समूहों का भाग बढ़ा। यह आँकड़े केवल निजी क्षेत्रक के हैं। एस.के. गोयल ने समस्त कम्पनी क्षेत्रक–निजी और सार्वजनिक, दोनों–की कुल प्रदत्त पूँजी पर विचार किया और यह मालूम किया कि 1958 और 1966 के बीच कुल प्रदत्त पूँजी में निजी कम्पनी क्षेत्र का भाग 72 प्रतिशत से घटकर 67 प्रतिशत रह गया और 20 सबसे बड़े, 53 बड़े और 73 व्यावसायिक समूहों का भाग भी घटा है। किन्तु विदेशी कम्पनियों का भाग इस अवधि में कुछ बढ़ गया।

वैकल्पिक परिभाषाओं की संख्या के संदर्भ में केंद्रीकरण के विस्तृत विश्लेषण के आधार पर एन.के. चन्द्रा ने मालूम किया कि निजी कम्पनी क्षेत्र में एकाधिकार के अंश के बढ़ने की प्रवृत्ति 1951-75 के पूरे काल में थी, जबकि 1958 से 1975 तक इनमें न बढ़ने की और न घटने की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ीं। इसके अलावा, देश के कुल पुनरुत्पत्ति योग्य वास्तविक धन में, स्थिर मूल्य पर, एकाधिकार के अंश में 1951-75 की अवधि में 1975 तक समाप्त होने वाली किसी अन्य उप-अवधि में घटने की प्रवृत्ति दिखाई दी। इस परिकल्पना की पुष्टि 1964-76 के वर्षों में संगठित-क्षेत्रक के 51 उत्पादों के केंद्रीकरण से होती है। सामान्यतः 1964 की तुलना में 1976 में उत्पाद-केंद्रीकरण कम था, यद्यपि 8 उत्पादों में केंद्रीकरण बढ़ गया था।

सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में, उपलब्ध आंकड़ों से ज्ञात होता है कि 1950 के दशक में निजी कम्पनी क्षेत्रक में आर्थिक सत्ता के केंद्रीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति थी। बाद के वर्षों में इसे नियंत्रित करने के लिए अनेक कदम उठाने के कारण यह प्रवृत्ति कुछ अवरुद्ध हो गई, किन्तु 1980 के दशक की उदारवादी नीतियों से स्थिति फिर पलट सकती है।

15.3 औद्योगिक रुग्णता : समस्या

औद्योगिक प्रगति को जाँचने का एक मापदंड यह है कि कोई अर्थव्यवस्था किस प्रकार बेरोज़गारी जैसी सामाजिक लागत में वृद्धि किए बिना, हानि उठाने वाले उद्यमों की, जो अप्रचलित प्रौद्योगिकी, प्रबंधकीय अक्षमता आदि के कारण दीर्घकाल से रुग्ण हो गए हैं, छंटाई करने में सफल होती है।

राजकीय नियमन और नियंत्रण की विस्तृत संरचना भारत में औद्योगिक इकाइयों के छिटपुट बंद होने और दिवालियापन को नहीं रोक सकी। विश्व की मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में यह सामान्य बात है। औद्योगिक देश अपनी सुस्थापित समाजिक सुरक्षा प्रणाली के द्वारा औद्योगिक रुग्णता के दबाव को झेल लेते हैं, जबकि विकासशील देश ऐसा नहीं कर पाते हैं। किन्तु भारत में औद्योगिक रुग्णता बहुत प्रचलित है और बहुत भयावह गति से, विशेषकर लघु उद्योग क्षेत्रक में, बढ़ रही है। इसे औद्योगिक विकास प्रभावित होता है, दुर्लभ निवेश योग्य संसाधनों में कमी आती है और अनगिनत व्यक्ति नौकरियों से निकाल दिए जाते हैं। उपनिवेश काल के जूट और सूती कपड़े जैसे पुराने उद्योगों तथा कुछ पुरानी रेलों, इंजीनियरिंग में सहायक उद्योगों आदि में प्रौद्योगिक अप्रचलन की समस्या भी है। यह सरकार, योजनाकारों, उद्योगपतियों और श्रमिक नेताओं के लिए गंभीर चिन्ता का विषय है।

15.3.1 रुग्णता : परिभाषा और आकार

रुग्ण औद्योगिक कम्पनी (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1985 के अनुसार रुग्ण इकाई वह औद्योगिक कम्पनी (सात वर्ष से कम पंजीकृत न हो) है जिसकी किसी वित्तीय वर्ष के अंत में संचित हानि कुल निवल सम्पत्ति के बराबर या उससे अधिक हो और जो इस वित्तीय वर्ष में अथवा उससे पहले वर्ष में उसे नकद हानि हुई हो। निवल सम्पत्ति की परिभाषा इस प्रकार है :

निवल सम्पत्ति = कुल देयताएँ (चालू देयताएँ + दीर्घकालिक ऋण)

कुल देयताएँ = चालू देयताएँ + विलम्बित देयताएँ + इक्विटी + प्रतिधारित आय + प्रदत्त पूँजी

चालू देयताएँ = मज़दूरी + ऋण (अल्पकालिक) + देय कर आदि।

दीर्घकालिक ऋण = विलम्बित देयताएँ जैसे ऋण-पत्र, वित्तीय संस्थाओं से ऋण आदि दीर्घकालिक ऋण।

इक्विटी = प्रदत्त पूँजी + प्रतिधारित आय (आरक्षित निधि)

भारतीय रिज़र्व बैंक के मागदर्शक सिद्धांतों के अनुसार रुग्ण लघु उद्योग इकाइयों की अलग परिभाषा की गई है। तदनुसार एक लघु उद्योग इकाई रुग्ण तब समझी जाएगी जब (क) पिछले लेखा वर्ष में उसे नकद हानि हुई हो और उसकी निवल सम्पत्ति में 50 प्रतिशत या उससे अधिक तक का क्षय हुआ हो, और/अथवा (ख) ब्याज की लगातार चार त्रैमासिक किस्तों अथवा मियादी ऋण के मूल की दो अर्ध-वार्षिक किस्तों की अदायगी न हुई हो और बैंक की ऋण सीमाओं के संचालन में लगातार अनियमितताएँ हुई हों।

जून, 1978 के अंत तक 20,326 ऐसी लघु उद्योग इकाइयाँ थीं जिनका 231 करोड़ रुपयों का बैंक ऋण बकाया था। जून, 1986 के अंत तक रुग्ण इकाइयों की संख्या बढ़कर 1,28,687 हो गई और इनमें 1,184 करोड़ रुपयों की धनराशि फंस गई (तालिका 15.5)।

तालिका 15.5 : रुग्ण उद्योगों की संख्या और बकाया बैंक ऋण

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बड़ी		लघु		योग	
	इकाइयों की संख्या	बकाया ऋण	इकाइयों की संख्या	बकाया ऋण	इकाइयों की संख्या	बकाया ऋण
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
1978	325	956	20326	231	20651	1187
	(—)	(—)	(—)	(—)	(—)	(—)
1979	345	1100	20975	262	21320	1362
	(6.2)	(15.0)	(3.2)	(13.4)		
1980	389	1233	22355	295	22744	1528
	(12.8)	(12.1)	(6.6)	(12.6)		
1981	422	1453	22360	322	22782	1175
	(8.5)	(17.8)	(0.02)	(9.15)		
1982	435	1729	26973	394	27408	2123
	(3.1)	(19.0)	(20.63)	(22.4)		
1983	463	1913	64388*	627	64851	2540
	(6.4)	(10.6)	(138.7)	(59.1)		
1984	513	2112	81647	788	82160	2900
	(10.8)	(10.4)	(26.8)	(25.7)		
1985	597	2655	97890	955	98487	3610
	(16.4)	(25.7)	(19.9)	(21.2)		
1986	689	3239	128687	1184	129376	4423
	(15.4)	(22.0)	(31.3)	(24.0)		

*1983 से रुग्ण लघु उद्योग इकाइयों में अत्यधिक वृद्धि बैंकों के द्वारा लघु उद्योग इकाइयों के वर्गीकरण में परिवर्तन के कारण हुई थीं।

नोट : कोष्ठकों में संख्या पिछले वर्ष की तुलना में प्रतिशत परिवर्तन दर्शाती है।

स्रोत : भारत सरकार, **मुद्रा और वित्त पर रिपोर्ट**, भारतीय रिज़र्व बैंक, बम्बई।

इसी प्रकार 325 बड़ी उद्योग इकाइयाँ रुग्ण घोषित की गई थीं, जिनका बकाया बैंक ऋण जून, 1978 तक 956 करोड़ रुपये था। जून, 1986 तक यह बढ़कर क्रमश: 689 इकाइयाँ और 3239 करोड़ रुपये हो गया।

वर्ष-प्रतिवर्ष के परिवर्तनों से मालूम होता है कि रुग्ण कारखानों और बकाया ऋण, लघु और बड़ी दोनों इकाइयों में वृद्धि बर्धमान दर से होती जा रही है। लघु उद्योग क्षेत्रक में रुग्ण कारखानों की संख्या के बढ़ने की दर बकाया ऋण बढ़ने की दर से अधिक है। बड़े उद्योग क्षेत्रक में इसका ठीक उलटा है अर्थात् बकाया बैंक ऋण, रुग्ण कारखानों की संख्य बढ़ने की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रहा है।

छोटे रुग्ण कारखानों की संख्या की वार्षिक चक्रवृद्धि दर 26 प्रतिशत तक थी, जबकि 1978 की अपेक्षा 1986 में बैंक ऋण में वृद्धि केवल 23 प्रतिशत तक हुई। बड़े रुग्ण कारखानों की संख्या 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष की चक्रवृद्धि दर से बढ़ी, जबकि इसी अवधि में बकाया ऋण राशि 16.47 प्रतिशत की दर से बढ़ी।

बड़े रुग्ण कारखानों के उद्योगवार वर्गीकरण से यह प्रतीत होता है कि वर्ष 1986 में रुग्ण कारखानों की संख्या अधिकतम कपड़े (27 प्रतिशत) में थी, उसके बाद इंजीनियरिंग और विद्युत (25 प्रतिशत) में, चीनी (7 प्रतिशत), रसायनों (6 प्रतिशत), जूट (6 प्रतिशत), लोहा और इस्पात (6 प्रतिशत), रबड़ (2 प्रतिशत) सीमेंट (0.7 प्रतिशत) और विविध (20 प्रतिशत) थी।

राज्यों के अनुसार तुलना करने से ज्ञात होता है कि जून, 1986 के अंत में महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु, कर्नाटक और आंध्रप्रदेश में कुल मिलाकर 569 रुग्ण इकाइयाँ थीं (सारे देश में बड़े रुग्ण कारखानों की कुल संख्या का 82.6 प्रतिशत) जिसमें बकाया बैंक ऋण 2787 करोड़ रुपये था (सारे रुग्ण कारखानों के कुल बकाया बैंक ऋण का 86.0 प्रतिशत)।

राज्यों में महाराष्ट्र तथा पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक रुग्ण इकाइयाँ क्रमश: 151 और 150 थीं (कुल रुग्ण इकाइयों का क्रमश: 21.9 प्रतिशत और 21.7 प्रतिशत)। इन दोनों राज्यों में रुग्ण कारखानों के बकाया ऋण भी सबसे अधिक थे। सारी रुग्ण इकाइयों की बकाया ऋण राशि में महाराष्ट्र का अनुपात 21.7 प्रतिशत और पश्चिम बंगाल का 22.8 प्रतिशत था।

15.3.2 रुग्णता के कारण

रुग्णता के कारण हर उद्योग और प्रत्येक इकाई में भिन्न-भिन्न हैं। मोटे तौर पर यह आंतरिक और बाह्य कारक हैं।

आंतरिक कारण—अर्थात् वे कारक जो प्रबंधकों के नियंत्रण में हैं, निम्नलिखित हैं :

क) संचालन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में जैसे वित्त, स्टाक (माल तालिकाएँ) और विपणन में दोषपूर्ण नियोजन तथा कुप्रबंध।

ख) चालू परिसम्पत्ति का गैर-चालू व दीर्घकालीन क्रम में उपयोग जिससे कार्यशील पूँजी में कमी हो जाती है और सामान्य उत्पादन में बाधा पड़ती है।

ग) अप्रचलित मशीनरी और प्रौद्योगिकी, जिससे उत्पादन का मूल्य बढ़ता है, लाभ कम होता है और इस कारण इकाई वाणिज्यिक रूप से अव्यवहारिक हो जाती है।

अन्य कम गंभीर प्रकृति के आंतरिक कारणों में कार्यशील पूँजी का अभाव, उत्पादन में अत्यधिक विलम्ब के कारण लागतों का बढ़ना तथा श्रम अशांति आदि हैं।

बाह्य कारण—अर्थात् वह कारक जो प्रबंधकों के नियंत्रण में नहीं हैं जैसे रुकावटें, प्रतिबंध तथा नीतियाँ। इस वर्ग के निम्नलिखित कारण हैं :

क) उत्पाद की मांग में कमी इन कारकों के कारण जैसे वास्तविक आय में गिरावट,

आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि, भीषण प्रतिस्पर्धा, तथा उपभोक्ताओं की रुचि और प्राथमिकताओं में परिवर्तन इत्यादि।

ख) कच्चे माल की कमी या उनका ऊँचा मूल्य सामान्य उत्पादन को प्रभावित करता है और उद्योग के विकास में बाधा डालता है। इससे उत्पादन क्षमता का पूरा इस्तेमाल भी नहीं हो पाता।

ग) बिजली की विकट कमी से भी देश के अधिकतम विकसित औद्योगिक राज्यों, विशेषकर पश्चिम बंगाल में औद्योगिक उत्पादन गंभीर रूप से प्रभावित हुआ है।

अन्य संभावित बाह्य कारणों में सरकारी मूल्य नियंत्रण, वित्तीय कर, सरकारी नीतियों में अचानक परिवर्तन, विदेशी प्रतिस्पर्धा इत्यादि हैं।

बैंकों के इस संबंध में विचारों तथा अनुभवों के आधार पर भारतीय रिज़र्व बैंकों ने एक अध्ययन किया जिससे दिसम्बर, 1979 तक 738 औद्योगिक इकाइयों की रुग्णता के कारणों का विश्लेषण किया गया जिससे पता लगा कि कुप्रबंध और दोषपूर्ण नियोजन रुग्णता के सबसे अधिक सामान्य कारण थे, जबकि श्रम अशांति के कारण रुग्णता लगभग न के बराबर थी। जिन रुग्ण इकाइयों का अध्ययन किया गया, उनमें 52 प्रतिशत इकाइयाँ कुप्रबंध के कारण रुग्ण हो गई। दोषपूर्ण प्रारंभिक नियोजन से 14 प्रतिशत और बाज़ार में मंदी से 23 प्रतिशत इकाइयाँ रुग्ण हो गई थीं।

15.3.3 औद्योगिक रुग्णता : नीतियाँ

पिछले वर्षों में रुग्ण औद्योगिक इकाइयों की समस्याओं को सुलझाने के लिए और जीवनक्षम (viable) औद्योगिक इकाइयों को पुनर्जीवित करने के लिए सरकार ने बहुत से उपाय किए। उद्धमियों के मार्ग-दर्शन और सहायता के लिए बहुत-सी संस्थाएँ स्थापित की गई जिससे औद्योगिक रुग्णता प्रत्येक चरण पर दूर की जा सके। सरकार के इन प्रयासों के बावजूद समस्या बढ़ रही है ज्यों ज्यों समय बीत रहा है, रुग्णता तीव्रतर होती जा रही है।

रुग्ण इकाइयों का पता लगाना और उनका पुनरुद्धार

जहाँ तक रुग्ण कारखानों के पुनरुद्धार का संबंध है, प्रत्येक इकाई के लिए "जीवन क्षमता अध्ययन" किया जाता है जिससे उसके संभावित पुनरुद्धार का पता लगाया जाता है। 1986 के अंत तक छोटी और बड़ी कुल 1,47,740 रुग्ण इकाइयों में से 1,45,427 का "जीवन क्षमता" (viability) अध्ययन किया गया था। अध्ययन की गई कुल इकाइयों में अधिकतर अर्थात् 1,27,719 या 88 प्रतिशत पुररुद्धार के लायक नहीं पाई गई।

लघु क्षेत्र में औद्योगिक रुग्णता का आकार विशाल है। दुःख की बात तो यह है कि रुग्ण इकाइयों और बकाया बैंक ऋण की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है।

औद्योगिक रुग्णता की समस्या से निपटने के लिए सरकार ने समय-समय पर अनेक नीति संबंधी उपाय किए हैं। इसमें मई, 1978 में रुग्ण उद्योगों के संबध में नीति वक्तव्य और अक्तूबर, 1981 में केंद्रीय मंत्रालयों, राज्य सरकारों और वित्तीय संस्थाओं के लिए संशोधित मार्गदर्शक सिद्धांत शामिल हैं।

रुग्ण औद्योगिक कम्पनियों के संबंध में औद्योगिक कम्पनी (विशेष प्रावधान) अधिनियम, 1985 एक प्रमुख कदम था, जो इन रुग्ण औद्योगिक कम्पनियों का प्रारंभिक अवस्था में पता लगाने, रुग्णता को रोकने तथा उनके पुनरुद्धार का तरीका प्रदान करता है।

इस अधिनियम के अनुसार, एक कम्पनी रुग्ण उस समय घोषित की जाती हैं जब उसकी निवल सम्पत्ति संचित हानियों के कारण पूरी तरह से क्षय हो चुकी हो। इसके अतिरिक्त, एक इकाई कमज़ोर कहलाएगी यदि किसी लेखा वर्ष के अंत में i) इसने पिछले पाँच वर्षों में शिखर निवल सम्पत्ति का 50 प्रतिशत या अधिक हानि संचित की हो, ii) 1:1 से कम चालू अनुपात हो; और iii) पिछले लेखा वर्ष में नकद हानि हुई हो।

इस अधिनियम के अनुसरण में भारत सरकार ने औद्योगिक और वित्तीय पुनर्रचना बोर्ड (BIFR) की स्थापना सुधारात्मक, उपचारी और अन्य उपायों के प्रतिपादन के लिए की, जिसको अमल में लाने की आवश्यकता है। बोर्ड ने मई, 1987 से कार्य आरंभ कर दिया है।

रुग्ण इकाइयों के संबंध में बोर्ड को बहुत विस्तृत शक्तियां दी गई हैं जैसे उनके पुनरुद्धार के लिए वित्तीय पैकेज का अनुमोदन करना, दूसरी कम्पनियों के साथ विलयन, पूरी कम्पनी या उसके अंश का विक्रय करना या पट्टे पर देना, प्रबंध में परिवर्तन अथवा कम्पनी को बंद करने तक के कदम उठाना।

वित्तीय पुनर्जीवन

बोर्ड किसी सार्वजनिक सावधि ऋणदाता संस्था (जैसे आई.सी.आई.सी.आई., आई.एफ.सी.आई., आई.डी.बी.आई आदि संस्थायें जिनका जिक्र खंड चार में किया जा चुका है।) में से किसी "परिचालक एजेंसी" द्वारा किसी कम्पनी की रुग्णता के संबंध में पूछताछ करवा सकता है। इस रिपोर्ट से यदि बोर्ड इस बात से संतुष्ट है कि कम्पनी उचित समय में निवल सम्पत्ति को धनात्मक बना सकेगी तो यह प्रबंधकों को कार्य सुधारने के लिए एक निश्चित समय दे सकता है। यदि यह निश्चय हो गया कि कम्पनी अपनी निवल सम्पत्ति पुनः प्राप्त कर नहीं पाएगी तो बोर्ड परिचालक एजेंसी को पुनरुद्धार प्रबंध में परिवर्तन, दूसरी कम्पनी के साथ विलयन अथवा कम्पनी को पूरी या अंशतः पट्टे पर देने या उसे बन्द करने के लिए आदेश देगा।

वह सारी कमज़ोर इकाइयाँ चाहे वे मध्यम और बड़ी हो, जिनकी निवल सम्पत्ति 50 प्रतिशत तक क्षय हो गई है, बोर्ड को सूचित करेंगी। इसके अतिरिक्त बैंकों को कमजोर इकाइयों के संबंध में भारतीय रिजर्व बैंक के मार्गदर्शक सिद्धांतों के अनुसार आवश्यक कार्यवाही करने और रिपोर्ट करने का परामर्श दिया गया है।

इस प्रावधान को लागू करने के लिए यह भी सुझाव दिया गया था कि यदि कानून के प्रावधानों के पालन में कोई कमी रह गई है तो कम्पनी के प्रत्येक निदेशक या अधिकारी को, जो गलती पर होगा, छः महीने से दो वर्ष तक कैद और जुर्माना भुगतना होगा। इसके अतिरिक्त, जो भी बोर्ड को या बोर्ड द्वारा निर्धारित अपीलीय प्राधिकरण को झूठा वक्तव्य देगा, उसे तीन वर्ष तक कैद और जुर्माने की सजा दी जाएगी।

किसी कम्पनी की निवल सम्पत्ति पूरी तरह क्षय हो जाने के पूर्व उपचारी उपाय आरंभ करने की आवश्यकता की दृष्टि से बैंकों को परामर्श दिया गया है कि वे कमज़ोर इकाइयों के संबंध में भारतीय रिज़र्व बैंक के मार्गदर्शक सिद्धांतों के अनुसार आवश्यक कार्रवाई करें। इस समय हमारी औद्योगिक वित्त व्यवस्था, जिस पर निजी क्षेत्र निर्भर करता है, की संरचना पर दृष्टि डालना उपयोगी होगा।

बोध प्रश्न 1

1) व्यवसायी समूह की संकल्पना की तीन वाक्यों में परिभाषा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में औद्योगिक उत्पादन संरचना में विविधता आई है इसका तीन वाक्यों में समर्थन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) औद्योगिक और वित्तीय पुनर्रचना बोर्ड (BIFR) की औद्योगिक रुग्णता दूर करने में क्या भूमिका है?

.....

.....

.....

.....

4) यह बताइए कि निम्नलिखित सही (स) हैं अथवा गलत (ग):

क) प्रथम तीन योजनाओं में औद्योगिक विकास की दर बाद की योजनाओं की तुलना में अधिक थी।

ख) औद्योगिक क्षेत्र में पिछले चार दशकों में रोज़गार की वृद्धि दर उसी अवधि में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर से कम थी।

ग) औद्योगिक रुग्णता का एक ही समाधान है कि रुग्ण इकाइयों को बद कर दिया जाए।

15.4 औद्योगिक वित्त व्यवस्था

औद्योगिक पूँजी-निर्माण के अनुरूप वित्त पोषण की विधियों की आवश्यकता होती है। वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए उद्योगों को विभिन्न प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है जिसे औद्योगिक वित्त कहा जाता है। प्रयोग के आधार पर पूँजी की आवश्यकताओं का वर्गीकरण (i) स्थायी पूँजी (ii) कार्यशील पूँजी, और (iii) विस्तार तथा प्रतिस्थापन के लिए पूँजी, में किया जा सकता है।

स्थायी पूँजी किसी औद्योगिक इकाई द्वारा उत्पादन के आवश्यक साधनों जैसे भूमि तथा भवन, मशीनरी और प्लांट, औज़ारों आदि के खरीदने में प्रयोग की जाती है। स्थायी पूँजी दीर्घकालिक प्रकृति की होती है। इसका अर्थ यह है कि इस वर्ग के व्यय को वहन करने के लिए उधार लिया गया वित्त लंबे समय में अदा किया जाता है।

कार्यशील पूँजी की आवश्यकता कच्चे माल के भंडार, अतिरिक्त पुर्जे, श्रमिकों की मजदूरी, भंडारण और दैनिक प्रशासनिक व अन्य व्यय वहन करने के लिए होती है। इस प्रयोजन के लिए ऋण अल्पकालिक प्रकृति का होता है जो कि एक वर्ष या उससे कुछ अधिक के अल्पकाल में अदा किया जाता है।

तीसरे वर्ग अर्थात् विस्तार और प्रतिस्थापन में पूँजी की आवश्यकता मरम्मत, प्रतिस्थापन और मशीनों के रख-रखाव के लिए होती है। इसे मध्यकालिक ऋण कहते हैं, जो दीर्घकालिक ऋण की अपेक्षा कम समय में अदा किए जाते हैं।

15.4.1 वित्तीय परिसम्पत्ति के प्रकार

औद्योगिक इकाइयाँ ऊपर दी गई आवश्यकताओं के लिए विभिन्न स्रोतों से वित्त का संग्रह करती हैं, जिसे दो वर्गों में बांटा जाता है: (क) आंतरिक या निजी स्रोत (ख) बाह्य स्रोत। आंतरिक स्रोत या निजी स्रोतों में उद्यमी के निजी स्रोत जैसे व्यक्तिगत बचत, लघु इकाइयों में मित्रों या रिश्तेदारों से मदद और बड़ी इकाइयों में शेयरों के रूप में प्रदत्त पूँजी शामिल है। इसके अतिरिक्त शेयरधारियों को लाभांश देने के बाद कम्पनी के अतिरिक्त लाभ से निर्मित अधिशेष और आरक्षण अन्य महत्वपूर्ण आंतरिक स्रोत हैं। बाह्य स्रोतों में ऋणपत्र (Debentures) द्वारा उधार ली गई पूँजी, सार्वजनिक जमा और बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त ऋण शामिल हैं।

शेयर

शेयर स्थायी पूँजी को संग्रह करने के लिए, विशेषकर औद्योगिक कम्पनी इकाइयों के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। किसी कम्पनी की निजी पूँजी को बड़ी संख्या में छोटे और बराबर भागों में विभाजित कर दिया जाता है ताकि जन सहभागिता बढ़ सके। यह शेयर जनता को बेच दिए जाते हैं। शेयर पूँजी दीर्घकालिक आवश्यकताओं, विशेषकर स्थायी पूँजी, को पूरा करने के लिए बहुत उपयुक्त होती है। कम्पनी को शेयरधारियों को शेयर बेचने से

जो राशि मिलती है उसे वापस करने की आवश्यकता नहीं होती है। वास्तव में, शेयरों को बेचने से कम्पनी की देयताएँ अधिक संख्या के शेयरधारियों में विभक्त हो जाती है।

ऋणपत्र (Debentures)

जिस प्रकार पूँजी के बराबर भागों को शेयर कहते हैं, उसी प्रकार कम्पनी द्वारा ऋण लेने के बराबर भागों को ऋणपत्र कहते हैं इन ऋणपत्रों को खरीदने वाले कम्पनी के ऋणदाता होते हैं। ऋणपत्रों में निवेश किए हुए धन पर उनको एक निश्चित दर से ब्याज मिलता है। ऋणपत्र आम तौर से दीर्घकालिक और मध्यकालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जारी किए जाते हैं।

सार्वजनिक जमा पूँजी

इस प्रणाली में लोग किसी कम्पनी में एक निश्चित अवधि के लिए, जैसे छः महीने, एक, दो या तीन वर्षों के लिए धन जमा कराते हैं। इस जमा के लिए उनको निश्चित दर से ब्याज मिलता है। वे अपना धन किसी भी समय वापस ले सकते हैं। इस कारण इस प्रकार के वित्त पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता।

वाणिज्यिक बैंक ऋण

वाणिज्यिक बैंक अल्पकालिक कार्यशील पूँजी जुटाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। वे उद्योग को दो प्रकार से अल्पकालिक सहायता प्रदान करते हैं : (क) अग्रिम राशि, ऋण और नकद उधार देकर; और (ख) हुण्डियों तथा अन्य वाणिज्यिक दस्तावेजों को बट्टे पर खरीदकर। सबसे अधिक प्रचलित तरीका नकद उधार (cash credits) द्वारा सहायता करने का है। वाणिज्यिक बैंक द्वारा अल्पकालिक ऋण को नवीकरण और अवधि को समय-समय पर बढ़ाकर मध्यकालिक ऋण में परिवर्तित किया जा सकता है। यह बैंक की नीति और मुद्रा बाज़ार की स्थिति के ऊपर बहुत कुछ निर्भर होता है। बैंक कभी भी नवीकरण और अवधि बढ़ाने से इंकार कर सकते हैं। वाणिज्यिक बैंक दीर्घकाल के लिए ऋण नहीं देते हैं। यद्यपि कुछ बैंक अपने निवेश का बहुत कम प्रतिशत औद्योगिक कम्पनियों के ऋणपत्रों और शेयरों को खरीदने में लगाते हैं।

सावधि ऋणदाता संस्थाएँ

दीर्घकालिक वित्त के सबसे महत्वपूर्ण और सुसंगत स्रोत कई सावधि ऋणदाता वित्तीय संस्थाएँ हैं जो उद्योगों की पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयोजन से स्थापित की गई हैं। 1948 में सबसे पहले औद्योगिक वित्त निगम (IFC) की स्थापना हुई। उसके पश्चात् इसी प्रकार की बहुत संस्थाएँ स्थापित हुई जिनमें अधिक प्रमुख भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्योगिक ऋण और निवेश निगम (ICICI), भारतीय जीवन बीमा निगम और भारतीय यूनिट ट्रस्ट आदि हैं। इनमें भारतीय औद्योगिक विकास बैंक को औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में शीर्ष संस्था समझा जाता है।

विदेशी पूँजी

उद्याग विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे पुनर्रचना और विकास अंतर्राष्ट्रीय बैंक (IBRD)अर्थात् विश्व बैंक, विदेशी सरकारों और विदेशों में निजी स्रोतों से ऋण और इक्विटी भागीदारी, दोनों के रूप में पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। विदेशी निजी स्रोतों से जिनमें विदेशी बहुराष्ट्रीय निगम भी शामिल हैं, विदेशी पूँजी अधिकतर इक्विटी पूँजी के रूप में मिलती है। ये निवेश से लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। ब्रिटिश काल में विदेशी पूँजी भारत में सीधे निवेश के रूप में प्रमुख औद्योगिक प्रतिष्ठानों की विदेशी शाखाओं द्वारा आई। भारतीयों के साथ संयुक्त रूप की कम्पनियाँ, जिन पर प्रभावी विदेशी नियंत्रण था और जिन्हें विदेशी नियंत्रण वाली रुपया कम्पनियाँ (FCRE) कहते थे, से भी विदेशी पूँजी आई। इसके अतिरिक्त यह पूँजी देशी कम्पनियों में विदेशी निवेशकों द्वारा इक्विटी भागीदारी के रूप में भी आई है। यद्यपि हमारी सरकार ने आम तौर पर औद्योगिक निवेश में निजी विदेशी पूँजी को स्वीकृति देने में चयनात्मक रुख अपनाया है। इसका अध्ययन हम अंतिम भाग में करेंगे।

औद्योगिक और व्यापार प्रणाली के नियंत्रण के उदारीकरण के कुछ समर्थकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि औद्योगिक रुग्णता का जो भार अदक्षता से उत्पन्न होता है, अंशत : इन नियंत्रणों द्वारा विदेशी प्रतिस्पर्धा पर लागू किए गए प्रतिबंधों के कारण है।

15.4.2 बाह्य वित्त प्रबंध

बड़े उद्योग निजी स्रोतों से अपना समुचित वित्त प्रबंध नहीं कर सकते। बाह्य वित्तीयन की अब हम वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करेंगे। वाणिज्यिक बैंक आम तौर पर उद्योग को कार्यशील पूँजी के लिए भी ऋण देते हैं, किन्तु लघु उद्योग और कुटीर उद्योगों को वे स्थायी पूँजी के लिए भी ऋण देते हैं। कुछ प्राथमिकता क्षेत्रक होते हैं, जिनके लिए वाणिज्यिक बैंक को कुल ऋण अग्रिम का कुछ भाग देना होता है। बैंकों द्वारा दिया गया वित्त उद्योग के लिए किस प्रकार उपयोगी होता है?

जब बैंक कार्यशील पूँजी के लिए ऋण देते हैं, उससे कम्पनी कच्चा माल खरीदती है, अपने कर्मचारियों को वेतन व मज़दूरी देती है तथा उन लोगों के बिल अदा करती है जो कुछ माल और सेवाएँ कम्पनी को प्रदान करते हैं। अपने उत्पाद को बेचने से जो धन मिलता है उससे कम्पनी बैंक का ऋण अदा कर देती है। बैंक नकद उधार की सीमाओं तथा ओवर ड्राफ्ट की प्रणाली के द्वारा सहायता देते हैं। हाल के समय में उद्योगों के लिए बैंक ऋण के परिनियोजन (deployment) को नीचे दिया गया है।

तालिका 15.6 उद्योगों का बकाया ऋण (करोड़ रुपयों में)

(मार्च के अंतिम शुक्रवार को)

		1982	1985	1988	1989
1)	उद्योगों को ऋण (बड़े व मझले)	11,213	15,939	25,153	32,158
2)	लघु उद्योग	3,909	6,612	10,820	13,127
3)	कुल बैंक ऋण	29,775	47,956	70,260	85,678

स्रोत भारतीय रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट

स्वतंत्रता के समय बैंकों द्वारा उद्योग को दिया गया ऋण कुल बैंक ऋण का नगण्य भाग होता था, जोकि अधिकतया वाणिज्यिक ऋण होता था। जैसा कि तालिका 15.6 के आंकड़े प्रदर्शित करते हैं, हाल में बड़े, मझले व लघु उद्योगों को बैंक अग्रिम कुल बैंक ऋण का करीब 50 प्रतिशत है। हाल के वर्षों में लघु उद्योगों को ऋण का अनुपात बहुत तेजी से बढ़ा है। उदाहरणार्थ जब कुल बैंक ऋण और उद्योगों को ऋण 1982 और 1989 के बीच में 2.87 गुणा बढ़ा, लघु उद्योग के लिए यह 3.35 गुणा बढ़ गया। तथापि बैंक ऋण वित्त प्रबंध के बाह्य स्रोतों में से एक है। अब हम उद्योगों को सहायता प्रदान करने के लिए वित्तीय संस्थाओं की भूमिका का अध्ययन करेंगे।

वित्तीय संस्थाएँ

वित्तीय संस्थाओं का एक पूरा समूह है जो उद्योगों के मध्य व दीर्घकालिक वित्त का प्रबंध करता है। इन संस्थाओं में प्रथम है औद्योगिक वित्त निगम (IFC), जिसकी स्थापना 1948 में की गई थी। इसके बाद, राज्य वित्तीय निगम अधिनियम, 1951 के अंतर्गत 18 राज्य वित्तीय निगमों (SFC) की स्थापना की गई। औद्योगिक वित्त निगम बड़े उद्योगों की वित्त आवश्यकता को पूरा करता है और राज्य वित्त निगमों से मझले और लघु उद्योगों की आवश्यकता पूरी करने की आशा की जाती है।

1955 में विश्व बैंक के आग्रह पर औद्योगिक ऋण और निवेश निगम (ICICI) की स्थापना निजी क्षेत्र में प्रौद्योगिकी-विकास के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा के ऋण प्रदान करने के लिए की गई। इससे ऐसी आशा की गई थी कि निजी कम्पनी क्षेत्रक को दीर्घ और मध्यकालिक ऋण लेकर अपनी गतिविधियों को विस्तृत करने के लिए पूँजी आयात करने में सहायता मिलेगी। 1964 में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) की स्थापना एक शीर्ष संस्था के रूप में उद्योगों के मध्यकालिक और दीर्घकालिक ऋणों को समन्वित करने के लिए की गई। इसका उद्देश्य उद्योग को सावधि ऋण देने के लिए वाणिज्यिक बैंकों को वित्त प्रदान करना भी था।

1956 में जीवन बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप जीवन बीमा निगम की स्थापना हुई। राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य इन निजी कम्पनियों की गड़बड़ियों को बन्द करना था। उस समय बीमा कम्पनियों की निधि का 17 प्रतिशत निजी कम्पनियों में

निवेश किया जाता था। सरकार ने उद्योग को आश्वासन दिया कि निवेश का यह प्रतिशत पूर्ववत् रखा जाएगा। तदुपरांत बीमा व्यापार तीव्र गति में विकसित हुआ और उद्योगों में वित्त का प्रवाह तदनुसार बढ़ता गया।

अंत में, भारतीय यूनिट ट्रस्ट का जिक्र भी आवश्यक है, जो निवेशशील जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए गठित किया गया था ताकि उनकी बचत को कम जोखिम वाले और काफी लाभदायक निवेशों में लगाया जा सके। यू.टी.आई.इन बचतों का संग्रह करती है और उसका विभिन्न लाभदायक कम्पनियों में निवेश करती है जिससे उद्योगों में वित्त का प्रवाह बढ़ जाता है।

विकास बैंकों और निवेश संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली सहायता का विवरण नीचे दिया गया है।

तालिका 15.7
वित्तीय संस्थाओं द्वारा सहायता का वितरण
(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	वितरित सहायता	पिछले वर्ष की तुलना में प्रतिशत वृद्धि
1982-83	2152	
1983-84	2687	24.9
1984-85	3180	18.3
1985-86	4552	43.1
1986-87	5650	24.1
1987-88	6323	19.2
1988-89	8526	34.8

स्रोत: भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, वार्षिक रिपोर्ट

ऊपर दी गई तालिका 15.7 से हम देखते हैं कि इन संस्थाओं द्वारा वित्त पोषण तीव्रता से बढ़ा है। 1982-83 से 1988-89 की अवधि में मध्यकालिक और दीर्घकालिक वित्त पोषण चार गुणा बढ़ा है, अन्त में हम पूँजी बाज़ार पर एक नजर डालते हैं।

15.4.3 पूँजी बाजार

1850 में जब पहला कम्पनी अधिनियम पारित हुआ तो इससे पूँजी बाजार का उद्भव हुआ। अमरीकी गृह युद्ध (1861-1865) से ब्रिटेन को कपास की आपूर्ति बन्द हो गई थी, जिससे भारत में कपास की कीमतों में उछाल आया। इससे पश्चिम भारत में कपास उत्पादकों की धन तरलता एकाएक बढ़ गई। वे एक ही रात में तरल-नकद धन की विशाल राशि के स्वामी बन बैठे। हर तरह की परियोजना के लिए धन उपलब्ध होने लगा और शेयर उन्माद विकसित हुआ। साधारण लोगों ने अपनी सम्पत्ति बेचकर संदिग्ध कम्पनियों के शेयरों में लगा दी। किन्तु यह वित्तीय बुलबुला शीघ्र ही फूट गया और अनेक लोग कंगाल हो गए। शेयर प्रमुख महानगरों में शेयर बाज़ार में खरीदे और बेचे जाते हैं। सुप्रबंधित कम्पनियों के अभाव में पूँजी बाज़ार तंत्र संकुचित, संकोची व मन्द था। स्वतंत्रता के समय 22, 675 कम्पनियाँ भारत में व्यापाररत् थीं, जिनकी प्रदत्त पूँजी 570 करोड़ रुपयों से अधिक नहीं थी। इन सभी कम्पनियों के शेयरों के भाव शेयर बाज़ार में घोषित नहीं किए जाते थे। बाद में, बाज़ार में उठान आया, किन्तु वास्तविक प्रभावशील वृद्धि 1980 के दशक में हुई। पूँजी बाजार उद्योग को वित्त, मुख्यतया तीन रूपों में प्रदान करता है। पहला है शेयरों के द्वारा। शेयर कई प्रकार के होते हैं—अधिमान शेयर, इक्विटी या साधारण शेयर और बोनस शेयर। अधिमान शेयर आम तौर से कम्पनी के प्रवरर्तकों के मूल सदस्यों को दिए जाते हैं किन्तु साधारण शेयर आम जनता द्वारा अभिदत्त (Subcribed) किए जाते हैं। लाभ कमाने वाली कंपनियाँ बोनस शेयर अपने शेयरधारियों को उनके शेयरों के एक निश्चित अनुपात में मुफ्त में देती हैं।

दूसरे, ऋणपत्र जारी करने से फर्मों को पूँजी बाज़ार से वित्त प्रवाह होता है। ऋणपत्र दो प्रकार के होते हैं—परिवर्तनीय तथा अपरिवर्तनीय या फिर दोनों का मिला-जुला रूप। परिवर्तनीय ऋणपत्र द्वारा ऋणपत्रधारी को इस बात का अधिकार होता है कि उसे ऋणपत्र पर कुछ आय हो और इस प्रपत्र को कुछ समय बाद साधारण शेयरों में परिवर्तित किया

जा सके। अपरिवर्तनीय ऋणपत्र के धारक को कम्पनी से केवल निश्चित आय प्राप्त होती है। ऋणपत्र रक्षित और आरक्षित दोनों ही तरह के हो सकते हैं। पहले प्रकार के ऋणपत्र कम्पनी की किसी अचल परिसम्पत्ति द्वारा रक्षित होते हैं, जिससे निवेशक को आश्वासन होता है कि निवेश सुरक्षित हैं।

अन्त में, पूँजी बाज़ार ऋण प्रदान करता है जिससे उद्योग किसी निजी वित्त पोषक से ब्याज की निर्धारित दर पर रुपया उधार ले सकता है। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि कहाँ तक पूँजी बाज़ार ने उद्योग को वित्त प्रदान करने में सहायता दी है।

तालिका : 15.8

गैर-सरकारी सार्वजनिक और निजी लिमिटेड कम्पनियों को पूँजी निर्गम नियंत्रक द्वारा प्रस्तावों को दी गई सहमति स्वीकृति।

वर्ष	इक्विटी और अधिमान शेयर	ऋण पत्र	योग
1982-83	254.8	531.3	786.1
1983-84	319.5	609.3	928.2
1984-85	779.5	919.6	1699.1
1985-86	1082.5	1848.8	2931.3
1986-87	1599.9	2614.0	4213.9
1987-88	1439.6	723.0	2162.6
1988-89	1444.0	3445.0	4889.0

स्रोत : भारतीय रिजर्व बैंक की मुद्रा और वित्त पर रिपोर्ट, भाग-1, 1987-88 और वार्षिक रिपोर्ट, RBI, 1988-89.

ऊपर दिए गए आंकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजी बाज़ार 1982-83 तथा 1988-89 के बीच छः गुणा से अधिक बढ़ा। पूँजी का अधिकांश भाग ऋणपत्रों द्वारा प्राप्त हुआ। किन्तु हाल के वर्षों में पूँजी का इक्विटी भाग अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ा है। यह भी देखने में आया है कि 1987-88 में ऋणपत्रों के मूल्य में एका-एक कमी आई है। इसका कारण यह था कि उस वर्ष बहुत सी सार्वजनिक क्षेत्रक कम्पनियों ने बॉण्ड जारी किए, जिनकी सीधी प्रतिस्पर्धा निजी कम्पनी क्षेत्रक द्वारा जारी किए गए ऋणपत्रों के साथ हुई। इस कारण निजी कम्पनी क्षेत्रक के ऋणपत्रों में एका एक धीमापन आ गया।

लोग शेयरों में निवेश क्यों करते हैं? इसके दो कारण हैं। एक यह कि शेयर पर उन्हें लाभांश या प्रतिफल मिलता है। दूसरा यह कि इन शेयरों पर उन्हें पूँजी में वृद्धि होने की आशा रहती है। पूँजी में वृद्धि लाभ अर्जित कम्पनी द्वारा अतिरिक्त शेयरों के मुफ्त आबंटन द्वारा या बोनस शेयरों द्वारा अथवा शेयरों के मूल्य बढ़ने से होती है। उदाहरण के लिए, यदि राम किसी "क" कम्पनी के 100 शेयर 10 रुपये प्रति शेयर के सममूल्य पर खरीदता है तो उसका कुल निवेश 1000 रुपये होगा। अगले वर्ष के अंत में कम्पनी उसको बोनस शेयर 1 : 2 के अनुपात में आबंटित करती है, अर्थात् प्रति दो शेयरों के पीछे एक बोनस शेयर। इस प्रकार उसे 50 अतिरिक्त शेयर मिलते हैं, अर्थात् उसे $(100 + 50) \times 10 = 1500$ रुपये प्राप्त होते हैं। किन्तु अगर इसी दौरान शेयर का मूल्य बाज़ार भाव बढ़कर 20 रुपये हो जाता है तो राम के कुल शेयरों का मूल्य 3000 रुपये हो जाएगा। यह तीव्र वृद्धि शेयर बाज़ार में ही संभव है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि कम्पनी का कार्य खराब हो और इसके शेयर का भाव सममूल्य से भी कम जैसे 8 रुपये हो जाए। इस स्थिति में राम को अपने मूल निवेश में 200 रुपये की हानि हो जाएगी। इसलिए शेयर बाज़ार में अनिश्चितता होती है। इसमें भाग्य चमकने अथवा कंगाल बनने, दोनों की ही संभावना है, जैसा कि 1929 में वॉल स्ट्रीट के पतन में बहुत से लोगों के साथ हुआ था।

साधारण शेयरों के मूल्य की गति शेयर कीमतों के सूचकांक के द्वारा मापी जाती है। 1982-83 से 1988-89 में शेयर के मूल्यों की गति नीचे दी गई है।

तालिका : 15.9
साधारण शेयर मूल्यों (अखिल भारतीय) के सूचकांक
(1980-81 = 100)

वर्ष (जुलाई-जून)	वर्ष के अन्त में (पिछले सप्ताह की शनिवार को समाप्ति)	उच्चतम	निम्नतम
1982-83	125.1	125.1	108.4
1983-84	129.6	134.7	122.4
1984-85	221.9	221.9	130.6
1985-86	239.2	268.1	211.1
1986-87	198.9	237.2	198.9
1987-88	212.2	227.1	187.1
1988-89	248.3	308.2	187.1
	(अप्रैल से मार्च का औसत)		

स्रोत : भारतीय रिजर्व बैंक की 1987-88 की मुद्रा और वित्त पर रिपोर्ट तथा वार्षिक रिपोर्ट, RBI, 1988- 89.

इस प्रकार ऊपर दी गई तालिका से हम देखते हैं कि किस तरह शेयर के मूल्यों में 1982-83 और 1988-89 के बीच तेजी से उतार-चढ़ाव आया। 1985-86 में 268.1 की चोटी पर पहुँच कर इसने गहरी डुबकी लगाई और फिर 1988-89 में 308.2 तक की ऊँचाई पर पहुँच गया। शेयरों में निवेश के यह कुछ खतरे हैं। हमारे शेयर बाज़ार भी वाल स्ट्रीट, टोकियो, लन्दन या फ्रैंकफर्ट के शेयर बाज़ारों में प्रमुख पतन से बुरी तरह से प्रभावित होते हैं। जितनी अधिक मात्रा में विदेशी पूँजी हमारे देश में होगी यह संवेदनशीलता उतनी ही गहरी होगी। विदेशी पूँजी के प्रति हमारी नीति चयनात्मक रही है।

बोध प्रश्न 2

1) किसी उद्यम के लिए वित्त के आंतरिक स्रोत का क्या अर्थ है? (उत्तर एक वाक्य में लिखिए)

.....

.....

2) शेयरों और ऋणपत्रों में अन्तर एक वाक्य में बताइए।

.....

.....

3) उद्योग में वित्त प्रदान करने वाली कुछ महत्वपूर्ण वित्तीय संस्थाओं के नाम बताइए (एक वाक्य में)।

.....

.....

4) लोग शेयरों में निवेश क्यों करते हैं? (उत्तर दो वाक्यों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

15.5 व्यापार प्रणाली और उदारीकरण

अपने विदेशी पूँजी निवेश पर दृष्टि डालने से पूर्व हमें अपने विदेशी व्यापार और विनिमय नीति तथा स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि यह विदेशी संसाधनों के अंत: प्रवाह (inflows) को प्रभावित करने में प्रमुख कारक हैं।

विदेशी मुद्रा के प्रयोग पर सीधा नियंत्रण हमारे नियोजन का एक मुख्य औजार रहा है। अर्थव्यवस्था में प्राय: सभी कार्यों के लिए विदेशी मुद्रा का आबंटन प्रशासनिक निर्णयों द्वारा किया गया था। अनुमत्य आयातों का आबंटन निजी क्षेत्रक और सार्वजनिक क्षेत्रक जैसे दो प्रशासनिक वर्गों में किया गया था। इसके अतिरिक्त, कच्चे माल और अतिरिक्त पुर्जों के आयात तथा पूँजीगत माल एवं उपस्करों के आयात में महत्वपूर्ण परिचालन भेद था। इन वर्गों के अनुसार विभिन्न अनुमत्य आयातों का उद्योगों तथा फर्मों और संयंत्रों को आबंटन एक विस्तृत प्रशासनिक मशीनरी द्वारा किया जाता था। आयात लाइसेंस की प्रणाली जटिल थी और यह सीमा शुल्क की संरचना से पूरित होती थी। इससे विदेशी प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध अतिरिक्त संरक्षण मिलता था।

15.5.1 संरक्षण का स्वरूप

संरक्षण किसी भी देशी उद्योग को दे दिया जाता था। इसमें इस बात का विचार नहीं किया जाता था कि देशी और विदेशी उत्पादों की तुलनात्मक लागत कितनी है और गुणवत्ता कैसी है। देशी उपलब्धता के सिद्धांत के कारण विदेशी प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही नहीं था। जिसका नतीजा यह हुआ कि निवेश निर्णय का अंतर्राष्ट्रीय अवसर लागत के मार्गदर्शक सिद्धांत से कोई संबंध नहीं था। प्रत्येक फर्म में विदेशी मुद्रा के आबंटन के लिए "उचित भाग" के आधार पर "वास्तविक प्रायोगिक" प्रणाली अपनाई गई। किन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि कुशल फर्में कम कुशल फर्मों से प्रतियेगिता करके दुर्लभ आयातों को प्राप्त करके अपना विस्तार करने में सफल नहीं हो सकीं।

ज्यों-ज्यों आयात प्रतिस्थापन की प्रक्रिया गहन होती गई, उन क्षेत्रों में भी देशी बाज़ार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग लगाए गए जहाँ संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारत को तुलनात्मक लाभ प्राप्त नहीं था। इससे एक समस्या यह उठ खड़ी हुई कि कई चीजों के लिए देशी बाज़ार का आकार इतना बड़ा नहीं था कि उद्योग को पैमाने की मितव्ययताओं का लाभ मिल सकता। इसके अतिरिक्त, भारी उद्योगों में आयात प्रतिस्थापन की प्रक्रिया से जटिल प्रौद्योगिकी की आवश्यकता बढ़ गई और इसके लिए घटकों और उपकरणों की आपूर्ति करने वाले एक तंत्र की आवश्यकता हुई, जो आसानी से उपलब्ध नहीं था।

प्रतिकूल प्रभाव

आयात प्रणाली की इस कार्यविधि से निम्ननिखित प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव पड़े :

(i) विलम्ब; (ii) प्रशासनिक और अन्य परिहार्य खर्चे; (iii) विभिन्न एजेंसियों में समन्वय का अभाव; (iv) प्रतिस्पर्धा का अभाव; (v) अप्रयुक्त क्षमता के बावजूद और क्षमता का निर्माण; (vi) देशज आगतों की अपेक्षा आयातित आगतें प्रयोग करने वाले उद्योगों की ओर निहित झुकाव; (vii) बिना लागत का विचार किए उद्योगों को प्रत्याशित और स्वत: संरक्षण देना; तथा (viii) निर्यातों के प्रति भेदभाव और राजस्व में हानि।

15.5.2 उदारीकरण

शिशु उद्योग के तर्क के आधार पर यह होना चाहिए कि जब वे उद्योग विकसित हो जाएं तो इनका संरक्षण समाप्त कर दिया जाए और इन उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए छोड़ दिया जाये। जिन उद्योगों से भारत को तुलनात्मक लाभ है, वे विश्व बाज़ार में सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा करेंगे। पिछले भागों में हमने यह देखा कि आयात नीति और उसके कार्यान्वयन से उद्योगीकरण की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। भगवती और देसाई तथा भगवती और टी.एन.श्रीनिवासन, दोनों ने अपने विश्लेषण के आधार पर अर्थव्यवस्था के उदारीकरण लिए तर्क प्रस्तुत किया था ताकि इसमें विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने की शक्ति आ सके।

1979 में भारत सरकार ने व्यापार नीति और कार्यविधियों की कार्यशीलता का अध्ययन

करने के लिए पी.सी.अलेक्जेंडर की अध्यक्षता म एक समिति गठित की। अर्थव्यवस्था को विदेशी प्रतिस्पर्धा के लिये खोलने तथा उत्पादन की कुशलता, दोनों के बारे में समिति ने कोई स्पष्ट सुझाव नहीं दिया। भगवती, देसाई और श्रीनिवासन, सभी लेखकों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को ऊँची लागत वाली बतलाया था। तथापि, समिति ने प्रत्येक उद्योग के संरक्षण की अवधि और मात्रा को जांचने की सिफारिश की। इसका आधार यह माना गया कि उद्योग के प्रभावी और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के माहौल में मुकाबला करने की बात में कुछ वजन है। इससे उद्योगों में उत्पादन और प्रबंध कुशलता को बढ़ावा मिलेगा, गुणवत्ता में सुधार होगा और लागत कम होगी।

1979 से व्यापार नीति प्रणाली बराबर सरल और कारगर की गई है तथा इसे उदार बनाया गया है ताकि उत्पादन को बढ़ाने और उसके रख-रखाव के लिए आवश्यक उपकरण, मध्यवर्ती साधन तथा कच्चा माल उपलब्ध हो सके। इस प्रक्रिया को व्यापार नीति समिति (आबिद हुसैन समिति, 1984) की सिफारिशों के आधार पर अप्रैल, 1985 में और तीव्र कर दिया गया। आयात की शीघ्र उपलब्धि के लिए स्वतः लाइसेंस के वर्ग को समाप्त कर दिया तथा निर्माताओं व निर्यातकर्ताओं के लिए एक आयात-निर्यात पास बुक योजना आरम्भ की गई।

1985 की महत्वपूर्ण घटना, तीन साल के लिए आयात-निर्यात नीति की स्थापना थी जिससे व्यापार नीति में स्थिरता के भाव आए। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन पूँजीगत माल के आयात के संबंध में उदारीकरण था। औद्योगिक मशीनरी की 200 से अधिक वस्तुओं को जिनका संबंध मशीनी औजारों, चमड़ा, इलेक्ट्रॉनिकी और जूट उत्पादन इत्यादि से था, खुला सामान्य लाइसेंस (OGL) के अंतर्गत आयात की जाने वाली पूँजीगत वस्तुओं में शामिल कर लिया गया। इसके अतिरिक्त परियोजना आयात के अंतर्गत पूँजीगत माल का आयात शुल्क 105 प्रतिशत यथामूल्य से घटाकर 45 प्रतिशत यथामूल्य कर दिया गया। किन्हीं विशिष्ट उद्योगों के लिए शुल्क और भी कम था।

15.6 विदेशी पूँजी निवेश और उदारीकरण

हमें मालूम है कि विदेशी पूँजी निवेश और विदेशी सहयोग से संबंधित नीतियाँ काफी लम्बे समय तक 1949 में संसद में प्रधानमंत्री नेहरू के नीति वक्तव्य से प्रभावित होती रही। सरकार की नीति यह थी कि प्रौद्योगिकी की एकमुश्त खरीद को प्रोत्साहन दिया जाए। इसके अनुसार प्रौद्योगिकी को विदेशी पूँजी के सीधे निवेश के द्वारा प्रवेश देने के बजाय तकनीकी जानकारी को फीस या रायल्टी के रूप में एक समय के भुगतान के द्वारा खरीद लिया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समय-समय पर उन क्षेत्रों की सूचियाँ घोषित की जाती थीं जिनमें विदेशी सहयोग की अनुमति दी जाएगी और उनकी भी जहाँ इसकी आवश्यकता नहीं होगी। यद्यपि पिछले वर्षों में प्रशासनिक औपचारिकताओं को सरल बनाने के प्रयत्न किए गए किन्तु नीति प्रतिबंधात्मक ही रही और औद्योगिक नीति के सामान्य संरक्षात्मक दबाव को प्रदर्शित करती रही।

विदेशी पूँजी निवेश नीति का पहली बार विदेशी मुद्रा नियामक अधिनियम, (FERA) 1973 के अन्तर्गत संशोधन हुआ। हाल के वर्षों में प्रौद्योगिकी के आयात से संबंधित नीतियों में महत्वपूर्ण छूट दी गई है। नीति में यह ढील इस बात पर आधारित है कि यदि विदेशी सहयोग संबंधी नीति उदार नहीं बनाई जाती है तो भारतीय उद्योग की प्रौद्योगिक उन्नति संभव नहीं है।

15.6.1 बहुराष्ट्रीय निगम

आजकल विदेशी पूँजी की भूमिका की चर्चा बहुराष्ट्रीय निगमों (MNCs) के बिना संभव नहीं हैं। विकासशील देशों की बचत दर कम होती है। यदि यह कम न भी हो तो भी विदेशी मुद्रा की कमी बनी रहती हैं। इनमें से अधिकांश को पूँजी, प्रौद्योगिकी, प्रबन्ध-तकनीक और अपने उत्पाद को बेचने के लिए विदेशी बाज़ारों की आवश्यकता होती हैं। बहुराष्ट्रीय निगम इन चारों घटकों को एक पैकेज के रूप में प्रदान करने में समर्थ होते हैं। इन चारों घटकों में से प्रत्येक घटक को अलग-अलग प्राप्त करना भी संभव होता है। यदि किसी देश को वित्त की आवश्यकता है तो वह विदेशी बैंकों और अंतर्राष्ट्रीय

एजेंसियों से ऋण ले सकता है अथवा विदेशों से विकास सहायता प्राप्त कर सकता है। इसके लिए उसे बहुराष्ट्रीय निगमों को आमंत्रित करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार, प्रौद्योगिकी भी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में पेटेंट, नक्शों और डिज़ाइनों के रूप में एकमुश्त फीस, रायल्टी और अन्य भुगतान करके प्राप्त की जा सकती है। कोई देश प्रबंध संस्थाएँ खोलकर अथवा बहुत अल्प समय में स्थानीय प्रबंधकों को विदेशों में प्रशिक्षण के लिए भेजकर अपनी प्रबंध योग्यताओं को विकसित कर सकता है। विपणन के संबंध में निर्यात गृह खोले जा सकते हैं अथवा अंतर्राष्ट्रीय फर्मों तथा भंडार श्रृखलाओं से विपणन और बिक्री के ठेके किए जा सकते हैं। वे स्वदेशी उत्पादों को खरीदकर अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में बेच सकते हैं।

विकासशील देशों को इन कार्यविधियों में चुनाव करने के विकल्प हैं या तो बहुराष्ट्रीय निगमों को सीधे विदेशी पूँजी-निवेश के लिए आमंत्रित किया जाए ताकि बहुराष्ट्रीय निगम उस देश में अपनी सम्बद्ध कम्पनी खोले जिसमें वह इक्विटी में निवेश करता है। अथवा वह उस देश में अपनी शाखा खोलता है या आवश्यकता के अनुसार प्रौद्योगिकी खरीदता है। पहली स्थिति में देश एकमुश्त होकर और दूसरी स्थिति में वह अलग-अलग प्रत्येक घटक को खरीदता है।

बहुराष्ट्रीय निगम (MNC) की ठीक-ठीक परिभाषा पर अभी कोई सहमति नहीं है। कभी उनको राष्ट्रपारीय निगम या उद्यम (Transnational corporations or enterprises) कहा जाता है। एक मानदंड जिस पर सब लोग सहमत हैं यह है कि उनका उत्पादन प्रचालन एक से अधिक देशों में होना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि बहुराष्ट्रीय निगम कहलाने के लिए विदेशों में स्वामित्व के तौर पर उनके प्रचालन की क्या प्रकृति होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में इस बात पर कोई सार्वदेशिक नियम नहीं है कि किसे सम्बद्ध कम्पनी (affiliate) कहा जाए और किसे नहीं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि मूल फर्म सम्बद्ध कम्पनी पर कितना प्रभाव जमाती है। प्रभाव का एक अंश इक्विटी भागीदारी से होता है और दूसरा अंश प्रौद्योगिकी हस्तांतरण और दूसरे संचालन ठेकों द्वारा होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी फर्म पर प्रभावी नियंत्रण के लिए 50 प्रतिशत शेयर होना चाहिए। शेयरों का अधिकांश भाग अनेक व्यक्तियों के पास होता है और कभी-कभी केवल 10 या 20 प्रतिशत शेयरों से ही मूल फर्म को प्रभावी नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, चूँकि बहुराष्ट्रीय निगम अपने ब्राण्ड का नाम प्रयोग करने का अधिकार सम्बद्ध कम्पनी को हस्तांतरित करते हैं, अत: आम तौर से प्रबंध निदेशक की नियुक्ति के अधिकार आदि कुछ शर्तों को अनुबंध में रखते हैं जिससे उस पर उन्हें प्रभावी नियंत्रण मिल सके। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में केवल 10 प्रतिशत इक्विटी धारण सम्बद्ध कम्पनी (affiliate) कहलाने के लिए काफी होता है।

भारत में विभिन्न एजेंसियों ने विदेशी फर्मों के लिए विभिन्न मानदण्ड और परिभाषाएँ अपनाई हैं। विदेशी मुद्रा नियामक अधिनियम (फेरा-FERA) के अनुसार उन फर्मों को विदेशी फर्म समझा जा सकता है जिनमें 40 प्रतिशत से अधिक इक्विटी भागीदारी विदेशियों द्वारा हो। बाकी सब भारतीय फर्में हैं। इस तरह, इस अधिनियम के अनुसार जिस फर्म में 39 प्रतिशत इक्विटी विदेशी है, उसे बहुराष्ट्रीय निगम न कहकर देशी फर्म कहा जाएगा। दूसरी ओर, संयुक्त राष्ट्र अमरीका सरकार के लिए किसी भी फर्म को जिसमें अमरीकी फर्म ने 10 प्रतिशत निवेश इक्विटी में निवेश किया है अमरीकी फर्म से सम्बद्ध फर्म समझा जाएगा। भारत सरकार भी उन सभी फर्मों को जिनमें 50 प्रतिशत से अधिक इक्विटी में विदेशी भागीदारी है, विदेशी सहायक कम्पनी समझती है। दूसरी ओर, भारतीय रिज़र्व बैंक के अनुसार उन सभी फर्मों को जिनमें इक्विटी विदेशी भागीदारी 25 प्रतिशत से अधिक है विदेश नियंत्रित रुपया कम्पनी कहा जाता है। अधिकांश भारतीय शैक्षिक अध्ययनों में रिज़र्व बैंक की परिभाषा का प्रयोग किया गया है क्योंकि 25 प्रतिशत विभेदक बिन्दु (cut off point) 40 प्रतिशत विभेदक बिन्दु की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

समय के साथ-साथ बहुराष्ट्रीय निगम की प्रकृति और भूमिका में अत्यधिक बदलाव आया है। इस सदी के प्रारंभ में बहुराष्ट्रीय निगम अधिकतर अल्पविकसित देशों में तथा बागान और कच्चे माल पर आधारित क्षेत्रकों में काम करते थे। उदाहरण के लिए, भारत में 1948 में करीब 26 लाख रुपये की विदेशी पूँजी में केवल 27.8 प्रतिशत विनिर्माण कार्य में, 38.6% बैंकिंग तथा परिवहन आदि जैसी सेवाओं में और 25% बागान और खनन में

लगी हुई थी। औपनिवेशिक विदेशी निजी पूँजी निवेश का यही चित्र था। 1972 तक विनिर्माण उद्योग का भाग बढ़कर 64% हो गया। 1914 में इस प्रकार के बहुराष्ट्रीय निगमों में दो-तिहाई अल्प विकसित देशों में थे। प्रमुख निवेशक इंग्लैंड था, जिसका निवेश करीब-करीब आधा था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् बहुराष्ट्रीय निगमों के निवेश में तीव्र परिवर्तन हुआ। इस प्रकार, 1960 में कम विकसित देशों का भाग दो-तिहाई से घट कर एक-तिहाई रह गया और अब यह एक-चौथाई से भी कम है। स्वामित्व में भी बहुत परिवर्तन हुआ है। अब बहुराष्ट्रीय निगमों के समस्त विदेशी सीधे निवेश के करीब 50 प्रतिशत का स्वामी संयुक्त राष्ट्र अमरीका है। इस प्रकार अब अधिकांश बहुराष्ट्रीय निगम अधिकतर उच्च आय वाले देशो में निवेश करते है और प्रौद्योगिकी का अधिकांश हस्तांतरण विकसित देशों के बीच ही है। बहुराष्ट्रीय निगमों का बहुत कम निवेश अब तृतीय विश्व या अल्प विकसित देशों में जाता है।

इसके कई कारण है। अपनी दृढ़ औपनिवेशिक पृष्ठभूमि के कारण अधिकांश तृतीय विश्व के देश प्रथम विश्व के बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रति आश्वस्त नहीं थे। इसलिए उन्होंने बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाया। इसके अलावा अधिकांश तृतीय विश्व की मुद्राएँ परिवर्तनीय मुद्राएँ नहीं हैं तथा इन देशों ने विदेशी मुद्रा नियमन और नियंत्रण लागू किए। इससे निजी विदेशी पूँजी का सीधा निवेश भी निरुत्साहित हुआ। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रौद्योगिकी हस्तांतरण अपने समकक्ष देशों में अधिक लाभदायक है क्योंकि इसके बदले में वे भी प्रौद्योगिकी दे सकते हैं। आर्थिक एकीकरण कम विकसित तृतीय विश्व के देशों में या प्रथम और तृतीय विश्व के बीच की अपेक्षा उच्च आय वाले विकसित देशों में आपस में अधिक हुआ है। दूसरी ओर, चूँकि अधिकांश पूँजी और प्रौद्योगिकी बहुराष्ट्रीय निगमों के पास हैं, बहुत से अल्प विकसित देशों ने, जिसमें भारत भी शामिल है, अपनी नीति का उदारीकरण किया है ताकि उनकी अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण हो और उसका एकीकरण विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ हो सके।

15.6.2 उदारीकरण के उपाय

हम यह देख चुके हैं कि 1980 के दशक में भारत सरकार की औद्योगिक लाइसेंस की नीति में अत्यधिक परविर्तन आया जिसका उद्देश्य औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली का उदारीकरण था। इस दशक के पूर्वार्द्ध में उत्पादन क्षमता के विस्तार से प्रतिबंध हटाना, अतिरिक्त क्षमता का नियमन केवल निर्यात के लिए उत्पादनों की सुविधाएँ, क्षमता का पुष्टांकन तथा 1978 में 3 करोड़ रुपये की औद्योगिक लाइसेंस की छूट सीमा 1982 में 5 करोड़ रुपये तक बढ़ाना जैसे उपाय किए गए।

मार्च, 1985 में उद्योगों के 25 मुख्य वर्गों के लाइसेंस की आवश्यकता को समाप्त कर दिय गया और यह संख्या बाद में बढ़ाकर 31 कर दी गई। इन वस्तुओं के उत्पादन के लिए फर्मों को अब औद्योगिक लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं रही। फिर भी एम.आर.टी.पी. (MRTP) और फेरा(FERA) फर्मों पर नीति का यह परिवर्तन लागू नहीं हुआ। बाद में, जून, 1988 के नीति वक्तव्य के द्वारा उन सभी एम.आर.टी.पी. (MRTP) और फेरा (FREA) फर्मों को भी औद्योगिक लाइसेंस से छूट मिल गई जिनका स्थायी परिसम्पत्ति में अतिरिक्त निवेश 15 करोड़ रुपयों से कम हो और यदि उन्होंने पिछड़े क्षेत्रों में निवेश किया हो तो सभी निवेशों के लिए छूट बढ़ाकर 50 करोड़ रुपये तक कर दी गई। जिन उद्योगों को औद्योगिक लाइसेंस की आवश्यकता थी उनको भी व्यापक आधार (BROAD BANDING) की सुविधा दी गई ताकि वे बिना नए लाइसेंस के लिए प्रार्थना-पत्र दिए अपने उत्पाद-मिश्र (product mix) में शीघ्र परिवर्तन कर सकें। नवीनतम घोषणा के अनुसार सारी औद्योगिक इकाइयों को अप्रैल, 1988 से मार्च, 1990 के दौरान प्राप्त की हुई न्यूनतम उत्पादन क्षमता के आधार पर स्वत:पुष्टांकन प्राप्त हो सकेगा। यह योजना एम.आर.टी.पी. और फेरा कम्पनियों पर भी लागू होती है। इस योजना में स्थान निर्धारण के प्रतिबंध भी लागू नहीं होंगे।

इसके साथ ही 1985 में कच्चे माल के आयात, मशीनों के पुर्जे, प्रौद्योगिकी और विदेशी सहयोग की नीति का भी उदारीकरण किया गया। प्रौद्योगिकी के आयात में उदारीकरण के फलस्वरूप सरकार द्वारा अनुमोदित विदेशी सहयोग की संख्या, 1981 से (जब उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई थी) बराबर बढ़ रही है। वृद्धि की दर, जो 1982 और 1983 के दौरान 10% थी, 1985 में बढ़कर चार गुना होकर 40% हो गई। उस समय सर्वाधिक

1042 विदेशी सहयोग के करार हुए। दो और चार पहियों की गाड़ियों के लिए हैड लैम्प, वाइपर मोटरें, विंडशील्ड वाशर मोटरें, स्पार्क प्लग, कार्बरेटर तथा नियान व अन्य लाइटें, वाल्टेय रेग्युलेटर, स्टार्ट मोटर, मेग्नेटिक टेप, लाउड स्पीकर उपकरण, सुलभ भोजन आदि के लिए ये संविदे किए गए। कुछ सहयोगों में उच्च प्रौद्योगिकी वाली वस्तुएँ भी शामिल हैं। इसके साथ ही अनेक उद्योगों की आयात गहनता आर्थात् प्रयोग में आए कुल कच्चे माल और अतिरिक्त पुर्जों में आयातित माल का भाग, एक ही वर्ष में दुगुना हो गया और बाद में भी उसी स्तर पर बना रहा।

इस प्रकार, 1985 में उदारीकरण के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा के व्यय में तो बहुत वृद्धि हुई किन्तु भारत से वस्तु और सेवाओं के निर्यात में इतनी वृद्धि नहीं हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी मुद्रा में एक गंभीर संकट की स्थिति हो गई और विदेशों से वाणिज्यिक उधार लेने की आवश्यकता आ पड़ी। सरकारी एजेंसियों से उधार की तुलना में बैंकों से वाणिज्यिक ऋण की ब्याज दर बहुत ऊँची है। इससे ऋण सेवा अनुपात और विदेशी ऋण का भार बढ़ गया। वास्तव में विदेशी नियंत्रण वाली रुपया कम्पनियों द्वारा विदेशी मुद्रा आम तौर से बाहर जाती थी।

1965-1980 के दौरान भारतीय निर्यात की वार्षिक औसत वृद्धि दर 3.7 प्रतिशत थी और इस अवधि में आयात केवल 1.6 प्रतिशत ही बढ़ा परन्तु 1980-1987 के दौरान आयात 4.7 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा, जबकि निर्यात केवल 3.6 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा। इसके फलस्वरूप 1987 में भारत का सकल अंतर्राष्ट्रीय रिज़र्व केवल 6 महिने के आयात के लिए काफी रह गया। 1989 के अंत में, ऐसा कहा जाता है कि यह केवल ढाई महीने के लिए ही काफी था। परिस्थिति की गंभीरता का अंदाजा बाह्य ऋण सेवा अनुपात से होता है। समस्त दीर्घकालिक ऋण सेवाओं का वस्तु और सेवाओं के निर्यात में प्रतिशत को बाह्य ऋण सेवा अनुपात कहते हैं। यह अनुपात 1987 के अंत में 24 प्रतिशत की ऊंचाई पर था और उसके बाद यह क्रमशः बढ़ता ही गया। दूसरे शब्दों में निर्यातों की आय के चौथाई से अधिक हमारे ऋण को पूरा करने में ही निकल जाता था। इन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप सरकार विदेशी उदारीकरण नीति पर रोक लगाने पर मजबूर हो जाएगी।

उदारीकरण का उद्देश्य भारतीय उद्योग की प्रौद्योगिक क्षमताओं को ऊपर उठाना था, जिससे यह अधिक कुशल हो सके और अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में भली प्रकार मुकाबला कर सके तथा अपने देश के बाज़ार में बिकने वाले माल की गुणवत्ता में सुधार हो सके। किन्तु इस नीति का अनुसरण करने में गंभीर बाधाएँ तथा वित्तीय कठिनाइयाँ हैं जिसके कारण आत्मनिर्भरता का लक्ष्य आगे खिसकता जा रहा है। तीव्र औद्योगिक विकास करने के लिए कोई आसान विकल्प नहीं है।

बोध प्रश्न 3

1 नियंत्रित व्यापार प्रणाली के क्या प्रतिकूल प्रभाव होते हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

2 बहुराष्ट्रीय निगमों (MNCs) की परिभाषा तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 1985 से कौन-से महत्वपूर्ण उदारीकरण उपाय किए गए हैं? (उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

4 उदारीकरण के क्या उद्देश्य हैं? (उत्तर दो वाक्यों में लिखिए)

.....

.....

.....

.....

15.7 सारांश

यह इकाई पिछले चार दशकों में भारत के औद्योगिक कार्यकलाप का मूल्यांकन करती है। 1951-65 में औद्योगिक क्षेत्रक में वृद्धि दर करीब 7.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी किन्तु 1966-86 में यह घटकर 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रह गई। 1980 के दशक में औद्योगिक वृद्धि दर का पुनरुत्थान हुआ। उत्पाद मिश्र में भी परिवर्तन आया है। विनिर्माण क्षेत्रक का योगदान बढ़ रहा है और रसायन तथा इंजीनियरी उद्योगों का भाग विनिर्माण क्षेत्रक में करीब 50 प्रतिशत हो गया है। प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में कमी होने से निर्यात की वस्तु संरचना में बदलाव आया है।

औद्योगिक क्षेत्रक में रोज़गार की वृद्धि दर उत्पादन की वृद्धि दर की अपेक्षा बहुत कम रही है। जिसका अर्थ है पूँजी-उत्पाद अनुपात में वृद्धि। राज्यों के औद्योगिक स्वरूप में भी बहुत भिन्नता दिखाई देती है।

उद्योगों में रुग्णता, विशेषकर लघु इकाइयों में, प्रबंध अक्षमता, पुरातन तकनीक आदि के कारण होती है। सरकार ने अपनी नीति के द्वारा औद्योगिक रुग्णता को दूर करने के उपचारी उपाय किए हैं। रुग्ण इकाइयों की पुनर्रचना, प्रबंध में परिवर्तन या दूसरी कम्पनियों के साथ विलय के लिए निर्देश दिया जाता है।

आद्यौगिकइकाइयाँ अपनी पूँजी-स्थायी और कार्यशील-की आवश्यकताओं के लिए "अवितरित लाभ" जैसे आंतरिक स्रोतों और वित्तीय संस्थाओं और पूँजी बाज़ार जैसे बाह्य स्रोतों पर निर्भर करती है। विस्तार तथा प्रतिस्थापन के लिए भी पूँजी इन्हीं स्रोतों द्वारा जुटाई जाती है।

भारतीय उद्योग को आरंभ से ही विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण मिलता रहा है। सरकार आयात प्रतिस्थापन की नीति द्वारा माध्यमिक और तैयार माल के आयातों को नियंत्रित करती रही है। इसके कारण भारत एक उच्च लागत वाली अर्थव्यवस्था बनकर रह गया है। हाल के वर्षों में सरकार ने आयात नीति को, कुछ उद्योगों के लाइसेंस को समाप्त करके, छूट सीमा को बढ़ाकर, निर्यात संवर्धन और विदेशी सहयोग को प्रोत्साहन देकर; सरल और उदार बनाया है।

15.8 शब्दावली

ऋण पत्र (Debentures)

ऋणपत्रों को जारी करना ऋण प्राप्त करने की विधि है, क्योंकि ऋणपत्रों के खरीदार ऋणपत्रों में निवेश किए हुए धन पर एक निश्चित दर से ब्याज के बदले में कम्पनी को ऋण प्रदान करते हैं।

औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक :

थोक भावों के सूचकांक और उपभोक्ता कीमतों के सूचकांक आदि की तरह ही औद्योगिक

उत्पादन का भी सूचकांक होता है। इस सूचकांक से आधार वर्ष की तुलना में अन्य वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में परिवर्तन को मापा जाता है। आधार वर्ष का उत्पादन सदैव 100 लिया जाता है और चालू वर्ष के उत्पादन को आधार वर्ष के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। चूँकि उद्योग बहुत सारे हैं, उनको उत्पादन संरचना में महत्व के अनुसार विभिन्न भार दिए जाते हैं।

एकाधिकार और अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP):

एकाधिकार और अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम (MRTP), 1969 में पारित किया गया था। यह दो प्रकार के उपक्रमों पर लागू होता है: (1) जिन उपक्रमों की परिसम्पत्ति का मूल्य 100 करोड़ रुपयों (वर्तमान सीमा) से अधिक होता है तथा (2) वे प्रमुख उपक्रम जिनकी परिसम्पत्ति का मूल्य 3 करोड़ रुपयों (वर्तमान सीमा) से अधिक होता है। वह उपक्रम प्रमुख (dominant) समझा जाता है जो भारत के कुल माल और सेवाओं का कम से कम एक-चैथाई भाग उत्पादन करता है, आपूर्ति या वितरण करता है अथवा नियंत्रण करता है। अवरोधक व्यापारिक व्यवहार का अर्थ होता है, वह व्यवहार जिससे पूँजी और संसाधनों के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है तथा उपभेक्ताओं पर छल-कपट की प्रक्रियाओं या सुपुर्दगी की शर्तों द्वारा अनुचित कीमतें और प्रतिबंध लादा जाता है।

बहुराष्ट्रीय निगम (MNL)

इनको राष्ट्रपारीय निगम (TNC) भी कहते हैं और यह कई सारे उत्पादों में और बहुत से देशों में संचालन करते हैं। विशाल पूँजी संसाधनों, अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी और प्रबंध कुशलता के कारण यह बहुत से देशों में अपने उत्पादों के निर्माण और विपणन की स्थिति में होते हैं। ये बहुत शक्तिमान होते हैं।

शेयर

कम्पनी उपक्रम पूँजी संग्रह करने के लिए शेयर जारी करते हैं। इससे स्वामित्व का अधिकार मिलता है, जिससे शेयरधारी व्यक्तिगत रूप से शेयरों के अनुपात में उपक्रम के स्वामी होते हैं। शेयरधारियों को उपक्रम से लाभांश मिलता है, जो कम्पनी के लाभ पर निर्भर करता है।

रुग्ण इकाइयाँ

रुग्ण इकाइयों की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। रुग्ण औद्योगिक कम्पनी (विशेष प्रावधान) अधिनियम की परिभाषा भारतीय रिज़र्व बैंक की परिभाषा से भिन्न है। लेकिन इन दोनों द्वारा दी गई परिभाषा में समानता यह है कि वे इकाइयाँ बराबर हानि उठाती रहती हैं, उनकी संचित हानि (अर्थात् पिछले वर्षों की हानि का योग) उनकी निवल सम्पत्ति (Net worth) का कम से कम 50 प्रतिशत होता है और वे स्वस्थ वित्तीय स्थिति में नहीं होती है।

15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, ए.एन.: **भारतीय अर्थव्यवस्था: विकास एवं आयोजन,** वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली 1988, अध्याय 20,33,36 एवं 41.

दत्त रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम्: **भारतीय अर्थव्यवस्था,** एस.चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1990 अध्याय 16,18,33 एवं 36.

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी: **भारतीय अर्थव्यवस्था,** हिमालय पब्लिशिंग हाऊस, मुम्बई, 1989, अध्याय 31,37,38 एवं 42.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण: **भारतीय अर्थशास्त्र,** लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, 1990 अध्याय 25,28.

Ahluwalia Isher J. *Industrial Growth in India.* OUP, Delhi (Chapters 2,3,4,8).

Kapila Uma (ed.), (1988), *Indian Economy Since Independence*, Volume 2, synapse, Delhi (Articles 9 to 15 in the part on Industry and Foreign Trade).

Reserve Bank of India, *Report on Currency and Finance 1986-87* Vol.5, Bombay (p.73).

Sandesara, J.C. (1988), "Indian Industrialisation—Tendencies, Interpretation & Issues," *ICSSR Seminar on India Since Independence* New Delhi

15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 15.2.4 देखिए और उत्तर दीजिए।

2) भाग 15.2.2 पढ़िए और पिछले चार दशकों के दौरान उत्पादन संरचना में परिवर्तन का वर्णन कीजिए।

3) भाग 15.3.3 देखिए और उत्तर दीजिए।

4) (क) सही (ख) सही (ग) गलत (बंद करना एक समाधान हो सकता है, किन्तु यही एकमात्र समाधान नहीं है)

बोध प्रश्न 2

1) भाग 15.4.1, पहला पैरा देखिए और उत्तर दीजिए।

2) भाग 15.4.1, देखिए और उत्तर दीजिए।

3) भाग 15.4.2, विशेषकर "वित्तीय संस्थाएँ" भाग, पढ़िए।

4) भाग 15.4.3 में दो कारण दिए हुए हैं, उन्हें ज्ञात कीजिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 15.5.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

2) भाग 15.6.1 पढिए और उत्तर दीजिए।

3) भाग 15.5.2 पढ़िए और नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

4) भाग 15.6.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

खंड
8
विदेशी व्यापार और भुगतान शेष

इकाई 16
निर्यात और आयात : संरचना, स्वरूप और व्यापारिक स्थितियाँ 5

इकाई 17
भुगतान शेष 31

खंड 8 विदेशी व्यापार और भुगतान शेष

ई.ई.सी.-02 के खंड 8 में भारत के विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन की चर्चा की गई है। इस खंड में दो इकाइयां हैं।

इकाई 16 में भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य, स्वरूप और दिशा तथा नियोजन काल में इनमें परिवर्तनों का वर्णन है। आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के हमारे लक्ष्य का देश की व्यापार तथा औद्योगिक नीति पर क्या असर पड़ा है, इस बात का भी हम अध्ययन करेंगे।

इकाई 17 में हम भारत के भुगतान शेष की स्थिति की समीक्षा करेंगे। हम देखेंगे कि क्या विदेशी कर्ज़ों के बोझ से हम गंभीर ऋण संकट की स्थिति में आ गए हैं। हम ऐसी स्थितियों से निपटने के लिए सरकार की आर्थिक नीतियों की भी चर्चा करेंगे।

इकाई 16 निर्यात और आयात : संरचना स्वरूप और व्यापारिक स्थितियाँ

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 भारत के सकल घरेलू उत्पाद के संदर्भ में उसका विदेशी व्यापार : एक तुलनात्मक अध्ययन
16.3 भारत के निर्यात का मूल्य, स्वरूप तथा दिशा
16.3.1 निर्यात का मूल्य
16.3.2 निर्यात का स्वरूप
16.3.3 निर्यात की दिशा
16.4 भारत के आयात का मूल्य, स्वरूप तथा स्रोत
16.4.1 आयात का मूल्य
16.4.2 आयातों का स्वरूप
16.4.3 आयात के स्रोत
16.5 भारत की विदेश व्यापार नीति
16.5.1 शुल्क वापसी प्रणाली
16.5.2 नकद प्रतिपूर्ति समर्थन (CCS)
16.5.3 निर्यात ऋण तथा राजकोषीय रियायतें
16.5.4 निर्यात संवर्धन में आयात नीति की भूमिका
16.5.5 निर्यात संवर्धन नीतियों का निर्यात पर प्रभाव
16.6 व्यापारिक स्थितियां (Terms of trade)
16.7 भारत के व्यापार-क्षेत्र के कार्य-निष्पादन को निर्धारित करने वाले घटक : आयात प्रतिस्थापन बनाम निर्यात संवर्धन
16.8 सारांश
16.9 शब्दावली
16.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- नियोजन काल के दौरान भारत के विदेशी व्यापार-निर्यात तथा आयात की मात्रा, स्वरूप तथा दिशा में आये परिवर्तनों पर विचार कर सकेंगे,
- आयात-प्रतिस्थापन और निर्यात-संवर्धन को बढ़ावा देने की दृष्टि से बनायी गई भारत की व्यापार नीति का औद्योगीकरण की नीति से संबंध समझा सकेंगे;
- सरकार की निर्यात-संवर्धन की नीति का विस्तृत विवरण दे सकेंगे;
- यह समझा सकेंगे कि अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में व्यापारिक परिस्थितियों में हुए परिवर्तन क्या भारत के पक्ष में रहे हैं; और
- यह भी समझा सकेंगे कि विश्व के कुल निर्यात में हिस्सेदारी को देखते हुए भारत कुछ अन्य विकासशील देशो से पिछड़ क्यों रहा है।

16.1 प्रस्तावना

ज्यादातर विकासशील देशों की भांति, आज़ादी के समय भारत के व्यापार के स्वरूप में भी औपनिवेशिक विशेषताएं थीं। इन औपनिवेशिक लक्षणों से हमारा तात्पर्य यह है कि आज़ादी के पहले हमारा विदेश-व्यापार ब्रिटिश हितों के अनुरूप था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिक विकास की शुरुआत करने वाले देशों में ब्रिटेन सबसे आगे था। उसका स्वदेशी बाज़ार बड़ा नहीं था, इसलिए उसे अपने निर्मित माल के लिए बाज़ार की ज़रूरत थी। इसके साथ ही, उसे औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए सस्ता कच्चा माल उपलब्ध कराने वाले स्रोत की भी ज़रूरत थी। उपनिवेशों पर राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व से ब्रिटेन के औद्योगीकरण में मदद

मिली। दूसरी ओर, भारत का औद्योगिक विकास रुक गया। हमने खंड 1 में इन सब बातों का अध्ययन किया है। मुक्त व्यापार तथा उत्पादन में तुलनात्मक लाभ के तर्कों के आधार पर औपनिवेशिक नीतियों का औचित्य सिद्ध किया गया। इससे भारत का ब्रिटेन सहित विश्व के अन्य देशों के साथ व्यापारिक प्रवाह के स्वरूप तथा दिशा पर असर पड़ा। यही वजह थी कि आज़ादी के समय हमारे देश से मुख्य रूप से बागानों में होने वाली वस्तुएं, कच्चा माल और खनिज ही मुख्यत: निर्यात किए जाते थे। आज़ादी के समय भारत में औद्योगीकरण का स्तर बहुत नीचा था। जो थोड़ा-बहुत औद्योगीकरण था भी, वह कपड़ों जैसी हल्की उपभोक्ता वस्तुओं तक ही सीमित था। इस तरह भारत के विदेश व्यापार में भारतीय अर्थव्यवस्था में प्राथमिक वस्तु क्षेत्र का आधिपत्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित था।

भारत से आर्थिक समृद्धि के निरंतर विदेश चले जाने के बारे में जैसा कि प्रमुख राष्ट्रवादी और 50 के दशक में प्रमुख विकासवादी अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है, उत्पादन और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विशिष्टता के लिए तुलनात्मक लाभ की धारणा को आधार मानकर इस बात का विश्लेषण नहीं हो पाता कि व्यापार के किसी विशेष वस्तु स्वरूप का उद्भव कैसे हुआ? ब्रिटिश शासन के दौरान नवोदित औद्योगिक देश के रूप में भारत क्यों पिछड़ गया? इसके लिए जो व्याख्याएं उपलब्ध हैं, वे अपर्याप्त हैं और बहुत प्रासंगिक भी नहीं हैं। इन व्याख्याओं से यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि स्वतंत्रता के समय अथवा उसके बाद उत्पादन तथा व्यापार ढांचे में जैसा विशिष्टीकरण का तरीका रहा है, वह अर्थव्यवस्था की दीर्घकालीन वृद्धि और विकास के अनुरूप है अथवा नहीं। हम जानते हैं कि किसी औद्योगिक देश में ही नये आविष्कार व नव-प्रवर्तन बड़े पैमाने के लाभ तथा बाह्य मितव्ययिता, तकनीकी विकास और आधुनिकीकरण से उत्पादन वृद्धि के लाभ अधिक मिलते हैं। अकसर यह भी होता है कि कृषि की बजाय उद्योग में ज्यादा भौतिक और वित्तीय संसाधन लगाने से उत्पादन काफी अधिक बढ़ने की संभावना बनती है। कृषि में उत्पादन बढ़ाने के लिए जरूरी आदान औद्योगिक क्षेत्र के ही उत्पाद होते हैं। मुक्त व्यापार का पारंपरिक सिद्धांत अर्थव्यवस्था की मात्र सतही तस्वीर ही सामने लाता है। इसमें वे क्रम तथा चरण स्पष्ट नहीं हो पाते, जिनसे गुजरती हुई अर्थव्यवस्था एक समयावधि में अपने विशिष्टीकरण के ढांचे में लाभप्रद परिवर्तन लाती है। अब हम भारत के विदेश व्यापार के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन करेंगे जिसमें निर्यात तथा आयात की मात्रा, स्वरूप और दिशा शामिल है। इसके बाद हम उन तथ्यों को स्पष्ट करेंगे, जिनके कारण भारत ने आज़ादी के बाद अपने विदेश-व्यापार की नीति तय की।

16.2 भारत के सकल घरेलू उत्पाद के संदर्भ में उसका विदेशी व्यापार : एक तुलनात्मक अध्ययन

तुलनात्मक अध्ययन

ई.ई.सी.-01 खंड 8 में हमने "बंद" और "खुली" अर्थव्यवस्था का अंतर स्पष्ट किया था। विश्व में पूरी तरह बंद संभवत: कोई भी अर्थव्यवस्था नहीं है। लेकिन सकल घरेलू उत्पाद में निर्यात और आयात के अनुपात के आधार पर अर्थव्यवस्था के खुलेपन की स्थिति विभिन्न देशों में अलग है। तालिका 16.1 में कुछ चुने हुए देशों में यह अनुपात दिया गया है।

तालिका 16.1 : कुछ चुने हुए देशों में निर्यात/सकल घरेलू उत्पाद और आयात/सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात

(प्रतिशत में)

	1960		1970		1980	
	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात
ब्राज़ील	6	7	7	7	7	10
भारत	5	8	4	5	7	8
इंडोनेशिया	13	13	13	16	31	24
मलेशिया	53	39	41	36	50	42
पाकिस्तान	6	10	8	11	13	24
दक्षिण कोरिया	3	13	14	24	30	37
अमरीका	5	4	6	5	9	10

स्रोत : यूनाइटेड नेशंस इंटरनेशनल ट्रेड स्टैटिस्टिक्स, इयर बुक : 1980-81 खंड-II

इन आंकड़ों से पता चलता है कि भारत, ब्राजील तथा अमरीका अपेक्षाकृत "बंद अर्थव्यवस्थाएं" हैं। ये तुलनात्मक दृष्टि से "विशाल" अर्थव्यवस्थाएं हैं। "विशालता" की धारणा अनिवार्यतः भौगोलिक आकार से नहीं जुड़ी है, हालांकि इनमें से अधिकांश देश क्षेत्रफल में भी विशाल हैं। इस विशालता को इन देशों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद के संदर्भ में परिभाषित किया गया है जो घरेलू बाजार की विशालता का संकेतक है। विशाल घरेलू बाज़ार वाले देश अपने यहाँ की जरूरतों के लिए ही उत्पादन करके भी बड़े पैमाने पर उत्पादन का लाभ पा सकते हैं। दूसरी ओर, श्रीलंका जैसे छोटे देश में बड़े पैमाने का लोहा और इस्पात बनाने वाली औद्योगिक इकाई का उत्पादन छोटे घरेलू बाज़ार के लिए ज़रूरत से ज़्यादा हो जाएगा और अनुकूलतम लागत स्तर पर किए गए सारे उत्पादन को अर्थव्यवस्था में खपाया भी नहीं जा सकेगा। इसलिए श्रीलंका जैसा देश निम्न दो में से कोई एक विकल्प अपना सकता है :

i) या तो वह इस्पात का उत्पादन करे और देश में इस्तेमाल न हो सकने वाले अधिशेष उत्पादन का निर्यात करे।

ii) या वह इस्पात का बिल्कुल भी उत्पादन न करे तथा स्वदेशी ज़रूरतों के लायक इस्पात का आयात कर ले।

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि एक छोटा देश किस तरह बड़े घरेलू बाज़ार वाले विशाल देश की तुलना में अतर्राष्ट्रीय व्यापार में खुलेपन की नीति अपनाता है। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि छोटे देशों के आर्थिक हित में यह जरूरी है कि वे कुछ खास वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता हासिल करें, बड़ी संख्या में वस्तुओं के उत्पादन का काम हाथ में न लें।

1960 से 1979 के बीच की अवधि में भारत के सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में इसके निर्यात तथा आयात का कुल मूल्य 13 प्रतिशत से बढ़कर 15 प्रतिशत हो गया। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत का अंश 1950-51 के 2 प्रतिशत की तुलना में घटकर 1970-71 में 0.65 प्रतिशत तथा 1986 में 0.4 प्रतिशत रह गया। इससे पता चलता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर तथा विदेश व्यापार का मूल्य विश्व की औसत वृद्धि की तुलना में पिछड़ गया। इस पूरी अवधि में भारत ने निर्यात प्रधान विकास नीति भी नहीं अपनायी। हम इन मुद्दों पर भाग 16.7 में विचार करेंगे। हम देखेंगे कि जहां तक मात्रा का प्रश्न है, भारत का विदेश व्यापार उसके सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में ज़्यादा नहीं है लेकिन जहां तक गुणवत्ता का प्रश्न है, भारत के विदेश-व्यापार ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रौद्योगिकी के आदान-प्रदान, घरेलू पूंजी निर्माण, भारत के औद्योगीकरण को बढ़ावा देने और आर्थिक क्षेत्र में भारत के कुल कार्य-निष्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हम इन मुद्दों पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

16.3 भारत के निर्यात का मूल्य, स्वरूप तथा दिशा

इस इकाई में हम देखेंगे कि स्वतंत्रता के बाद नियोजित विकास के इन वर्षों में भारत के निर्यात के मूल्य, स्वरूप तथा दिशा में क्या परिवर्तन आए हैं।

16.3.1 भारत के निर्यात का मूल्य

तालिका 16.2 : भारत का आयात तथा निर्यात (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	सूचकांक (आधार : 1980 = 100)			
			मात्रा		इकाई मूल्य	
			आयात	निर्यात	आयात	निर्यात
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
1950	651	624				
1951	971	743				
1952	671	578				
1953	576	531				
1954	656	594				

1955	706	610				
1956	822	619				
1957	1068	657				
1958	878	582				
1959	946	621				
1960	1108	634	54	36	19	28
1961	1084	660	56	38	19	29
1962	1124	668	60	40	18	28
1963	1179	774	59	45	19	28
1964	1343	813	63	48	19	28
1965	1381	803	76	45	20	29
1966	2019	1155	75	42	29	45
1967	2095	1210	76	44	29	44
1968	1928	1321	74	50	28	42
1969	1663	1376	61	49	29	45
1970	1593	1520	64	53	28	45
1971	1815	1526	75	54	27	46
1972	1679	1823	70	58	28	50
1973	2416	2273	76	59	36	61
1974	4079	3179	80	65	59	76
1975	5339	3641	81	68	73	84
1976	5074	4970	66	80	77	87
1977	5759	5552	79	73	71	87
1978	6430	5444	92	68	72	99
1979	8237	6380	92	84	84	106
1980	11076	6591	100	100	100	100
1981	13544	7242	114	58	105	120
1982	13562	8309	121	63	105	130
1983	13568	8810				
1984	15741	9981				
1985	18447	10427				
1986	18495	11490				
1987	22399	15741				
1988	28194	20295				

स्रोत : इंटरनेशनल ट्रेड स्टैटिस्टिक्स ईयर बुक : 1986, न्यूयार्क, खंड-1, पृष्ठ-506, 1987 (1987-88 और 1988 (1988-89) के आंकड़े इकॉनॉमिक सर्वे : 1989-90 से लिए गए हैं)

तालिका 16.2 में नियोजित विकास के वर्षों में भारत के निर्यात का रुपयों में मूल्य दिखाया गया है। 50 के दशक में निर्यात के मूल्य में बिल्कुल भी वृद्धि नहीं हुई। 1960 से 1970 के दौरान, निर्यात का मूल्य बढ़कर डेढ़ गुना हो गया। इसमें 4 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई और निर्यात की मात्रा में भी 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सत्तर के दशक में निर्यात का मूल्य बढ़कर चार गुना हो गया और निर्यात की मात्रा में लगभग 70 प्रतिशत वृद्धि हुई। निर्यात की औसत वार्षिक वृद्धि दर मात्रा के आधार पर 6.3 प्रतिशत तथा मूल्य के आधार पर 15.9 प्रतिशत रही। अस्सी

के दशक में निर्यात के मूल्य में वृद्धि दर में फिर कमी आयी। इस अवधि में निर्यात में डेढ़ गुना वृद्धि हुई (1987-88 तक)। इस प्रकार, चार दशकों में सत्तर के दशक में निर्यात के मूल्य में अधिकतम वृद्धि हुई। वार्षिक आंकड़ों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि 1977-78 का वर्ष ऐसी सीमा-रेखा है जो निर्यात में तेज वृद्धि की अवधि (1970-71 से 1977-78 तक) और वृद्धि में कमी की अवधि (1977 से 1985 तक) को अलग करता है। 1986-87 से निर्यात के आंकड़े जबरदस्त वृद्धि दिखाते हैं। रुपयों में निर्यात वृद्धि दर 1986-87, 1987-88 और 1988-89 के तीन लगातार वर्षों में 10 प्रतिशत वार्षिक से भी ज्यादा रही। इस तरह हम नियोजित विकास के चार दशकों को पांच अंतरालों में बांट सकते हैं :

i) 1950-60 : निर्यात में बिल्कुल वृद्धि नहीं
ii) 1960-70 : निर्यात में सामान्य वृद्धि
iii) 1970-77 : सर्वाधिक निर्यात-दर
iv) 1977-86 : निर्यात वृद्धि दर में कमी
v) 1986 के बाद : रुपयों में निर्यात में तेज वृद्धि

तालिका 16.3 में निर्यात वृद्धि के इस अंतराल वर्गीकरण को स्पष्ट किया गया है।

तालिका 16.3 भारत का निर्यात, आयात, व्यापार संतुलन तथा निर्यात-आयात अनुपात

(वार्षिक औसत)

क्र.सं.	अंतराल	निर्यात	आयात	व्यापार संतुलन	निर्यात/आयात
1.	1950/1 से 1954/5	604.8	702	— 97.2	0.86
2.	1955/6 से 1959/60	605.8	903.4	— 297.6	0.67
3.	1960/1 से 1964/5	718.8	1183.0	— 464.2	0.61
4.	1965/6 से 1969/70	1187.4	1797.2	— 609.6	0.65
5.	1970/1 से 1974/5	2193.2	2560.0	— 366.8	0.85
6.	1975/6 से 1979/80	5346.0	6462.6	— 1116.6	0.83
7.	1980/1 से 1984/5	8967.0	14683.0	— 5716.0	0.61
8.	1985/6 से 1988/9	14845.0	22586.7	— 7741.7	0.66

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे, 1989-90

जहां तक निर्यात की मात्रा में वृद्धि का सवाल है, इसमें 1950 के दशक में 2.9 प्रतिशत औसत वार्षिक दर से वृद्धि हुई। 1960 के दशक में 3.4 प्रतिशत और 1970 के दशक में 7.6 प्रतिशत औसत वार्षिक दर से वृद्धि हुई। 1980 में अंतर्राष्ट्रीय मंदी के दौर में वृद्धि दर में कमी आई।

आपने ध्यान दिया होगा कि निर्यात मूल्य की गणना रुपयों के आधार पर की गई है। यह गणना वर्तमान मूल्यों तथा वर्तमान विनिमय दरों पर की गई है। इससे व्यापार मूल्य में वास्तविक परिवर्तनों को समझ पाने में दो कठिनाइयाँ आती हैं। पहली कठिनाई मुद्रा-स्फीति की है। हम वर्तमान मूल्यों को समुचित मूल्य सूचकांक द्वारा अपस्फीति करके वास्तविक मूल्य निकाल कर यह समस्या सुलझा सकते हैं। दूसरी समस्या यह है कि विनिमय दर समय-समय पर बदल सकती है। 1971 तक अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली निश्चित विनिमय दर पर काम करती थी। इसलिए नीतिगत आधार पर किए गए अवमूल्यनों और अधिमूल्यनों के अलावा विनिमय दरें निश्चित रहती थीं। विनिमय दरें समान रहने पर निर्यात/आयात मूल्यों का रुपए या डॉलर में गणना करना सरल है। लेकिन विनिमय दर के अनिश्चित और प्रवहमान (Floating) रहने पर, समय-समय पर इसमें बदलाव आ सकते हैं। वे हर हफ्ते या इससे भी कम समय में बदल सकती हैं। इसलिए हमें ऐसा सांख्यिकीय तरीका निकालना होगा ताकि वर्ष भर की औसत विनिमय दर पता चल सके. हम इसे वर्ष के दौरान विनिमय दर कहेंगे।

इस समय रुपए की कीमत में गिरावट आ रही है, भारत के निर्यात को रुपए में आंकने से इसकी वास्तविक मात्रा और इसके डॉलर मूल्य का अधिमूल्यन (overestimation) हो जाता है। पिछले कुछ वर्षों से रुपयों में निर्यात मूल्य 20 प्रतिशत या इससे भी अधिक दर से बढ़ रहा है लेकिन डॉलर के आधार पर यह वृद्धि इससे काफी कम है क्योंकि डॉलर की तुलना में रुपये का मूल्य हर वर्ष गिर रहा है। 1980-81 में एक अमरीकी डॉलर करीब 9 रुपए के बराबर था, जो इस समय करीब 17 रुपए के बराबर है। तालिका 16.4 में भारत के निर्यात की प्रवृत्ति को दर्शाया गया है।

तालिका 16.4 में दिखाया गया है कि 1970-71 से 1985-86 तक भारत में निर्यात में रुपयों में सात गुने से ज्यादा वृद्धि हुई है, जबकि डॉलरों में यह वृद्धि केवल 4.5 गुनी रही है।

तालिका 16.4 : भारत के निर्यात की प्रवृतियाँ (1970-85) (वर्तमान मूल्यों तथा वर्तमान विनिमय दरों पर)

वर्ष	रुपए (करोड़ों में)	अमरीकी डॉलर (दस लाख में)
1970-71	1535.2	2,031
1975-76	4026.3	4,666
1980-81	6710.7	8,484
1985-86	11012.0	9,000

स्रोत : डी.जी.सी.आई. एंड एस. भारत सरकार कलकत्ता

अब हम तीसरी (1970-77) तथा चौथी (1978-85) अवधियों पर विस्तार से चर्चा करेंगे। 1978-85 में रुपए, डॉलर, एस.डी.आर. मूल्यों अथवा मात्रा सूचकांक–सभी आधारों पर निर्यात वृद्धि में काफी गिरावट आई। 1977-78 से 1984-85 में निर्यात की औसत वार्षिक वृद्धि दर 1970-71 से 1977-78 की अवधि की वृद्धि दर की आधी थी।

1970-71 से 1977-78 के बीच निर्यात में अभूतपूर्व वृद्धि हुई, जबकि 50 और 60 के दशक में वृद्धि बहुत कम थी।

तालिका 16.5 : निर्यात-वृद्धि की औसत वार्षिक दर (1970-85)

अवधि	निर्यात आय में वृद्धि की औसत दर		
	रुपये में	डॉलर में	एस.डी.आर.में
1970-71 से 1977-78	20.3	17.8	15.3
1984-85 से	11.0	6.1	9.4

1970-71 से 1977-78 के दौरान तीन बाह्य कारकों का निर्यात की वृद्धि पर काफी अनुकूल प्रभाव पड़ा। पहला, भारत की अधिकतर निर्यात-वस्तुओं की विश्व-भर में मांग में काफी वृद्धि हुई। दूसरा, प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में तेज वृद्धि हुई। तीसरा, तेल के मूल्य में चार गुनी वृद्धि से तेल उत्पादक देश (पेट्रोलियम–निर्यातक देशों का संगठन–ओपेक के सदस्य देशों) अचानक समृद्ध हो गए और उनकी आयात मांग बढ़ी। इस वजह से "ओपेक" देशों को भारत के कुल निर्यात का हिस्सा 1977-78 में बढ़कर 17 प्रतिशत से अधिक हो गया, जबकि 1970 के दशक के प्रारंभ में यह हिस्सा करीब 6 प्रतिशत था।

निर्यात वृद्धि के पीछे आंतरिक या घरेलू कारक भी थे। 70 के दशक के मध्य में देश में कीमत वृद्धि की तुलना में मुद्रा स्फीति की अंतर्राष्ट्रीय दर बहुत अधिक थी। जिसके परिणामस्वरूप, भारत की निर्यात-योग्य प्राथमिक वस्तुएं तथा तैयार वस्तुएं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रतिस्पर्धा में ज्यादा मज़बूती से टिक सकीं। इसके साथ ही, भारतीय उत्पादकों को घरेलू बाज़ार में वस्तुएं बेचने की बजाय निर्यात करना ज्यादा आकर्षक लगा। इस तरह, भारत के व्यापारों की अंतर्राष्ट्रीय मांग तथा दूसरी ओर आपूर्ति दोनों ही इस अवधि में बढ़ीं।

कृषि उत्पादक में वृद्धि तथा विश्व-भर में मूल्यों में तेज वृद्धि होने से प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात बढ़ा। आप जानते हैं कि अगर किसी वस्तु की मांग की तुलना में इसकी पूर्ति बढ़ती है तो घरेलू

बाज़ार में इसकी कीमत में गिरावट आती है। अगर वस्तु का अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार कीमत घरेलू कीमत से अधिक हो तो इससे निर्यात को बढ़ावा मिलता है। भारत में प्राथमिक वस्तुओं की बढ़ी हुई आपूर्ति की तुलना में घरेलू मांग में कम वृद्धि हुई। इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में भी वृद्धि न होने से कृषि आधारित घरेलू उद्योगों में भी कृषि-उत्पादों की मांग नहीं बढ़ी। इसलिए, अधिशेष उत्पादन का केवल निर्यात किया जाना ही संभव था।

इसी तरह, इस अवधि में औद्योगिक ठहराव (Stagnation) के कारण ही, भारत के निगमित क्षेत्र के पास भी पूंजी और प्रौद्योगिकी के निर्यात तथा खास तौर से विकासशील देशों में संयुक्त उद्यम लगाने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं था।

लेकिन 1977-78 से 1985-86 की अवधि में, अंतर्राष्ट्रीय स्थिति ऐसी हो गयी कि भारत की निर्यात संभावनाएं कम हो गयीं, खास तौर से 80 के दशक के प्रारंभ में। प्रथम विश्व-भर में व्यापारिक प्रवाह में करीब-करीब ठहराव आ गया। द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में वस्तुओं की कीमतें कम हुई और अंतिम तेल मूल्यों में गिरावट से विश्व बाज़ारों के आर्थिक विस्तार में गिरावट आई। इन सभी कारणों से खास तौर से 1980 के बाद, निर्यात के क्षेत्र में भारत के निर्यात-निष्पादन पर बुरा असर पड़ा।

1977-78 के बाद से ही कुछ घरेलू कारणों से भी भारत के निर्यात में गिरावट आई। 1977-78 के बाद से कृषि उत्पादन में तेजी से गिरावट आई और यह प्रवृत्ति 1982-83 तक जारी रही। इस वजह से प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात किया जा सकने वाला अधिशेष कम हो गया। इसके साथ ही देश में पूंजी लगाने की प्रवृत्ति बढ़ी तथा औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन भी बढ़ा। इससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मांग की स्थिति की तुलना में देशी बाज़ार में माल की बिक्री ज्यादा लाभप्रद लगने लगी। 70 के दशक के प्रारंभ से मध्य तक उत्पादित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि से उत्पादन लागत की अच्छी भरपाई हो गई और उत्पादन क्षमता का बेहतर इस्तेमाल हो सका था। इस तरह, घरेलू बाज़ार में कम मांग के कारण वस्तुओं की जो बड़ी मात्रा बिक नहीं सकी थी, वह निर्यात के जरिए बेची गयी।

अब हम 1985 के बाद की अवधि पर विचार करते हैं। 1980-81 से 1985-86 में निर्यात में जो ठहराव-सा आ गया था उसकी तुलना में पिछले 3 वर्षों में निर्यात में तीव्र वृद्धि हुई है। वर्ष (1989-90) में निर्यात में रिकार्ड वृद्धि की संभावना है (तालिका 16.6)। लेकिन इस अवधि में सकल घरेलू उत्पाद के संदर्भ में, निर्यात का प्रतिशत लगभग स्थिर रहा। यह सकल घरेलू उत्पाद 4.5 प्रतिशत से 5 प्रतिशत के बीच रहा।

तालिका 16.6 : निर्यात वृद्धि की दर (प्रतिशत)

वर्ष	रुपए में वृद्धि	डालर में वृद्धि
1986-87	14.3	9.4
1987-88	26.4	24.6
1988-89	28.9	15.4
1989-90 (अप्रैल-जनवरी)	37.9	18.8

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे : 1988-89 और 1989-90

1987-88 में निर्यात में वृद्धि मुख्यत: निर्मित वस्तुओं के क्षेत्र में हुई। निर्यात की कुल वृद्धि की दो-तिहाई से अधिक वृद्धि सिले-सिलाए कपड़ों, सूती वस्त्र, धागे, रसायन तथा सम्बद्ध उत्पाद, इंजीनियरी सामान, रत्न तथा जेवरात और चमड़े और चमड़े के उत्पादों के निर्यात में हुई। कृषि-आधारित वस्तुओं के निर्यात में गिरावट आई। इसके पीछे एक कारण 1987-88 का सूखा भी था।

16.3.2 निर्यात का स्वरूप

आज़ादी के समय, भारत से निर्यात होने वाली वस्तुएं इसकी अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही थीं। औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए अन्य विकासशील देशों की ही तरह, भारत का निर्यात ढांचा पारंपरिक था और इसमें कोई विविधता नहीं थी। 50 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में भारत की कुल निर्यात आय का आधे से अधिक केवल पटसन, चाय और सूती वस्त्रों के निर्यात

से प्राप्त होता था। आज़ादी के समय भारत के निर्यातों में प्रमुख हिस्सा कृषि उत्पादों तथा सामान्य निर्मित उपभोग वस्तुओं का ही था।

बहुत कम निर्यात वस्तुएं होने के कारण निर्यात की मात्रा में परिवर्तन तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मूल्यों की घट-बढ़ से निर्यात के मूल्य पर बहुत असर पड़ता है। रॉल प्रेबिस (Raul Prebisch) के अनुसार, जब औद्योगिक देश मंदी के दौर से गुज़रते हैं तो निर्मित वस्तुओं की तुलना में प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में ज्यादा गिरावट आती है। हम जानते हैं कि किसी अर्थव्यवस्था की कुल मांग (व्यक्ति-विशेष की मांग की तरह) एंजेल के वक्र (Engle's curve) के अनुसार परिवर्तित होती है। अर्थात् आय का स्तर बढ़ने पर, इसका अपेक्षाकृत ज्यादा हिस्सा निर्मित वस्तुओं तथा सेवाओं पर और अपेक्षाकृत कम हिस्सा खाद्यान्न जैसी प्राथमिक वस्तुओं यानी अनिवार्यताओं पर खर्च होता है। इस तरह, प्राथमिक वस्तुओं की माँग की आय-लोच कम होती है। इसलिए इन वस्तुओं के मूल्य को कम करके इनका निर्यात बढ़ाने के प्रयासों से निर्यात आय नहीं बढ़ाई जा सकती। इसके अलावा, कृषि क्षेत्र में, औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में, बड़े पैमाने पर उत्पादन का तथा तकनीकी प्रगति का विशेष लाभ नहीं होता। इन सब बातों को देखते हुए, 50 के दशक के मध्य में उत्पादनों के स्वरूप को बदलना और औद्योगिक क्षेत्र पर ज्यादा जोर देना ज़रूरी हो गया। इससे निर्यात वस्तुओं का स्वरूप बदला और निर्मित वस्तुओं का हिस्सा बढ़ता गया। इसी तरह, 50 के दशक में भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं का स्वरूप बदलना शुरू हुआ, 60 के दशक में इस प्रक्रिया में तेज़ी आई और निर्यात होने वाली परंपरागत वस्तुओं के स्थान पर विविध गैर-परंपरागत वस्तुएं भी निर्यात होने लगीं। 1950-51 में पांच पारंपरिक वस्तुओं—चाय, पटसन, सूती वस्त्र, चमड़ा तथा तेलों (जंतु तथा वनस्पति आदि)— से कुल निर्यात आय का 60 प्रतिशत से अधिक प्राप्त होता था। 1968-69 में इन वस्तुओं का कुल निर्यात आय में 35 प्रतिशत हिस्सा रह गया। 1956 में दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ तक गैर-परंपरागत वस्तुओं-इंजीनियरी सामान, रासायनिक वस्तुओं, लोहा और इस्पात तथा चमड़े के तैयार माल का निर्यात नहीं के बराबर था। 1968-69 में इनका हिस्सा 16 प्रतिशत हो गया और 1987-88 में यह कुल निर्यात मूल्य का 1/5 हो गया। 1956 से अब तक एक ही वस्तु के कम मूल्य वाले उत्पादों की बजाय अधिक मूल्य वाले उत्पादों के निर्यात का हिस्सा बढ़ता रहा। जैसे कि कच्चे चमड़े तथा खालों की बजाय परिष्कृत चमड़े तथा चमड़े के कारखानों में बने उत्पादों का निर्यात बढ़ा। लेकिन, एक ओर जहां भारत से निर्यात होने वाली गैर-परंपरागत वस्तुओं के निर्यात में विविधता आयी, वहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पारंपरिक वस्तुओं के निर्यात में भारत के हिस्से में गिरावट आई। भारत से निर्यात होने वाली 16 वस्तुओं में से, जिनका भारत के कुल निर्यात-मूल्य का दो-तिहाई हिस्सा है, केवल लौह अयस्क के मामले में ही विश्व-भर के निर्यात में भारत के निर्यात का हिस्सा 50 के दशक की तुलना में बढ़ा। चाय, सूती वस्त्र, पटसन के उत्पादों जैसी सात वस्तुओं के निर्यात के हिस्से में गिरावट आई।

तालिका 16.7 में विश्व-भर के निर्यात में भारत की उन निर्यात वस्तुओं का हिस्सा दिखाया गया है जिनके हिस्से में 1970 से 1986 के बीच महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं

तालिका 16.7 : विश्व-भर के कुल निर्यात में भारत का हिस्सा (कुछ चुनी हुई वस्तुओं के लिए)

क्र. सं.	वस्तु	भारत का हिस्सा (प्रतिशत)	
		1970	1980
1.	चाय और पटसन	33.4	16.3
2.	मसाले	20.5	15.5
3.	लौह अयस्क और कंसंट्रेट	6.7	8.5
4.	चमड़ा	13.4	5.5
5.	मोती, बहुमूल्य रत्न	2.2	10.0
6.	धागा, वस्त्र, मेक-अप वस्तुएं तथा सम्बद्ध वस्तुएं	4.1	1.7

स्रोत : इंटरनेशनल ट्रेड स्टेटिस्टिक्स इयर बुक : युनाइटेड नेशंस 1986 ; हैंड बुक ऑफ इंटरनेशनल ट्रेड एंड डेवलपमेंट स्टेटिस्टिक्स - 1987 सप्लीमेंट (अंकटाड)

इस तरह, भारत ने चाय, पटसन और वस्त्रों के अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में अपना बड़ा हिस्सा खोया है। पटसन के मामले में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में भारत, बंगलादेश से पिछड़ गया। चीन, हांगकांग, कोरिया तथा ताइवान आदि जैसे विकासशील देश वस्त्र निर्यात करने वाले देशों के रूप में आगे निकल गए हैं। चाय-निर्यातक देशों में श्रीलंका एक महत्वपूर्ण प्रतिस्पर्धी देश बन रहा है।

इस समय, भारत तराशे गए मोती तथा नकली कीमती पत्थर का निर्यात कर काफी विदेशी मुद्रा कमा रहा है। लेकिन वस्तुओं में निवल वृद्धि कम है। ये वस्तुएँ भारत में उत्पन्न नहीं होती वह तो इन्हें केवल तैयार करके बेचता है।

तालिका 16.8 और 16.9 भारत के निर्यात का स्वरूप दर्शाती हैं।

तालिका 16.8 : भारत के निर्यात का स्वरूप

(करोड़ रुपयों में)
(कोष्ठकों के आंकड़े प्रतिशत बताते हैं)

क्र. सं.	वस्तु	1970-71	1980-81	1986-87
I.	कृषि तथा सम्बद्ध उत्पाद	487 (31.7)	2057 (30.6)	3422 (27.5)
II.	अयस्क तथा खनिज (कोयले को छोड़कर)	164 (10.7)	414 (6.2)	717 (5.8)
III.	निर्मित वस्तुएं	772 (50.3)	3747 (55.8)	7808 (62.7)
IV.	खनिज ईंधन तथा स्नेहक (लुब्रिकेंट) (कोयले सहित)	13 (1.1)	28 (0.5)	418 (3.3)
V.	अन्य	99 (6.2)	465 (6.9)	87 (0.7)
	कुल	1535 (100.0)	6711 (100.0)	12452 (100.0)

तालिका 16.9 : पिछले कुछ वर्षों में भारत के निर्यात का स्वरूप

(प्रतिशत में)

क्र.सं.	वस्तु	1986-87	1987-88	1988-89
1.	कृषि पर आधारित उत्पाद	19.4	14.9	12.0
2.	समुद्री उत्पाद	4.3	3.3	3.1
3.	अयस्क तथा खनिज	5.8	4.5	5.0
4.	सिले-सिलाए वस्त्र	10.7	11.4	10.3
5.	चमड़ा तथा चमड़े से बनी वस्तुएं	7.4	7.3	7.3
6.	रत्न तथा जेवरात	16.7	10.6	21.7
7.	रासायनिक पदार्थ	4.7	5.2	7.6
8.	इंजीनियरी सामान	9.1	9.1	11.4
9.	खनिज ईंधन तथा स्नेहक (लुब्रिकेंट)	9.4	4.2	2.8
10.	अन्य	18.6	23.5	18.7
	कुल	100.0	100.0	100.0

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे, 1989-90

पिछले तीन वर्षों में रसायनों तथा सम्बद्ध उत्पादों, चमड़े तथा चमड़े से बनी वस्तुओं और रत्नों तथा जेवरात का अच्छा निर्यात हुआ। इन तीन वर्गों की वस्तुओं के निर्यात में 1987-88 में 1986-87 वर्ष की तुलना में क्रमश: 41.2 प्रतिशत, 24.5 प्रतिशत और 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परियोजनाओं और सेवाओं के क्षेत्र में भी भारत से निर्यात की अच्छी संभावनाएं हैं। ये संभावनाएं निर्माण, सिविल इंजीनियरी, औद्योगिक टर्नकी (Turnkey) परियोजनाओं और सलाहकार सेवाओं में हैं। सत्तर के दशक के प्रारंभ में तेल की कीमतों में वृद्धि के बाद पश्चिम एशिया के तेल-उत्पादक देशों में निर्माण परियोजनाओं की संभावनाएं बहुत बढ़ गई थीं। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में "ओपेक" देशों की तेल से प्राप्त आय में गिरावट, खाड़ी तथा अफ्रीकी देशों में कड़ी प्रतिस्पर्धा, ईरान-इराक युद्ध तथा अनेक अफ्रीकी देशों को विदेशी मुद्रा की गंभीर समस्याओं के कारण निर्माण परियोजना में कमी आयी है। लेकिन भारत उन क्षेत्रों में अपना निश्चित स्थान

बनाने की कोशिश कर रहा है जिनमें ऊंचे दर्जे की प्रौद्योगिकी की जरूरत नहीं, परियोजनाएँ अपेक्षाकृत छोटी और श्रम-प्रधान होती हैं। हालांकि इसके अपवाद भी हैं।

16.3.3 निर्यात की दिशा

तालिका 16.10 में विभिन्न देशों को भारत का निर्यात दिखाया गया है।

तालिका 16.10 : विभिन्न देशों को भारत का निर्यात का प्रतिशत वितरण

क्र.सं.	देश	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1987-88
1.	अमरीका	18.5	16.0	13.5	11.0	18.5
2.	ब्रिटेन	22.4	26.9	11.1	5.9	6.6
3.	पश्चिम जर्मनी	1.7	3.1	2.1	5.7	6.7
4.	जापान	1.6	5.5	13.2	8.9	10.3
5.	सोवियत संघ	0.2	4.5	13.7	18.3	12.5
6.	अन्य देश	55.6	44.0	46.4	50.2	45.4
	कुल	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

स्रोत : i) बेसिक स्टैटिस्टक्स रिलेटिंग टू द इंडियन इकॉनामी : योजना आयोग, 1969 और 1984

ii) इकॉनॉमिक सर्वे : 1988-89 और 1989-90

1964-65 तक ब्रिटेन भारत के उत्पादों का सबसे बड़ा खरीदार था। 1965-66 में, पहली बार अमरीका ब्रिटेन से आगे निकल गया। 1970 के दशक में सोवियत संघ और जापान भारत के माल के महत्वपूर्ण खरीदारों के रूप में उभरे। इस तरह, ब्रिटेन द्वारा किए जाने वाले आयात का हिस्सा कम हुआ और जापान तथा पश्चिम जर्मनी का हिस्सा बढ़ा। सबसे ज्यादा वृद्धि सोवियत संघ को निर्यात में हुई। 1950-51 में कुल भारतीय निर्यात में सोवियत संघ का हिस्सा 0.2 प्रतिशत था, जबकि 1980-81 में यह 18.3 प्रतिशत हो गया और भारतीय वस्तुओं के आयातकों में सोवियत संघ का पहला स्थान हो गया। 1986-87 से भारतीय वस्तुओं के आयातकों में अमरीका का स्थान पहला हो गया।

तालिका 16.11 : भारतीय निर्यात की (पिछले कुछ वर्षों में) दिशा

		वर्ष			
क्र. सं.	देश	1985-86	1986-87	1987-88	1988-89
1.	संयुक्त राज्य अमरीका (यू.एस.ए.)	18.1	18.7	18.5	18.4
2.	जापान	10.7	10.7	10.3	10.7
3.	अन्य ओ.ई.सी.डी. देश	4.3	4.8	4.9	4.8
4.	ब्रिटेन (यू.के.)	4.8	5.6	6.6	5.7
5.	पश्चिम जर्मनी	4.7	5.9	6.7	6.1
6.	यूरोपीय आर्थिक समुदाय (ई.ई.सी) के अन्य सदस्य देश	8.2	10.5	11.8	12.5
7.	सोवियत संघ	18.4	15.0	12.5	12.9
8.	पूर्वी यूरोप के अन्य देश	2.6	4.2	4.0	3.7
9.	तेल निर्यातक देश "ओपेक"	7.7	6.2	6.2	6.0
10.	गैर-ओपेक विकासशील देश	14.1	15.0	14.2	16.6
11.	अन्य देश	16.4	3.3	4.3	2.7
	कुल	100.00	100.00	100.00	100.00

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे, 1988-89 और 1989-90

तालिका 16.11 से स्पष्ट होता है कि इस समय भारत के निर्यात का करीब 80 प्रतिशत विकसित देशों को किया जाता है। भारतीय वस्तुओं के प्रमुख आयातकों में अमरीका सबसे आगे है। इसके बाद सोवियत संघ तथा जापान का स्थान है। औपनिवेशिक शासन के दौरान तथा आज़ादी मिलने तक ब्रिटेन भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार था। लेकिन इस समय भारत के निर्यात में उसका हिस्सा मात्र 5 प्रतिशत है। तालिका 16.12 में विभिन्न क्षेत्रों के लिए भारत का निर्यात दिखाया गया है।

तालिका : 16.12 : भारत के निर्यात का क्षेत्रवार विवरण

(करोड़ रुपयों में)

		1978-79		1980-81		1988-89	
		निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात
I	ओ.ई.सी.डी.	769	1042	3126	5740	11813	17115
		(50.0)	(63.8)	(46.6)	(45.7)	(58.2)	(60.7)
II	तेल निर्यातक देश (ओपेक)	98	125	745	3488	1209	3793
		(6.4)	(7.6)	(11.1)	(27.8)	(6.0)	(13.4)
III	पूर्वी यूरोप	323	220	1486	1296	3356	1947
		(21.0)	(13.5)	(22.1)	(10.3)	(16.5)	(6.9)
IV	विकासशील देश	305	239	1286	1966	3361	5325
		(19.9)	(14.6)	(19.2)	(15.7)	(16.5)	(18.9)
V	अन्य	40	8	68	59	556	14
		(2.7)	(0.5)	(1.0)	(0.5)	(2.7)	(0.1)
	कुल	1535	1634	6711	12549	20295	28194
		(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)	(100.0)

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे, 1989-90

टिप्पणी : ओ.ई.सी.डी. का तात्पर्य आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन (Organisation for Economic Co-operation and Development) से है। अमरीका, कनाडा तथा पश्चिम यूरोप के कुछ देश इसके सदस्य हैं।

बोध प्रश्न 1

1 भारत के निर्यात को प्रभावित करने वाले देशी तथा अंतर्राष्ट्रीय कारकों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 क्या आप सोचते हैं कि आज़ादी के बाद नियोजित विकास के दौरान भारत के निर्यात के मूल्य, स्वरूप और दिशा में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है।

.....

.....

.....

.....

16.4 भारत के आयात का मूल्य, स्वरूप तथा स्रोत

भारत ने, खास तौर से दूसरी पंचवर्षीय योजना से, पूंजी प्रधान औद्योगीकरण नीति अपनाई है, जो उसके आयात से भी परिलक्षित होती है। आज़ादी के समय, भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। आप जानते हैं कि आमतौर पर औद्योगीकरण या तो बिल्कुल नीचे से शुरू हो सकता है या सीधे शिखर से। ब्रिटेन और सोवियत संघ औद्योगीकरण के इन दो तरीकों के उदाहरण हैं। ब्रिटेन ने हल्की उपभोक्ता वस्तुओं से औद्योगीकरण की शुरुआत की, जिसमें ज्यादा पूंजी या कौशल की आवश्यकता नहीं होती। इसके पश्चात वह अधिक पूँजी और कौशल वाले निवेश माल की ओर उन्मुख हुआ। दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान भारत ने सोवियत संघ जैसी औद्योगिक नीति अपनाई जो महालनोबिस मॉडल पर आधारित थी। लेकिन बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के लिए पूंजीगत वस्तुओं, कच्चे माल, प्रौद्योगिकी तथा तकनीकी विशेषज्ञों का आयात ज़रूरी हो गया जो देश में उपलब्ध नहीं थे। इस तरह आयात-निर्भर होने के भारत के प्रयासों में ही यह विरोधाभास रहा कि इन प्रयासों ने उसे कम से कम शुरू के दौर में आयात के लिए दूसरे देशों पर निर्भर बना दिया। यह उम्मीद थी कि दीर्घकाल में भारत न केवल आत्मनिर्भर हो जाएगा बल्कि देशी प्रौद्योगिकी तथा पूंजी उन विकासशील देशों को भी दे सकेगा, जिनके आर्थिक विकास का स्तर भी भारत जैसा ही अथवा उससे भी कम है।

प्रारंभ में भारत की आयात-वस्तुओं का स्वरूप कुल मिलाकर सरकार की आर्थिक नीतियों की प्राथमिकताओं के अनुरूप ही रहा। 50 तथा 60 के दशक में विलासिता वाली उपभोक्ता वस्तुओं को प्राथमिकता नहीं दी गई थी और इनका आयात करीब-करीब प्रतिबंधित था या इन पर भारी तटकर लगता था ताकि इनके आयात को प्रोत्साहन न मिले। सूखे वाले वर्षों में खाद्यान्न के अलावा किसी भी उपभोक्ता वस्तु का बड़े पैमाने पर आयात नहीं किया गया।

16.4.1 आयात का मूल्य

तालिका 16.2 में 1951-88 की अवधि में भारत के आयातों का मूल्य दिया गया है। इसमें 1960-82 की अवधि में आयात का मात्रा सूचकांक और उस का इकाई मूल्य भी दिया गया है। तालिका 16.3 में पांच-पांच वर्षों की अवधि के लिए वार्षिक औसत आयात दिया गया है। इसमें व्यापार घाटा भी दिखाया गया है। आयातों का मूल्य वर्तमान मूल्यों और वर्तमान विनिमय दरों पर है। आयात की मात्रा और इकाइयों के मूल्यों के सूचकांकों के लिए आधार वर्ष 1980 रखा गया है। आयात की मात्रा के सूचकांक से स्पष्ट होता है कि आयातों का मूल्य 1960-82 की अवधि में दुगने से अधिक हो गया। 1960-80 अवधि में इकाई मूल्य सूचकांक अर्थात् आयात मूल्य सूचकांक, निर्यात मूल्य सूचकांक की तुलना में तेजी से बढ़ा। इसका तात्पर्य है कि इस अवधि में आयातित वस्तुओं के लिए निर्यात की क्रय शक्ति में कमी आई।

मोटे तौर पर 1964 से पहले आयातों में वृद्धि के कारण 1978 के बाद की आयात वृद्धि के कारणों से भिन्न हैं। 1955-65 की अवधि में आयात-प्रतिस्थापन के कारण बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के लिए आयात किया गया। इसलिए बड़े पैमाने पर कच्चा माल, पूंजीगत वस्तुओं तथा प्रौद्योगिकी का आयात किया गया, ताकि औद्योगीकरण की प्रक्रिया चल पड़े। लेकिन 1978 के बाद धीरे-धीरे आयात-नीति उदार बनाई गई, 80 के दशक के मध्य में उदारता की नीति और प्रबल हो गई। इसके अलावा 1966 के रुपये के अवमूल्यन से प्रभावित नीति के अतिरिक्त कुछ बाह्य कारकों, जैसे 1966-67 के दौरान पड़े सूखे और 1973 और 1979 में कच्चे पेट्रोलियम के मूल्यों में भारी वृद्धि से रुपयों में आयात के मूल्य में वृद्धि हुई।

16.4.2 आयातों का स्वरूप

तालिका 16.13 में कुछ वस्तुओं के आयात का मूल्य और विभिन्न वर्षों में इनके बदलते स्वरूप को दिखाया गया है।

तालिका 16.13 : भारत की चुनी हुई आयातित वस्तुओं का मूल्य

(करोड़ रुपयों में)

		1950-51	1960-61	1973-74	1983-84	1987-88
क)	कृषि तथा सम्बद्ध उत्पाद	219.3	299.15	652.24	1865.28	उपलब्ध नहीं
ख)	खनिज उत्पाद	2.20	22.73	442.69	4749.15	4082.7*
ग)	हल्के निर्मित उत्पाद	11.58	24.92	51.60	249.29	उपलब्ध नहीं
घ)	अन्य निर्मित उत्पाद	304.40	674.01	1572.12	5428.52	उपलब्ध नहीं
च)	मोती, बहुमूल्य तथा बहुमूल्य अर्द्ध रत्न	0.57	0.98	74.01	1082.38	1994.2
छ)	सूचित वस्तुओं का योग	537.88	1021.87	2792.66	13344.62	--
ज)	अन्य	112.33	117.82	162.62	2002.69	—
झ)	कुल आयात	650.21	1139.69	2955.37	15347.31	22399.0

*इसमें केवल पेट्रोलियम तेल तथा स्नेहक (लुब्रिकेंट) शामिल हैं।

अब हम विभिन्न वर्षों में विभिन्न वस्तुओं के आयातों के स्वरूप के परिवर्तन की चर्चा करेंगे।

कृषि तथा सम्बद्ध उत्पाद

इस वर्ग में अनाज, काजू, खजूर, कच्चा रबर, कच्चा कपास, कच्ची ऊन और गैर-आवश्यक वनस्पति तेल शामिल हैं। 50 के दशक में इस वर्ग के आयातों में प्रमुख, कच्चा कपास तथा अनाज (खास तौर से गेहूं) थे। बाद में कच्चे कपास के आयात में कमी तथा अनाज के आयात में वृद्धि हुई। 1947 में विभाजन के बाद कपास उत्पादक क्षेत्र तत्कालीन पश्चिमी पाकिस्तान में चले गए। धीरे-धीरे भारत में देश में ही कपास पैदा की जाने लगी। लेकिन खाद्यान्न के मामले में भारत को आयात पर निर्भर रहना पड़ा, खास तौर से 60 के दशक के मध्य में सूखे वाले वर्षों के दौरान। पिछले कुछ वर्षों में, भारत खाद्यान्न के आयात पर बहुत कम निर्भर है, इसलिए कुछ अर्थशास्त्री कहने लगे हैं कि भारत खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है। लेकिन सभी को भोजन की न्यूनतम मात्रा में आवश्यक कैलोरी प्रदान करने की दृष्टि से भारत खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की मंज़िल से काफी दूर है। मांग की कमी तथा क्रय शक्ति की कमी इसके कारण हैं। 70 के दशक के प्रारंभ से भारत की खाद्य तेलों, वनस्पति तथा जंतु तेलों के आयात पर निर्भरता बढ़ी है। 1970-71 में भारत ने 23.1 करोड़ रुपए का खाद्य तेल आयात किया। 1980-81 में यह आयात 682.9 करोड़ तथा 1987-88 में 920.0 करोड़ हो गया। लेकिन इन आंकड़ों के विश्लेषण में हमें एक सावधानी रखनी होगी। ये आंकड़े वर्तमान मूल्य तथा विनिमय दरों पर आधारित हैं और इन दोनों आधारों पर आयात की मात्रा का अधिक आकलन हो जाता है। फिर भी, हम देखते हैं कि 60 के दशक के अंत तक खाद्य तेलों का महत्व नगण्य था, जबकि 1987-88 में कुल आयात का 4.5 प्रतिशत खाद्य तेलों का था।

खनिज उत्पाद

60 के दशक के मध्य तक खनिज उत्पादों का हिस्सा कुल आयात के 3.4 प्रतिशत से कम था। 1983-84 तक यह कुल आयात का 30 प्रतिशत तक हो गया। इस वर्ग का सबसे महत्वपूर्ण आयात कच्चा तथा कुछ परिष्कृत पेट्रोलियम है। औद्योगीकरण से बड़ी ऊर्जा की ज़रूरत, ऊर्जा संरक्षण तथा इसके कारगर इस्तेमाल का अभाव, ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत न तलाश कर पाना तथा इन सबसे बढ़कर कच्चे पेट्रोलियम के मूल्य में 1973 में चार गुनी तथा 1979 में दो गुनी वृद्धि, ऊर्जा के क्षेत्र में हमारी दयनीय स्थिति के मुख्य कारण हैं। आप ई.ई.सी.-02 के खंड-3 की इकाई 6 में इस बारे में पढ़ चुके हैं। 1950-51 में भारत, पेट्रोलियम का आयात नहीं करता था। 1970-71 में यह आयात 136.6 करोड़ रुपए मूल्य का और 1981 में 5266.5 करोड़ रुपए मूल्य का हो गया। 1987-88 में यह कम होकर 4082.7 करोड़ रुपए का हुआ लेकिन 1988-89 में यह

फिर 5000 करोड़ रुपए से ज्यादा हो गया। इस तरह 70 के दशक में कच्चे पेट्रोलियम के आयात में सर्वाधिक वृद्धि हुई। छठी पंचवर्षीय योजना में नये तेल क्षेत्रों की खोज से ऊर्जा के मामले में स्थिति अनुकूल रही, लेकिन सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान पेट्रोलियम के किसी महत्वपूर्ण क्षेत्र की खोज नहीं हुई। इसलिए 80 के दशक के अंत में पेट्रोलियम की कीमतें बढ़ती रहीं। लेकिन तेल निर्यातक देशों के कार्टेल (ओपेक) के करीब-करीब टूट जाने से तेल के मूल्यों पर दबाव कम हुए।

हल्के निर्मित उत्पाद

हल्के निर्मित उत्पादों का आयात में महत्वपूर्ण हिस्सा नहीं है। इस अवधि में इनका हिस्सा 8 प्रतिशत से अधिक कभी नहीं रहा। इनमें कागज़, गत्ते के बोर्ड, लुगदी, वेस्ट पेपर, छपी सामग्री और रबर उत्पाद शामिल हैं।

अन्य निर्मित उत्पाद

इनमें पेट्रोलियम उत्पाद, रसायन तथा सम्बद्ध उत्पाद, धातुकर्म संबंधी उत्पाद, धातु उत्पाद, मशीनें शामिल हैं। रसायन तथा सम्बद्ध उत्पादों में रंगाई का सामान, दवाई तथा फार्मेसी के उत्पाद, उवर्रक, कृत्रिम प्लास्टिक पदार्थ, रासायनिक तत्व तथा यौगिक आदि शामिल हैं। इनमें से उर्वरक तथा रसायन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। धातुकर्म संबंधी उत्पादों में लोहा और इस्पात प्रमुख हैं। ये सभी वस्तुएँ भारत सरकार के "आर्थिक सर्वेक्षण" (इकॉनॉमिक सर्वे) में "मध्यवर्ती निर्मित माल" (इंटरमीडिएट मैन्यूफैक्चर्स) वर्ग में रखी गई हैं, क्योंकि ये ऐसे माध्यमिक आदान हैं जो अंतिम उत्पाद के लिए आवश्यक होते हैं। धातु उत्पाद तथा मशीनें पूँजीगत माल की श्रेणी में आते हैं। मशीनें (बिजली के तथा बिना बिजली के) 1950-51 में हमारे कुल आयात का 12 प्रतिशत तथा 1987-88 में 18 प्रतिशत रहीं।

मोती, बहुमूल्य तथा अर्द्ध बहुमूल्य रत्न

इस वर्ग के आयात में 1980-81 से 1987-88 के बीच 5 गुना वृद्धि हुई। बिना तराशे हीरों का आयात कर उनको तराश कर, उनका निर्यात किया जाता है। इन उत्पादों के इस तरह निर्यात से मूल्य में प्रति इकाई वृद्धि अधिक नहीं होती, परन्तु भारत में इसके बड़े पैमाने पर निर्यात की बड़ी क्षमता है।

1988-89 में भारत के आयातों का स्वरूप

तालिका 16.14 में 1988-89 में भारत के आयातों का स्वरूप दिया गया है। इस तालिका से इस समय आयातित वस्तुओं का तुलनात्मक महत्व का पता चलता है।

तालिका 16.14 : भारत के आयातों का स्वरूप

(प्रतिशत में)

क्र.सं.	वस्तु	1988-89
1.	पेट्रोलियम तेल और लुब्रिकेंट	15.5
2.	पूंजीगत वस्तुएँ	24.6
3.	खाद्य तेल	2.6
4.	अनाज तथा अनाज से बनी वस्तुएं	2.2
5.	मोती, कीमती तथा अर्द्ध बहुमूल्य रत्न (तराशे तथा बिना तराशे)	11.3
6.	उर्वरक तथा उर्वरक पदार्थ	3.3
7.	लोहा तथा इस्पात	6.9
8.	रासायनिक पदार्थ	6.9
9.	अलौह धातुयें	2.8
10.	अन्य पदार्थ	24.0
	कुल	100.00

* इनमें धातु उत्पाद, मशीनरी (बिजली की मशीनों सहित), परिवहन सामग्री तथा परियोजना वस्तुएं शामिल हैं।

16.4.3 आयात के स्रोत

तालिका 16.15 : भारत के आयातों के स्रोत

विभिन्न देशों से किए गए आयात व्यापार का प्रतिशतवार विवरण

क्र.सं.	देश	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1987-88
1.	संयुक्त राज्य अमरीका (U.S.A)	18.3	29.2	27.2	12.1	९.७
2.	ब्रिटेन	20.8	19.0	7.8	5.8	8.1
3.	पश्चिम जर्मनी	1.6	10.9	6.6	5.5	9.7
4.	ईरान	5.7	2.7	5.6	10.6	0.5
5.	सोवियत संघ	—	1.4	6.4	8.0	5.7

स्रोत : i) बेसिक स्टैटिस्टिक्स रिलेटिंग टू द इंडियन इकॉनॉमी : योजना आयोग, 1969 और 1986
ii) इकॉनॉमिक सर्वे, 1988-89.

आज़ादी से पहले, भारत के आयात के स्रोत तथा दिशा भारत की रुचि या प्राथमिकता से नहीं, बल्कि ब्रिटेन के साथ औपनिवेशिक संबंधों से जुड़े थे। 1950-51 में भारत के कुल आयात में ब्रिटेन का हिस्सा 20.8 प्रतिशत और अमरीका का 18.3 प्रतिशत था (तालिका 16.3)। इस तरह कुल आयात का करीब चालीस प्रतिशत इन दो देशों से आता था। धीरे-धीरे भारत के आयात के स्रोतों में विविधता आयी। पश्चिम जर्मनी, कनाडा, सोवियत संघ जैसे देश नये व्यापारिक साझीदार बने। नियोजित विकास की ज्यादातर अवधि में सर्वाधिक आयात अमरीका से होता रहा। सत्तर के दशक के प्रारंभ तक ब्रिटेन का स्थान दूसरा रहा। लेकिन 80 के दशक में सोवियत संघ, अमरीका, जापान और पश्चिमी जर्मनी पहले स्थान के लिये दावेदार रहे। 1983-84 में अमरीका का सर्वाधिक 11.5 प्रतिशत हिस्सा रहा। इसके बाद क्रमशः सोवियत संघ (10.9 प्रतिशत), जापान (9.6 प्रतिशत), ब्रिटेन (7.6 प्रतिशत) तथा पश्चिम जर्मनी (7.6 प्रतिशत) का स्थान रहा। आयातक देशों की विविधता से किसी एक या दो देशों के आयातों पर हमारी निर्भरता कम हुई। इससे भारत की मोलभाव की क्षमता बनती है और वह ज्यादा प्रतिस्पर्धात्मक आधार पर आयातित वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। 60 के दशक में अमरीकी आयातों पर निर्भरता भी निर्यातक देश की स्रोत से जुड़ी सहायता के कारण थी। अमरीका ने पी.एल-480 कार्यक्रम के अंतर्गत भारत को ऋण पर खाद्यान्न दिए। इसकी शर्त यह थी कि भारत अन्न अमरीका से आयात कर सकता था भले ही वह माल अन्य देशों से महंगा ही क्यों न मिल रहा हो। स्रोत से जुड़ी सहायता का एक परिणाम यह भी होता है। तालिका 16.15 और तालिका 16.16 में भारत के विभिन्न देशों से आयात का तुलनात्मक विवरण दिया गया है।

तालिका 16.16 : पिछले कुछ वर्षों में भारत के आयात के स्रोत

(प्रतिशत में)

क्र.सं.	देश	वर्ष 1986-87	1987-88	1988-89
1.	संयुक्त राज्य अमरीका (U.S.A)	9.7	9.0	11.3
2.	जापान	12.7	9.5	9.3
3.	अन्य ओ.ई.सी.डी. देश	9.4	8.0	5.5
4.	सोवियत संघ	5.0	5.7	4.5
5.	अन्य पूर्वी यूरोपीय देश	2.0	2.3	2.4
6.	पश्चिम जर्मनी	9.6	9.7	8.8
7.	ब्रिटेन	8.1	8.1	8.5
8.	यूरोपीय आर्थिक समुदाय के अन्य सदस्य देश	14.8	15.4	17.3
9.	"ओपेक" देश	9:6	14.8	13.5
10.	"ओपेक" के अलावा अन्य विकासशील देश	18.5	17.3	18.9
	कुल	100.0	100.0	100.0
	कुल आयात (करोड़ रुपए में)	20201	22399	28194

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि 1988-89 में जापान, संयुक्त राज्य अमरीका, पश्चिम जर्मनी, ब्रिटेन और सोवियत संघ भारत के इसी क्रम में प्रमुख व्यापारिक साझीदार थे। लेकिन पिछले वर्षों के आंकड़ों से पता चलता है कि व्यापार में विभिन्न देशों का स्थान उनसे प्राप्त आयातित वस्तुओं की प्रकृति तथा आयात की शर्तों के अनुसार बदलता रहा। ऊर्जा के आयात की बढ़ती मांग के कारण तेल-निर्यातक (ओपेक) देशों—खासतौर से सऊदी अरब, ईरान तथा इराक से भारत को होने वाला आयात 1970-71 के 7.7 प्रतिशत से बढ़कर 1988-89 में 13.9 प्रतिशत हो गया।

बोध प्रश्न 2

1 क्या आप सोचते हैं कि स्वतंत्रता के बाद नियोजित विकास के दौर में भारत के आयात के मूल्य, स्वरूप तथा स्रोतों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 आयात के स्रोतों में और ज्यादा विविधता होने से भारत को क्या लाभ होंगे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

16.5 भारत की विदेश व्यापार नीति

भारत ने अपने नवोदित उद्योगों को अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के खतरों से बचाने के लिए तटकर की दीवारें खड़ी की हैं। आप जानते हैं कि तटकर (Tariff) से आयातित वस्तुओं की घरेलू कीमतें बढ़ जाती हैं और स्वदेशी बाज़ार में उपभोक्ता इन महंगी वस्तुओं को कम खरीदना चाहते हैं। इस तरह मुद्रा-अवमूल्यन की तरह ही, तटकर से भी आयातित वस्तुओं की बजाय स्वदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ायी जा सकती है। लेकिन अवमूल्य के विपरीत, तटकर से सरकार को राजस्व भी प्राप्त होता है। यह राजस्व सीमा शुल्क (Custom Duty) के अप्रत्यक्ष कर के रूप में होता है। मुद्रा के अवमूल्यन से सभी आयातित वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है, जबकि तटकर से केवल उन आयातित वस्तुओं का ही मूल्य बढ़ता है, जिन पर यह कर लगाया गया है। भारत में, आमतौर पर, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं पर तटकर लगाया जाता है, जिन्हें विलासिता की वस्तुएं समझा जाता है। उन वस्तुओं पर भी तटकर लगाया जाता है जिनका विकल्प देश में मौजूद हो। कुछ वस्तुओं पर इतना ज्यादा तटकर निर्धारित किया जाता है कि इनकी प्रभावी मांग ही समाप्त हो जाती है। ऐसे तटकर को "निषेधात्मक तटकर" कहते हैं।

तटकर अंतिम उत्पाद या माध्यमिक उत्पाद, दोनों पर लगाया जा सकता है, जिससे वस्तु के मूल्य में सीधे वृद्धि हो जाती है। मान लें, यह माध्यमिक वस्तु किसी घरेलू उपभोक्ता या निवेश वस्तु के उत्पादन का निश्चित आदान है। स्पष्ट है कि इस पर तटकर का असर अंतिम उपभोक्ता या निवेश वस्तु पर पड़ेगा और उसके मूल्य में भी वृद्धि होगी। यह वस्तु घरेलू बाज़ार के लिए भी उत्पादित हो सकती है, निर्यात के लिए भी। अगर इसका उत्पादन अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के लिए है तो उत्पादन के लिए इसकी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा झेलनी कठिन होगी क्योंकि उसे विदेशी बाज़ार में टिके रहने के लिए इस वस्तु को कम मूल्य पर बेचना होगा। इसलिए उत्पादक को पूरी तरह

स्वदेशी बाज़ार के लिए ही उत्पादन करना पड़ेगा ताकि वस्तु की ज्यादा लागत के बावजूद वह अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा से बचा रहे।

भारत सरकार तटकर के अलावा आयात का कोटा भी निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए विदेशों से आयात की जा सकने वाली कारों या ट्रैक्टरों की संख्या का भी कोटा निर्धारित किया जा सकता है। विभिन्न एजेंसियों या कंपनियों को कोटे का निर्धारण "पहले आओ पहले पाओ" (फर्स्ट कम, फर्स्ट सर्व) के आधार पर किया जा सकता है। इससे पंक्तिबद्धता की प्रवृत्ति बनती है। कोटा निर्धारण हमारी योजनाओं की प्राथमिकताओं के अनुरूप होना चाहिए। भारत में विदेशी मुद्रा की कमी रहती है और अकसर इसका राशन करना पड़ता है। अकसर, आयात की जा सकने वाली वस्तु का वर्ग, प्रकार और विशिष्ट (specification) भी कोटे द्वारा निर्धारित होता है। कोटे के परिमाणात्मक बंधनों को लागू करने के लिए, बड़े नौकरशाही तंत्र और प्रशासनिक प्रणाली की आवश्यकता होती है। इससे अकसर भ्रष्टाचार तथा आयातित वस्तुओं की प्राप्ति में देरी को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार, आयात पर रोक लगाने वाली व्यवस्था का भारतीय निर्यातों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता पर बुरा असर पड़ता है। इसीलिए 1950 तथा 1960 के दशक के अनेक अर्थशास्त्रियों का मत था कि भारतीय अर्थव्यवस्था अंतर्मुखी है और इसमें आयात प्रतिस्थापन को बढ़ावा मिलता है। निश्चय ही यह बहिर्मुखी और निर्यात को बढ़ावा देने वाली नहीं थी। विरोधाभास यह है कि आयात प्रतिस्थापन से बड़े पैमाने पर पूंजीगत वस्तुओं, कच्चे माल आदि का आयात आवश्यक हो जाता है। यह महसूस किया गया कि जब तक निर्यात में तीव्र वृद्धि नहीं होती, आत्म-निर्भरता (self-reliance) का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए तीसरी पंचवर्षीय योजना से निर्यात-संवर्धन को उच्च प्राथमिकता दी जाने लगी जबकि पहले इसे महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था। लेकिन 60 के दशक के मध्य से भारत की विदेश व्यापार नीति में समुचित योजना की बजाय तात्कालिक निर्णयों का बोलबाला हो गया। फसलों के अच्छी न होने और लगातार सूखे की स्थितियों के कारण दीर्घकालीन दृष्टिकोण का ध्यान रखे बिना अल्पकालिक उपाय करने पड़े।

हमारी घरेलू आर्थिक नीति का यह आकलन, कुल मिलाकर 70 के दशक के मध्य तक के तथ्यों के अनुरूप है। 70 के दशक के मध्य में भारत ने धीरे-धीरे अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बनाना शुरू किया। औपनिवेशिक अतीत के हमारे अनुभवों के कारण हमारे योजनाकारों को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थितियों की चिंता बनी रही। इसीलिए आर्थिक आत्मनिर्भरता को सर्वाधिक महत्व दिया गया। लेकिन आत्मनिर्भरता का अर्थ अपने में सीमित रहना ही नहीं माना गया। मज़बूत आर्थिक आधार बनाने के लिए आयात जरूरी समझे गए परन्तु विदेशी सहायता पर ज्यादा निर्भरता को ऐसा कारक माना गया जिससे भारत के उन विकसित देशों पर आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से निर्भर हो जाने की आशंका बनती है जिनकी अतीत में साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां रही थीं। इसलिए ज़रूरी आयातों के वास्ते धन जुटाने के लिए निर्यात भी ज़रूरी समझे गए। लेकिन आयात नीति (जिसकी संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है) ऐसी थी कि इससे निर्यात-वस्तुओं की कीमतें बढ़ती थीं, जिससे अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में भारतीय वस्तुओं की स्थिति कमजोर होती थी और निर्यात को बढ़ावा नहीं मिल पाता था। इसलिए उत्पादनों और बाज़ार के विकास को बढ़ावा देने के लिए निर्यात संवर्धन नीति बनाई गई। इसकी मुख्य विशेषताएं शुल्क वापसी प्रणाली (duty drawback system), नकद प्रतिपूर्ति समर्थन (cash compensatory support), निर्यात ऋण पर आयात सबसिडी (आर्थिक सहायता), निर्यात पर वित्तीय रियायतें तथा निर्यात के लिए आयात नीति हैं। हम 1970-85 की अवधि के लिए इन विशेषताओं की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

16.5.1 शुल्क वापसी प्रणाली

हमने पहले बताया था कि आयातित कच्चे माल पर तटकर लगाने से अंतिम रूप से तैयार घरेलू वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार, माध्यमिक आदानों पर उत्पादन शुल्क के रूप में अप्रत्यक्ष कर लगाने से अंतिम रूप से उत्पादित घरेलू वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। शुल्क वापसी प्रणाली में निर्यातकों को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन के आदानों पर जो तटकर और केन्द्रीय उत्पादन शुल्क देना पड़ता है, उसके पुनर्भुगतान की व्यवस्था है। इन शुल्कों की वापसी हो जाने के कारण उत्पादक इन वस्तुओं का ज्यादा प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों पर निर्यात कर सकते हैं। 1980 के दशक में उदार आयात नीतियों की शुरुआत के बाद कुल निर्यात मूल्य में शुल्क वापसी की दर में गिरावट आई क्योंकि नई आयात नीति में निर्यात संवर्धन के लिए शुल्क मुक्त आयात की व्यवस्था की गई।

16.5.2 नकद प्रतिपूर्ति समर्थन (CCS)

इसका तात्पर्य नकद सहायता यानी सबसिडी देना है। कुछ चुने हुए उत्पादों के निर्यात के एफ.ओ.बी. मूल्य के निश्चित अनुपात के रूप में इसका निर्धारण होता है। एफ.ओ.बी. का अर्थ

है–फ्री ऑन बोर्ड। इसका तात्पर्य निर्यात वस्तु के निर्यात से पहले के मूल्य से है, न कि आयात करने वाले देश में उस वस्तु के पहुंच जाने पर होने वाले मूल्य से। इन दो मूल्यों का अंतर परिवहन व्यय, बीमा कवरेज तथा जहाज़ी भाड़े के बराबर होता है। लेकिन आयात मूल्य में ये तीनों राशियाँ शामिल होती हैं। आयात-कीमतें सी.आई.एफ. (लागत, बीमा तथा भाग) के आधार पर मालूम की जाती हैं। इसलिए आयात-मूल्य गंतव्य (आयातक देश) पर वस्तु के पहुँच जाने का मूल्य है, आरंभ बिन्दु (निर्यातक देश) का नहीं। 1974 से 1983-84 के बीच उपयुक्त निर्यात के एफ.ओ.बी. मूल्य के 12 प्रतिशत के बराबर सी.सी.एस. दी गई कुल निर्यातों का 40 प्रतिशत इस योजना से लाभान्वित हुआ।

16.5.3 निर्यात ऋण तथा राजकोषीय रियायतें

वाणिज्यिक बैंकिंग प्रणाली रियायती ब्याज दर पर निर्यात के लिए ऋण देती हैं। निर्यात क्षेत्र को 1970 से 1985 के दौरान कुल निर्यात के 0.5 प्रतिशत एफ.ओ.बी. मूल्य के बराबर लाभ हुआ।

1960 के दशक के प्रारंभ में निर्यात के लिए राजकोषीय रियायतों के दौर में निर्यात से प्राप्त आय पर आय कर में छूट दी गई थी।

16.5.4 निर्यात-संवर्धन में आयात नीति की भूमिका

आयात नीति में निर्यातकों को अंतर्राष्ट्रीय मूल्य पर आयातित आदान उपलब्ध कराने के लिए विशेष सुविधाएं देने की व्यवस्था है। आयात परिपूर्ति लाइसेंस (आर.ई.पी.) प्रणाली निर्यात के एफ.ओ.बी. मूल्य से सम्बद्ध होते हैं, निर्यातक आदान आयात कर सकते हैं, अगर घरेलू बाज़ार में इनके विकल्प मूल्य, गुणवत्ता और उपलब्धता की तारीख की दृष्टि से पर्याप्त न हों। 1970-85 की अवधि में कुल निर्यातों के कम से कम 67 प्रतिशत को आयात परिपूर्ति सुविधाओं का पात्र माना गया।

16.5.5 निर्यात-संवर्धन नीतियों का निर्यात पर प्रभाव

इस अवधि में इन नीतियों के अंतर्गत कुल सहायता, कुल निर्यात के एफ.ओ.बी. मूल्य का 10 प्रतिशत रही। साथ ही निर्यात संवर्धन नीतियों से, निर्यात क्षेत्र को, घरेलू आर्थिक नीतियों के कारण अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में जो नुकसान होता है, उसकी भी काफी हद तक भरपाई हुई। लेकिन, निर्यात संवर्धन नीतियों की प्रकृति और विस्तार 1977-85 की अवधि में आम तौर पर समान था, इसलिए केवल इन्हीं के आधार पर 1970-71 से 1977-78 तथा 1977-78 से 1984-85 के बीच भारत के निर्यात में उल्लेखनीय वृद्धि को नहीं समझा जा सकता।

भारत की व्यापार नीति ऐसी होनी चाहिए कि विदेशी व्यापार में उसे ज़्यादा बड़ा हिस्सा मिले। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि वस्तुओं की गुणवत्ता बनी रहे और वस्तुएं निर्धारित समय पर गंतव्य स्थान पर पहुंचाई जाएं। नीतिगत उपाय अल्पकालिक या दीर्घकालिक हो सकते हैं। अल्पकालिक उपायों में वर्तमान घरेलू उत्पादन और अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक स्थिति का पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए। दीर्घकालीन उपायों के अंतर्गत, भारत के निर्यात का हिस्सा बढ़ाने के लिए उत्पादन तथा व्यापार के माहौल को और सौहार्दपूर्ण बनाए जाने के प्रयास किए जाने चाहिए। विपणन प्रणालियों को कुशल बनाना चाहिए। भारत के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए बाज़ार तथा सूचना प्रणाली विकसित करने में भारत के विदेश-स्थित राजनयिक मिशनों को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। नये बाज़ारों में पहुंच बढ़ाने में व्यापार नीति को सक्रिय किया जाना चाहिए। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, विकासशील देशों के साथ व्यापार में (South-South trade) इसके निर्यात को केवल 20 प्रतिशत हिस्सा जाता है। इस क्षेत्र में बहुत संभावनाएँ हैं, इसलिए विकासशील देशों के बीच आपसी व्यापार बढ़ाने के क्षेत्रों का पता लगाया जाना चाहिए। विश्व का वर्तमान व्यापारिक माहौल प्रबंधित व्यापार का है और मात्र मूल्य तथा गुणवत्ता से ही व्यापार की मात्रा, मूल्य तथा दिशा स्पष्ट नहीं होती। इस स्थिति में, सरकार को द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय व्यापारिक बातचीत की अच्छी क्षमता विकसित करनी चाहिए ताकि बाज़ार में उसकी स्थिति में निरंतर सुधार हो। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत में पूरी तरह प्रौद्योगिकीय कारकों पर विचार किया जाता है, राजनयिक तथा भौगोलिक-राजनीतिक कारकों की भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भूमिका है। भारत की व्यापार नीति ऐसी होनी चाहिए कि आयात प्रतिस्थापन और निर्यात संवर्धन, दोनों में तेजी आए ताकि बढ़ते हुए व्यापार घाटे को कम किया जा सके। अकुशल आयात प्रतिस्थापन न केवल संसाधनों के मामले में ही महंगा पड़ता है, बल्कि इसका उल्टा असर पड़ता है और इससे आयात और बढ़ जाते हैं।

16.6 व्यापारिक स्थितियाँ (Terms of Trade)

एफ.एच.एस.-01 के खंड 4 में हमने कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र के बीच व्यापार स्थितियों की चर्चा की थी। यहाँ हम अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में इस मुद्दे पर विचार करेंगे। व्यापार स्थितियों की दो परिभाषाएँ हैं। पहली है–निवल वस्तु-विनिमय के आधार पर व्यापार स्थितियाँ (एन.बी.टी.टी.) और दूसरी है–आय के आधार पर व्यापार स्थितियाँ (वाई.टी.टी.)।

एन.बी.टी.टी. निर्यात के मूल्य सूचकांक (Px) और आयात मूल्य (Pm) के अनुपात के रूप में जाना जाता है अर्थात् यदि निर्यात मूल्य सूचकांक आयात मूल्य सूचकांक की तुलना में ज्यादा तेजी से बढ़े तो यह कहा जा सकता है कि व्यापार की स्थितियाँ निर्यातक देश के पक्ष में हैं क्योंकि ऐसे में निर्यात-वस्तु की एक इकाई के निर्यात से अब पहले की तुलना में आयात-वस्तु की ज्यादा इकाइयाँ खरीदी जा सकती हैं।

निम्नलिखित तालिका से 60 के दशक के मध्य से अब तक भारत की व्यापार स्थितियाँ दिखाई गई हैं।

तालिका 16.17 : भारत की निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियाँ (1958=100)

वर्ष	Px	Pm	निवल वस्तु-विनिमय व्यापार स्थितियां (एन.बी.टी.टी.)
1964-65	107	99	108
1965-66	113	104	109
1966-67	169	150	113
1967-68	169	136	124
1968-69	166	141	118
1969-70	171	140	122

स्रोत : मुद्रा और वित्त संबंधी रिपोर्ट, 1968-69, 1973-74

हम देखते हैं कि 1958 में निर्यात तथा आयात के मूल्य स्तर के आधार पर, व्यापार स्थितियाँ 1964-65 से 1969-70 तक भारत के पक्ष में थीं। इस अवधि में भारत ने व्यापार स्थितियों के आधार पर अपनी स्थिति और मज़बूत की। तालिका से स्पष्ट होता है कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि निर्यात मूल्य सूचकांक, आयात मूल्य सूचकांक की तुलना में तेजी से बढ़ा। हम देखते हैं कि 1966-67 में आयात तथा निर्यात के इकाई मूल्य-सूचकांक (रुपयों में) में 1965-66 की तुलना में अचानक तेजी से वृद्धि हुई। ऐसा 6 जून, 1966 को भारत द्वारा अपनी मुद्रा के अवमूल्यन करने से हुआ। पहले अमरीकी डॉलर 4 रुपये 76 पैसे का था। 6 जून, 1966 से इसका मूल्य 7 रुपए 50 पैसे हो गया। इस निर्णय को इस आशा से लागू किया गया था कि इससे अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में भारतीय निर्यात की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता बढ़ेगी।

तालिका 16.18 : भारत की निवल वस्तु-विनिमय व्यापार स्थितियां (एन.बी.टी.टी.)

(आधार वर्ष : 1978-79 = 100)

वर्ष	निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियां
1969-70	125
1970-71	127
1971-72	140
1972-73	150
1973-74	127
1974-75	92

1975-76	85
1976-77	93
1977-78	114
1978-79	100
1979-80	92
1980-81	81
1981-82	93
1982-83	97
1983-84	120
1984-85	105
1985-86	107
1986-87	129

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे, 1989-90

अवमूल्यन ऐसे समय पर किया गया, जब भारत में भयंकर सूखा पड़ा था और बड़े पैमाने पर खाद्यान्न का आयात करना जरूरी था। 1966 में एक करोड़ 3 लाख 40 हज़ार टन रिकॉर्ड अनाज आयात करना पड़ा। 1965 तथा 1966 में अनाज की कीमतों में क्रमशः 43 प्रतिशत तथा 12 प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्य उत्पादन की घरेलू आपूर्ति तथा माँग की लोच कम होने से, अवमूल्यन का असर आयात मूल्यों में वृद्धि पर हुआ और देश में मूल्य स्तर बढ़ गया। लेकिन भारत के विदेश व्यापार की निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियाँ अवमूल्यन के बाद की अवधि में भारत के पक्ष में रहीं, क्योंकि रुपए में निर्यात मूल्य सूचकांक में वृद्धि हुई।

अगस्त, 1971 तक भारत निश्चित विनिमय दर प्रणाली को मानता रहा। इसके बाद से यह प्रवाहमान विनिमय दर प्रणाली को मान रहा है। 1971-72 से 1975-76 के बीच भारत का इकाई निर्यात मूल्य सूचकांक तेजी से 46 से बढ़कर 78 हो गया (आधार : 1978-79 = 100)। ऐसा ब्रिटेन के पौंड-स्टर्लिंग के अलावा अन्य अंतर्राष्ट्रीय मुद्राओं की तुलना में भारत के रुपए के मूल्य में गिरावट के कारण हुआ। लेकिन पेट्रोलियम की कीमतों में चार गुना वृद्धि से जनवरी, 1974 से आयात मूल्य सूचकांक में भारी वृद्धि हुई। 1979 में फिर यही स्थिति दोहराई गई। इसके परिणामस्वरूप, 1973, 1974, 1979 तथा 1980 में निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियों में, पिछले वर्षों की तुलना में, तेजी से गिरावट आई। 1970-71 से 80 के दशक में निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियों में गिरावट का रुझान रहा। अगर हम 1978-79 को आधार वर्ष मानें तो भारत की निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियाँ उसके पक्ष में रहीं। 1969-70 से 1986-87 के बीच यदि हर वर्ष की अलग-अलग तुलना करें तो निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियों में आम तौर पर कोई परिवर्तन नहीं लगता।

बोध प्रश्न 3

1 निर्यात संवर्धन के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए विभिन्न कदमों की जानकारी दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियाँ क्या हैं? सत्तर के दशक में निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियों में परिवर्तन के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

सत्तर तथा अस्सी के दशक में निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियाँ भारत के अनुकूल रहीं या प्रतिकूल रहीं?

.....

.....

.....

.....

16.7 भारत के व्यापार-क्षेत्र के कार्य-निष्पादन को निर्धारित करने वाले कारक : आयात प्रतिस्थापन बनाम निर्यात-संवर्धन

किसी देश के निर्यात के क्षेत्र में कार्य-निष्पादन के लिए जिम्मेदार कारकों को विभिन्न तरीकों से वर्गीकृत किया जा सकता है। निर्यात पर रुकावटें घरेलू या अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण हो सकती हैं। घरेलू कारक भी व्यष्टि अर्थशास्त्रीय या समष्टि अर्थशास्त्रीय हो सकते हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्रीय कारक किसी फर्म या उद्योग के स्तर पर हो सकते हैं। किसी विशिष्ट फर्म या उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले कारक—जैसे निर्धारित लागत ढाँचा, कच्चे माल की लागत आदि, व्यष्टि अर्थशास्त्रीय कारक हैं। समष्टि अर्थशास्त्रीय कारक पूरी अर्थव्यवस्था से जुड़े होते हैं, जैसे मुद्रा-अवमूल्यन समष्टि अर्थशास्त्रीय नीति है, जिसका असर समूची आयात तथा निर्यात वस्तुओं पर पड़ता है। ई.ई.सी.-01 के खंड-8 में बताया गया था कि अवमूल्यन से निर्यात-वस्तुएँ अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में सस्ती हो जाती हैं और घरेलू बाज़ार में आयातित वस्तुएं महँगी हो जाती हैं। इसलिए अवमूल्यन से आम तौर से निर्यात संवर्धन और आयात प्रतिस्थापन को मदद मिलती है। लेकिन हर बार ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

हमने प्रारंभ में बताया था कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात को देखते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत बंद है। इसका एक विशाल घरेलू बाज़ार है। आज़ादी के बाद, बहुत समय तक इस बाज़ार को अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता से संरक्षित रखा गया है। प्रारंभिक वर्षों में आयात-प्रतिस्थापन के जरिए औद्योगीकरण की नीतियां अपनाई गईं। एक ओर तो औद्योगिक और व्यापार नीतियों के कारण भारत पूंजी की अच्छी स्थिति तथा मज़बूत औद्योगिक आधार वाला तथा बेहद विविधतापूर्ण औद्योगिक ढांचे वाला देश बन गया तो दूसरी ओर ऊंची लागतों, औद्योगिक ढांचे का कुछ ही लोगों के हाथों में होना और कार्य-कुशलता, गुणवत्ता और विपणन पर उचित ध्यान न दिए जाने के कारण भारतीय उत्पादन अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में टिक नहीं सके। हमने पहले भी बताया है कि वस्त्र तथा पटसन जैसी पारंपरिक वस्तुओं में भारतीय उत्पादकों ने अपना महत्वपूर्ण हिस्सा खो दिया। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार, निर्यात के क्षेत्र में भारत का अच्छा कार्य-निष्पादन न होने का कारण हमारी नीतियों में आयात-प्रतिस्थापन के पक्ष में तथा निर्यात-संवर्धन के प्रतिकूल पूर्वाग्रह होना था।

ऐसा नहीं है कि भारत ही ऐसा विकासशील देश है, जिसने आयात-प्रतिस्थापन से अपनी स्वतंत्र व्यापार नीति प्रारंभ की। नए औद्योगिक देशों में से एक और विकासशील देशों में प्रमुख निर्यातक देश—दक्षिण कोरिया ने भी आयात प्रतिस्थापन की नीति अपनाई। लेकिन एक बार आयात-प्रतिस्थापन का उद्देश्य पूरा हो जाने तथा देश के पर्याप्त औद्योगीकरण के बाद घरेलू उद्योगों के मज़बूत आधार की मदद से निर्यात को बढ़ावा दिया जा सकता है। दक्षिण कोरिया की यही उपलब्धि रही है, अर्थात् आयात-प्रतिस्थापन के जरिए निर्यात-संवर्धन। इसलिए ये दोनों नीतियां एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं।

निर्यात-संवर्धन के अनेक लाभ हैं। हैक्सर-ओहलिन (Heckscher-Ohlin) प्रमेय को याद कीजिए, जिससे यही स्पष्ट होता है। जिस देश में श्रमिक पर्याप्त मात्रा में हों, वहां श्रम-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक दृष्टि से ज्यादा अच्छी स्थिति होती है। अतः वह श्रम-प्रधान

वस्तुएँ निर्यात करना है। भारत में दुनिया भर में सबसे सस्ता श्रम उपलब्ध है। श्रम-प्रधान क्षेत्र, जैसे लघु और कुटीर उद्योग, रत्न तथा जेवरात, हल्के निर्मित उत्पाद आदि, के निर्यात को बढ़ावा देने से स्व-रोजगार मिल सकता है। इसके साथ ही औद्योगिक क्षेत्र की अप्रयुक्त क्षमता का भी इस्तेमाल हो सकता है। ई.ई.सी.-01 के खंड 8 में अन्य विदेशी व्यापार गुणकों के बारे में आप पढ़ चुके हैं। व्यापारिक शर्तों के अपरिवर्तित रहते हुए अप्रयुक्त क्षमता होने की स्थिति में निर्यात में वृद्धि होने पर घरेलू माँग पर गुणकीय प्रभाव पड़ता है। इस समय भी भारत में अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ माँग की कमी है। घरेलू माँग के बढ़ने पर भारत में भी विदेशी व्यापार गुणक की तरह ही उत्पादन और रोज़गार बढ़ेगा। घरेलू उत्पादक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का ख्याल रखते हुए वस्तुओं की गुणवत्ता, पैकेजिंग और व्यापार नीतियों का भी ध्यान रखेंगे। घरेलू उपभोक्ताओं की अवहेलना नहीं की जाएगी। उन्हें भी गुणवत्ता, अच्छे स्तर तथा लागत में किफायत के लाभ मिलेंगे।

लेकिन, निर्यात संवर्धन हर स्थिति में प्रभावी नहीं होता। केवल कुछ ही देश जैसे कोरिया, ताइवान, हांगकांग तथा सिंगापुर जिन्हें चार का गुट कहा जाता है, निर्यातों को तेजी से बढ़ाने में सफल रहे हैं। इनमें से हांगकांग और सिंगापुर नगर-राज्य हैं। अन्य देश भी अपेक्षाकृत छोटे देश हैं, जिनका घरेलू-बाज़ार छोटा-सा है। इसलिए बड़े पैमाने पर उत्पादन का लाभ पाने तथा कच्चे माल और पूंजीगत वस्तुएँ जुटाने के लिए उन्हें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर निर्भर रहना होता है। साथ ही, इनमें से ज्यादातर देश राजनीतिक तथा सैनिक रूप से, अमरीका जैसी विदेशी शक्ति से सम्बद्ध हैं। इनके निर्यात को बढ़ावा देने में विदेशी पूंजी तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बड़ा हाथ है।

एक बड़ी समस्या और है। एक अर्थशास्त्री ने निर्यात को बढ़ावा देने वाले देशों की स्थिति की किसी लिफ्ट में जा रहे लोगों से तुलना की है। किसी लिफ्ट में एक समय में कुछ ही लोग जा सकते हैं उससे अधिक नहीं। इसी तरह, सभी विकासशील देश एक ही समय में कुछ गिनी-चुनी वस्तुओं में विशेषज्ञता पाकर उनका निर्यात शुरू नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उनकी व्यापार स्थितियां प्रतिकूल होती जाएंगी। क्योंकि सभी विकासशील देशों द्वारा एक ही समय में निर्यात किए जाने से अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में निर्यातों की आपूर्ति बढ़ जाएगी और इनका बाज़ार मूल्य गिर जाएगा। ऐसी स्थिति में विकासशील देशों के आयात के साथ जब हम गिरते निर्यात मूल्य का अनुपात निकालेंगे तो स्पष्ट ही इन देशों की निवल वस्तु विनिमय व्यापार स्थितियाँ प्रतिकूल होंगी। स्पष्ट है कि जब तक निर्यात की अंतर्राष्ट्रीय मांग नहीं बढ़ जाती, सभी विकासशील देश नए औद्योगिक देशों की तरह अपने निर्यात में एक साथ वृद्धि नहीं कर सकते। अंतर्राष्ट्रीय मांग, विकसित देशों के विकास के क्षेत्र में कार्य-निष्पादन की स्थिति तथा व्यापारिक नीतियों पर निर्भर करती है। 1980 से विकसित देशों की वृद्धि दर कम रही है और उन्होंने प्राथमिक वस्तुओं के स्थान पर उनके कृत्रिम विकल्प विकसित कर लिए हैं। इसलिए अब उनकी नीति पारंपरिक प्राथमिक वस्तु-निर्यात के स्थान पर गैर-पारंपरिक, कुशल तथा अकुशल श्रम प्रधान नये उत्पादों, जैसे माइक्रो प्रोसेसर, माइक्रो कंप्यूटर तथा इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं के निर्यात की रही है। इन वस्तुओं के निर्यात की मात्रा अधिक होती है, परन्तु प्रति इकाई मूल्य में बढ़त कम (low-value added) होती है, यदि सभी आदान और प्रौद्योगिकी एक ही फर्म में तैयार न हुई हों तो।

निर्यात में रुकावटें देश की स्थितियों के कारण आती हैं या अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण, इस बारे में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि भारत के निर्यात के विकास में रुकावटों की मुख्य वजहें देशी ही हैं, हालांकि कुछ क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय स्थिति से पैदा हुई रुकावटें भी बढ़ रही हैं (जैसे सिले-सिलाए वस्त्रों पर कोटा प्रणाली)। आंतरिक रुकावटें—मांग तथा पूर्ति, दोनों पक्षों की हैं। पूर्ति पक्ष की रुकावटें बुनियादी ढांचे की कमियों की वजह से हैं, जैसे बिजली की कमी या अन्य आदानों की कमी। माँग पक्ष की कमी यह है कि संरक्षित घरेलू बाज़ार उत्पादकों को अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार से ज्यादा आकर्षक लगता है। एक अर्थशास्त्री ने कहा है भारत जो भी उत्पादन करता है, उसका निर्यात करता है, न कि जिन वस्तुओं का निर्यात कर सकता है, उनको ध्यान में रखकर उत्पादन करता है। इसका तात्पर्य है कि भारत लागत में तुलनात्मक लाभ को ध्यान में नहीं रखता। यह अकसर उस बकाया माल का निर्यात करता है, जिसे घरेलू बाज़ार में खपाया नहीं जा सकता। भारत द्वारा विदेश में पूंजी के निर्यात की वजह देश में पूंजीगत वस्तुओं का पूरा इस्तेमाल न हो पाना होता है, जिससे घरेलू बाज़ार में पूंजी की मांग कम हो जाती है। इसलिए ऐसा लगता है कि जब तक अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में मुनाफे की ज्यादा संभावना नहीं होती, उत्पादकों को निर्यात के लिए अकसर कोई महत्वपूर्ण बढ़ावा नहीं मिल पाएगा। 1980 के दशक के मध्य में उदार नीतियां शुरू करने से पहले निर्यात बढ़ाने के जो भी उपाय किए गए थे उनके देशी बाज़ार में ही मुनाफा कमाने की उत्पादकों की प्रवृत्ति नहीं बदल पाई थी। 80 के दशक के-मध्य से निर्यात में जो वृद्धि होने लगी है, उसका एक कारण अंतर्राष्ट्रीय

व्यापार के संदर्भ में उदार नीतियां लागू करना भी है। साथ ही, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राओं की तुलना में रुपए का गिरता मूल्य भी कम से कम रुपयों में भारत के निर्यात के बढ़ने का एक कारण हो सकती है।

निर्मित वस्तुओं में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के मूल्यजनित कारणों के अलावा, मूल्येतर कारण भी हैं। विकसित देश व्यापारिक बंधन लगा देते हैं। अनेक विकासशील देशों ने जोरदार विपणन नीतियों से भी अपना निर्यात बढ़ाया है। भारत को अभी भी "तुलनात्मक विपणन" लाभ नहीं मिल सकता है, जो बेहतर प्रतिस्पर्धात्मक अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक गतिविधियों में जरूरी है। इसी तरह, भारत में निर्मित वस्तुओं की गुणवत्ता तथा पैकेजिंग अभी भी बहुत अच्छे स्तर की नहीं है।

बोध प्रश्न 4

1 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और औद्योगीकरण को देखते हुए आयात-प्रतिस्थापन और निर्यात-संवर्धन कार्यनीति के क्या-क्या लाभ-हानि हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 क्या आप सोचते हैं कि किसी अर्थव्यवस्था में एकमात्र आयात-प्रतिस्थापन या फिर निर्यात संवर्धन की ही नीति अपनाई जा सकती है, दोनों नहीं?

.....

.....

.....

.....

.....

16.8 सारांश

इस इकाई में हमने सकल घरेलू उत्पाद के संदर्भ में भारत की विदेशी व्यापार निर्भरता का अध्ययन किया। भारत के सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में भारत की विदेशी व्यापार पर निर्भरता कम है और इसमें आज़ादी के बाद से कोई वृद्धि भी नहीं हुई है। विश्व के कुल व्यापार में भारत का हिस्सा 1950-51 में 2 प्रतिशत से घटते हुए इस समय 0.5 प्रतिशत पर आ गया है। ऐसा लगता है कि आत्म-निर्भरता के साथ विकास के अपने लक्ष्यों,के लिए हमने जो व्यापार तथा औद्योगीकरण नीतियां चुनीं, वे भी कुछ हद तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में हमारा हिस्सा कम होने के लिए जिम्मेदार हैं। भारत के वास्तविक निर्यात तथा आयात में काफी वृद्धि हुई है, परन्तु इसकी रफ्तार नये औद्योगीकृत विकासशील देशों की तुलना में काफी धीमी रही। आज़ादी के बाद की पूरी नियोजन अवधि में भारत के निर्यात तथा आयात के स्वरूप में भी काफी परिवर्तन आया। आज़ादी से पहले, औपनिवेशिक व्यापारिक स्वरूप के अंतर्गत, भारत ऐसी प्राथमिक वस्तुओं (खाद्य तथा कच्चा माल) का निर्यातक था, जो ब्रिटेन के औद्योगीकरण के लिए ज़रूरी थीं। आज़ादी के बाद की अवधि में, भारत के औद्योगिक ढांचे में विविधता आयी, पूंजीगत वस्तुओं का आधार मज़बूत हुआ और खास तौर से चौथी पंचवर्षीय योजनावधि से भारत निर्मित सामान (इंजीनियरी तथा रासायनिक वस्तुएं, परिवहन से सम्बद्ध उपकरण आदि) का भी निर्यात करने लगा। भारतीय फर्मों ने, मामूली तौर पर ही सही, विदेशों में संयुक्त उद्यम लगाकर अपने कामकाज को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। ऐसे संयुक्त उद्यम ज्यादातर विकासशील देशों के कारखानों में लगाए गए। इस तरह, भारत ने पूंजी तथा प्रौद्योगिकी का भी निर्यात शुरू कर दिया। 50 के दशक में भारत से गिनी-चुनी वस्तुएं निर्यात होती थीं, परन्तु अब निर्यात में काफी

विविधता आ गयी। इस विविधता से कुछ वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त आय में अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के कारण जो तेजी से घट-बढ़ होती है, उसका प्रभाव कम होगा और इस प्रकार भारत के व्यापार पर अनुकूल असर पड़ेगा।

लेकिन इसके साथ ही, प्राथमिक वस्तुओं जैसे चाय, पटसन आदि के निर्यात में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत के हिस्से में काफी गिरावट आई। इसके लिए अन्य विकासशील देशों की उत्साहपूर्ण विपणन नीतियां और भारत द्वारा गुणवत्ता तथा मूल्य में उन देशों के उत्पादों का मुकाबला न कर पाना जिम्मेदार है। हालांकि सरकार ने निर्यात के जरिए आय बढ़ाने के लिए अनेक तरीके की आर्थिक सहायता दी हैं, परन्तु भारतीय फर्मों को अपना माल बेचने के लिए (तटकर जैसी दीवार से संरक्षित) कड़ी प्रतिस्पर्धा वाले अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की तुलना में भारतीय बाजार ज्यादा आकर्षक लगता रहा है। इसलिए जब तक भारतीय फर्में गुणवत्ता, पैकेजिंग, विपणन तथा विज्ञापन पर ज्यादा ध्यान देते हुए अपने मूल्यों को भी कम नहीं रख पाएंगी तब तक वे नये औद्योगिक देशों की फर्मों से मुकाबला नहीं कर पाएंगी। यह बात वर्तमान स्थिति में और भी खरी उतरती है क्योंकि विकसित देशों में भी वृद्धि दर में गिरावट आ रही है और ये देश ही विकासशील देशों के लिए सबसे महत्वपूर्ण बाज़ार हैं। इसके अलावा, इन देशों में विकासशील देशों के निर्यातों (खास तौर से वस्त्रों) पर कोटा प्रतिबंध लगा दिए हैं। इसलिए विकासशील देशों के पास अकसर इसके अलावा और कोई विकल्प नहीं रह जाता कि वे विकसित देशों के सीमित कर दिए गए बाज़ारों में आपस में ही प्रतिस्पर्धा करें।

आर्थिक संसाधनों के विदेश चले जाने के संदर्भ में आज़ादी से पहले की अवधि के आयातों के स्वरूप और दिशा के बारे में आपने पढ़ा है कि यह ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीतियों तथा हितों के अनुकूल रहे। भारत का विशाल घरेलू बाज़ार ब्रिटेन के निर्यातों का लक्ष्य रहा ताकि वहां के उद्योग बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ उठा सकें। भारत की आज़ादी के बाद, धीरे-धीरे ब्रिटेन की भी प्रमुखता की स्थिति समाप्त हो गई तथा अमरीका ज्यादा प्रभावशाली व्यापारिक भागीदार हो गया। 70 के दशक से भारत के व्यापार की दिशा में और विविधता आई। पूर्वी यूरोपीय देश, खास तौर से सोवियत संघ तथा जापान और पश्चिम जर्मनी, भारत के प्रमुख व्यापारिक साझीदार बन गए। आयातित तेल पर भारत की निर्भरता के कारण तेल-निर्यातक देशों ("ओपेक" के सदस्य देशों) का भी महत्व बढ़ा। ये देश भारत के तैयार माल के महत्वपूर्ण बाज़ार भी बने।

भारत की आयात-प्रतिस्थापन नीतियों से उसके औद्योगिक ढांचे में विविधता आयी। लेकिन तटकर के जरिए प्रतियोगिता से संरक्षित किए जाने के कारण भारतीय उद्योग पूरी तरह विकसित नहीं हो पाए और वे शिशु ही बने रहे। एकाधिकारी प्रवृत्तियों और व्यापारिक प्रतिबंधों के कारण घरेलू बाज़ार ज्यादा आकर्षक बना रहा। भारत का व्यापार प्रवाह, खासतौर से निर्यात, पनप नहीं सके। दूसरी ओर, आयात हमेशा निर्यात से ज्यादा बने रहे। इस तरह, भारत का आत्मनिर्भरता का स्वप्न पूरा नहीं हो सका।

भारत के निर्यात और आयात की तुलनात्मक स्थितियां धीरे-धीरे विपरीत होने लगीं, हालांकि यह परिवर्तन ज्यादा उल्लेखनीय नहीं था। 70 के दशक में भारतीय व्यापार की स्थितियों को प्रतिकूल बनाने वाला सबसे प्रमुख कारक 1973 में आयातित कच्चे पेट्रोलियम के मूल्य में चार गुना वृद्धि तथा 1979 में फिर दुगुनी वृद्धि हो जाना है। 1950 के दशक के प्रारंभिक वर्षों मे कोरियाई युद्ध के बाद व्यापार स्थितियां भारत के पक्ष में हो गई थीं। लेकिन निर्यात को महत्व न दिये जाने के कारण, भारत इस स्थिति का लाभ नहीं उठा सका और वह अपने निर्यात की मात्रा नहीं बढ़ा सका।

16.9 शब्दावली

निवल वस्तु विनियम व्यापार स्थितियां (एन.बी.टी.टी) : यह निर्यात के इकाई मूल्य सूचकांक तथा आयात के इकाई मूल्य सूचकांक का अनुपात है। निर्यात मूल्य को "फ्री ऑन बोर्ड" (एफ.ओ.बी.) के रूप में दिया जाता है अर्थात् निर्यात-पूर्व उद्गम-स्थल पर इसका मूल्य आंका जाता है। आयात मूल्य सूचकांक में भाड़ा तथा बीमे की लागत भी शामिल होती है। इसलिए आयात मूल्य सूचकांक निर्गम-स्थल (point of destination) पर मूल्य पर आधारित होता है। पचास के दशक से, निवल वस्तु-विनिमय व्यापार स्थितियों के बारे में विकास अर्थशास्त्रियों में काफी बहस रही है। यह कहा गया है कि एन.बी.टी.टी. विकासशील देशों की निर्यात वस्तुओं (प्राथमिक वस्तुएं) के प्रतिकूल तथा विकसित देशों की निर्यात वस्तुओं (निर्मित वस्तुओं) के अनुकूल रहता है। इससे विकासशील देशों के संसाधन विकसित देशों की ओर चले जाते हैं।

तटकर : यह ऐसी वाणिज्यिक प्रणाली है, जिससे एक ओर तो सरकार को राजस्व प्राप्त होता है और दूसरी ओर घरेलू उद्योगों को संरक्षण भी मिलता है। तटकर आयातित वस्तुओं पर लगाया जाता है। इससे आयातों की घरेलू कीमत बढ़ जाती है। इससे एक ओर तो आयातित वस्तु की मांग गिर जाती है, दूसरी ओर देशी उत्पादकों को संरक्षित घरेलू बाज़ार के लिए उत्पादन करने को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह, तटकर से संसाधनों के आवंटनों पर असर पड़ता है।

तटकर "निषेधात्मक" तब कहा जाता है, जब किसी वस्तु पर इसकी दर इतनी ज्यादा लगायी जाती है कि देशी खरीदार की उस वस्तु के लिए प्रभावी मांग ही समाप्त हो जाती है।

कोटा : कोटा प्रणाली में किसी वस्तु के आयात की मात्रा निर्धारित करके व्यापार पर रोक लगायी जाती है। तटकर की तरह, इससे सरकार को कानूनी तरीके से तब तक कोई आय प्राप्त नहीं होती, जब तक कि सरकार वस्तु का आयात करके फिर उसके कोटे की नीलामी न कर दे।

निर्यात का इकाई मूल्य सूचकांक : यह सूचकांक ई.ई.सी.-01 के खंड 4 की इकाई 9 में बताए गए अन्य कीमत सूचकांकों जैसा ही है। लैस्पियर के मूल्य सूचकांक के इस सूत्र को याद कीजिए :

$$P_{01}^{4} = \frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times 100$$

इस निर्यात सूचकांक के लिए वर्तमान वर्ष की निर्यात की मात्रा को आधार की कीमतों से गुणा कर के अंश प्राप्त किया जाता है फिर उसके हर में जो आधार वर्ष में निर्यात को आधार वर्ष की कीमतों से गुणा कर प्राप्त किया जाता है, भाग दे दिया जाता है। अर्थात् निर्यात का इकाई मूल्य सूचकांक $\frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma q_1 p_0} \cdot 100$

जहां q_1 = वर्तमान वर्ष में निर्यात
q_0 = आधार वर्ष में निर्यात
p_0 = आधार वर्ष में निर्यात वस्तु की कीमत है।
इस तरह हम आयात के इकाई मूल्य सूचकांक की भी गणना कर सकते हैं।

16.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, ए.एन. : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली 1988, अध्याय 38.

दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस. चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1990, अध्याय 40.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण : *भारतीय अर्थशास्त्र,* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक आगरा, 1990, अध्याय 37.

Bhagwati J. and P. Desai, (1970), *India : Planning for Industrialisation,* Oxford University Press, London.

Nayyar, D. (1976), *India's Exports and Exports Policies in the Sixties,* Combridge University Press, London.

Nayyar, D. (1987), *India's Exports Policy and Performance 1970-85,* Economic and Political Weekly, Annual Number.

Misra, S.K. and V.K. Puri, (1989), *Indian Economy,* Himalaya Publishing House, Delhi. Chapters on Foreign Trade.

Sen, S. (1982), 'From Import Substitution to Export Promotion' : *Economic and Political Weekly* Annual Number

Sodersten, Bo, 1980 : *International Economics,* Second Edition, Macmillan, London, Chapter 12.

Wadhva, C.D., 1977 : *Some Problems of India's Economic Policy,* Tata McGraw-Hill, New Delhi. Articles on Foreign Trade and Policy.

Economic Survey : Government of India

Basic Statistics Relating to the Indian Economy, Government of India

16.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 उप-भाग 16.3.1 देखिए।

2 निर्यात के मूल्य, संघटन तथा दिशा में परिवर्तन की संक्षेप में चर्चा कीजिए। फिर अपना निष्कर्ष निकालिए।

3 इकॉनॉमिक सर्वे का अगला अंक हर वर्ष बजट से पूर्व फरवरी में प्रकाशित होता है, इसके प्रकाशित होने पर इसके आधार पर ताजा आंकड़े दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1 भारत के आयात के मूल्य, संघटन और स्रोतों को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक बताइए। फिर अपना निष्कर्ष निकालिए।

2 उप-भाग 16.4.3 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1. भाग 16.5 देखिए।

2 भाग 16.6 देखिए। संबंधित तालिका की सहायता से समझाइए।

3 भाग 16.6 देखिए। संबंधित तालिका की सहायता से समझाइए।

बोध प्रश्न 4

1 भाग 16.7 देखिए।

2 भाग 16.7 देखिए।

इकाई 17 भुगतान शेष

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 भारत का भुगतान शेष (B.O.P.) : 1950 के दशक के आरंभ से 1980 के दशक के अंत तक
  17.2.1 1950 और 1960 के दशकों में भारत का भुगतान शेष
  17.2.2 1970 के दशक में भुगतान शेष में सुधार
  17.2.3 1980 के दशक में भुगतान शेष में बिगड़ाव
17.3 भारत की भुगतान शेष नीति
  17.3.1 नियत विनिमय दर व्यवस्था तथा भुगतान शेष नीति
  17.3.2 लचीली विनिमय दर व्यवस्था तथा भुगतान शेष नीति
17.4 विदेशी सहायता तथा बाह्य ऋण
17.5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ता हुआ संरक्षणवाद
  17.5.1 गैर-शुल्क अवरोध (Non Tariff Barriers) तथा आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था
  17.5.2 संरक्षणवाद तथा नव-औद्योगिक देश
  17.5.3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता
  17.5.4 केस स्टडी : वस्त्रों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षणवाद
17.6 साझा कोष : विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने के लिए
17.7 नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली (NIEO) की संकल्पना और भारत पर उसका प्रभाव
17.8 सारांश
17.9 शब्दावली
17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- यह विश्लेषण कर सकेंगे कि भारत के भुगतान शेष में समयोपरांत किस प्रकार के परिवर्तन आए;
- इस बात की व्याख्या पर सकेंगे कि भुगतान शेष के चालू घाटे को किन तरीकों से पूरा किया गया;
- भुगतान शेष में संतुलन लाने के लिए सरकारी नीति की विशेषकर विनिमय दर नीति की, चर्चा कर सकेंगे;
- "ऋण जाल" की संकल्पना की व्याख्या कर सकेंगे;
- भारत के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता की भूमिका की रूपरेखा दे सकेंगे;
- विकासशील देशों के निर्यात के प्रति विकसित देशों की संरक्षणवादी नीति के प्रभाव की चर्चा कर सकेंगे;
- अपने निर्यातों के विकास की सुविधा प्रदान करने के लिए तृतीय विश्व के देशों को क्या प्रतिरोधात्मक उपाय अपनाने चाहिए तथा अपने माल के लिए कैसे बेहतर कीमत वसूल हो सके, इस पर विचार कर सकेंगे; और
- नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली (NIEO) की संकल्पना की रूपरेखा दे सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई में योजना काल में भारत के भुगतान शेष का विस्तृत विश्लेषण किया जाएगा। पिछली इकाई में भुगतान शेष के चालू लेखे के केवल आयात और निर्यात पहलू का अध्ययन किया गया था। इस इकाई में हम भुगतान शेष के चालू लेखे के अन्य दो महत्वपूर्ण घटकों—अदृश्य मदों (invisibles) तथा इकतरफ़ा भुगतानों (unilateral payments)—की चर्चा करेंगे। इसके अलावा, हम भुगतान शेष के पूंजी खाते के घाटे को पूरा करने के लिए सरकारी अथवा निजी ऋण, वाणिज्यिक ऋण तथा विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष के महत्व की चर्चा करेंगे। भाग 17.3 में हम भुगतान शेष में संतुलन लाने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाई गई विभिन्न नीतियों की चर्चा कालानुक्रम से करेंगे। फिर आर्थिक विकास और भुगतान के अंतराल को पूरा करने में विदेशी सहायता की भूमिका की समीक्षा करेंगे। इस पर भी विचार करेंगे कि क्या विदेशी सहायता से केवल लाभ ही लाभ हैं। विदेशी सहायता जुटाने में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(IMF) की भूमिका का भी ब्यौरा देंगे। तत्पश्चात् हम पाश्चात्य देशों में बढ़ते हुए संरक्षणवाद की चर्चा करेंगे जिससे, विशेषकर 1980 के दशक में, विकासशील देशों के सम्मुख निर्यात-संवर्धन में अनेकों समस्याएँ खड़ी हो गई हैं। अंत में नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की संकल्पना का अध्ययन करेंगे।

17.2 भारत का भुगतान शेष (B.O.P.) : 1950 के दशक के आरंभ से 1980 के दशक के अंत तक

ई.ई.सी.-01 के खंड 8 में दोहरे लेखे के आधार पर, जिसमें जमा (cradits) और नामे (debits) शामिल हैं, भुगतान शेष की तालिका का विश्लेषण किया गया था। तालिका 17.1 में आँकड़ों की मात्रा को कम कर दिया गया है ताकि उनकी व्याख्या में सुविधा हो। इसमें केवल निवल आँकड़े अर्थात् भुगतान शेष की प्रत्येक श्रेणी के व्यापार के जमा और नामे के अंतर को दिखाया गया है। आँकड़े चालू विनिमय दर के अनुसार करोड़ रुपयों में हैं। पिछली इकाई की भाँति, यहाँ भी ये आँकड़े उन्हीं वजहों से सारी अवधि के लिए पूर्ण रूप से तुलनात्मक नहीं हैं। विनिमय दर में परिवर्तन और मुद्रा-स्फीति जैसे कारणों की पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

तालिका 17.1 : भारत के भुगतान का संतुलन (1951/2 से 1975/6 तक)

(चालू विनिमय दरों पर करोड़ रुपयों में : वार्षिक औसत)

	1951/2-1955/6	1956/7-1960/1	1961/2-1965/6	1966/7-1970/1	1971/2-1975/6
I. चालू खाता					
1. आयात (c.i.f)	730.0	1080.0	1221.7	1818.2	3156.1
2. निर्यात (f.o.b)	622.0	613.0	747.0	1303.5	2631.8
(क) व्यापार शेष	(–) 108.0	(–) 467.0	(–) 474.7	(–) 514.7	(–) 522.3
(ख) अदृश्य मदें *(हस्तांतरण को छोड़कर)	+ 38.0	+ 45.0	(–) 36.8	(–) 153.1	(–) 78.4
(ग) हस्तांतरण भुगतान	+ 62.0	+ 78.0	+ 122.5	+ 154.5	+ 327.6
चालू खाता शेष = (क) + (ख) + (ग)	(–) 8.0	(–) 344.0	(–) 389.0	(–) 513.0	(–) 273.1
II पूंजी खाता					
3. निजी सौदे	(–) 4.0	(–) 6.0	+ 1.5	(–) 12.2	(–) 26.5
4. बैंकिंग सौदे	—	+ 1.0	(–) 12.6	(–) 1.4	(–) 5.9
5. सरकारी सौदे					
i) ऋण	+ 21.00	+ 159.0	+ 446.4	+796.8	+ 885.1
ii) परिशोधन	(+) 2.0	(–) 2.0	(–) 59.7	(–) 164.8	(–) 246.0
iii) विविध मदें	(–) 8.0	+ 75.0	+ 8.0	+ 47.5	(–) 103.9
6. IMF से शुद्ध प्राप्ति	(–) 8.0	+ 11.0	+ 15.2	(–) 53.5	(+) 150.8
7. आरक्षित कोष में परिवर्तन हास (+) या वृद्धि (–)	+ 25.0	+ 120.0	+ 1.2	(–) 44.3	(–) 197.2
पूंजी खाता शेष	+ 28.0	+ 358.0	+ 410.0	+ 568.1	+ 456.4
III भूल-चूक	(–) 20.0	(–) 14.0	(–) 21.0	(–) 54.8	(–) 183.3

स्रोत : डी. नायर, ई.पी.डब्ल्यू., वार्षिक 1982.

* इसमें यात्रा, परिवहन और बीमा, निवेश आय, दूसरी अदृश्य मदें इत्यादि शामिल हैं।

1966 में रुपये का तीव्र अवमूल्यन (devaluation) और 1971 से उसके लगातार मूल्य ह्रास के कारणों से तुलना बहुत कठिन हो जाती है। 1966 से पूर्व भारत में न केवल नियत विनिमय दर थी, वरन् रुपये का अवमूल्यन अथवा पुनर्मूल्यन भी नहीं था।

इस बात की कालानुक्रम चर्चा करेंगे कि किस प्रकार भुगतान संतुलन का दृश्य इन वर्षों में बदला है। हमने ई.ई.सी-01, खंड 8 में कहा था कि भुगतान शेष केवल खाते के भाव में ही संतलित होता है। दूसरे शब्दों में चालू खाता शेष, पूंजी खाता शेष और भूल-चूक को जोड़े तो योग शून्य होगा। अर्थशास्त्री की दृष्टि से भुगतान शेष का अर्थ होता है चालू खाते का शेष। यदि भूल-चूक के रूप में कोई सांख्यिकीय विसंगतियाँ नहीं हैं तो पूंजी खाते का शेष चालू खाते के शेष का प्रतिपक्षी होगा।

अब हम इस बात पर गौर करेंगे कि भारत ने नकारात्मक व्यापार घाटे (negative trade deficit) को पूरा करने के लिए किस प्रकार धन जुटाया। इस भाग को तीन कालों में बांटा जा सकता है : प्रथम 1950 और 1960 के दशक, द्वितीय 1970 का दशक और तीसरा 1980 का दशक।

17.2.1 1950 और 1960 के दशकों में भारत का भुगतान शेष

तालिका 17.1 में यद्यपि चालू खाता शेष 1951/2 से 1975/6 तक सारी पंचवर्षीय अवधियों में नकारात्मक था, किन्तु यह व्यापार शेष से कम था। इस समस्त काल में हस्तांतरण भुगतान (उपहार इत्यादि) तथा निवल अदृश्य मदों (1950 में हस्तांतरण को छोड़कर) के कारण ही ऐसा संभव हो सका। बाह्य सरकारी स्रोतों से लिए गए द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय ऋणों ने चालू खाते में भुगतान शेष को पूरा करने तथा धन जुटाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत का यथाशीघ्र आत्मनिर्भर होने का लक्ष्य धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है। वास्तव में, यदि निर्यात वृद्धि दर को नहीं बढ़ाया गया तथा अनावश्यक आयातों में तीव्र कटौती नहीं की गई या दोनों ही तरीके नहीं अपनाये गये तो 1990 के दशक में भारत विदेशी ऋण-जाल में फंस जाएगा।

अब इस काल की योजनानुसार चर्चा करें।

प्रथम पंचवर्षीय योजना : व्यापार घाटे को अधिकतर अदृश्य आय तथा हस्तांतरण भुगतान से पूरा किया गया था। इस कारण भारत का भुगतान घाटा नगण्य था। बाकी भुगतान शेष के घाटे को विदेशी सहायता तथा विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष, जो प्रथम महायुद्ध में स्टर्लिंग आरक्षित कोष संचित हुआ था, से निकालकर पूरा किया गया था। यह ध्यान देने योग्य है कि भुगतान शेष तालिका के पूंजी खाते में विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष निःशेष करना एक सकारात्मक चिह्न है क्योंकि इसमें अंतर्वाह होता है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना : भुगतान शेष में नाटकीय ढंग से परिवर्तन हुआ। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण कार्यनीति का आरंभ हुआ जो महालाबोबिस, मॉडल पर आधारित थी। नियोजित स्वदेशी पूंजी निवेश बचत से अधिक था। इसके अलावा, आयातित पूंजीगत माल तथा कच्चे माल की माँग भारत की निर्यात करने की शक्ति से बहुत ज़्यादा थी। इस कारण भारत का आयात बहुत तेज़ी से बढ़ा, जबकि निर्यात द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 622 करोड़ रुपयों से घटकर 613 करोड़ रुपये रह गया। इस तरह, व्यापार अंतराल बहुत बढ़ गया, जिसे विदेशी सहायता (ऋण) और आरक्षित कोष को निःशेष करके पूरा किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना : इस काल में निवल अदृश्य मदों का प्रवाह नकारात्मक हो गया। हस्तांतरण भुगतान यद्यपि सकारात्मक था, किन्तु उससे व्यापार अंतराल का केवल एक-चौथाई भाग ही पूरा किया जा सका, जिससे द्वितीय पंचवर्षीय योजना की ही भाँति चालू खातों में घाटा हो गया। इसे विदेशी सहायता जो अधिकांश ऋण के रूप में थी से ही पूरा किया जा सका। विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष लगभग समाप्त हो चुका था। अनुदान अर्थात् सरकारी हस्तांतरण भुगतान की भूमिका नगण्य-सी रही।

1966/7 से 1970/1 तक : इस काल में व्यापार शेष और भुगतान शेष में औसत वार्षिक घाटा समान था। 513 करोड़ रुपयों की संख्या पिछले काल की तुलना में अधिक लगती है। फिर भी यदि 1966 के अवमूल्यन को सामने रखें तो स्थिर विनिमय दर पर यह अंतराल बहुत कम था। भुगतान के घाटे को पूरा करने के लिए विदेशी सहायता हमारा प्रमुख स्रोत था और उनका विदेशी मुद्रा तृतीय पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा कुछ अधिक था। इस काल में विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष पहली बार बढ़ा।

17.2.2 1970 के दशक में भुगतान शेष में सुधार

1950 और 1960 के दशकों में भुगतान शेष का चित्रण करने के बाद अब हम 1970 और 1980 के दशकों में इसकी चर्चा करेंगे। इससे चालू काल की घटनाओं को समझने में सुविधा मिलेगी। इससे आगामी वर्षों में भारत की भुगतान शेष की नीति से संबंधित उभरते हुए विभिन्न मुद्दों की रूपरेखा की चर्चा कर सकेंगे। इस काल को दो भागों में विभाजित करेंगे। प्रथम भाग 1970 का दशक है, जिसमें भुगतान शेष की स्थिति में काफी सुधार हुआ। दूसरा भाग 1980 का दशक है, जिसमें भुगतान शेष में फिर से असंतुलन पैदा हो गया।

तालिका 17.2 : 1970 के दशक में भारत का भुगतान शेष (चालू विनिमय दर पर करोड़ रुपयों में)

	1971-2	1972-3	1973-4	1974-5	1975-6	1976-7	1977-8	1978-79
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
I. चालू खाता								
1. आयात (c.i.f)	1993.6	2146.5	2729.3	4156.9	4744.1	4816.9	5541.0	7397.5
2. निर्यात (f.o.b)	1555.4	1895.5	2350.7	3179.7	4177.6	5133.1.	5433.1	5554.9
(क) व्यापार शेष	(-) 438.2	(-) 251.0	(-) 378.6	(-) 977.2	(-) 566.5	(+) 316.2	(-) 107.5	(-) 1842.6
(ख) निवल अदृश्य मदें हस्तांतरण को छोड़कर	(-) 200.0	(-) 197.9	(-) 202.9	+ 51.4	+ 157.1	+ 254.4	+ 549.8	+ 676.5
(ग) हस्तांतरण भुगतान सरकारी और निजी	(-) 236.7	+ 197.2	+ 218.9	+ 281.4	+ 702.6	+ 955.2	+ 1291.4	+ 1338.6
शेष अथवा चालू खाता = (क) + (ख) + (ग)	(-) 401.3	(-) 251.6	(-) 362.6	(-) 644.4	+ 294.2	+ 1525.9	+ 1734.7	+ 1725
II. पूंजी खाता								
3. निजी खाता	(-) 4.3	(-) 7.5	(-) 39.0	(-) 27.8	(-) 54.1	(-) 10.7	(+) 76.1	(-) 27.0
4. बैंकिंग लेन देन	+ 9.4	(-) 17.5	(-) 0.3	(-) 47.3	+ 26.8	+ 116.8	+ 67.8	+ 7.9
5. सरकारी लेन-देन								
i) ऋण	+ 615.9	+ 585.6	+ 828.7	+ 1069.0	+ 1326.4	+ 1181.8	+ 880.0	+ 789.0
ii) परिशोधन	(-) 210.1	(-) 245.4	(-) 253.9	(-) 237.0	(-) 283.6	+ 316.3	(-) 417.7	(-) 407.8
iii) विविध	+ 154.3	(-) 65.4	+ 130.7	(-) 294.1	(-) 445.1	(-) 474.4	(-) 522.5	(-) 98.0
6. IMF से निकालना (+) या भुगतान (-)	–	–	+ 62.0	(-) 484.7	+ 207.1	(-) 362.8	(-) 248.6	(-) 206.7
7. आरक्षित कोष में परिवर्तन ह्रास (+) वृद्धि (-)	(-) 98.5	+ 33.4	(-) 83.9	(-) 7.5	(-) 829.7	(-) 1396.1	(-) 1555.0	(-) 999.5
पूंजी खाते का शेष	+ 466.7	+ 283.2	+ 644.0	+ 940.3	(-) 52.2	(-) 1201.7	(-) 1719.6	(-) 760.9
III. भूल-चूक	(-) 65.2	(-) 31.6	(-) 271.4	(-) 296.1	(-) 242.0	(-) 324.1	(-) 15.1	+ 588.4

अक्तूबर, 1973 जनवरी, 1974 में जब तेल की कीमतें चौगुनी हो गई थीं, उस प्रथम तेल आघात (First oil Shock) के पूर्व 1970 के दशक के आरंभ में भारत की भुगतान शेष की स्थिति सुदृढ़ थी। 1972/3 और 1974/5 के बीच भारत के आयात में अपरिष्कृत तेल (crude oil) और पेट्रोलियम उत्पादों का भाग 11 प्रतिशत से बढ़कर 26 प्रतिशत हो गया, जिससे भारत के भुगतान शेष को एक तेज़ झटका लगा। उर्वरकों तथा अन्य तेल आधारित रसायनों के कारण भी

आयात बहुत बढ़ गया। कृषि उत्पादन में कमी होने के कारण अनाज भी बाहर से आयात करना पड़ता था।

फिर भी, निम्न कारणों से भारत तेल के आघात को झेल पाया :

i) 1971/2 से 1977/8 के काल में निर्यात में वृद्धि,
ii) आयातों की धीमी गति से वृद्धि,
iii) निजी हस्तांतरणों में लगातार वृद्धि, जो 1971/2 में 162.2 करोड़ रुपयों से 1977/ में 1022.8 करोड़ रुपये हो गयी; तथा
iv) भारत सरकार द्वारा विदेशों से बड़े पैमाने पर ऋण लेना अर्थात् विदेशी सहायता का अंतर्वाह (तालिका 17.2 में ऋणों की संख्या दी गई है)।

तालिका 17.2 से ज्ञात होता है कि 1970 के दशक के मध्य के बाद भारत के भुगतान शेष चालू खाते में आधिक्य था तथा विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष में वृद्धि हुई थी। 1979-80 में आरक्षित कोष अभूतपूर्व स्तर तक पहुँच गया। इसी कारण 1974/5 और 1975/6 का अत्यधिक व्यापारिक घाटा (तालिका 17.2) भी 1976/7 में मामूली से व्यापारिक आधिक्य में परिवर्तित हो गया। हमारे भुगतान शेष में सुधार के निम्नलिखित आर्थिक कारण थे :

i) भारत एक श्रम-निर्यात करने वाले देश के रूप में उभरा, जिससे खाड़ी देशों में रोज़गार में लग लोगों के भारत में अपने परिवारों को प्रेषित धन (remittances) में बहुत वृद्धि हुई। रिज़र्व बैंक के नियमों के अनुसार, धन प्राप्तकर्ताओं को विदेशी मुद्रा रुपयों में परिवर्तित करनी पड़ती थी।

ii) जून, 1972 में भारत ने रुपये को पौंड-स्टर्लिंग के साथ बांध लिया। इसका अर्थ यह था कि रुपये का मूल्य पौंड के साथ स्थिर हो गया। किन्तु पौंड-स्टर्लिंग का मूल्य अन्य दुर्लभ मुद्राओं (hard currencies) जैसे अमरीकी डालर, जर्मनी के ड्यूशमार्क के संबंध में बदल सकता था। जब ब्रिटेन के भुगतान शेष में घाटा आया तो उसने अपनी मुद्रा का डालर और जर्मन मार्क के संबंध में अवमूल्यन कर दिया। इसलिए भारत को भी उन मुद्राओं के संबंध में रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। 1966 के अवमूल्यन के बावजूद भारतीय रुपया अधिमूल्यित रहा, किन्तु 1975 में स्टर्लिंग के अवमूल्यन के कारण यह स्थिति समाप्त हो गई।

अब विषयान्तर करके बाज़ार विनिमय दर, सरकारी विनिमय दर और अधिमूल्यित विनिमय दर तथा उनके परस्पर संबंधों की चर्चा करेंगे सरकारी विनिमय दर वह दर होती है जिसे सरकार निर्धारित करती है। प्रति सप्ताह भारत का केंद्रीय बैंक—रिर्जव बैंक—केंद्र सरकार की ओर से रुपये की सरकारी विनिमय दर की घोषणा करता है। आजकल भी यही प्रक्रिया चल रही है। जब कोई देश चालू खाते में भुगतान शेष के निरंतर घाटे के बावजूद अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं करता तो उसकी मुद्रा स्वाभाविक रूप से अधिमूल्यित होती है। यदि सरकार ने विदेशी मुद्रा बाज़ार में हस्तक्षेप न किया होता और खुले बाज़ार की माँग और आपूर्ति की शक्तियों को काम करने दिया होता तो विनिमय दर का यह अधिमूल्यन समाप्त हो जाता और भुगतान शेष के चालू खाते में संतुलन आ जाता। चूँकि सरकारी विनिमय दर अधिमूल्यित थी, इस कारण विदेशी मुद्रा में कालाबाज़ारी पनपने लगी। वस्तुतः काला बाज़ार ही मुद्रा के बाज़ार विनिमय दर को प्रदर्शित करता था, जहाँ विदेशी मुद्रा अधिमूल्य (at a premium) पर मिल जाती थी। विदेशी मुद्रा की माँग उन व्यक्तियों द्वारा होती थी जिनकी माँग कोटा नियंत्रण के कारण सरकारी सूत्रों (रिज़र्व बैंक) से पूरी नहीं होती थी। इस विदेशी मुद्रा की आपूर्ति तस्करी गतिविधियों द्वारा और मज़दूरों के प्रेषित धन द्वारा की जाती थी, जो सरकारी माध्यम से नहीं भेजा जाता था। विदेशी मुद्रा बाज़ार में काले सौदों की मात्रा का अनुमान लगाना बहुत कठिन है क्योंकि इसके कार्यकलाप के बारे में हमारी जानकारी सीमित है।

1972-75 के काल में भारतीय रुपये के क्रमिक मूल्यह्रास से बाज़ार और सरकारी विनिमय दरें करीब-करीब समान हो गईं। इससे गैर-सरकारी माध्यमों से प्रेषण का मूल प्रोत्साहन समाप्त हो गया। इस प्रकार, विदेशी मुद्रा लेन-देन सरकारी माध्यम द्वारा होने लगा। इसलिए सरकारी विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष में वृद्धि हुई और भुगतान शेष के चालू खाते में 1970 के दशक के मध्य से आधिक्य होने लगा।

17.2.3 1980 के दशक में भुगतान शेष में बिगड़ाव

जैसा कि हमने इस खंड की इकाई 16 में देखा था, 1977/8 के बाद निर्यातों की वृद्धि दर में कमी होती गई और आयातों में तेजी से वृद्धि हुई। इस कारण व्यापार शेष का घाटा 1977/8 में 107

करोड़ रुपयों से बढ़कर 1978/9 में 1843 करोड़ रुपये हो गया। यह भुगतान संकट 1979 में तेल की कीमतें तीन गुनी होने के कारण और असम में आंदोलन के कारण तेल का देशी उत्पादन न बढ़ पाने के कारण हुआ। इस आंदोलन के कारण अपरिष्कृत तेल का घरेलू उत्पादन घट गया। भुगतान शेष की स्थिति 1980/1 में और अधिक ख़राब हो गई, क्योंकि तेल की कीमत वृद्धि का पूरा प्रभाव इसी साल महसूस हुआ। चालू खाते का घाटा 1981-82 में सकल घरेलू उत्पाद के 1.5 प्रतिशत तक पहुँच गया। इस प्रकार प्रथम तेल आयात के दो वर्षों के पश्चात् चालू खाते में आधिक्य हो गया किन्तु दूसरे तेल आघात के बाद दो वर्षों में यह घाटा अत्यधिक बढ़ गया। नवम्बर, 1981 में भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 5,000 करोड़ रुपयों की राशि उधार लेने की सुविधा प्राप्त की। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अब तक इतना ऋण किसी देश को नहीं दिया था। बाद में, अर्थात् 1984-85 में भारत ने, 1,100 करोड़ रुपयों की राशि वापस कर दी।

1982-83 से 1984-85 के समय में भुगतान शेष की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। आयातों की वार्षिक विकास वृद्धि 1978-82 में 14.7 प्रतिशत की औसत दर से कम होकर 1982-85 में 2 प्रतिशत रह गई। छठी पंचवर्षीय योजना में आयातित अपरिष्कृत तेल का स्थान देशी उत्पादन ने ले लिया। यहाँ तक कि 1980 के दशक के मध्य में यथेष्ट परिष्करण सामर्थ्य के अभाव में भारत ने अपरिष्कृत तेल का निर्यात तक किया। अपरिष्कृत तेल में आयात प्रतिस्थापन 1980 में 50 प्रतिशत से बढ़कर 1984-85 में 75 प्रतिशत हो गया। जैसा कि पिछली इकाई में कहा जा चुका है, निर्यातों में कमी आयी। 1970 के दशक में अदृश्य मदों के अंतर्वाह की तेज़ी के बाद व्यापार के घाटे को पूरा करने में अदृश्य मदों का भाग क्रमशः कम होता गया। अप्रवासी भारतीय मज़दूरों का प्रेषित धन थोड़ी मात्रा में ही बढ़ा। 1981-82 से 1984-85 के दौरान ब्याज का भुगतान चार गुना बढ़ गया। इसलिए व्यापार के घाटे को पूरा करने में निवल अदृश्य मदों का भाग 1978-79 में 92 प्रतिशत से घटकर 1982-85 में औसतन 55 प्रतिशत रह गया, जिसके फलस्वरूप विदेशी वित्त का सहारा बड़े पैमाने पर लिया गया।

इस काल में भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के संदर्भ में एक नए विशिष्ट शब्द अप्रवासी भारतीयों (NRI) का उद्भव हुआ। भारत सरकार की नीति के अंतर्गत वे अन्य बातों के अलावा, दुर्लभ विदेशी मुद्रा का भारतीय बैंकों में निवेश कुछ अधिक ब्याज दर पर कर सकते थे।

चालू खाते का घाटा सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात के रूप में 1981-82 में 1.5 प्रतिशत से घटकर 1984-85 में 1.2 प्रतिशत रह गया। स्थिति में इस सुधार का एकमात्र कारण तेल आयात के बिल में कमी थी। अतएव विकल्प सीमित थे तथा स्थिति उस समय बिगड़ने लगी जब तेल आयात बिल सातवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में बढ़ने लगा।

तालिका 17.3 हाल के वर्षों में चालू खाते में भुगतान शेष को प्रदर्शित करती है।

तालिका 17.3 : चालू खाते में भुगतान शेष (करोड़ रुपयों में)

	1984-85	1985-86	1986-87	1987-88
निर्यात (f.o.b)	11952	11578	13315	16396
आयात (c.i.f)	18680	21164	22669	25692
व्यापार घाटा	6751	9586	9354	9296
सरकारी हस्तांतरण	440	307	525	532
अन्य अदृश्य मदें	3409	3323	2999	2471
चालू खाता घाटा	(-) 2852 (239)	(-) 5927 (458.7)	(-) 5830 (377.4)	(-) 6293 (367.5)
चालू खाता घाटा सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में	1.2	2.3	2.0	1.9

स्रोत : कोष्ठक में दी गई संख्याएँ SDR में घाटा दर्शाती हैं।

तालिका 17.4 : 1980 के दशक में चालू खाते में घाटा (वार्षिक औसत)

काल	रुपयों में (करोड़)	SDR में (दस लाख में)
छठी पंचवर्षीय योजना काल	(–) 2277	(–) 2100
1985-86 से 1988-89 तक	(–) 7112	(–) 4359

सातवीं पंचवर्षीय योजना काल

सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम चार वर्षों के दौरान चालू खाते का घाटा बहुत उच्च स्तर पर अर्थात् सकल घरेलू उत्पाद का 2.2 प्रतिशत था। विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष से धन निकालने के अतिरिक्त विदेशी ऋण और अप्रवासी भारतीयों (NRI) के जमा के भारी मात्रा में अंतर्वाह से चालू खाते के बहुत बड़े घाटे को पूरा किया गया। इसके फलस्वरूप भारत का ऋण-सेवा अनुपात (debit service ratio) 1984-85 में 13.6 प्रतिशत से बढ़कर मार्च, 1989 में 25 प्रतिशत हो गया। चालू खाते में भारी घाटे के भारी व्यापार घाटा अदृश्य मदों के अंतर्वाह में कमी अदृश्य मदों से 1987-88 में व्यापार घाटे का केवल 27 प्रतिशत पूरा होता था, और पिछले ऋण दायित्व, विशेषकर 1981 के अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ऋण के भुगतान 1985-86 थे। तालिका 17.4 के अनुसार 1985-86 से 1987-88 के दौरान व्यापार घाटा रुपयों में बढ़ा है, किन्तु रुपये का दुर्लभ मुद्राओं के संदर्भ लगातार अवमूल्यन के कारण यह घाटा SDR के रूप में कम हो गया। हम व्यापार घाटे के बारे में विचार नहीं करेंगे, क्योंकि पिछली इकाई में, विशेषकर आयात और निर्यात के भागों में आप इसका अध्ययन कर चुके हैं।

अब इस काल में अदृश्य मदों की चर्चा करें। शुद्ध अदृश्य आमद 1984-85 की 3409 करोड़ रुपयों से कम होकर 1987-88 में 2471 करोड़ रुपयों तक गिर गई। निवल अदृश्य मदों के खाते में बिगड़ी स्थिति का मुख्य कारण था ब्याज भुगतान तथा ऋणों के सेवा शुल्क (service charges) में 1984-85 में 1312 करोड़ रुपयों से (चालू आमद का 6.7 प्रतिशत) 1987-88 में 2000 करोड़ रुपयों तक बढ़ जाना। पर्यटन अदृश्य मदों का एक महत्वपूर्ण घटक है। 1986-87 में इसका विकास 23 प्रतिशत की दर से हुआ, किन्तु अगले दो वर्षों में यह दर घटकर 8 प्रतिशत और 6 प्रतिशत रह गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में निजी हस्तांतरण (निवल) में रुपयों में औसतन 6 प्रतिशत वृद्धि हुई, किन्तु SDR के संदर्भ में 6 प्रतिशत कमी हुई।

भुगतान शेष के चालू खाते के इस घाटे को किस प्रकार पूरा किया गया? इस घाटे का 31 प्रतिशत बाह्य सहायता से पूरा किया गया, जो कि बहुपक्षीय और द्विपक्षीय स्रोतों से ली गई, (छठी पंचवर्षीय योजना में विदेशी सहायता से 55 प्रतिशत का घाटा पूरा किया गया था। 25 प्रतिशत को वाणिज्यिक ऋण द्वारा, 25 प्रतिशत को अप्रवासी विदेशी मुद्रा खाता योजना (Foreign Currency Non-Resident Accounts (FCNRA) Scheme और अप्रवासी बाह्य रुपया खाता (Non-Resident Extemal Rupee Account (NRERA) के अंतर्गत अप्रवासी जमा (NRI deposits) द्वारा, 8 प्रतिशत को अन्य पूंजी सौदों और 12 प्रतिशत को आरक्षित कोष से निकाल कर पूरा किया गया। इस प्रकार 1980 के दशक में भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के लिए वाणिज्यिक ऋण और अप्रवासी जमा का महत्व बढ़ गया। ब्याज की ऊँची दर के कारण इस प्रकार से घाटा पूरा करने का अर्थ है बढ़ता हुआ ऋण सेवा दायित्व (debet servicing obligation)।

बोध प्रश्न 1

1 1980 के दशक में भुगतान शेष की स्थिति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 भारत ने चालू खाते को किस प्रकार पूरा किया?

17.3 भारत की भुगतान शेष नीतियाँ

इस भाग को हम दो भागों में विभाजित करेंगे। पहले भाग में 1950 और 1960 के दशकों में, जब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली नियत विनिमय दर की व्यवस्था के आधार पर संचालित होती थी, भुगतान शेष नीति की चर्चा की गई है। 17.3.2 में 1971 के पश्चात् के काल की, जब लचीली विनिमय दर प्रणाली प्रचलित थी, चर्चा करेंगे।

17.3.1 नियत विनिमय दर व्यवस्था तथा भुगतान शेष नीति

1950 और 1960 के दशकों में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली नियत विनिमय दर की व्यवस्था के आधार पर संचालित होती थी। इसका अर्थ यह है कि रिज़र्व बैंक भारत सरकार की रज़ामंदी के साथ विनिमय दर का निर्णय करता था। इस तरह भारत में विनिमय दर का निर्धारण मुक्त बाज़ार शक्तियों द्वारा न होकर विनिमय नियंत्रण द्वारा किया गया। विनिमय दर देशीय संसाधनों को देशीय बाज़ार के लिए उत्पादन या निर्यात में आबंटित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसी प्रकार, उपभोक्ता के लिए भी यह निर्णय लेने में सहायता मिलती है कि आयातित वस्तुओं का उपभोग किया जाए अथवा देशीय प्रतिस्थापन वस्तुओं का। चूँकि हमारी अर्थव्यवस्था आयोजित परन्तु मिश्रित है, इसलिए विनिमय नियंत्रण प्रणाली अर्थव्यवस्था के बाह्य क्षेत्र को योजना आयोग द्वारा निर्धारित समस्त संसाधन आबंटन के अनुरूप नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विनिमय नियंत्रण विनिमय दर की मूल्य प्रक्रिया का स्थान ले लेता है। यह और कुछ नहीं, विदेशी मुद्रा का मूल्य मात्र है। विनिमय नियंत्रण भुगतान शेष के बहुत से घटकों को तथा असंतुलन की मात्रा को सीधे तौर से नियंत्रित करता है।

यदि विनिमय दर नियंत्रित और स्थिर है तो कीमत प्रणाली बाज़ार निकासी में कोई भूमिका अदा नहीं कर सकती। भारत में अंतर्राष्ट्रीय सौदों पर परिमाणात्मक प्रतिबंध (QRS) लगाए गए ताकि भुगतान शेष में हो रहे घाटे को, रोका जा सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारत की भुगतान शेष और विदेशी मुद्रा की स्थिति बहुत सुगम थी। किन्तु 1956 से भुगतान शेष की स्थिति बहुत नाज़ुक हो गई और यह 1960 के दशक के अंत तक बनी रही। 1953 से 1965 तक के दस वर्षों में, जो द्वितीय और तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं का काल था, आयात के परिमाण तथा बढ़ते हुए संभावित घाटे को रोकने के लिए परिमाणात्मक प्रतिबंधों का अत्यधिक प्रयोग हुआ। विदेशी मुद्रा संकट के दो मुख्य कारण थे, आयात का विशेषकर अनाज के आयोजकों द्वारा कम अनुमान लगाना और बाहरी सहायता के अंतर्वाह में देर होना। इस परिस्थिति में भारत की भुगतान शेष नीति को तुरंत संवारने की आवश्यता थी। प्रमुख विवाद रुपए की विनिमय दर में परिवर्तन करने के निर्णय के बारे में था। विनिमय नियंत्रण प्रणाली की भी बहुत आलोचना हुई।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि इस काल के अधिकांश भाग में भारत की मुद्रा वास्तविक आपूर्ति-माँग संतुलन विनिमय दर के संबंध में स्पष्टतः अधिमूल्यित थी। भारत अथवा तृतीय विश्व के देशों में व्यापार शेष प्रतिकूल होने के बावजूद विनिमय दर को अधिमूल्यित रखने का तर्काधार शीघ्र औद्योगीकीकरण का व्यापक केंद्र था। अधिमूल्यित विनिमय दर से आयात सस्ते हो गए। औद्योगीकरण प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए सस्ते आयात, विशेषकर पूंजीगत और

मध्यवर्ती वस्तुओं की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, विनिमय नियंत्रण प्रणाली में दुर्लभ विदेशी मुद्रा को आबंटन अनावश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादकों के स्थान पर "प्राथमिकता" क्षेत्रकों को होता है। अनिवार्यता और स्वदेशी अनुपलब्धता के दो सिद्धांतों पर ही विदेशी मुद्रा का आबंटन होता था। इस प्रकार अधिमूल्यित विनिमय दर के साथ परिमाणात्मक प्रतिबंधों से पूंजीगत वस्तुओं के सस्ते आयात में सुविधा होती है और विलासिता की वस्तुओं के आयात पर निषेध होता है।

किन्तु भारत में इस व्यापार नीति की अत्यधिक आलोचना हुई। विनिमय नियंत्रण प्रणाली के लाइसेंस और कोटा राज से प्रशासन में, भ्रष्टाचार और टाल-मटोल की गंभीर समस्याएँ उत्पन्न हो गई। खंड 7 से हमें यह ज्ञात होता है कि भगवती और देसाई के अनुसार, भारत की विनिमय नियंत्रण प्रणाली के निम्नलिखित दुष्प्रभाव थे—(1) विलम्ब, (2) प्रशासन और अन्य व्यय, (3) लचीला न होना, (4) विभिन्न एजेंसियों में समन्वय का अभाव, (5) प्रतिद्वंद्विता का अभाव, (6) देशी आदान की अपेक्षा आयातित आदान वाले उद्योगों की ओर निहित झुकाव, (7) निर्यात के विरूद्ध विभेदीकरण (discrimination) तथा (8) आय की हानि। दूसरी ओर, अधिमूल्यित विनिमय दर से भुगतान शेष की समस्या और तीव्र हो गई क्योंकि इससे आयात सस्ते हो जाते हैं और निर्यात महंगे, जिससे अन्य निर्यात करने वाले देश हाथ मार ले जाते हैं। भुगतान शेष के चालू लेखा व्यापार में घाटे के कारण भारत के लिए अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह गया क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों का दबाव बहुत बढ़ गया था। यह गौर करने योग्य बात है कि भारत के व्यापारिक साझेदार देशों की अपेक्षा भारत का देशीय मूल्य स्तर अधिक तीव्र गति से बढ़ा। उदाहरणार्थ, 1950-65 में संयुक्त राज्य अमेरिका के 31 प्रतिशत की तुलना में भारत का उपभोक्ता मूल्य सूचकांक 65 प्रतिशत बढ़ गया। रुपये के 57 प्रतिशत अवमूल्यन प्रति डालर 4.76 रुपये से 7.50 रुपये प्रति डालर— का निर्णय जून, 1966 में लिया गया था। अवमूल्यन से भारत का निर्यात नहीं बढ़ा, यही नहीं निर्यात का परिमाण तक नहीं बढ़ा। निर्यात असल में 1965-66 और 1966-67 के दो लगातार सूखों के कारण कम हो गए थे। भारत का व्यापार घाटा 1966-67 में 904 करोड़ रुपयों से कम होकर 1967-68 में 178 करोड़ रुपये रह गया। अवमूल्यन के समर्थकों का तर्क यह है कि यह सुधार अवमूल्यन के कारण हुआ था।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। अवमूल्यन का आम तौर से देशीय मूल्य स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अवमूल्यन से भारत की निर्यात वस्तुओं का विदेशी मूल्य घट जाता है, जिससे उसकी माँग बढ़ जाती है। इससे निर्यात वस्तुओं की कुल माँग में वृद्धि होती है। यदि निर्यात वस्तुओं की पूर्ति लोच ऊँची नहीं है तो कुल माँग की वृद्धि से उत्पादन की आपूर्ति बढ़ने के स्थान पर मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है। अवमूल्यन के समय भारत में सूखे की स्थिति थी। इस प्रकार, अवमूल्यन बेमौके हुआ था। इसके अतिरिक्त, अवमूल्यन से पूंजीगत वस्तुओं और कच्चे माल का मूल्य बढ़ गया। इनका प्रयोग देशी उपभोक्ता तथा पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में होता है। जिस मात्रा में आयातित आदानों का इन उद्योगों में प्रयोग होता है, उनका मूल्य भी उसी मात्रा में बढ़ता है। इस प्रकार, अवमूल्यन से भारत में मुद्रा-स्फीति के दबाव में और वृद्धि हो गई। इस तरह, मूल्य दबाव (cost push) (आयात की ओर से) एवं (cum) माँग कर्षण (demand pull) (निर्यात की ओर से) मुद्रा-स्फीति और अधिक तीव्र हो जाती है यदि मजदूर, विशेषकर संगठित क्षेत्रक में, अपनी वास्तविक आय को स्थिर रखने के लिए वेतन में वृद्धि मांगते हैं। यह वेतन-मूल्य चक्र (wage-price spiral) निर्यात की प्रतिद्वंद्विता को कम कर देता है और आयात के यदि वैध माध्यम बन्द हों तो अवैध माध्यम से प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार, अवमूल्यन का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है। अवमूल्यन का दुष्चक्र-देशीय वेतन और मूल्य में वृद्धि - निर्यात का ऊँचा मूल्य - असंतुलित व्यापार शेष-गतिशील हो जाता है। लैटिन अमेरिका में बहुत से विकासशील देशों में भी यह समस्या पैदा हुई थी। भारत भाग्यवान था कि इसने अवमूल्यन का एकमुश्त रास्ता अपनाया। भगवती और देसाई की धारणा यह थी कि अवमूल्यन की घरेलू कीमतों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उनके अनुसार, 60 के दशक के अंत में देशीय मूल्य वृद्धि दो लगातार अभूतपूर्व सूखों के कारण थी।

17.3.2 लचीली विनिमय दर प्रणाली में भुगतान शेष की नीति

अगस्त, 1971 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली में प्रचलित नियत विनिमय दर प्रणाली का स्थान परिवर्तनशील (floating) विनिमय दर प्रणाली ने ले लिया। विदेशी मुद्रा बाज़ार में विकसित देशों की प्रमुख मुद्राएँ परिवर्तनशील थीं। बहुत से विकासशील देश, जिन्होंने विनिमय नियंत्रण प्रणाली को अपनाया था, अपनी मुद्राओं को स्वतंत्र रूप से नहीं परिवर्तित कर सकते थे। आरम्भ में

उनके समक्ष एक ही विकल्प था कि अपनी मुद्रा को प्रमुख परिवर्तनशील मुद्राओं में किसी एक के साथ बांध दें। भारत ने रुपये को पौण्ड-स्टर्लिंग के साथ बांध दिया, जोकि औपनिवेशिक भारत में प्रचलित था।

ब्रिटेन के लगातार प्रतिकूल भुगतान शेष के कारण पौण्ड-स्टर्लिंग के मुद्रा बाज़ार में बराबर ह्रास होता रहा। फलस्वरूप, भारत के रुपए का ह्रास पौण्ड-स्टर्लिंग को छोड़कर सभी प्रमुख मुद्राओं के संबंध में हो गया। यह ह्रास अगस्त, 1971 से अगस्त, 1975 तक 23 प्रतिशत तक हुआ था।

पौण्ड-स्टर्लिंग के लगातार कमज़ोर होने से इस मुद्रा से विश्वास उठ गया। 25 सितम्बर, 1975 को पौण्ड-स्टर्लिंग से रुपये का बंधन तोड़ दिया गया। अब इसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा समूह (Basket of Currencies) से बांध दिया गया। रिज़र्व बैंक ने इस तथ्य को गुप्त रखा कि समूह में कौन-कौन-सी मुद्राएँ हैं और प्रत्येक को कितना भार (weight) प्रदान किया गया है। फिर भी प्रमुख मुद्राएँ जैसे डालर, पौण्ड-स्टर्लिंग, जर्मन मार्क, फ्रैंक और जापानी येन मुद्रा समूह में हो सकती हैं। भार (weight) प्रति वर्ष भारत के व्यापार में इन देशों की भागीदारी के आधार पर नियत हो सकते हैं और व्यापार में साझेदारी का अंश प्रति वर्ष बदलता रहता है।

अवमूल्यन और परिवर्तनशील विनिमय दर से रुपये का अधिमूल्यन कम हो गया और यह 70वें दशक के मध्य में प्राक्कल्पनात्मक बाज़ार समाशोधन विनिमय दर (hypothetical market clearing exchange rate) के क़रीब-क़रीब समूल्य पर आ गया।

विनिमय दर में हाल के वर्षों में परिवर्तन

विनिमय दर अर्थात् रुपये का बाहरी मूल्य केवल बदला ही नहीं है बल्कि पिछले चार वर्षों में यह बराबर गिर रहा है। 1985-86 से 1988-89 तक के काल में रुपये का मूल्य-ह्रास पौण्ड-स्टर्लिंग के विरुद्ध 51 प्रतिशत, जर्मन मार्क के विरुद्ध 64 प्रतिशत, येन के विरुद्ध 76 प्रतिशत और डालर के विरुद्ध केवल 20 प्रतिशत हुआ। तालिका 17.5 में भारत के निर्यात, आयात और व्यापार घाटे में सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-86 से 1988-89) के प्रथम चार वर्षों के दौरान में हुये परिवर्तनों को प्रदर्शित किया गया है।

तालिका 17.5 : 1985-89 में भारत के निर्यात, आयात और व्यापार घाटे में परिवर्तन की दर (वार्षिक औसत)

(प्रतिशत में)

	रुपये	डालर	एस.डी.आर.
निर्यात	15.6	9.8	2.5
आयात	13.0	7.5	0.5
व्यापार घाटा	12.0	6.6	0.0

इस प्रकार रुपयों के रूप में निर्यात की वृद्धि ह्रासमान रुपये के कारण हुई। एस.डी.आर. (SDR) में निर्यात में वृद्धि नगण्य, केवल 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष हुई। आकार में 1986-87 से 1988-89 तक निर्यात में वृद्धि 10 प्रतिशत प्रति वर्ष हुई। चूँकि हमारे निर्यात की आयात-सघनता बढ़ रही है, मूल्यह्रास होते हुए रुपये से आयात का मूल्य अधिक होने के कारण हमारे निर्यात की प्रतिद्वंद्विता कम हो जाएगी। इसके अलावा, इसका अर्थ यह है कि हमारा निवल निर्यात निष्पादन मामूली है अर्थात् निवल निर्यात कम बढ़ा है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत में यह मान लिया जाता है कि किसी देश का निर्यात पूर्ण प्रतिद्वंद्वात्मक है और विनिमय दर निर्यात के परिमाण को निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाती है। भारत में निर्यात का केवल 40 प्रतिशत विनिमय दर में परिवर्तन से प्रभावित होता है। हमारे निर्यात का 40 प्रतिशत या तो अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध (चीनी और वस्त्र) के अंतर्गत हैं अथवा नीलामी द्वारा विक्रय (चाय और कॉफी) के अंतर्गत हैं। शेष 20 प्रतिशत सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के साथ अनुबंध के अंतर्गत है, जिस पर रुपए के मूल्यह्रास का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

हमारे आयात की माँग अत्यधिक लोचहीन (inelastic) है : आयात का 85 प्रतिशत कच्चा माल, पूंजीगत माल और पुरज़े हैं। इन्हें अनिवार्य समझा जाता है और इनकी कटौती आर्थिक विकास, मूल्य स्थिरता और निर्यात के मूल्य पर ही की जा सकती है। इस प्रकार रुपये के मूल्यह्रास से निवल विदेशी मुद्रा अर्जन नगण्य रह जाता है। 1985-86 से 1988-89 तक आयात बिल की वृद्धि का दो-तिहाई रुपए के मूल्यह्रास के कारण था। शेष आयात उदारीकरण (10 प्रतिशत) और हमारे निर्यात की बढ़ी हुई आयात सघनता (25 प्रतिशत) के कारण था। इसके अतिरिक्त,

आयातित आदान का रुपये में बढ़े हुए मूल्य का स्वदेशी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य स्तर पर सोपानी (cascading) प्रभाव पड़ता है जिससे मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इन सब कारकों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विनिमय दर नीति हाल के वर्षों में भुगतान शेष की स्थिति को अनुकूल बनाने में सफल नहीं हुई। पिछली इकाई में जैसा बतलाया गया था, गैर-मूल्य कारकों का महत्व अधिक है।

बोध प्रश्न 2

1 दुलर्भ विदेशी मुद्रा के आबंटन में और चालू खाते में भुगतान शेष घाटे को रोकने में विनिमय नियंत्रण प्रणाली के महत्व की चर्चा कीजिए। यह कहाँ तक सफल हुई है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 1966 में भारत ने रुपये का अवमूल्यन क्यों किया था?

.....

.....

.....

.....

.....

3 क्या अगस्त, 1971 से अगस्त, 1975 के काल में भारत में वास्तव में लचीली विनिमय दर प्रणाली थी?

.....

.....

.....

4 आजकल भारत की विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है?

.....

.....

.....

17.4 विदेशी सहायता और बाह्य ऋण

आपने ई.ई.सी.-02 के खंड 4 में पढ़ा होगा कि आर्थिक विकास की एक पूर्व शर्त यह है कि निवेश दर को बढ़ाया जाए। निवेश से पूंजी के स्टॉक में वृद्धि होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में श्रम आधिक्य और पूंजी की कमी की स्थिति थी। देशीय बचत की दर सकल राष्ट्रीय उत्पादन के 5 प्रतिशत के अति निम्न स्तर पर थी। इसलिए निवेश बहुत कम था। वृद्धिगत पूंजी-उत्पादन अनुपात (Incremental capital - output ratio) के तर्क के अनुसार विकास दर कम थी। विदेशी सहायता का महत्व इस बात में है कि जब देशीय निवेश की माँग के अनुसार देशीय बचत नहीं है तो इस निवेश-बचत के अंतराल को विदेशी सहायता पूरा करती है। हमारी योजना

के आरंभिक वर्षों में यह अंतराल एक महत्वपूर्ण कारक था, जिसने हमारे विकास को सीमित कर दिया। फिर 35 वर्षों के दौरान कुल देशीय बचत अनुपात सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 20 प्रतिशत तक बढ़ गया। इस संदर्भ में विदेशी सहायता के प्रश्न की चर्चा निम्नलिखित मदों की दृष्टि से करेंगे। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारा भुगतान शेष लगातार घाटे में रहा है। विदेशी सहायता से चालू खाते में भुगतान शेष के घाटे को पूरा किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसा तंत्र है जिससे निर्यात के द्वारा देशीय भौतिक संसाधनों को आयातित भौतिक संसाधनों में बदला जाता है। बहुत से विकासशील देश ऐसी अवांछनीय परिस्थिति में हो सकते हैं कि जहां देशीय बचत ऊँची हो सकती है किन्तु अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रतिद्वंद्विता के अभाव में अथवा निर्यात में व्यापार की ख़राब शर्तों के कारण अपने विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय संसाधनों जैसे विदेशी पूंजीगत माल और विदेशी तकनीक को जुटाना उनके लिए संभव नहीं हो पाता। इस संदर्भ में, तकनीकी विकास के विभेदीय स्तर के कारण विकसित और विकासशील देशों के अंतर को पूरा करने में विदेशी सहायता की अहम भूमिका होती है।

इस प्रकार, विकास की आरंभिक अवस्था में आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए बाहर से संसाधनों की आवश्यकता होती है। विदेशी मुद्रा के तीन प्रमुख स्रोतों में विदेशी सहायता एक स्रोत है - अन्य दो निर्यात और निजी विदेशी निवेश हैं। खंड 7 में निजी विदेशी निवेश की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। यहाँ हम विदेशी सहायता तक ही सीमित रहेंगे, जिसके बारे में थोड़ा-बहुत खंड 4 में पहले ही बताया जा चुका है।

विदेशी सहायता द्वि-पक्षीय या बहु-पक्षीय स्रोतों से मिल सकती है। द्वि-पक्षीय विकास सहायता अधिकतर एक सरकार से दूसरी सरकार को विदेशी मुद्रा के हस्तांतरण को कहते हैं। जब कुछ देशों की सरकारें एक सहायता संघ बनाती हैं, जहां प्रत्येक अपनी सामर्थ्य, इच्छा या हितों आर्थिक और राजनीतिक इत्यादि के अनुसार अंशदान करते हैं तो यह बहु-पक्षीय विकास सहायता कहलाती है। भारत सहायता संघ एक ऐसा उदाहरण है। दूसरी श्रेणी में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अंतर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाएँ शामिल होती हैं।

विदेशी सहायता के विभिन्न घटक अनुदान, ऋण या प्रौद्योगिकीय सहायता होते हैं। ऋण को भविष्य में समयावधि में अदा किया जाता है। अनुदान मुफ्त दिये जाते हैं। ऋण अदायगी की शर्तों के अनुसार आसान (soft) या कठिन (hard) होता है। यदि ब्याज दर कम (लगभग 5 प्रतिशत) है, अदायगी की अवधि लम्बी (दस वर्ष या अधिक) है तथा यदि ऋण की प्राप्ति और पहली किस्त अदा करने में लम्बा अंतराल (5 वर्ष से अधिक) है तो इस ऋण को "आसान" ऋण कहा जाता है। "आसानी" और "कठिनता" एक या अधिक शर्तों के पूरा होने और कहाँ तक ये पूरी होती हैं, इस बात पर निर्भर होता है। इस प्रकार कितनी सहायता वास्तव में सहायता है अर्थात् संसाधन रियायती शर्तों पर उपलब्ध होते हैं, सहायता की शर्तों पर निर्भर करता है जिसमें "अनुदान तत्व" भी शामिल होता है। "अनुदान तत्व", "कठिन ऋण" की अपेक्षा "आसान ऋण" में अधिक होता है।

"बँधी-सहायता" से भी रियायती शर्तों पर संसाधनों की उपलब्धि कम हो जाती है। अक्सर सहायता परियोजनाओं से बंधी होती है। इसमें सहायता इस शर्त पर दी जाती है कि प्राप्तकर्ता देश उन परियोजनाओं का निर्माण करेंगे जिन्हें दाता देश चाहेंगे। इस प्रकार विश्व बैंक की सहायता बहु-उद्देशीय नदी घाटी परियोजना से बांध दी जा सकती है। सहायता स्रोत से भी बांधी जा सकती है। इस दशा में विकासशील देशों को मजबूर होकर पूंजीगत वस्तुओं और प्रौद्योगिकी का आयात उस विकसित देश से करना पड़ता है जो विदेशी ऋण देता है। अक्सर यह आयात ऊँची कीमत पर तथा/अथवा निम्न गुणवत्ता का होता है।

यह आवश्यक नहीं कि धनी दाता देशों की सहायता लोकोपकारी आधार पर या आर्थिक विकास के प्रोत्साहन के लिए हो। अक्सर इसमें राजनीतिक और सामरिक उद्देश्य निहित होता है।

तकनीकी सहायता उन देशों के लिए महत्वपूर्ण है जहां प्रशिक्षित व्यक्तियों के रूप में मानव पूंजी नहीं है, जो आयातित पूंजीगत वस्तुओं में निहित आयातित प्रौद्योगिकी का रख-रखाव और संचालन कर सकें। भारत जैसे देशों के लिए, जहां बड़ी संख्या में वैज्ञानिक और तकनीकी मानव शक्ति है, तकनीकी सहायता विदेशी सहायता का महत्वपूर्ण घटक नहीं है। फिर भी, कुछ क्षेत्रों में जैसे तेल और प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा पेट्रोलियम और गैस ड्रिलिंग या सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े पैमाने पर स्टील संयंत्र के अधिष्ठापन में विदेशी सहायता महत्वपूर्ण रही है।

विदेशी सहायता के परिमाण में वृद्धि 1960 में 4.6 बिलियन (460 करोड) डालरों की वार्षिक दर से 1980 के दशक के आरंभ में 21.0 बिलियन (2100 करोड़) डालरों तक हुई। जैसा कि पहले

बताया जा चुका है यह आवश्यक नहीं है कि सारी सहायता आर्थिक विकास के लिए ही हो।

सहायता देशीय बचत प्रयत्नों को पूरा करने के लिए और भौतिक तथा मानव आदानों, जैसे पूंजी, कच्चा माल, प्रौद्योगिकी, तकनीकी मानव शक्ति जो देश में उपलब्ध नहीं है, प्रदान करके विकास को प्रोत्साहित करने के लिए होती है। भारत जैसे देशों के लिए, जिन्होंने नियोजित, आत्मनिर्भर विकास का रास्ता अपनाया है सहायता एक साधन है लक्ष्य नहीं। हमारा नारा है "सहायता को समाप्त करने के लिए सहायता"। इस प्रकार सहायता को भारी और बड़े पैमाने पर देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहन और मानव पूंजी उत्पन्न करने की दृष्टि से देखा गया है। इसलिए अंततोगत्वा सहायता से आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व से मुक्ति पाने के अतिरिक्त तकनीकी स्वतंत्रता प्राप्त करने में भी सुविधा मिलती है। इससे आय और धन में सार्वभौम विसंगतियाँ कम होती हैं। यदि सहायता को भली-भाँति प्रयोग किया जाए तो अंतः-राष्ट्रीय (intra-national) असमानता भी दूर की जा सकती है अर्थात् विभिन्न राष्ट्रों के बीच जो असमानतायें हैं उनको कम किया जा सकता है।

फिर भी बहुत से विकासशील देशों के लिये विदेशी सहायता अमिश्रित वरदान नहीं सिद्ध हुई। भारत के संदर्भ में, यदि देखें, खाद्यान्न सहायता 60वें दशक में भारत को सहायता का प्रमुख घटक रही है। विदेशी सहायता नक़द अथवा अन्य रूप में हो सकती है। साठवें दशक के मध्य में लगातार दो सूखों के कारण भारत को संयुक्त राज्य अमेरिका से खाद्यान्न आयात करने पर बाध्य होना पड़ा और इस सहायता से संबंधित निम्नलिखित मूल्य भी चुकाना पड़ा :

i) अंतर्राष्ट्रीय मुक्त बाज़ार के मूल्य की तुलना में आयातित खाद्यान्न का मूल्य अधिक था। चूँकि भारत के पास खुली विदेशी मुद्रा नहीं थी, उसके आयात दाता देश से बंधे हुए थे।

ii) यद्यपि इस मुद्दे पर मतभेद हैं किन्तु ऐसा तर्क दिया जाता था कि खाद्यान्न के आयात से इस काल में भारत में खाद्यान्नों की उपलब्धि से कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। खाद्यान्नों के आयात के कारण घरेलू कीमतें नीची रहीं जिससे देश के अन्दर खाद्यान्नों का उत्पादन नहीं बढ़ा। सूखे के वर्षों में बेशक पी.एल.-480 आयात से ग़रीब उपभोक्ताओं को लाभ हुआ वरना क्रय शक्ति के अभाव में वे बाज़ार में टिक नहीं सकते थे। किन्तु ऐसा अधिकतर शहरी क्षेत्रों में ही था।

अब बचत और निवेश पर विचार करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि विदेशी सहायता को आम तौर पर विकास व्यय में प्रयोग किया जाता है लेकिन इसको कभी-कभी अनुत्पादक और अनावश्यक उपभोग पर भी व्यय किया जाता है। इसके अतिरिक्त बहुधा यह विकास के लिए आसान साधन समझा जाता है जिससे नए कर लगाने और देशीय बचत में प्रोत्साहन के द्वारा देशीय संसाधन जुटाने के कार्यों में शिथिलता आ जाती है।

सहायता को समाप्त करने के लिए सहायता के बजाय अक्सर विदेशी सहायता से आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी पराधीनता आ जाती है। सहायता की ब्याज सहित अदायगी से ऋण जाल में फंसा जा सकता है। आप लोगों ने उपन्यासों में पढ़ा होगा कि किस प्रकार एक ग़रीब किसान अपनी बेटी के विवाह के लिए ऋण लेने के बाद गांव के साहूकार का सदैव के लिए ऋणी हो जाता है। ब्याज की ऊँची दर के कारण उसे केवल ब्याज चुकाने के लिए ऋण लेना पड़ता है, मूलधन की तो बात ही छोड़िए। ग़रीब किसान की भाँति कोई देश भी ऋण जाल में फंस सकता है। ऋणग्रस्तता की मात्रा को मापने का एक सूचक है "ऋण-सेवा अनुपात"। यह किसी वर्ष विशेष में अदा किए हुए मूलधन और ब्याज के मूल्य तथा उस वर्ष में ऋणग्रस्त देश के निर्यात के मूल्य के अनुपात को कहते हैं। 1980 में छठी पंचवर्षीय योजना के आरंभ में यह "ऋण-सेवा अनुपात" 12 प्रतिशत था। इस समय यह अनुपात 30 प्रतिशत की ओर बढ़ रहा है। इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरंभ में सहायता से भुगतान शेष के अंतराल को कम किया जाता है किन्तु ऋण की अदायगी के समय भुगतान शेष अंतराल और भी बढ़ जाता है यदि सहायता को निर्यातोन्मुख क्षेत्र में, जिससे निर्यात का परिमाण और मूल्य बढ़े, प्रयोग न किया जाए, उदाहरणार्थ भारत को लें। यह तथ्य है कि भारत का निर्यात यदि डालर में व्यक्त किया जाये, तो जितना बढ़ना चाहिए उतना नहीं बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भारत द्वारा 3.9 बिलियन डालर यानी 3900 करोड़ रुपयों का विशाल ऋण और ऋणों की अदायगी के एकत्र हो जाने के कारण भुगतान शेष के बढ़ते अन्तराल की समस्या आई है।

जिस प्रकार ऋणी किसान को साहूकार-ज़मींदार के लिए बेगार (मानव श्रम) करनी पड़ती है, उसी प्रकार ऋणी देश को भी ऐसी बहुत-सी शर्तें माननी पड़ती हैं जो उसके आर्थिक प्रभुत्व के हित में नहीं होती हैं। हमने पहले सहायता-बंधन की चर्चा की है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी वित्त संस्थाएँ ऋणी देशों पर कुछ शर्तें लगाती हैं, जिन्हें मानने के लिए वे बाध्य होते हैं। वे कठोर

वित्त और मुद्रा नीति के रूप में होती हैं जो मुद्रा-स्फीति को रोकने के नाम पर होती हैं किन्तु उनसे विकास की गति कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त, ये संस्थाएँ आयात उदारीकरण और निर्यात संवर्द्धन को पसंद करती हैं जिससे देश की व्यापार शर्तें (terms of trade) प्रतिकूल हो जाती हैं, विशेषकर जब बहुत से विकासशील देश कुछ विशिष्ट प्राथमिक वस्तुओं को निर्यात करने का एक साथ प्रयत्न करते हैं। फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में इन वस्तुओं की भरमार हो जाती है। ये संस्थाएँ प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रति खुले द्वार की नीति और अकुशल सार्वजनिक उपक्रमों का निजीकरण पसंद करती हैं। वे निजी क्षेत्र को कुशलता का प्रर्याय समझते हैं। कई राष्ट्रीय और वामपंथी अर्थशास्त्रियों ने बाहरी निर्भरता की आलोचना की है और भविष्यवाणी की है कि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सहायता के द्वारा व्यापार संवर्द्धन के रूप में बहुत से ऋणी विकासशील देशों पर नव-उपनिवेशवाद हावी होने वाला है। लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों के अनुभव से मालूम होता है कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित नीति से आर्थिक ठहराव के साथ-साथ मुद्रा-स्फीति (stagflation) हुई है। इस प्रकार इन देशों में, जबकि मुद्रा-स्फीति 100 प्रतिशत का स्तर पार कर गई है, प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर, निवेश स्तर और वास्तविक मूल्यों में निर्यात बहुत तेज़ी से गिरे हैं। इससे बड़ी मात्रा में बेरोज़गारी उत्पन्न हुई है।

जहाँ तक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का संबंध है, उसके विचार विकसित देशों की सरकारों के अनुरूप हैं: अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक दुर्लभ मुद्राओं के कोष के लिए विकसित देशों की सरकारों पर निर्भर हैं। निजी बहुराष्ट्रीय बैंक भी विकासशील देशों को ऋण देते हैं, विशेषकर उनको जिनकी स्थिति अच्छी है। यह उनके हित में है कि सारे ऋण ब्याज सहित अदा कर दिए जाएं क्योंकि इनमें से अधिकांश को विदेशी सहायता मानवीय आधारों पर नहीं, अपितु आर्थिक और व्यापार कारणों से दी जाती है। इसलिए लागत कुशलता (cost efficiency) और निर्यात संवर्द्धन, ऋण प्राप्त करने के लिए महत्वपूर्ण मानदंड हैं। विकासशील देशों को ऋण दुर्लभ विदेशी मुद्रा में ही अदा करना पड़ता है, जो केवल निर्यातों द्वारा ही किया जा सकता है, चाहे वह वस्तुओं का हो या मज़दूरों का। इन देशों का विकसित देशों में कोई भी महत्वपूर्ण सीधा विदेशी निवेश नहीं होता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यह तर्क नहीं दे सकता कि विकासशील देशों को आयात कम करने चाहिए और ऋण अदा करने के लिए सकारात्मक व्यापार आधिक्य (positive trade surplus) कायम रखना चाहिए। विकसित देशों को कोई लाभ नहीं होगा यदि विकासशील देशों के विशाल बाज़ार में उनकी वस्तुओं की खपत न हो। इसलिए उनकी ऋण शर्तें ऐसी होती है जिनसे ऐसी परिस्थिति बने कि विकासशील देश अधिक निर्यात करें और अधिक ही आयात करें ताकि उनका व्यापार आधिक्य कायम रहे। यदि विकासशील देश गिरती हुई व्यापार शर्तों पर अधिक निर्यात करते हैं तो विकसित देश कच्चा माल और खनिज पदार्थ और अन्य प्राथमिक वस्तुएं सस्ती ले लेते हैं। जैसा कि आपने खंड I में पढ़ा होगा, क्या इसकी तुलना भारत की उपनिवेशी गुलामी में आर्थिक शोषण से कर सकते हैं? वामपंथी अर्थशास्त्री यह तर्क करते हैं कि नव-उपनिवेशवाद अब दूर नहीं क्योंकि विकासशील देश बाह्य ऋण जाल में फंसते जा रहे हैं। बाह्य इसलिए कहा है क्योंकि ऋण जाल का संबंध अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र से है।

ऋण जाल

अब भारत के विदेशी ऋण के बोझ की चर्चा करते हैं। आर्थिक सलाहकार परिषद (E.A.C.) की "वर्तमान आर्थिक स्थिति और प्राथमिक क्षेत्रों के लिए कार्य पर रिपोर्ट" के अनुसार यद्यपि भारत के बाह्य ऋण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और ऋण सेवा गंभीर चिंता का विषय हैं, परिस्थिति ऐसी नहीं है कि जिनसे देश की ऋण शोध क्षमता या साख को कोई खतरा हो। असली समस्या यह है कि ऋण सेवा का बोझ विकास के क्षेत्र में कार्य करने की गुंजाइश तथा विकास कार्यनीतियों के विकल्पों को सीमित कर देता है।

पहले साख (credit worthiness) की चर्चा की जाए। रिपोर्ट के अनुसार, भारत का ऋण सेवा अनुपात 30 प्रतिशत है। यह स्थिति ऐसी नहीं है कि इसकी साख पर प्रश्नचिह्न लगे। फिर भी, ऋण भार बढ़ने से हमारे विकास विकल्प बहुत सीमित हो जायेंगे। जब तक अंतर्राष्ट्रीय ऋण ग्रस्तता की समस्या उत्पन्न नहीं हो, कुशल आयात प्रतिस्थापन और निर्यात संवर्द्धन का अर्थ एक ही है। आयात प्रतिस्थापन द्वारा एक डालर को बचाने का अर्थ वही है जो निर्यात संवर्द्धन से कमाए गए डालर का है। फिर भी, जब देश को ऋण अदा करना है तो हर सूरत में निर्यात बढ़ाने होंगे। निर्यात संवर्द्धन ही हमारा एक विकल्प है, चाहे इसमें खाद्यान्न और अन्य वेतनगत वस्तुओं (wage goods) का निर्यात करना पड़े, भले ही यह कार्यशील लोगों के हितों के विरुद्ध हो और इसमें मुद्रा-स्फीति अंतर्निहित हो। फिर भी, सरकार बहुराष्ट्रीय निगमों का भारत में निवेश के लिए स्वागत करती रही है।

बाह्य व्यापार और भुगतान के संबंध में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण में विशेषकर 1985 से नई गति आई है। आयात द्वारा निर्यात विकास (import led export growth) या बाह्य ऋण आधारित विकास की नीति के साथ विदेशी कम्पनियों, अप्रवासी भारतीयों और उनसे संबंधित अन्य हितों को अपनी पूंजी को बहुत आसानी से देश में लाने और बाहर ले जाने की अनुमति मिल गई। इससे अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य बैंकों जैसे निजी स्रोतों से अधिक ब्याज दर पर विदेशी सहायता प्राप्त करने की पृष्ठभूमि तैयार हो गई।

ई.ए.सी. रिपोर्ट के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता 53 बिलियन डालर या 90,000 करोड़ रुपयों से कहीं अधिक है। कोई देश उस समय ऋण जाल में फंस जाता है, जब वह ऋण अदायगी की किस्तों और ब्याज को बगैर नए ऋण लिए नहीं चुका सकता। स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि कुल ऋण और ऋण सेवा भार पुराने ऋणों को अदा करने के लिए नए ऋण लेने से बढ़ते जाते हैं। इस अर्थ में भारत अभी ऋण जाल में नहीं है। बहुत से उपसहारा प्रदेश (sub station) और लैटिन अमेरिका के देश या तो ऋण जाल में फंस गए हैं या निकट भविष्य में फंसने वाले हैं। ब्राज़ील और मेक्सिको जैसे देशों की विकास दर तीव्र गति से गिरी है। यह 70वें दशक में 5 प्रतिशत प्रति वर्ष से गिरकर 80वें दशक में—5 प्रतिशत रह गई है। ऋण जाल से जूझने की प्रक्रिया में गरीब लोगों को बहुत मुसीबतें उठानी पड़ती हैं।

भारत के रुपए के निरंतर मूल्यह्रास से दुर्लभ मुद्रा में लिए गए ऋणों की अदायगी और मुश्किल हो जाती है क्योंकि इनकी अदायगी दुर्लभ मुद्रा में ही की जाती है। डालरों में ऋण की उसी राशि को अदा करने के लिए हमें रुपयों में अधिक मूल्य का निर्यात करना पड़ता है।

अब बाहरी ऋण घटकों की चर्चा की जाए। रिज़र्व बैंक भारत के बाहरी ऋण को निर्धारित करने के लिए (i) बाहरी सहायता - सार्वजनिक द्वि-पक्षीय और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अतिरिक्त बहु-पक्षीय स्रोतों से, (ii) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण, और (iii) बाहरी वाणिज्यिक ऋणों को शामिल करती हैं। अंतिम स्रोत से आम तौर से भारत में कम्पनियाँ ऋण लेती हैं। 70वें दशक के अंत तक बाहरी वाणिज्यिक ऋण का महत्व बहुत सीमित था किन्तु 80वें दशक में यह बहुत महत्वपूर्ण हो गया। इन तीनों घटकों के अतिरिक्त (iv) अप्रवासी भारतीयों की जमा देयताएँ और (v) भारत के अल्पकालिक ऋण को भी शामिल करना चाहिए। प्रथम के विषय में आँकड़े रिज़र्व बैंक स्वयं देता है और दूसरे के बारे में आँकड़े आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (O.E.C.D.) द्वारा मिलते हैं। तालिका 17.6 में रिज़र्व बैंक के आँकड़ों पर आधारित भारत के बाहरी ऋण भार को प्रदर्शित किया गया है (1-4 मदें)। तालिका 17.7 में रिज़र्व बैंक के आँकड़े और आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अल्पकालिक बाह्य ऋण के आँकड़ों को इकट्ठा करके दिखलाया गया है। इससे ऋण की सही तस्वीर मिलती है।

तालिका 17.6 : भारत का बाहरी ऋण (अल्पकालिक ऋण को छोड़कर)

(करोड़ रुपयों में)

मार्च अंत में	बाहरी सहायता	अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष	बाहरी वाणिज्यिक	अप्रवासी भारतीयों की की जमा देयताएँ	योग (1) + (2) + (3) + (4)
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
1985	24,004	4,888	6,908	3,819	39,619
1989	46,838	3,696	19,147	14,154	83,835

स्रोत : भारतीय रिज़र्व बैंक वार्षिक रिपोर्ट, 1988-89

1985 और 1989 के दौरान भारत की ऋण देयताएँ रुपयों में 21 प्रतिशत प्रति वर्ष चक्रवृद्धि दर से बढ़ीं। इसकी वृद्धि दर, बढ़ती ब्याज देयता, अधिक अदायगी और रुपये के घटते मूल्य के कारण तीव्रता से बढ़ रही है।

तालिका 17.7 : भारत का बाहरी ऋण

(करोड़ रुपयों में)

	तालिका 17.6 का योग	भारत का अल्पकालिक ऋण	योग
1985	39,619	3,065	42,689
1989	83,835	7,300	91,135

स्रोत भारतीय रिज़र्व बैंक और आर्थिक सहयोग और विकास संगठन आँकड़े।

अंतर्राष्ट्रीय वित्त संस्थान (I.I.F.) के अनुसार मार्च, 1989 में ऋण ग्रस्तता 96,000 करोड़ रुपए थी, अर्थात् प्रति भारतीय 1200 रुपए का बाहरी ऋण था।

मार्च, 1990 में अंतर्राष्ट्रीय वित्त संस्थान के अनुसार भारत का ऋण 1,33,000 करोड़ रुपयों को पार कर गया।

भारतीय रिज़र्व बैंक के अनुसार भारत का ऋण निर्यात (वस्तुओं + अदृश्य मदें) अनुपात मार्च, 1980 में 131 प्रतिशत था। मार्च, 1989 में यह 218 प्रतिशत तक पहुँचा।

ऋण सेवा अनुपात 1985-86 में 16 प्रतिशत और 1988-89 में 24 प्रतिशत था। आर्थिक सर्वेक्षण, 1988-89 के अनुसार सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में भारत की बाहरी सहायता औसतन 30.6 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ी है।

बोध प्रश्न 3

1 निम्नलिखित में अंतर बताइए :

i) ऋण और अनुदान

ii) आसान ऋण और कठोर ऋण

iii) विदेशी सहायता और बाहरी वाणिज्यिक ऋण

iv) परियोजना से बंधी सहायता और स्रोत से बंधी सहायता।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 विदेशी सहायता के क्या गुण और दोष हैं? उदाहरण देकर व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 i) बाहरी ऋण के कौन-से घटक हैं?

ii) आप किस प्रकार ऋणग्रस्तता की मात्रा और देश की साख को मापेंगे।

iii) क्या भारत ऋण जाल की ओर अग्रसर हो रहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.5 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ता हुआ संरक्षणवाद

संसार में आजकल संरक्षणवाद बढ़ रहा है। 30वें दशक की महान मंदी के बाद अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसा संकट कभी भी नहीं आया। 50वें और 60वें दशकों में औद्योगिक देशों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण औसतन 8 प्रतिशत प्रति वर्ष बढ़ा था। औद्योगिक देशों की वास्तविक घरेलू उत्पाद भी करीब 4 प्रतिशत बढ़ा। विदेशी व्यापार गुणक से व्यापारी देशों के निर्यात उपार्जन और आय में बहुत वृद्धि हुई। व्यापार उदारीकरण की प्रवृत्ति 1975 में पलट गई। इसने "नव संरक्षणवाद" को जन्म दिया। इसकी विशेषता "स्वैच्छिक निर्यात नियंत्रण" (VERS) डम्पिंग (dumping) विरोधी उपायों प्रतिकारी शुल्क के रूप में गैर-शुल्क अवरोधी (NTB) का अरोपण थी। जिन देशों में उद्योगों को माँग की कमी के कारण प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना पड़ता है, वहां देशीय बाज़ार संकुचित हो जाता है। अन्य देशों ने प्रतिकार किया। इस प्रकार प्रत्येक देश अपने देशीय बाज़ार की विदेशी प्रतिस्पर्धा से रक्षा करने लगा। फलतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रवाह कम हो गया। व्यापार अब विकास का अग्रदूत नहीं रहा। बढ़ते हुए गैर-शुल्क अवरोध (NTB) पिछली विश्व व्यापार प्रणाली के लिए बहुत गंभीर चुनौती हैं।

1975 से 1979 तक विश्व व्यापार की 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष वृद्धि हुई और 1980 से 1985 तक इसमें केवल 3 प्रतिशत की वार्षिक औसत वृद्धि ही हो सकी। 1980 तक व्यापार के विकास के अग्रदूत के रूप में धीमे पड़ने का कारण बढ़ते हुए संरक्षणवाद की अपेक्षा विश्व अर्थव्यवस्था के मंद विकास को समझा जा सकता है। 80 के दशक में दोनों के बीच एक दुष्चक्र का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें दोनों बातें एक-दूसरे को मज़बूत करती हैं। विदेशी व्यापार गुणक से विकास और रोज़गार के रूप में समृद्धि एक देश से दूसरे देश को एक सद्चक्र (virtuous cycle) द्वारा हस्तांतरित होती है, जबकि गैर-शुल्क अवरोध से एक देश की बेरोज़गारी दूसरे देश में हस्तांतरित होती है। इस प्रकार, आजकल "मंदी-संरक्षण" का चक्रीय प्रभाव (ratchet effect) दिखाई देता है।

17.5.1 गैर-शुल्क अवरोध और वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली

आजकल व्यापार और शुल्क से संबंधित आम समझौता वार्ता (GATT) के सफल होने से शुल्क अवरोध काफी कम हैं। इन वार्ताओं में अवरोध कम करने का समझौता बहु-पक्षीय रूप में किया गया था। इस प्रकार वे सब देश जो इन वार्ताओं में शामिल थे, शुल्क कम करने से उन सबको बराबर फायदा हुआ। हालाँकि औद्योगिक देशों को अपने अंतःउद्योग व्यापार में प्राथमिक वस्तुएँ निर्यात करने वाले विकासशील देशों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा लाभ हुआ।

1975-85 के दौरान स्पष्ट और निहित, दोनों गैर-शुल्क अवरोधों में बहुत तेज़ी से वृद्धि हुई। स्पष्ट गैर-शुल्क व्यापार अवरोधों का अर्थ आम तौर से कोटा, "स्वैच्छिक" निर्यात नियंत्रण (VERS) और सुरक्षा (डम्पिंग-विरोधी (anti-dumping) उपाय और प्रतिकारी शुल्क आदि)होता है। ये या तो सीधे GATT के नियमों के अधीन होते हैं (जैसे कोटा) या वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली के नियमों के अंतर्गत समझे जाते हैं। यद्यपि इस बात पर सर्वसम्मति है कि कौन-सा व्यवहार उचित है या अनुचित, विकसित देश अक्सर ऐसी कार्रवाई करते हैं जिनसे GATT की अवहेलना होती है और विकासशील देशों के हितों का हनन होता है।

तथापि निहित गैर-शुल्क व्यापार अवरोध से सबसे अधिक समस्याएँ और विवाद उत्पन्न हुए हैं। निहित गैर-शुल्क अवरोधों का संदर्भ उन सब प्रशासनिक नियमों से है जो देशीय उद्देश्यों

उदाहरणार्थ किसी देशीय उद्योग को सहायता (जैसे अमेरिका में स्टील) को प्राप्त करने के लिए लागू किए जाते हैं। ऐसे उद्योग के सामने संरचनात्मक मुश्किलें और रोज़गार में कमी की समस्याएँ आती हैं। यद्यपि इनका घोषित उद्देश्य आयातों को सीमित करना नहीं होता तथापि वे विदेशी संभरकों (suppliers) के साथ भेदभाव बरतते हैं जिसका फल यह होता है कि आयात सीमित हो जाते हैं। इनके उदाहरण हैं सरकारी आर्थिक सहायता, भेदभाव पूर्ण प्राप्ति (procurement) नियम, भेदभावपूर्ण स्वास्थ्य और सुरक्षा मानदंडों को लागू करना तथा वे सब देशीय बैंकिंग और वितरण प्रणाली के नियम जो विदेशी कम्पनियों के विरुद्ध देशीय कम्पनियों के साथ पक्षपात करते हैं। स्पष्टतः इन नियमों के व्यापारिक प्रभावों का लेखा-जोखा या गणना संभव नहीं।

कृषि व्यापार में भी; व्यापक देशीय आर्थिक सहायता कार्यक्रम के कारण गंभीर समस्याएँ हैं। आर्थिक सहायता, शुल्क, कोटा, स्वास्थ्य नियम आदि के शक्तिशाली तरीकों से अधिकतर विकसित देश—विशेषकर यूरोपीय आर्थिक समुदाय और अमेरिका, अपनी कृषि को संरक्षण देते हैं। ये शुल्क अक्सर निषेधक होते हैं।

तालिका 17.8 : निर्मित वस्तुओं के कुल उपभोग में सीमित निर्मित वस्तुओं के उपभोग का प्रतिशत

	अमेरिका	यूरोपीय आर्थिक समुदाय	जापान
1980	20.3	23.7	15.7
1981	32.7	26.0	15.7
1982	34.9	26.3	15.7
1983	35.0	28.0	15.7

स्रोत : बाटसा और बालसा (1984)

वर्ष	अमेरिका	इटली	फ्रांस	इंग्लैंड	प. जर्मनी	कनाडा	जापान
1983	34.1	33.7	27.2	22.1	19.5	9.6	7.4

स्रोत : क्लाइन (1984)

तालिका 17.8 से यह स्पष्ट होता है कि निर्मित वस्तुओं के कुल उपभोग का भाग एन.टी.बी. (गैर-शुल्क अवरोध) के अधीन अमेरिका में यूरोपीय आर्थिक समुदाय से अधिक है और जापान से तो बहुत ही अधिक है तथा यह 1980 से तेज़ी से बढ़ रहा है। क्लाइन के आंकड़े भिन्न हैं। यह अंतर कार्य-प्रणाली और परिभाषा के अंतर के कारण है। दोनों अध्ययनों में जापान को स्पष्ट गैर शुल्क अवरोध की अपेक्षा निहित गैर-शुल्क अवरोध पर अधिक निर्भर दिखाया गया है। इस कारण अनुमान कम स्तरीय हैं। गैर-शुल्क अवरोध द्वारा संरक्षित उत्पादों में वस्त्र, पोशाकें, स्टील शामिल हैं और हाल में मोटर गाड़ियाँ, मशीन के पुर्ज़े और उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक उत्पाद शामिल किए गए हैं। आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (1985) के अनुसार स्पष्ट एन.टी.बी. (अधिकांश वी.ई.आर. के रूप में) 1968 से 1983 तक चौगुना है।

निशाना अधिकतर जापान और एशिया के नव औद्योगिक देश बने हैं। एन.टी.बी. से प्रभावित निर्मित वस्तुओं के निर्यात का प्रतिशत 1980 और 1983 के दौरान 15 से बढ़कर 30 के ऊपर हो गया है। बहुतन्तु अनुबंध (multifibres agreements) में गैर-शुल्क अवरोध ने वस्त्र और संबंधित वर्ग की वस्तुओं का क्षेत्र और भी बढ़ा दिया है।

"स्वैच्छिक निर्यात नियंत्रण" तनिक भी स्वैच्छिक नहीं है। यह अन्य देश के प्रशासन द्वारा एक निश्चित अवधि में किसी राष्ट्र द्वारा किसी विशेष उत्पादन के निर्यात के परिमाण पर लागू किए गए कोटा हैं। निर्यात करने वाले राष्ट्र को यह अवरोध इस डर से स्वीकार करने पड़ते हैं क्योंकि कहीं बदले में और अधिक अवरोध न लगा दिए जाएँ।

17.5.2 संरक्षणवाद और नव औद्योगिक देश

ब्राज़ील, हांगकांग, कोरिया, मेक्सिको, सिंगापुर और ताइवान की औद्योगिक और निर्मित वस्तुओं

के सकल घरेलू उत्पादन (GDP) में तेज़ी से वृद्धि हुई है। 1965-85 के दौरान इन देशों का औद्योगिक निर्यात विकसित देशों के कुल आयात का अनुपात एक प्रतिशत से बढ़कर चार प्रतिशत हो गया। इन देशों (NICS) को वस्त्र, जूते, टी.वी. उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक उत्पादनों में तुलनात्मक लाभ हुआ है। इससे विकसित देशों के उत्पादन और रोज़गार में कमी हुई है। इसी कारण अवरोधों को लागू किया गया, विशेषकर वस्त्रों पर। यदि विकसित देशों का विकास 1975 के बाद उसी तेज़ी से हुआ होता जैसा कि 50 के और 60 के दशक में हुआ था, तो उन्होंने विकासशील देशों के निर्यात को घरेलू रोज़गार पर प्रतिकूल प्रभाव के बिना आत्मसात कर लिया होता। विकसित देशों के बाज़ारों तक पहुँच कम हो जाने के कारण जिन विकासशील देशों ने निर्यातोन्मुख विकास नीति अपनाई थी, वे रोज़गार, विकास और विदेशी ऋणग्रस्तता की बहुत-सी समस्याओं का सामना कर रहे हैं।

17.5.3 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली विकासशील देशों के प्रति अधिकाधिक भेदभावपूर्ण और स्वेच्छाचारी होती जा रही है। अंकटॉड (UNCTAD) के बहुत से अध्ययन यह प्रदर्शित करते हैं कि विकासशील देशों के निर्मित वस्तुओं के निर्यात के विरुद्ध शुल्क और गैर-शुल्क अवरोधों को विकसित देशों की तुलना में बहुत अधिक कर दिया गया है जिससे विकासशील देशों को व्यापार से लाभ कम होता है। यह बात विकासशील देशों के माल निर्यात के बारे में विशेष रूप से सही है। 80 के दशक में विकासशील देशों के व्यापार में स्थितियाँ (terms of trades) उत्तरोत्तर प्रतिकूल होती जा रही हैं और हाल के वर्षों में तो यह निम्नतर स्तर तक पहुँच चुकी है। यह बात गौर करने योग्य है कि वस्त्रों के बारे में दीर्घ अवधि वाले अनुबंध 60 के दशक में हुए थे। GATT प्रणाली ने बड़े पूंजीपति देशों का पक्षपात किया। इस प्रकार, 80 के दशक में भेदभावपूर्ण व्यवहार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए। GATT के बहु-पक्षीय या सबसे अधिक अनुग्रह वाले राष्ट्र (most favoured nations) के नियम के व्यवहारों का क्षय हो रहा है और पारदर्शी संरक्षण अर्थात् शुल्क या मूल्य आधारित संरक्षण का हाल के वर्षों में अत्यधिक वेग से क्षय हो रहा है।

वास्तविक ब्याज दरों की वृद्धि से ऋण-ग्रस्त विकासशील देशों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। हम इसकी और अधिक चर्चा भाग 17.7 में करेंगे।

17.5.4 केस स्टडी : वस्त्रों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षणवाद

संरक्षणवाद के प्रभाव के बारे में वस्त्रों का विशेष उदाहरण लेकर चर्चा करेंगे। 1982 और 1983 में वस्त्रों का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कुल विश्व के व्यापार का करीब 5-7 प्रतिशत था और निर्मित वस्तुओं के विश्व व्यापार का 9-12 प्रतिशत था। विकासशील देशों के लिए उनके निर्यात में वस्त्रों का भाग महत्वपूर्ण है। गैर-तेल विकासशील देशों की निर्मित वस्तुओं के कुल विश्व व्यापार में वस्त्रों का भाग करीब 27 प्रतिशत है और विकसित देशों की निर्मित वस्तुओं के निर्यात का 29 प्रतिशत है। इतना महत्व होने के बावजूद वस्त्रों को विश्व व्यापार के सामान्य नियमों अर्थात् GATT में शामिल नहीं किया गया। ये निर्यात विशेष और कम उदार नियमों के अंतर्गत आते हैं जिन्हें वस्त्रों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी व्यवस्था कहते हैं और ये बहुतन्तु अनुबंध (multifibre arrangement or MFA) कहलाते हैं। इस प्रणाली का विकास पिछले 25 वर्षों में हुआ है। आरंभ में यह अस्थायी रूप में थी, जिससे विकसित देशों में वस्त्र उद्योग और अधिक प्रतिस्पर्धात्मक हो जाए। किन्तु अब इसने अर्ध-स्थायी रूप धारण कर लिया है। बहु तन्तु अनुबंध (MFA) में तीन तन्तु उत्पादनों—सूती, ऊनी और मानव-निर्मित तन्तुओं पर नियंत्रण है।

इस प्रकार विकसित देशों के बढ़ते हुए संरक्षणवाद के कारण विकासशील देश अपने माल का निर्यात न कर पाने के कारण बढ़ते हुए ब्याज की दर पर अधिकाधिक वाणिज्यिक ऋण ले रहे हैं। कई लैटिन अमेरिकन देश ऋण जाल में फंस चुके हैं। उन्होंने अपनी साख खो दी है। अवस्फीतिक उपायों के द्वारा जिसका प्रभाव प्रतिव्यक्ति आय निवेशदर, वास्तविक मज़दूरी में गिरावट तथा बेरोज़गारी में वृद्धि है ये देश अपने निर्यातित माल का मूल्य कम करते हैं ताकि वे अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में ठहर सकें और दुर्लभ मुद्रा में ऋण को अदा कर सकें। कई देश तो ऋण स्थगन अथवा दिवालिया घोषित होने के समीप पहुँच गए थे। उत्तर के बढ़ते हुए संरक्षणवाद और दक्षिण की शोचनीय ऋणग्रस्तता का मुकाबला करने के लिए विकासशील देशों (दक्षिण) को आपस में एक-दूसरे से सहयोग करने की आवश्यकता है ताकि उत्तर अर्थात् विकसित देशों से व्यापार की बेहतर शर्तें प्राप्त की जा सकें।

बोध प्रश्न 4

1 विकासशील देशों के निर्यात के प्रति भेदभाव में गैर-शुल्क अवरोधों की भूमिका की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

2 क्या स्वैछिक निर्यात नियंत्रण (VERS) वास्तव में स्वैच्छिक है?

3 निम्नलिखित में अंतर बताइए :

i) स्पष्ट और निहित गैर-शुल्क अवरोध

ii) शुल्क और कोटा

4 निषेधक शुल्क क्या होता है?

17.6 साझा कोष (Common Fund) : विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने के लिए

साझा कोष के प्रस्ताव का अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कोई संबंध नहीं है। कभी-कभी दोनों को एक-दूसरे का पर्याय समझ लिया जाता है। 1974 में पहली बार यह प्रस्ताव रखा गया था कि एक वित्तीय तंत्र स्थापित किया जाए जो एक साथ विभिन्न वस्तुओं के अनुबंधों की देखभाल करेगा। इसीलिए इसे साझा कोष की संज्ञा दी गई। बाज़ार की स्थिति को स्थिर करने के लिए अनेक वस्तुओं के अनुबंधों के लिए अलग-अलग कोष होने की बजाय एक साझा कोष होना चाहिए जैसे कपास या टिन दोनों के बाज़ारों के लिए साझा कोष का इस्तेमाल किया जायेगा। यदि किसी एक काल में विभिन्न वस्तुओं के मूल्य अलग-अलग दिशाओं में जाएँ तो इस कोष से लाभ हो सकता है। यदि कपास का मूल्य बढ़ता है और टिन का मूल्य गिरता है तो कपास अंतर्राष्ट्रीय बफ़र स्टॉक से ले जा सकती है और इसके लिए धन कोष से लिया जा सकता है। इस कोष का प्रयोग टिन के

स्टॉक को अंतर्राष्ट्रीय विक्रय से रोकने के लिए किया जा सकता है, जिससे मूल्य बढ़ने में सहायता मिलेगी।

जब समस्त वस्तुओं के मूल्य एक साथ बढ़ते हैं, जैसा कि 1950-51 के कोरिया युद्ध की तेजी या 1972-74 की कीमत वृद्धि के दौरान हुआ था, साझा कोष अलग-अलग कोषों से बेहतर नहीं होगा। फिर भी अन्य मौकों पर साझा कोष के द्वारा सम्मिलित वित्त व्यवस्था में अलग वित्त व्यवस्था की अपेक्षा कुछ बचत है।

बफ़र स्टॉक के अस्तित्व और साझा कोष से उसका वित्तीयन होने से वस्तुओं के मूल्य में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अस्थिरता कम हो जाती है, जिससे प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादकों की निर्यात आय में स्थिरता आ जाती है।

साझा कोष के समर्थकों ने सम्मिलित कोष में एक मार्ग (second window) रखने का भी प्रस्ताव किया था। इसका यह अर्थ है कि साझा कोष केवल संबंधित वस्तुओं के अनुबंधों की वित्त आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं होगा, बल्कि इसको इस बात का भी अधिकार दिया जाएगा कि वह अन्य कार्यकलाप में भी कार्यशील हो सके जैसे कि उत्पादकों को अपनी वस्तुओं की तैयारी में सहायता करे। इसमें कच्ची शक्कर की बजाय परिष्कृत चीनी, खालों के स्थान पर जूते, कपास और सूत की बजाय सूती कपड़े आदि निर्यात करना शामिल है। इससे उत्पादकों को भी अपने निर्यातों का विविधीकरण करने में सहायता मिलेगी और इस प्रकार एक या दो वस्तुओं पर उनकी निर्भरता समाप्त हो जाएगी। एक या दो वस्तुओं पर निर्भर रहने से निर्यात की आय में बहुत उतार-चढ़ाव होते हैं। इसके अतिरिक्त, साझा कोष की दूसरे मार्ग से देशों के निर्यात संवर्द्धन या वस्तु निर्माण की प्रौद्योगिकी में सुधार करने के लिए शोध और विकास खर्चों में तथा बाज़ार शोध में सहायता मिलती है।

वस्तु मूल्य स्थिरीकरण (commodity price stabilization)

अंकटाड (UNCTAD) के "समन्वित वस्तु कार्यक्रम", जिसका साझा कोष प्रमुख अंश है, का संबंध 18 प्राथमिक वस्तुओं से है जो तेल को छोड़कर तृतीय विश्व की प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात का अधिकांश भाग है। तेल को इसमें शामिल नहीं किया गया है क्योंकि इसके उत्पादकों ने प्रभावी एक-तरफा कार्रवाई की है।

प्राथमिक वस्तुओं के मूल्य का स्थिरीकरण अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों का बहुत पुराना सपना रहा है। यह तृतीय विश्व के विकास से जुड़ा है क्योंकि विकासशील देश प्राथमिक वस्तुओं के बहुत बड़े निर्यातक होते हैं। विकास अर्थशास्त्र के एक विषय के रूप में पनपने के बहुत पहले केन्स (Keynes) ने प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों का स्थिरीकरण करने का समर्थन किया था। स्थिरीकरण के कारण निम्नलिखित हैं :

i) बगैर स्थिरीकरण नीति के मूल्यों के उतार-चढ़ाव से लाभ और हानि स्वेच्छाचारी प्रकृति के होते हैं;

ii) सट्टेबाज़ी के दरवाज़े खुल जाते हैं;

iii) विदेशी मुद्रा के संसाधन के लिए वस्तुओं की बिक्री पर निर्भर रहने वाले देशों के लिए अग्रिम नियोजन में बाधाएँ होती हैं;

iv) वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्य के मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव और वस्तुओं के गिरते हुए मूल्य के अप-स्फीतिक प्रभाव का समष्टि आर्थिक चरों पर प्रतिकूल असर होगा।

इसके अतिरिक्त, बड़ी कम्पनियों द्वारा नियंत्रित निर्मित वस्तुओं के मूल्य प्राथमिक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक स्थिर होते हैं।

अतएव, प्राथमिक वस्तुओं की मूल्य स्थिरता विकसित और अविकसित देशों, दोनों के लिए वांछनीय है।

जहाँ यह प्रश्न उठता है कि किस स्तर पर मूल्य का स्थिरीकरण किया जाए, उत्पादक और उपभोक्ता देशों में झगड़ा उठ खड़ा होता है। यदि किसी को यह मालूम हो कि वस्तु का मूल्य अगले दस वर्षों में कैसा होगा और एक औसत स्तर पर वस्तु के मूल्य को स्थिर करने पर समझौता हो जाए तो प्रत्येक देश संतुष्ट होगा। किन्तु हम सर्वज्ञ नहीं हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव में कहा गया है कि मूल्य उत्पादकों के लिए लाभकारी और उपभोक्ताओं के लिए उचित होना चाहिए। किन्तु इससे भी कोई बात नहीं बनती। प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातक विकासशील देशों को शिकायत है कि न केवल मूल्य की अस्थिरता बल्कि उनके उत्पादों के विरुद्ध

एन.बी.टी.टी. की चिरकालिक अवनति हुई है। यदि विकासशील देशों को उनकी वस्तुओं का बेहतर मूल्य मिल जाता है तो विकसित देशों को भी यह लाभ होगा कि विकासशील देशों की आयात क्षमता बढ़ने से विकसित देशों की पूंजीगत वस्तुओं और प्रौद्योगिकी के निर्यात को बढ़ावा मिलेगा।

फिर भी, विकसित देश साझा कोष और 18 वस्तुओं के लिए अंकटाड कार्यक्रम के अंतर्गत वस्तु अनुबंधों के संबंध में वार्ता के विरुद्ध हैं। उनका विरोध मूल्यों के स्थिरीकरण के विरुद्ध नहीं है, बल्कि उनको बढ़ाने के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, साझा कोष से भारत जैसे गरीब देशों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न विकासशील देशों को अधिक लाभ होगा। इसमें अपवाद भी हो सकते हैं। जूट की ऊँची कीमतों से बंगलादेश और भारत के लघु स्तर के उत्पादकों को लाभ मिलेगा। लेकिन भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका और बंगलादेश जैसे देशों के यह हित में होगा कि वे जूट, कपास और चाय के निर्यात में एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करने की अपेक्षा एक-दूसरे का सहयोग करें। प्रतिस्पर्धा में आकर मूल्यों का बराबर गिरने से निर्यात आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और उनका व्यापार शेष और ऋण भार बढ़ता जाएगा।

अंकटॉड के एकीकृत वस्तु कार्यक्रम में एक प्रस्ताव यह भी था कि प्राथमिक वस्तुओंन के मूल्यों को सूचकांकों से संबद्ध कर दिया जाए अर्थात् यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इस बात में दम नहीं है कि प्राथमिक उत्पादों के मुद्रा मूल्यों को स्थिर किया जाए जबकि उनकी व्यापार स्थिति (terms of trade) बिगड़ रही हो।

साझा कोष को विकासशील देशों की बाज़ार में टिकने की शक्ति पर भी विचार करना चाहिये। अभी आर्थिक दृष्टि से बहुत कमज़ोर उत्पादक देशों की अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में टिकने की शक्ति बहुत सीमित है। विदेशी मुद्रा की तुरंत आवश्यकता और स्टॉक रखने की आर्थिक क्षमता न होने से उनको मंदे बाज़ार में प्रतिस्पर्धा के कारण माल बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वस्तु-आधिक्य समय-समय पर अवश्यंभावी हो जाता है क्योंकि अधिकांश वस्तु उत्पादन का बदलती हुई माँग के साथ शीघ्रता से समायोजन नहीं हो पाता। ये विपत्तिमय बिक्री (distress sales) आम तौर से सट्टे बाज़ार के द्वारा की जाती है। इससे आर्थिक रूप से सम्पन्न विकासशील देशों को भी प्रतिस्पर्धा में विक्रय करने पर बाध्य होना पड़ता है क्योंकि उन्हें बाज़ार में उनके भाग के खाने की चिन्ता होती है। विक्रय का यह दबाव विकसित देशों के आर्थिक रूप से सुदृढ़ कुछ खरीदारों के कारण होता है जो अपनी खरीद को इस आशा में स्थगित करते हैं कि शायद मूल्य और कम हो जाएं।

इसके अतिरिक्त, साझा कोष का एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि निर्यात के लिए एक न्यूनतम मूल्य (floor minimum price) मिल जाए। इस प्रकार के उपाय से बाज़ार में तबाही (market crashing) रुक जाएगी, जोकि उस समय होती है जबकि प्राथमिक वस्तु बाज़ार में अति की स्थिति (glut condition) होती है। इस प्रकार, वस्तु का सामान्य मूल्य निर्धारण, इसके उतार-चढ़ाव की परिधि निर्धारण और वस्तु मूल्यों का निम्न स्तर, निश्चित करना साझा कोष की सहायता के लिए पूर्व शर्तें हैं।

अंतर्राष्ट्रीय वस्तु अनुबंधों को लागू करना साझा कोष के परिचालन के लिए पहली शर्त है। फिर भी,

क) ऐसी बहुत कम वस्तुएँ हैं जिनमें विधिवत और सार्वभौमिक अनुबंधों को अंतिम रूप देना संभव हो सका है;

ख) वे समझौता करने में बहुत समय लेते हैं;

ग) समझौता होने के बाद वे अक्सर संचालन में टूट जाते हैं; और

घ) मध्यवर्ती कदम (अनौपचारिक व्यवस्था, उत्पादकों का संचालन सहयोग) उठाए गए हैं, किन्तु उनकी सफलता असंतोषजनक रही है।

साझा कोष 1989 में संचालित हो पाया। जैसा कि चर्चा कर चुके हैं, साझा कोष में दो खाते होते थे। पहला खाता जो बफर-स्टॉक संचालन (buffer stocking operations) से संबंधित है, के सक्रिय खाता होने की संभावना नहीं। दूसरा खाता वर्तमान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। इससे यह मालूम होगा कि किस प्रकार गरीब देश अपनी वस्तुओं और उनकी विधायन प्रक्रिया को सुधार सकते हैं। जैसा कि पहले आशा थी, कोष उस वांछित राशि से बहुत कम है। एक दशक पूर्व एक बिलियन डालर से इसे आरंभ करने का प्रस्ताव था, किन्तु एक दशक पश्चात् यह इसकी आधी राशि से आरंभ हो रहा है। हाल में कॉफी के मूल्यों में ह्रास, टिन के विशेष अनुभव,

असंगठित "तेल निर्यातक देश (ओपेक)" और आमतौर से वस्तुओं के बाज़ार की दशा से उम्मीद के लिए कोई भी स्थान नहीं रह गया है।

17.7 नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली (NIEO) की संकल्पना और भारत पर उसका प्रभाव

ई.ई.सी.-01 के खंड 9 के अंत में नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली प्रवृत्ति की संक्षेप में चर्चा की जा चुकी है। भारत ने आर्थिक आत्म पोषण की नीति पर चलने का निश्चय किया है। भारत के संदर्भ में आत्म पोषण, आत्मनिर्भरता (विदेश व्यापारहीनता या artarky) से भिन्न है। भारत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद नहीं करना चाहता है बल्कि वह अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बराबर के भागीदार के रूप में हिस्सा लेना चाहता है। भारत की सदैव यह मान्यता रही है कि विश्व में सब एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यदि कुछ शर्तें पूरी हो जाएं तो सारे देश अंतर्राष्ट्रीय विनिमय से लाभ उठा सकते हैं। भारत की भाँति, बहुत से विकासशील देश मिश्रित अर्थव्यवस्था होने के कारण आत्म निर्भरता (विदेश व्यापारहीनता) का रास्ता स्वीकार नहीं करना चाहते हैं। प्रभुत्व और निर्भरता के संबंधों (dominence - dependence relationships) के संसार में यह रास्ता समाजवादी देशों ने चुना था। वे ऐसी निहित स्थिति पैदा करना चाहते थे जिसमें प्रत्येक देश एक-दूसरे से सहयोग करे और व्यापार में लाभ उठाए। इस प्रकार व्यक्तिगत आत्म-पोषण के स्थान पर सामूहिक आत्म-पोषण का उद्‌भव हुआ।

नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की संकल्पना दो दृष्टिकोणों पर आधारित है। पहली, इस बात की अनुभूति कि वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक ढाँचे में, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होता है, अक्सर विकसित देशों के हितों का संवर्द्धन विकासशील देशों की कीमत पर होता है। दूसरा पक्ष यह है कि सारे राष्ट्र, विशेषकर विकासशील राष्ट्र इस बात की भरपूर चेष्टा करें कि एक परस्पर निर्भर, समतावादी विश्व समुदाय की स्थापना हो जिसमें सबकी बराबरी की भागीदारी हो। एल.आर. ब्राउन जैसे व्यक्तियों ने इसे (सीमा रहित विश्व की स्वप्निल) आदर्श स्थिति (uptopian dream) के बाद सबसे अच्छा विकल्प बताया है।

नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के दर्शन के पीछे विकासशील देशों को आय और धन के पुनर्वितरण की भावना है। यह तर्क दिया जाता है कि ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, डेनमार्क, जर्मनी जैसे विकसित देशों ने साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी के रूप में अल्पविकसित देशों का शोषण किया और वर्तमान विकासशील देशों के विकास और वृद्धि को अवरुद्ध किया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने यही लैटिन अमेरिका में किया। इसलिए विकसित देशों का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे विकासशील देशों के नुकसान की भरपाई करें।

दूसरे, यह नई व्यवस्था उत्पादों का उचित मूल्य प्राप्त करवाना चाहती है। आर्थिक रूप में इसका अर्थ औद्योगिक उत्पादों की कीमतों के सूचकांकों को प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों से संबद्ध करना। इससे औद्योगिक देशों के उत्पादों की तुलना में विकासशील देशों के उत्पादों की बिगड़ती हुई व्यापार स्थिति पर अंकुश लगेगा।

तीसरे, मूल्य में तीव्र उतार-चढ़ाव से प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादकों की आय में अस्थिरता पैदा होती है। नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक उद्देश्य क्षतिपूरक कोष का प्रावधान करना है। इससे विपत्ति के समय उत्पादकों को सहायता मिलेगी। पिछले भाग में इस बात की चर्चा की गई थी कि साझा कोष प्रस्ताव के 15 वर्षों के बाद आखिरकार 1989 में स्थापित हुआ। साझा कोष नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली का एक प्रमुख उद्देश्य है।

चौथे, विकासशील देशों को अपने उत्पादों को स्वयं बेचने में अनेक समस्याएँ सामने आती हैं। इस संबंध में विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वे विकासशील देशों के छोटे उत्पादकों से माल खरीदने के लिए शर्तें तक निर्धारित करती हैं। नई प्रणाली में विकासशील देश अपनी वस्तुओं का मूल्य और उत्पाद-विनिर्देश निर्धारित करने का अधिकार मांगते हैं। वे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर निर्भरता से मुक्ति पाना चाहते हैं क्योंकि उन्हें नव-उपनिवेशवाद का दलाल समझा जाता है।

पाँचवे, विकसित देश स्पष्ट और निहित, दोनों प्रकार के शुल्क और गैर-शुल्क अवरोधों से सुसज्जित होकर विकासशील देशों के निर्यातित उत्पादों के विरुद्ध भेदभाव करते हैं। नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के आदेश (dictates) के अनुसार, विकसित देशों को विकासशील

देशों से आयात के स्तर पर कायम रखना चाहिए, गैर-शुल्क अवरोधों को, जिनसे आयात में बाधा पड़ती है, समाप्त करना चाहिए और विकासशील देशों के उत्पादों के लिए अधिक अनुकूल शर्तें प्रदान करनी चाहिए।

छठे, विकसित देशों को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद की 0.7 प्रतिशत तक की विदेशी सहायता विकासशील देशों को देने के लिए वचनबद्ध होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, सहायता का प्रवाह एक-सा, बिना किसी बंधन के और गारंटी पूर्ण होना चाहिए। विकसित देशों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों जैसे विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अपना अंशदान बढ़ाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, विकासशील देशों को दिये जाने वाले ऋण की शर्तों को कम कठोर बनाना चाहिए। अत्यधिक ऋणग्रस्त देशों को ऋण की अदायगी के कार्यक्रम का पुनर्निर्धारण होना चाहिए और ऋण की सुविधा मिलनी चाहिए।

सातवें, विकासशील देश वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग विकसित देशों से प्राप्त करते हैं। वे विकसित देशो से समुचित प्रौद्योगिकी प्राप्त करना चाहते हैं केवल उधार ली गई तकनीकी नहीं। यह प्रौद्योगिकी देशीय वैज्ञानिक जन-शक्ति, निपुणता, साधनों की उपलब्धि और देशीय माँग की स्थिति के अनुरूप होनी चाहिए।

नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की कल्पना विकासशील देशों द्वारा तेल निर्यातक देशों के संगठन "ओपेक" की स्थापना और पेट्रोलियम के मूल्य में वृद्धि की सफलता से संबंधित है। ऐसा लगा था कि वह समय बीत गया जब विकासशील देशों के हित विकसित देशों की ताबेदारी में हों। ऐसा महसूस किया गया कि यदि विकासशील देश संगठित हो जाएँ और विभिन्न उत्पादों के लिए संघ बना लें तो उन्हें अपने उत्पादों के बेहतर मूल्य प्राप्त हो सकते हैं। इन सबके ऊपर सार्वभौम परस्पर निर्भरता की अनुभूति थी, जहाँ विकसित और विकासशील देश एक-दूसरे पर आर्थिक रूप से निर्भर हैं। विकसित देश कच्चे माल, ऊर्जा और गैर-ऊर्जा खनिजों तथा खाद्य पदार्थों के लिए विकासशील देशों पर निर्भर हैं। सार्वभौम केन्ज़वाद (global Keynsianism) की विशेषताएँ नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली द्वारा कार्यान्वित की जाएँगी। सार्वभौम केन्ज़वाद में विदेश व्यापार गुणक निहित हैं जो सारे व्यापारिक भागीदारों, के उपभोग, निवेश और उत्पादन में वृद्धि को प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार, नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली शोषण के अंत और सारे व्यापारिक देशों द्वारा व्यापार के लाभ की भागीदारी में विश्वास करती है।

नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की सीमा यह है कि उसके उद्देश्य स्पष्ट हैं, किन्तु इन उद्देश्यों को पूरा करने के साधन अस्पष्ट हैं। नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के उद्देश्यों को संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन (अंकटाड) ओर अन्य अंतर्राष्ट्रीय मंचों ने उठाया है किन्तु ये मंच विश्व को इन सूत्रबद्ध और सुस्पष्ट सिद्धांतों को मनवाने के लिए कोई कानूनी भूमिका नहीं निभा सकते हैं।

बोध प्रश्न 5

1 साझा कोष क्यों आवश्यक है? इसकी दो मार्ग (windows) के क्या कार्य हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 विकासशील देशों में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली से असंतोष और नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

17.8 सारांश

समस्त योजना काल में भारत के भुगतान शेष के चालू खाते में घाटा रहा। भारत का कुल खर्च कुल उत्पादन से अधिक रहा। इस घाटे से देशीय बचत के ऊपर देशीय निवेश का आधिक्य समाप्त हो गया। भुगतान-शेष की तालिकाओं में हमने देखा कि व्यापारिक घाटे को एक-पक्षीय हस्तांतरण, चाहे वह निजी हों या सार्वजनिक, और अदृश्य मदों से पूरा किया गया, विशेषकर 1973 की पेट्रोल की तेज़ी के समय से। भुगतान-शेष में जो घाटा रह गया था वह द्वि-पक्षीय और बहु-पक्षीय सार्वजनिक स्रोतों की बाहरी सहायता से पूरा किया गया। बाहरी सहायता न मिलने पर भारत को 1981 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से अत्यधिक मात्रा में ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। चालू खाते के अंतराल को पाटने में बाह्य वाणिज्यिक ऋण और भारतीय बैंकों में अप्रवासी भारतीयों के विदेशी मुद्रा जमा अहम् भूमिका निभाते रहे हैं। किन्तु ऋणों की ब्याज दर बाहरी सहायता की तुलना में अत्यधिक है। व्यापार और भुगतान के बढ़ते हुए घाटे से बाह्य ऋण चिन्ताजनक स्थिति में पहुँच रहा है। वर्तमान में प्रति भारतीय 1200 रुपए का बाहरी ऋण है। बढ़ते हुए ऋण-सेवा अनुपात को देखकर अर्थशास्त्रियों ने सावधान किया है कि लैटिन अमेरिका के देशों की भाँति, भारत भी ऋण जाल में फंसने जा रहा है।

नियत विनिमय दर प्रणाली के समय भारत कोटा और लाइसेंस के परिमाणात्मक प्रतिबंधों पर निर्भर करता था। इसमें दुर्लभ विदेशी मुद्रा विभिन्न आयात के प्रार्थियों को शीघ्र और बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण तथा अनावश्यक आयातों पर अंकुश लगाने की योजनाबद्ध प्राथमिकताओं के आधार पर आबंटित की जाती थी। यह विदेशी मुद्रा नियंत्रण प्रणाली मुक्त और लचीली विनिमय दर प्रणाली के मुक्त प्रवाह (laissez-faire) सिद्धांत के बिल्कुल विपरीत थी। केन्द्रीय योजना प्राधिकरण ने भुगतान शेष की समस्याओं को निपटाने के लिए मुक्त बाज़ार तंत्र को स्थानच्युत कर दिया। जून, 1966 तक रुपया अधिक अधिमूल्यित समझा जाता था और भारत सरकार को बाध्य होकर 1966 में रुपए का अवमूल्यन करना पड़ा। किन्तु, फिर भी भुगतान शेष में सुधार नगण्य रहा। 1971 तक केवल भारत ही नहीं, वरन् अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था नियत विनिमय दर प्रणाली के आधार पर संचालित होती थी। 1971-75 के दौरान भारतीय रुपया ब्रिटेन के पौण्ड-स्टर्लिंग से बांधा गया अर्थात् रुपया-पौण्ड का विनिमय दर नियत हो गया। किन्तु, अन्य दुर्लभ मुद्राओं (hard currencies) के संबंध में पौण्ड के परिवर्तनशील मूल्य ह्रास का अर्थ भारतीय रुपए का भी मूल्यह्रास था। इससे भारत के भुगतान शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। अगस्त, 1975 से भारतीय रुपया दुर्लभ मुद्राओं की टोकरी से बंध गया है, जिनके भार (weights) और घटकों को प्रकट नहीं किया जाता है।

वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यापार वातावरण अत्यधिक प्रतिकूल है। 70 के दशक में विकसित देशों की विकास दर बहुत धीमी पड़ गई थी। अस्सी के दशक में बढ़ती हुई बेरोज़गारी और मंदी से संकट और गहरा हो गया है। मुक्त व्यापार का स्थान संरक्षणवाद ले रहा है। विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के निर्यात पर व्यापार अवरोध लागू करने से विकासशील देशों के लिए अंतर्राष्ट्रीय ऋण के बगैर आवश्यक पूंजीगत वस्तुओं और प्रौद्योगिकी का आयात बहुत मुश्किल हो रहा है। साख कम हो जाने से ऋण की शर्तें बहुत कठोर हो गई हैं। इसके अतिरिक्त, अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक वित्तीय संस्थाएँ तथा उनके संचालन के नियम विकासशील देशों के विरुद्ध भेदभाव (discrimination) कहते हैं। सामूहिक आत्म-पोषण से वे भेदभाव के विरोध में तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ के समतावादी वितरण के लिए आवाज़ उठा सकते हैं। इसके लिए नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता है, जिसमें बदला लेने और गलघोंटू प्रतिस्पर्धा तथा अवरोध खड़ा करने के स्थान पर सार्वभौमिक सहयोग से बिना सीमाओं के विश्व का स्वप्न संभव हो सकता है।

17.9 शब्दावली

साझा कोष : विकासशील देशों ने इसे 1974 में प्रस्तावित किया और इसकी स्थापना 1989 में हुई। यह एक वित्तीय तंत्र है जो इस अर्थ में साझा है कि यह विभिन्न वस्तुओं के उन अनुबंधों की देखभाल करेगा जो प्राथमिक वस्तुओं के बाज़ार भाव और विकासशील देशों की निर्यात आय को स्थिर करने के लिए किए जाएंगे। दूसरे, यह उन उत्पादकों की सहायता करेगा, जो अपनी वस्तुओं की विधायन प्रक्रिया को बढ़ाने, निर्यात संवर्द्धन और शोध इत्यादि में कार्यशील होते हैं। किन्तु, 1989 में इसकी स्थापना के बाद वस्तुओं के मूल्य स्थिरीकरण में साझे कोष की भूमिका बहुत सीमित रही है।

ऋण-सेवा अनुपात : यह एक वर्ष में ऋण के मूलधन और ब्याज की अदायगी और उस वर्ष में देश के कुल निर्यात का अनुपात होता है। यह किसी देश की ऋणग्रस्तता का सूचक होता है और ऋण अदा करने की क्षमता को मापता है। वर्तमान में भारत का ऋण-सेवा अनुपात करीब 30 प्रतिशत है। इस प्रकार, निर्यात मूल्य का करीब 30 प्रतिशत ऋण को ब्याज सहित अदा करने में खर्च हो जाता है। आम तौर से 20 प्रतिशत तक की सीमा ऋण सेवा अनुपात के लिए सुरक्षित समझी जाती है।

ऋण जाल : किसी देश को उस समय ऋण जाल में ग्रस्त कहा जाता है जब वह ऋण की किस्त और ब्याज बिना नये ऋण लिए हुए अदा नहीं कर सकता। पुराने ऋण को अदा करने के लिए नए ऋण लेने से कुल ऋण और ऋण-सेवा अनुपात और बढ़ जाता है। ऋण आंतरिक या बाहरी हो सकता है। इस इकाई में हमने केवल बाहरी ऋण जाल की चर्चा की है। बहुत से लैटिन अमेरिकी देश इस जाल में फंस चुके हैं। यदि भारत की वर्तमान ऋण लेने की गति चालू रही तो शीघ्र ही यह भी इस जाल में फंस जाएगा।

विनिमय नियंत्रण प्रणाली : इसका संबंध किसी देश की व्यापार नीति से है जिसमें मूल्य तंत्र की अपेक्षा परिमाणात्मक प्रतिबंध विदेशी मुद्रा के बाज़ार को संचालित करते हैं। अवमूल्यन और शुल्क मूल्य तंत्र के उदाहरण हैं। कोटा और लाइसेंस विनिमय नियंत्रण प्रणाली से संबंधित हैं। सरकार कुछ मानदंडों और प्राथमिकताओं के आधार पर आयातकों को दुर्लभ विदेशी मुद्रा आबंटित करती है। यह प्रणाली उस समय प्रासंगिक होती है, जब सरकार नियोजित आर्थिक विकास के दिशा निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाती है। इस प्रकार, विनिमय नियंत्रण प्रणाली में मूल्य तंत्र की अपेक्षा नियोजन विदेशी मुद्रा संसाधनों के आबंटन में निर्णायक भूमिका निभाता है।

विनिमय दर : सरकारी, बाज़ार निकासी, अधिमूल्यन और अवमूल्यन : मुद्रा प्राधिकारी द्वारा निर्धारित विनिमय दर सरकारी विनिमय दर कहलाती है। भारत में भारतीय रिज़र्व बैंक डालर, पौण्ड-स्टर्लिंग आदि जैसी विदेशी मुद्राओं के संबंध में रुपए की विनिमय दर निश्चित करता है। यह विनिमय दर ज़रूरी नहीं कि बाज़ार की निकासी विनिमय दर हो। भारत में 50वें और 60वें दशकों के अधिकांश भाग में भारत की विनिमय दर से बाज़ार की निकासी नहीं होती थी। अतः यह अधिमूल्यित थी। इसका अर्थ यह है कि विदेशी मुद्रा के संबंध में रुपए का मूल्य विदेशी मुद्रा बाज़ार में निकासी से कहीं अधिक था। चूँकि रुपया अधिमूल्यित था, रुपए के अवमूल्यन से डालर के संबंध में रुपए का मूल्य कम हो गया। इस प्रकार जून, 1986 में रुपए का मूल्य 0.22 डालर से घटकर 00.13 डालर रह गया।

बाह्य ऋण : यदि कोई देश किसी व्यक्ति की भाँति अपनी आय या उत्पाद से अधिक खर्च करता है तो उसे दूसरे देशों से या अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से - निजी या सार्वजनिक - वाणिज्यिक या अवाणिज्यिक - अथवा विदेशों में रहने वाले व्यक्तियों से अधिक खर्च को पूरा करने के लिए ऋण लेना पड़ता है। भारत के चालू खाते का घाटा हाल के वर्षों में राष्ट्रीय आय का 2 प्रतिशत है। इसका अर्थ है कि भारत 100 रुपए कमाता है और 102 रुपए खर्च करता है। यदि हम एक-पक्षीय हस्तांतरण आमद और भारत में दीर्घकालिक पूंजी का आप्रवाह तथा अनुदानों को छोड़ दें तो अंतर आम तौर से बाहरी ऋण होता है। भारत के बाहरी ऋण के पाँच प्रमुख घटक हैं : (i) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को छोड़कर सार्वजनिक द्वि-पक्षीय और बहु-पक्षीय स्रोतों से बाहरी सहायता, (ii) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण, (iii) बाहरी वाणिज्यिक ऋण, (iv) अप्रवासी भारतीयों की जमा तथा देयताएँ, और (v) भारत के अल्पकालिक ऋण। ऋण को अदा करना होता है, अनुदान को नहीं। अतएव अनुदान बाहरी ऋण नहीं है।

विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष : साधारणतया किसी देश का केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा अपने पास रखता है। यह कोष भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने में निःशेष हो जाता है। जब भुगतान शेष में आधिक्य होता है तो कोष की वृद्धि होती है। सच पूछिए तो इस कोष में वृद्धि/निःशेषता उस

समय होती है जब विनिमय दर मुद्रा प्राधिकारी निश्चित करते हैं। सिद्धांत में, जब विनिमय दर लचीली हो तो विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति बाज़ार निकासी संतुलन विनिमय दर निर्धारित करते हैं। अत: लचीली विनिमय दर व्यवस्था में विदेशी मुद्रा रक्षित कोष नहीं होगा। वर्तमान में भारत ने परिवर्तनशील विनिमय दर प्रणाली अपनाई है जो न तो पूर्ण रूप से निश्चित है और न ही लचीली। रुपए की विनिमय दर में निरंतर परिवर्तन होता है। विनिमय दर में यह परिवर्तन आंशिक रूप से विदेशी मुद्रा आरक्षित कोष में परिवर्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। कोष की निःशेषता से यह संकेत मिलता है कि विनिमय दर अधिमूल्यित है। अत: भारतीय रिज़र्व बैंक भुगतान शेष में संतुलन लाने के लिए रुपए का अवमूल्यन कर देता है।

अदृश्य मदें : अदृश्य मदों का संदर्भ उन मदों की अदायगी या आमद से हैं जो बैंकिंग, बीमा, जहाज़रानी, पर्यटन आदि के जरिए होती है। इस प्रकार, अदृश्य मदों में व्यापार सेवाओं में व्यापार है।

गैर-शुल्क अवरोध-स्पष्ट और निहित : स्पष्ट गैर-शुल्क अवरोध का अर्थ सादारणतया कोटा से होता है जिसे स्वैच्छिक निर्यात नियंत्रण (VER) और सुरक्षा (डम्पिंग विरोधी उपाय, प्रतिकारात्मक शुल्क आदि) कहा जाता है। कोटा से विभिन्न वस्तुओं के आयात की मात्रा निश्चित होती है। भारत जैसे विकासशील देश कोटा के आधार पर पूंजीगत वस्तुएँ और कच्चे माल के आयात की अनुमति देते हैं। चूँकि विदेशी मुद्रा दुर्लभ है और औद्योगीकरण को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है, इसलिए हम विलासिता की वस्तुओं का आयात करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए कोटा की आवश्यकता है। विकसित देश अपने उद्योगों को संरक्षण देने के लिए विकासशील देशों की प्राथमिक वस्तुएँ और वस्त्र आदि के निर्यात पर कोटा लागू करते हैं। स्वैच्छिक निर्यात नियंत्रण, वास्तव में स्वैच्छिक नहीं होते हैं। विकासशील देशों को विकसित देशों द्वारा थोपे गए नियंत्रण को इस डर से स्वीकार करना पड़ता है कि कहीं और अधिक व्यापारिक अवरोध न लगा दिए जाएं। डम्पिंग का अर्थ होता है कि विदेशी बाज़ार में सस्ता और देशीय बाज़ार में महंगा बेचा जाए। अक्सर यह अकुशल या उदीयमान उद्योगों के विकास को प्रभावित करता है।

निहित गैर-शुल्क व्यापार अवरोधों का अर्थ स्वास्थ्य सुरक्षा जैसे प्रशासनिक नियमों से, जो आयात सीमित करने के इरादे की बगैर घोषणा किए कुछ देशीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए लागू किए जाते हैं। फिर भी, ये विदेशी आपूर्तिकर्ताओं के विरुद्ध भेदभाव करते हैं और आयात को सीमित करते हैं। यह किसी देश की साख का सूचक भी हैं।

विशेष आहरण अधिकार (SDR) : यह मुद्रा के समान होता है। यह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के साथ प्रयोग में आया। यह खाते की इकाई और अस्थगित भुगतान के मानक का कार्य करता है। यह रुपए की भाँति देशीय मुद्रा नहीं है, भौतिक रूप से इसका अस्तित्व भी नहीं है। किन्तु यह मुद्रा का कार्य करता है यद्यपि इसकी भूमिका अंतर्राष्ट्रीय सौदों तक ही सीमित है। देशीय सौदों के लिए इसका कोई कार्य नहीं है। जबकि भारत का रुपया मुद्राओं की एक टोकरी से बंधा हुआ है, कुछ मध्य-पूर्वी देश विशेष आहरण अधिकार (एस.डी.आर.) से बंधे हुए हैं, जिन्हें सोलह प्रमुख मुद्राओं का भारात्मक औसत भी कहा गया है।

17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, ए.एन. : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, 1988, अध्याय 39.

दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस. चांद एंड कम्पनी, नई दिल्ली, 1990,

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालय पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1989, अध्याय 41.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण : *भारतीय अर्थशास्त्र,* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, अध्याय 38.

Bagchi, A.K., (Feb. 10, 1990) 'An Economic Policy for the New Government' in *Economic and Political Weekly*, Bombay.

Balasubramanyam, V.N. (1984) *The Economy of India*, West View Press; Boulder, Colorada.

Chaudhuri, Pramit. (1985) *The Indian Economy : Poverty and Development*, Chapter 4 : portion on Foreign Aid.

Jha. S. (August 19, 1989) 'Common Fund' in *Economic and Political Weekly*, Bombay.

Lucas, Robert E.B. and Papanek, Gustav F (1988) *The Indian Economy : Recent Development and Future Prospects*, Oxford University Press, Delhi. Article by C. Rangarajan titled "India's Foreign Borrowing".

Mongia (ed) (1984) *India's Economic Policies*, New Delhi, Article by S. Nayak, 'Exchange Rate Policy, 1990.'

Nayyar, Deepak (1982) 'India's Balance of Payments' Economic and Political Weekly, Annual Number

Singh, H., N. Hatti and R. Tandon (eds), (1987) *International Commodity Policy*, New World Order Series, Ashish Publishing House, New Delhi.

Singh, H., N. Hatti and R. Tandon (eds) (1988) *New Protectionism and Restructuring*, New World Order Series, Ashish Publishing House, New Delhi, Articles 7,8, 24 and 25.

Sodersten, Bo, (1980) *International Economics*, Second Edition, Macmillan, London, Chapters 14, 16, 18 and 19.

Todaro, Michael P 1982 *Economics for a Developing World* Second Edition, Longman, London, Chapters 21, 22 and 25.

17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 उपभाग 17.2.3 देखिए।

2 चालू खाते के घाटे को पूरा करने के लिए बाह्य ऋण, अप्रवासी भारतीयों की जमा, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋण और वाणिज्यिक ऋण की भूमिका की चर्चा कीजिए।

बोध प्रश्न 2

1 उपभाग 17.3.1 देखिए।

2 उपभाग 17.3.1 के अंतिम से पहले पैरे को देखिए।

3 उपभाग 17.3.2 के प्रथम पैरा को देखिए।

4 भारत की विनिमय दर निर्धारण में मुद्राओं के समूह (basket) की भूमिका की चर्चा कीजिए।

बोध प्रश्न 3

1 i) भाग 17.4 के चौथे पैरे को देखिए।
ii) भाग 17.4 के चौथे पैरे को देखिए।
iii) भाग 17.4 के तीसरे पैरे को देखिए।
iv) भाग 17.4 के पाँचवे पैरे को देखिए।

2 भाग 17.4 देखिए।

3 i) ऋण जाल के उपभाग के छठे पैरे को देखिए।
ii) **संकेत** : ऋण-सेवा अनुपात की चर्चा कीजिए।
iii) ऋण जाल के उपभाग को देखिए।

बोध प्रश्न 4

1. उपभाग 17.5.1 देखिए।

2 उपभाग 17.5.1 के अंतिम पैरे को देखिए।

3 i) उपभाग 17.5.1 के दूसरे और तीसरे पैरे को देखिए।
ii) भाग 17.4 और 17.5 को पढ़कर स्वयं कीजिए।

4 यह आयात पर शुल्क की वह दर है जिससे आयातित वस्तु का मूल्य इतना अधिक हो जाता है कि शुल्क लागू करने वाले देश में उसकी माँग नहीं रह जाती है।

बोध प्रश्न 5

1 **संकेत :** विकासशील देशों के निर्यात के संवर्द्धन में और वस्तुओं के मूल्यों के स्थिरीकरण और विकासशील देशों की निर्यात आय में साझे कोष की भूमिका की चर्चा कीजिए। उत्तर के लिए भाग 17.6 देखिए।

2 भाग 17.7 देखिए।

खंड

9

शहरीकरण, परिवहन तथा नागरिक सुविधाएँ

इकाई 18

भारत में शहरीकरण का स्वरूप तथा समस्याएँ 5

इकाई 19

परिवहन प्रणाली, शहरीकरण तथा नागरिक सुविधाएँ 27

खंड 9 शहरीकरण, परिवहन तथा नागरिक सुविधाएँ

इस खंड में शहरीकरण के प्रतिरूप तथा समस्याओं पर चर्चा की गई है, इसमें औपनिवेशिक काल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक होने वाले विकास का उल्लेख है और परिवहन प्रणाली के संदर्भ में भी इस विकास पर विचार किया गया है। इस खंड में दो इकाइयाँ शामिल हैं।

इकाई 18 में उपनिवेश शासन से पूर्व, तथा औपनिवेशिक शासन के दौरान से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दशक तक होने वाले शहरीकरण की विशेषताओं और प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है और औपनिवेशिक धरोहर के रूप में जो विकृतियाँ आ गई उनकी ओर ध्यान केंद्रित किया गया है।

इकाई 19 में परिवहन प्रणाली की चर्चा की गई है जिसमें शहरीकरण की प्रक्रिया में उसके योगदान, परिवहन के विभिन्न साधनों का अभीष्ट रूप में किस प्रकार उपयोग किया जाए, परिवहन प्रणाली की असंतुलित प्रकृति आदि के बारे में तो बताया ही गया है, साथ ही साथ शहरी क्षेत्र के अंतर्गत परिवहन, स्वास्थ्य तथा सफाई आदि जैसी नागरिक सुविधाओं के विकास तथा अनुरक्षण से संबंधित समस्याओं पर भी चर्चा की गई है। ऐसा करते समय इस इकाई में इन नागरिक सुविधाओं के विकास तथा अनुरक्षण के क्षेत्र में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रक के सापेक्षिक महत्व पर भी ध्यान केंद्रित किया गया है।

इकाई 18 भारत में शहरीकरण का स्वरूप तथा समस्याएँ

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 उपनिवेशी शासन के पूर्व से लेकर उपनिवेशी शासन स्थापित हो जाने तक की स्थिति–मुख्य लक्षण
  18.2.1 उपनिवेशी शासन पूर्व शहरी संरचना
  18.2.2 निचले स्तर पर कस्बे
  18.2.3 ऊपर के स्तर पर शहर
18.3 औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण तथा शहरी विकास
  18.3.1 शहरीकरण की प्रक्रिया तथा शहरी विकास का मापन
  18.3.2 शहरीकरण के सूचक
  18.3.3 शहरीकरण के स्तर
  18.3.4 शहरी स्थानों की संख्या
18.4 शहरी जनसंख्या का वितरण
  18.4.1 शहरी स्थानों की सघनता
  18.4.2 ग्रामीण जनसंख्या के संदर्भ में शहरी स्थानों का वितरण
  18.4.3 शहरी-ग्रामीण अनुपात
  18.4.4 कस्बों का औसत आकार
  18.4.5 शहरी जनसंख्या में विचरण
18.5 शहरों का विकास प्रतिरूप तथा जनांकिकीय संरचना
  18.5.1 शहर विकास
  18.5.2 जनांकिकीय संरचना
  18.5.3 औपनिवेशिक शहरी अर्थव्यवस्था
18.6 शहरी आधारिक संरचना तथा लोगों की दशा
  18.6.1 कलकत्ता : औपनिवेशिक रूढ़ियों में जकड़ा शहर
  18.6.2 रहन-सहन की परिस्थितियाँ
18.7 स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का दृश्य
  18.7.1 शहरी विकास की रूपरेखा
18.8 शहरीकरण के प्रतिरूप में अन्तर-राज्यीय भिन्नता
  18.8.1 पिछड़े राज्य
  18.8.2 उन्नत राज्य
18.9 नए शहरों तथा संगठन स्थानों का उदय
  18.9.1 अंतर-राज्यीय वितरण
  18.9.2 बड़ा गाँव तथा कस्बा-सतत द्विभाजन
18.10 सारांश
18.11 शब्दावली
18.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद :

- आप औपनिवेशिक काल और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के समय में अपने देश में जो शहरीकरण की प्रक्रिया चली उसके प्रमुख लक्षणों को बता सकेंगे,
- आप उपनिवेश-पूर्व से उपनिवेशी काल तक शहरी ढाँचे में जो विकास हुआ उसका चित्रण कर सकेंगे,
- ब्रिटिश-भारत के दौरान शहरों के विकास प्रतिरूप तथा जनांकिकीय संरचना का आप विश्लेषण कर सकेंगे, तथा
- स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न राज्यों में और अखिल भारतीय स्तर पर शहरीकरण के प्रतिरूप का आप वर्णन कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

खंड 3 की इकाई-7 में हमने भारत के शहरीकरण के परिदृश्य पर एक विहंगम दृष्टि डाली थी। इस इकाई में हम उपनिवेशी शासन के दौरान और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया के प्रमुख लक्षणों और शहरी जनसंख्या की दशा तथा उपनिवेशी शासन के दौरान कुछ महानगरों में उपलब्ध आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं का विवेचन करेंगे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् की नागरिक सुविधाओं के बारे में अगली इकाई में चर्चा की जाएगी।

शहरीकरण के "लक्षणों" में किसी देश अथवा क्षेत्र विशेष की शहरी जनसंख्या की जनांकिकीय, आर्थिक तथा सामाजिक संरचना शामिल होती है। इन्हें शहरीकरण के स्तर, शहरी जनसंख्या तथा शहर के विकास के स्तर, इनके विभिन्न आकार-वर्गों में वितरण के स्तर, व्यावसायिक संरचना के स्तर तथा शहरी जनसंख्या के सामाजिक विभेद के स्तर आदि के रूप में व्यक्त किया जाता है। शहरीकरण की "प्रक्रिया" का अर्थ यह है कि किसी क्षेत्र में एक शहरी केंद्र विशेष का विकास और उसके माध्यम से अन्य केंद्रों का विकास किन मार्गोपाय द्वारा होता है। यह प्रक्रिया समाज में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों का परिणाम होती है तथा उससे जुड़ी होती है। यह संरचनात्मक परिवर्तन काम करने वाली जनसंख्या का कृषि कार्य से हटकर गैर कृषि कार्यों में लग जाने अथवा जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से निकल कर तथाकथित शहरी क्षेत्रों में बस जाने के परिणामस्वरूप हो सकते हैं।

18.2 उपनिवेशी शासन के पूर्व से लेकर उपनिवेशी शासन स्थापित हो जाने तक की स्थिति : मुख्य लक्षण

भारत में उपनिवेशी शासन के दौरान शहरीकरण की प्रक्रिया और उसके लक्षणों का विश्लेषण करना बहुत ज़रुरी है क्योंकि हमारी समसामयिक शहरी संरचना पर इसका काफी प्रभाव पड़ा है। देश में उपनिवेशी शासन के अंतिम चरण पर हम अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। यह चरण 1858 में ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार की स्थापना से शुरू होता है। खंड 5 में हम जान चुके हैं कि इस काल में एक ओर तो उद्योग, रेलवे तथा बाग़ान के क्षेत्रों में ब्रिटिश पूंजी निवेश में बढ़ोतरी हुई तो दूसरी ओर देश के आर्थिक संसाधनों का निष्क्रमण होना शुरू हो गया। देश में वाणिज्यिक घुसपैठ योजनाबद्ध रूप से होने लगी और ब्रिटेन में मशीनों द्वारा निर्मित सस्ते माल को रेल मार्ग और सड़क मार्ग से देश के कोने-कोने में पहुँचाया जाने लगा। रेलवे ने सदियों में विकसित पारंपरिक व्यापार मार्गों को तथा देशी शहरी केंद्रों की आवश्यकताओं को पूरा करने और उनके बीच यातायात एवं आर्थिक संबंध स्थापित करने हेतु विकसित किए गए मार्गों को ध्वस्त कर दिया। ये यात्रा-मार्ग अनिवार्य रूप से अंदरुनी ज़रुरतों को ध्यान में रखकर बनाए गए थे। जबकि इनके स्थान पर जो रेल मार्ग बनाए गए वे बाहरी ज़रुरतों को और विशेषकर नए विकसित बंदरगाहों की ज़रुरतों को पूरा करने के लिए स्थापित किए गए और इनका मुख्य उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन तथा उसकी ज़रुरतों के साथ नत्थी कर देना था। इन सभी परिवर्तनों का भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया और शहरों की संरचना पर दूरगामी प्रभाव पड़ा, जिसकी हम आगे चर्चा करेंगे।

उपनिवेशी भारत में शहरों की संरचना पर पड़े प्रभावों के परिणाम को आकँने के लिए ज़रुरी है कि इससे पहले की स्थिति पर विचार किया जाए।

18.2.1 उपनिवेशी-शासन पूर्व शहरी संरचना

मध्यकालीन इतिहासकारों की यह आम राय है कि उपनिवेशी-शासन पूर्व या मुगलकालीन भारतीय समाज में बुनियादी तौर पर वे सभी लक्षण मौजूद थे जो एक पूंजीवाद-पूर्व समाज में होते हैं, हालांकि इनमें से कुछ लक्षण भारतीय संदर्भ में पाश्चात्य सामंतवाद से बिल्कुल भिन्न हैं। ये हमारे समाज के बारे में व्यापक रूप से स्वीकार्य इन बातों को नकार देते हैं कि यह समाज अपरिवर्तनशील था और इसकी ग्राम-अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप से आत्मनिर्भर प्रकार की होती थी। इसका आशय यह है कि स्थानपरक अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागों में स्थानीय सहलग्नता पर्याप्त मात्रा में मध्यकालीन समय में ही स्थापित हो गई थी। स्वाभाविक रूप से यह सहलग्नता उत्पादन के पूर्व-पूंजीवादी ढंग के रूप में ही विकसित हुई और यही शहरी बस्तियों की संरचना को निर्धारित करने का मुख्य कारक बन गई।

पूर्व-उपनिवेशी भारत की स्थानिक संरचना बुनियादी तौर पर अर्ध-बंद ग्रामीण अर्थव्यवस्थाओं से मिलकर बनी थी जिनकी स्थानिक इकाइयों में जो परस्पर अनुक्रिया होती थी वह मुख्यतः कृषि उपज की वेशी तथा व्यापारिक लेनदेन पर आधारित होती थी। यह परस्पर संबंध इन कार्यों के अलावा धार्मिक या सामाजिक प्रकार के कार्यों के आधार पर भी हो सकते थे। लेकिन इस प्रकार की सहलग्नताओं को निश्चय ही अधिशेष विनियोजन की प्रक्रिया ने जल्दी ही पुष्ट किया होगा और यह प्रक्रिया पूर्व-पूंजीवादी समाज के विशिष्ट तरीकों, अर्थात् प्राथमिक उत्पादक से ऊपर की ओर एक सोपानिक व्यवस्था के साथ अधिशेष, लगान तथा रिजर्वों का दोहन करना, के क्रम से पूरी की गई होगी।

उपनिवेशी शासन स्थापित होने से पहले के कस्बे इन्हीं माध्यमों के साथ अपने संबंधों के आधार पर विकसित विस्तृत या पतित हुए। ये मुख्यतः ऊँचे तथा नीचे, दो स्तरों पर विद्यमान थे। उत्पादित संसाधन, विशेष रूप से कृषि अधिशेष, इन दोनों ही स्तरों पर जागीरदार तथा सामंत वर्ग दोनों को प्राप्त होते थे।

18.2.2 निचले स्तर पर कस्बे

अधिशेष विनियोजन के निचले स्तर पर कार्यरत जागीरदारों की संख्या काफी अधिक थी, इसलिए उनकी ग्रामीण जागीरों की गद्दी के आसपास बहुत से कस्बे बनने लगे। इन कस्बों में जागीरदारों ने अपनी हवेलियां बनवा ली और अपने नौकरों तथा सेवकों के लिए भी घर बनवा दिए। इनमें से कुछ कस्बे फौज की छावनियों के आसपास भी बसने लगे। अकबर के साम्राज्य में 3200 कस्बे थे, जिनमें से हरेक का अपने आसपास के बहुत से गांवों पर प्रभाव था।

निचले स्तर पर, कस्बे तथा उसके प्रभाव क्षेत्र में आने वाले गांवों के बीच दूरियां कम होती थीं और उन्हीं के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं का व्यापार होता था। इस स्तर पर कस्बा ही ऐसा केंद्र बिन्दु बन गया जहाँ देशी फसल बेचने के लिए लाई जाती थी और कस्बे का विनिर्माता उसे खरीदकर बदले में गांव वाले के मतलब की चीज दे देता था। यह वाणिज्यिक यातायात मुख्यतः कुछ अपेक्षाकृत अधिक संपन्न किसानों के आधार पर ही चलता था क्योंकि वे ही शहर में पैदा होने वाली वस्तुओं का उपभोग कर पाते थें। शहरी क्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर जाने वाली इन वस्तुओं में मुख्यतः नमक, धातुएं, कपड़ा, चीनी, सूत, रुई, तेल, कच्चा रेशम, शोरा तथा गोंद प्रमुख थे। इन स्तरों पर अवस्थित कस्बा विशेष की प्रगति इस बात पर निर्भर करती थी कि उस कस्बे ने अपने आसपास के गांवों के साथ कैसे संबंध स्थापित किए या बनाए हुए हैं और ज्यादा दूरी के व्यापार में उनका क्या योगदान है। यह उल्लेखनीय है कि शहरी बाजार का अपने आसपास के गांवों पर काफी दबाव रहता था। इसकी वजह से तथा स्थानीय अभिजात वर्ग द्वारा पैदा की गई मांग के आधार पर ही ये कस्बे विकास कर पाए।

18.2.3 ऊपर के स्तर पर शहर

ऊपरी स्तर पर अधिशेष के विनियोजन का अर्थ है स्थानीय अधिशेष विनियोजन ढाँचों को राज्य द्वारा विकसित एक उच्च स्तरीय ढाँचे में समाहित करना। इस रूप में विनियोजित अधिशेष विशेष रूप से शांतिपूर्ण दशकों के दौरान काफी अधिक होता था क्योंकि राज्य कुल उत्पादन का एक तिहाई से लेकर आधा भाग तक ले लेता था। इस प्रकार के अधिशेष के आधार पर ही बड़े शहरों का उदय हुआ और वे कायम रहे। ये शहर अक्सर प्रशासन के विभिन्न स्तरों की राजधानियाँ होते थे। ये शहर प्रशासन तथा अन्तर्क्षेत्रीय और विदेश व्यापार के केंद्र होते थे।

ऊपरी स्तर पर होने वाला व्यापार लंबी दूरी के वाणिज्यिक व्यवसाय होते थे जो स्थानीय या कस्बे की वितरणात्मक गतिविधि से अलग होते थे। ये ऐसे बड़े-बड़े शहरी केंद्रों के बीच होता जहाँ बड़े-बड़े शहरी सामंत रहते थे और वे ही इस व्यापार को चलाते थे, इस पर निगाह रखते तथा नियंत्रण करते थे। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मुगल काल के दौरान भारत में अन्तर्क्षेत्रीय तथा विदेश व्यापार में काफी वृद्धि हुई। अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार ने, जो विदेश व्यापार की तुलना में काफी अधिक था, क्षेत्रीय बाजारों को जन्म दिया और कपड़ा, रेशम, नमक तथा धातु जैसे उत्पादों का तो राष्ट्रीय बाजार ही बन गया।

व्यापार में हुई इस वृद्धि के कारण ऐसे बहुत से कस्बों का महत्व बढ़ गया जो राष्ट्रीय या क्षेत्रीय व्यापार मार्ग पर अवस्थित थे। बड़े अधिकारियों के रहने के कारण ये शहर धीरे-धीरे ऐसे उत्पादों के उत्पादन केंद्र बन गए जो स्थानीय अभिजात वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। इन शहरों में उच्च शिक्षा के लिए स्कूल, कानूनी सलाह आदि जैसी विशेषीकृत शहरी सेवाएँ भी मिलने लगीं। सुदूर स्थानों को व्यापार का संयोजन करने की वजह से इनके निवासी खूब लाभ

कमाने लगे, उनके पास काफी व्यापारिक पूंजी इकट्ठी हो गई जिससे उन्होंने व्यापार तथा दस्तकारी की वस्तुओं के उत्पादन के काम को और आगे बढ़ाया। इसके परिणामस्वरूप बहुत से प्राचीन व्यापारिक शहरों का फिर से विकास हुआ और नए शहरों का उदय हुआ। अकबर के साम्राज्य में ऐसे 120 शहर थे।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भारत में शहरीकरण का स्तर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत की अपेक्षा सत्रहवीं शताब्दी के अंत में अधिक ऊँचा रहा था। 1770 तक उत्तर भारत में ही 60 बड़े शहर और लगभग 180 "महत्वपूर्ण स्थान" थे। सन् 1800 में इन शहरी केंद्रों की संख्या में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुल जनसंख्या की वृद्धि दर की तुलना में शहरी जनसंख्या की वृद्धि दर मामूली सी ज्यादा ही रही। इसलिए हम यह मानकर चल सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शहरीकरण की प्रक्रिया एक ऐसी शहरी संरचना पर आधारित रही जो कम से कम आकार की दृष्टि से तो किसी हालत में कमजोर नहीं थी। हालांकि, राजनीतिक और आर्थिक कारकों ने कस्बों के विकास पर अपना थोड़ा बहुत प्रभाव डालना शुरू कर दिया था क्योंकि भारत में आर्थिक निष्क्रमण की प्रक्रिया ने बल पकड़ लिया था और इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति ने गति पकड़ ली थी।

बोध प्रश्न 1

1) आपकी राय में शहरीकरण की प्रक्रिया का क्या अर्थ है? एक वाक्य में उत्तर लिखिए।

.....

.....

2) सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए।
   क) उपनिवेशी शासन से पूर्व के समाज में वही बुनियादी लक्षण मौजूद थे जो पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्व के उत्पादन ढंग में होते हैं।
   ख) उपनिवेशी शासन से पूर्व के ग्रामीण भारत में गांवों को कस्बा कहा जाता था।
   ग) मुगलकाल के दौरान भारत के अंतर्क्षेत्रीय तथा विदेश व्यापार में वृद्धि हुई।
   घ) ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भारत में शहरीकरण का स्तर सत्रहवीं शताब्दी के अंत की अपेक्षा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में अधिक था।

3) यह बतलाइए कि उपनिवेशी शासन से पूर्व भारत में शहरों का विकास कैसे हुआ? (चार वाक्यों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

18.3 औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण तथा शहरी विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत की जो स्थानिक संरचना थी वह औपनिवेशिक शोषण की ज़रूरतों को पूरा करने वाली नई शक्तियों के प्रभाव में काम कर रही थी। जिन गतिविधियों के चारों ओर यह एकीकरण संगठित किया गया था, वे मध्यकाल के अंत मे जोर पकड़ने लगी थीं। ये थीं—वाणिज्य दूतावासों के माध्यम से विदेश व्यापार संगठित करना, समर्पणपत्र जारी करना तथा आर्थिक अधिशेष के विनियोजन के लिए उपनिवेशी तौर तरीके अपनाना। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब भारत के शासन को कंपनी से लेकर इंग्लैंड के राजा के हाथ में सौंप दिया गया, तब साम्राज्यवादी शोषण का राजनीतिक-आर्थिक तंत्र पूरी तरह से मजबूत बन गया था। इन सभी परिवर्तनों का संचित प्रभाव यह हुआ कि शहरी क्षेत्रों के उत्पादक कार्यकलाप अवरुद्ध हो गए और मध्यकालीन समय में भौगोलिक आधार पर विशेषज्ञता का जो प्रतिरूप बना था वह भी विघटित हो गया। छोटे-छोटे कस्बों के इर्द-गिर्द स्थानीय बाजारों और उनके पास बड़े शहरी

केंद्रों से जुड़े क्षेत्रीय बाज़ारों, जो आखिर में एक राष्ट्रीय स्तर के बाजार बन जाते थे, के एकीकरण की स्वचालित प्रक्रिया को बलपूर्वक नष्ट कर दिया गया।

18.3.1 शहरीकरण की प्रक्रिया तथा शहरी विकास का मापन

भारत में शहरी क्षेत्रों के बारे में व्यवस्थित सूचना 1872 के बाद से ही मिलती है जब देश में सर्वप्रथम जनगणना की गई थी। यह जनगणना पूरी नहीं की जा सकी। प्रथम पूर्ण जनगणना 1881 में ही हो सकी। इस जनगणना में तथा इसके बाद प्रत्येक दस वर्ष की अवधि में होने वाली जनगणना में 1941 तक शहरी स्थानों में प्रत्येक नगरपालिका, नगरपालिका क्षेत्र में शामिल नहीं की गई सभी सिविल लाइनें, प्रत्येक छावनी तथा प्रत्येक अन्य ऐसी आवास शृंखलाओं को शामिल किया गया था जिनमें कम से कम 5000 लोग रहते हों। जनगणना के अधीक्षकों ने इन्हें शहरी क्षेत्र माना। जनगणना अधीक्षकों को हिदायतें दी गईं थीं कि वे ऐसा निर्णय लेते समय जनसंख्या के स्वरूप, आवासों की सापेक्षिक सघनता, व्यापार तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उनके महत्व को मद्देनजर रखें और शहरी लक्षणों से रहित बड़े गांवों को कस्बा मानने से बचें। इस व्यक्तिनिष्ठ स्वविवेक (subjective discretion) की वजह से कभी-कभी जनगणना द्वारा घोषित कस्बों की परिभाषा को संदेहास्पद बना दिया, इसीलिए इस अवधि की सभी जनगणना रिपोर्टों में यह कहा गया है कि शहरी जनसंख्या की अधिक गणना हो गई है क्योंकि छोटे कस्बे और बड़े गांव के बीच का अंतर, जहां तक वहां के निवासियों की जीवन की दशाओं तथा धंधों का संबंध है, अक्सर निरर्थक होता था। बहुत से गैर-औद्योगिक कस्बों और बड़े गांवों में हालात की दृष्टि से मामूली ही अंतर होता था, जैसा कि कस्बों में लैंप पोस्ट (रोशनी के लिए लगाए गए खंबें) जैसी कुछ शहरी सुविधाएँ दी जाती थीं।

आगे के विश्लेषण में हम इन्हीं कुछ विसंगतियों को दूर करने के लिए जहाँ भी संभव होगा आंकड़ों में समायोजन करने का प्रयास करेंगे। समीक्षाधीन अवधि के दौरान देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 60 प्रतिशत हिस्सा ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत था और शेष देशी राजाओं तथा एजेंसियों के अधीन था। यहाँ हम ब्रिटिश प्रांतों की स्थिति के विश्लेषण पर ज्यादा ध्यान देंगे क्योंकि साम्राज्य की नीतियों का प्रभाव इन्हीं क्षेत्रों पर ही ज्यादा दिखाई दिया और जनगणना भी इन्हीं क्षेत्रों में ज्यादा अच्छी तरह से हुई। शताब्दी के प्रारंभ की स्थिति जानने के लिए हमने 1901 को चुना है और भारत में ब्रिटिश शासन की पराकाष्ठा से जरा पहले की स्थिति को जानने के लिए 1931 को चुना है। जैसा हम सब जानते हैं युद्धकालीन 1941 की जनगणना राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के पक्षपात से बुरी तरह प्रभावित थी।

18.3.2 शहरीकरण के सूचक

इस विश्लेषण में शहरीकरण के जिन सूचकों को इस्तेमाल किया गया है, वे हैं :

i) शहरीकरण का स्तर जो यह बताता है कि एक चुने हुए समय पर कुल जनसंख्या का कितना भाग शहरी स्थानों पर रह रहा था। तुलनात्मक अध्ययन के लिए कुछ उन्नत देशों में उस समय की स्थिति को भी बतलाया गया है। यह सूचक किसी समाज में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों की सीमा को भलीभाँति प्रदर्शित करता है;

ii) क्षेत्र तथा आकार के अनुसार शहरी स्थानों की संख्या जिससे शहरी आधार तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों का पता चले;

iii) शहरी और विभिन्न आकार-वर्ग के शहरी स्थानों में रह रही कुल जनसंख्या का अनुपात जिससे जनता को उपलब्ध शहरी सुविधाओं के स्तर की जानकारी मिल सके;

iv) शहरी स्थानों की सघनता अर्थात् प्रति हजार किलोमीटर उनकी संख्या जिससे उनसे लाभान्वित होने वाले पृष्ठ क्षेत्र की सीमा (hinterlands) मालूम पड़ सके। विस्तृत पृष्ठ-क्षेत्र (vast hinterlands) वाले छोटे कस्बे या कम घनत्व वाले शहरी स्थान, फिर चाहे वे उच्च स्तर के ही क्यों न हों, उन क्षेत्रों में विकास के लिए उपयुक्त नहीं हैं जहाँ परिवहन सुविधाओं का उपयुक्त विकास नहीं हुआ है, क्योंकि शहरी सुविधाओं की मांग को संतोषजनक ढंग से पूरा नहीं किया जा सकता;

v) प्रति दस लाख ग्रामीण जनसंख्या पर शहरी स्थानों की संख्या जिससे ग्रामीण जनसंख्या को कितनी शहरी सुविधाएँ उपलब्ध हैं, इसका पता चल सकेगा;

vi) शहरी और ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात जिससे ग्रामीण जनसंख्या की सापेक्षिक वृद्धि दर का पता चल सके;

vii) क्षेत्र तथा आकार के आधार पर कस्बों का औसत आकार जिससे यह पता चल सके कि वे कितने महत्वपूर्ण हैं; तथा

viii) शहरी जनसंख्या में परिवर्तन ताकि शहरी विकास की दर पता लग सके।

18.3.3 शहरीकरण के स्तर

औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण का स्तर लगातार नीचा ही रहा। यदि किसी क्षेत्र विशेष में कुछ प्रगति भी हुई तो वह भी बड़ी धीमी गति से हुई। वास्तव में तो बहुत सी पट्टियों में, विशेष रूप से पूर्वी और मध्य क्षेत्र के भारत में विशहरीकरण की प्रक्रिया चली और यही क्षेत्र उपनिवेशी सत्ता का गतिविधि केंद्र था। यह तथ्य तालिका 18.1 में दिए समष्टि स्तर के आंकड़ों में कुछ छिप सा गया है जिसमें यह बताया गया है कि 1901 से 1931 के बीच शहरी जनसंख्या के अनुपात में कुल मिलाकर 1.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। हालांकि, यह वृद्धि 1901 में एक बहुत छोटे आधार अर्थात् 9.9 प्रतिशत पर ही हुई। शहरीकरण का स्तर ब्रिटिश प्रांतों और देशी राजाओं की रियासतों, दोनों में ही समान रूप से नीचा था। यह स्तर रियासतों में और विशेष रूप से मध्य तथा पश्चिमी भारत की रियासतों में तो और भी नीचा होता लेकिन आंकड़ों में ऐसा दिखाई नहीं देता क्योंकि वहां शहरी जनसंख्या की अधि-गणना कर ली गई और यहां तक कि छोटे-छोटे राजाओं और बड़े जमींदारों के निवास स्थानों को भी (उन्हें सम्मान देने के लिए) शहर के रूप में गिन लिया गया। जैसा कि प्रांतीय जनगणनाओं की रिपोर्टों में लिखा गया है, इनमें से बहुत से स्थान तो बड़े गांवों से ज्यादा नहीं थे। जनगणना अधीक्षक के निर्देश पर बहुत सी बस्तियों को भी शहरी स्थान के रूप में वर्गीकृत कर दिया गया जबकि सही अर्थों में वे ऐसे नहीं थे। यदि हम इन मनमाने ढंग से शामिल किए गए कस्बों की जनसंख्या को कुल शहरी जनसंख्या में से घटा दें तो भारत में शहरीकरण का स्तर और भी गिर जाएगा और वह 1921 में 8.1 प्रतिशत तथा 1931 में 9.9 प्रतिशत रह जाएगा (सेंसस (census) ऑफ इंडिया, 1931 : 45)

देश में शहरीकरण के स्तर में बहुत अधिक क्षेत्रीय विभिन्नताएँ भी थीं। 1931 में यह विभिन्नता आसाम में 3 प्रतिशत से लेकर अजमेर-मारवाड़ में 32.3 प्रतिशत तथा बंबई में 33.4 प्रतिशत के रूप में दिखाई देती है (तालिका 18.1 देखिए)। लेकिन कुछ अन्य उन्नत देशों की तुलना में किसी भी प्रांत का स्तर कहीं नहीं ठहरता क्योंकि 1931 में इंग्लैंड तथा वेल्स में यह 80 प्रतिशत, अमरीका में 56 प्रतिशत तथा फ्रांस में 49 प्रतिशत तक ऊँचा था।

भारत के विभिन्न हिस्सों में शहरीकरण न हो पाने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों ने जो कारण बताए हैं उनका उल्लेख यहाँ करना उचित होगा। 1901 की भारत की जनगणना की रिपोर्ट में यह कहा गया कि शहरीकरण के स्तर का निर्धारण करने में संभवतः प्रजाति (नस्ल) एक महत्वपूर्ण कारक है। बंगाल तथा आसाम की जनसंख्या में जो मंगोल प्रजाति के लोग हैं वे भारत के अन्य हिस्सों में बसे द्रविड़ तथा आर्य प्रजाति के लोगों की अपेक्षा कस्बों तथा शहरों में कम बसना चाहते हैं। लेकिन इस धारणा को 1931 में जनगणना आयुक्त द्वारा नकार दिया गया। उनका विचार यह था कि जिन क्षेत्रों में ज्यादा वर्षा होती है उनमें शहरीकरण का स्तर नीचा रहता है क्योंकि शहरी जीवन में असुविधा की मात्रा का निर्धारण वर्षा की मात्रा करती है (सेंसस आफ इंडिया रिपोर्ट, 1931 : 49)। अधिक वर्षा और अधिक भूमि उत्पादकता के बीच जो सहसंबंध जोड़ा गया उसे प्रासंगिक नहीं माना गया, हालाँकि 19वीं शताब्दी के दौरान जो प्रशासन हुआ उससे यह सहसंबंध स्पष्ट हो गया था।

18.3.4 शहरी स्थानों की संख्या

1901 में 2145 बस्तियों को शहरी वर्ग में रखा गया (तालिका 18.2 देखिए) 1931 में यह संख्या बढ़कर 2575 हो गई अर्थात् तीस वर्ष की अवधि में कुल 430 कस्बों यानी 14 कस्बे प्रतिवर्ष की मामूली सी वृद्धि हुई।

इसमें से कुछ वृद्धि तो इसलिए हो गई कि छावनियों को पृथक शहरी स्थान का नाम दे दिया गया और सबसे नीची श्रेणी के ऐसे 105 कस्बों को भी इसमें जोड़ दिया गया जिनकी जनसंख्या 5, 000 से कम थी और जो संभवतः मात्र बड़े गाँव ही थे। इस सूची में जोड़े गए कुल कस्बों में से 7 कस्बे या केवल 2 प्रतिशत कस्बे ही ऐसे थे जिनकी जनसंख्या एक लाख से ज्यादा थी और केवल 12 कस्बे या 3 प्रतिशत कस्बे ऐसे थे जिनकी जनसंख्या 50, 000 से अधिक थी। जोड़े गए कस्बों में से अधिकांश कस्बों अर्थात् 236 कस्बों या 55 प्रतिशत की आबादी 10,000 से कम थी।

कस्बों के क्षेत्रवार वितरण के रूप में, इनमें से आधे से कुछ अधिक कस्बे केवल तीन प्रांतों अर्थात् मद्रास, बंबई तथा संयुक्त प्रांत में अवस्थित थे (तालिका 18.1 में देखिए)। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि मद्रास प्रेजीडेंसी में कुछ बड़े शहरों को छोड़कर शेष सभी तथाकथित कस्बे. अधिकांशतः बड़े गाँव ही थे (सेंसस आफ इंडिया, रिपोर्ट, 1921 : 69)। यद्यपि भारत में 1901 और 1931 दोनों में सबसे ज्यादा शहरी स्थान संयुक्त प्रांत में ही थे परंतु इन दोनों अवधियों के दौरान इनकी संख्या में मामूली सी कमी आई। लेकिन बंबई प्रेजीडेंसी में कस्बों की संख्या में काफी वृद्धि हुई।

तालिका : 18.1 भारत के ब्रिटिश प्रांतों में शहरीकरण के सूचक, 1901 तथा 1931

	% शहरी जनसंख्या		कस्बों की संख्या		कस्बे/1000 कि.मी		कस्बे/10 लाख ग्रामीण जनसंख्या		अनुपात श.ग्रा		कस्बे का औसत आकार		वार्षिक % विचरण
	1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901-31
1. अजमेर मारवाड़	26.3	32.2	4	5	0.6	0.7	11	13	1:3	1:2	31.3	36.1	4.8
2. असम	3.0	2.5	19	28	0.1	0.2	3	4	1:33	1:39	9.5	8.2	3.9
3. बलूचिस्तान	13.0	19.9	6	12	0.2	0.2	22	32	1:7	1:4	6.6	7.6	7.5
4. बंगाल	6.2	7.4	114	139	0.6	0.7	3	3	1:15	1:13	22.4	26.5	4.6
5. बिहार तथा उड़ीसा	3.8	4.4	68	78	0.3	0.4	2	2	1:20	1:22	20.2	21.2	4.1
6. बंबई	6.7	22.4	173	214	0.5	0.6	11	13	1:5	1:3	17.9	22.9	4.7
7. बर्मा	9.4	10.4	52	92	0.2	0.1	5	7	1:10	1:9	19.0	16.5	5.1
8. मध्यप्रांत तथा बरार	8.3	10.9	103	112	0.4	0.4	13	8	1:6	1:8	9.5	15.1	4.5
9. कुर्ग	8.4	6.0	5	2	0.2	0.1	7	13	1:11	1:16	11.0	4.9	2.1
10. दिल्ली		70.3		6	—	0.4	—	32	—	1:1	3.0	74.5	—
11. मद्रास	11.2	13.6	234	340	0.7	0.9	7	8	1:8	1:6	17.5	18.6	4.9
12. उ.प. सीमांत	12.7	15.9	20	27	0.6	0.8	11	13	1:7	1:5	13.5	14.3	4.8
13. पंजाब	11.4	13.0	171	199	0.7	0.8	9	10	1:8	1:7	13.5	15.4	4.4
14. संयुक्त प्रांत	11.1	11.2	453	441	1.7	1.6	11	10	1:8	1:8	11.6	12.3	3.4
ब्रिटिश प्रांत	9.4	11.0	1448	1695	0.5	0.6	7	7	1:9	1:8	13.6	15.2	4.5
राज्य तथा एजेंसी	11.4	11.5	700	880	0.4	0.5	8	12	1:8	1:7	10.2	10.6	4.4
भारत	9.9	11.0	2145	2575	0.5	0.5	8	8	1:9	1:8	13.6	15.1	5.8

स्रोत : सेंसस ऑफ इंडिया भाग I और II 1901 और 1931

तालिका : 18.2 भारत में शहरी स्थानों की आकार संरचना

	आकार वर्ग	स्थानों की संख्या		कुल स्थानों की तुलना%		कुल शहरी जनसंख्या में%		कुल जनसंख्या में%		औसत आकार वार्षिक % स्थान ('000 में) विचरण		
		1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901	1931	1901-1931
I.	100,000 +	31	38	1.5	1.5	22.6	24.8	2.2	2.7	213.1	254.5	+ 1.5
II.	50,000-99,999	52	65	2.4	2.5	11.7	11.7	1.2	1.3	65.7	70.3	+ 1.1
III.	20,000-49,999	166	268	7.7	10.4	16.8	20.8	1.7	2.3	29.5	30.2	+ 2.2
IV.	10,000-19,999	471	543	22.0	21.1	22.1	19.1	2.2	2.1	13.7	13.7	+ 0.5
V.	5,000-9,999	856	987	39.9	38.3	20.3	17.9	2.0	2.0	6.9	7.1	+ 0.6
VI.	5,000	569	674	26.5	26.2	6.5	5.7	0.6	0.6	3.3	3.3	+ 0.6
	TOTAL	2145	2575	100.00	100.00	100.00	100.00	9.9	11.1	13.6	15.2	+ 1.1

स्रोत : सेंसस ऑफ इंडिया भाग I और II, 1901 और 1931

टिप्पणी : ब्रिटिश प्रांतों और राज्यों तथा एजेंसियों के सभी कस्बे इसमें शामिल हैं।

यदि ब्रिटिश भारत में शहरी स्थानों का आकार वर्गों के रूप में आंका जाए तो पता चलेगा कि इनमें से 66 प्रतिशत सबसे नीची दो श्रेणियों अर्थात् वर्ग-5 तथा वर्ग-6 में आते थे। केवल 103 कस्बे अर्थात् कुल कस्बों के 3 प्रतिशत पहली दो श्रेणियों में आते थे। भारत में 1931 में वर्ग-1 के केवल 38 शहर थे जिनकी जनसंख्या एक लाख से अधिक थी। इस प्रकार के शहरों की संख्या तत्कालीन इंग्लैंड में 56 और अमरीका में 70 थी जबकि इन देशों में कुल जनसंख्या भारत की जनसंख्या की तुलना में बहुत कम थी। यदि हम इस संख्या की तुलना इससे पहले की अवधि की उत्तर भारत की संख्या से करें तो हम पाएंगे कि औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत में बड़े शहरों की संख्या में काफी गिरावट आई।

बोध प्रश्न 2

1) वर्ष 1941 तक शहरी स्थानों की क्या परिभाषा दी जाती थी? (एक वाक्य में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

2) खाली स्थान भरिए:
   क) औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण का स्तर काफी ..... (ऊँचा/नीचा) था।
   ख) 1931 की जनगणना के आयुक्त का मत था कि वर्षा की मात्रा तथा शहरीकरण के स्तर में ..... (नकारात्मक/सकारात्मक) संबंध होता है।

3) सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए:
   क) औपनिवेशिक भारत में बहुत-सी पट्टियों में विशहरीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई।
   ख) 1901 में सबसे ज्यादा शहरी स्थान सेन्ट्रल प्रान्त (central provinces) में पाए जाते थे।

18.4 शहरी जनसंख्या का वितरण

यद्यपि औपनिवेशिक भारत में वर्ग-1 के शहरों की संख्या कोई ज्यादा नहीं थी और वे कुल शहरी स्थानों की संख्या का केवल 1.5 प्रतिशत थे फिर देश की कुल शहरी आबादी का चौथाई हिस्सा इन शहरों में ही रहता था (तालिका 18.2 देखिए), दस हजार से कम आबादी वाले छोटे कस्बों में जो शहरी स्थानों की कुल संख्या का 65 प्रतिशत थे, अन्य एक चौथाई शहरी आबादी बसती थी। शेष 50 प्रतिशत शहरी आबादी मध्यम आकार के कस्बों में रहती थी। ये अधिकांशत: शताब्दी के प्रारंभ में वर्ग-4 कस्बों में गिने जाते थे और तीस साल बाद इन्हें वर्ग-3 के कस्बों में गिना जाने लगा। वर्ग-3 के कस्बों का मुख्य रूप से विस्तार हुआ जिनमें 20 से 50 हजार तक की जनसंख्या होती थी।

जब हम कुल जनसंख्या के विभिन्न आकार के शहरी केंद्रों में वितरण पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि 1901 में कुल जनसंख्या की मात्र 2.2 प्रतिशत आबादी वर्ग-1 के शहरों में रहती थी, किंतु यदि इसकी तुलना उस समय के अन्य उन्नत देशों से की जाए तो यह स्थिति बड़ी नगण्य सी लगती है। उदाहरणत:, इंग्लैंड में वर्ग-1 के शहरों की हिस्सेदारी 45 प्रतिशत, जर्मनी में 21 प्रतिशत और फ्रांस में 14 प्रतिशत थी। बाद के दशकों में कुल जनसंख्या में इन 38 शहरों की हिस्सेदारी में बड़ी मामूली वृद्धि हुई। इससे संकेत मिलता है कि आधुनिक शहरी सुविधाएँ, जो कुछ सीमा तक इन्हीं वर्ग-1 के शहरों में विकसित की जा सकी थीं, देश के बहुत थोड़े से लोगों को ही उपलब्ध थीं।

18.4.1 शहरी स्थानों की सघनता

ब्रिटिश भारत में शहरी स्थानों की सघनता बहुत कम थी (तालिका 18.1 और 18.2 देखिए)। वर्ष 1901 में संयुक्त प्रांत को छोड़कर कहीं भी प्रति 1000 वर्ग किलोमीटर पर एक कस्बा नहीं था। 1931 तक यही स्थिति बनी रही। इस बात को मद्देनजर रखकर कि उपनिवेशी शासन के दौरान शहरी सुविधाओं का सामान्यत: कम ही विकास हुआ, हम यह मान सकते हैं कि ये अल्प सुविधाएँ भी वर्ग-1 के शहरों में ही उपलब्ध कराई गई, अन्य शहरी केंद्रों में तो इनका नाममात्र ही विकास हुआ। वर्ग-1 के शहरों की सघनता बहुत कम थी इसलिए इस प्रकार के प्रत्येक शहर को अपने आसपास के एक बड़े क्षेत्र (पृष्ठ-प्रदेश) की आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता था। ये पृष्ठ प्रदेश प्रत्येक शहर के लिए औसतन 123 हजार वर्ग किलोमीटर बैठता है। इसका तात्पर्य है कि देश का एक विस्तृत भू-भाग इन शहरी सुविधाओं से वंचित था।

18.4.2 ग्रामीण जनसंख्या के संदर्भ में शहरी स्थानों का वितरण

ग्रामीण जनसंख्या को शहरी सुविधाएं कहां तक उपलब्ध थी इसकी मोटी जानकारी इन सूचकों से मिल जाती है (तालिका 18.1 देखिए)। आकार चाहे कोई भी हो, 1931 में भारत की प्रति दस लाख ग्रामीण आबादी पर लगभग 8 कस्बे अर्थात् प्रति 1.25 लाख ग्रामीण आबादी पर एक कस्बा होता था। यदि केवल वर्ग-1 के नगरों को ही मद्देनजर रखा जाए तो ऐसा एक शहर लगभग एक करोड़ जनसंख्या पर होता था। इससे संकेत मिलता है कि देश की अधिकांश ग्रामीण आबादी शहरी सुविधाओं से वास्तविक रूप में वंचित थी। क्षेत्रीय भिन्नता की दृष्टि से बलूचिस्तान और मध्य प्रांत तथा बरार जैसे कम जनसंख्या घनत्व वाले प्रांतों की स्थिति बेहतर मालूम पड़ती थी। लेकिन आंकड़ों पर आधारित इस निष्कर्ष को इस तथ्य के साथ जोड़कर देखना चाहिए कि इन प्रांतों में लोगों को इन सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए लंबी-लंबी यात्राएं करनी पड़ती थीं क्योंकि कस्बों की सघनता बहुत कम थी।

18.4.3 शहरी-ग्रामीण अनुपात

भारत में शहरी और ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात 1901 में 1:9 तथा 1931 में 1:8 था। इससे पता चलता है कि ग्रामीण जनसंख्या में शहरी जनसंख्या की तुलना में कम दर से वृद्धि हुई और शताब्दी के प्रारंभ से लेकर उसके मध्य तक प्रति शहरी व्यक्ति पर ग्रामीण व्यक्तियों की संख्या में मामूली सी कमी आई। इस राष्ट्रीय औसत में क्षेत्रवार भिन्नता बहुत कम थी सिवाय अजमेर-मारवाड़ तथा आसाम को छोड़कर जहां निम्न जनसंख्या आधार की वजह से यह अनुपात कम हो गया था।

18.4.4 कस्बों का औसत आकार

तालिका 18.1 से भारत के विभिन्न प्रांतों में और तालिका 18.2 से विभिन्न आकार वर्गों में कस्बों का औसत आकार ज्ञात किया जा सकता है। इन आंकड़ों से पता चलता है कि ब्रिटिश भारत में कस्बों का औसत आकार 1901 में 13.6 हजार था जो बढ़कर 1931 में 15.2 हजार हो गया। क्षेत्रवार दृष्टि से क्षेत्र में शहरीकरण के स्तर तथा उसमें कस्बों के औसत आकार के बीच कोई संबंध नहीं था। कस्बों का औसत आकार मद्रास तथा बंबई प्रेजीडेंसियों में अपेक्षाकृत बड़ा था।

आकार-वर्ग की दृष्टि से भारत में वर्ग-1 के शहर का औसत आकार 1901 में 2.1 लाख था जो 1931 में बढ़कर 2.5 लाख हो गया। 20 हजार से लेकर एक लाख तक की जनसंख्या वाले मझोले कस्बों के औसत आकार में भी मामूली सी वृद्धि हुई। निम्न श्रेणी के कस्बों की संख्या में तो काफी वृद्धि हो गई किंतु उसका औसत आकार पहले जैसा ही बना रहा। शहरी विकास की ये प्रवृत्तियां एक निम्न शहरी आर्थिक आधार का संकेत देती हैं।

18.4.5 शहरी जनसंख्या में विचरण

सन् 1901 तथा 1931 के बीच भारत की शहरी जनसंख्या में 1.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष का विचरण हुआ (तालिका 18.2)। यह विचरण कुल जनसंख्या (+ 0.7 %) तथा ग्रामीण जनसंख्या (+ 0.6 %) में हुए विचरण की तुलना में थोड़ा सा अधिक था। यह विकास मुख्य रूप से पहले तीन वर्गों के कस्बों में ही केंद्रित था, जिसमें से सबसे अधिक (+ 2.2%) वर्ग-3 के कस्बों में हुआ। बीस हजार से कम जनसंख्या वाले छोटे कस्बों में संवृद्धि दर यद्यपि सकारात्मक थी किंतु राष्ट्रीय औसत से कम थी। इससे यह पता चलता है कि छोटे-छोटे कस्बों का सर्वव्यापी पतन हुआ जबकि वाणिज्यिक तथा छुट-पुट औद्योगिक विकास के प्रभाव में कुछ बड़े शहरों में अपेक्षाकृत कुछ अधिक उन्नति नजर आई और यह स्वतः स्फूर्त शहरीकरण (spontaneous urbanisation) की प्रक्रिया के विघटन का द्योतक है।

18.5 शहरों का विकास प्रतिरूप तथा जनांकिकीय संरचना

पारंपरिक भारतीय कस्बों के विकास के प्रतिरूप का निर्धारण और अनुरक्षण राजनीतिक, वाणिज्यिक तथा सामरिक कारकों द्वारा होता था। इनमें से कुछ, शासकों की राजधानियाँ होने के कारण महत्वपूर्ण राजनीतिक केंद्र बन गए, कुछ मुख्य सड़क तथा जल मार्ग पर अवस्थित होने के कारण व्यापारिक केंद्र के रूप में विकसित हो गए और कुछ बाहरी आक्रमणकारियों से सुरक्षा के लिए सामरिक दृष्टि से स्थापित किए गए। इन कस्बों की समृद्धि उस क्षेत्र के इतिहास पर निर्भर करती थी जिसमें ये स्थित थे। प्रशासनिक संगठन में होने वाले परिवर्तनों, जनसंख्या का

विस्थापन, व्यापार मार्ग में परिवर्तन, बंदरगाहों का विकास और पतन, रेलवे का चालू होना तथा संचार सुविधाओं का विकास आदि जैसे कारकों ने उनके विकास पर पूरा असर डाला। दूसरी ओर प्लेग, अकाल तथा महामारियों ने भी कस्बों को प्रभावित किया। उपनिवेशवाद ने इनमें से कुछ कारकों की प्रभाविता को कम कर दिया और व्यापार तथा वाणिज्य की प्रभाविता को बढ़ा दिया, किंतु यह सब ऊपर से नीचे तक बाध्यकारी वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही किया गया। इनमें से कुछ थोड़े से शहरों के विकास में, संगठित उद्योगों का विकास भी एक महत्वपूर्ण निर्धारक कारक बन गया।

18.5.1 शहर विकास

ब्रिटिश भारत में 1931 में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले 38 शहरों के, 1881 से 1931 तक की अवधि के विकास की प्रवृत्ति का यदि हम विश्लेषण करें तो पाएंगे कि इन 50 वर्षों में सामान्य प्रवृत्ति मामूली विकास की ही रही। इनमें से केवल 50 प्रतिशत शहर ही ऐसे थे जिनमें राष्ट्रीय औसत से अधिक का विकास हुआ, अर्थात् + 1.5 प्रतिशत वार्षिक विचरण। इनके 34 प्रतिशत शहरों में विकास की दर उस समय में देश की स्वाभाविक जनसंख्या वृद्धि दर से कम थी। उपनिवेशी शासन से पूर्व के कुछ शहरों जैसे लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद, पटना, बरेली, मेरठ, जयपुर तथा बड़ौदा में तो 1891 से 1921 के बीच के दशकों में जनसंख्या में गिरावट आई। सबसे अधिक संवृद्धि दर, जो वर्ग-1 के शहरों तथा कुल शहरी आबादी दोनों के राष्ट्रीय औसत से भी अधिक थी, पंजाब, सिंध, पश्चिमी तथा दक्षिण भारत के शहरों जैसे दिल्ली, लाहौर, रावलपिंडी, कराची, अहमदाबाद, अजमेर, नागपुर, शोलापुर, मदुरै, बेंगलूर तथा तिरुनवेली ने हासिल की। इन 50 वर्षों के दौरान कराची ने 5.2 प्रतिशत का और रंगून ने 4.0 प्रतिशत का धनात्मक वार्षिक विचरण प्राप्त करके सर्वाधिक संवृद्धि दर प्राप्त की। तीन प्रेजीडेंसी नगरों में वार्षिक विचरण इस प्रकार था: कलकत्ता (+ 1.6%), मद्रास (+ 1.2%) तथा बंबई (+ 1.0 %)।

1872 से 1931 के बीच जिन कस्बों में ऊंची दर से विकास हुआ, वे औपनिवेशिक आर्थिक कार्यकलाप से किसी न किसी रूप में जुड़े थे। इनको निम्नलिखित वर्गों में समाहित किया जा सकता है– (1) कलकत्ता, मद्रास तथा बंबई के प्रेजीडेंसी शहर, (2) ब्रिटिश औद्योगिक उद्यमों के केंद्र जैसे कानपुर, हावड़ा, (3) रेलवे जंक्शन जैसे भागलपुर, दरभंगा, मुगलसराय, नागपुर, झांसी, गोरखपुर, कटक , बुरहानपुर, आदि, (4) कृषि विपणन तथा संग्रह केंद्र जैसे मुंगेर, मेरठ, मुज़फ्फरनगर, लायलपुर आदि, (5) चीनी निर्माण केंद्र जैसे बस्ती, पडरौना आदि, (6) खनिज उत्पादन केंद्र जैसे हज़ारीबाग, रांची आदि, (7) छावनियाँ जैसे दीनापुर, पूना, पेशावर आदि. (8) नए सैरगाह केंद्र जैसे शिमला, दार्जीलिंग आदि, (9) जिला प्रशासन मुख्यालय– पूरे देश में। इनमें से अधिकांश शहर सामान्यत: नई बिछाई गई रेलवे लाइनों के किनारे अधिक कृषि उर्वर क्षेत्रों में बसे हुए थे। इनमें से कोई भी शहर क्षेत्र के मुख्य केंद्र के रूप में विकसित नहीं हो सका जिसके आसपास छोटे-छोटे कस्बे विकसित होते जैसा कि औद्योगिक देशों में शहरी विकास के स्वरूप में पाया जाता है।

18.5.2 जनांकिकीय संरचना

पूरी उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कलकत्ता शहर शहरी स्थानों के सोपान में सबसे ऊपर बना रहा। इसीलिए इसे भारत का अधिपति शहर कहा जाता है। इस अवधि के दौरान दूसरा और तीसरा नंबर क्रमशः बंबई और मद्रास का आता है। देश के अन्य शहरों के दर्जे में काफी परिवर्तन होते रहे। देश के सबसे सघन आबादी वाले शहर बंबई तथा जयपुर थे, इसके बाद मुरादाबाद तथा बनारस का नंबर आता था। इससे पता चलता है कि शहर में जिस तरह लोग भर जाते हैं वहां विकास दर तथा आकार का बहुत कम महत्व होता है। कलकत्ता की सघनता बंबई के मुकाबले आधी थी। इन शहरों में काफी जनसंख्या प्रवासियों की थी और वे बंबई में सबसे अधिक 75% थे और जयपुर में सबसे कम 4.5% थे। 1931 में कलकत्ता और मद्रास दोनों शहरों में लगभग एक तिहाई आबादी प्रवासियों की थी। ब्रिटिश भारत में सबसे ज्यादा पुरुष कलकत्ता में रहते थे, वहां का स्त्री-पुरुष अनुपात बहुत कम था अर्थात् वहां प्रति 1000 पुरुषों पर केवल 490 महिलाएँ थीं जबकि भारत के शहरों का औसत स्त्री-पुरुष अनुपात 775 था। लगभग 40% शहरों का स्त्री-पुरुष का अनुपात इस औसत से कम था जिससे संकेत मिलता है कि अकेले पुरुष का प्रवासन उस समय की प्रचलित प्रथा थी: हालांकि, स्त्री-पुरुष के अनुपात तथा शहर के आकार के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था, यह बात भी स्वत: स्फूर्त शहरीकरण की प्रक्रिया को विघटित कर देने का ही लक्षण था।

18.5.3 औपनिवेशिक शहरी अर्थव्यवस्था

अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद की घुसपैठ के कारण शहरी क्षेत्रों की पारंपरिक अर्थव्यवस्था में कुछ संरचनात्मक परिवर्तन आ गए। ये परिवर्तन एक ओर तो शहरी उत्पादक तथा वाणिज्यिक गतिविधियों और ग्रामीण कृषि अर्थव्यवस्था के बीच अंतर संबंधों के समाप्त हो जाने के कारण परिणामस्वरूप हुए तो दूसरी ओर पूंजी तथा व्यावसायिक कार्यकलाप के देशी और विदेशी दोनों प्रकार के कुछ ही पूंजीवादी उद्यमियों के हाथों में अधिकाधिक संकेन्द्रित हो जाने के कारण हुए।

यूरोप में बने सस्ते माल के बाजार में आ जाने के कारण दस्तकारी से बने देशी उत्पादन पर आधारित पारंपरिक शहरी औद्योगिक आधार धीरे-धीरे समाप्त हो गया और इन शहरों का आर्थिक आधार मात्र कच्चा माल इकट्ठा करके उसका वितरण करना, विनिर्मित माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना तथा औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की अनुषंगी सेवाएँ प्रदान करना ही रह गया। इन शहरों में पनपने वाले उद्योग या तो प्राथमिक प्रक्रमण उद्योग (primary processing industries) थे या छोटे मोटे साधारण तरह के इंजीनियरी कारखाने थे और इस तरह के उद्योग शहरी अर्थव्यवस्था को आधुनिक ढंग से परिवर्तित नहीं कर सकते थे।

इस अवधि के दौरान जो दो प्रमुख शहरी उद्योग विकसित हुए थे वे थे कपड़ा तथा जूट उद्योग। कपड़ा मिलें मुख्यतः पश्चिमी भारत के शहरों में लगी हुई थीं तो जूट उद्योग कलकत्ता बंदरगाह के समीप हुगली नदी के किनारे ही पनपा। ऊन तथा चमड़े की फैक्टरियाँ कानपुर तथा दिल्ली में लगी थी। लोहा तथा इस्पात उद्योग भी बर्नपुर तथा जमशेदपुर जैसे शहरों में विकसित हुआ। अन्य शहरों में कोई खास औद्योगिक विकास नहीं हुआ।

पूरे देश में बहुत से शहरों में तो एक प्रकार की वि-औद्योगीकरण की प्रक्रिया ही शुरू हो गई। उत्तर तथा पूर्वी भारत के लगभग 70% शहरों में मजदूर औद्योगिक क्षेत्रक से निकलकर तृतीयक क्षेत्रक में चले गए क्योंकि शहरी अर्थव्यवस्था में उद्योगों का ह्रास होने लगा। इसलिए तृतीयक या सेवा क्षेत्रक का विस्तार उचित आकार से ज्यादा हो गया और उद्योग अवशिष्ट बन कर रह गए। बहुत से शहरों में तृतीयक क्षेत्रक में मजदूरों की संख्या में निरपेक्ष तथा सापेक्ष अर्थ में ही वृद्धि नहीं हुई बल्कि इन नगरों की कुल जनसंख्या में परिवर्तन से अपेक्षा के बिना भी हुई अर्थात् कुछ शहरों में जहां कुल जनसंख्या कम हो रही थी परंतु तृतीयक श्रमिक न केवल संख्यात्मक रूप में बढ़ रहे थे अपितु औद्योगिक श्रमिकों के अनुपात के रूप में भी बढ़ रहे थे।

औपनिवेशिक शहरों में तृतीयक क्षेत्रक मुख्यतः उन व्यक्तियों से बना होता था जो वैयक्तिक सेवाएँ प्रदान करते थे जैसे घरेलू नौकर, अपरिभाषिक मज़दूर या कारीगर जो व्यक्तियों को सेवा प्रदान करते थे जैसे नाई, दर्ज़ी, धोबी आदि। व्यावसायिक तथा ऊपरी सेवाओं में मामूली सी वृद्धि हुई। व्यापार और परिवहन बहुत श्रम-प्रधान तथा विखंडित था। शहरी मज़दूरों का एक बड़ा हिस्सा समाज में निम्न स्तर की ज़िंदगी बिता रहा था और भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति आदि अपनाए हुए था। इस क्षेत्रक से पता चलता है उस समय आर्थिक ठहराव तथा विकृतियाँ आ गई थीं जो अल्प विकास की द्योतक हैं।

बोध प्रश्न 3

1) पारंपरिक भारतीय कस्बों के विकास का प्रतिरूप स्पष्ट करिए। (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) (क) 1891 और 1921 के बीच निम्नलिखित शहरों में से किसने सबसे तेज गति से विकास किया :

(i) दिल्ली (ii) लाहौर (iii) कराची (iv) बेंगलूर

(ख) औपनिवेशिक भारत में निम्नलिखित में से कौन सा कृषि विपणन तथा संग्रह केंद्र था :

(i) भागलपुर (ii) लायलपुर (iii) कानपुर (iv) दीनापुर

3) सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए
   (क) औपनिवेशिक अवधि के दौरान जिन शहरों का विकास हुआ उनमें मुख्यतः प्रवासी लोग रहते थे।
   (ख) शहरी औद्योगिक आधार के विकास के साथ देशी दस्तकारियों का भी विकास हुआ।
   (ग) तृतीयक क्षेत्रक का अपने इष्टतम आकार से भी अधिक विस्तार हुआ और उद्योग अवशिष्ट बन कर रह गए।

18.6 शहरी आधारिक संरचना तथा लोगों की दशा

औपनिवेशिक भारत में शहरी आबादी को उपलब्ध आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं के संबंध में जो जानकारी उपलब्ध है वह केवल कलकत्ता, बंबई और मद्रास जैसे प्रेजीडेंसी शहरों तक ही सीमित है, इसलिए सबसे पहले कलकत्ता की स्थिति को ही देखा जाए क्योंकि यही शहर 1911 तक साम्राज्य की राजधानी रहा और वहीं शहरी सुविधाएँ सबसे पहले उपलब्ध कराई गई।

18.6.1 कलकत्ता : औपनिवेशिक रूढ़ियों में जकड़ा शहर

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक कलकत्ता ब्रिटिश भारत का व्यापारिक केंद्र बन गया था और वास्तव में तो राजधानी के विभिन्न कार्यों को संपन्न करने के लिए आलीशान इमारतों से युक्त एक बड़ा शहर बन गया था। इसके कुछ हिस्से शाही वैभव के प्रतीक बन गए और धात्रियों तथा कलकत्ता निवासियों ने इसे "पूर्व की रानी" का नाम ठीक ही दिया था। यद्यपि यह पश्चिमी भारत से अभी भी कटा हुआ था किंतु यह एक सीमांत शहर था जो विदेशी अन्तः क्षेत्र बंदरगाह की अवस्था को पार कर चुका था। लेकिन यदि उस समय के यूरोप के अन्य राजधानी शहरों से इसकी तुलना की जाए तो यह कुल मिलाकर एक बहुत पिछड़ा और पूर्व-आधुनिक शहर ही था। इसमें न तो कोई नगर निगम था, न कोई पोर्ट ट्रस्ट और न किसी प्रकार की फौजदारी या दीवानी अदालतें। देशी और यूरोपीय लोगों के लिए अलग-अलग कानून थे। सड़को के साथ न तो कोई पैदल पथ थे और न सड़क पर कोई प्रकाश व्यवस्था थी। 1854 में चौरंगी पर पहली गैस बत्ती लगाई गई थी। कुछ ही सड़कें पक्की थीं। न तो कोई भंडार गृह थे और न हुगली पर कोई पुल ही था। बंदरगाह पर न तो भंडार गृह थे, न कोई घाट थे और न वेट डॉक (wet-docks) ही थे। बीस प्रतिशत क्षेत्र पर अभी भी खेती की जाती थी और घर तथा झोपड़ियों का अनुपात 1:5 का था। नागरिक सुविधाओं की दृष्टि से कलकत्ता अभी भी युग की माँग और आवश्यकताओं से कम से कम आधी शताब्दी पीछे था। लोग खुले में नहाते थे, नालियों के किनारे खाने के बर्तन मांजते थे और खुले में अपने कपड़ों, घोड़ों तथा वाहनों की सफाई करते थे। मलेरिया का प्रकोप था। अधिकांश व्यापारिक माल अभी भी सदियों पुराने साधनों से ढोया जाता था।

कलकत्ता में प्रयोग के तौर पर पहली स्थानीय नगरपालिका 1859 में स्थापित की गई। 1862 में विधान परिषद् और उच्च न्यायालय स्थापित किए गए और शहर के सभी निवासियों को एक सामान्य विधि के अधीन कर दिया गया। 1860 के दशक में धीरे-धीरे आधुनिक आधारिक संरचनात्मक सुविधाएँ शहर में उपलब्ध कराई जाने लगी। सस्ती दर पर डाक तथा तार सेवाएँ और सीवर प्रणाली ने 1859 में काम करना शुरू कर दिया और नलों के जरिए पानी देने की योजना 1863 में बनाई और लागू की गई। उसी वर्ष लोक निर्माण विभाग स्थापित किया गया। शहर की सड़कों पर 1880 में बिजली की ट्रामें चलने लगीं और 1882 में टेलीफोन प्रणाली प्रारंभ की गई। भारत का प्रथम विश्वविद्यालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय 1857 में स्थापित किया गया। संग्रहालय तथा चिड़ियाघर 1875 में बनाए गए। किदरपुर गोदी (docks) 1890 में खोला गया।

18.6.2 रहन-सहन की परिस्थितियाँ

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में कलकत्ता की जनसंख्या 949 हजार हो गई और यह विश्व का नौवां सबसे बड़ा शहर तथा ब्रिटिश साम्राज्य का दूसरा सबसे बड़ा शहर हो गया। शहरी सुविधाएँ उपलब्ध कराए जाने के बावजूद यहाँ शिशु मृत्यु दर तथा टी.बी. रोग विश्व में सबसे अधिक था। यह कहा जाता था कि 1870 के दशक के दौरान प्रत्येक वर्ष 5,000 लाशें इस शहर से हुगली नदी में फेंकी जाती थी जिनमें से 1500 तो केवल सरकारी हस्पतालों से होती थीं। इस शताब्दी के आरंभ में इस शहर को विश्व का सबसे बड़ा गंदा (स्लम) शहर कहा जाता था। शहर की लगभग आधी आबादी ऐसे घरों में रहती थी जो मानवीय आवास के लिए उपयुक्त नहीं थे और पूरे शहर में केवल दो ही क्षेत्र ऐसे थे जहाँ सामान्य सड़क व्यवस्था विद्यमान थी। वहाँ की केवल 4 प्रतिशत

आबादी ही साक्षर थी। इस शहर की अधिकांश हिंदुस्तानी आबादी प्रवासियों की थी जिन्हें **बिदेसिया** कहा जाता था, ये निपट गंवार थे जिन पर विदेशी संस्कृति तथा समाज आसानी से हावी हो जाता था, दूसरा वर्ग आसपास के गाँवों से आए निर्धनों का होता था जिन्हें **मुफसिलिया** कहा जाता था, शहर की सड़कों पर रहने वाले और कभी तो सड़क पर ही मर जाने वाले ये लोग पटरियों पर धंधा करके रोज़ी रोटी कमाते थे।"

अन्य बड़े शहरों में भी हालात बेहतर नहीं थे। बंबई में 1931 तक शहर की 36 प्रतिशत आबादी घोर भीड भाड़ से ग्रस्त थी। शहर के 80% घर एक कमरे वाले थे जिनमें शहर की 74% आबादी रहती थी। शहर की एक चौथाई आबादी ऐसे कमरों में रहती थी जहाँ एक ही कमरे में 6 से लेकर 9 लोग रहते थे। इसके अलावा अन्य बहुत से शहरों में भी जगह की तंगी थी। लखनऊ में 50 प्रतिशत परिवार और कानपुर में 62% परिवार एक कमरे के मकान में रहते थे। (सेंसस आफ इंडिया रिपोर्ट, 1931 : 56-58)। दूसरी ओर लंदन में उसी अवधि में केवल 12 प्रतिशत परिवार ही एक कमरे के मकान में रहते थे। जब अंग्रेज भारत छोड़कर गए तो हमने ऐसी स्थिति से ही शुरुआत की।

18.7 स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का दृश्य

हम जानते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत में शहरी जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है, जो औपनिवेशिक शासन की दर से काफी अधिक है। 1941 में 4 करोड़ 40 लाख लोग शहरों में रहते थे, 1981 में यह संख्या बढ़कर 16 करोड़ हो गई और कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत 14.10 से बढ़कर 23.73 प्रतिशत हो गया।

18.7.1 शहरी विकास की रूपरेखा

1941-51 के दौरान शहरी जनसंख्या की चक्रवृद्धि संवृद्धि दर 3.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इस ऊंची संवृद्धि दर का कारण था ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर लोगों का बड़ी तादाद में जाना और लगभग 500 नए कस्बों/शहरों का प्रादुर्भाव। हालांकि जनांकिकीविद् चालीस के दशक की तेज़ शहरी संवृद्धि की इस बात को सही नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार स्वतंत्रता के बाद 1951 में हुई पहली जनगणना में शहरी स्थान की परिभाषा बड़ी शिथिल कर दी गई। 1961 की जनगणना के महापंजीयक ने यह स्वीकार किया है कि 1951 की जनगणना में विभिन्न राज्यों में कस्बे और गाँवों में भेद करने की जो कसौटी रखी गई थी वह सभी राज्यों में समान विचारों पर आधारित थी किन्तु वे न तो एक जैसी थीं और न उन्हें ध्यानपूर्वक समान रूप से लागू ही किया गया था। राजाओं की रियासतों में कस्बों की परिभाषा कुछ अंधाधुंध तरीके से लागू कर दी गई थी। इसके अतिरिक्त, शहरी जनसंख्या में यह ज्यादा वृद्धि आंशिक रूप से इसलिए भी हो गई थी कि 1947 में देश विभाजन के बाद काफी जनसंख्या शहरों में बस गई और प्रवासियों तथा अल्प-संख्यकों के बहुत बड़े हिस्से को भी शहरों में बसाया गया। 1941-51 के बीच हुए तेज शहरीकरण के पीछे चाहे ये कारक ज़िम्मेदार रहे हों परंतु विद्वानों, योजनाकारों तथा नीति निर्माताओं ने इस प्रक्रिया के बारे में गंभीर चिंता व्यक्त करते हुए इसे "अत्यधिक शहरीकरण", "छद्म शहरीकरण" आदि की संज्ञा दी। इसीलिए, उन्होंने ग्रामीण-शहरी प्रवास तथा शहरी संवृद्धि की गति को कम करने के लिए बहुत से उपाय सुझाए।

1961, 1971 तथा 1981 की जनगणनाओं में शहरी केंद्रों की पहचान करने के लिए दो कसौटियाँ निर्धारित की गई :

1) जिन बस्तियों में शहरी स्वशासन (सूची के अनुसार) थे उन्हें स्वतः ही शहरी स्थान मान लिया जाए।

2) ऐसी बस्तियाँ जो उपर्युक्त (1) के अनुसार शहरी स्थान के अंतर्गत नहीं आतीं उन्हें तभी शहरी स्थानों में शामिल किया जाए जब (क) उसमें कम से कम 5000 लोग रहते हों (ख) जिसमें घनत्व 1000 प्रति वर्ग मील से अधिक हो, तथा (ग) जिसमें तीन चौथाई से अधिक श्रम बल कृषि कार्य के अलावा कोई अन्य कार्य करता हो।

कुछ ऐसी बस्तियाँ जो उपर्युक्त (1) तथा (2) के अंतर्गत शहरी स्थान नही कहे जा सकते उन्हें भी शहरी स्थान माना जा सकता है बशर्ते यदि जनगणना महापंजीयक उनके शहरी लक्षणों जैसे तीर्थस्थान या पर्यटन स्थल आदि होने से संतुष्ट हो जाए। परिभाषाओं में किए गए इन परिवर्तनों की वजह से विभिन्न स्थानों तथा वर्गों के बीच तुलनीयता की समस्याएँ पैदा हो गई।

शहरी स्थान की कड़ी परिभाषा करने तथा उसे कड़ाई से लागू करने की वजह से 1961 की जनगणना में 1951 की जनगणना के 44 लाख की कुल जनसंख्या वाले 803 कस्बों को शहरी वर्ग से हटाकर ग्रामीण क्षेत्र घोषित कर दिया गया।

1951-61 के बीच शहरी संवृद्धि दर घटकर 2.3 प्रतिशत ही रह गई। यह कमी ग्रामीण-शहरी प्रवास में कमी आने के कारण बताई गई। लेकिन इस दर में साठ के दशक में कुछ वृद्धि हुई और शहरी जनसंख्या 3.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी। यह वृद्धि अधिकांशतः विद्यमान शहरी केंद्रों की जनसंख्या में ही वृद्धि हो जाने के कारण हुई न कि नए कस्बों के स्थापित होने के कारण जैसा कि तालिका 18.3 से पता चलता है। सत्तर के दशक में शहरी आबादी में 3.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से वृद्धि हुई जो वर्तमान शताब्दी के सभी अन्य दशकों की सबसे ज्यादा वृद्धि दर है। शहरी केंद्रों की संख्या में भी काफी वृद्धि जो 1971 में 2519 से बढ़कर 1981 में 3301 हो गई।

तालिका 18.3

राज्य	1951	1961	1971	1981
आंध्र प्रदेश	276	211	206	234
बिहार	101	128	163	179
गुजरात	231	167	198	220
हरियाणा	56	58	61	77
हिमाचल प्रदेश	29	29	35	46
जम्मू और कश्मीर	23	21	46	56
कर्नाटक	283	216	227	250
केरल	89	73	78	85
मध्यप्रदेश	194	208	229	303
महाराष्ट्र	352	238	253	276
मणिपुर	1	1	8	31
मेघालय	1	3	3	7
नागालैंड	1	3	3	7
उड़ीसा	39	59	77	103
पंजाब	110	106	105	134
राजस्थान	221	141	151	195
सिक्किम	1	1	7	8
तमिलनाडु	263	263	240	245
उत्तरप्रदेश	458	239	283	659
पश्चिम बंगाल	78	102	112	130
संघ शासित क्षेत्र	10	21	26	45
भारत	2,818	2,311	2,519	3,301

टिप्पणी : 1) 1981 की जनगणना में अन्य राज्यों के साथ असम में जनगणना नहीं की गई थी इसलिए भारत के सभी वर्षों के आंकड़ों सम्मिलित नहीं किए गए हैं।
2) तालिका में 40 लाख से कम जनसंख्या वाले राज्यों को शामिल नहीं किया गया है।
3) शहरी जमावों को एक शहरी इकाई माना गया है अतः यहाँ दिए गए आंकड़ों में और संबंधित जनगणनाओं में दिए गए आंकड़ों में अंतर है।

इस सब वृद्धि के बावजूद भारत विश्व का सबसे कम शहरी क्षेत्र वाला देश बना रहा। पिछले चार दशकों के दौरान इसकी शहरी वृद्धि दर अफ्रीका तथा लातीनी अमेरिका के अधिकांश देशों की तुलना में कम ही रही। प्रति 1000 वर्गमील शहरी केंद्रों की संख्या इकाई से कम रही जो अल्प विकसित देशों तक के मानदंड के अनुसार अत्यधिक कम है और इससे प्रदर्शित होता है कि ग्रामीण या क्षेत्रीय विकास के लिए आवश्यक शहरी समर्थन की काफी कमी है।

18.8 शहरीकरण के प्रतिरूप में अन्तर-राज्यीय भिन्नता

भारत के विभिन्न राज्यों में शहरी संवृद्धि के प्रतिरूप के अध्ययन से शहरीकरण की प्रक्रिया और उसके सामाजिक-आर्थिक सहसंबंधों के बारे में रोचक जानकारी मिलती है। पचास के दशक में

असम, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश जैसे प्रमुख राज्यों में शहरी संवृद्धि तेजी से हुई। ये राज्य देश के सबसे पिछड़े और सबसे कम शहरों वाले राज्य थे और अब भी उनकी स्थिति ऐसी है जैसा कि तालिका 18.4 में देखा जा सकता है। इन राज्यों में बाद के दशकों में भी संवृद्धि की ऊँची दर बनी रही। 1971-81 तक अर्थात् लगातार तीन दशकों तक उड़ीसा और मध्य प्रदेश में शहरी संवृद्धि की ऊँची दर कायम रही।

तालिका 18.4

तालिका 18.4 राज्यों में कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत

राज्य	1951	1961	1971	1981
असम	4.2	7.0	8.6	NA
आंध्र प्रदेश	17.4	17.4	19.3	23.3
बिहार	6.8	8.4	10.0	12.5
गुजरात	27.2	25.8	28.1	31.1
हरियाणा	17.0	17.2	17.7	22.0
हिमाचल प्रदेश	6.4	6.3	7.0	7.6
जम्मू और कश्मीर	14.0	16.7	18.6	21.1
कर्नाटक	22.9	22.3	24.3	28.9
केरल	13.5	15.1	16.2	18.7
मध्यप्रदेश	12.0	14.3	16.3	20.3
महाराष्ट्र	28.8	28.2	31.2	35.0
मणिपुर	0.5	8.7	13.2	26.4
मेघालय	9.7	15.3	14.6	18.1
नागालैंड	1.9	5.2	9.9	15.5
उड़ीसा	4.1	6.3	8.4	11.3
पंजाब	21.7	23.1	23.7	27.7
राजस्थान	18.5	16.3	17.6	20.9
सिक्किम	NA	4.2	9.4	16.2
तमिलनाडु	24.4	26.7	30.3	33.0
त्रिपुरा	6.7	9.0	10.4	11.0
उत्तरप्रदेश	13.6	12.9	14.0	18.0
पश्चिम बंगाल	23.8	24.5	24.7	26.5
भारत	17.3	18.2	20.2	23.7

* असम को छोड़कर अन्य सभी राज्य तथा संघ राज्य क्षेत्र शामिल हैं।

दुर्भाग्यवश 1981 की जनगणना में असम को शामिल नहीं किया गया था, लेकिन संकेत ऐसे मिलते हैं कि वहाँ भी तेजी से शहरीकरण हुआ। एक अन्य अल्प विकसित तथा अल्प शहरीकरण वाले राज्य उत्तर प्रदेश ने भी पिछली हालात से विपरीत उन्नति की। इस राज्य की शहरी और कुल जनसंख्या दोनों की संवृद्धि दर वर्तमान शताब्दी में 1971 तक देश की संवृद्धि दर से कम थी लेकिन 1971-81 के दौरान यह राज्य तेज शहरी संवृद्धि दर वाले राज्यों में से एक हो गया। (तालिका 18.5 देखिए) और इसकी कुल जनसंख्या की संवृद्धि दर देश की संवृद्धि दर से भी ऊँची थी। सत्तर के दशक में बिहार और राजस्थान में भी शहरी संवृद्धि की ऊँची दर रिकार्ड की गई ये भी देश के दो अन्य पिछड़े राज्य थे। कुछ विकसित राज्यों जैसे हरियाणा तथा कर्नाटक में भी हाल के दशकों में शहरीकरण की ऊँची दर हासिल की गई है। इसका कारण यह हो सकता है कि वहाँ औद्योगिक तथा वाणिज्यिक संवृद्धि तेजी से हुई है जिसे विभिन्न क्षेत्रकों में रोजगार तथा आमदनी में हुई वृद्धि के रूप में समझा जा सकता है।

अंत में, यह उल्लेखनीय है कि महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा पंजाब जैसे अन्य औद्योगिक रूप से विकसित राज्यों में शहरी जनसंख्या की संवृद्धि दर अपेक्षाकृत नीची रही है जबकि एक अन्य तेजी से उद्योगीकरण की ओर बढ़ते राज्य गुजरात में मध्यम गति से शहरी संवृद्धि हुई। इस सबसे यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि भारत में शहरीकरण औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप हुआ है या कि हाल के वर्षों में शहरों में नौकरियों में वृद्धि होने से बड़ी संख्या में प्रवासी लोग शहरी क्षेत्रों की ओर आकृष्ट हुए। वास्तव में तो यहाँ तक कि ऐतिहासिक रूप से भारत में शहरीकरण का नीचा स्तर उस औद्योगिकीकरण की तदनुरूप मात्रा से मेल नहीं खाता जो दूसरे देशों ने विकास के तुलनीय स्तर पर प्रदर्शित किया।

तालिका 18.5 भारत में शहरी केंद्रों तथा शहरी जनसंख्या का राज्यवार वितरण (1971 तथा 1981)

राज्य	प्रति 1000 वर्ग कि.मी. शहरी केंद्र	प्रति 10 लाख ग्रामीण जनसंख्या पर शहरी केंद्र	ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में शहरी जनसंख्या का % 1971	ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में शहरी जनसंख्या का % 1981	71-81 में विद्यमान शहरी केंद्रों में जनसंख्या की वार्षिक संवृद्धि दर
आंध्र प्रदेश	0.81	6.38	23.94	30.28	3.75
असम	0.74	5.43	9.73	–	–
बिहार	1.16	3.98	11.11	14.23	4.27
गुजरात	1.10	11.25	39.04	45.10	3.64
हरियाणा	1.47	7.86	21.45	28.14	4.50
हिमाचल प्रदेश	0.65	11.18	7.52	8.37	1.76
जम्मू और कश्मीर	0.20	11.98	22.83	–	–
कर्नाटक	1.28	11.05	32.11	40.68	4.25
केरल	2.26	4.92	19.39	23.12	2.45
मध्य प्रदेश	0.56	7.17	19.46	25.48	4.15
महाराष्ट्र	0.94	8.33	45.28	53.91	3.39
मणिपुर	0.36	8.59	15.19	35.95	4.48
मेघालय	0.27	6.94	17.02	21.99	3.49
नागालैंड	0.18	6.45	11.05	18.40	–
उड़ीसा	0.52	4.03	9.18	13.40	4.25
पंजाब	2.14	10.45	31.12	38.55	3.23
राजस्थान	0.46	7.40	21.41	26.48	3.95
तमिलनाडु	3.37	15.28	43.38	49.21	2.57
त्रिपुरा	0.57	4.30	11.65	12.34	2.75
उत्तरप्रदेश	1.10	4.28	16.31	21.97	3.12
पश्चिम बंगाल	2.54	6.69	32.89	36.04	2.59
भारत	0.95	7.12	24.85	31.12	3.39

टिप्पणी : अंतिम कॉलम में संवृद्धि दर केवल उन्हीं बस्तियों को मद्देनजर रखकर आकलित की गई है जो 1971 में शहरी क्षेत्र के रूप में पहचाने गए थे। 1981 में जिन कस्बों को कस्बा करार नहीं किया गया उन्हें भी इसमें शामिल नहीं किया गया है क्योंकि उनकी 1981 की जनसंख्या उपलब्ध नहीं है।

18.8.1 पिछड़े राज्य

राज्यों के अंदर शहरी संवृद्धि से एक रोचक स्थानिक प्रतिरूप का पता चलता है। यह प्रतिरूप शहरीकरण की मात्रा की दृष्टि से अपेक्षाकृत "उन्नत" तथा अधिक "पिछड़े राज्यों के बीच चलायमान होता है। सत्तर के दशक में उत्तर प्रदेश के पिछड़े जिलों में शहरी संवृद्धि की अत्यधिक ऊँची दर हासिल की गई। जिन जिलों में 7 या इससे अधिक प्रतिशत प्रतिवर्ष की शहरी जनसंख्या में वृद्धि हुई वे हैं– उत्तरकाशी, चमोली, टिहरी गढ़वाल, पिथौरागढ़, मुजफ्फरनगर, बदायूं, फतहपुर, हमीरपुर, खेरी, उन्नाव, रायबरेली, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बस्ती, देवरिया, आजमगढ़ बलिया तथा गाजीपुर। इनमें से मुजफ्फरनगर को छोड़कर सभी जिले पिछड़े जिले हैं और इनमें राज्य के औसत से बहुत कम शहरी जनसंख्या है और 1971 तथा 1981 दोनों में यहाँ औद्योगिक क्षेत्रक में बहुत कम श्रमिक काम पर लगे थे। दूसरी ओर विकसित जिले, जिनमें राज्य के बहुत से वर्ग-1 के शहर जैसे कानपुर, लखनऊ, वाराणसी, आगरा, इलाहाबाद आदि बसे हुए हैं, में शहरी जनसंख्या में बहुत नीची दर से वृद्धि हुई। इसलिए, शहरी आधार तथा शहरी संवृद्धि के बीच एक ऋणात्मक तथा महत्वपूर्ण संबंध देखा जा सकता है, अर्थात् कम शहरीकृत जिलों में शहरी जनसंख्या में ऊँची दर से संवृद्धि हुई। प्रथम दृष्टि में यह एक अच्छा लक्षण दिखाई देता है और औपनिवेशिक शासन काल में विघटित शहरीकरण की प्रक्रिया में कुछ सुधार का द्योतक है।

उत्तर प्रदेश में, वर्ग-1 के शहरों में तो जनसंख्या में मामूली वृद्धि हुई परंतु बीस हजार से कम जनसंख्या वाले वर्ग-4, 5 और 6 के शहरों में जनसंख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई और ऐसा ही

अन्य कई पिछड़े राज्यों में भी हुआ है। विकसित राज्यों की अपेक्षा पिछड़े राज्यों में स्थित नीचे की श्रेणियों के कस्बों में ज्यादा तेज दर से वृद्धि हुई है। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि सत्तर के दशक में इन कस्बों की संवृद्धि में ज्यादा तेजी आई। वर्ग-1 तथा वर्ग-2 वाले शहरों में एक दशक में पचास प्रतिशत से अधिक संवृद्धि दर या 4.14 प्रतिशत की वार्षिक चक्रवृद्धि संवृद्धि दर दिखाने वाले शहरों का हिस्सा इस राज्य में अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत कम है। लेकिन नीची श्रेणी वाले कस्बों के बारे में यह बात सही नहीं है। रोचक बात यह है कि उत्तर प्रदेश में 1971-81 के दौरान वार्षिक शहरी संवृद्धि दर 4.9 प्रतिशत है, जो 3.9 प्रतिशत की राष्ट्रीय संवृद्धि दर से काफी अधिक है। किंतु बीस हजार से कम जनसंख्या वाले कस्बों को निकाल कर संवृद्धि दर का आकलन किया जाए तो वह देश की संवृद्धि दर (4.1%) की तुलना में कम (3.8%) हो जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि धीमी गति से बढ़ती अर्थव्यवस्था वाले राज्य उत्तर प्रदेश में छोटे तथा मझोले आकार के कस्बों में तेज़ी से वृद्धि हो रही है और बहुत बड़ी संख्या में नए कस्बे बनते जा रहे हैं।

उड़ीसा में साठ और सत्तर के दशक में किओंझर मयूरभंज, बालेश्वर, धेनकनाल, बौध खंडमाल, बोलानगीर तथा कोरापुट जैसे पिछड़े जिलों में तेज गति से शहरी जनसंख्या में वृद्धि हुई। यह वृद्धि नए कस्बों के स्थापित होने और विद्यमान छोटे कस्बों में तेजी से वृद्धि दोनों ही कारणों से हुई। जिला स्तर के आंकड़ों के आधार पर शहरी संवृद्धि तथा कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या के प्रतिशत के बीच एक महत्वपूर्ण ऋणात्मक संबंध देखने को मिलता है। शहरी संवृद्धि का औद्योगिक तथा कृषि विकास के कई अन्य सूचकों के साथ भी ऋणात्मक संबंध दिखाई देता है। पिछड़े जिलों के छोटे कस्बों में हुई तेज संवृद्धि के विपरीत अपेक्षाकृत अधिक विकसित जिलों में शहरी संवृद्धि अपेक्षाकृत कम हुई।

1971-81 के दौरान आंध्र प्रदेश के सबसे कम शहरीकृत और आर्थिक रूप से सबसे ज्यादा पिछड़े तेलंगाना क्षेत्र में शहरी जनसंख्या में सबसे तेज गति से वृद्धि हुई। 1971 में मेडक, नालगोंडा तथा करीम नगर जिलों में क्रमशः 8.5, 6.7 तथा 10.7 प्रतिशत शहरी आबादी थी किंतु 1971-81 के दौरान वहाँ क्रमशः 5.6, 7.8 तथा 6.2 प्रतिशत की अभूतपूर्व शहरी संवृद्धि हुई। तेलंगाना क्षेत्र के अन्य जिलों में निजामाबाद, आदिलाबाद, वारांगल तथा खम्मम (हैदराबाद तथा रंगारेड्डी को छोड़कर) में जहाँ 19.3 प्रतिशत के राज्य औसत से बहुत कम शहरी जनसंख्या थी वहाँ भी शहरी संवृद्धि राज्य के औसत से कहीं अधिक दर से हुई। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त पिछड़े जिलों के छोटे कस्बों में अपेक्षाकृत अधिक विकसित जिलों की तुलना में ज्यादा ऊँची दर से संवृद्धि हुई।

राजस्थान में पचास के दशक के दौरान बीकानेर, अजमेर, चुरू, जोधपुर, जयपुर और कोटा जैसे शहरीकृत जिलों में तेज गति से शहरीकरण हुआ। लेकिन बाद के दशकों में इस प्रतिरूप में बदलाव आ गया। वे सभी जिले जिनमें ऊँची दर से शहरी संवृद्धि हो रही है जैसे जालौर, बाँसवाड़ा, डूंगरपुर, पाली, बाड़मेर तथा झालावाड़; वहाँ पर शहरी आधार बहुत कम था। यद्यपि जयपुर, बीकानेर, उदयपुर तथा कोटा जैसे विकसित जिलों में संवृद्धि दर वही है जो संपूर्ण राज्य की है किंतु साठ तथा सत्तर के दशकों के दौरान शहरी संवृद्धि तथा शहरी आधार में महत्वपूर्ण संबंध ऋणात्मक ही बना रहा।

मध्य प्रदेश में भी यही प्रतिरूप दिखाई देता है। सत्तर के दशक के दौरान जो जिले अपेक्षाकृत अधिक विकसित शहरी औद्योगिक आधार वाले थे उनमें शहरीकरण की दर नीची या मामूली ही रही। उदाहरण के रूप में ग्वालियर, इंदौर, जबलपुर, उज्जैन, रतलाम, सागर तथा मंदसौर की स्थिति को प्रस्तुत किया जा सकता है। दूसरी ओर भिंड, टीकमगढ़, रीवा, सीधी, रायसेन तथा बैतूल जैसे पिछड़े जिलों में 7 प्रतिशत से अधिक शहरी संवृद्धि हुई। अन्य अधिकांश पिछड़े जिलों में भी शहरी संवृद्धि दर 5 से 7 प्रतिशत के बीच रही। इन लक्षणों से इस बात की पुष्टि होती है कि अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करके शहरीकरण की औपनिवेशिक प्रक्रिया को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से आंशिक रूप से सुधारने का प्रयत्न किया गया है।

18.8.2 उन्नत राज्य

दूसरी ओर, गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु जैसे अपेक्षाकृत अधिक विकसित राज्यों में एक भिन्न प्रतिरूप ही दिखाई दिया। पहला, इन राज्यों के जिलों में शहरी संवृद्धि में इतनी अधिक भिन्नता नहीं है जितनी कि पिछड़े राज्यों के जिलों में थी। दूसरे, एक या अधिक वर्ग-1 के शहरों वाले शहरीकृत जिलों में शहरी संवृद्धि की दर काफी ऊँची है, जिससे पता चलता है कि वहाँ जिले के अंतर्गत ही बड़े शहरों के इर्द गिर्द या तो औद्योगिक गतिविधियों का और अधिक सकेंद्रण हो गया है या छितराव बहुत सीमित मात्रा में हुआ है। कुछ पिछड़े जिलों में ऊँची दर से शहरी औद्योगिक संवृद्धि दिखाई तो देती है परंतु ऐसा या तो उसके किसी बड़े शहर के नजदीक होने के कारण हुआ है या फिर किसी प्रमुख सार्वजनिक क्षेत्रक के कार्यक्रम या परियोजना

के समीप होने के कारण हुआ है। उदाहरणतः गुजरात में गांधीनगर (अहमदाबाद के समीप), सूरत तथा बड़ोदरा जैसे विकसित जिलों में सर्वाधिक दर से शहरी संवृद्धि हुई है। महाराष्ट्र में, थाणे (बंबई के बाद), पुणे, औरंगाबाद तथा चंद्रपुर जिलों में तेजी से शहरीकरण हुआ है। इनमें से औरंगाबाद और चंद्रपुर में यह संवृद्धि सरकार की प्रमुख परियोजनाओं के कारण हुई है। पश्चिमी बंगाल में चौबीस परगना, नादिया तथा वर्धमान ऐसे जिले हैं जहाँ बहुत तेजी से शहरीकरण हुआ है, इसका प्रमुख कारण यह है कि उनके नजदीक के कलकत्ता तथा आसनसोल शहरी क्षेत्रों के आसपास सीमित औद्योगिक छितराव हुआ है। दूसरी ओर, जलपाईगुड़ी, दार्जिलिंग तथा पश्चिमी दीनाजपुर में जो शहरी संवृद्धि हुई है, वह प्रमुख सरकारी कार्यक्रमों की वजह से हुई है। प्रमुख राज्यों में तमिलनाडु ऐसा राज्य है जहाँ शहरी संवृद्धि की दृष्टि से जिलों के बीच सबसे कम अंतर है, इसमें सबसे तेज गति से शहरीकरण हासिल करने वाला जिला केवल चेंगलपाटु है जिसमें मद्रास शहरी समूह का एक हिस्सा और समीपवर्ती इलाके शामिल हैं। मध्यम गति से शहरी संवृद्धि हासिल करने वाले जिले हैं– पेरियार, उत्तरी आर्काट तथा धर्मपुरी जो क्रमशः ईरोड, बेल्लोर तथा वेंगलूर जैसे शहरों के पृष्ठ क्षेत्र में आते हैं।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि विकसित राज्यों में जो शहरीकरण हुआ है वह वर्ग-1 के शहरों तथा उनके इर्द गिर्द तक ही सीमित रहा है और वह औद्योगिक संकेंद्रण तथा कुछ मामलों में सीमित औद्योगिक छितराव की प्रक्रिया का द्योतक है। यह बात प्रमुख सरकारी औद्योगिक टाउनशिपों के सिवाय सभी पर लागू होती है और यह शहरीकरण प्रक्रिया के कुछ औपनिवेशिक लक्षणों की निरंतरता की द्योतक है। इस प्रतिरूप में, पिछड़े राज्यों के शहरीकरण में जिला तथा तालुकाओं के मुख्यालयों तथा कुछ व्यापारिक कस्बों ने प्रमुख भूमिका अदा की है। उन्होंने अपने आसपास के क्षेत्रों से कमजोर होती कृषि व्यवस्था तथा समाप्त हो रहे पारंपरिक उद्योगों से श्रमिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया है और परिणामस्वरूप इन राज्यों के पिछड़े जिलों में तेजी से शहरी संवृद्धि हुई है।

18.9 नए शहरों तथा संगठन स्थानों का उदय

1971 से 1981 तक कुल 782 नए शहरों की वृद्धि हुई जिनमें से सत्तर प्रतिशत से अधिक शहर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, आंध्र प्रदेश तथा उड़ीसा जैसे राज्यों में बने। इन राज्यों में क्रमशः 376, 74, 44, 28 तथा 26 नए शहर बने। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये पाँचों राज्य देश के सबसे अधिक पिछड़े राज्य हैं। शेष सभी राज्यों में बीस से कम अतिरिक्त शहर बने और केरल तथा बंगाल में तो सत्तर के दशक में शहरों की संख्या में वास्तव में कमी हो गई।

18.9.1 अंतर-राज्यीय वितरण

राज्यों के अंदर ये नए शहर असमान रूप से वितरित हैं। उत्तर प्रदेश के मामले में अधिकतर शहर लखनऊ-कानपुर तथा बनारस-इलाहाबाद के क्षेत्रों और दिल्ली के आसपास के क्षेत्रों में केंद्रित हो गए। यदि साढ़े तीन हज़ार से कम जनसंख्या वाले और बहुत से शहरी कार्यों से विहीन कस्बों को छोड़ दिया जाए तो पूरा उत्तर-पश्चिमी उत्तर प्रदेश नए कस्बों के हिसाब से बंजर हो जाएगा। बिहार में बहुत से नए कस्बे राज्य की राजधानी तथा धनबाद के कोयला क्षेत्र के आसपास बने। अन्य नए कस्बे, बंबई, गोवा, कन्नानोर, त्रिचूर, एरणाकुलम, हैदराबाद तथा विशाखापत्तनम जैसे शहरों के आसपास संकेंद्रित हो गए।

इस उभरते प्रतिरूप से यह पता चलता है कि विशेष रूप से सत्तर के दशक के दौरान थोड़े से बड़े शहरी केंद्रों से अपने पृष्ठ पोषक क्षेत्रों की ओर संवृद्धि का सीमित छितराव हुआ है जिसकी वजह से कई नए कस्बों का उदय हुआ है। इनमें से जो कस्बे बड़े शहरों के नजदीक नहीं हैं, वे अधिकांशतः जिले या ताल्लुकों के मुख्यालय हैं और इनका अस्तित्व तथा विकास आधारिक संरचना में सरकार के निवेश और सरकारी क्षेत्रक में रोजगार के अवसर पैदा करने के लिए सरकार द्वारा किए गए खर्च पर निर्भर होता है। ऐसी स्थिति पिछड़े राज्यों में विशेष रूप से दिखाई देती है। यह स्पष्ट है कि ग्रामीण अर्धव्यवस्था से बाहर धकेले गए श्रमिकों ने बड़े शहरों के नजदीकी गाँवों में (और इस प्रकार ये गाँव शहरी केंद्र में परिवर्तित हो गये)। काम पाना चाहा क्योंकि शहरों में जिंदगी बसर कर पाना उनके लिए कठिन था। यद्यपि यह विकास गति, दुर्भाग्यवश कुछ बड़े शहरों तथा कुछ प्रशासनिक केंद्रों के पड़ोस तक ही सीमित रह गई। भारत में परिवर्तित होते बस्ती सोपान का चिंताजनक लक्षण यह रहा है कि पचास, साठ तथा सत्तर के दशकों के दौरान बहुत सी बस्तियाँ शहरी श्रेणी से निकलकर फिर से ग्रामीण श्रेणी में आ गईं। अक्सर इसका कारण यह है कि छोटे कस्बों का आर्थिक आधार अस्थिर रहा जिससे कृष्येत्तर

श्रमिकों की हिस्सेदारी में घटत बढ़त होती रही– यह औपनिवेशिक शहरीकरण प्रक्रिया की ही खुमारी थी।

18.9.2 बड़ा गाँव तथा कस्बा-सतत द्विभाजन

यह बड़े ताज्जुब की बात है कि 1971 की जनगणना में पाँच से दस हजार के आकार वर्ग में मात्र 164 बस्तियों को ही शहरी क्षेत्र घोषित किया गया जबकि 1961 की जनगणना के अनुसार पाँच हजार से ज्यादा जनसंख्या वाले गाँवों की ही संख्या 4,197 थी। 1981 में भी इसी आकार वर्ग के थोड़े से ही गाँव शहरी क्षेत्र बन पाए। यह जानना महत्वपूर्ण है कि 1971 में उपर्युक्त आकार वर्ग के गाँवों की कुल संख्या 6,332 थी। इसका अर्थ यह है कि इस दशक में उनकी संख्या में 50.87 प्रतिशत की वृद्धि हुई (इसकी वजह 4000 या इससे अधिक जनसंख्या वाले बड़े गाँवों में तेजी से जनसंख्या का विस्तार होना था) और यह वृद्धि वर्ग-5 तथा 6 के शहरी केंद्रों की संख्या की संवृद्धि दर से काफी अधिक है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जनसंख्या में काफी वृद्धि हो जाने, बहुत सी ग्रामीण बस्तियों के आकार में पर्याप्त वृद्धि हो जाने और उनके जनसंख्या घनत्व में वृद्धि हो जाने के बावजूद बड़े आकार वाले गाँव आवश्यक शहरी विशेषताएँ नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं। निचले स्तर की बस्तियों में औद्योगिक और तृतीयक धंधों में काम के अवसर उपलब्ध न होने के कारण क्षेत्रक-विविधता का अभाव और शहरी सुविधाओं की अनुपलब्धता के कारण ग्रामीण-शहरी परिवर्तन की गति में बाधा उत्पन्न हो रही है। भारत में कस्बों की पर्याप्त संख्या में न होने के फलस्वरूप ग्रामीण जनसंख्या का काफी हिस्सा, विशेषकर पिछड़े राज्यों में, शहरी व्यवस्था के लाभों से वंचित रह जाता है। विकास गतिविधियों की मुख्य धारा में सामाजिक और आर्थिक आधारिक संरचना से वे कोई लाभ नहीं उठा पाते। यह भी ग्रामीण-शहरी द्विभाजन के औपनिवेशिक शिकंजे को तोड़ने में हमारी योजना तथा विकास व्यवस्था के असफल हो जाने का परिणाम है।

बहुत से नए सरकारी उद्यम औद्योगिक टाउनशिप और कुछ औद्योगिक छितराव के साथ-साथ तृतीयक क्षेत्रक के विकास ने भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की शहरीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया है।

हमारे प्रमुख शहरों और कस्बों में शहरी सुविधाओं का जो निरंतर अभाव चल रहा है उसके कुछ पहलुओं का अध्ययन हम अगली इकाई में करेंगे।

बोध प्रश्न 4

1) औपनिवेशिक शासन के दौरान कलकत्ता में रहन-सहन की परिस्थितियों का वर्णन करिए। (पाँच वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल में शहरी जनसंख्या में तेजी से संवृद्धि होने के तात्कालिक कारण क्या थे? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

3) खाली जगह भरिए :

क) जिलों की शहरी संवृद्धि में विचरण अपेक्षाकृत ..... (उन्नत/पिछड़े) राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत ..... (पिछड़े/ उन्नत) राज्यों में अधिक है।

ख) देशी उद्योगों के पतन के परिणामस्वरूप शहरी आधार ..... (कमजोर/ मजबूत) हो गया।

18.10 सारांश

उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पहले 25 वर्षों के दौरान भारत की अर्थव्यवस्था में असंतुलित तथा असमान संवृद्धि हुई उसका प्रभाव देश के शहरीकरण के लक्षणों में दिखाई देता है। औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया विकास के संबंध में आधिपत्य तथा निर्भरता की धुरी पर आधारित थी। औपनिवेशिक आधिपत्य के कारण संसाधनों का सीधा प्रशासन तथा गहन शोषण सुनिश्चित हो गया। विनियोजित वेशी का अधिकांशतः निष्क्रमण कर दिया गया तथा इस प्रकार व्यवस्था के अंदर उपलब्ध कुल मात्रा कम हो गई। वे नगर, जो आर्थिक वेशियों को भौगोलिक रूप से संकेंद्रित करने की प्रक्रिया के मुख्य एजेंट होते हैं, उन्हें इसके कारण नुकसान उठाना पड़ा और शहरीकरण का स्तर तथा शहरी संवृद्धि की दर देश के बहुत से क्षेत्रों में या तो अवरुद्ध रही या गिर गई। इस वेशी के परिचालन की सरणियाँ भी बदल दी गई और पारंपरिक व्यापारिक मार्गों और अन्तर-बस्ती सहलग्नताओं के स्थान पर ऐसी प्रणाली शुरू की गई जो बंदरगाह-शहरों पर ध्यान केंद्रित करती थी और कालोनी को महानगरों से जोड़ने का काम करती थी।

देशीय उद्योगों के पतन, किसानों में निर्धनता, देश के संसाधनों का औपनिवेशिक आधिपत्य में बढ़ना और उसके फलस्वरूप आर्थिक संपदा के निष्क्रमण का परिणाम यह हुआ कि शहरी केंद्रों का आर्थिक आधार कमजोर पड़ गया। इन केंद्रों में उत्पादक कार्यकलाप बहुतायत में नष्ट हो गए और मध्यकालीन अवधि में जो भौगोलिक विशेषज्ञता उन्होंने हासिल की थी वह भी समाप्त हो गई तथा स्वतः स्फूर्त शहरीकरण की प्रक्रिया विघटित हो गई। आमतौर पर शहर क्षीण होने लगे, जैसा कि लगभग सभी गजेटियरों (स्थान-विवरणिकाओं), यात्रा विवरणों और उस अवधि में लिखी गई रिपोर्टों से संकेत भी मिलता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में, शहरीकरण की काफी अधिक दर के बावजूद औपनिवेशिक शहरीकरण प्रक्रिया की खराबियों को आंशिक रूप से ही सुधारा जा सका। इस अवधि का एक सकारात्मक लक्षण यह है कि विशेष रूप से पिछड़े राज्यों के पिछड़े जिलों में छोटे-छोटे कस्बों के विकास के रूप में तेज गति से शहरीकरण हुआ। लेकिन शहरी सुविधाओं आदि के रूप में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में काफी अधिक द्विभाजन बना रहा। इसी तरह तृतीयक क्षेत्रक का विकास कुछ नए औद्योगिक टाउनशिप को छोड़कर अधिकांश रूप से सरकारी क्षेत्रक में होता रहा।

18.11 शब्दावली

प्रतिनिध्यात्मक तुलनीयता : किसी वर्ष विशेष में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों या क्षेत्रों से लिए गए आंकड़ों की तुलना करना।

अंतर-अवधि तुलनीयता : अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्रक या क्षेत्र विशेष के लिए दो समय-अवधियों में लिए गए आंकड़ों की तुलना करना।

अधिशेष (वेशी) विनियोजन का निचला स्तर : कस्बों में रहने वाले ग्रामीण जागीरदारों, ग्रामीण अभिजात वर्ग के स्तर पर, जहाँ कस्बों और उनके आसपास के ग्रामीण इलाकों के बीच छोटी दूरी का व्यापार होता है, अधिशेष का विनियोजन।

अधिशेष विनियोजन का ऊपर स्तर : राज्य द्वारा विकसित और उच्च स्तरीय सामंतों द्वारा प्रचालित ढाँचे के माध्यम से अधिशेष का विनियोजन। ऊपरी स्तर पर व्यापार में अधिकांशतः टिकाऊ और विलासिता की वस्तुओं के लंबी दूरी के वाणिज्यिक प्रयास शामिल होते थे और यह बड़े शहरी केंद्रों के माध्यम से होता था।

18.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दत्त, रूद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् (1990) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस. चान्द एवं कंपनी, नई दिल्ली, अध्याय 6

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण (1990) : *भारतीय अर्थशास्त्र,* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक आगरा, अध्याय 6

अग्रवाल, एन. (1988) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, अध्याय 7

मिश्र, एस. के. एवं वी. के. पुरी (1989) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अध्याय 8.

Bagchi, A.K., 1982. *Political Economy of Underdevelopmeat* Cambridge University Press : Cambridge.

Bose, A., D.B. Gupta, and Raychoudhari (Eds), 1980. *Population Statistics in India;* See particularly, Premi, M.K., D.B. Gupta, and A. Kundu : *"The Concept of Urban Areas in the 1961-71 Census"*, Vikar Publishing House : New Delhi.

Bayly, C., 1983. *Rulers, Townsmen and Bazaars,* Cambridge University Press : Cambridge (ch. 3 and 8)

Moosvim, S., 1987. *The Economy of the Mughal Empire,* Oxford University Press, New Delhi. (chapters 13 and 17)

National Commission on Urbanisation (1988, 1989)., *Reports,* vol. 2 and vol. 4, See in Government of India : New Delhi particular paper by Kundu, A. and S.K. Thorat, "Patterns of Urbanisation and a Strategy for Urban Development in India", vol. 4.

Turner, R. (Ed), 1962. *India's Urban Future.* University of California Press : Borkley.

18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 18.1 पढ़िए
2) (क) स (ख) ग (ग) स (घ) ग
3) भाग 18.2 और विशेष रूप से 18.2.3 पढ़िए

बोध प्रश्न 2

1) भाग 18.3.1 पढ़िए
2) (क) नीचा (ख) नकारात्मक रूप से
3) (क) स (ख) ग

बोध प्रश्न 3

1) भाग 18.5 पढ़िए
2) (क) कराची (ख) लायलपुर
3) (क) स (ख) ग (ग) स

बोध प्रश्न 4

1) भाग 18.6.2 पढ़िए
2) भाग 18.7.1 पढ़िए
3) (क) पिछड़े, उन्नत (ख) कमज़ोर

इकाई 19 परिवहन प्रणाली, शहरीकरण तथा नागरिक सुविधाएँ

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 परिवहन की विभिन्न प्रणालियाँ
19.2.1 समग्र विकास की रूपरेखा
19.2.2 परिवहन की विभिन्न प्रणालियाँ और उनका विकास
19.3 परिवहन नियोजन के मुद्दे : आधुनिकीकरण और समन्वय
19.3.1 आधुनिकीकरण एवं नवीकरण
19.3.2 विभिन्न प्रणालियों में समन्वय (Inter-Model Coordination)
19.3.3 ठोस नीति की आवश्यकता
19.4 चालू तथा पूंजीगत लागत का वित्तीयन
19.4.1 आंतरिक संसाधनों की स्थिति
19.4.2 उचित परिवहन मूल्य-निर्धारण का तर्काधार
19.4.3 सामाजिक लेखा और विभेदक परिवहन दरों की आवश्यकता
19.4.4 कुछ विशिष्ट विकल्प
19.5 शहरी क्षेत्रों में नागरिक सुविधाओं की समस्याएँ
19.5.1 बस्तियों का बदलता हुआ स्वरूप
19.5.2 शहरी परिवहन
19.6 आवास, जल पूर्ति एवं स्वच्छता
19.6.1 मकानों की कमी
19.6.2 जल पूर्ति एवं स्वच्छता
19.7 शहरी चिकित्सा सुविधाएँ
19.8 बुनियादी नागरिक सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए नीतिगत दृष्टिकोण में परिवर्तन
19.8.1 सार्वजनिक हस्तक्षेप की सीमाएँ
19.8.2 विकेन्द्रित पहल की ओर
19.8.3 कारगर ढंग से सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध कराने की आवश्यकता
19.9 शहरी निर्धन : आवश्यकताएँ और आर्थिक सामर्थ्य
19.9.1 अन्य वस्तुओं से भिन्नता
19.9.2 पहुँच में असमानता : सार्वजनिक उपचार उपायों की आवश्यकता
19.10 सारांश
19.11 शब्दावली
19.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- शहरीकरण की गति और पद्धति पर परिवहन प्रणाली के प्रभाव को समझ सकेंगे;
- परिवहन क्षेत्र की नियोजन-समस्याओं को पहचान सकेंगे;
- परिवहन को सामाजिक दृष्टि से दायित्वपूर्ण बनाने के लिए इसके मूल्यों में अंतर रखने की आवश्यकता पर विचार-विमर्श कर सकेंगे;
- शहरी इलाकों में नागरिक सुविधाओं की समस्याओं को जान सकेंगे; और
- बुनियादी नागरिक सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए नीतिगत दृष्टिकोण में परिवर्तन का वर्णन कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

हमने देखा कि शहरीकरण की औपनिवेशिक पद्धति में मुख्यतया बंदरगाह शहरों को भीतरी प्रदेशों से जोड़ने की परिवहन प्रणाली का अनुसरण किया गया। तथापि परिवहन व्यवस्था किसी

अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखने की जीवनधारा है और उसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके फलस्वरूप उत्पादन इकाइयों को संसाधनों तथा उपभोक्ताओं से दूर तथा विस्तृत क्षेत्र में अलग-अलग स्थानों पर स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार इससे बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त की जा सकती हैं। भारत में औपनिवेशिक काल के दौरान तथा उसके बाद परिवहन व्यवस्था ने शहरीकरण और विकास की गति को काफी हद तक प्रभावित किया हैं। इसी प्रकार, विकास की गति ने भी परिवहन के विकास की गति को प्रभावित किया है। हाल के वर्षों में देश के तीव्र एवं संतुलित क्षेत्रीय विकास की प्रक्रिया में परिवहन की बड़ी कमी महसूस की गयी है। परन्तु परिवहन विकास की औपनिवेशिक पद्धति का बचा-खुचा असर आज भी जारी है, जिसके परिणामस्वरूप अल्पविकसित ग्रामीण क्षेत्रों के सागर में शहरी अंत:क्षेत्र (बस्तियों) के टापू विकसित हुए हैं। शहरीकरण की यह अंत:क्षेत्र पद्धति शहरी क्षेत्रों, तथा महानगरों तक में आगे और अंत:क्षेत्रों को जन्म देती है। यह बात इस तथ्य से उजागर होती है कि परिवहन, आवास, जल आपूर्ति, स्वच्छता जैसी नागरिक सुविधाएँ इन शहरी अंत:क्षेत्रों की सीमा के भीतर ही उपलब्ध रहती है और शहरी गरीब इन सुविधाओं का बहुत कम लाभ उठा पाते हैं। ये नगर कस्बे की सीमा के भीतर बेहतर बस्तियों तक ही सीमित रहती हैं। इस इकाई में हम इन दोनों पहलुओं – परिवहन व्यवस्था को शहरीकरण के मूल आधार के रूप में विकसित करने की समस्या तथा शहरी क्षेत्रों के भीतर नागरिक सविधाओं की समस्या – पर विचार करेंगे।

19.2 परिवहन की विभिन्न प्रणालियाँ

देश में परिवहन की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं, जिनमें रेल तथा सड़क परिवहन का प्रमुख स्थान है। अन्य प्रणालियों में वायु परिवहन, अंतर्देशीय जल-मार्ग, समुद्री परिवहन, पाइपलाइन तथा रज्जु मार्ग (रोप वे) शामिल हैं, जिनसे विशिष्ट क्षेत्रों में विशिष्ट माल की ढुलाई की जाती है।

19.2.1 समग्र विकास की रूपरेखा

तालिका 19.1 में कुछ सूचकों के माध्यम से परिवहन की विभिन्न प्रणालियों के विकास की रूपरेखा दी गई है :

इस तालिका से पता चलता है कि देश के नियोजित विकास के पिछले 40 वर्षों में मार्गों की लम्बाई तथा यातायात के परिमाण, दोनों की वृद्धि के साथ परिवहन व्यवस्था में उल्लेखनीय विकास हुआ है। परन्तु हमारी अर्थव्यवस्था अथवा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर की तुलना में यह विकास दर बहुत कम है। यह सच है कि रेल तथा सड़क, दोनों परिवहन प्रणालियों में यातायात (यात्री और माल) की वृद्धि दर मार्गों की लम्बाई तथा उनकी ढुलाई क्षमता की वृद्धि दर से ज़्यादा है, जिसके फलस्वरूप इन प्रणालियों पर दबाव बढ़ता रहा है। और फिर माल की ढुलाई में वृद्धि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के अनुरूप नहीं रही है (तालिका 19.2)। इसका कारण मुख्यतया यह हो सकता है कि परिवहन क्षेत्र में अपर्याप्त पूंजी निवेश हुआ है। पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में योजना खर्च में परिवहन का हिस्सा 20 प्रतिशत से अधिक था, जो छठी तथा सातवीं पंचवर्षीय योजना में कम होकर लगभग 10 प्रतिशत रह गया।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रेल तथा सड़क परिवहन से यात्री यातायात में माल यातायात की तुलना में वृद्धि अधिक है। यात्री यातायात में यह वृद्धि तो राष्ट्रीय आय से भी ज़्यादा है। सड़क परिवहन में यात्री यातायात की उल्लेखनीय बढ़ोत्तरी में दुपहिया स्कूटरों, कारों तथा व्यक्तिगत उपयोग के अन्य वाहनों की संख्या में भारी वृद्धि का महत्वपूर्ण योगदान है। एक से दूसरी जगह आने-जाने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि मुख्यतया साक्षरता बढ़ने, सूचनाओं के स्वतंत्र प्रसार तथा कुछ लोगों की क्रय शक्ति में बढ़ोत्तरी के कारण हुई है। आबादी के केवल एक वर्ग की यात्रा कर सकने की वित्तीय क्षमता बढ़ना आय के वितरण में व्यापक अंतर का परिणाम है, क्योंकि परिवहन की मांग शहरों में रहने वाले सम्पन्न लोगों में बढ़ी है और राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा इन्हीं वर्गों के पास जा रहा है। ऐसा देखने में आया है कि सड़क तथा रेल परिवहन में यात्री यातायात की मांग में वृद्धि मुख्यतया महानगरों अर्थात् दस लाख से अधिक आबादी वाले शहरों तथा उनके आसपास के क्षेत्रों में हुई है। सड़क यातायात में सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था के अलावा स्कूटर, कार, टैक्सी तथा परिवहन के अन्य साधनों से की जाने वाली यात्रा शामिल है। छोटे शहरों तथा गाँवों के बीच सम्पर्क कायम करने का काम बहुत कम हुआ है। यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि नियोजित विकास के 40 वर्ष बाद भी देश के 65 प्रतिशत गाँवों तक पक्की

तालिका 19.1 : भारत में परिवहन प्रणालियों का विकास

मद	इकाई	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1984-85	1985-86	विकास दर
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
I. रेलवे								
क) मार्ग लम्बाई	कि.मी.	54845	56962	59997	61240	61850	61836	0.34
ख) टन ढुलाई	मिलियन	93.0	157.6	197.3	220.0	264.8	286.4	3.27
ग) विशुद्ध टन कि.मी.	करोड़	4416.3	8775.8	12740.7	15847.4	18216.1	20590.4	4.50
घ) यात्रियों की संख्या	मिलियन	1307.8	1613.9	2440.5	3612.7	3333.2	3433.5	2.80
च) यात्री कि.मी.	करोड़	6706.5	7806.1	11830.9	20855.8	22658.2	24061.4	3.72
II. सड़कें तथा सड़क परिवहन								
क) पक्की सड़कें	000 कि.मी.	156.1	234.4	397.9	658.1	833.0	—	5.05
ख) कच्ची सड़कें	000 कि.मी.	241.5	470.6	520.0	876.2	936.8	—	4.08
ग) पक्की सड़कों से जुड़े गांवों का प्रतिशत	प्रतिशत	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	28	35	—	—
घ) ट्रकों की संख्या	संख्या	81,888	1,67,649	3,42,577	4,72,093	7,63,000	—	6.78
च) यात्री बसों की संख्या	संख्या	34,411	56,792	93,907	1,40,346	2,06,268	—	5.41
III. जहाज़रानी और अंतर्देशीय जल परिवहन								
क) विदेशी जहाज़रानी टन	मिलियन जी.आर.टी.	0.17	0.54	2.20	5.30	5.97	—	11.03
ख) विदेशी यातायात	मिलियन टन	1.2	2.2	10.4	20.0	31.0	—	10.04
ग) तटवर्ती जहाज़रानी टन	मिलियन जी.आर.टी.	0.22	0.31	0.23	0.25	0.36	—	1.37
घ) तटवर्ती यातायात	मिलियन टन	3.6	5.4	4.3	4.4	5.5	—	1.25
च) अंतर्देशीय जलपरिवहन मार्गों की लम्बाई	कि.मी.	—	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	14544	14544	--

मद	इकाई	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1984-85	1985-86	विकास दर
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
IV. **नागरिक उड्डयन**								
क) **इंडियन एयरलाइन्स**								
i) राजस्व टन कि.मी.	मिलियन	—	83	161	399	664	—	9.05
ii) राजस्व यात्री कि.मी.	मिलियन	—	614	1545	4199	6676	—	10.45
ख) **एयर इंडिया**								
i) राजस्व टन कि.मी.	मिलियन	—	76	275	819	1257	—	12.40
ii) राजस्व यात्री कि.मी.	मिलियन	—	583	1994	5731	8623	—	11.88
V **पाइपलाइन**								
क) लम्बाई	कि.मी.	—	—	—	—	5035	6535	5.35

टिप्पणी : 1. रेलवे की मदों की विकास दर 1950-51 से 1985-86 के लिए, सड़क परिवहन तथा जहाज़रानी की 1950-51 से 1984-85 के लिए, नागरिक उड्डयन की 1960-61 से 1984-85 के लिए और पाइपलाइन की 1979-80 से 1984-85 के लिए है। यह आधार वर्ष मूल्य के आधार पर आंकी गई वार्षिक विकास दरें हैं।

2. ये आंकड़े स्टैटेस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट (सी.एस.ओ.), 1989 और सातवीं पंचवर्षीय योजना (योजना आयोग) 1985 से प्राप्त किए गए हैं।

तालिका 19.2 : यात्री तथा माल यातायात (रेल एवं सड़क) और आर्थिक विकास के सूचकांक

(वर्ष 1970-71 = 100)

वर्ष	यात्री यातायात	माल यातायात	1970-71 के मूल्यों के अनुसार राष्ट्रीय आय	औद्योगिक उत्पादन	खनिज उत्पादन	कृषि उत्पादन
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
1950-51	31.0	25.6	48.9	—	—	52.2
1955-56	33.1	35.4	58.3	38.9	45.0	63.9
1960-61	47.0	63.4	70.8	54.3	58.0	77.8
1965-66	66.5	88.9	79.2	83.4	80.0	72.5
1970-71	110.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0
1973-74	119.9	97.9	105.1	112.0	107.0	100.8
1974-75	120.2	106.1	106.6	114.3	114.0	97.6
1975-76	130.3	114.4	117.0	119.7	128.0	112.4
1976-77	139.8	128.4	117.6	131.4	137.0	104.5
1977-78	149.5	123.9	128.3	138.3	138.0	119.0
1978-79	162.1	119.1	135.5	148.7	138.6	122.5
1979-80	172.9	122.5	128.0	144.5	140.7	107.0
1980-81	185.2	127.8	138.2	148.6	153.1	119.8
1981-82	199.9	137.2	145.0	156.0	167.0	123.9

स्रोत : कुण्डू (1986)

सड़क नहीं पहुंच पाई और 35 प्रतिशत गाँवों में तो किसी भी प्रकार की सड़क नहीं है। इससे देश में यात्री तथा माल यातायात के संतुलित विकास में बाधा आई है और इस प्रकार विकास के लाभ सभी क्षेत्रों तक नहीं पहुंच सके।

19.2.2 परिवहन की विभिन्न प्रणालियाँ और उनका विकास

ब्रिटिश काल में रेलों का विकास कई राजनीतिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक कारणों से हुआ, जिन पर हम खंड-1 में चर्चा कर चुके हैं। रक्षा, आंतरिक सुरक्षा, निर्यात के लिए औद्योगिक कच्चे माल को बंदरगाहों तक पहुंचाना, आयातित उत्पादों को विभिन्न स्थानों तक ले जाना आदि उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए रेल-व्यवस्था का स्थानिक स्वरूप (spatial pattern) विकसित हुआ। अतः औपनिवेशिक परिवहन व्यवस्था का स्वरूप केन्द्राभिमुखी था और उसमें केवल कुछ बड़े बंदरगाहों से सम्पर्क जोड़ा गया। विभिन्न क्षेत्रों में मेल-जोल बढ़ाने के लिए बस्तियों के बीच रेल सम्पर्क कायम करने की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया।

स्वतंत्रता के बाद से हमारे परिवहन ढांचे में मुख्य परिवर्तन सड़क परिवहन के तेज़ी से विकास तथा रेल परिवहन की तुलना में उसके प्रभुत्व में वृद्धि के रूप में हुआ है। संतुलित क्षेत्रीय विकास की नीतियों के फलस्वरूप छोटे और मझौले शहरों को एक-दूसरे से जोड़ना आवश्यक हो गया और सड़क परिवहन के विकास ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि स्वतंत्रता के समय जो स्थान रेल सम्पर्क से जुड़े हुए नहीं थे, उनमें से कुछ दुर्गम तथा कठिन क्षेत्रों में थे और वहाँ रेल सेवाएँ पहुँचाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में निवेश अपेक्षित था। इस संबंध में सड़क परिवहन अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है क्योंकि इसमें अपेक्षाकृत कम पूंजी से काम चल जाता है। 1950 तथा 1960 के दशकों में सड़क परिवहन प्रौद्योगिकी में सुधार से भी देश में सड़क यातायात के विकास में मदद मिली। यात्रियों तथा माल के यातायात के लिए रेल परिवहन की बजाय सड़क परिवहन को इसलिए भी वरीयता मिली क्योंकि इसमें अधिक लचीलापन है, प्रशासनिक कठिनाइयां कम हैं, घर या संस्थान के एकदम पास तक पहुंचना संभव है और निजी उद्यमियों ने, जिनका इस क्षेत्र में प्रभुत्व है, इसके विकास में सराहनीय योगदान दिया है।

अंतर्देशीय जल परिवहन तथा तटवर्ती जहाज़रानी लम्बी दूरी तक थोक (बल्क) माल की ढुलाई के लिए आज भी न्यूनतम ऊर्जा की खपत वाली सबसे सस्ती परिवहन प्रणाली है, विशेषकर तब, जब जहाँ से माल भेजना हो और जहाँ पहुँचाना हो, वे दोनों स्थान नदी के किनारे अथवा समुद्र के

तट पर स्थित हों। खनिज लोहा, उर्वरक, अनाज, पेट्रोलियम उत्पाद जैसी वस्तुओं की ढुलाई में इनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस प्रकार जल परिवहन विस्तृत तटवर्ती क्षेत्रों और नदियों के किनारे बसे भागों के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास में बहुत योगदान दे सकता है। औपनिवेशिक काल में इस परिवहन प्रणाली की उपेक्षा की गई। हाल के वर्षों में भी इस प्रणाली के माध्यम से यातायात में वृद्धि बहुत धीमी रही है, क्योंकि जहाज़ निर्माण उद्योग में पूंजी कम लगाई गई है, प्रमुख बंदरगाहों की क्षमता बढ़ाने की गति धीमी रही है और माल के एक ही दिशा में लदान की समस्याओं के कारण जहाज़ खाली चलते रहे हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि अनेक मझोले तथा छोटे बंदरगाहों के मामले में यातायात जलमार्ग की बजाय सड़क मार्ग से भेजा जाने लगा है। अंतर्देशीय जल परिवहन क्षीण पड़ गया है। परिवहन की इस सर्वाधिक कार्यक्षम प्रणाली की भूमिका को और कारगर बनाने के लिए हाल की योजनाओं में प्रमुख बंदरगाहों की माल-लदान क्षमता बढ़ाने, तलछट सफाई की व्यवस्था सुधारने, जहाज़ों के खाली पड़े रहने की स्थिति से बचने के लिए कंप्यूटर पर आधारित प्रबंध, बहु-प्रणाली यातायात में वृद्धि के लिए कंटेनरों के उपयोग को बढ़ावा देने जैसे अनेक उपाय किए गए हैं। माल यातायात में कंटेनरों के इस्तेमाल से वाहनान्तरण (transhipment) की लागत कम हो जाएगी तथा जल परिवहन अन्य परिवहन प्रणालियों की तुलना में अधिक उपयोगी बन सकेगा। पेट्रोलियम उत्पादों की बढ़ती हुई लागत तथा इस पर विदेशी मुद्रा के बढ़ते हुए खर्च को आंतरिक जल-परिवहन प्रणाली को पुनर्जीवित करके कुछ हद तक घटाया जा सकता है क्योंकि आंतरिक जल परिवहन में कोयले का इस्तेमाल किया जा सकता है।

रेल, सड़क अथवा जल परिवहन में विकास की तुलना में नागरिक उड्डयन सेवाओं तथा वायु माल यातायात में पिछले दो दशकों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह वृद्धि मुख्य रूप से राज्यों की राजधानियों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों को एक-दूसरे से जोड़ने की राजनीतिक आवश्यकता और देश के उच्च वर्ग में विमान-यात्रा की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण हुई है। इसके फलस्वरूप विमान सेवाओं, विशेष रूप से कम दूरी की सेवाओं का अंधाधुंध विस्तार हुआ है, जिससे ईंधन की प्रति यातायात इकाई खपत बढ़ गई है। अविवेकपूर्ण वायुमार्ग निर्धारण, अनेक मार्गों पर विमानों में सीटें खाली रहने, आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों एवं उनके ऊंचे वेतन के कारण बढ़ती हुई कार्मिक लागत तथा उदासीन प्रबंधक वर्ग के कारण वायु परिवहन संस्थाएँ भारी घाटे में चल रही हैं। इस क्षेत्र में काम-काज में सुधार करने के लिए चालू योजना में कुछ उपायों का प्रस्ताव किया गया है, जिनमें किराए-ढाँचे में संशोधन, अलाभकारी सेवाओं में कटौती, कर्मचारी खर्च में कमी, यातायात सर्वेक्षणों के आधार पर बेहतर मार्ग निर्धारण, कंप्यूटर पर आधारित प्रबंध प्राथमिकताएँ तथा गैर-सरकारी विमान कंपनियों की सहभागिता शामिल है।

पाइपलाइन एक और कार्यक्षम प्रणाली है, जिससे पेट्रोलियम उत्पाद तथा गैस जैसी वस्तुओं की लम्बी दूरी तक ढुलाई की जा सकती है। हाल के वर्षों में कोयले तथा खनिज लोहे को भी घोल का रूप देकर पाइपलाइन के जरिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा रहा है। कुछ निश्चित स्थानों के बीच विशिष्ट प्रकार के यातायात के लिए इस प्रणाली में अन्य परिवहन प्रणालियों की तुलना में लागत कम बैठती है। इस प्रणाली में परिवहन की सीमित संभावनाओं, ऊँची स्थिर पूंजीगत लागत, रोज़गार की कम गुंजाइश तथा अन्य प्रणालियों की तुलना में अधिक दीर्घकालिक लागत लाभ जैसे पहलुओं का अध्ययन करने के बाद ही इसमें पूंजी लगाई जानी चाहिए।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि देश में कम ऊर्जा (कोयला आधारित) की खपत वाली परिवहन प्रणालियों की पूर्ण क्षमता का विकास नहीं किया गया है। इनमें एक ओर जहाज़रानी अंतर्देशीय जल परिवहन, रज्जु मार्ग और पाइपलाइन तथा दूसरी ओर पशु ऊर्जा से चलने वाले वाहन शामिल हैं। इन प्रणालियों का विकास करने के साथ-साथ देश की अर्थव्यवस्था के दीर्घकालीन हित में रेल, सड़क और जल परिवहन एजेंसियों तथा सरकारी और निजी परिवहन संचालकों के बीच अस्वस्थ होड़ पर रोक लगाना आवश्यक है। इसके लिए विभिन्न मार्गों पर सभी परिवहन प्रणालियों का उचित मिश्रण हो, सार्वजनिक क्षेत्र की परिवहन एजेंसियों में उचित समन्वय की व्यवस्था, निजी परिवहन संचालकों को परमिट देने पर विवेक सम्मत नियंत्रण तथा उनके संचालन को सीमित करने जैसे पहलुओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए। अगले भाग में इस संबंध में विस्तार से विचार किया गया है।

बोध प्रश्न 1

1) अर्थव्यवस्था के विकास में परिवहन के महत्व पर प्रकाश डालिए (दो वाक्यों में उत्तर दीजिए)।

.....

.....

2) सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" का चिह्न लगाइए :
   क) नियोजित विकास के पिछले 40 वर्षों में केवल परिवहन के परिमाण में ही वृद्धि हुई है।
   ख) लोगों के एक वर्ग का यात्रा खर्च उठाने में सक्षम होना आय के वितरण में भारी असमानता का परिणाम है।
   ग) सार्वजनिक सामूहिक परिवहन लोगों को सुगमता से उपलब्ध होने से असमानता को बढ़ावा मिलता है।

3) परिवहन की अनेक प्रणालियों में से कौन-सी प्रणाली थोक यातायात के लिए ऊर्जा की कम खपत करने वाली और सबसे सस्ती प्रणाली मानी जाती है?
   i) सड़क परिवहन
   ii) जल परिवहन
   iii) रेल परिवहन
   iv) वायु परिवहन

19.3 परिवहन नियोजन के मुद्दे : आधुनिकीकरण और समन्वय

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि परिवहन क्षेत्र में अपर्याप्त पूंजी निवेश के कारण उन पुरानी (अधिकाय) तथा अप्रचलित परिसम्पत्तियों की समस्याएँ पैदा हो गई हैं, जिन्हें तत्काल बदले जाने की ज़रूरत है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में कहा गया है–"मार्गों की कुल लम्बाई के लगभग एक-चौथाई हिस्से का नवीकरण आवश्यक हो गया है तथा योजना अवधि में इतनी ही लम्बाई के और मार्ग पुराने पड़ अधिकाय हो जायेंगे।"

19.3.1 आधुनिकीकरण एवं नवीकरण

कर्मशालाओं में लगभग 80 प्रतिशत उपकरणों को बदलने की आवश्यकता है। राज्य परिवहन संस्थानों (निगम, कम्पनी तथा विभागीय प्रतिष्ठान के रूप में विभिन्न राज्यों में सड़क यात्री परिवहन का काम संभालने वाले) की लगभग 80 प्रतिशत बसें, करीब 47 प्रतिशत जहाज़ तथा अंतर्देशीय जल परिवहन का 50 प्रतिशत से अधिक बेड़ा सातवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में बदला जाने लायक हो चुका होगा। इस काम के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता है और इतनी राशि अगली दो पंचवर्षीय योजनाओं में भी उपलब्ध होने की कोई आशा नहीं है। इसलिए संबंधित एजेंसियों से कहा जा रहा है कि वे आंतरिक रूप में अपने चालू खाते की बचतों से ही उचित मात्रा में संसाधन जुटाएँ।

धन की कमी को देखते हुए मार्गों और वाहनों के आधुनिकीकरण के साथ-साथ उनकी पुनःस्थापना तथा उनके रख-रखाव को उच्च प्राथमिकता दी गई है। कोयले या डीज़ल के प्रयोग के स्थान पर विद्युतीकरण, अधिक क्षमता वाली मालगाड़ियाँ चलाना, कंप्यूटर-चालित सिगनल प्रणाली, बेहतर प्रबंध के ज़रिए तेज़ी से काम निपटाने के टर्मिनलों का विकास आदि योजना के कुछ ऐसे उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्र हैं, जिनसे संचालन खर्च कम हो सकता है तथा बचत को बढ़ावा मिल सकता है।

19.3.2 विभिन्न प्रणालियों में समन्वय (Inter-Model Coordination)

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वस्थ परिवहन व्यवस्था के विकास की एक और समस्या विभिन्न प्रणालियों में समन्वय की है। यद्यपि यह मानी हुई बात है कि अनाज, उर्वरक, कोयला, पेट्रोलियम उत्पाद आदि थोक वस्तुओं की रेल तथा जल परिवहन द्वारा ढुलाई से लागत कम बैठती है, फिर भी हाल के वर्षों में इस यातायात का कुछ हिस्सा सड़क परिवहन की झोली में चला गया है। इसके लिए आंशिक रूप से रेल तथा जल परिवहन के क्षेत्र में लगी सरकारी एजेंसियों की अकर्मण्यता और नौकरशाही-विलम्ब ज़िम्मेदार हैं। परिवहन क्षेत्र के विकास के लिए कोई दीर्घकालीन नीति परिप्रेक्ष्य न होने तथा निजी सड़क परिवहन संचालकों द्वारा यातायात को अधिक से अधिक आकर्षित करने के लिए अपनाए गए कई तरह के औपचारिक तथा अनौपचारिक तरीकों के कारण भी यह स्थिति बनी है। इससे कुछ क्षेत्रों तथा प्रणालियों की क्षमता का अल्प उपयोग हो रहा है तथा परिवहन एजेंसियाँ, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र की एजेंसियों, को भारी घाटा उठाना पड़ रहा है।

परिवहन क्षेत्र, ऊर्जा संसाधनों का प्रमुख उपभोक्ता है और मार्गों के निर्धारण की समुचित योजना तथा विभिन्न प्रणालियों के अधिकाधिक समन्वय के बल पर ऊर्जा की पर्याप्त बचत की जा सकती है। देश में ऊर्जा संकट और तेल के आयात पर विदेशी मुद्रा की बढ़ती हुई लागत को देखते हुए इसका महत्व और भी अधिक है। विभिन्न वस्तुओं के परिवहन की सर्वाधिक कार्यक्षम प्रणाली का निर्णय करने के लिए उत्पादन-क्षेत्रों के भीतर उभरी परिवहन आवश्यकताओं तथा लोगों की आने-जाने संबंधी मांग को ध्यान में रखते हुए यातायात आवश्यकता के अनुमान तैयार करने की ज़रूरत है। इसके बाद विभिन्न क्षेत्रों में तुलनात्मक लागत लाभ के आधार पर विभिन्न प्रणालियों में इस अनुमानित माँग के इष्टतम वितरण की योजना बनाई जानी चाहिए। इस विश्लेषण के आधार पर सड़क परिवहन को रेल तथा जल परिवहन की सम्भरक व्यवस्था के रूप में विकसित करने के कदम उठाने होंगे। ज़िला और तालुका मुख्यालयों में सम्पर्क मज़बूत करना बहुत आवश्यक है और पशु ऊर्जा से चलने वाले आधुनिक वाहनों को बढ़ावा देने की संभावनाओं का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए। परिवहन की विभिन्न प्रणालियों में यातायात के वितरण के इन प्रयासों के अंतर्गत कभी-कभी कठोर उपाय भी करने पड़ सकते हैं, जिनसे परिवहन एजेंसियों में होड़ पर रोक लग सके।

19.3.3 ठोस नीति की आवश्यकता

हाल के वर्षों में औद्योगिक कच्चे माल की ढुलाई के लिए पर्याप्त क्षमता की बहुत अधिक कमी महसूस की गई है, जिसके फलस्वरूप अनेक उद्योगों के उत्पादन लक्ष्यपूर्ण नहीं हो सके। इससे वर्तमान सुविधाओं के अनुकूलतम इस्तेमाल तथा अतिरिक्त क्षमता का प्रबंध करने का प्रश्न सर्वोपरि महत्व का हो गया है। परन्तु क्षमता बढ़ाने की नीति में मुख्य ज़ोर मौजूदा प्रणाली की उत्पादकता में सुधार लाने तथा विभिन्न प्रणालियों में यातायात के समुचित वितरण पर किया जाना चाहिए। ऐसा सातवीं पंचवर्षीय योजना में भी माना गया है।

परिवहन की बढ़ती हुई माँग को तब तक पूरा करना संभव नहीं है, जब तक उस प्रक्रिया को रोकने के लिए ठोस उपाय नहीं किए जाते, जिसमें आर्थिक गतिविधियाँ, आर्थिक रूप से अनुपयुक्त स्थानों पर चलाई जाती हैं और उससे वस्तुओं की ढुलाई अनावश्यक रूप से बढ़ जाती है। कुछ तो औपनिवेशिक औद्योगिक ढांचे के विकास और कुछ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की गलत नीतियों जैसे कि कुछ बुनियादी कच्चे माल के लिए इकसार मूल्य और दूरी बढ़ने के साथ परिवहन दरों में कमी, जिससे दूर का यातायात लाभदायक सिद्ध होता है आदि के कारण उद्योगों का फैलाव संसाधनों के फैलाव के अनुरूप नहीं हो पाया। उदाहरण के लिए, कोयले तथा इस्पात की खपत वाले उद्योग कुछ बड़े माँग केन्द्रों के आसपास स्थापित हुए हैं, जिनमें से अधिकतर उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में स्थित हैं। जो देश के कोयला क्षेत्र अर्थात् पूर्वी भारत से काफी दूर है। इस प्रकार की भाड़ा-समानता के कारण भारत के पूर्वी क्षेत्र संभावित आय तथा परिवहन के लागत लाभों से वंचित रह जाते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 66 प्रतिशत से अधिक माल यातायात तथा 50 प्रतिशत यात्री यातायात चार महानगरों—दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास को जोड़ने वाले रेल मार्गों पर ही होता है।

इन महानगरों को जोड़ने वाली आयत तथा उसके दो विकर्णों के साथ-साथ यातायात में भीषण गति से वृद्धि हो रही है। इन मार्गों पर दबाव को अवश्य कम किया जाना चाहिए और इनके वैकल्पिक मार्ग विकसित करने की आवश्यकता है। शहरीकरण के राष्ट्रीय आयोग (1988) की सिफारिश के अनुसार, अनेक छोटे तथा मझौले शहरों के समीप लगभग 100 विकास केन्द्र स्थापित करने की नीति स्वागत-योग्य है, विशेषकर अधिक भीड़-भाड़ वाली परिवहन-आयत पर दबाव कम करने के उद्देश्य से इसकी बहुत उपयोगिता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में यात्री परिवहन प्रणाली को सुदृढ़ बनाने के लिए पर्याप्त पूंजी निवेश न होने के कारण इसमें विकार आया है, जिसके परिणामस्वरूप गैर-सरकारी तथा निजी वाहनों का इस्तेमाल अधिक होने लगा है। अधिकतर बड़े और मझौले शहरों में यह स्थिति साफ देखी जा सकती है, जहाँ दुपहिया और तिपहिया स्कूटरों, कारों और टैक्सियों की संख्या चिंताजनक ढंग से बढ़ रही है। सामाजिक दृष्टि से यह कम कार्यक्षम तथा अधिक अपव्ययी समाधान है और इससे शहरों में प्रदूषण भी बढ़ रहा है इस पर काबू तभी पाया जा सकता है, जब सामूहिक सार्वजनिक परिवहन प्रणाली में सुधार किया जाए और प्राइवेट वाहन चलाने की सामाजिक लागत, जिसमें भीड़-भाड़, प्रदूषण, दुर्घटनाएँ आदि शामिल हैं, उन लोगों से वसूल की जाए जो इन वाहनों को चलाना चाहते हैं।

19.4 चालू तथा पूंजीगत लागत का वित्तीयन

अधिकाय वाली परिसम्पत्तियों को बदलने, उपकरणों के आधुनिकीकरण, परिवहन क्षेत्र की क्षमता में वृद्धि आदि कार्यों के लिए सरकार तथा संबंधित संस्थाओं को बड़े पैमाने पर पूंजी निवेश करना पड़ेगा। इस क्षेत्र के लिए अधिक धन के निर्धारण की आवश्यकता सबने स्वीकार की है और भावी योजनाओं में इस क्षेत्र को अतिरिक्त धन उपलब्ध कराए जाने की संभावना भी है।

19.4.1 आंतरिक संसाधनों की स्थिति

परन्तु संसाधनों का बहुत बड़ा भाग परिवहन क्षेत्र से ही आंतरिक स्तर पर जुटाना होगा। ऐसी दलील दी गई है कि इस समय काफी धनराशि सार्वजनिक परिवहन एजेंसियों में बेकार पड़ी है और उससे उचित मात्रा में लाभ नहीं मिल रहे। इनके अनावश्यक खर्चों में कटौती करने तथा इनकी कार्य-कुशलता सुधारने के उपाय सुझाए गए हैं। हाल तक यानी 1984-85 तक रेल विभाग निवल राजस्व प्राप्तियों पर आवश्यक प्रभार (ब्याज आदि) का खर्च दिखाने के बाद मुनाफा कमाने में सफल नहीं हो पाया है। 1970-71 से 1984-85 तक मूल्य ह्रास तथा अन्य प्रभारों के लिए प्रावधान करने के बाद रेलवे का निवल राजस्व शून्य रहा और इस प्रकार इस अवधि में सामान्य राजस्व में उसका कोई योगदान नहीं रहा। किन्तु 1985-86 में उसने फिर से लाभ कमाया। अधिकतर राज्य परिवहन निगम आज भी अपने मूल्य ह्रास ब्याज तथा कर संबंधी देनदारियां निपटाने के बाद मुनाफा नहीं दिखा पा रहे हैं। राज्य सरकारों के प्रमुख वित्तीय बोझों में राज्य सड़क परिवहन प्रतिष्ठान भी हैं, जिनको 1980 के दशक में कुल 300 करोड़ रुपये का वार्षिक घाटा हुआ है।

राष्ट्रीय स्तर की अनेक संस्थाओं ने परिवहन क्षेत्र की एजेंसियों की जांच के दौरान विचार प्रकट किया है कि इन्हें आत्म-पोषण के आधार पर काम करना चाहिए। राष्ट्रीय परिवहन नीति समिति (1980) ने चालू खर्च को पूरा करने के लिए ही नहीं, बल्कि विकास हेतु धन एकत्रित करने के लिए भी किराए बढ़ाने की सिफारिश की। रेलभाड़ा जाँच समिति (1980) ने भी इसी प्रकार का सुझाव दिया और कहा कि परिवहन एजेंसियों को अपनी अल्पकालीन संचालन लागत को स्वयं पूरा करना चाहिए तथा पूंजी पर उचित लाभ भी कमाना चाहिए। यही दृष्टिकोण अपनाते हुए आठवें वित्त आयोग ने मत प्रकट किया कि सार्वजनिक क्षेत्र के परिवहन प्रतिष्ठानों के काम-काज का मूल्यांकन उसी तरह किया जाना चाहिए जैसे कि "एक गैर-सरकारी व्यापारिक उद्यम" का किया जाता है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में भी कहा गया है कि परिवहन कम्पनियों का अधिकांश व्यय "आंतरिक संसाधनों" से पूरा किया जाना चाहिए। इसमें यह भी कहा गया है कि विभिन्न उपक्षेत्रों की व्यापारिक जीवन क्षमता (viability) नीति निर्धारण का महत्वपूर्ण अंग होना चाहिये। ये घोषणाएँ उन कानूनों की मूल भावना के अनुरूप हैं, जिनके अंतर्गत ये परिवहन एजेंसियां गठित की गई हैं। उदाहरण के लिए सड़क परिवहन निगम कानून, 1950 के अनुच्छेद 22 में कहा गया है कि निगम "अपनी गतिविधियों का संचालन व्यापारिक सिद्धांतों के अनुसार करेगा।" इस प्रकार योजनाकारों तथा नीति निर्धारकों में इस बात पर आम सहमति है कि इस क्षेत्र में विकास खर्च का अधिकांश हिस्सा संबंधित एजेंसियों की आंतरिक बचत के जरिए जुटाया जाना चाहिए। परन्तु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के तरीकों के संबंध में मतभेद है।

19.4.2 उचित परिवहन मूल्य-निर्धारण का तर्काधार

किसी परिवहन एजेंसी में बचत जुटाने के लिए सबसे आम सुझाव यह दिया जाता है कि कार्यक्षमता में सुधार लाया जाए और भ्रष्टाचार कम किया जाए। इसमें कोई संदेह नहीं कि बेहतर प्रबंध के माध्यम से काफी बचत जुटाई जा सकती है। दिलचस्प बात यह है कि कार्यकुशलता सुधारने, भ्रष्टाचार दूर करने आदि के आम सुझाव तभी दिए जाते हैं, जब किराए बढ़ाने का प्रस्ताव आता है। गैर-साम्यवादी देशों में भारत की परिवहन सेवाएँ सबसे सस्ती परिवहन सेवाओं में से हैं और किराए तथा भाड़े की दरों में वृद्धि करके धन जुटाने की संभावनाओं पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। यह इसलिए और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि हाल के दशकों में संचालन लागत या इसके उपभोक्ताओं की आय में हुई वृद्धि के अनुरूप परिवहन दरों में वृद्धि नहीं की गई है।

तालिका 19.3 से पता चलता है कि राज्य परिवहन संस्थानों के प्रति यात्री किलोमीटर घाटे में वृद्धि सामान्य मूल्य सूचकांक में हुई वृद्धि से कहीं अधिक है। इसका अर्थ यह हुआ कि 1980 के दशक में सरकारी बसों के उपभोक्ताओं को वास्तविक अर्थों में सबसिडी एक या दो दशक पूर्व के मुकाबले अधिक मिली।

तालिका 19.3 : राज्य परिवहन प्रतिष्ठानों की लागत एवं राजस्व वृद्धि

मद	1978-79		1984-85		प्रतिशत वृद्धि		
	पैसे/कि.मी. कुल लागत का प्रतिशत		पैसे/कि.मी. कुल लागत का प्रतिशत		1972-73 और 1978-79	1978-79 और 1984-85	1983-84 और 1984-85
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)
1. कार्मिक लागत	73.9	31	142.9	33	62.42	93.37	9.17
2. सामग्री लागत	80.2	33	147.4	33	55.73	83.79	-1.93
क) ईंधन और स्नेहक	41.0	17	92.1	21	60.78	124.63	-4.72
ख) टायर और ट्यूब	19.6	8	27.5	6	104.31	40.31	-6.14
ग) हिस्से-पुर्जे और अन्य	19.6	8	27.8	6	20.98	41.84	-7.33
3. कर	36.3	16	50.5	12	36.47	39.12	-1.61
क) मोटर वाहन कर	18.8	8	22.6	5	126.50	20.21	22.6
ख) यात्री कर	16.3	7	24.6	6	-7.38	50.92	0.82
ग) अन्य कर	1.2	1	3.3	1	71.43	175.00	3.12
4. मूल्य ह्रास	23.8	10	38.3	9	70.00	60.92	7.58
5. ब्याज	11.3	5	30.0	7	76.56	165.49	14.94
6. अन्य	12.6	5	26.3	6	36.96	108.73	74.17
कुल लागत	238.3	100	435.4	100	57.60	81.71	6.79
कुल राजस्व	225.7	—	370.3	—	61.44	64.07	3.06
लाभ	-12.6	—	-65.1	—	—	—	—

स्रोत : कुंडु, ए. (1989).

यह बात तो मानी हुई है कि हमारे देश में आधुनिक परिवहन प्रणाली का वे ही लोग इस्तेमाल करते हैं, जिनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति इसका इस्तेमाल न करने वालों से बेहतर है। इसलिए यात्री यातायात के लिए सबसिडी उन लोगों की कीमत पर देते रहना उचित नहीं है, जो आर्थिक कारणों से यात्रा करने में असमर्थ हैं। हाँ, जीवन की आवश्यक वस्तुओं या ऐसे औद्योगिक कच्चे माल आदि के परिवहन के लिए सामान्य राजकोष से सबसिडी दी जा सकती है, जिससे गरीब लोगों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से असर पड़ता हो। परन्तु रेल अथवा सड़क के माल यातायात की सभी वस्तुओं के लिए इस तरह की सबसिडी नहीं दी जा सकती। ऐसा भी हो सकता है कि कोई परिवहन एजेंसी अपने कुप्रबंध के कारण बढ़ी हुई लागत को पूरा करने के लिए भाड़े की दरों में वृद्धि कर दे। इसलिए अकुशलता के आधार पर इस तरह की वृद्धि उचित नहीं है। किन्तु यह बात समझ नहीं आती कि अकुशलता या परिवहन क्षेत्र के भ्रष्टाचार का बोझ परिवहन के प्रयोक्ताओं की बजाय स्थायी रूप से उसका इस्तेमाल न करने वालों को क्यों ढोना पड़े?

बढ़ी हुई लागत पूरी करने के लिए दरों में संशोधन की नीति में एक खतरा यह है कि इससे परिहार्य खर्चों में कमी करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसका एक उपाय यह हो सकता है कि सभी परिवहन संस्थानों की बजाय कुछ चुने हुए संस्थानों की दरों में संशोधन किया जाए। किराये या भाड़े की दरों में वृद्धि की अनुमति तभी दी जाए जब घाटा पूरा करने तथा प्रबंध में सुधार लाकर बचत जुटाने के सभी उपाय किए जा चुके हों। पर्वतीय क्षेत्रों, पिछड़े इलाकों आदि की परिवहन एजेंसियों को लम्बी अवधि के आधार पर सबसिडी दी जानी चाहिए, जैसे कि राष्ट्रीय परिवहन आयोजना आयोग ने भी स्वीकार किया है। दूसरी ओर, महानगरों में चलने वाली एजेंसियों को किराये की दरें संशोधित करके सबसिडी की मात्रा घटानी चाहिए, क्योंकि उनकी सेवाओं का इस्तेमाल करने वाले लोगों का औसतन आर्थिक स्तर देश के अन्य लोगों के मुकाबले ऊँचा है।

19.4.3 सामाजिक लेखा और विभेदक परिवहन दरों की आवश्यकता

इन सब तथ्यों से सिद्ध होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के परिवहन संस्थानों का सामाजिक मूल्यांकन होना चाहिए। यह पता लगाने के लिए कि किन संस्थानों को सामाजिक दायित्वों के कारण हो रहे घाटे को पूरा करने के लिए दरों में संशोधन करने की अनुमति दी जाए, उनके काम-काज का मूल्यांकन व्यापारिक लाभप्रदता की कसौटी पर नहीं, बल्कि भौतिक एवं सामाजिक मापदंडों के आधार पर करना होगा। उदाहरण के लिए, किसी राज्य परिवहन संस्थान को केवल इसी कारण सामाजिक बोझ मान लेना गलत है कि वह घाटे में चल रहा है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अधिकतक राज्य परिवहन संस्थान अपने कामकाज के भौतिक मापदण्डों के आधार पर पहले से बेहतर उपलब्धियाँ दर्शाते है। इसलिए जब परिवहन क्षेत्र के चालू परिचालन कार्यों या विकास के लिए पूँजी-निवेश के बारे में निर्णय लिए जाएं तब उनके विकासात्मक तथा कल्याणकारी उद्देश्यों की अनदेखी नहीं की जा सकती।

किन्तु चालू घाटे को पूरा करने के लिए राज्य परिवहन संस्थानों द्वारा किरायों में व्यापक वृद्धि सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय हो सकती है। इसका प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आघात अमीरों से अधिक गरीबों पर पड़ सकता है। गरीबों के लिए सार्वजनिक परिवहन प्रणाली का लाभ उठाना भी कठिन हो जाएगा और मौजूदा हालात में जो थोड़ी-बहुत सबसिडी उनके हिस्से में जाती है, वे उससे भी वंचित हो जाएंगे। इसी प्रकार आवश्यक वस्तुओं की परिवहन लागत बढ़ने से मुद्रा-स्फीति होगी, जिसके फलस्वरूप निर्धन असंगठित श्रमिकों की वास्तविक आय और कम हो जाएगी और यह कमी संगठित क्षेत्र के मजदूरों की तुलना में कहीं अधिक होगी। इसलिए दरों में संशोधन विभेदक (Discriminatory) होना चाहिए, जिसके अंतर्गत आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की भाड़ा दरों में मामूली वृद्धि या कोई वृद्धि न की जाए तथा गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बिताने वाले यात्रियों के मामले में किराए बिल्कुल न बढ़ाए जाएं। विभिन्न क्षेत्रों की परस्पर निर्भरता का विश्लेषण करके ही उन वस्तुओं और सेवाओं का पता लगाया जा सकता है, जिनका गरीबों के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक पर असर पड़ता है और तभी एक समुचित परिवहन मूल्य नीति निर्धारित की जा सकती है।

सामाजिक दायित्वों को निभाते हुए परिवहन एजेंसियों की वित्तीय क्षमताओं में सुधार लाने के लिए यातायात के अलग-अलग मदों के लिए अलग-अलग दरें तय करने की नीति अपनानी होगी। परिवहन के उपभोक्ताओं में भेद करने के लिए क्षेत्र का पिछड़ापन, वस्तुओं की प्रकृति तथा भुगतान क्षमता जैसे पहलुओं पर विचार कियाय जान चाहिए। अलग-अलग क्षेत्रों में विकास तथा अन्य सामाजिक पहलुओं के आधार पर अलग-अलग माल अथवा लोगों के समुदायों के लिए भाड़े और किराए की भिन्न-भिन्न दरें निश्चित की जा सकती है। और इस प्रकार की नीतियों को बिना किसी कठिनाई के अपनाया जा सकता है। परन्तु समस्याएं तब पैदा होंगी, जब किराए और भाड़े की दरों में एक समान सेवा के इस्तेमाल में यह अंतर यात्रा के उद्देश्य अथवा यात्री के आय स्तर पर आधारित होगा। इसका एक तरीका यह हो सकता है कि अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्गों के लिए कुछ बेहतर सेवा उपलब्ध कराकर उनसे पर्याप्त ऊँची दरें वसूल की जाएं। जब सेवा के स्तर में अंतर करना संभव नहीं हो तो गरीब मजदूरों को मासिक पास जारी करके और उनके मूल वेतन के हिसाब से उन पासों का किराया तय करके उन्हें राहत दी जा सकती है। लागत तथा किराए में इस अंतर के कारण परिवहन एजेंसी पर जो वित्तीय बोझ पड़ेगा, उसकी भरपाई सरकारी तथा गैर सरकारी क्षेत्र में नियोक्ताओं से करने को कहा जा सकता है। संगठित क्षेत्र के श्रमिकों के लिए तो यह व्यवस्था सरलता से लागू की जा सकती है, परन्तु बड़ी संख्या में मजदूर असंगठित काम-धंधों में लगे हुए हैं, इसलिए उनकी आय का पता लगा पाना और मालिकों से भरपाई करा पाना कठिन होगा। परन्तु यह असंभव नहीं है, क्योंकि सार्वजनिक वितरण (खाद्यानों) प्रणाली अनेक राज्यों में कारगर ढंग से चल रही है। किन्तु जब तक असंगठित क्षेत्र के अधिकतर कामगारों के लिए विभेदक दरों पर परिवहन सेवा की व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक कम दरों पर एक हल्की बस सेवा शुरू की जा सकती है। जो लोग सामान्य परिवहन सेवाओं के किराए दे पाने में असमर्थ हैं, वे कुछ देर प्रतीक्षा करके इन अपेक्षाकृत भीड़ भरी बसों में सफर कर सकेंगे। यही एकमात्र तरीका है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि सार्वजनिक परिवहन को जो सबसिडी मिल रही है, उसके लाभ से बड़ी संख्या में शहरी गरीब वंचित न रह जाएं।

19.4.4 कुछ विशिष्ट विकल्प

यात्री यातायात के लिए रेल परिवहन के क्षेत्र में क्षमता में कमी एक प्रमुख समस्या है। यह सही है कि ब्रिटिश काल में यात्रियों के लिए अलग-अलग श्रेणियां रखने तथा उनके लिए अलग-अलग डिब्बों की व्यवस्था करने की नीति का रेलगाड़ियों की कुल क्षमता पर प्रतिकूल असर पड़ा है।

क्योंकि प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करने वाले लोगों की संख्या दूसरी श्रेणी (पहले तृतीय श्रेणी) के डिब्बे के यात्रियों की संख्या की एक-तिहाई होती है। इससे सबसिडी का लाभ निचली श्रेणियों की बजाय प्रथम श्रेणी के यात्रियों को अधिक मिला और इस प्रकार से यह विकृत सबसिडी नीति थी।

रेलवे में श्रेणियों की व्यवस्था समाप्त करना, सरकार की यह घोषणा स्वागत-योग्य परिवर्तन है। साथ ही विभिन्न श्रेणियों में किराए की दरों में अंतर उनकी लागत पर आधारित होना चाहिए और लागत में वृद्धि के होने पर किराए भी बढ़ने चाहिए। विशिष्ट वस्तुओं की ढुलाई तथा कुछ खास आर्थिक-सामाजिक वर्गों को दी गई सबसिडी की स्पष्ट घोषणा की जानी चाहिए। यदि परिवहन एजेंसियों को इस सबसिडी की भरपाई सरकार द्वारा नहीं की जाती तो भी उनके काम-काज का मूल्यांकन करते हुए उसे हिसाब में लिया जाना चाहिए। इससे राष्ट्रीय परिवहन आयोजन की सिफारिशों का पालन होगा, जिनमें कहा गया है कि सामाजिक कारणों से यदि कोई सबसिडी दी जाती है तो उन्हें स्पष्ट किया जाना चाहिए।

परिवहन एजेंसियों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि उनके रोज़मर्रा के काम-काज में विधायकों, सांसदों आदि (जो एजेंसियों के अध्यक्ष नियुक्त किये जाते हैं) और सरकारी विभागों के सचिवों का राजनीतिक तथा नौकरशाही हस्तक्षेप बंद किया जाए। एजेंसियों का प्रबंध पेशेवर लोगों के हाथ में दिया जाना चाहिए जिन्हें मार्ग तथा किराए भाड़े की दरें तय करने के मामले में पर्याप्त स्वायत्तता मिलनी चाहिए। दूर-दराज के अर्ध-शहरी इलाकों, पिछड़े या पर्वतीय क्षेत्रों में काम करने वाली एजेंसियों के लिए लाभ की दर कम रखी जा सकती है। यदि उन्हें संबंधित सरकारी विभाग द्वारा कुछ निश्चित सेवाएं जारी रखने या राजनीतिक अथवा सामाजिक कारणों से लागत से भी कम किराए तय करने को कहा जाए तो उन्हें समुचित मुआवजे का भुगतान किया जाना चाहिए। साथ ही यदि इस संशोधित कसौटी पर भी किसी सरकारी एजेंसी का काम-काज असंतोषजनक पाया जाता है तो उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए और उसका प्रबंध निजी क्षेत्र को सौंपने की संभावना पर विचार किया जाना चाहिए। ऐसा करते हुए निजी परिवहन संचालकों के लिए व्यापक सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना अनिवार्य बनाया जाना चाहिए और उनके कामकाज की भी निगरानी होनी चाहिये। पहले रेलवे को भी निजी कंपनियों द्वारा चलाया जाता था और वह अनुभव कोई अच्छा नहीं था।

बोध प्रश्न 2

1) एक संतुलित परिवहन प्रणाली विकसित करने में क्या कठिनाइयाँ हैं? उनको कैसे सुधारा जा सकता है? अपना उत्तर पाँच वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सही और गलत के लिए क्रमशः "स" और "ग" लिखिए :

क) सामाजिक दृष्टिकोण से लोगों का परिवहन की सार्वजनिक प्रणाली से निजी और व्यक्तिगत प्रणालियों की ओर बढना परिवहन समस्याओं के कम कार्यक्षम समाधानों की दिशा में बढ़ना है।

ख) भारत में परिवहन सुविधाएँ गैर-साम्यवादी देशों में सबसे अधिक सस्ती हैं।

ग) यात्री यातायात के लिए सबसिडी उन लोगों की कीमत पर दी जानी चाहिए जो यात्रा नहीं करते या यात्रा का खर्च उठा पाने में असमर्थ हैं।

घ) समान सेवा का उपभोग करने वाले यात्रियों के लिए किराए की एक-जैसी दरें होनी चाहिए।

3) परिवहन की विभेदक दरें लागू करने में क्या समस्याएँ आ सकती हैं? अपना उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) अधिक कार्यक्षम परिवहन प्रणाली की व्यवस्था करने के लिए आपके क्या सुझाव हैं? अपना उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.5 शहरी क्षेत्रों में नागरिक सुविधाओं की समस्याएँ

विकासशील देशों में शहरीकरण को अक्सर नागरिक समस्याएँ पैदा करने की प्रक्रिया समझा जाता है। भारत में शहरी क्षेत्रों की परिभाषा सामान्यतया जिन तीन पहलुओं के आधार पर की जाती है, वे हैं : बस्ती का आकार, जनसंख्या घनत्व तथा गैर-कृषि गतिविधियाँ। शहरों में बाहरी लोगों के आकर बसने की भी समस्या है, जिससे आवास, जल पूर्ति, जल निकासी, स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन आदि सुविधाओं की कमी रहती है। ये समस्याएँ प्रथम श्रेणी के उन नगरों और छोटे तथा मझौले कस्बों में अधिक गंभीर हैं, जहाँ पिछले कुछ वर्षों में बाहर से लोगों के आकर बसने से तीव्र गति से शहरी विस्तार हुआ है। इनमें ब्रिटिशकालीन असमानताओं का प्रभाव भी मौजूद, जिनकी चर्चा पिछली इकाई में की गई है और जो स्वतः ही नई असमानताओं को जन्म देती है। शहरों में बाहर से आने वाले अधिकतर लोग गरीब अकुशल कामगार हैं जो असंगठित क्षेत्र की उत्पादन इकाइयों, दुकानों और सेवाओं में नौकरी करते हैं। बाहर से आने वालों का एक वर्ग सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से उच्च लोगों का भी होता है, जो बेहतर नौकरी और यहाँ उपलब्ध सस्ती नागरिक सुविधाओं से आकर्षित होकर आते हैं। यह विश्लेषण करना बहुत आवश्यक है कि शहरों, विशेषकर महानगरों और अन्य बड़े नगरों में, शहरी प्रणाली बाहर से आए लोगों के इन दो वर्गों को किस प्रकार आत्मसात करती है और इस प्रक्रिया से उनके स्वरूप में किस प्रकार के परिवर्तन आए हैं।

19.5.1 बस्तियों का बदलता हुआ स्वरूप

औपनिवेशिक काल के अंतिम दिनों में अधिकतर बड़े शहरों में गरीब लोग शहर के भीतरी हिस्सों में रहा करते थे, जहाँ पुरानी इमारतें, तंग गलियाँ और भीड़-भरे बाज़ार हुआ करते थे। अमीर लोग सामान्यता इन इलाकों से कुछ दूरी पर बने आवासीय क्षेत्रों में रहा करते थे। इसके अलावा, शहर भर में निचले इलाके, रेलवे लाइन के पास की भूमि, दलदली ज़मीन, कारखानों आदि के आसपास खुले स्थान आदि भी थे, जहाँ गरीब लोग रह सकते थे। स्वतंत्रता के पश्चात् जनसंख्या बढ़ने तथा इनमें से कुछ शहरों में विभिन्न योजनाओं पर सरकार द्वारा पर्याप्त पूंजी लगाए जाने से खासकर इन मध्यवर्ती भागों में भूमि की माँग में भारी वृद्धि हुई है। बाहरी क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं की ऊँची लागत के कारण भीतरी भागों में ज़मीन की माँग और अधिक बढ़ गई है। इसके परिणामस्वरूप, अनेक कारखानों को शहर से बाहर ले जाया गया और पुरानी कालोनियों को फिर से विकसित किया गया। किन्तु ऐसा करते हुए दुर्लभ भूमि का उपयोग अकुशल ढंग से किया गया। सीमान्त भूमि पर भी मकान, दुकानें आदि बन गई हैं। इस सबका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि कम आय वाले लोगों को वहाँ से निकलना पड़ा तथा उनसे अधिक आमदनी वाले लोग वहाँ बस गए (भूमि की कीमत तथा किराए की दरों में तीव्र वृद्धि का भी इसमें

हाथ है)। अधिकतर गरीब लोग अब शहर के बाहरी हिस्सों में जाकर बसने की कोशिश में हैं, जहँ जमीन तथा मकान अपेक्षाकृत सस्ते हैं। लोगों को "शहर से बाहर धकेलने" की इस प्रक्रिया को बाजार के दबाव के साथ-साथ सरकार के तंग व गंदी बस्तियाँ (Slums) हटाने और पुनर्वास कार्यक्रमों से भी गति मिली क्योंकि नई बस्तियों के लिए भूमि शहर के बाहरी हिस्से अथवा नगर पालिका सीमा से बाहर ही उपलब्ध थी। रहने और काम करने के स्थानों में बहुत दूरी हो जाने के परिणामस्वरूप गरीब लोगों के लिए परिवहन की गंभीर समस्या पैदा हो गई है। इस स्थिति ने सार्वजनिक परिवहन प्रणाली पर, जो पहले से ही भारी बचाव में है, अतिरिक्त, बोझ डाल दिया है।

19.5.2 शहरी परिवहन

हम जान चुके हैं कि बड़े नगरों में सार्वजनिक परिवहन का संचालन करने वाली एजेंसियाँ भारी घाटे में चल रही हैं। परिवहन निगम/कंपनियाँ नगर स्तर पर अपनी सेवाएँ केन्द्र सरकार (दिल्ली में), राज्य सरकारों (कलकत्ता, मद्रास, बंगलौर आदि में) और स्थानीय निकायों (बम्बई, अहमदाबाद आदि में) से प्राप्त अनुदान की बड़ी राशि के बल पर ही चला पा रही है। किराए बढ़ाने में कठिनाइयाँ, भ्रष्टाचार, अक्षमता आदि के कारण इन निगमों की आय वृद्धि की गति लागत के मुकाबले धीमी है। इसलिए पुराने वाहनों को बदलने, उनकी संख्या बढ़ाने या सड़कों की हालत ठीक करने पर पर्याप्त पूंजी नहीं लगाई जा सकी है। सामान्य बजट में बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली आदि में उपलब्ध उपनगरीय रेल सेवा सहित शहरी परिवहन क्षेत्र के लिए सीमित प्रावधान किया जाता है और उसमें वृद्धि यातायात में वृद्धि के अनुरूप नहीं होती । इन सबके फलस्वरूप, शहरी परिवहन प्रणालियों में गंभीर रूप से गिरावट आई है।

जनसंख्या में तीव्र वृद्धि तथा नगर सीमाओं के विस्तार के कारण परिवहन प्रणाली पर बोझ और बढ़ गया है। नगरों में मास्टर प्लान लागू करने का ही परिणाम है कि लोगों के रहने तथा काम करने के स्थानों में दूरी हो गई है तथा कुछ गरीब लोगों को शहर के बाहरी हिस्सों में धकेल दिया गया है। इसलिए शहरी लोगों, खासकर गरीबों के लिए, एक से दूसरे स्थान तक आने-जाने की समस्याओं ने गंभीर रूप धारण कर लिया है। व्यष्टि स्तर (Micro leval) पर किए गए सर्वेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि निम्न आय वर्ग की अधिकतर बस्तियों के लिए एक दूसरे से सम्पर्क तथा पहुंच की समस्याएँ बहुत गंभीर हैं।

एक लाख से अधिक आबादी वाले अनेक नगरों तथा अन्य लगभग सभी छोटे शहरों में सार्वजनिक परिवहन प्रणाली केवल नाम-मात्र की है। इन स्थानों पर लोग निजी वाहनों के अलावा रिक्शा, तांगों, तिपहिया स्कूटरों, टैक्सियों आदि में सफर करते हैं, जिन्हें मध्यवर्ती सार्वजनिक परिवहन कहा जाता है। मध्यवर्ती सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था महानगरों में भी सार्वजनिक परिवहन की पूरक व्यवस्था के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सार्वजनिक परिवहन का इस्तेमाल मुख्यतया गरीबों द्वारा किया जाता है।

1980 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में हैदराबाद, जयपुर, आगरा आदि शहरों में रिक्शा का इस्तेमाल करने वाले 50 प्रतिशत से अधिक लोग गरीब परिवारों के थे, जिनकी मासिक आय 500 रुपये या उससे भी कम थी। यही बात तांगों का इस्तेमाल करने वालों के संबंध में कही जा सकती है। दिल्ली में रिक्शा में बैठने वालों में 93 प्रतिशत लोग मध्य आय वर्ग के हैं, जिनकी मासिक आय 500 से 1000 रुपए के बीच है और बाकी 7 प्रतिशत गरीब लोग हैं। इन लोगों द्वारा मध्यवर्ती सार्वजनिक परिवहन का इस्तेमाल किए जाने का मुख्य कारण यह है कि या तो सार्वजनिक परिवहन उपलब्ध ही नहीं है या फिर इसकी सेवाएँ अपर्याप्त हैं। यह भी देखने में आया है कि निम्न आय वर्ग की कालोनियों में रहने वाले बड़ी संख्या में लोग अपने कार्य स्थलों पर पहुंचने के लिए लम्बी दूरी तक साइकिल चलाकर अथवा पैदल चलकर जाते हैं, क्योंकि सार्वजनिक परिवहन प्रणाली की सेवाएँ ठीक नहीं हैं अथवा वे रियायती दरों पर भी उसका लाभ उठाने में असमर्थ होते हैं।

19.6 आवास, जल पूर्ति एवं स्वच्छता

अनियोजित शहरी विकास के कारण आवास तथा नागरिक सुविधाओं की गंभीर समस्याएँ पैदा हो गई हैं और हाल के वर्षों में महानगरों में बुनियादी सुविधाओं का स्तर काफी गिर गया है। तंग व गंदी बस्तियों और झुग्गी-झोंपड़ी बस्तियों की बाढ़ आ रही है और इनमें जनसंख्या की वृद्धि दर शहरी जनसंख्या की वृद्धि दर से कहीं अधिक है।

19.6.1 मकानों की कमी

राष्ट्रीय भवन संगठन ने 1984 में अनुमान लगाया था कि 1981 में देश में लगभग 2 करोड़ 11 लाख मकानों की कमी थी, जिनमें से एक करोड़ 61 लाख की कमी गांवों में और 50 लाख मकानों की कमी शहरों में थी। इस कमी का अनुमान लगाते हुए ग्रामीण क्षेत्रों में पक्के, आधे पक्के तथा कच्चे घरों और शहरों में पक्के एवं आधे पक्के घरों को रहने लायक मकानों की सूची में शामिल किया गया। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में 2 करोड़ 47 लाख मकानों की कमी का अनुमान लगाया गया, जिनमें 59 लाख मकानों की कमी शहरी क्षेत्रों में थी। यदि और अच्छी हालत वाले मकान को रहने लायक इकाई माना जाए तो अनेक भारतीय संगठनों द्वारा किए गये अध्ययनों के अनुसार यह संख्या और अधिक होने का अनुमान है। किन्तु कुछ विशेषज्ञों ने इन कसौटियों पर आपत्ति की है। उनका कहना है कि झोपड़ी आदि तथा अन्य प्रकार के रिहायशी ढांचों को भी राष्ट्रीय आवास ढांचों का भाग माना जाए। उनका कहना है कि मकानों की कमी का अनुमान लगाते हुए वास्तविक माँग तथा स्वच्छता की न्यूनतम शर्तों के आधार पर लोगों की मकान प्राप्त कर सकने की वित्तीय क्षमता को भी ध्यान में रखा जान चाहिए।

19.6.2 जल पूर्ति एवं स्वच्छता

ऐसा अनुमान है कि 20 प्रतिशत से अधिक शहरी आबादी को नलों का पेय जल उपलब्ध नहीं है। जल निकासी तथा स्वच्छता की सुविधाओं से तो लगभग 70 प्रतिशत शहरी लोग वंचित हैं। राष्ट्रीय शहरीकरण आयोग (1988) के अनुसार प्रथम श्रेणी के नगरों में 145 लीटर तथा अन्य शहरों में 100 लीटर प्रति व्यक्ति प्रतिदिन पानी उपलब्ध है, जबकि योजनाकारों ने 200 लीटर प्रतिदिन प्रति व्यक्ति जल की पूर्ति की सिफारिश की है। पानी कम क्षेत्रों में उपलब्ध रहने तथा सप्लाई का स्तर कम रहने के अलावा इस समस्या का एक और चिंताजनक आयाम यह है कि इसके वितरण में नगर के विभिन्न भागों में भी भेदभाव किया जाता है। शहरी निर्धनों, विशेषकर शहर के बाहरी हिस्से में झोंपड़ियों में रहने वालों को दूर से पानी लाना पड़ता है और उन्हें पानी का दबाव कम होने, सार्वजनिक नलों पर लम्बी कतारों तथा अनियमित जल-पूर्ति के कारण बहुत कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि बड़े शहरों में जल पूर्ति की प्रति व्यक्ति प्रतिदिन पूर्ति सम्पन्न लोगों की बस्तियों में प्राय: 300 लीटर से ऊपर रहती है, जबकि तंग व गंदी बस्तियों में 30 लीटर से भी कम होती है। तंग व गंदी बस्तियों में जल-मल निकासी तथा स्वच्छता की सुविधाएँ एकदम अपर्याप्त हैं और सार्वजनिक शौचालय बहुत कम तथा दूर-दूर होते हैं तथा पानी एवं रख-रखाव की कमी के कारण उनकी भी हालत बहुत खराब होती है। इन बस्तियों में बहुत से लोग खुले में ही शौच करते हैं, जिससे अस्वास्थ्यकर स्थितियाँ पैदा होती हैं और विशेषकर बरसातों में कई तरह के रोग और महामारियाँ फैलती हैं।

19.7 शहरी चिकित्सा सुविधाएँ

देश में चिकित्सा प्रणाली गंभीर चिन्ता का विषय बनी हुई है। विश्व बैंक की 1989 की रिपोर्ट के अनुसार हमारे देश में प्रति एक हज़ार की जनसंख्या पर डॉक्टरों एवं नर्सों की औसत संख्या पश्चिमी देशों की संख्या का केवल पाँचवाँ हिस्सा है। परन्तु एशिया और अफ्रीका के निर्धन देशों से हमारे देश की स्थिति थोड़ी-सी बेहतर है। हम जानते हैं कि हमारे देश में औसत आयु 1940 के दशक में 27 वर्ष से बढ़कर 1985-86 में 55 वर्ष हो गई है और इसी अवधि में शिशु मृत्यु-दर प्रति हज़ार 146 से घटकर 100 हो गई है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि गाँवों की अपेक्षा शहरों में बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसका कारण है शहरों में भारी पूंजी निवेश। 1983 में संसद द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। जल पूर्ति, जल-मल निकासी, स्वच्छता, आवास आदि की भाँति रोगों की रोकथाम के मामले में भी शहरी इलाकों, विशेषकर महानगरों में अधिक धन खर्च किया गया है। इसके फलस्वरूप मृत्यु-दर तथा शिशु मृत्यु-दर जैसे स्वास्थ्य संबंधी बुनियादी सूचक शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों के मुकाबले काफी अधिक अनुकूल हैं।

दुर्भाग्यवश शहरों में भी स्वास्थ्य सुविधाओं की पहुंच के मामले में असमानता है और इस तथ्य को सरकारी तौर पर तभी स्वीकार किया जाता है जब नालिका-शोध (मैनिंनजाइटिस), यकृत-शोध (हेपटाइटिस), पेचिश और हैजा जैसी बीमारियाँ राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (दिल्ली) में भी तंग बस्तियों में ही फैलती हैं। एक बार फैलने के बाद ये महामारियाँ समूची आबादी को अपनी लपेट में ले सकती हैं और संभवत: यही कारण है कि सम्पन्न वर्ग भी शहरों के सामान्य

स्वास्थ्य स्तर के प्रति चिंतित रहते हैं। भारत ने 1978 के अलमा आटा समझौते पर हस्ताक्षर किए हैं और इस प्रकार वह सन् 2000 तक सबके लिए स्वास्थ्य उपलब्ध कराने के लिए वचनबद्ध है। परन्तु यह लक्ष्य प्राप्त कर पाना, विशेषकर इस क्षेत्र के लिए योजना राशि के केवल 2 प्रतिशत के प्रावधान को देखते हुए बहुत कठिन है।

यह सच है कि लगभग सभी ज़िला एवं तालुका मुख्यालयों में डिस्पेंसरियाँ-अस्पताल खुल जाने से दूर-दराज़ के क्षेत्रों के लोगों को भी चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु इनमें डॉक्टरों, दवाओं, जाँच-सुविधाओं तथा मरीज़ों को रखने की व्यवस्था की कमी रहती है। छोटे शहरों में लोगों की प्रायः उच्च स्तर की चिकित्सा सुविधाओं तक पहुँच नहीं है।

बोध प्रश्न 3

1) शहरी परिवहन प्रणाली का स्तर किन कारणों से गिरा है? अपना उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) रिक्त स्थान भरिए :

क) अनियोजित शहरी विकास के फलस्वरूप तंग व गंदी बस्तियों और झुग्गी-झोंपड़ी कालोनियों की बाढ़ आ गई है, जहाँ जनसंख्या वृद्धि की दर शहरी आबादी में वृद्धि दर से ..... (अधिक/कम) है।

ख) पक्के, आधे पक्के और कच्चे मकानों की कमी ..... (ग्रामीण/शहरी) क्षेत्रों में अधिक है।

ग) जल-मल निकासी, स्वच्छता, आवास आदि सुविधाओं के कारण मृत्यु दर तथा शिशु मृत्यु दर जैसे स्वास्थ्य के बुनियादी सूचक ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी इलाक़ों में अधिक ..... (अनुकूल/प्रतिकूल) हैं।

19.8 बुनियादी नागरिक सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए नीतिगत दृष्टिकोण में परिवर्तन

समाज के समाजवादी स्वरूप के दृष्टिकोण के अनुसार नियोजित विकास के प्रारंभिक वर्षों में देश में आवास तथा अन्य बुनियादी नागरिक सुविधाएँ जुटाने के काम में सरकारी विभागों तथा सार्वजनिक क्षेत्र की एजेंसियों को सीधे शामिल करने के प्रयास किए गए। 1950 के दशक में कुल परिव्यय में आवास के लिए योजना में प्रावधान का अनुपात 7 प्रतिशत था तथा आवास पर कुल पूंजी निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 30 प्रतिशत था। आवास राज्यों की जिम्मेदारी थी, जिसे वे राज्य स्तर पर आवास, बोर्डों, तंग व गंदी बस्ती सुधार बोर्ड आदि तथा नगर स्तर पर विकास प्राधिकरणों के माध्यम से पूरी करते थे। स्वास्थ्य और स्थानीय परिवहन सुविधाएँ भी राज्य क्षेत्र में थी, यद्यपि कुछ नगर निगमों तथा नगरपालिकाओं ने भी अपने वैकल्पिक कार्यों के अंग के रूप में इन सुविधाओं की व्यवस्था करने की भूमिका संभाल ली। जल-पूर्ति, जल-मल निकासी और स्वच्छता की ज़िम्मेदारी मुख्य रूप से स्थानीय निकायों को दी गई, किन्तु स्थानीय निकायों की कमज़ोर वित्तीय स्थिति और "कुप्रबंध आदि की समस्याओं" को देखते हुए राज्य स्तर पर बोर्ड गठित किए गए, जिन्हें जल-पूर्ति, जल-मल निकासी और स्वच्छता की परियोजनाओं में पूंजी निवेश का अधिकार दिया गया। जिन राज्यों में इस प्रकार के बोर्ड नहीं बनाए गए वहाँ नगर नगरपालिकाओं प्रशासन से सम्बद्ध विभागों को पूंजी निवेश परियोजनाएँ तैयार करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने का दायित्व सौंपा गया। 1960 तथा 1970 के दशकों में राज्य सरकारों द्वारा अनेक नगरपालिकाओं को भंग कर दिया गया और वहाँ प्रशासक बिठा दिए गए। नागरिक सेवाओं के प्रबंध का काम अक्सर राज्य सरकारों के विभागों अथवा बोर्डों को सौंप दिया जाता था। उच्च वर्ग के शहरी लोगों ने स्थानीय राजनीतिक प्रक्रिया की उपेक्षा के इस अवसर का लाभ उठाकर इन एजेंसियों से अपने लिए अच्छे स्तर की नागरिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं।

19.8.1 सार्वजनिक हस्तक्षेप की सीमाएँ

सरकार ने एक ओर समूची शहरी आबादी को सुविधाएँ उपलब्ध कराने की समस्या की विशालता तथा दूसरी ओर संसाधनों की कमी को जल्दी ही महसूस किया। आवास के लिए योजना खर्च में धीरे-धीरे कमी होती रही। सातवीं पंचवर्षीय योजना में यह कुल योजना परिव्यय का केवल एक प्रतिशत था और कुल पूंजी निवेश में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान घटकर केवल 10 प्रतिशत रह गया। यह महसूस किया गया कि आवास तथा नागरिक सुविधाओं के प्रावधान में सरकार के सीधे शामिल होने की जो नीति 1960 तथा 70 के दशकों में आजमाई गई थी वह बहुत सफल नहीं रही। संसाधन जो पहले ही कम सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में लगा दिए गए थे और उनसे अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं हुए। आशा यह की गई थी कि ये इकाइयाँ आत्म-निर्भर होकर काम करेंगी किन्तु इसके विपरीत वे लागत की वसूली और अपने चालू खर्च पूरे करने के लिए भी सरकार पर आश्रित हो गईं। इन इकाइयों के लाभ कमज़ोर वर्गों तक नहीं पहुंच पाए और वे उत्तरोत्तर बाज़ार पर निर्भर होते गए हैं। सार्वजनिक सेवा प्रणाली में जो सबसिडी दी गई, उसके लाभ शहरी आबादी के सम्पन्न तथा संगठित वर्गों के एक हिस्से ने हड़प लिए हैं।

व्यापक प्रशासनिक एवं कानूनी उपायों के जरिए भवन निर्माताओं तथा भूमि विकासकर्ताओं पर नियंत्रण लगाने की प्रणाली से बाज़ार के कारगर ढंग से काम करने पर असर पड़ा है और मकानों तथा भूमि की उपलब्धता में रुकावटें आई हैं। लगभग सभी राज्य सरकारों द्वारा लागू किए गए किराया नियंत्रण कानूनों से भूमि तथा निर्माण के समय भवन की लागत के अनुपात के आधार पर निश्चित किराया तय किए जाने से किरायों में वृद्धि पर रोक लग गई है। इस कानून के अंतर्गत मुद्रा-स्फीति के कारण भी किराए में वृद्धि करना बहुत कठिन है तथा मकान खाली कराना लगभग असंभव हो गया है। इसलिए किराए पर चढ़ाने के लिए मकान बनाना अब फायदे का सौदा नहीं रहा। क्योंकि निश्चित किराए (standard rents) के आधार पर ही सामान्यतया सम्पत्ति-मूल्य निर्धारित किया जाता है, इसलिए पिछले कई वर्षों से स्थानीय निकायों की वित्तीय हालत बहुत खराब है क्योंकि यही उनके राजस्व का मुख्य स्रोत है।

19.8.2 विकेंद्रित पहल की ओर

वर्तमान चिंतन विकेंद्रीकरण, प्रशासनिक तथा कानूनी नियंत्रण हटाने और स्थानीय स्तर पर संसाधन जुटाने के पक्ष में है। स्थानीय निकायों को सक्षम बनाने तथा उन्हें राजस्व जुटाने के योग्य बनने को प्रोत्साहित करने के प्रयास किए जा रहे हैं ताकि वे अपने चालू खर्च और पूंजीगत व्यय का कम से कम कुछ भाग अपने साधनों से पूरा कर सकें। योजना आयोग द्वारा गठित शहरी विकास कार्यदल (1983) और भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय शहरीकरण आयोग (1988) जैसे उच्चाधिकार प्राप्त संगठनों ने भी सार्वजनिक सुविधाओं के विकास तथा उनके रख-रखाव के काम की पृथकता पर दुःख प्रकट किया है क्योंकि पूंजी निवेश परियोजनाएँ राज्य स्तर की एजेंसियाँ चलाती हैं, जबकि रख-रखाव का दायित्व स्थानीय निकायों का है। यह भी कहा गया है कि नगरनिगमों तथा नगरपालिकाओं के जिन अनिवार्य और वैकल्पिक कार्यों को राज्य सरकारों ने अपने हाथ में ले रखा है, वे फिर से उन्हें सौंप दिए जाएं। राज्य स्तर के बोर्डों, प्रतिष्ठानों आदि की भूमिका केवल सहायता देने तक सीमित रहनी चाहिए। योजनाकारों का मत है कि किराया नियंत्रण कानून, शहरी भूमि परिसीमन अधिनियम आदि को या तो रद्द किया जाए या उनमें इस प्रकार संशोधन किया जाए कि ज़मीन के मालिकों को अधिक से अधिक मकान बनाने के लिए प्रोत्साहन मिले।

सरकार के जिस नीति दस्तावेज़ का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसमें कहा गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र की एजेंसियों द्वारा निर्धारित आवास तथा बुनियादी सुविधाओं से संबंधित मानक तो बहुत ऊँचे हैं, किन्तु उनके लिए वसूल किए जाने वाली कीमतें बहुत कम हैं। इससे उनके वितरण को नियंत्रित करने के लिए बनाये गए नियम निष्प्रभावी हो जाते हैं और भ्रष्टाचार तथा बरबादी को बढ़ावा मिलता है। विश्व बैंक, यू.एस.ए.आई.डी., फोर्ड फाउंडेशन जैसी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय एजेंसियों और देश के अनेक विशेषज्ञों और शोधकर्त्ताओं का कहना है कि विभिन्न आय वर्गों की वित्तीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए इन मानकों को कुछ कम किया जाना चाहिए। उन्होंने निर्माण तथा वितरण की पूरी लागत की वसूली के लिए उपभोक्ता प्रभाव भी बढ़ाने का सुझाव दिया है ताकि निजी उद्यमी भी इस क्षेत्र में आ सकें।

इसके अलावा आवास, जल-पूर्ति, जल-मल निकासी, स्वच्छता, परिवहन आदि सुविधाओं की व्यवस्था करने वाली सार्वजनिक क्षेत्र की एजेंसियों के पूंजीगत खर्च तथा चालू लागत के लिए धन जुटाने का दायित्व अब सरकार की बजाय बैंकों ने संभाल लिया है। आशा की जाती है कि इससे सीमित योजना व्यय पर दबाव कम होने के साथ-साथ इन एजेंसियों के प्रबंध में व्यावसायिक

दृष्टिकोण तथा जवाबदेही को बल मिलेगा, क्योंकि उन्हें ब्याज की ऊँची दरों का भुगतान करना होगा तथा अन्य प्रकार के वित्तीय अनुशासन भी उन पर लागू रहेंगे। 1989 में गठित राष्ट्रीय आवास बैंक ने भवन निर्माण संगठनों को सरकारी अनुदान की बजाय बैंकों के ऋणों पर अधिकाधिक निर्भर बनाने के लिए कदम उठाये हैं। पूंजीगत परियोजनाओं के लिए ऋण उपलब्ध कराने के उद्देश्य से समन्वित पूंजी बाज़ार विकसित करने के लिए भी इसी प्रकार के बैंकों की स्थापना के प्रस्ताव पर विचार चल रहा है। परन्तु इसमें संदेह है कि इन सब प्रयासों के लाभ शहरों के निर्धन लोगों तक पहुंच पाएंगे।

19.8.3 कारगर ढंग से सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध कराने की आवश्यकता

चिकित्सा प्रणाली की जिन कमियों की ऊपर चर्चा की गई है, उनके कारण हाल के वर्षों में लोगों को अपनी समस्याओं के समाधान गैर-सरकारी स्तर पर ढूंढने के लिए विवश होना पड़ा है। प्राइवेट डॉक्टरों, नर्सिंग होम, गैर-सरकारी अस्पतालों, जाँच केन्द्रों आदि की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है और ये सब उन लोगों के लिए हैं, जो रुपया खर्च कर सकने की स्थिति में हैं। चिकित्सा व्यय की पूर्ण अथवा आंशिक प्रतिपूर्ति की सुविधा के कारण प्राइवेट स्वास्थ्य सुविधाओं को खूब बढ़ावा मिला है। सरकारी विभागों, सार्वजनिक प्रतिष्ठानों तथा बड़ी प्राइवेट कम्पनियों में उच्च पदों पर काम करने वाले लोगों ने इस प्रतिपूर्ति सुविधा का बहुत लाभ उठाया है। इस वेतनभोगी संगठित वर्ग द्वारा, जो अपनी समस्याओं के बारे में आवाज़ उठाने में सक्षम है, गैर-सरकारी चिकित्सा-व्यवस्था की ओर आंशिक रूप से मुड़ जाने के फलस्वरूप सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर और भी गिर गया है।

सार्वजनिक प्रणाली में सुधार लाने की बजाय गैर-सरकारी साधनों से अपनी समस्या हल करने की प्रवृत्ति परिवहन क्षेत्र में और अधिक देखने को मिलती है। शहरों में सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था खराब हो जाने के परिणामस्वरूप दुपहिया और तिपहिया स्कूटरों, टैक्सियों तथा कारों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, जो व्यक्तियों की निजी मांगे पूरी करती हैं। सार्वजनिक सड़कों के उपयोग की दरें (Road Tax) कम होने (अन्य विकसित तथा विकासशील देशों की तुलना में) के कारण व्यक्तिगत उपयोग के वाहनों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। उच्च वर्ग के लोग अब सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था का इस्तेमाल नहीं करते और यह अब केवल मध्यम तथा निम्न आय वर्गों के लोगों के लिए रह गई है। इनकी राजनीतिक क्षेत्रों में इतनी पहुंच नहीं होती कि प्रणाली में सुधार लाया जा सके।

पूंजीगत परियोजनाओं के आयोजन तथा कार्यान्वयन और सेवाओं के रख-रखाव में गैर-सरकारी संगठनों, स्थानीय समुदायों एवं लाभार्थियों को महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी जा रही है। ऐसी आशा है कि गरीब परिवारों में श्रम तथा जो अन्य संसाधन इस समय बेकार पड़े हैं उनका उपयोग लोगों की सहभागिता के माध्यम से हो सकता है। राष्ट्रीय शहरीकरण आयोग ने सिफारिश की है कि 5 लाख से अधिक आबादी वाले नगरों में दो स्तरों वाली प्रबंध प्रणाली होनी चाहिए। जन सहयोग से चलने वाली स्थानीय परिषदें सामुदायिक स्तर पर बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था का काम संभालेंगी, जबकि नगर स्तर पर उच्च प्रकार की सेवाओं का प्रबंध निगम संभालेंगे।

19.9 शहरी निर्धन : आवश्यकताएँ और आर्थिक सामर्थ्य

इस नीतिगत दृष्टिकोण के संबंध में कुछ उन चिंताजनक प्रश्नों की समीक्षा करना आवश्यक है जिनका प्रभाव गरीब लोगों की आवश्यकताओं तथा उन्हें पूरा करने की उनकी आर्थिक सामर्थ्य पर पड़ता है। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) तथा नई आवास नीति (1987) में मकान बनाने तथा आवश्यक सुविधाएँ जुटाने को मानव संसाधनों में निवेश माना गया है। राष्ट्रीय शहरीकरण आयोग की रिपोर्ट में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने का सुझाव दिया गया है।

19.9.1 अन्य वस्तुओं से भिन्नता

इसका अर्थ यह हुआ कि आवास तथा अन्य बुनियादी सुविधाओं को अन्य वस्तुओं जैसी नहीं माना जाना चाहिए और इनकी व्यवस्था को बाज़ार शक्तियों पर नहीं छोड़ा जा सकता। अब जबकि इन सुविधाओं का प्रबंध करने वाली सरकारी एजेंसियों को अपनी चालू तथा पूंजीगत लागत जुटाने के साथ-साथ ऋणों पर अधिक ब्याज का भुगतान भी करना पड़ता है तो क्या वे इसके लिए प्रयोक्ता प्रभार में वृद्धि नहीं करेंगे अथवा अपनी कार्य प्रणाली में उन लोगों को लाभ देने के लिए परिवर्तन नहीं करेंगे जो ऊँची दरों का भुगतान करने में सक्षम हैं? विकास प्राधिकरण,

आवास बोर्ड आदि, जो व्यापारिक बैंकों या पूंजी बाज़ार से ऋण लेते हैं, क्या अब व्यापारिक परिसर या उच्च आय वर्ग की कालोनियां बनाने पर अधिक ध्यान नहीं देंगे, जिनमें लागत की वसूली अपेक्षाकृत आसान होती है? आवास तथा शहरी विकास निगम "हुडको" से रियायती ऋण प्राप्त करने पर भी वे शहर की सीमा के भीतर आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर वर्गों के लिए आवास परियोजनाएँ चलाने की स्थिति में नहीं हैं। राष्ट्रीय आवास बैंक की नीति के अंतर्गत जब ऋण लेने की लागत बढ़ेगी। गरीबों की पहुंच सरकारी आवास तक भी असंभव हो जाएगी।

छोटे और मझौले शहरों में, जहाँ लागत वसूली एक समस्या है, जल-पूर्ति तथा जल-मल निकासी बोर्डों को यदि पूंजी बाज़ार से कर्ज़े लेने पड़ें तो अधिक परियोजनाएँ चला पाना उनके बस में नहीं होगा। राज्य द्वारा स्थानीय निकायों को धन का वितरण हाल के वर्षों में उत्तरोत्तर इस बात पर निर्भर होता जा रहा है कि आंतरिक आधार पर संसाधन जुटाने की उनकी कितनी क्षमता है। इससे भी छोटे और मझोले शहर घाटे में रहेंगे, क्योंकि उनका आर्थिक आधार कमज़ोर होता है। इस समय बड़े नगरों की राजस्व प्राप्ति तथा नागरिक सुविधाओं के रख़-रखाव पर खर्च प्रति व्यक्ति हिसाब से छोटे शहरों की तुलना में कई गुना अधिक होता है। कई बड़े शहर अपने दम पर या राज्य स्तर के बोर्डों के माध्यम से पूंजीगत परियोजनाएँ भी शुरू करते हैं। हाल के वर्षों में कर आधार (सम्पत्ति कर आदि) मज़बूत बनाने तथा विभिन्न सुविधाओं के लिए प्रयोक्ता शुल्क बढ़ाने के उपाय किए गए हैं, जिनसे अन्य नगरों के मुकाबले बड़े शहरों को ही अधिक फायदा होगा। इस प्रकार, इन नई नीतियों के परिणामस्वरूप नागरिक सुविधाओं में प्रति व्यक्ति आधार पर असमानता और बढ़ने की संभावना है।

19.9.2 पहुँच में असमानता : सार्वजनिक उपचार उपायों की आवश्यकता

बड़े नगरों की सभी बस्तियों में इन सुविधाओं का स्तर एक जैसा ऊँचा नहीं है। तंग व गंदी बस्तियों की हालत हमेशा चिंताजनक रही है, किन्तु 1980 के दशक में आबादी बढ़ने के कारण इनकी हालत और खस्ता हुई है। इनके लिए भुगतान की व्यक्तिगत तथा सामुदायिक क्षमता पर आधारित समाधान तथा जैसी कि ऊपर चर्चा की गई है, राष्ट्रीय शहरीकरण आयोग ने दो-स्तरीय नगर प्रशासन का समाधान प्रस्तुत किया जिसमें बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था स्थानीय परिषदों द्वारा जन सहयोग से की जाएगी। इससे सेवाओं में विषमता बढ़ सकती है तथा नगर गरीब और अमीर बस्तियों में बंट सकते हैं। अनेक बड़े शहरों में अमीर और गरीब बस्तियों के विभाजन की यह प्रक्रिया पहले ही प्रारंभ हो चुकी है, जहां गरीब लोगों, विशेषकर शहर के बाहरी हिस्सों में बसे निर्धन लोग सुविधाओं के लिए या तो अलग उप-प्रणालियों पर निर्भर हैं अथवा उन्हें पास-पड़ोस की बस्तियों की जल-पूर्ति, शौचालय और चिकित्सा सुविधाओं का इस्तेमाल करना पड़ता है। इसी कारण तंग व गंदी बस्तियों में महामारियाँ पैदा होती हैं, जो अंततः समूचे शहर में फैल जाती हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (National Sample Survey) के अनेक अध्ययनों से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 30 से 35 प्रतिशत शहरी आबादी अपनी पोषाहार संबंधी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाती। इनके कुल उपभोक्ता व्यय का 80 प्रतिशत भाग केवल भोजन (पान, तम्बाकू, शराब आदि भी शामिल) तथा ईंधन में चला जाता है। इसलिए ऐसे परिवारों से यह अपेक्षा करना व्यर्थ होगा कि वे अपनी आय का कोई बड़ा हिस्सा मकान, पानी जलमल निकासी, स्वच्छता, स्वास्थ्य, परिवहन तथा अन्य सुविधाओं का लाभ उठाने पर खर्च कर सकेंगे। ऐसा कोई भी सरकारी कार्यक्रम जिसमें उन्हें खर्च करने की अपनी मौजूदा पद्धति बदलनी पड़ती हो, सफल हो पाना कठिन है और उसका लाभ अपेक्षाकृत सम्पन्न लोगों को ही मिलेगा। गरीबों की शराब, शादी आदि पर बेतहाशा खर्च करने की आदतों में सुधार लाने के लिए उनके सामाजिक-आर्थिक परिवेश में परिवर्तन लाना आवश्यक है और यह काम थोड़े से समय में नहीं हो सकता। इसलिए यह परिदृश्य कि सरकार आवास तथा अनेक बुनियादी सुविधाओं के निर्माण से अपना हाथ खींचकर सक्षम बैंकिंग व्यवस्था के समर्थन से केवल प्रशासनिक नियंत्रण रखने वाली एजेंसी के रूप में काम करे और इस प्रकार गरीबों सहित सब लोगों के लिए न्यूनतम आवश्यकताएँ उपलब्ध कराए, कुछ ज़्यादा ही आशावादी लगता है।

यह आवश्यक है कि शहरों में आवास, जल-पूर्ति, स्वच्छता, स्वास्थ्य और परिवहन सुविधाएँ जो कि गैर-भोजन गरीबी उन्मूलन नीति के अनिवार्य तत्व हैं, की व्यवस्था की ज़िम्मेदारी सरकार तथा सार्वजनिक क्षेत्र के पास ही रहे। इसके लिए उन कानूनों तथा नौकरशाही नियंत्रणों को वापस लेना होगा या उनमें संशोधन करना होगा जिनसे बाज़ार के संचालन में बाधा आती है और व्यक्तिगत पहल पर अंकुश लगता है। समाज के कुछ सम्पन्न वर्गों को रियायती सुविधाएँ उपलब्ध कराने की मौजूदा प्रणाली को समाप्त करना आवश्यक है और इसके लिए उन कर

सार्वजनिक एजेंसियों को बंद करना होगा या उनको सुधारना होगा जो इन सुविधाओं के निर्माण तथा वितरण का काम करती हैं। इन एजेंसियों को स्पष्ट निर्देश दिया जाए कि गरीबों के लिए काम करना उनकी एक मुख्य ज़िम्मेदारी होगी और इस काम के लिए नई एजेंसियां भी बनाई जाएं। उनको विशेष कोष निरंतर उपलब्ध कराया जाए। इन सुविधाओं की व्यवस्था करने वाली गैर-सरकारी एजेंसियों की गतिविधियों के नियंत्रण तथा मार्गदर्शन के लिए नियंत्रण व प्रोत्साहन की समुचित प्रणाली अपनानी चाहिए। इस संदर्भ में केवल सुविधाएँ देने वाली एजेंसी के रूप में सरकार की भूमिका पर पुनर्विचार होना चाहिए और केन्द्र, राज्य और नगर स्तर पर इसके कार्यों का फिर से निर्धारण किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न 4

1) क्या आवास के लिए कोई कारगर सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता है? (अपना उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सही के लिए "स" और गलत के लिए "ग" लिखिए :

   i) आवास तथा बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था को मानव संसाधनों में निवेश माना जाता है।.

   ii) आवास उपलब्ध कराने वाली सार्वजनिक एजेंसियों की दिलचस्पी आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर वर्गों के लिए परियोजना शुरू करने में अधिक होती है।

   iii) सार्वजनिक एजेंसियों के पास धन का अभाव है, इसलिए बुनियादी सुविधाओं की जिम्मेदारी निजी क्षेत्र को दी जानी चाहिए।

3) किसी शहर के विभाजन की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? (अपना उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) रिक्त स्थान भरिए :

   i) आवास, जल-पूर्ति, स्वच्छता, स्वास्थ्य और स्थानीय परिवहन जैसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराने का काम ..... (सार्वजनिक/निजी) क्षेत्र के पास ही रहना चाहिए।

   ii) निजी परिवहन प्रयोक्ताओं के लिए अच्छी सड़कें उपलब्ध कराने की प्रणाली को ..... (समाप्त करना/जारी रखना) उचित है।

19.10 सारांश

इस इकाई में हमने यह अध्ययन किया कि भारत में शहरीकरण की गति और स्वरूप को परिवहन किस हद तक प्रभावित कर रहा है। रेल, सड़क, वायु तथा जल आदि सभी परिवहन प्रणालियों का उपयोग यात्री तथा माल यातायात के लिये किया जाता है। पिछले कुछ समय में परिवहन की इन प्रणालियों के उपयोग में बहुत वृद्धि हुई है, किन्तु अब भी इस क्षेत्र में पुराने उपकरणों तथा वाहनों को बदलने की समस्या है, इसलिए इसके आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता

है। परिवहन क्षेत्र को सबसिडी देने, विशेषकर उन लोगों की कीमत पर, जो इसका इस्तेमाल नहीं करते अथवा उनमें इसे इस्तेमाल करने की आर्थिक क्षमता ही नहीं है, की नीति की आलोचना की गई है। इस कारण सार्वजनिक क्षेत्र के परिवहन प्रतिष्ठानों का सामाजिक मूल्यांकन करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। परिवहन एजेंसियों को सामाजिक दायित्व निभाते हुए अपनी वित्तीय स्थिति सुधारने के लिए परिवहन सुविधा का उपयोग करने वाले अलग-अलग वर्गों के लिए किराए और भाड़े की अलग-अलग दरें तय करनी चाहिए। यह भी कहा गया है कि विधायकों, संसद सदस्यों आदि की ओर से राजनीतिक तथा प्रशासनिक हस्तक्षेप बन्द होना चाहिए और जो सार्वजनिक प्रतिष्ठान कार्यक्षम नहीं पाये जायें, उनकी ओर गंभीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए।

विकासशील देशों के संदर्भ में शहरीकरण को प्रायः नागरिक समस्याएँ पैदा करने की प्रक्रिया समझा जाता है। उन नगरों में यह प्रक्रिया और जटिल है, जिनकी जनसंख्या में हाल के वर्षों में बाहर से लोगों के आने के कारण तेज़ी से वृद्धि हुई है। पिछले कुछ वर्षों में बस्तियों के स्वरूप में बदलाव आया है। पहले आम तौर पर गरीब लोग शहर के मध्य में तथा अमीर लोग भीड़-भाड़ से दूर आवासीय क्षेत्रों में रहा करते थे। किन्तु अब गरीब लोग शहर के बाहरी हिस्सों में रहते हैं, जहां मकान और ज़मीन अपेक्षाकृत सस्ती है क्योंकि शहर के अंदर भूमि के दाम आसमान छूने लगे हैं। बड़े शहरों में सार्वजनिक परिवहन की व्यवस्था करने वाली एजेंसियां भारी घाटे में चल रही हैं। जनसंख्या में वृद्धि तथा नगर-सीमाओं के विस्तार के कारण परिवहन प्रणाली पर दबाव और बढ़ गया है। इसलिए संपर्क तथा आने-जाने की समस्या, विशेषकर गरीबों के लिए, बहुत गंभीर हो गई है।

किन्तु ऐसे नगरों की बहुत बड़ी संख्या है जहाँ कोई भी सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था नहीं है। इन नगरों में लोग, विशेषकर मध्य वर्ग के लोग रिक्शा, टांगा, स्कूटर आदि का इस्तेमाल करते हैं, जिन्हें मध्यवर्ती सार्वजनिक परिवहन कहा गया है। ऐसा देखा गया है कि सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था संतोषजनक न होने के कारण बड़ी संख्या में गरीब लोगों को बहुत दूर-दूर तक साइकिल से अथवा पैदल जाना पड़ता है।

अनियोजित शहरी विकास के कारण आवास तथा बुनियादी समस्याओं की गंभीर समस्याएँ पैदा हो गई हैं और तंग व गंदी बस्तियों और झुग्गी-झोंपड़ी कालोनियों की बाढ़ आ गई है। मकानों की कमी के साथ-साथ जल सप्लाई तथा स्वच्छता की समस्याएँ हैं, जिनसे अस्वास्थ्यकर स्थितियां पैदा हो गई हैं। इसके परिणामस्वरूप देश में चिकित्सा व्यवस्था आज भी चिंता का विषय बनी हुई है। दुर्भाग्यवश शहरों में चिकित्सा सुविधाओं तक सब लोगों की पहुंच समान नहीं है।

समाज के समाजवादी स्वरूप में आवास तथा अन्य बुनियादी सुविधाओं की व्यवस्था शुरू में सीधे सरकारी प्रयासों से की गई। परन्तु जल्दी ही सरकार को लगा कि आवास तथा बुनियादी सुविधाओं की समस्या बहुत विशाल है। सरकार द्वारा दी जाने वाली सबसिडी तथा अन्य सुविधाओं के लाभ आम तौर पर शहरों के सम्पन्न लोगों के हिस्से में जाते हैं। इसलिए कुछ लोगों का विचार है कि इन सुविधाओं के निर्माण का काम विकेंद्रित निजी क्षेत्र को सौंप दिया जाए। गैर-सरकारी संगठनों, स्थानीय समुदायों आदि को महत्वपूर्ण भूमिका दी जा रही है। परन्तु यह परिदृश्य कि सरकार आवास और अनेक अन्य बुनियादी सुविधाओं के निर्माण तथा वितरण से अपना हाथ खींच ले, कुछ ज़्यादा ही आशावादी प्रतीत होता है। यह काम सरकार तथा सार्वजनिक क्षेत्र के पास ही रहना चाहिए और इस संबंध में नियंत्रण आदि की प्रणाली से संबंधित कानूनों में आवश्यक संशोधन किये जाने चाहिए। जिससे आम लोग इसमें सहभागी बन सकें।

19.11 शब्दावली

अंतर्प्रणाली समन्वय : कोयला, तेल आदि से चलने वाली सड़क, रेल, जल, वायु आदि परिवहन प्रणालियों में तालमेल तथा इन प्रणालियों का अधिकाधिक मिश्रण।

अंतर्प्रणाली मिश्र : परिवहन की ऐसी व्यवस्था, जिसमें विभिन्न प्रणालियों का अधिकाधिक मिश्रण रहता है।

यातायात अनुमान : आने वाले निश्चित समय में यात्री तथा माल यातायात की भावी आवश्यकताओं का आकलन।

19.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दत्त, रूद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् (1990) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस. चन्द एवं कंपनी, नई दिल्ली, अध्याय 42

मिश्र, एस. के. एवं वी. के. पुरी (1989) : *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अध्याय 43.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण (1990) : *भारतीय अर्थशास्त्र,* लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, अध्याय 47

Kundu, A. And P.V. Venkatakrishnan, 1988 : "Financing the Public Sector Road Transport in India – Alternate Strategies for Development", *How to Make STUs Financially Viable, Vol. II*

Misra, B.K., and M.K. Narain, (Eds). 1989 : Association of State Road Transport Undertaking, *Development Programmes for Urban Poor,* See particularly, Kundu, A., Urban Transport Consumer and the others", Indian Institute of Public Administration : New Delhi.

Ministry of Works and Housing 1983 : *National Master Plan – India International Drinking Water Supply and Sanitation Decade, 1981-90,* Government of India : New Delhi

National Building Organisation, 1982. *Housing Report,* Government of India : New Delhi.

National Institute of Urban Affairs, 1982. *A Study of the Financial Resources of Urban Local Bodies in India and the Level of Services Provided,* NIUA : New Delhi.

Planning Commission 1983 : *Task Forces on Housing and Urban Development,* Vol. 2., "Financing of Urban Development", Government of India : New Delhi.

Planning Commission 1985, *Seventh Five Year Plan,* Vol. II, Government of India : New Delhi (Chapters 8, 11 & 12).

19.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 19.1 देखिए।
2) क) ग, ख) स, ग) ग
3) ii)

बोध प्रश्न 2

1) भाग 19.3 देखिए।
2) क) स, ख) स, ग) ग, घ) ग
3) भाग 19.4.3 देखिए।
4) भाग 19.4.3 और 19.4.4 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 19.5.2 देखिए।
2) क) अधिक, ख) ग्रामीण, ग) अनुकूल

बोध प्रश्न 4

1) भाग 19.8.3 पढ़िए।
2) i) स, ii) ग, iii) ग
3) भाग 19.9.2 पढ़िए।
4) i) सार्वजनिक, ii) समाप्त करना

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का आर्थिक विकास

खंड
10

श्रमिकों की स्थिति और उनकी गुणवत्ता

इकाई 20

औद्योगिक श्रमिक 5

इकाई 21

ग्रामीण श्रमिक, रोज़गार और कार्यशील महिलाएँ 30

इकाई 22

श्रम की गुणवत्ता : शिक्षा और स्वास्थ्य 58

इकाई 20 औद्योगिक श्रमिक

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 निर्माण और रोज़गार
  20.2.1 संगठित उद्योग में रोज़गार
  20.2.2 उद्योग में रोज़गार/बेरोज़गारी : भारतीय अनुभव
  20.2.3 रोज़गार तथा उत्पादन में वृद्धि
20.3 उत्पादकता
  20.3.1 प्रारंभिक उत्पादकता अध्ययन
  20.3.2 हाल के अध्ययन
  20.3.3 उत्पादकता सुधारने के लिए आवश्यक तत्व
20.4 वेतन का स्वरूप
  20.4.1 श्रमिकों का हिस्सा
  20.4.2 वास्तविक मज़दूरी
  20.4.3 गतिहीन स्वरूप : मज़दूरी और कीमतें
20.5 मज़दूर संगठन और मज़दूरी
  20.5.1 मज़दूर संगठन और तुलनात्मक हिस्सा
  20.5.2 मज़दूरी तथा मज़दूरी का हिस्सा : विविध पहलू
20.6 औद्योगिक संबंध—एक परिचय
  20.6.1 औद्योगिक संबंध—पृष्ठभूमि
  20.6.2 स्वातंत्र्योत्तर काल में औद्योगिक संबंध
  20.6.3 भारत में मज़दूर संघ की गतिविधियों की कुछ समस्याएँ
20.7 श्रम कानून
  20.7.1 पृष्ठभूमि
  20.7.2 सुरक्षात्मक तथा रोज़गार संबंधी कानून
  20.7.3 श्रमिकों की भागीदारी
20.8 शहरी असंगठित श्रमिक
  20.8.1 असंगठित श्रमिक कौन है?
  20.8.2 असंगठित श्रमिकों से संबंधित कानून
  20.8.3 शहरी असंगठित श्रमिकों के घटक
  20.8.4 शहरी असंगठित क्षेत्र में महिलाएँ एवं बच्चे
20.9 सारांश
20.10 शब्दावली
20.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद ये बातें आपकी समझ में आ जाएंगी:

- औद्योगिक क्षेत्र में रोज़गार की पूरी स्थिति;
- रोज़गार तथा उत्पादन की समानांतर अथवा अन्य प्रकार की गति;
- संगठित क्षेत्र में समय बीतने के साथ उत्पादकता और वास्तविक वेतन की प्रवृत्तियाँ;
- मज़दूर संगठनों तथा कानूनों की भूमिका; और
- शहरी असंगठित मज़दूरों का स्तर।

20.1 प्रस्तावना

सैद्धांतिक दृष्टि से बड़े, छोटे और कुटीर उद्योगों में काम करने वाले सभी मज़दूरों को औद्योगिक श्रमिक माना जाता है। परन्तु भारत में यह शब्दावली केवल उन श्रमिकों के अर्थ में प्रयोग की जाती है, जो संगठित उद्योगों अर्थात् उन औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करते हैं जिनपर फैक्ट्री एक्ट लागू होता है। कुटीर उद्योगों में मज़दूरी करने वाले इस वर्ग में शामिल नहीं हैं। चूंकि 19वीं शताब्दी के मध्य से हमारे कारखानों की संख्या में वृद्धि बहुत धीमी रही है इसलिए औद्योगिक श्रमिकों की संख्या भी बहुत धीमी गति से बढ़ी है।

1950 से 1979 के बीच कारखानों में अनुमानित औसतन दैनिक रोज़गार 30 लाख से बढ़कर 68 लाख हो गया। परन्तु यह वृद्धि कुल कामगारों की संख्या का केवल 2.7 प्रतिशत या उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों की कुल संख्या का लगभग 20 प्रतिशत है। वास्तव में यह बहुत कम है। परन्तु संगठित होने और राष्ट्रीय आय में अपने योगदान के कारण औद्योगिक श्रमिकों का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। यह बात एक ओर भारत में उद्योगों के बड़ी तेजी से बदलते हुए स्वरूप और दूसरी ओर इस तथ्य से सिद्ध होती है कि निबल घरेलू उत्पाद में द्वितीयक क्षेत्र का योगदान बहुत बढ़ है। यह सब हम खंड 7 में पढ़ चुके हैं।

इन कारकों के फलस्वरूप तीव्र शहरीकरण औद्योगिक समुदाय के उदय, उद्योगों एवं श्रमिकों के ढाँचे के जटिल होने, कामगारों की संख्या में बढ़ोत्तरी, मज़दूर संगठनों के उदय और प्रबंध की वैज्ञानिक तकनीकें लागू करने जैसे नए पहलू उभरे। इन परिवर्तनों के अलावा समाज में औद्योगिक मज़दूर के नाम से एक नया आर्थिक समुदाय अस्तित्व में आया है।

औद्योगीकरण से मज़दूरों में समझदारी बढ़ी और उत्पादकता के स्तर में वृद्धि के बल पर उन्होंने राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान किया। इसलिए राष्ट्रीय आर्थिक ढाँचे में उनका महत्वपूर्ण स्थान बन गया, किन्तु साथ ही प्रबंध में कुछ ऐसी कमियाँ भी उभरीं, जिनके कारण मज़दूरों को नुकसान उठाना पड़ा। इनमें मुख्य हैं: बेरोज़गारी और अल्प-रोज़गारी, बड़ी संख्या में औरतों तथा बच्चों की बेरोज़गारी, नौकरी की असुरक्षा, कम वास्तविक वेतन, काम की अस्वास्थ्यकर तथा असुरक्षित परिस्थितियाँ, बीमारियाँ, कारखानों की खराब हालत, दुर्घटनाओं में जान जाने तथा अंग-भंग होने के खतरे और सामाजिक तथा नैतिक स्तर में गिरावट।

मज़दूर चूँकि पूँजीवादी मालिकों की तुलना में सौदेबाजी में कमज़ोर थे, इसलिए इन समस्याओं को अपने बल-बूते पर हल कर पाना उनके बस में नहीं था। किन्तु गलत तौर-तरीकों को लम्बे समय तक चलने देना भी उचित नहीं था, क्योंकि इससे श्रमिकों के काम करने की इच्छा और क्षमता पर बुरा असर पड़ सकता था और इससे औद्योगीकरण की गति में बाधा आती है। अतः इन विकृतियों को ठीक करने का काम सरकार को अपने हाथ में लेना पड़ा। श्रम-नीति सरकार की अर्थनीति का अभिन्न अंग बन गई।

इस इकाई में हम मज़दूरों के रोज़गार, उत्पादकता और मज़दूरी, सामूहिक सौदेबाजी तथा भारतीय उद्योगों में औद्योगिक संबंधों जैसे मामलों पर विचार करेंगे। हम इन समस्याओं का विश्लेषण करते हुए यह भी बताएंगे कि इस समय इनका क्या स्वरूप है और भारतीय अर्थव्यवस्था के बदलते हुए घरेलू ढाँचे के अनुरूप इनमें हाल के वर्षों में क्या कुछ परिवर्तन आया है। सबसे पहले हम संगठित क्षेत्र के औद्योगिक श्रमिकों का विश्लेषण करेंगे और बाद में शहरी असंगठित श्रमिकों की समस्याओं पर चर्चा की जाएगी। विशेष रूप से उद्योग में उत्पादन तथा रोज़गार और उत्पादकता तथा वेतन के बीच संबंधों, वेतन पर सामूहिक सौदेबाज़ी के प्रभाव और उसकी सीमा तथा बेहतर कार्मिक संबंधों और कार्मिक नीतियों एवं कार्य-पद्धतियों के लिए उन औद्योगिक संबंधों के बारे में उपलब्ध दृष्टिकोणों पर ध्यान केन्द्रित करेंगे, जिनसे श्रमिकों का मनोबल मज़बूत बने तथा उनके रहन-सहन में सुधार हो। ये सब अपने आप में उद्देश्य होते हुए भी उत्पादकता बढ़ाने में सहायक हैं। अंत में, हम शहरी असंगठित क्षेत्र की समस्याओं का भी सिंहावलोकन करेंगे।

20.2 निर्माण और रोज़गार

सामान्य संगठित औद्योगिक क्षेत्र (खनन तथा भवन-निर्माण सहित) में निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान है और उद्योगों में कुल रोज़गार का दो-तिहाई भाग इसी क्षेत्र में है। निर्माण क्षेत्र में ी रोज़गार के रूपों में प्रमुख स्थान वेतन-मज़दूरी का है। किन्तु इसमें स्व-रोज़गार और श्रमिक परिवारों के हिस्से के महत्व को भी नहीं नकारा जा सकता। भारत में 1971 .. कुल ग्रामीण निर्माण रोज़गार में 50 प्रतिशत और शहरी निर्माण रोज़गार में 20 प्रतिशत भाग परिवार-आधारित उद्योगों का था। ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध निर्माण रोज़गार का कुल राष्ट्रीय रोज़गार में हिस्सा आधे से अधिक है। यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं है। विकासशील देशों के बारे में उपलब्ध आँकड़ों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, ऐसा अनुमान है कि ग्रामीण क्षेत्रों में निर्माण रोज़गार सीयरा लियोने में 86 प्रतिशत, बंगलादेश में 70 प्रतिशत, मलेशिया में 63 प्रतिशत, पाकिस्तान में 50 प्रतिशत, श्रीलंका में 73 प्रतिशत और इंडोनेशिया में 87 प्रतिशत है। कुछ ग्रामीण-निर्माण सरल हस्तशिल्प प्रकार का है, जैसे कि स्थानीय ज़रूरत के बर्तनों, टोकरियों और कच्ची ईंटों का निर्माण करना। इस प्रकार की गतिविधियाँ गाँवों तक सीमित होती हैं, क्योंकि इनके ग्राहक बहुत गरीब होते हैं जो बड़े-बड़े कारखानों में बनी बढ़िया किस्म की ऐसी वस्तुएँ खरीदने में असमर्थ होते हैं। कुछ अन्य गतिविधियाँ गाँवों में इसलिए चलती हैं क्योंकि उनके लिए कच्चा माल वहीं मिलता है। उदाहरण के लिए, खाद्य-संसाधन, गेहूँ की पिसाई और ईंटों के भट्टे। इन गतिविधियों में तथाकथित कृषि आधारित उद्योग भी शामिल हैं, जो इस आधार पर चलते हैं कि कृषि उत्पादन किस तरह का और कितना होता है। अन्य प्रकार की गतिविधियाँ हथकरघा तथा इसी तरह के उत्पादों की हैं जो बिचौलियों के माध्यम से देश और विदेशों में बिक्री के लिए तैयार किए जाते हैं।

20.2.1 संगठित उद्योग में रोज़गार

किन्तु अधिकतर विकासशील देशों में औद्योगीकरण के अनुभव ने यह बताया है कि उद्योग रोज़गार पैदा करने का कोई मुख्य साधन नहीं है। ऐसा नहीं है कि निर्माण गतिविधियों से रोज़गार कम पैदा होता हो, अपितु (क) बिना सूझ-बूझ के तैयार की गई निर्माण नीति पर चलने से अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में रोज़गार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, और (ख) यदि किसी आर्थिक क्षेत्र का प्रबंध ठीक न हो तो भी निर्माण रोज़गार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए परिवहन की अपर्याप्त व्यवस्था और खाद्यान्न की कमी।

निर्माण क्षेत्र का एक और प्रमुख पहलू यह है कि इसमें रोज़गार की प्रमुखता होने के बावजूद श्रमिकों के वेतन तथा आय के स्तरों में बहुत भिन्नता होती है। श्रमजीवी कामगारों तथा सफ़ेदपोश कर्मचारियों के वेतन में व्यापक अंतर अनेक विकासशील देशों में देखा जा सकता है। भारत ऐसा ही एक देश है इसके अलावा, निर्माण प्रक्रिया पूँजी पर आधारित है। इसलिए कुल मूल्य में वेतन का हिस्सा इतना रहता है कि उसका वेतन स्तरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए खाद्य संसाधन तथा कपड़ा उद्योगों में वेतन आमतौर पर रासायनिक एवं पेट्रोलियम उद्योगों या लोहा और इस्पात उद्योगों की तुलना में काफी कम होता है।

औद्योगीकरण में तेजी आने के साथ आंतरिक संतुलन और निर्माण क्षेत्र के ढाँचे में परिवर्तन आता है। कई देशों के उदाहरणों से पता चलता है कि उत्पादन वृद्धि की अधिकतम ऊँची दरें पूंजीगत और स्थायी उपभोक्ता वस्तुओं तथा न्यूनतम दरें अस्थायी उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में होती हैं। निस्संदेह ये वृद्धि दरें बाज़ार की माँग के अनुरूप घटती-बढ़ती हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि गरीबों की उपभोक्ता वस्तुओं की इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। वृद्धि की ये ऊँची दरें अधिक पूंजी निवेश तथा उत्पादकता में वृद्धि की ऊँची दर के कारण रहती हैं और इस प्रकार रोज़गार पर इसका प्रभाव काफी हद तक निष्फल हो जाता है तथा तेज गति से रोज़गार के प्रसार की बहुत कम गुंजाइश बचती है। निस्संदेह औद्योगिक ढाँचे का झुकाव कम उत्पादकता और अधिक श्रम पर आधारित उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माण की ओर हो सकता है। किन्तु उस हालत में या तो कीमतें ऊँची जाएंगी या फिर मज़दूरों का वेतन कम रखना होगा।

विश्व बैंक के आँकड़ों के अनुसार उद्योगों में रोज़गार में वृद्धि (निर्माण रोज़गार में भी) 1960-80 के दौरान कम आय वाले विकासशील देशों में लगभग 4.8 प्रतिशत प्रति वर्ष

तथा मध्य आय वाले देशों में इससे कुछ कम 4.1 प्रतिशत वार्षिक रही। परन्तु भारत में यह वृद्धि केवल 2.5 प्रतिशत ही रही। दूसरी ओर, औद्योगिक उत्पादन में दूसरे वर्ग के देशों में लगभग 7 प्रतिशत वार्षिक तथा पहले वर्ग के देशों में 4.3 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई। अधिक गरीब देशों में रोज़गार वृद्धि की ऊँची दर का कारण यह था कि वहाँ कम उत्पादकता वाले उपभोक्ता वस्तु उद्योगों का विस्तार हुआ।

20.2.2 उद्योग में रोज़गार/बेरोजगारी : भारतीय अनुभव

एल.के. देशपाण्डे के अनुसार, भारत में सामान्यतः रोज़गार की स्थिति का प्रभावकारी सार संभवतः निम्नलिखित सिद्धांतों के दायरे से बाहर नहीं जा पाएगा। भारत में रोज़गार में वृद्धि कामगारों की संख्या में वृद्धि के अनुरूप नहीं हुई और अल्प-शिक्षित लोगों की तुलना में शिक्षित लोग इस असंतुलन के अधिक शिकार हुए हैं। अधिक खराब स्थिति यह है कि एक के बाद एक योजना में यह असंतुलन घटने की बजाय बढ़ता ही गया है। असंतुलन में वृद्धि का सबसे बुरा प्रभाव रोज़गार लायक बनने वाले 15 से 29 वर्ष की आयु-वर्ग के नए लोगों पर पड़ा है और इनमें से भी महिलाएँ अधिक प्रभावित हुई हैं।

यह मानते हुए कि संगठित निर्माण क्षेत्र शहरों में केन्द्रित है, भारतीय अर्थव्यवस्था के संबंध में ऊपर बताई गई बातें केवल ग्रामीण रोज़गार के मामले में ही नहीं, बल्कि शहरी रोज़गार के मामले में भी समान रूप से सही हैं।

भारत में, यों तो रोज़गार के चार आयाम—समय, उत्पादन, आय और प्रतिष्ठा—स्वीकार किए गए हैं, किन्तु अब केवल समय की कसौटी बची हुई है। इस कसौटी ने श्रमिकों के कम उपयोग के एक नहीं बल्कि तीन मापदंडों का काम किया है। ये सब मिलकर वास्तविकता की अत्यंत व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इनमें से एक है "सामान्य स्तर" मापदंड जो किसी वर्ष की सन्दर्भ अवधि पर आधारित होता है, जिससे पिछली बेरोज़गारी का अनुमान लगाया जाता है। दूसरा है "साप्ताहिक स्तर" मापदंड। इससे यह ज्ञात होता है कि सन्दर्भ सप्ताह में कितने लोग बेरोज़गार हैं। तीसरा मापदंड है "दैनिक स्तर"। इससे किसी एक दिन में बेरोज़गारों की संख्या मालूम हो जाती है। अंतिम उपाय सर्वाधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें पहले दो मापदंड भी सम्मिलित है। रोज़गार के बारे में सर्वेक्षण का काम राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन ने 1957 में प्रारंभ किया। इस संगठन ने कई सन्दर्भ अवधियों के आधार पर सर्वेक्षण करने के प्रयोग किए, किन्तु इनसे किसी प्रवृत्ति की कभी पहचान नहीं की जा सकती। राजकृष्ण (1984) ने पहली बार ऐसा करने का साहस किया। उन्होंने सर्वेक्षण के विभिन्न चक्रों के परिणामों को एक साथ जोड़ा। इन आँकड़ों से यह तथ्य सामने आया कि 1961-1978 के दौरान कुल श्रमिकों के प्रतिशत के रूप में बेरोज़गारी के "सामान्य स्तर" में वृद्धि हुई, किन्तु साप्ताहिक और दैनिक स्तर के मापदंडों के हिसाब से बेरोज़गारी में कमी आई। किन्तु सभी मापदंडों ने बेरोज़गार लोगों की कुल संख्या में वृद्धि की ओर संकेत किया। इन आँकड़ों से यह भी मालूम हुआ कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में बेरोज़गारी अधिक है।

20.2.3 रोज़गार तथा उत्पादन में वृद्धि

किन्तु इसका एक दिलचस्प पहलू यह है, कि जब इस पूरे चित्र को ग्रामीण तथा शहरी आंकड़ों में आँका गया तो तस्वीर का रूप कुछ भिन्न हो गया। इससे यह तथ्य सामने आया कि सभी मापदंडों के अनुसार शहरी क्षेत्र में बेरोज़गारी में वृद्धि हुई।

हम पहले ही यह जान चुके हैं कि 1960-1980 के दौरान भारत में औद्योगिक रोज़गार में 2.5 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई, लेकिन इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर इससे अधिक रही। 1980 के दशक में भी यह वृद्धि दर लगभग 2 प्रतिशत वार्षिक रही। परन्तु आठवीं पंचवर्षीय योजना (1990-95) के दृष्टिकोण पत्र में रोज़गार में लगभग 3 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। इसलिए बेरोज़गारी की जिस मात्रा की ऊपर चर्चा की गई है, वह आश्चर्यजनक नहीं है। भारत में रोज़गार-वृद्धि की इस धीमी दर के कारणों को समझना कठिन नहीं है। न केवल ग्रामीण रोज़गार बल्कि शहरी क्षेत्र के मामले में भी इन कारणों को विकास की कार्यनीति एवं स्वरूप में ढूँढ़ा जा सकता है।

अब तक आप जान चुके हैं कि जब भारत में विकास कार्यक्रम शुरू किए गए तो पूँजीगत उपकरण की कमी मुख्य समस्या थी। महालनोबिस मॉडल (दूसरी पंचवर्षीय योजना) ने

यथासंभव कम से कम समय में इसकी उपलब्धता बढ़ाने के लिए यह प्रस्ताव किया कि न केवल पूँजी निवेश की दर बढ़ाई जाए, बल्कि बुनियादी तथा पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों में पूँजी निवेश का हिस्सा भी बढ़ाया जाए। उसके बाद की सभी पंचवर्षीय योजनाओं में इस सुझाव पर अमल किया गया। हजारी और कृष्णमूर्ति (1970) ने इस कार्यनीति में अंतर्निहित उत्पादन तथा रोज़गार के बीच विरोध की ओर इशारा किया। इस विरोध को स्वीकार किया गया और विभिन्न योजनाओं के माध्यम से रोज़गार को बढ़ावा देने के प्रयास किए गए। दूसरी पंचवर्षीय योजना में उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग पूरी करने के दायित्व श्रम-आधारित लघु उद्योगों तथा खादी एवं ग्रामोद्योग को सौंपा गया। जब यह देखा गया कि कामगारों की संख्या में वृद्धि के अनुरूप रोज़गार के अवसरों में बढ़ोतरी नहीं हो रही तो पहले 1960-69 ओर फिर 1971-74 के दौरान सीधे रोजगार जुटाने की योजनाएँ चलाई गई।

किन्तु प्रत्येक योजना के गणितीय मॉडल उत्तरोत्तर अधिक आधुनिक बनते चले जाने के बावजूद रोज़गार जुटाने की दिशा में कोई बुनियादी परिवर्तन छठी पंचवर्षीय योजना से पहले तक नहीं आ पाया। यदि जनता सरकार द्वारा बनाई गई छठी पंचवर्षीय योजना (1978-83) अपनी अवधि पूरी करती तो संभवतः कोई परिवर्तन दिखाई देता। यदि पंचवर्षीय योजनाओं के रोज़गार दृष्टिकोण की परिभाषा विकास की उन वैकल्पिक दरों और प्रणालियों में से चयन की प्रक्रिया के रूप में की जाए, जिनसे रोज़गार के पूर्व-निर्धारित सत्य प्राप्त किए जाते हैं तो जनता योजना (1978-83) और परिप्रेक्ष्य योजना (1980-2001) के मूलभूत आयोजना प्रयास इस परिभाषा के काफी निकट ठहरते हैं। पहले केवल बाज़ार की अनुरूपता प्राप्त करने की बात दोहराई जाती थी, किन्तु रोज़गार के पूर्व-निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने की बात नहीं होती थी। इस प्रकार की रोज़गारोन्मुखी योजना प्रक्रिया के लिए श्रम गुणांकों से संबंधित विश्वसनीय आँकड़ों की आवश्यकता थी। इस दिशा में अनेक प्रयासों के बावजूद भारत में रोज़गारोन्मुखी योजना प्रक्रिया के लिए श्रम गुणांक आज तक उपलब्ध नहीं हो पाए हैं।

जनता योजना (1978-83) में अनुमान लगाया गया कि बेरोज़गारों की सूची में जो नए लोग जुड़ते हैं, उनमें से केवल 10 प्रतिशत को संगठित क्षेत्र में रोज़गार मिल पाता है। इस बात के भी प्रमाण मौजूद हैं कि 1957-81 के दौरान संगठित क्षेत्र में पूँजी-श्रमिक अनुपात में काफी वृद्धि हुई। जब हम श्रमिकों के इस्तेमाल में कमी के इन प्रमाणों को बेरोज़गारी की मात्रा में वृद्धि के साथ मिलकर देखते हैं तो एक ही निष्कर्ष निकलता है कि संगठित क्षेत्र में रोज़गार वृद्धि की दर बहुत धीमी रही है। इनमें से कुछ पहलुओं की चर्चा खंड 4 और खंड 7 में पहले ही की जा चुकी है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण पत्र पर वर्तमान विचार-विमर्श का उद्देश्य हमारी योजना प्रक्रिया को रोज़गारोन्मुखी बनाना है, किन्तु यह उत्पादन में वृद्धि से एकदम मुक्त नहीं है, क्योंकि रोज़गार तभी स्थायी बन सकता है, जब वह उत्पादक भी हो।

20.3 उत्पादकता

हम जानते हैं कि पिछले 50 वर्षों में अर्थात् दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से मनुष्य की उल्लेखनीय प्रगति, विशेषकर भौतिक उत्पादन में वृद्धि, पूरी तरह उत्पादन की तकनीक में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से बढ़ाई गई उत्पादकता पर आधारित है।

उत्पादकता में वृद्धि के मूलतः दो पहलू हैं: (क) नई प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल, जिससे उत्पादन का आधार व्यापक बनता है और उससे पहले जितने संसाधनों से अधिक उत्पादन होता है इसे ही तकनीकी प्रगति कहा जाता है। (ख) कार्यक्षमता में सुधार, जिससे पहले जैसे तकनीकी ज्ञान से ही उत्पादन बढ़ जाता है। इसमें उत्पादन में वृद्धि बेहतर प्रबंध प्रक्रियाओं, बेहतर औद्योगिक संबंधों, काम करते हुए सीखने की प्रक्रिया में अनुभवों से लाभ उठाने और बाहरी दबावों का अनुमान लगाने तथा उन्हें झेलने की सुधरी हुई विधियाँ अपनाकर ही की जाती है।

अब तक आप जान चुके हैं कि यदि किसी अर्थव्यवस्था, क्षेत्र या कम्पनी के विकास की क्षमताओं का पूरा उपयोग करना हो तो पूँजी निवेश की दर बढ़ाना आवश्यक है। परन्तु

पूँजी निवेश में वृद्धि की दर की भी एक सीमा होती है। यह सीमा विकसित देशों के मुकाबले विकासशील देशों में सामान्यतः कम है। अकेले इसी कारण से ही यदि हम वृद्धि दर बढ़ाना चाहते हैं तो हमें अपने संसाधनों की कार्यक्षमता एवं उत्पादकता बढ़ानी होगी।

जैसा कि ऊपर हमने देखा है, उत्पादकता में वृद्धि अनेक तकनीकी, राजनीतिक, संस्थागत, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक पहलुओं की जटिल क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है।

पहले उत्पादकता वृद्धि के विश्लेषण के लिए श्रम उत्पादकता को सबसे आम मापदंड के रूप में इस्तेमाल किया जाता था, जो श्रम के प्रति इकाई उत्पादन पर आधारित थी। इसके साथ-साथ पूँजी तथा सामग्री उत्पादकता जैसी अन्य आंशिक उत्पादकताओं की व्याख्या और मूल्यांकन किया जाता था। परन्तु अब आंशिक उत्पादकता पैमाने की बजाय मिश्रित मापदंड पर बल दिया जाने लगा है, जो सभी परम्परागत आदानों से एक साथ होने वाले उत्पादन पर आधारित है। उत्पादकता के मूल्यांकन की इस विधि से एक नया सिद्धांत विकसित हुआ है, जिसे 'समस्त कारक उत्पादकता' कहा जाता है।

'समस्त कारक उत्पादकता' का सिद्धांत सबसे पहले टिन्बर्गन ने 1942 में लागू किया। उन्होंने इसकी परिभाषा वास्तविक उत्पादन और सभी आदानों के कुल वज़न के बीच अनुपात के रूप में की। जार्ज स्टिग्लर ने 1947 में इस सिद्धांत का स्वतंत्र रूप से विकास किया और सुझाव दिया कि वास्तविक समस्त कारक उत्पादकता का मापदंड आदानों को उनके सीमांत उत्पादों से मिलाकर प्राप्त किया जा सकता है।

समस्त कारक उत्पादकता के अनेक सूचक उपलब्ध हैं। ये हैं: केंड्रिक सूचकाँक, डोमर सूचकाँक, सोलो सूचकाँक और डिवीसिया सूचकाँक। उत्पादकता सूचकाँक के ये मापदंड अंतर्निहित उत्पादन क्रियाओं के प्रति धारणाओं में अंतर के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न हैं और ये मापदंड इन्हीं धारणाओं के माध्यम से उत्पादकता सूचकाँक प्राप्त करते हैं।

20.3.1 प्रारंभिक उत्पादकता अध्ययन

ऐसे अनेक अध्ययन हैं, जिनसे भारतीय निर्माण उद्योग में उत्पादकता की वृद्धि पर प्रकाश पड़ता है। प्रारंभ के कुछ अध्ययन मुख्य रूप से आंशिक उत्पादकताओं के मापदंड पर केन्द्रित थे, जबकि कुछ में समस्त कारक उत्पादकता को भी आँका गया है। इन सभी अध्ययनों के लिए आँकड़ें निर्माण उद्योग गणना (1946-58) और वार्षिक उद्योग सर्वेक्षण (1959 के बाद) से लिए गए हैं। इन सभी अध्ययनों में श्रमिक उत्पादकता तथा पूँजी सघनता में वृद्धि के संकेत मिले हैं। परन्तु पूँजी उत्पादकता और समस्त कारक उत्पादकता में क्या रुख रहा, इस संबंध में व्यापक सहमति नहीं है। 1946-64 के दौरान हुए सर्वेक्षणों में सामान्यतया परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ सामने आईं या कोई भी प्रवृत्ति सामने नहीं आई। इसका फल यह हुआ कि वास्तविक उत्पादन और वास्तविक पूँजी आदान के बीच अनुपात के रूप में आँकी गई पूँजी उत्पादकता तथा केन्ड्रिक, डोमर या सोलो सूचकाँक के आधार पर आँकी गई समस्त कारक उत्पादकता के स्वरूप एवं दिशा में परिवर्तन के संबंध में कोई भी ठोस निष्कर्ष नहीं निकाला जा सका। इन अध्ययनों में पूर्ण घटक उत्पादकता तथा पूँजी उत्पादकता में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकालने का मुख्य कारण है पूँजी अनुमान के लिए अपनाई गई प्रक्रिया। पूँजी विशिष्ट उद्योगों के स्तर पर भी उत्पादकता वृद्धि के मामले में ऐसे ही परिणाम सामने आए हैं।

20.3.2 हाल के अध्ययन

हाल के वर्षों में श्रमिक उत्पादकता में वृद्धि से संबंधित अनेक अध्ययन हुए हैं, किन्तु ऐसे अध्ययन बहुत कम हुए हैं, जिनमें समस्त कारक उत्पादकता का मूल्यांकन किया गया हो। 1980 के दशक में उत्पादकता वृद्धि के बारे में किए गए तीन अध्ययन उपलब्ध हैं। पिछले अध्ययनों तथा इन अध्ययनों में उल्लेखनीय अंतर यह है कि इनमें पूँजी मूल्यांकन प्रक्रियाओं को सुधारने का प्रयास किया गया है। अब हम उन अध्ययनों की उनके ठोस निष्कर्षों पर ध्यान देते हुए चर्चा करेंगे।

गोल्दार का विश्लेषण 1951 से 1979 तक की अवधि के बारे में है। यह अवधि मोटे तौर पर पहली से पाँचवी पंचवर्षीय योजना तक की है। गोल्दार ने अपने अध्ययन की अवधि को दो भागों—1951 से 1965 और 1959 से 1979—में विभाजन किया है। 1951-65 के

दौरान समस्त कारक उत्पादकता में वृद्धि 1.3 प्रतिशत वार्षिक थी और मूल्य-वृद्धि में उसका योगदान लगभग 21 प्रतिशत था। टिन्बर्गन मापदंड के अनुसार समस्त कारक उत्पादकता में वृद्धि 2.4 प्रतिशत है। किन्तु 1956-65 में उत्पादकता का स्तर 1951-56 के स्तर से घटिया रहा, जिससे यह सिद्ध हुआ कि औद्योगीकरण बढ़ने से कुल मिलाकर औद्योगिक क्षेत्र की उत्पादक कार्यक्षमता में कमी आई। विभिन्न उद्योगों में उत्पादकता वृद्धि में व्यापक भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं। धातु तथा रसायन उद्योगों में, जिनका मूल्य-वृद्धि के अनुसार कुल विनिर्माण में लगभग 40 प्रतिशत हिस्सा है, उत्पादकता घट गई जबकि इंजीनियरी उद्योग की स्थिति संतोषजनक रही। उनके दूसरे अनुमान 1959 से 1979 तक की अवधि के संबंध में है। इनका विश्लेषण तीन उप-अवधियों—1959-65, 1965-70 और 1970-79—के लिए किया गया। पहली दो उप-अवधियों के लिए समस्त कारक उत्पादकता में वृद्धि संतोषजनक थी, किन्तु उत्पादन वृद्धि में उसका योगदान बहुत प्रभावशाली नहीं था। परन्तु तीसरी उप-अवधि में उत्पादकता 1960 के दशक की तुलना में बेहतर रही। परन्तु ये निष्कर्ष ब्रह्मानन्द और अहलुवालिया के निष्कर्षों से भिन्न हैं।

अहलुवालिया (1985) ने समस्त कारक उत्पादकता के सोलो तथा डिवीसिया मापदंडों के रूप में 1959-80 अवधि तथा 1959-65 और 1966-80 की दो उप-अवधियों के लिए समुच्चय के विभिन्न स्तरों पर परिवर्तन का अनुमान लगाया। अहलुवालिया ने कुल निर्माण उद्योग तथा उद्योगों में उपयोग-आधारित एवं आदान-आधारित वर्गों के लिए समस्त कारक उत्पादकता में परिवर्तन के चार वैकल्पिक अनुमान तैयार किए हैं। इनमें एक सोलो मापदंड तथा तीन डिवीसिया मापदंड से संबंधित हैं। इन परिणामों से ज्ञात होता है कि समस्त उद्योग स्तर पर 1960 तथा 1970 के दशकों के दौरान कुल मिलाकर समस्त कारक उत्पादकता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि गोल्दार और अहलुवालिया के अध्ययनों के परिणामों को भिन्नता के कारण समझ पाना कठिन है, किन्तु इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि दक्षिण कोरिया, तुर्की और जापान की क्रमशः 5.7, 2.0 और 3.1 प्रतिशत वार्षिक उत्पादकता वृद्धि को देखते हुए हमारे यहाँ संगठित उद्योग में उत्पादकता की स्थिति चिंतनीय है।

ब्रह्मानंद ने आंशिक तथा पूर्ण दोनों ही उत्पादकता अनुपात तैयार किए हैं। ये अनुपात 1951-61, 1961-71, 1971-81 तथा 1951-81 अवधियों के लिए हैं। उनके ये अनुमान खनन तथा खदान, पंजीकृत निर्माण, गैर-पंजीकृत निर्माण और बिजली, गैस एवं जल के बारे में हैं। उनके अनुमानों के अनुसार 1971-81 में उत्पादकता की स्थिति सभी चारों उप-क्षेत्रों में पिछली दो दशकों के मुकाबले बदतर रही। 1971-81 में बिजली को छोड़कर अन्य सभी उप-क्षेत्रों में उत्पादकता में काफी कमी देखी गई।

यदि हम सभी उपलब्ध अनुमानों तथा अन्य संबंधित सूचनाओं पर ध्यान दें तो यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि संगठित निर्माण उद्योग में समस्त कारक उत्पादकता वृद्धि यदि नकारात्मक न भी हो तो काफी धीमी अवश्य है और इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि में उसका योगदान बहुत ही कम रहा है। परन्तु यहाँ हम आपको यह भी बता दें कि उत्पादकता का मूल्यांकन, विशेषकर पूँजी और सूचकाँक तैयार करने से संबंधित मसले, इतनी जटिल सांख्यिकीय समस्या है कि इन निष्कर्षों पर ज़्यादा निर्भर रहना कठिन है। परन्तु हमारे देश की नीति-निर्धारण प्रक्रिया से एक दशक से अधिक समय तक निकटता से जुड़े रहे डॉ. मनमोहन सिंह के इस कथन से सहमत होना कठिन नहीं है कि औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादकता वृद्धि कई प्रकार से कृषि क्षेत्र की तुलना में काफी चिंताजनक है।

20.3.3 उत्पादकता सुधारने के लिए आवश्यक तत्व

डॉ. मनमोहन सिंह ने 'उत्पादकता वृद्धि और सामाजिक परिवर्तन' पर अपने निबंध में निम्नलिखित तत्व गिनाए हैं जो उत्पादकता बढ़ाने में सहायक हैं:

क) योजना तैयार करने तथा उसे लागू करने, विशेषकर गैर-व्यापारिक वस्तुओं और सेवाओं के बुनियादी ढाँचे की योजना प्रक्रिया में सुधार करना;

ख) अर्थव्यवस्था के व्यापक प्रबंध को बेहतर बनाना, विशेषकर मुद्रास्फीति पर काबू पाना तथा भुगतान संतुलन को सुव्यवस्थित बनाने पर ध्यान देना;

ग) कृषि एवं उद्योग—दोनों क्षेत्रों में तकनीकी प्रगति में तेजी लाने के लिए नीतियों को नया रूप देना;

घ) औद्योगिक नीतियों में सुधार;

च) प्रबंध प्रक्रियाओं में सुधार;

छ) औद्योगिक संबंधों को और सुनियोजित ढंग से संचालित करना;

ज) शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं को सुचारू बनाना; और

झ) सम्पन्न-वर्ग की जीवन-शैली और मूल्य-प्रणाली पर पुनर्विचार करना।

ऊपर बताए गए सभी पहलू उत्पादकता में सुधार लाने में अपनी भूमिका निभाते हैं। औद्योगिक संबंधों की भूमिका तो और भी महत्वपूर्ण है। परन्तु औद्योगिक संबंधों की भूमिका का विवेचन करने से पूर्व हम औद्योगिक श्रमिकों के एक और महत्वपूर्ण तत्व पर विचार करेंगे यह है मूल्य वृद्धि तथा उत्पादकता में वृद्धि के फलस्वरूप वास्तविक वेतन वृद्धि का स्तर।

बोध प्रश्न 1

1) सही (स) या गलत (ग) लिखिए :

   क) भारत में निर्माण-क्षेत्र में 50 प्रतिशत से अधिक रोज़गार शहरी क्षेत्रों में उपलब्ध हैं।

   ख) 1960-80 के दौरान भारत में औद्योगिक रोज़गार में 4.1 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई।

   ग) रोज़गार में वृद्धि दर कामगारों की संख्या में वृद्धि दर से अधिक रही है।

2) सही उत्तर के लिए (✓) का चिह्न लगाइए :

   i) भारतीय अर्थव्यवस्था में औद्योगिक श्रम का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि:

      क) औद्योगिक ढाँचा तेजी से बदल रहा है

      ख) निवल घरेलू-उत्पाद में औद्योगिक क्षेत्र का व्यापक योगदान है

      ग) (क) और (ख) दोनों

      घ) दोनों में से कोई नहीं।

   ii) भारत के औद्योगिक क्षेत्र में शामिल हैं :

      क) केवल शहरी संगठित निर्माण उद्योग

      ख) केवल शहरी और ग्रामीण असंगठित निर्माण उद्योग

      ग) खनन, भवन-निर्माण, बिजली, पानी और गैस

      घ) ऊपर के सभी।

   iii) समस्त कारक उत्पादकता की परिभाषा है :

      क) श्रम-आदान का प्रति इकाई वास्तविक उत्पादन

      ख) वास्तविक पूँजी का प्रति इकाई वास्तविक उत्पादन

      ग) वास्तविक सामग्री आदान का प्रति इकाई वास्तविक उत्पादन

      घ) सभी आदानों के कुल भारित वज़न का प्रति इकाई वास्तविक उत्पादन।

   iv) भारत में उद्योगों में उत्पादकता वृद्धि बहुत धीमी है, क्योंकि :

      क) बड़ी मात्रा में क्षमताओं का उपयोग नहीं होता

      ख) उत्पादकता के मूल्यांकन की समस्याएँ हैं

      ग) काम के प्रति कामगारों का रवैया उदासीनतापूर्ण है

      घ) ऊपर बताए सभी कारण।

3) भारत में बेरोज़गारी की प्रवृत्ति क्या है? (अपना उत्तर 3 वाक्यों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

4) आपके विचार में उत्पादकता सुधारने के क्या उपाय किए जाने चाहिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

20.4 वेतन का स्वरूप

अर्थशास्त्र की पुस्तकों में उपभोग तथा आय के वैयक्तिक आकार के वितरण और साथ ही आय के वर्गीय और कारकीय वितरण के अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। इनसे हमें आर्थिक विकास के दौरान वितरण से संबंधित व्यापक प्रवृत्तियों की जानकारी मिलती है।

विकास के प्रारंभिक चरण में मज़दूरी तथा वेतन का तुलनात्मक भाग घटाव की ओर होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि बचत अनुपात में वृद्धि करनी होती है। यह तभी संभव है जब आय में लाभ का भाग बढ़ रहा हो और मज़दूरी तथा वेतन का हिस्सा कम हो रहा हो। यहाँ यह समझा जाता है कि लाभ-आय में से बचत वृद्धि की प्रवृत्ति वेतन-आय में से बचत वृद्धि से अधिक है। यह विकास संबंधी आवश्यकताओं के अनुरूप भी है क्योंकि शुरू में विकास के लिए बचत-आय अनुपात में वृद्धि करते रहना जरूरी है। किन्तु बाद के चरणों में वितरण में अंतर घटने लगेगा।

परन्तु प्रारंभिक चरण में लोकतांत्रिक ढाँचे के अन्तर्गत विकास बहुत तेज होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि समाज के किसी भी वर्ग या समूह के आर्थिक स्तर में समय बीतने के साथ गिरावट नहीं आनी चाहिए। लोकतंत्र में विभिन्न वर्गों की राजनीतिक सहमति आवश्यक है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में ऊपर बताए गए सिद्धांत के समर्थन या खंडन में कोई ठोस प्रमाण पूरी तरह तथा आसानी से उपलब्ध नहीं हो सकता, परन्तु विभिन्न स्रोतों से एकत्र की गई सूचनाओं को एक सूत्र में गूंथा जा सकता है, जिनकी अपनी सीमाएँ हो सकती हैं।

20.4.1 श्रमिकों का हिस्सा

ब्रह्मानंद द्वारा प्रस्तुत अनुमानों के अनुसार लगता है वेतन का तुलनात्मक हिस्सा कुल मिलाकर अर्थव्यवस्था के लिए स्थिर रहा है। 1950-51 तथा 1980-81 में मुनाफ़े का तुलनात्मक हिस्सा बढ़ा है तथा लगान का तुलनात्मक हिस्सा कम हुआ है। उन्होंने आगे कहा हैं कि इस अवधि में क्योंकि पूँजी-उत्पाद अनुपात में वृद्धि हुई और लाभ की औसत दर वही बनी रही, इसलिए लगान को घटाकर उत्पादन का हिसाब लगाने पर निवल उत्पादन में मज़दूरी के तुलनात्मक हिस्से में कमी आई। लगान देने के बाद निवल उत्पादन में वेतन का तुलनात्मक भाग कम हो जाने से कुछ बड़े क्षेत्रों में वास्तविक वेतन की वृद्धि दर में कमी होना अनिवार्य था। इसलिए ब्रह्मानंद ने भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि की दर लगभग स्थिर रहने का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया : भारतीय अर्थव्यवस्था ने कृषि तथा गैर-पंजीकृत निर्माण क्षेत्र में वास्तविक आय में वृद्धि दर को कम रखकर तथा संगठित औद्योगिक क्षेत्र में इसे बढ़ने देकर बढ़ते हुए पूँजी-उत्पाद अनुपात के संदर्भ में लाभ की स्थिर दर और लगभग स्थिर वृद्धि दर बनाए रखी।

इन प्रवृत्तियों के परिणाम इस प्रकार हैं : यदि पूँजी-उत्पाद अनुपात इस हद तक बढ़ता जाए कि विभेदक लगान कम रहें या और नीचे गिर जाएँ तो ऐसा समय आ जाएगा जब वृद्धि की स्थिर दर बनाए रखने का बोझ वेतन के हिस्से पर आ पड़ेगा। कृषि में वास्तविक वेतन में

कमी और संगठित औद्योगिक क्षेत्र में इसकी वृद्धि की मौजूदा प्रवृत्ति के चलते संगठित श्रमिकों और असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों के हितों में टकराव की संभावनाएँ पक्की हो जाएंगी।

20.4.2 वास्तविक मज़दूरी

किन्तु भारत में औद्योगिक श्रमिकों के वास्तविक वेतन में वृद्धि के इस दावे को कई अन्य स्वतंत्र अध्ययनों में चुनौती दी गई है। राष्ट्रीय श्रम-आयोग (1969) ने भी यही निष्कर्ष निकाला कि उनके अध्ययन की अवधि में औद्योगिक श्रमिकों के वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई नहीं दी। अब हम कुछ महत्वपूर्ण अध्ययनों के परिणामों पर विचार करेंगे, जिनमें इस मसले पर मत भिन्नता प्रकट होती है। इनमें से पहला बी.के. मदान का अध्ययन है, जो 1977 में प्रकाशित हुआ। इस अध्ययन में मदान ने 1950-70 वर्षों के लिए देश में उद्योग के निर्माण क्षेत्र के श्रमिकों तथा गैर-श्रमिक कर्मचारियों की मुद्रा के रूप में आय तथा वास्तविक आय की समय श्रृंखलाएँ प्रस्तुत कीं। इसी अवधि के बारे में सभी उद्योगों तथा कुछ चुने हुए उद्योगों में निर्माण द्वारा मूल्य-वृद्धि में श्रमिकों की आय के हिस्से के बारे में इसी प्रकार की समय श्रृंखलाएँ प्रस्तुत की गई। इसके अतिरिक्त, इसी अवधि में मज़दूरी की प्रवृत्तियाँ तथा उत्पादकता की प्रवृत्तियों के परस्पर संबंधों की समीक्षा की गई।

मदान ने इस निष्कर्ष को गलत सिद्ध करने का दावा किया कि संगठित श्रमिकों का वास्तविक मज़दूरी स्थिर रही है या उसमें कमी आई। उनके अनुसार, राष्ट्रीय श्रम-आयोग ने भी उनके तथ्य की पुष्टि की क्योंकि उसने अपने निष्कर्ष वेतन भुगतान कानून के अंतर्गत पेश की गई विवरणों के आधार पर तैयार किए। मदान का निष्कर्ष था कि "योजना काल के पहले 19 वर्षों में श्रमिकों की वास्तविक आय में 35 प्रतिशत से कुछ अधिक वृद्धि हुई।" निर्माण क्षेत्र में श्रमिकों की वास्तविक आय की वार्षिक दर 1.6 प्रतिशत थी जो प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय वास्तविक आय में वार्षिक वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत से थोड़ी-सी अधिक थी।

मदान का यह भी मत था कि इसी अवधि के दौरान निर्माण में मूल्य-वृद्धि में श्रमिकों की आय के हिस्से में निरंतर गिरावट आई। मदान के अनुसार, इस गिरावट का कारण था उद्योगों में बढ़ती हुई पूँजी सघनता तथा "समान रूप से महत्वपूर्ण" यह तथ्य कि वेतनभोगियों यानि श्रमिकों से इतर कर्मचारियों की संख्या में इस अवधि में श्रमिकों की संख्या के मुकाबले ज्यादा तेजी से वृद्धि हुई।

इससे जुड़ा हुआ एक और निष्कर्ष यह निकाला गया कि आलोच्य अवधि में प्रति व्यक्ति उत्पादकता में वास्तविक आय की तुलना में अधिक गति से वृद्धि हुई। मदान के अनुसार, यह स्थिति कई पहलुओं के परिणामस्वरूप हुई, जिसमें संभवतः एक पहलू था श्रमिकों की मेहनत, अनुशासन एवं कार्य-कुशलता में बढ़ोतरी।

दूसरी ओर, तुलपुले (1979) ने मदान के कुछ निष्कर्षों पर आपत्ति की है। तुलपुले ने खनन तथा निर्माण में मूल्यों के अनुसार श्रृंखला का आकलन 1975 तक किया। उनका यह कहना था कि मदान की श्रृंखलाओं का प्रारंभिक वर्ष 1951 की बजाय 1952 लिया जाता अथवा अंतिम वर्ष 1970 के स्थान पर 1969 लिया जाता तो वास्तविक वेतन में वृद्धि के आँकड़ों में काफी परिवर्तन होता। इसी प्रकार, तुलपुले ने यह राय व्यक्त की कि मदान के निष्कर्ष वास्तविक प्रवृत्तियों को व्यक्त नहीं करते।

मदान की श्रृंखलाओं के प्रारंभ तथा अंत, दोनों के तीन वर्षों के औसत का हिसाब लगाने पर ज्ञात हुआ कि वास्तविक आय का औसत सूचकांक 1951-53 में (1951-100) 105, था जबकि 1968-70 में यह 129.3 था। 17 वर्षों में 105 अंकों पर 24.3 प्रतिशत अंकों की इस वृद्धि की वार्षिक औसर दर 1.3 प्रतिशत बैठती है। राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय का तीन-वर्षीय औसत सूचकाँक इसी आधार पर 1951-53 के लिए 102.8 और 1967-69 के लिए 129.9 था। इस प्रकार 17 वर्षों के लिए प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में 102.8 अंकों पर 27.1 प्रतिशत अंकों की वृद्धि हुई। इसकी वार्षिक वृद्धि दर 1.4 प्रतिशत बैठती है। इस तरह अंक से अंक की तुलना करने की बजाय तीन-वर्षीय औसत के आधार पर गणना की जाए तो मदान का यह निष्कर्ष गलत सिद्ध होता है कि निर्माण क्षेत्र में वास्तविक वेतन में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की तुलना में कुछ अधिक गति से वृद्धि हुई।

इसके बाद 1988 में तुलपुले और आर.सी. दत्त ने यह जानने का प्रयास किया कि मदान की श्रृंखलाओं को 1983 तक बढ़ाने के क्या परिणाम निकलते हैं। मदान द्वारा दिए गए आँकड़ों

में से 1960 से 1966 के आँकड़े लिए गए तथा 1967 से 1983 तक के आँकड़े उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण से लिए गए।

1960 से 1983 के बीच वास्तविक वेतन सूचकाँक की अंक से अंक की तुलना के अनुसार 23 वर्षों में 51 प्रतिशत अर्थात् 1.8 प्रतिशत वार्षिक औसत दर से वृद्धि हुई। श्रृंखला के प्रारंभ तथा अंत, दोनों की तीन वर्षीय औसत के आधार पर 21 वर्षों में 37.5 प्रतिशत अर्थात् 1.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई। इसके विपरीत, 1960 के मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के सूचकाँक में अंक के आधार पर 23 वर्षों में 36.5 प्रतिशत तथा तीन वर्षीय औसत के आधार पर 21 वर्षों में 30.8 प्रतिशत वृद्धि आँकी गई। वार्षिक औसत वृद्धि दर क्रमशः 1.36 प्रतिशत तथा 1.28 प्रतिशत रही।

20.4.3 गतिहीन स्वरूप : मज़दूरी और कीमतें

इन निष्कर्षों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि 1961-83 की अवधि में निर्माण उद्योग में वास्तविक मज़दूरी में प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय के मुकाबले अधिक तेज़ी से वृद्धि हुई, किन्तु यह वृद्धि दर मामूली थी। इस अवधि के दो छोरों के बीच वृद्धि कितनी ही क्यों न रही हो, वास्तविक वृद्धि समूची अवधि में एक समान नहीं रही। अनेक वर्षों के ठहराव के बाद 1968 से उल्लेखनीय वृद्धि होने लगी जो 1971 तक चली। इसके बाद थोड़े-बहुत उतार-चढ़ाव के साथ कई वर्षों तक वृद्धि रुकी रही। 1978 के आसपास दुबारा वृद्धि का दौर शुरू हुआ, किन्तु फिर कुछ वर्षों तक ठहराव आ गया। इसके बाद वृद्धि का अगला दौर 1981 के आसपास शुरू हुआ। कीमत-वृद्धि तथा मजदूरी-वृद्धि में स्पष्ट समय-अंतराल दिखाई दिए।

इस स्थिति का एक रोचक पहलू यह है कि 1977 तक वास्तविक मज़दूरी और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के सूचकाँक लगभग साथ-साथ बढ़ते रहे। कुछ काल खण्ड ऐसे भी आए, जिनमें दूसरा सूचकाँक पहले से अधिक रहा। इन दोनों में अंतर 1978 में बढ़ना शुरू हुआ और 1983 में इसने बड़ा आकार ले लिया। इस प्रकार, प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के मुकाबले वास्तविक वेतन में अधिक उल्लेखनीय वृद्धि बाद के वर्षों में ही हुई है। इसका मुख्य कारण प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में ठहराव था, जो 1982 में भी उतना ही था जितना की 1978 में था।

अब हमें इस दिलचस्प मुद्दे की पड़ताल करनी है कि इस अवधि में वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि रुक जाने और फिर शुरू हो जाने की प्रवृत्ति का क्या कोई तार्किक आधार ढूँढा जा सकता है?

चूँकि वास्तविक मज़दूरी आँकने के लिए मुद्रा के रूप में मज़दूरी की उपभोक्ता कीमत सूचकाँक से अस्फीति की जाती है, अतः इस प्रवृत्ति के लिए जो कारण सबसे पहले दिमाग में उभरता है, वह है उपभोक्ता कीमत सूचकाँक। परन्तु उपभोक्ता कीमत सूचकाँक की स्थिति से वास्तविक मज़दूरी की इस प्रवृत्ति की आंशिक व्याख्या ही होती है। मुद्रा के रूप में वेतन के संबंध में सरकारी सूत्रों से प्राप्त आँकड़ों से ज्ञात होता है कि 1968 से 1974 के बीच मुद्रा के रूप में वेतन में वृद्धि 10 प्रतिशत से कम रही। इसमें केवल 1966 का वर्ष अपवाद है, जिसमें यह वृद्धि 10 प्रतिशत से थोड़ी-सी ज़्यादा थी। अगले 5 वर्षों में मुद्रा के रूप में वेतन में वार्षिक वृद्धि की दर बढ़ गई, जो 13.2 से 19.5 प्रतिशत रही। 1979 से वार्षिक वृद्धि दर फिर कम हो गई और 10 प्रतिशत से कुछ ऊपर रही। किन्तु इस अवधि के अंतिम भाग में वृद्धि दर में फिर उछाल आया। 1970 के दशक के मध्य में कामगारों की आय में मुद्रा के रूप में हुई उल्लेखनीय बढ़ोतरी से वे केवल अपने वास्तविक वेतन का स्तर बनाने में ही सफल हो पाए। किन्तु 1978 के बाद से वास्तविक वेतन में वृद्धि बरकरार रही है और बाद के वर्षों में तो उसी अवधि में उपभोक्ता कीमत सूचकाँक के तेज़ी से बढ़ने के बावजूद वृद्धि दर और बढ़ती रही है।

20.5 मज़दूर संगठन और मज़दूरी

एक और कारण जो समझ में आता है, वह है मज़दूर संगठनों की भूमिका। मज़दूर संगठनों की भूमिका के साथ जुड़ा एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मज़दूर संगठन कर्मचारियों के

मुआवज़े के हिस्से को प्राप्त करने में असमर्थ है। इस बात को थोड़े भिन्न रूप में पेश करने से यह अर्थ निकलता है कि मज़दूर संगठनों की गतिविधियों से मज़दूरों की सामान्य वास्तविक मजदूरी दर में वृद्धि नहीं हो पाती। भारतीय औद्योगिक क्षेत्र के संदर्भ में इस तर्क को कहाँ तक सही माना जा सकता है? इस बात की सच्चाई परखने के उद्देश्य से हमें मज़दूरी की प्रवृत्तियाँ तथा औद्योगिक क्षेत्र में मज़दूरी के हिस्से के आँकड़ों पर फिर से ध्यान देना होगा।

20.5.1 मज़दूर संगठन और तुलनात्मक हिस्सा

भारत में मज़दूर संघ आंदोलन की जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस बात से सहमत होगा कि 1978-79 से मज़दूर संघों के चिंतन, कार्यनीति या आचरण में ऐसा कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दिया है, जिसमें मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में बढ़ोतरी होने में सहायता मिली हो। मज़दूर संगठनों की गतिविधियों का यदि किसी पक्ष पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ सकता है तो वह है मुद्रा के रूप में मज़दूरी में वार्षिक वृद्धि। किन्तु 1978-79 में उसके बाद के वर्षों की तुलना में मुद्रा के रूप में वेतन वास्तव में कम थे। इसके अलावा, इस संबंध में अनेक सर्वेक्षणों से मालूम हुआ है कि मज़दूर संघ की गतिविधियों से किसी विशेष उद्योग के लिए अधिक हिस्सा प्राप्त करने और उसी में मज़दूरी की दरें बढ़वाने में भले ही सफलता मिल जाती हो, किन्तु समूचे औद्योगिक क्षेत्र के लिए श्रमिकों को अपेक्षाकृत अधिक हिस्सा दिला पाने में सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए मज़दूर संघ की गतिविधियों को आंशिक सफलता ही मिली है, जबकि अन्य मामलों में यह बेअसर है।

स्थिर (1960) मूल्यों के आधार पर प्रति श्रमिक प्रतिवर्ष वास्तविक वेतन, उत्पादन के मूल्य तथा निर्माण में मूल्य-वृद्धि के अनुसार 1960 से 1983 के बीच इस अवधि के प्रारंभिक तथा अंतिम तीन वर्षों के औसत के आधार पर इनमें वार्षिक औसत वृद्धि क्रमशः 1.5 प्रतिशत, 5.2 प्रतिशत और 3.6 प्रतिशत दर से हुई।

उत्पादन के मूल्य तथा निर्माण में मूल्य-वृद्धि में श्रमिक के वेतन के हिस्से पर ध्यान देने पर इस निष्कर्ष की पुष्टि हो जाती है। 1960 में यह हिस्सा उत्पादन के मूल्य का 11.9 प्रतिशत तथा निर्माण में मूल्य-वृद्धि का 43.2 प्रतिशत था, किन्तु 1983 में यह घटकर क्रमशः 6.4 प्रतिशत और 29.4 प्रतिशत हो गया। 23 वर्षों में यह गिरावट उत्पादन के मूल्य के मामले में 46 प्रतिशत और निर्माण में मूल्य-वृद्धि के मामले में 33.7 प्रतिशत थी। तीन-वर्षीय औसत के आधार पर वेतन का हिस्सा उत्पादन के मूल्य में 12.1 प्रतिशत से घटकर 6.1 प्रतिशत और निर्माण की मूल्य-वृद्धि में 43.6 प्रतिशत से घटकर 30.2 प्रतिशत रह गया। इस प्रकार, उसी अवधि में यह गिरावट क्रमशः 49.6 प्रतिशत और 30.7 प्रतिशत हुई।

20.5.2 मजदूरी तथा मज़दूरी का हिस्सा : विविध पहलू

किन्तु यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि यदि मज़दूर संगठन गतिविधियाँ कारगर नहीं है तो निर्माण में मूल्य-वृद्धि के अनुसार प्रति श्रमिक प्रति वर्ष वृद्धि और निर्माण में मूल्य-वृद्धि के अनुसार वेतन के हिस्से में कमी केवल श्रमिकों की मेहनत का परिणाम है। वास्तव में यह पूँजी प्रौद्योगिकी, प्रबंध, चुनाव-राजनीति के दबावों जैसे अनेक पहलुओं की, जिनमें श्रमिक भी एक हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। परन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इन आँकड़ों से यह स्पष्ट नहीं होता कि देश में संगठित उद्योग द्वारा पैदा की गई सम्पत्ति में श्रमिकों को उचित हिस्सा ज्यादा मिल रहा है या हमारे उद्योगों में श्रमिक उत्पादकता अवरूद्ध रही है। विकसित देशों में श्रमिक उत्पादकता में वृद्धि अनेक तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण होती है और श्रमिक उत्पादकता में वृद्धि के अनुरूप कामगारों को अधिक वेतन दिया जाता है।

अन्य उपलब्ध प्रमाणों से भी इसी प्रकार का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। विद्वान आमतौर पर यह मानते हैं कि औद्योगिक श्रमिकों के वेतन के स्वरूप को प्रभावित करने वाले तत्व हैं श्रमिक उत्पादकता, प्रति कर्मचारी अचल परिसम्पत्तियाँ (यंत्र, उपकरण आदि के थोक मूल्यों में वृद्धि के विरुद्ध समायोजित) मज़दूर संघ गतिविधियाँ (संगठित क्षेत्र के प्रति हज़ार कर्मचारियों के कार्य दिवसों की क्षति), कर्मचारियों की कुल संख्या में गैर-श्रमिक कर्मचारियों का अनुपात आदि। श्रमिक उत्पादकता और प्रति कर्मचारी अचल सम्पत्तियाँ सामान्यतया संतोषजनक पाई गई हैं और वे कामगारों के वास्तविक वेतन के अनुरूप हैं। दो अन्य तत्व अर्थात् मज़दूर संघ गतिविधि और कर्मचारियों की कुल संख्या में गैर-श्रमिक

कर्मचारियों का अनुपात भी वास्तविक वेतन से जुड़े हुए हैं और उनकी स्थिति संतोषजनक है, किन्तु इनमें सहसंबंध गुणक पिछले मामलों की तुलना में सामान्यतया कम पाए गए हैं।

हमने इस भाग के प्रारंभ में बताया था कि उत्पादन वृद्धि दर में सुधार लाने के लिए उत्पादकता की वृद्धि दर को ऊपर उठाना आवश्यक है। हमने आपको यह भी बताया था कि कार्य-कुशलता अनेक तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है। स्वस्थ औद्योगिक संबंध भी उनमें से एक तत्व है, जो औद्योगिक श्रमिकों द्वारा उत्पादन में अधिक योगदान किए जाने में सहायक होता है। यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं है, समूचे विश्व में कम्पनी क्षेत्र की कार्यनीति में औद्योगिक संबंधों ने केन्द्रीय भूमिका ग्रहण कर ली है। यह मान्यता उत्तरोत्तर पुष्ट होती जा रही है उत्पादक कार्य-कुशलता अंततः प्रबंधकों तथा श्रमिकों के रूप में मानवीय क्षमताओं के बेहतर उपयोग पर निर्भर होती है।

परन्तु आधुनिक उद्योग कई तरह के आर्थिक पैमानों से बंधे हैं। इसके फलस्वरूप, किसी एक उद्योग में कामगारों की अधिक संख्या हो जाना अपरिहार्य है। उद्योग अब दिनोंदिन सहकारी उद्यम का रूप लेते जा रहे हैं, इसलिए अब ऐसा उपयुक्त सामाजिक वातावरण बनाना ज़रूरी हो गया है, जिसमें उत्पादन से जुड़े सभी वर्ग उत्पादन की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने के लिए पूरी तरह ताल-मेल से काम कर सकें।

साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया में श्रमिकों की हिस्सेदारी को उस निरंकुश प्रबंध व्यवस्था से बेहतर माना जाने लगा है, जिसमें निर्णय लेने का अधिकार ऊपर के कुछ लोगों के हाथों में सीमित रहता है। कामगारों का मनोबल कार्यकुशलता बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण तत्व है और जिस व्यवस्था में उनमें भागीदारी की भावना पैदा करके उनके मनोबल को ऊँचा उठाया जा सकता है, वह निश्चय ही कार्यकुशलता में आड़े आने वाली मानसिक बाधाओं को दूर करने में अत्यंत सहायक है।

इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि हमारे उद्योग औद्योगिक संबंधों के बारे में एक प्रभावशाली व्यापक परिप्रेक्ष्य तैयार करें। इस प्रकार के किसी भी परिप्रेक्ष्य में इन तथ्यों को अवश्य ध्यान में रखा जाए कि श्रमिक चाहते हैं कि उन्हें उद्योग का हिस्सा माना जाए और उनसे सलाह-मशविरा किया जाए कि मज़दूर संगठन किसी लोकतांत्रिक राजव्यवस्था में संस्थागत स्वरूप का अनिवार्य अंग है और लोकतंत्र में सार्वजनिक नीतियों पर उनके प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस मामले में भारत के कैसे अनुभव रहे हैं? आगे हम इसी विषय पर चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) विकास के प्रारंभिक चरण में मज़दूरी के हिस्से में कमी क्यों होनी चाहिए?

.....

.....

.....

.....

2) हाल के समय में राष्ट्रीय उत्पादन में मज़दूरी के हिस्से का स्वरूप क्या रहा है?

.....

.....

.....

.....

3) औद्योगिक कामगारों के मज़दूरी को प्रभावित करने वाले तत्व कौन-कौन से हैं?

.....

.....

.....

.....

की, कम्युनिस्टों की, समाजवादियों की और यहाँ तक कि भारतीय जनता पार्टी की यूनियनें काम कर रही हैं।

मज़दूर संगठनों की मान्यता के संबंध में कानूनी व्यवस्थाओं (बम्बई इंडस्ट्रियल रिलेशन्स एक्ट और महाराष्ट्र रेकग्निशन आफ ट्रेड यूनियन एण्ड प्रिवेंशन ऑफ अनफेयर लेबर प्रैक्टिसिस एक्ट को छोड़कर) के न होने के कारण मज़दूर संगठन विभाजित हैं और उनकी आपसी प्रतिद्वंद्विता बनी रहती है। और फिर भारतीय कानूनों के अंतर्गत यूनियनों को बहुत कम सदस्य संख्या होने पर भी आसानी से मान्यता देने की व्यवस्था के कारण इन संगठनों के बनने पर कोई रोक-टोक नहीं है।

इस 'बहु-श्रमिक संगठन' कि स्थिति से भारत में औद्योगिक शांति के लिए गंभीर खतरा पैदा हो गया है। इस समस्या से निपटने के लिए अपने प्रयासों के सिलसिले में सरकार ने अनुशासन संहिता तैयार की है, जिसमें यह प्रावधान है कि वही मज़दूर संगठन मान्यता का दावा कर सकता है जिसकी सदस्यता उद्योग के कुल श्रमिकों के 25 प्रतिशत कामगारों ने ग्रहण कर ली हो। परन्तु विवाद इस बात को लेकर है कि प्रतिद्वंद्वी यूनियनों की सदस्य संख्या परख कैसे की जाए। इसके लिए गुप्त मतदान कराया जाए या सदस्यता की जाँच का तरीका अपनाया जाए। इस समस्या का एक हल यह हो सकता है कि सबसे अधिक सदस्य संख्या वाली यूनियन को मान्यता दी जाए। राष्ट्रीय श्रम-आयोग ने भी एक-प्रतिनिधि मज़दूर संघ को कानूनी मान्यता देने के बारे में कुछ सिफ़ारिशें की हैं, किंतु उन्हें अभी तक कार्यान्वित नहीं किया गया है। इस दिशा में एक ही राज्य—महाराष्ट्र—ने कुछ प्रगति की है। 1971 में वहाँ अनुचित श्रम प्रक्रियाओं की रोकथाम और मज़दूर संगठनों की अनिवार्य मान्यता का कानून बनाया गया। बम्बई औद्योगिक संबंध अधिनियम में भी, जो सीमित आधार पर लागू किया जा सकता है, संबंधित अधिकारियों को किसी संयंत्र/उद्योग में एक प्रतिनिधि मज़दूर संगठन को मान्यता देने का अधिकार प्रदान किया गया है। 1978 के औद्योगिक संबंध बिल में एक संयत्र में बातचीत आदि के लिए एकमात्र एजेंट की व्यवस्था करने का प्रावधान था।

20.7 श्रम कानून

यह एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसका औद्योगिक संबंध प्रणाली पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सामाजिक न्याय का सिद्धांत ही भारत में श्रम कानूनों के जन्म और विकास का आधार रहा है। भारत में श्रम कानूनों के विकास में जिन अन्य घटनाओं का योगदान रहा, वे हैं 1921-24 का स्वराज आंदोलन, 1929 में श्रम के बारे में रॉयल कमीशन की नियुक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना।

श्रम कानूनों के उद्देश्य हैं: (i) श्रमिकों को शोषण से बचाना, (ii) औद्योगिक संबंधों को मज़बूत बनाना; (iii) औद्योगिक विवाद निपटाने तथा कामगारों के कल्याण के लिए तंत्र बनाना।

20.7.1 पृष्ठभूमि

भारत में श्रम कानूनों का इतिहास 125 वर्ष से अधिक पुराना है। श्रम कानूनों से औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम की स्थितियों के साथ-साथ औद्योगिक संबंधों, वेतन के भुगतान, मज़दूर संगठनों के पंजीकरण, स्थानीय आदेशों के प्रमाणीकरण आदि को भी नियमित किया है। इसके अलावा, इनमें कामगारों की सामाजिक सुरक्षा के उपायों का भी प्रावधान है। इनमें कामगारों एवं मालिकों के कानूनी अधिकारों तथा कर्तव्य को परिभाषित किया गया है और उनके आपसी संबंधों के बारे में दिशा-निर्देशों का प्रावधान है। सभी कानून भारतीय संविधान में विस्तृत रूप में होते हैं, जिसमें श्रम विषय को समवर्ती सूची में रखा गया है। मोटे अनुमान के अनुसार, भारत में लगभग 160 श्रम कानून हैं।

भारत में सबसे पहला श्रम कानून अप्रेंटिस एक्ट 1850 में बना। 1881 में फैक्ट्री एक्ट अस्तित्व में आया और राज्य स्तर का पहला श्रम कानून बम्बई ट्रेड (डिस्प्यूट्स एण्ड कौंसिलिएशन) एक्ट 1934 में लागू हुआ। इसके पश्चात् 1938 में बम्बई इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट बनाया गया जिसमें युद्ध के दौरान संशोधन किया गया। 1946 में इसके

स्थान पर बम्बई इंडस्ट्रियल रिलेशन्स एक्ट लाया गया। स्वतत्रता के बाद श्रमिकों की सुरक्षा और रोज़गार से संबंधित अनेक कानून बने। इनमें कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम 1948, कर्मचारी भविष्य निधि तथा मिश्रित प्रावधान कानून 1952, ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम 1972, समान वेतन अधिनियम 1976 आदि शामिल हैं।

हम इन कानूनों का तीन व्यापक श्रेणियों के अंतर्गत अध्ययन करेंगे:

1) सुरक्षात्मक और रोज़गार संबंधी कानून,
2) सामाजिक सुरक्षा कानून, और
3) नियमन संबंधी कानून।

20.7.2 सुरक्षात्मक तथा रोज़गार संबंधी कानून

इस श्रेणी में जो कानून शामिल किए जा सकते हैं, वे हैं: इंडियन फैक्टरीज़ एक्ट, मज़दूरी भुगतान अधिनियम, न्यूनतम मज़दूरी कानून, समान मज़दूरी कानून, बोनस भुगतान अधिनियम, एप्रेंटिस एक्ट, रोज़गार केन्द्र (रिक्त पदों की अनिवार्य अधिसूचना) अधिनियम। इनमें से कुछ कानून कारखानों में काम के दौरान कामगारों की सुरक्षा तथा स्वास्थ्य के बारे में हैं। अन्य कानूनों में यह प्रावधान है कि श्रमिकों को उनके काम के बदले महीने के अंत तक मज़दूरी का भुगतान अवश्य हो जाए।

सामाजिक सुरक्षा

इस श्रेणी में शामिल किए जाने वाले कानून हैं: कर्मचारी राज्य बीमा कानून 1948, कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम 1952 और ग्रेच्युटी भुगतान कानून 1952। इन कानूनों का उद्देश्य श्रमिकों को अनावश्यक तकनीकों तथा लाभों से वंचित रहने के जोखिम से बचाना है। उदाहरण के लिए, कर्मचारी राज्य बीमा कानून में चिकित्सा सुविधाओं, दुर्घटना के लिए मुआवज़े तथा बेरोज़गारी अथवा बीमारी की स्थिति में श्रमिकों को मुआवज़ा दिलाने की व्यवस्था है। भविष्य निधि और ग्रेच्युटी योजनाओं का उद्देश्य यह है कि कामगारों को अवकाश-प्राप्ति के बाद जीवन-यापन में कठिनाई न हो।

नियमन संबंधी कानून

इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट,194 7; एम्प्लायमेंट (आर्डर्स) एक्ट, 1946; ट्रेड यूनियन एक्ट, 1926 आदि कानून इस श्रेणी में आते हैं।

इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट में मूलत: औद्योगिक विवादों की जाँच और निपटारे का प्रावधान है। इसका मुख्य उद्देश्य बातचीत, सुलह-सफाई, मध्यस्थता, स्वैच्छिक पंच फैसले और अनिवार्य न्याय निर्णय के द्वारा औद्योगिक विवादों को निपटाना है। इस कानून में हड़तालों और तालाबंदियों पर रोक लगाने का भी प्रावधान है। इसमें यह भी व्यवस्था है कि संयंत्र स्तर पर एक कार्य-समिति बनाई जाए जो यह देखे कि उद्योग में कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए प्रबंधक तथा श्रमिक अपनी ओर से भरपूर सहयोग करें।

इंडस्ट्रियल एम्प्लायमेंट (स्टैंडिंग आर्डर) एक्ट, 1946 में प्रबंधकों के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि वे रोज़गार की शर्तों और स्थितियों को स्पष्ट करें तथा उनकी जानकारी कामगारों को दें। ट्रेड यूनियन एक्ट, 1926 में यह व्यवस्था है कि मज़दूर अपनी यूनियनें बना सकते हैं।

20.7.3 श्रमिकों की भागीदारी

प्रबंध में कामगारों की भागीदारी की समस्या का भारत में औद्योगिक संबंधों में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसे औद्योगिक लोकतंत्र लाने तथा प्रबंधकों एवं श्रमिकों में तालमेल कायम करने का उपाय माना गया है। अब हम इस मामले की विशेषताओं तथा भारतीय संदर्भ में इसकी मौजूदा स्थिति की समीक्षा करेंगे।

हमारे देश में श्रमिकों की भागीदारी की योजनाओं की शुरुआत स्वतंत्रता के बाद हुई। क्योंकि उस समय उद्योगों में व्याप्त तनाव और संघर्ष की स्थिति तथा बिगड़ती हुई अर्थव्यवस्था की समस्या से निपटने के लिए सरकार को औद्योगिक संबंध की प्रणाली को नया रूप देना पड़ा। इसके लिए महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित 'संकल्पवाद के सिद्धांत' को

असंगठित मज़दूरों के आँकड़े

अनौपचारिक क्षेत्र में मज़दूरों से संबंधित जानकारी के स्रोत बहुत कम हैं तथा इस क्षेत्र पर निर्भर लोगों की संख्या और उनकी आमदनी आदि के बारे में बहुत कम अध्ययन किया गया है। कुछ कच्चे अनुमान अवश्य उपलब्ध हैं, जिनसे केवल इस क्षेत्र के ढाँचे की जानकारी ही मिलती है। उदाहरण के लिए, 1981 की जनगणना में कामगारों की कुल संख्या 24 करोड़ 71 लाख 50 हज़ार आँकी गई थी, जिनमें से केवल 2 करोड़ 29 लाख 10 हज़ार लोगों को औपचारिक क्षेत्र में रोज़गार मिला हुआ था। बाकी सभी अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते थे। इस प्रकार 22 करोड़ 40 लाख लोग अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते थे। अनुमानों के अनुसार इनमें से करीब 17 करोड़ 30 लाख कामगार ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 5 करोड़ 10 लाख लोग शहरी एवं अर्ध-शहरी केन्द्रों में रहते हैं। ऐसे लोगों की संख्या, जिनके पास स्व-रोज़गार है या किसी एक मालिक के पास नौकरी नहीं करते, कुल कामगारों की संख्या का 61.5 प्रतिशत या अनौपचारिक क्षेत्र के कामगारों की संख्या का 67 प्रतिशत है। अपना काम करने वाले शहरी मज़दूरों की संख्या 3 करोड़ 60 लाख या कामगारों की कुल संख्या का करीब 12.4 प्रतिशत है। परन्तु अपना काम करने वाले शहरी मज़दूरों के अलावा, बड़ी संख्या में ऐसे कामगार हैं जो व्यापारिक तथा गैर-व्यापारिक प्रतिष्ठानों में किसी न किसी तरह का काम करते हैं किन्तु इन प्रतिष्ठानों में इनके बारे में कोई रिकॉर्ड नहीं रखा जाता। इसलिए इन मज़दूरों की सही संख्या तथा उनकी आमदनी के संबंध में निश्चित अनुमान लगा पाना कठिन है।

जहाँ तक राष्ट्रीय आय में असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के योगदान का प्रश्न है, इस संबंध में भी आँकड़े एकत्र करने में कई समस्याएँ हैं। उपलब्ध आकँड़े कच्चे अनुमानों पर आधारित हैं और ये वास्तविक स्थिति प्रस्तुत नहीं करते। किन्तु कुछ अनुमानों से संकेत मिलता है कि असंगठित क्षेत्र का योगदान निर्माण क्षेत्र में होने वाले मूल्य-वृद्धि के 78 प्रतिशत, खनन में 34 प्रतिशत, भवन निर्माण में 58 प्रतिशत व्यापार में 70 प्रतिशत, परिवहन में 48 प्रतिशत तथा सेवाओं में 67 प्रतिशत हैं। इस प्रकार, राष्ट्रीय आय में असंगठित क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान है। दुर्भाग्यवश यह पता लगा पाना संभव नहीं है कि इस क्षेत्र में मज़दूरों का मूल्य-वृद्धि में कितना हिस्सा है। ऊपर दिए गए आँकड़े शहरी और ग्रामीण दोनों प्रतिष्ठानों के संबंध में हैं। संभवतः इस प्रकार के मज़दूरों का एक-चौथाई भाग शहरों में है।

20.8.2 असंगठित श्रमिकों से संबंधित कानून

यह जानने के लिए कि ऐसी कौन-सी सुरक्षा जो औपचारिक क्षेत्र के श्रमिकों को मिलती है, किन्तु इस क्षेत्र में नहीं मिलती, उन श्रम कानूनों की जानकारी पाना आवश्यक है जो संगठित क्षेत्र के लिए बनाए गए हैं। इनमें से कुछ कानूनों की जानकारी हमें पहले से है। मज़दूरों को मज़दूरी तथा काम की सामान्य शर्तों से संबंधित अनेक कानून हैं। ये हैं: मज़दूरी भुगतान अधिनियम, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, श्रमिक प्रतिपूर्ति कानून, ठेका श्रमिक (नियमन तथा उन्मूलन) कानून और बंधुआ मज़दूरी (उन्मूलन) कानून। इनमें प्रत्येक कानून श्रमिको के वेतन के विभिन्न पहलूओं अथवा काम की अन्य स्थितियों या श्रम के विभिन्न रूपों के संबंध में है। उदाहरण के लिए, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम में यह निर्धारित किया गया है कि विभिन्न क्षेत्रों में मज़दूरों को कितना वेतन दिया जाए, निश्चित घंटों से अधिक किए गए काम के लिए कितनी राशि का भुगतान किया जाए और वेतन सहित छुट्टियों की क्या सुविधाएँ हों। क्योंकि असंगठित क्षेत्र पर कारखाना एवं व्यापारिक प्रतिष्ठान कानून लागू नहीं होता, इसलिए इनमें से अनेक कानून अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों को काम चलाऊ वेतन दिलाने के उद्देश्य से बनाए गए हैं।

दूसरी ओर, बंधुआ मज़दूरी (उन्मूलन) कानून उन मज़दूरों को घोर शोषण से बचाने के लिए बनाया गया है, जिन्हें मालिक द्वारा उसे दिए गए कर्ज़े के बदले मामूली वेतन पर काम करने को गज़बूर किया जाता है, जो उसने स्वयं लिया था। ऐसे अनेक मामले हैं जिनमें मज़दूर को राज्य सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी से कम मज़दूरी पर काम करने को इसलिए विवश किया गया, क्योंकि उसने मालिक से कुछ रुपए उधार लिए थे। बंधुआ मज़दूरी (उन्मूलन) कानून के अंतर्गत इस प्रथा को समाप्त कर दिया गया है इससे प्रभावित होने वाले मज़दूर अपने पुनर्वास के लिए राज्य सरकार से वित्तीय सहायता पा सकते हैं।

20.8.3 शहरी असंगठित श्रमिकों के घटक

असंगठित श्रमिकों में से अधिकतर मज़दूर कहाँ से आते हैं और उनकी विशेषताएँ क्या हैं? कामगार लोगों के इस वर्ग के संबंध में आँकड़ों की कमी के कारण यह तय कर पाना कठिन है कि कौन-कौन लोग असंगठित मज़दूर बनते हैं। फिर भी कुछ सामान्य अनुमान लगाए जा सकते हैं। पहला यह कि शहरी असंगठित मज़दूरों में बहुसंख्या उन लोगों की है जो गाँवों से नौकरी और आमदनी के अवसरों की तलाश में शहरों में चले जाते हैं। इस स्थानांतरण का सीधा कारण है कृषि जोतों के सीमित होने और जनसंख्या बढ़ने के कारण भूमि पर दबाव में वृद्धि, गाँवों में रोज़गार के अवसरों की कमी तथा शहरों में बेहतर रहन-सहन की संभावनाएँ। गाँवों से आने वाले लोग अधिकांशतः अनपढ़ होते हैं तथा शहरों में ठेकेदार, व्यापारी और नौकरी देने वाले लोग आसानी से उनका शोषण कर सकते हैं। संगठित क्षेत्र में नौकरी लायक कुशलता न होने के कारण शुरू में उन्हें असंगठित क्षेत्र में ही काम करना पड़ता है। इनमें से ज्यादातर मजदूर शहरों में जिन्दगी बसर करने के लिए अपना कोई धंधा चलाते हैं और जा थोड़ी-बहुत बचत होती है उसे अपने धंधे के लिए आवश्यक सामान, उपकरण आदि खरीदने में लगा देते हैं। शिवाकाशी के माचिस उद्योग तथा खुर्जा के मिट्टी के बर्तन उद्योग जैसे धंधों को छोड़कर, जिनमें स्थानीय कुशल कारीगर उपलब्ध रहते हैं, अनौपचारिक क्षेत्र में मज़दूर मूलतः गांवों से आए हुए लोग ही होते हैं। वे कम कौशल वाले कामों की ओर ही दौड़ते हैं और पहले से काम कर रहे अपने साथियों के साथ होड़ लगाते हैं तथा इस प्रकार उनके वेतन की दर कम बनी रहती है।

20.8.4 शहरी असंगठित क्षेत्र में महिलाएँ एवं बच्चे

शहरी असंगठित श्रमिकों में बहुत बड़ी संख्या महिलाओं और बच्चों की है। कई कारणों से उनके हालात पुरुष मज़दूरों से बदतर है। पहली बात तो यह है कि एक जैसा काम करने पर भी पुरुषों की तुलना में उन्हें मज़दूरी कम मिलता है। दूसरी बात यह कि मालिकों द्वारा महिलाओं का सैक्स संबंधी शोषण किया जाता है तथा कमज़ोर होने के कारण वे प्रतिरोध नहीं। इस स्थिति का तीसरा चिंतनीय पहलू यह है कि अपने काम-धंधे के दौरान वे अपने [illegible] अच्छी-प्रकार देखभाल नहीं कर पातीं क्योंकि अनौपचारिक क्षेत्र में अधिकांश प्रतिष्ठानों में महिला कर्मचारियों के बच्चों के लिए शिशु-केन्द्र या उनकी देखभाल की सुविधाएँ नहीं होती।

इसी प्रकार, बच्चे भी कम वेतन पर काम करने पर तो मजबूर हैं ही, वे अपने मालिकों तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा शारीरिक शोषण का शिकार भी होते हैं, जिसका प्रतिरोध करने की हिम्मत वे नहीं कर पाते। साथ ही उन्हें खतरनाक कामों पर लगाया जाता है, जो उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक होते हैं। उदाहरण के लिए, अलीगढ़ के ताला उद्योग में बच्चों को लगातार तेज़ाब के धुएँ को झेलना पड़ता है, क्योंकि तैयार तालों को तेज़ाब में धोया जाता है, जिससे यह जहरीला धुआँ निकलता है। इसी तरह, फिरोज़ाबाद में बच्चे भट्टी से निकले लाल गर्म पिघलते हुए काचँ को उठाते हैं, जिससे पिघला हुआ गर्म काचँ उन पर फैल जाने का खतरा तो अवश्य रहता ही है, लगातार गर्मी तथा रोशनी के निकट रहने से भी उनके शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

वास्तविकता यह है कि असंगठित क्षेत्र में ऐसी अनेक कमियाँ हैं जिनसे संगठित क्षेत्र अपेक्षाकृत मुक्त है। ये हैं कम वेतन, सेवा सुरक्षा न होना, चिकित्सा सुविधाएँ बिल्कुल न होना या नाममात्र ही होना तथा छुट्टी की सुविधाएँ न होना। छुट्टी की सुविधा न होने का अर्थ यह है कि यदि कामगार किसी दुर्घटना का शिकार हो जाए तो उसे अपना इलाज तो अपनी जेब से कराना ही होगा, साथ ही जितने दिन वह काम पर नहीं आ जाएगा, उन दिनों का वेतन भी नहीं मिलेगा।

सरकार एवं स्थानीय निकायों द्वारा बनाए गए अनेक कानूनों से असंगठित मज़दूरों के कुछ क्षेत्रों में स्थिति में कुछ सुधार हुआ है, किन्तु कामगारों के इस वर्ग के जीवन-स्तर में पर्याप्त सुधार नहीं हुआ है। ये लोग शहरों तथा कस्बों की गंदी और खतरनाक बस्तियों में रहते हैं। इन बस्तियों में, जैसा कि हमने पिछले भाग में देखा है, न्यूनतम शहरी सुविधाएँ भी नदारद होती हैं।

बोध प्रश्न 4

1) असंगठित श्रमिकों से क्या अभिप्राय है? (अपना उत्तर तीन वाक्यों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) असंगठित श्रमिकों के तीन उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

3) अधिकतर शहरी असंगठित मज़दूर गाँवों से शहरों में आकर बसे लोग होते हैं। क्यों?

.....

.....

.....

.....

4) सही उत्तर पर (✓) निशान लगाइए:

i) मज़दूर संगठन वेतन बढ़ाने की माँग करते हैं, क्योंकि:

क) मज़दूर संगठन मज़दूरों की सप्लाई घटा सकते हैं

ख) वे वेतन की दरें सीधी बढ़ाने के लिए अपनी सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति का इस्तेमाल कर सकते हैं

ग) वे पूरी हो गई मांगों को और बढ़ा सकते हैं

घ) मज़दूर संगठन मालिक की सौदेबाजी के एकाधिकार की ताकत से होने वाले शोषण का प्रतिरोध कर सकते हैं

च) इन सभी के मेल से।

ii) श्रम कानूनों के उद्देश्य हैं:

क) श्रमिकों को शोषण से बचाना

ख) औद्योगिक संबंधों को मज़बूत बनाना

ग) औद्योगिक विवाद निपटाने तथा मज़दूरों के कल्याण के तंत्र की व्यवस्था करना

घ) ऊपर बताए गए में से कोई नहीं

च) ऊपर बताए गए सभी।

iii) सामाजिक सुरक्षा कानूनों में शामिल नहीं हैं:

क) वेतन भुगतान अधिनियम

ख) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम

ग) कर्मचारी राज्य बीमा कानून

घ) ग्रेज्युटी भुगतान कानून।

20.9 सारांश

अधिकतर विकसित देशों में औद्योगीकरण के अनुभव से पता चलता है कि उद्योग रोज़गार जुटाने का प्रमुख स्रोत नहीं हैं। फिर भी, इसके फेलस्वरूप शहरीकरण, उत्पादन के ढाँचे तथा प्रौद्योगिकी के स्तर में होने वाले परिवर्तनों एवं मज़दूरों के संगठन बन जाने के कारण

अर्थव्यवस्था में औद्योगिक श्रमिकों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। इस इकाई में हमने संगठित तथा असंगठित दोनों क्षेत्रों में मज़दूरों की समस्याओं, उनकी भूमिका तथा सौदेबाजी की क्षमता की चर्चा की है। संगठित तथा असंगठित—इन दो वर्गों की रोज़गार की शर्तों तथा उनके काम करने की समग्र स्थिति में काफी भिन्नता है।

श्रमिकों के प्रतिशत के रूप में रोज़गार में "सामान्य स्तर" के मापदण्ड के अनुसार वृद्धि हुई, किन्तु "साप्ताहिक एवं दैनिक" स्तर के मापदण्ड के मुताबिक कमी हुई। फिर भी, बेरोज़गार लोगों की कुल संख्या में बढ़ोतरी हुई है।

इसी प्रकार, उत्पादकता के बारे में किए गए अध्ययनों के भी परस्पर-विरोधी परिणाम मिले हैं। परन्तु निष्कर्ष यही निकलता है कि पूर्ण उत्पादकता तत्व में कोई वृद्धि दिखाई नहीं दी और विकास में उसका योगदान बहुत मामूली रहा। निर्माण उद्योगों में वास्तविक मज़दूरी में प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय से थोड़ी-सी अधिक वृद्धि हुई, यद्यपि इन दोनों के बीच अंतर समूची अवधि में सिलसिलेवार नहीं रहा। मज़दूर संगठन आंशिक रूप से ही सफल रहे हैं। बदलते हुए औद्योगिक संबंधों के कारण श्रमिकों के संबंध में कई नए कानून बनाए गए हैं।

असंगठित मज़दूरों के रहन-सहन में बहुत कम परिवर्तन आ पाया है। कानून तो कई बने हैं, किन्तु उनपर पूरी तरह अमल नहीं किया जाता। इसलिए श्रमिकों का यह वर्ग काम की स्थितियों के बारे में किसी भी प्रकार की सुरक्षा से वंचित हैं।

20.10 शब्दावली

पूँजी सघन (Capital Intensive): उत्पादन की पूँजी सघन प्रक्रिया वह है जिसमें अन्य आदानों की अपेक्षा पूँजी अधिक मात्रा में इस्तेमाल होती है। परमाणु बिजलीघर ताप बिजलीघर की तुलना में बिजली पैदा करने की पूँजी सघन विधि है क्योंकि पहले मामले में कुल लागत में श्रम तथा ईंधन का हिस्सा दूसरे मामले की अपेक्षा कम है।

सामूहिक सौदाबाजी: यह शब्द किसी उद्योग अथवा कम्पनी में मालिकों की प्रतिनिधि संस्थाओं तथा मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने वाली यूनियनों के बीच बातचीत के लिए प्रयोग किया जाता है।

कारखाना क्षेत्र: निर्माण क्षेत्र को मोटे तौर पर दो समूहों में बाँटा गया है। इनमें पहला कारखाना क्षेत्र है, जिसमें वे निर्माण इकाइयाँ शामिल हैं जो इंडियन फैक्ट्री एक्ट, 1948 के अंतर्गत पंजीकृत हैं। इसे पंजीकृत या संगठित निर्माण क्षेत्र भी कहा जाता है। दूसरा है गैर-कारखाना क्षेत्र अथवा गैर-पंजीकृत निर्माण क्षेत्र जिसमें वे सभी निर्माण उद्यम आते हैं जो इंडियन फैक्ट्री एक्ट, 1948 के अंतर्गत पंजीकृत नहीं हैं। इस क्षेत्र में वे सभी निर्माण इकाइयाँ शामिल हैं जिसमें 10 से कम कर्मचारी (यदि बिजली का इस्तेमाल होता है) हैं और यदि बिजली का इस्तेमाल नहीं होता तो 20 से कम कर्मचारी हैं।

श्रम सघन: उस प्रक्रिया अथवा उत्पाद को श्रम सघन कहा जाता है, जिसमें उत्पादन के अन्य तत्वों की तुलना में श्रम अधिक मात्रा में इस्तेमाल होता है। कम पूँजी के इस्तेमाल से हाथ से बनी वस्तुएँ श्रम सघन प्रक्रिया से तैयार होती हैं।

श्रम गुणांक: यह उत्पादन में प्रति इकाई श्रम की आवश्यकता को व्यक्त करता है।

निर्माण क्षेत्र: औद्योगिक क्षेत्र को तीन उप-क्षेत्रों में विभाजित किया गया है: (i) निर्माण क्षेत्र; (ii) खनन तथा खदान क्षेत्र; और (iii) बिजली, गैस तथा जल सप्लाई। औद्योगिक क्षेत्र में मूल्य-वृद्धि का 80 प्रतिशत योगदान निर्माण क्षेत्र द्वारा होता है।

उत्पादकता: किसी उत्पादन कारक की उत्पादकता की माप उत्पाद (output) को आवश्यक आदानों की मात्रा का अनुपात मान कर आँकी जाती है। उत्पाद में परिवर्तन को आवश्यक आदानों की मात्रा में परिवर्तन का अनुपात मानकर भी आँका जा सकता है। उदाहरण के लिए पूँजी-निवेश में सुधार तथा बेहतर संगठन द्वारा श्रमिकों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के जरिए कार्यक्षमता बढ़ाकर उनकी उत्पादकता में वृद्धि करने के सतत प्रयास किए जाते हैं।

वास्तविक मज़दूरी : मुद्रा के रूप में मज़दूरी से खरीदी जा सकने वाली वस्तुओं और सेवाओं के संदर्भ में मज़दूरी (मुद्रा के रूप में) बढ़ने पर भी वास्तविक मज़दूरी में कमी हो सकती है। ऐसा तब होता है जब वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि मुद्रा के रूप में मज़दूरी में वृद्धि से अधिक गति से होती है।

20.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दत्त, रूद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् (1990) : **भारतीय अर्थव्यवस्था**, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय: 3 7-38.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण (1990) : **भारतीय अर्थशास्त्र**, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, अध्याय 34-36.

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी (1989) : **भारतीय अर्थव्यवस्था**, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अध्याय 39.

Brahmananda, P.R. and Panchamukhi, V.R. (eds.) (1989): *The Development Process of the Indian Economy*. Himalaya Publishing House, New Delhi (See articles: 'Industrial Growth and Productivity in India' by K.L Krishna; 'Planning for Fuller Employment—A Review' by L.K. Deshpande; 'Productivity and Social Change' by Man Mohan Singh; and 'Estimated Distribution Parameters and their Behaviour in the Post-Independence Period' by N.S. Iyengar & P.R. Brahmananda).

Monappa, Arun (1985): *Industrial Relations*, Tata Mc-Graw Hill Publishing Company Ltd., New Delhi.

Tulpule B. & R.C. Datta (1988): *Real Wages in Indian Industry*, Economic and Political Weekly, Vol. XXIII, No. 44, October, 1988.

20.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) क) गलत ख) गलत ग) गलत

2) (i) ग (ii) घ (iii) घ (iv) घ

3) बेरोज़गारी का पता लगाने के लिए तीन मापदण्ड हैं:
सामान्य स्तर, साप्ताहिक स्तर तथा दैनिक स्तर। इनमें सामान्य स्तर में बेरोज़गार के प्रतिशत का मूल्यांकन होता है, जबकि साप्ताहिक और दैनिक स्तर से प्रतिशत में कमी का पता चलता है। किन्तु बेरोज़गारी का मूल्यांकन करने के सभी मापदण्डों के अनुसार बेरोज़गार लोगों की कुल संख्या में वृद्धि हुई है।

4) उप-भाग 20.3.3 पढ़िए और अक्षमता के लिए जिम्मेदार प्रमुख तत्वों का पता लगाइए।

बोध प्रश्न 2

1) विकास के प्रारंभिक चरणों में पूंजी-निवेश का अनुपात बढ़ाया जाना चाहिए और यह तभी संभव है, जब लाभ का हिस्सा बढ़ रहा हो।

2) यदि हम उत्पादन को मज़दूरी, लगान और लाभ में विभाजित करें तो मज़दूरी का हिस्सा स्थिर है, लाभ का हिस्सा बढ़ा है और लगान का भाग कम हुआ है। किन्तु यदि हम लगान को राष्ट्रीय उत्पादन में से घटा दें तो वेतन का हिस्सा घटा है और लाभ का हिस्सा बढ़ गया है।

3) उप-भाग 20.5.2 का दूसरा पैरा देखिए और तत्वों का पता लगाइए।

4) क) गलत ख) गलत ग) सही

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 20.5.3 का अंतिम पैरा पढ़िए।
2) सामाजिक सुरक्षा कानूनों का उद्देश्य श्रमिकों की जोखिम तथा कठिनाइयों से रक्षा करना है।
3) उप-भाग 20.6.3 पढ़कर उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 20.7 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) उप-भाग 20.7.1 पढ़कर अपने आसपास के कुछ उदाहरण लिखिए।
3) उप-भाग 20.7.4. पढ़िए और उत्तर दीजिए।
4) i) च ii) च iii) क

इकाई 21 ग्रामीण श्रमिक, रोजगार और कार्यशील महिलाएँ

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 ग्रामीण श्रमशक्ति, ग्रामीण श्रमिक और ग्रामीण रोज़गार
  21.2.1 ग्रामीण श्रमशक्ति
21.3 ग्रामीण श्रमिक
  21.3.1 बढ़ती हुई प्रवृत्ति
  21.3.2 परिवार और बंधुआ मज़दूर का प्रतिस्थापन
21.4 ग्रामीण ग़ैर-कृषि मज़दूर
21.5 संलग्न और बंधुआ मज़दूर
21.6 बेरोज़गारी और अल्प-रोज़गार
  21.6.1 बेरोज़गारी श्रेणी की परिभाषा
  21.6.2 रोज़गार तथा बेरोज़गारी के उपाय
21.7 कृषि/ग्रामीण श्रमिकों की दशा
21.8 ग्रामीण रोज़गार नीति
  21.8.1 आकार
  21.8.2 ग्राम विकास कार्यक्रम : महाराष्ट्र का उदाहरण
  21.8.3 अन्य रोज़गार कार्यक्रम
  21.8.4 ग़रीबी दूर करने की कार्यनीति
  21.8.5 लघु-स्तरीय नियोजन
21.9 कार्यशील महिलाएँ : कुछ विशिष्टताएँ
  21.9.1 महिलाओं का "कार्य"
  21.9.2 माप संबंधी कठिनाइयाँ
21.10 भारतीय श्रम बाज़ार में महिलाएँ
  21.10.1 रोज़गार की नियमितता
  21.10.2 व्यावसायिक वितरण
  21.10.3 मज़दूरी और आय
21.11 लिंगानुसार भेदभाव उत्पन्न करने वाले कारक
  21.11.1 पूर्ति की दशाएँ
  21.11.2 माँग की दशाएँ
21.12 सार्वजनिक नीतियाँ : महिलाएँ और विकास
  21.12.1 कुछ नए उपाय
  21.12.2 समीक्षा
21.13 सारांश
21.14 शब्दावली
21.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप:

- ग्रामीण श्रमिकों के कार्य और जीवन की शोचनीय दशा और इससे संबंधित बंधुआ मज़दूरों की समस्याओं का वर्णन कर सकेंगे;
- बेरोज़गारी और मजदूरी की दर को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कर सकेंगे;
- ग्रामीण श्रमिक की दशा सुधारने के लिए कार्यक्रम और सार्वजनिक कानूनों (public legislations) की चर्चा कर सकेंगे.

- कार्यशील महिलाओं की, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, समस्याओं और संभावनाओं का वर्णन कर सकेंगे; और
- मज़दूरी और कार्य की दशा में लिंग के आधार पर भेदभाव के प्रदत्त कारकों को पहचान सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम ग्रामीण श्रमशक्ति की विशेषताओं, ग्रामीण कृषि और गैर-कृषि कार्यकलापों में मज़दूरी पाने वाले मज़दूरों की समस्याओं और विशेष लक्षणों की चर्चा करेंगे। अंत में हम कार्यशील महिलाओं की दशा और उनकी समस्याओं की चर्चा करेंगे।

ग्रामीण क्षेत्र की सामाजिक-आर्थिक संरचना को समझे बिना ग्रामीण श्रमिकों और उनके रोज़गार की समस्याओं को नहीं समझा जा सकता। कृषि-उत्पादन की संरचना, जो सबसे प्रमुख ग्रामीण गतिविधि है, का ज्ञान बहुत महत्वपूर्ण है। अतएव आपको पिछले पाठों में, विशेषकर कृषिक संबंधों, भूमि का वितरण और कृषि में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन से संबंधित खंड 1 और 6 में, जो सीखा है उसे दोहराना होगा।

21.2 ग्रामीण श्रमशक्ति, ग्रामीण श्रमिक और ग्रामीण रोज़गार

तीन शब्द जिनकी आम तौर से चर्चा की जाती है, वे हैं:"ग्रामीण श्रमशक्ति", "ग्रामीण श्रमिक" और "ग्रामीण रोज़गार"। ग्रामीण श्रमशक्ति (अथवा मज़दूर बल) की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—यह उन पुरुषों और महिलाओं की, चाहे जो उम्र हो, कुल संख्या है जो ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक कार्यकलापों में लगी हुई है। यह साधारण वर्णन है। फिर भी, जब हम इस वर्णन को निश्चित रूप देने का प्रयत्न करते हैं तब इसका आगे विश्लेषण करने में समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। मोटे तौर पर, समस्याओं का संबंध (क)"ग्रामीण क्षेत्र की परिभाषा", और (ख) "आर्थिक कार्यकलाप की परिभाषा" से है। ग्रामीण क्षेत्र की परिभाषा करना आसान है। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण क्षेत्र और शहरी क्षेत्र के बीच एक रेखा खींचने की सीधी परिपाटी अपनाई जाए। वर्तमान में, ग्रामीण क्षेत्र की परिभाषा (क) मानव बस्ती का आकार (10,000 से कम आबादी), (ख) कार्यशील जनसंख्या का व्यवसाय के अनुसार वितरण (मुख्यतः कृषि), और (ग) नगरपालिका या शहरी अधिसूचना का अभाव, के संदर्भ में की जाती है। यदि मान्य परिपाटी में परिवर्तन की आवश्यकता होती है तो इसके साथ आसानी से समन्वय किया जा सकता है और इसके परिणामों की व्याख्या की जा सकती है।

दूसरी ओर, आर्थिक कार्यकलाप की परिभाषा करना और इसका गैर-आर्थिक कार्यकलाप से भेद करना न तो सीधा है और न ही आसान। आर्थिक कार्यकलाप का तात्पर्य उन क्रियाओं से है जिनके परिणामस्वरूप उन वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन होता है जो बाज़ार मूल्य रखती हों। किन्तु अधिकांश ग्रामीण कार्यकलाप घरेलू आधार पर किये जाते हैं और वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन अपने उपभोग के लिए होता है। उनका बाज़ार मूल्य स्पष्ट नहीं होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति खाना पकाने के लिए लकड़ी इकट्ठी करने जाता है तो यह कहना मुश्किल है कि उसे घरेलू गैर-आर्थिक कार्यकलाप समझा जाए या उत्पादक आर्थिक कार्यकलाप। घर के सारे सदस्य, चाहे किसी आयु अथवा लिंग के हों, कार्य में लगे रहते हैं। नियोक्ता/कर्मचारी की स्थिति या कार्यशील/गैर-कार्यशील स्थिति के आधार पर उनमें भेद आसानी से नहीं किया जा सकता है। यदि कार्य करने की आवश्यकता होती है तो घर के सदस्य आर्थिक कार्यकलाप में भाग लेते हैं। जब कार्य नहीं होता है तो वे घर के बाहर काम नहीं ढूँढ़ते हैं। इस कारण नहीं कि वे कार्य करना नहीं चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि अन्य कोई कार्य उपलब्ध नहीं है। यह सब समस्याएँ, विशेषकर महिला श्रमशक्ति का आकलन करने के लिए प्रासंगिक है। महिलाओं के बहुविध (कई) कर्तव्य हैं और वे एक से अधिक कार्य करती हैं। वे अधिकतर परिवार की अवैतनिक सदस्या हैं, जो खेतों में या पारिवारिक उद्यमों में बिना किसी नगद या अन्य

पारिश्रमिक के काम करती हैं। इनमें से बहुत-सी उस समय कार्य करती हैं, जब मज़दूरों की मांग पराकाष्ठा (चोटी) पर होती है तथा दूसरे मज़दूरों से इसे पूरा नहीं किया जा सकता है। इसके बाद वे गृह कार्य, बच्चों तथा पविार का लालन-पालन जैसे घरेलू कार्यकलापों में पुनः लग जाती हैं।

21.2.1 ग्रामीण श्रमशक्ति

श्रमशक्ति के आँकड़े और उसके लक्षण जनगणना तथा राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (NSS) से प्राप्त होते हैं। जटिलताओं से निपटने के लिए इन दोनों स्रोतों ने श्रमशक्ति की विभिन्न श्रेणियों में व्यक्तियों को सूचीबद्ध करने के लिए परिभाषाएँ अक्सर बदली हैं। फलस्वरूप इन दोनों स्रोतों से मिले आकार और संरचना से संबंधित परिणाम और समयानुसार प्रवृत्तियों में विभिन्नता है। यह तालिका 21.1 से स्पष्ट होता है, जो दोनों स्रोतों से प्राप्त मज़दूर-जनसंख्या अनुपात (अथवा भाग लेने की दर) को प्रदर्शित करती है।

तालिका 21.1 : ग्रामीण भारत में मज़दूर-जनसंख्या अनुपात

वर्ष	जनगणना				राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण		
	पुरुष	महिला	व्यक्ति	चक्र/वर्ष	पुरुष	महिला	व्यक्ति
1951	54.1	25.8	40.2	चौथा (1952)	59.3	33.8	46.7
1961	58.3	31.4	45.1	16वाँ (1960-61)	54.2	25.9	40.3
1971	53.6	15.5	36.1	27वाँ (1972-73)	54.5	31.8	43.3
1981	53.8	23.2	38.9	32वाँ (1977-78)	54.4	32.6	43.8
				38वाँ (1983-84)	54.3	33.7	44.2

स्रोत : जनगणना रिपोर्टें; एन.एस.एस. रिपोर्टें

आम तौर से जनगणना दरें, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण की दरों से कम हैं किन्तु महिलाओं के संबंध में जनगणना दरें 1961 वर्ष को छोड़कर तब से कम हैं जब उन व्यक्तियों को मज़दूरों में शामिल किया गया जिन्होंने साधारण कार्यकाल (working season) के अधिकांश भाग में कम से कम एक घंटा प्रतिदिन काम किया हो। इस प्रवृत्ति को भी नोट कीजिए कि राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के अनुसार पुरुष और महिला, दोनों की भागीदारी दर में बहुत थोड़ी कमी हुई है, जबकि जनगणना के अनुसार महिलाओं के संबंध में यह विशेष रूप से कम हुई है। इन संख्याओं का अर्थ यह है कि देश की 80 करोड़ से अधिक वर्तमान आकलित जनसंख्या में ग्रामीण मज़दूरों की संख्या 25 करोड़ से 30 करोड़ के बीच में है।

यह भी गौर करने योग्य बात है कि, दोनों स्रोतों के आँकड़े न केवल उपयोगी हैं, वरन् पूरक भी हैं। निश्चित संख्या, आयु-लिंग और शहरी-ग्रामीण वितरण, उद्योग-व्यवसाय श्रेणियाँ तथा अन्य इसी प्रकार की सूचियाँ केवल जनगणना से प्राप्त हो सकती हैं। दूसरी ओर, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण आँकड़े अधिक परिशोधित वैचारिक परिकल्पनाओं (refined conceptual designs) और आँकड़े इकट्ठे करने की विधियों से प्राप्त होते हैं। आम तौर से राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण से प्राप्त अनुपात अधिक विश्वसनीय समझे जाते हैं। यदि किसी प्रयोजन के लिए निश्चित संख्या की आवश्यकता हो तो राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण अनुपातों को जनगणना पर आधारित जनसंख्या के योगफलों पर लागू करके प्राप्त की जा सकती है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने श्रमशक्ति के विश्लेषण की सुविधा के लिए और अधिक परिशोधन किया है। इसका संबंध आकलन आधारित तीन वर्गों, सामान्य स्थिति, साप्ताहिक स्थिति और दैनिक स्थिति कार्यकलापों से है। यह हमने पिछली इकाई में देख लिया था। यह परिशोधन ग्रामीण रोज़गार के लिए अधिक प्रासंगिक है। सामान्य स्थिति (usual status) आकलन पूरे वर्ष के कार्यकलाप पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति यह सूचित करता है कि उसने वर्ष में 183 दिन या अधिक कार्य किया है

तो वह मज़दूर की श्रेणी में आएगा। साप्ताहिक स्थिति सर्वेक्षण से पूर्व सात दिन के कार्यकलाप के आधार पर निर्धारित होती है। दैनिक स्थिति दरें श्रमशक्ति की विभिन्न स्थितियों के अंतर्गत सूचित दिनों का योग करके प्राप्त होती हैं। इसमें रोज़गारशुदा, बेरोज़गार तथा वे लोग जो श्रमशक्ति में शामिल नहीं हैं सभी गिने जाते हैं। सामान्य और साप्ताहिक स्थिति श्रेणी का संदर्भ व्यक्तियों से है। किसी श्रेणी विशेष में वर्गीकरण वास्तविक कार्य अभिलेख पर आधारित होता है। दैनिक स्थिति दरें संदर्भ काल में कुल दिनों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत करती हैं। इसलिए आकलित दरें व्यक्तियों की बदलती संरचना की ओर संकेत करती हैं। आकलन संबंधी प्रणाली में यह नव परिवर्तन (methodological innovation), विश्लेषण और नीति निर्धारण दोनों के लिए भली-भाँति समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आकलन तालिका 21.2 में दिए गए हैं। इस तालिका से यह देखा जा सकता है कि सामान्य स्थिति दरें साप्ताहिक स्थिति दरों से अधिक हैं जो शहरी और ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों में दैनिक स्थिति भागीदारी दरों से अधिक हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साप्ताहिक और दैनिक स्थिति दरों में उन चार महीनों में फर्क होता है, जब आँकड़े इकट्ठे किए जाते हैं। कुछ ऋतुओं में दैनिक स्थिति दरें कृषिकार्य (agricultural operation) के मौसमी होने (seasonality) के कारण सामान्य और साप्ताहिक स्थिति दरों से अधिक हो जाती हैं।

तालिका 21.2 : पाँच वर्ष अथवा अधिक की जनसंख्या की विभिन्न मानदंडों के प्रयोग द्वारा भागीदारी दरें

संकल्पना/वर्ष	ग्रामीण		शहरी	
	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
सामान्य स्थिति				
1972-73	64.6	37.7	60.0	16.5
1977-78	64.9	39.3	60.8	20.3
1983	64.4	39.6	61.2	18.1
चालू साप्ताहिक स्थिति				
1972-73	64.1	34.5	59.5	15.7
1977-78	62.4	28.1	59.8	16.0
1983	61.6	27.4	59.9	14.6
चालू दैनिक स्थिति				
1972-73	63.2	30.7	59.1	14.5
1977-78	60.9	24.8	59.0	14.6
1983	60.4	25.2	59.1	13.6

स्रोत : सर्वेक्षण, अप्रैल 1988, पृष्ठ 22-42

जैसा कि हम जानते हैं, समय-समय पर श्रमशक्ति की प्रवृत्तियों का विश्लेषण विकास की प्रक्रिया में आए संरचनात्मक परिवर्तन को समझने के लिए आवश्यक है। भारतीय अनुभव से मालूम होता है कि कृषि और अन्य प्राथमिक कार्यकलापों में लगे मज़दूरों का अनुपात 70 के दशक तक असाधारण रूप से स्थिर रहा। इसके पश्चात् आँकड़े यह बतलाते हैं कि इस अनुपात में थोड़ी, किन्तु स्पष्ट कमी हुई है यद्यपि प्राथमिक कार्यकलापों में लगे मज़दूरों की निश्चित संख्या बराबर बढ़ती रही। तालिका 21.3, जिसमें मज़दूरों की कुल संख्या का लिंगानुसार कृषि और गैर-कृषि कार्यकलापों में वितरण दिखाया गया है, इस पर प्रकाश डालती है।

तालिका 21.3 : समस्त श्रमशक्ति (ग्रामीण और शहरी) का वितरण

(प्रतिशत)

श्रेणी	लिंग	1951	1961	1971	1981
कृषक	पुरुष	51.9	51.0	46.2	43.1
	महिला	46.0	55.3	30.6	37.5
	व्यक्ति	50.0	52.8	43.4	41.6
कृषक मज़दूर	पुरुष	16.5	13.7	21.2	19.8
	महिला	34.6	24.6	50.3	44.8
	व्यक्ति	21.8	17.2	27.0	26.3
ग़ैर-कृषक मज़दूर	पुरुष	31.6	35.3	32.5	36.5
	महिला	19.4	20.1	19.2	17.7
	व्यक्ति	28.0	30.5	29.9	31.6

स्रोत : विभिन्न वर्षों में जनगणना।

21.3 ग्रामीण श्रमिक

शब्द "ग्रामीण श्रमिक" आम तौर से कृषि और अन्य ग्रामीण कार्यकलापों में मज़दूरी पाने वाले मज़दूरों के लिए प्रयोग किया जाता है। स्व-रोज़गार से वेतनभोगी कर्मचारी में मज़दूरों की स्थिति में परिवर्तन संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। कर्मचारियों में भी भेद हो सकता है कि वे नियमित वेतनभोगी कर्मचारी हैं या अनियमित कर्मचारी। जो व्यक्ति भूमि अथवा दूसरी उत्पादक परिसम्पत्ति (जैसे पशु) के स्वामी हैं उनके स्व-रोज़गार होने की संभावना होती है। जिनके पास आर्थिक रूप से अर्थपूर्ण भूमि या परिसम्पत्ति नहीं है, उनके वेतनभोगी मज़दूर होने की संभावना होती है। नियमित वेतनभोगी कर्मचारियों की विविध विशेषताएँ होती हैं। वास्तव में इस श्रेणी में बहुत विविधता है। उदाहरण के लिए, भूमिहीन, भूमि को पट्टे पर लेकर स्व-रोज़गार कर सकते हैं और भूमिधरों को अक्सर अपनी आय को बढ़ाने के लिए वेतनभोगी कर्मचारी के रूप में काम करना पड़ता है क्योंकि भूमि की उत्पादकता कम होने या जोत के छोटे आकार के कारण उनकी आय कम होती है। संक्षेप में, वेतनभोगी मज़दूर की विविध विशेषताएँ हैं। जाति पर आधारित सामाजिक अंतर और प्रदेशीय अंतर इन विविधताओं को और बढ़ा देते हैं।

21.3.1 बढ़ती हुई प्रवृत्ति

उपलब्ध आँकड़ें इस ओर इशारा करते हैं कि ग्रामीण कार्य बल में कर्मचारियों (या मज़दूरों) की संख्या में वृद्धि की ओर निश्चित प्रवृत्ति है। सातवें दशक तक वृद्धि मामूली थी, किन्तु सातवें दशक और आठवें दशक में यह संख्या बड़ी तीव्र गति से बढ़ी है। आज इनकी अनुमानित संख्या कुल 25 करोड़ के ग्रामीण श्रमशक्ति में कम से कम 8 करोड़ है। 1981 की जनगणना और आठवें दशक के सर्वेक्षण से इस श्रेणी की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :

i) प्रति 100 पुरुष ग्रामीण मज़दूरों के पीछे 60 महिला मज़दूर थीं, जबकि कृषकों में उनकी संख्या केवल 19 प्रति 100 पुरुष थी, और

ii) तीन मज़दूरों में कम से कम एक अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति का था।

दूसरे शब्दों में, ग्रामीण मज़दूर वर्ग में महिलाओं और अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति की संख्या अनुपात से बहुत अधिक है।

अर्थशास्त्रियों के एक प्रभावशाली वर्ग के अनुसार कृषि मज़दूरों की संख्या में वृद्धि बिगड़ते हुए ग्रामीण दृश्य का सही सूचक है क्योंकि मज़दूर वर्ग में संख्या की वृद्धि बिगड़ती हुई

बेरोज़गारी और वास्तविक वेतन में ठहराव से जुड़ी हुई है। इस परिवर्तन के बहुत कारक हैं। पाँचवें और छठे दशक के आरंभ में सारे भारत में भूमि सुधार का उद्देश्य भूमि के वास्तविक जोतने वालों को वंशागत काश्तकारी अधिकार दिलाना था, यद्यपि बटाई काश्तकारी कृषि का तरीका जारी रहा। इस प्रकार के कृषकों की स्थिति, विशेषकर भूमि रिकार्ड में, मज़दूरों में बदल दी गई है। दूसरे शब्दों में, बटाई काश्तकारी, जो भूमि को पट्टे पर देने का एक तरीका था, अब मज़दूर को लगाने का एक तरीका समझा जाता है। इसके साथ ही बड़े खेतों के पट्टे पर देने का क्षेत्रफल कम हो गया है क्योंकि किसान अब कृषि में अधिक दिलचस्पी लेने लगे हैं क्योंकि कृषि की बेहतर तकनीक से अधिक आमदनी की संभावना है। छोटे और सीमांत किसान जो संसाधनों के अभाव में या छोटे खेतों की अव्यवहार्यता के कारण नई प्रौद्योगिकी का लाभ उठाने में असमर्थ हैं, वे गाँव में या बाहर अनियमित मज़दूर के रूप में कार्य करने पर बाध्य हो जाते हैं। भूमि पर जनसंख्या के दबाव ने स्थिति को और भी गंभीर बना दिया है। पंजाब और हरियाणा जैसे क्षेत्रों में कृषि मज़दूरों में वृद्धि के कारण ग्रामीण गैर-कृषि व्यवसायों में मज़दूरों की कमी हुई है।

21.3.2 परिवार और बंधुआ मज़दूर का प्रतिस्थापन

दूसरा कारक जिसने इस प्रवृत्ति को प्रभावित किया, वह है पारिवारिक श्रम का वेतनभोगी श्रम द्वारा प्रतिस्थापन। ऐसा या तो समृद्ध किसानों में अधिक अवकाश की पसंद के कारण अथवा महिला जनसंख्या की भागीदार दर कम होने के कारण हुआ होगा। महिला भागीदारी दर में कमी परिवार की आमदनी में वृद्धि होने के कारण श्रमशक्ति से स्वयं हट जाने के कारण हो सकती है अथवा यह प्रौद्योगिकी परिवर्तन का फल हो जिससे महिला मज़दूरों की माँग घट गई। नई प्रौद्योगिकी में कुशलता और निर्णय लेने के एक स्तर की आवश्यकता होती है, जिसमें महिलाएँ प्रशिक्षित नहीं हैं। इसके लिये घर के बाहर के संसार से अधिक सम्पर्क की आवश्यकता होती है। चूँकि हमारा समाज इसे अच्छा नहीं समझता कि महिलाएँ इस प्रकार के कार्य करें, वे प्रायः पूरी उत्पादन प्रक्रिया के बाहर कर दी गई हैं। इससे वेतनभोगी मज़दूर पर परिवार की निर्भरता बढ़ जाती है।

देश के कुछ भागों में माँग कारक से भी कृषि मज़दूरों की संख्या में वृद्धि हुई होगी। हरियाणा और पंजाब जैसे राज्यों में नई प्रौद्योगिकी के कारण मज़दूरों की माँग में वृद्धि हुई है, विशेषकर कटाई और दांवना के समय। इससे मज़दूरी दर बढ़ गई होगी और इसने देश के दूसरे भागों से बड़ी संख्या में प्रवासी मज़दूरों को आकर्षित किया।

दूसरे कारक जिनसे अनियमित मज़दूरों की संख्या में वृद्धि हुई है, उनमें बंधुआ मज़दूरों का विलोपन (elimination), नियमित कर्मचारियों को नियुक्त करने की ऊँची लागत अथवा देश के कुछ भागों में अनियमित कार्य की ऊँची मज़दूरी है। इस व्याख्या में कुछ सच्चाई है। किसी विशेष कारक का महत्व एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भिन्न होता है और विश्लेषण आरंभ होने के समय आरंभिक परिस्थिति पर भी निर्भर हो सकता है। ग्रामीण श्रमशक्ति की बदलती संरचना तथा उनके सामाजिक-आर्थिक सहसंबंध, भारत की एक इकाई की अपेक्षा समरूप कृषि संस्थागत प्रदेशों के अंतर्गत अधिक अच्छी तरह समझे जा सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) ग्रामीण मज़दूरों के आँकड़ों के क्या स्रोत हैं?

.....

.....

.....

.....

2) श्रमशक्ति में भागीदारी दरों के विभिन्न उपायों की परिभाषा तीन वाक्यों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) कृषि मज़दूरों की हाल में वृद्धि के संभावित कारण क्या हैं? (उत्तर तीन वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

21.4 ग्रामीण गैर-कृषि मज़दूर

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि घटक के बारे में बहुत दिलचस्पी है। यह दिलचस्पी दो बातों से पैदा होती है—पहली, यह अनुभूति कि गैर-कृषि ग्रामीण क्षेत्र ग्रामीण समाज के लिए मौलिक आवश्यकताओं तथा अनेक प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं को जुटाते हैं तथा दूसरी बढ़ते हुए श्रमशक्ति को रोज़गार प्रदान करने के लिए ग्रामीण आर्थिक संरचना की विविधता आवश्यक है।

तालिका 21.4 : ग्रामीण श्रमशक्ति में गैर-कृषि श्रमिकों का भाग

वर्ष	पुरुष	महिला	व्यक्ति
1961	16.3	10.3	14.3
1971	16.3	10.6	15.2
1972-73	19.3	14.3	उपलब्ध नहीं
1977-78	19.5	11.9	16.7
1981	18.3	9.7	15.8
1983	22.4	12.3	18.6

स्रोत : जीमोल उन्नी (1989)

मापने और तुलना के अभाव की समस्याओं के कारण समय-समय पर गैर-कृषि मज़दूर के भाग का अनुमान करना कठिन है। फिर भी, आँकड़ों के संकलन से यह प्रदर्शित होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-कृषि श्रमशक्ति का भाग 1961 में 14.3 प्रतिशत था, जो 1983 में बढ़कर 18.6 प्रतिशत हो गया। 1961 में यह भाग मध्य प्रदेश और राजस्थान में 9 प्रतिशत से लेकर केरल में 32 प्रतिशत तक था। यह अंतराल 1983 में करीब-करीब ऐसा ही रहा तथा मध्य प्रदेश और केरल की स्थिति भी वही रही। पंजाब को छोड़कर अन्य राज्यों में पुरुष गैर-कृषि मज़दूरों के अनुपात में बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखाई दी। पुरुष मज़दूरों का अखिल भारतीय भाग 1961 में 16.3 प्रतिशत से बढ़कर 1983 में 22.4 प्रतिशत हो गया। महिला मजदूरों के संबंध में परिवर्तन न केवल (1961 में 10.3 प्रतिशत से 1983 में 12 प्रतिशत) कम था, बल्कि देश के विभिन्न भागों में ये प्रवृत्तियाँ समान भी नहीं थीं।

यह प्रवृत्तियाँ क्या प्रदर्शित करती हैं? बहुत से कारक हैं जो इन प्रवृत्तियों की व्याख्या कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, जिन क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता ऊँची है और विकास का स्तर ऊँचा है, वहाँ आगे और पीछे के संबंधों के कारण गैर-कृषि कार्यकलाप भी अधिक हो सकते हैं। दूसरी ओर, व्यापक ग़रीबी और बेरोज़गारी के क्षेत्रों में भी गैर-कृषि कार्यकलाप अधिक हो सकते हैं, ये अधिक उत्पादक रोज़गार के अवसर के अभाव के कारण वास्तव में ग़रीबी से उत्पन्न सीमांतक कार्यकलाप हैं। उपलब्ध अध्ययन से प्राप्त तस्वीर अभी निर्णायक नहीं है जिससे किसी विचार विशेष का समर्थन किया जा सके। उपरोक्त संबंधों में प्रत्येक को जाँचने के कई प्रयत्न किए जा चुके हैं, किन्तु परिणाम निर्णायक नहीं मिले हैं। कृषि सम्पन्न क्षेत्रों में अधिक गैर-कृषि रोज़गार होता है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह अधिक विविध मांग के कारण (आगे के संबंध) है अथवा कृषि में अधिक गैर-कृषि आदानों (पीछे के संबंध) की मांग के कारण। इसी प्रकार, यद्यपि विभिन्न राज्यों में गैर-कृषि रोज़गार और बेरोज़गारी दरों में सकारात्मक सहसंबंध मिलता है, फिर भी कृषि

विकसित प्रदेशों में अधिक बेरोज़गारी के कई कारण हैं और वे इस परिकल्पना का समर्थन नहीं करते हैं कि गैर-कृषि कार्यकलाप आवश्यक रूप से ग़रीबी से उत्पन्न अवशिष्ट सीमांतक कार्यकलाप (residual poverty-induced marginalised activities) हैं। उदाहरण के लिए, हरियाणा में अपेक्षाकृत अधिक बेरोज़गारी बिहार से रोज़गार की तलाश में आए मज़दूरों के कारण हो सकती है जो ऊँची मौसमी मज़दूरी दर के कारण आकर्षित होते हैं।

21.5 संलग्न और बंधुआ मज़दूर

ग्रामीण श्रमिक स्थिति के एक और पक्ष जिसने हाल के वर्षों में बहुत ध्यान आकर्षित किया है, वह बंधुआ मज़दूर की प्रथा है। यह शब्द उस स्थिति की ओर संकेत करता है जिसमें मजदूर अपने स्वामी से इस प्रकार संलग्न रहता है कि उसे अन्य रोज़गार ढूँढ़ने की स्वतंत्रता नहीं होती है। साधारण शब्दों में, यह स्थिति कृषि दासता के ही समान है। स्वामी से संलग्न होने का मुख्य कारण ऋण बंधन होता है, जो अक्सर पुश्तैनी होता है। इस बंधन के दो लक्षण होते हैं: (i) गैर-आर्थिक जबरदस्ती का तत्व, और (ii) शोषण का तत्व, जो ऊँची ब्याज दर पर ऋण के दायित्व का फल होता है। गाँवों में जाति व्यवस्था और अत्यधिक ब्याज की दरें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं जिसमें ऋण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भी अदा नहीं हो सकता। फलस्वरूप, ऋण दायित्व केवल विशेष मज़दूरों को ही नहीं, बल्कि पूरे परिवार को घेरे में ले लेता है। भारत के प्रत्येक राज्य में यह वर्ग मौजूद है और भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। गुजरात और उत्तर प्रदेश का "हाली" या "हालिया", पंजाब का "नौकर" और पश्चिम बंगाल का "महिन्दर", तमिलनाडु का "चरमा" और केरल का "चेरूम", राजस्थान का "सकारी" तथा मध्य प्रदेश का "सलकारी" एवं उड़ीसा का "गोटी" इस वर्ग के विभिन्न रूप हैं। 1975 में एक अध्यादेश के द्वारा बंधुआ मज़दूर प्रथा समाप्त कर दी गई; राज्यों को कहा गया कि बंधुआ मज़दूरों की पहचान की जाए और उनको मुक्त कराने तथा उनके पुनर्वास की कार्रवाई की जाए। बीस-सूत्री कार्यक्रम में बंधुआ मज़दूरों के पुनर्वास को महत्व दिया गया था। 1975-76 और 1984 के दौरान करीब 1.74 लाख बंधुआ मज़दूर पहचाने गए और उन्हें मुक्त कराया गया। उनमें से 1.31 लाख बंधुआ मज़दूरों को पुनः स्थापित किया गया। फिर भी, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 32वें चक्र में एक वर्ग, जिसे इस प्रकार परिभाषित किया गया: "स्वामी के साथ दायित्व के अंतर्गत बिना किसी निश्चित मजदूरी/वेतन के काम करने वाला" है। इसको अलग से दिखाया गया है और इसकी कुल संख्या 1977-78 में कम से कम चार लाख अनुमानित की गई है। 38वें चक्र में "दायित्व के अंतर्गत काम करता है" की परिभाषा कुछ उदार कर दी गई। फलस्वरूप दायित्व के अंतर्गत कार्य करने वाले मज़दूरों की संख्या 32वें चक्र में दर्ज किए गए स्तर से दुगुनी हो गई। आम राय यह है कि सरकारी तौर से अनुमानित या बड़े पैमाने पर सर्वेक्षणों में अनुमानित संख्या वास्तविकता से बहुत कम है। यह सुझाव दिया गया है कि यह संख्या कृषि मज़दूरों की कुल संख्या का चार या पाँच प्रतिशत से कम नहीं है। इससे अनुमानित संख्या पाँच से दस लाख के बीच पहुँच जाएगी।

बंधुआ मज़दूर बल के आकार के बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु दो पक्षों के बारे में, जो ग्रामीण क्षेत्रों में मज़दूरों के कल्याण के लिए निर्णायक हैं, सर्वसम्मति है। वे हैं (i) उस समय तक उचित शर्तों पर उपभोग ऋण की आपूर्ति, जब तक कि उत्पादकता या वेतन वृद्धि इतनी हो जाए कि उपभोग ऋण की आवश्यकता ही न रहे, सुनिश्चित की जाए; (ii) अत्यन्त शोषण की स्थिति जहाँ भी और जिस रूप में है, उसे कानूनी और प्रशासनिक कार्य के द्वारा दूर करने की आवश्यकता। कुछ पहचाने गए क्षेत्र जहाँ ऋण बंधन बहुत विस्तृत हो सकते हैं, वे उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बिहार और राजस्थान के जनजाति के इलाके हैं। यदि बंधुआ मज़दूर प्रणाली को जड़ से समाप्त कर दिया जाए तो भी ग्रामीण मजदूरी का स्तर और कार्य की शर्तों का नियंत्रण एक चुनौती ही रहेगा। न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, 1948; या बंधुआ मज़दूर उन्मूलन अध्यादेश, 1975; जैसे कानूनों के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में ग़रीबों के शोषण की घृणित घटनाएँ अक्सर घटती रहती हैं। केरल और तमिलनाडु और हाल में पश्चिम बंगाल के अलावा ग्रामीण मज़दूरों का मज़दूर संघ में संगठित होना प्रायः अस्तित्व-विहीन है। "1974-75 ग्रामीण मज़दूर जाँच" यह प्रदर्शित करती है कि ग्रामीण मज़दूरों में एक प्रतिशत से भी कम संघबद्ध हैं और केवल दो प्रतिशत न्यूनतम मज़दूरी-कानूनों से अवगत हैं। वैकल्पिक रोज़गार के अवसर बहुत कम हैं और आधुनिक प्रौद्योगिकी से मज़दूरों का प्रतिस्थापन आसान हो गया है। ग्रामीण श्रमिकों में

अधिकांश का दोहरा व्यक्तित्व है। वे स्वयं-नियुक्त काश्तकार हैं और मज़दूर भी। एक ठेठ ग्राम परिस्थिति में जिसमें केवल 100 से 150 तक घर हैं, मज़दूर अन्य वर्गों से बहुत अधिक होते हैं। इन सब कारणों से ग्रामीण मज़दूरों का संघबद्ध होना बहुत मुश्किल हो जाता है।

21.6 बेरोज़गारी और अल्प-रोज़गार

हम पहले भी ग्रामीण क्षेत्रों में रोज़गार और बेरोज़गारी की परिभाषा से संबंधित कुछ समस्याओं की चर्चा कर चुके हैं। सघन जनसंख्या वाले ग्रामीण क्षेत्रों में अप्रयुक्त या पूर्ण रूप से प्रयुक्त न होने वाले मज़दूरों की भारी क्षमता की परिकल्पना सहज स्पष्ट है। फिर भी, संकल्पनात्मक और प्रयोगाश्रित, दोनों ढाँचों में आधिक्य की संकल्पना से प्रश्नों के साधारण या सीधे उत्तर नहीं मिलते हैं। साधारण और बहुत सामान्य शब्दों में हम निम्नलिखित वर्गों में अंतर स्पष्ट कर सकते हैं।

21.6.1 बेरोज़गारी श्रेणी की परिभाषा

खुली बेरोज़गारी का संकेत उन लोगों से है जो कार्य करना तो चाहते हैं और काम ढूँढ़ भी रहे हों किन्तु काम पाने में असमर्थ हैं।

अल्प-रोज़गार का संकेत उन लोगों से है जो काम तो कर रहे हैं किन्तु पूर्ण रोज़गार समय मानक के आधार पर कार्य अपर्याप्त है। इस प्रकार पूर्ण रोज़गार या मानक यदि यह है कि एक व्यक्ति को वर्ष में कम से कम 240 दिन काम करना चाहिए, तब जो व्यक्ति वर्ष में 240 दिनों से कम काम करते हैं उन्हें अल्प-रोज़गार कहा जाएगा। अल्प-रोज़गार खुला या स्पष्ट होता है अथवा प्रच्छन्न या अस्पष्ट होता है। स्पष्ट अल्प-रोज़गार अनियमित अथवा अपर्याप्त काम के रूप में होता है। मज़दूर और काश्तकार, दोनों को कार्य के मौसमी होने से हानि होती है। एक फ़सल वाले क्षेत्र, विशेष तौर पर इस प्रकार के अल्प-रोज़गार से पीड़ित होते हैं।

अस्पष्ट अल्प-रोज़गार का संकेत उस परिस्थिति की ओर है जहाँ लोग कार्यरत तो होते रहे हैं किन्तु उनकी उत्पादकता कम होती है। साथ ही ये श्रमिक कम आय और कम उत्पादकता के कारण अतिरिक्त कार्य खोज रहे होते हैं। यदि उन्हें वर्तमान व्यवसाय से हटा लिया जाए तो कुल उत्पादन में कोई कमी नहीं आएगी।

21.6.2 रोज़गार तथा बेरोज़गारी के उपाय

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के रोज़गार संबंधी आँकड़ों से इस समस्या के माप की सूचना मिलती है। मज़दूर बल की परिभाषाओं के अनुसार, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने बेरोज़गारी और अल्प-रोज़गार के तीन वर्ग किए हैं, जैसे सामान्य स्थिति, साप्ताहिक स्थिति और दैनिक स्थिति बेरोज़गारी दरें। सामान्य स्थिति और साप्ताहिक स्थिति दरें उन व्यक्तियों की ओर संकेत करती हैं जिन्हें बेरोज़गार परिभाषित किया गया है। दूसरी ओर, व्यक्ति-दिवस दर या दैनिक स्थिति दर व्यक्तियों की बदलती हुई संरचना के लिए बेरोज़गारी के दिनों की ओर संकेत करती है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने 27वें और 32वें चक्र के अनुमान बनाए हैं जिन्हें अल्प-रोज़गार का अप्रत्यक्ष माप समझा जाता है। तालिका 21.5, 27वें और 38वें चक्र से प्राप्त वैकल्पिक अनुमान प्रदर्शित करती है। उच्चतम दरें अनियमित मज़दूर वर्ग के संदर्भ में दर्ज की गई है। नीचे दी गई तालिकाएँ (21.5 और 21.6) अल्प-रोज़गार के अप्रत्यक्ष अनुमान प्रदर्शित करती हैं।

तालिका 21.5 : विभिन्न मानदंडों से बेरोज़गारी दरें

चक्र	सामान्य स्थिति		वर्तमान स्थिति		दैनिक स्थिति	
	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
* बेरोज़गारी से प्रभावित						
एन.एस.एस. 27वाँ	1.5	0.3	3.9	3.6	8.6	6.5
एन.एस.एस. 32वाँ	1.3	2.0	4.9	2.4	9.5	4.3
एन.एस.एस. 38वाँ	2.1	1.4	3.7	4.3	7.5	9.0
** बेरोज़गारों का प्रतिशत						
एन.एस.एस. 27वाँ	0.7	0.2	1.9	1.9	4.3	3.4
एन.एस.एस. 32वाँ	1.4	1.7	2.2	1.2	4.3	2.3
एन.एस.एस. 38वाँ	1.3	0.4	2.3	1.2	4.5	2.3

स्रोत : सर्वेक्षण, अप्रैल, 1988, पृष्ठ 22, 42, 62.

टिप्पणी : * बेरोज़गार, मज़दूर बल के प्रतिशत में
** 5 वर्ष और उससे अधिक उम्र की जनसंख्या का प्रतिशत बेरोज़गार

तालिका 21.6 : रोज़गार में लगे मज़दूरों का अल्प-रोज़गार (प्रतिशत)

कार्यरत दिनों की संख्या	32वाँ चक्र		38वाँ चक्र	
	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
सभी सातों दिन	84.3	63.8	84.6	69.9
4-7 दिन	10.9	16.8	11.2	16.0
4 से कम दिन	4.8	19.4	4.3	14.1

स्रोत : सर्वेक्षण, खंड-II संख्या-4, अप्रैल, 1988, पृष्ठ-66.

21.7 कृषि/ग्रामीण श्रमिकों की दशा

1950-51 से राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने श्रम मंत्रालय की ओर से उन घरों के समूहों का अखिल भारतीय ग्रामीण सर्वेक्षण किया जिन्हें कृषि मज़दूर या ग्रामीण श्रमिक घर कहा जाता था। 1950-51 की प्रथम और 1956-57 की द्वितीय कृषि मज़दूर जाँच का संबंध कृषि मज़दूर घरों से था और बाद में 1964-65 तथा 1974-75 की जाँच समस्त ग्रामीण मज़दूर घरों से संबंधित थी। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण का 25वाँ चक्र (1970-71) भी गैर-कृषि मज़दूर घरों के जीवन-स्तर और रोज़गार के बारे में सूचना प्रदान करता है। जाँच के दोनों समूहों में परिभाषा और सर्वेक्षण विधि का अंतर है किन्तु यथोचित समायोजन द्वारा समयोपरांत निकटतम तुलना करना संभव है। यह जाँच हमारे ग्रामीण कृषि मज़दूरों की दशा के दस्तावेज़ बनाती है।

प्रथम जाँच (1950-51) में कृषि मज़दूर घर की पहचान प्रमुख समय के मानदंड के आधार पर की गई थी अर्थात् इसकी परिभाषा के अनुसार वह घर कृषि श्रम परिवार कहलाता था जहाँ घर के कमाऊ सदस्यों के कार्यकलाप का प्रमुख भाग फसल उत्पादन में वेतनभोगी रोज़गार में व्यतीत होता था। 1956-57 में, वर्गीकरण आय के प्रमुख स्रोत के आधार पर किया गया था। 1964-65 और 1974-75 की ग्रामीण मज़दूर जाँच ने आय के प्रमुख स्रोत के मानदंड का प्रयोग किया किन्तु उनका क्षेत्र अधिक सामान्य बना दिया गया, जिसमें केवल कृषि मज़दूर घरों को ही नहीं, वरन् सभी मज़दूर घरों को शामिल कर लिया गया था। तालिका 21.7 चारों जाँचों के मुख्य परिणामों को प्रदर्शित करती है।

तालिका 21.7 : ग्रामीण श्रमिक घरों के कुछ लक्षण

	लक्षण	1956-57	1964-65	1974-75	1977-78	1983
1.	कृषि मज़दूर घरों का प्रतिशत	24.5	21.8	25.3	29.9	30.7
2.	ग्रामीण श्रमिक घरों का प्रतिशत	—	25.4	30.3	36.8	37.3
3.	i) भूमिधारी कृषि मज़दूर घरों का प्रतिशत	42.9	43.4	49.2	48.6	—
	ii) काश्तकार ग्रामीण श्रमिक घरों का प्रतिशत	—	—	60.2	54.8	54.8
4.	कृषि मज़दूरों की अनुमानित संख्या (करोड़)					
	पुरुष	—	1.73	2.48	—	—
	महिला	—	1.11	1.75	—	—
	बच्चे	—	—	0.17	0.27	—
	कुल	—	—	3.02	4.50	5.18
5.	रोज़गार के औसत वार्षिक दिन (पुरुष)					
	रोज़गार वेतन	222	245	214	245	—
	स्व-रोज़गार	33	25	28	41	—
	कुल	255	270	242	286	—
6.	कृषि प्रक्रिया में औसत दैनिक आय (रुपए)					
	पुरुष	1.0	1.4	3.2	3.8	—
	महिला	0.6	1.0	2.3	2.7	—
	बच्चे	0.5	0.7	1.8	—	
ऋणग्रस्तता						
7.	ऋणग्रस्त घरों का प्रतिशत	63.9	60.6	66.4	—	—
8.	औसत वार्षिक आय (रुपए)	437.0	695.0	1782.0	—	—
9.	औसत उपभोग खर्च (रुपए)	617.0	1029.0	2443.0	—	—

स्रोत : भारत सरकार (1960, 1978क, 1983ख)

मज़दूर जाँचों से जो अखिल भारतीय तस्वीर उभरती है, उसमें बहुत सी अंतर्राज्यीय भिन्नता तथा समय के साथ आए परिवर्तन शामिल हैं। उदाहरण के लिए, 1956-57 और 1964-65 के दौरान भूमिधारी कृषि मज़दूर घरों के अनुपात की अधिकांश वृद्धि उत्तरी अंचल में थी, जहाँ इनका प्रतिशत 17.8 से बढ़कर 24.9 हो गया। बाद में यह घटकर 20.5 रह गया। अंचल के तीन प्रमुख राज्य—राजस्थान, पंजाब और हरियाणा—प्रत्येक में प्रवृत्तियाँ समयोपरांत एक-सी ही रहीं। पश्चिमी अंचल में [महाराष्ट्र, गुजरात और मैसूर (वर्तमान कर्नाटक)] यह प्रतिशत 1956-57 से 1964-65 के दौरान 34.2 प्रतिशत से घटकर 31.7 प्रतिशत हो गया किन्तु 1974-75 में यह बढ़कर 44.6 हो गया। अन्य तीन अंचलों—केन्द्रीय, पूर्वी और दक्षिणी—में दोनों कालों में थोड़ी वृद्धि दर्ज की गई। कुल मिलाकर मज़दूर घरों के प्रतिशत में वृद्धि इस ओर संकेत करती है कि छोटे और सीमांतक काश्तकार अधिक संख्या में श्रम बाज़ार में आ रहे हैं।

तालिका 21.7 में दिए गए जीवन-स्तर के लक्षण ग्रामीण क्षेत्र में प्रवृत्तियों की बहुत निराशाजनक अवस्था प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 25वें चक्र के परिणाम के अनुसार, सब वर्गों की औसत वार्षिक आय 590 रुपए के समक्ष गैर-कृषि ग्रामीण श्रमिक घरों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 253 रुपए है। यह सब परिणाम ग्रामीण किसानों की बढ़ती हुई निर्धनता की परिकल्पना के समर्थन में प्रयोग किए जाते हैं यद्यपि कुछ असहमति की आवाज़ें भी हैं। तथापि, इस तथ्य के बारे में कोई शक नहीं कि स्थिति चाहे बिगड़ी हो या नहीं, औसत घरों की अत्यन्त कम आय से उत्पन्न निम्न जीवन-स्तर किसी भी व्यक्ति के लिए जो भारतीय ग्रामीण दशा में रुचि रखता है, चिंता का विषय है। ग्रामीण श्रमिक में

केवल ग़रीब और अल्पवैतनिक हैं, बल्कि श्रम और सामाजिक सुरक्षा कानूनों के अंतर्गत सुरक्षित भी नहीं है। असंगठित होने के कारण भारतीय मज़दूर वर्ग का यह सबसे अधिक शोषित भाग है।

पिछले तीन दशकों के विकास के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि गैर-कृषि क्षेत्र में बड़े पैमाने पर रोज़गार बढ़ाने की संभावना संसाधनों की कमी तथा गैर-कृषि क्षेत्र में ऊँचे पूँजी-श्रम अनुपात द्वारा सीमित हो जाती है। इसलिए रोज़गार समस्या का समाधान अधिकांशतः कृषि और ग्रामीण गैर-कृषि क्षेत्र में ही ढूँढ़ना पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि कृषि किस सीमा तक रोज़गार और आयोपार्जन की आवश्यकताओं तथा बढ़ती हुई ग्रामीण जनसंख्या में समन्वय स्थापित कर सकती है?

बोध प्रश्न 2

1) ग्रामीण गैर-कृषि मज़दूरों की वृद्धि के क्या कारण हो सकते हैं? (उत्तर 3 वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अप्रत्यक्ष बेरोज़गारी का एक उदाहरण दीजिए और इसका अल्प-रोज़गार के विभिन्न रूपों से अंतर कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बंधुआ मज़दूरों की दशा सुधारने के लिए आपके क्या सुझाव हैं? (उत्तर 2 वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

21.8 ग्रामीण रोज़गार नीति

पाँचवे और छठे दशकों के विकास सिद्धाँतों में अल्प-प्रयुक्त जन-शक्ति की धारणा महत्वपूर्ण थी। सातवें दशक में रोज़गार उद्देश्य नीति-निर्धारण में विशेष तौर पर शामिल किए गए। कृषि में रोज़गार संभावना में वृद्धि मुख्यतः कुल सिंचित क्षेत्र और कुल फसलों के क्षेत्र में वृद्धि के कारण हुई। अधिक उपज किस्मों के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि के रूप में या अधिक खाद के प्रयोग के रूप में तकनीकी परिवर्तन से भी रोज़गार में वृद्धि हुई है किन्तु इसके साथ कुछ परिवर्तन ऐसे भी हुए जिनसे मज़दूरों का विस्थापन हुआ। सारे तकनीकी परिवर्तनों में से सिंचाई सबसे महत्वपूर्ण अकेला कारक है, जिससे रोज़गार और उत्पादन, दोनों में वृद्धि हो सकती है। एक ओर तो जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव के कारण और दूसरी ओर उत्पाद वृद्धि से संबंधित रोज़गार की अपेक्षाकृत कम लोच के कारण केवल कृषि विकास ही ग्रामीण जनसंख्या की रोज़गार आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफ़ी नहीं है।

21.8.1 आकार

रोज़गार नियोजन के कार्य का आकार इस बात से मापा जा सकता है कि कुल श्रमशक्ति अर्थात् वे लोग जो काम ढूँढ रहे हैं और रोज़गार के लिए उपलब्ध हैं, जिनमें बेरोज़गार भी शामिल हैं, और जिनकी संख्या 1981 में 30 करोड़ 33 लाख अनुमानित की गई थी, वह 2001 में बढ़कर 47 करोड़ 60 लाख हो जाने की आशंका है। इस अवधि में केवल ग्रामीण मज़दूर बल के 24 करोड़ 20 लाख से 34 करोड़ 20 लाख तक अर्थात् 10 करोड़ से बढ़ जाने की आशंका है। दबाव के कारण प्रचालन जोतों का व्यापक सीमांतीकरण हुआ है। कृषि जनगणना से संकेत मिलता है कि सीमांत जोतों का कुल जोतों में प्रतिशत 65 से कम नहीं है। ज्यों-ज्यों जोतों का सीमांतीकरण हो रहा है, भूमिहीन मज़दूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। कृषि मज़दूर घरों की संख्या 5 लाख प्रति वर्ष बढ़ रही है। 1981 में, पुरुष कृषि मज़दूरों की संख्या 10.61 करोड़ से अधिक हो गई। इसमें पिछले दस वर्षों में एक करोड़ 20 लाख की वृद्धि दर्ज की गई। 32वें चक्र (1983) में ग्रामीण पुरुष मज़दूरों की कुल संख्या 14.01 करोड़ और महिला मज़दूरों की 6.0 करोड़ आकलित की गई थी। 38वें चक्र के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी का आकार 1.8 करोड़ था।

21.8.2 ग्राम विकास कार्यक्रम : महाराष्ट्र का उदाहरण

रोज़गार की अनुपूरक कार्यनीति ग्राम विकास कार्यक्रम के रूप में होती है, जिससे न केवल उत्पादक रोज़गार उत्पन्न होता है बल्कि समाज के लिए उत्पादक परिसम्पत्तियों का निर्माण भी होता है। इस दृष्टिकोण की उत्पत्ति श्रम-प्रधान ग्रामीण कार्यों में रोज़गार द्वारा अल्प-नियोजित ग्रामीण अधिशेष मज़दूरों को उत्पादक पूँजी में परिवर्तित करने की नर्क्से-लुइस परिकल्पना (Nurkse-Lewis hypothesis) में निहित है। इस प्रकार के कार्यक्रम करीब-करीब सभी पंचवर्षीय योजनाओं में शामिल किए गए हैं। चौथी पंचवर्षीय योजना में प्रथम बार कुछ महत्वाकांक्षी ग्रामीण विकास कार्यक्रम लागू किए गए। ग्रामीण रोज़गार की द्रुत योजना (Crash Scheme for Rural Employment—CSRE) 1971 और 1974 के दौरान चलाई गई। विशेष रोज़गार कार्यक्रम (Special Employment Programme—SEP), जो 1972 और 1974 के दौरान चलाया गया, में भी ग्रामीण मज़दूरों को शामिल किया गया था। ग्रामीण रोज़गार के लिए द्रुत योजना का उद्देश्य वर्ष के दस महीनों के लिए प्रत्येक ज़िले में 1000 व्यक्तियों के लिए रोज़गार उत्पन्न करना था। विशेष रोज़गार कार्यक्रम अधिक सामान्य था और वे योजनाएँ जो अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण रोज़गार को बढ़ाती थीं, केन्द्रीय वित्तीकरण के लिए हकदार थीं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अग्रगामी गहन ग्रामीण रोज़गार परियोजना (Pilot Intensive Rural Employment Project—PIREP) कुछ ज़िलों में प्रायोगिक तौर से आरंभ की गई। इस परियोज़ना का दृष्टिकोण यह था कि विशेष रोज़गार आवश्यकताओं के अनुसार स्थान विशिष्ट उत्पादक परियोजनाएँ तैयार की जाएं, जो बेरोज़गारों की संख्या, बेरोज़गारी की अवधि और समय को मालूम करने के लिए सर्वेक्षण द्वारा निर्धारित होंगी। इन योजनाओं में प्राप्त अनुभव के आधार पर महाराष्ट्र सरकार ने रोज़गार गारंटी योजना (Employment Guarantee Scheme—EGS) 1972 में चालू की और इसका कार्यान्वयन 1975 में तेज किया गया। महाराष्ट्र रोज़गार गारण्टी अधिनियम, 1977 (Maharashtra Employment Guarantee Act, 1977) के अंतर्गत "महाराष्ट्र में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक व्यस्क व्यक्ति को काम करने का अधिकार है अर्थात् अकुशल शारीरिक काम करने के लिए गारंटी रोज़गार प्राप्त करने का और इसके एवज़ में साप्ताहिक या अधिक से अधिक पखवाड़े में पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार" है। रोज़गार गारंटी योजना को 1979 में वैधानिक दर्जा (Statutory Status) दे दी गई। "रोज़गार गारंटी योजना का उद्देश्य लाभकारी और उत्पादक रोज़गार, जो व्यक्तियों के लिए लाभकारी और अर्थव्यवस्था के लिए उत्पादक हैं, ग्रामीण क्षेत्रों में स्वीकृत कार्यों में सारे अकुशल व्यक्तियों को जिन्हें काम की आवश्यकता है और जो शारीरिक काम करने के लिए तैयार हैं, किन्तु स्वयं काम ढूँढ़ने में असमर्थ हैं, काम दिलाना है। काम की गारंटी अकुशल शारीरिक काम तक ही है। उम्मीदवार को काम की किस्म और स्थान के चुनाव का कोई अधिकार नहीं है। काम की गारंटी ज़िला स्तर पर दी जाती है, यद्यपि काम पंचायत समिति स्तर पर करने के लिए दिया जाता है। इस योजना के अंतर्गत यदि 50 व्यक्ति आकर रोज़गार की माँग करें तो ज़िला अधिकारियों को उनके निवास स्थान से पाँच मील के घेरे के अंदर रोज़गार देना होगा। रोज़गार न्यूनतम मंदे समय के वेतन की दर, जो आरंभ में सात घंटे के दैनिक काम के लिए 3 रुपए प्रतिदिन निर्धारित की गई थी, से दिया जाएगा। ज़िला/खंड स्तर पर परियोजनाओं का एक समूह तैयार रखना होगा। रोजगार गारंटी योजना ने बहुत ध्यान

आकर्षित किया है, क्योंकि यही एक अकेली योजना है जो रोज़गार की गारंटी देती है। रोजगार गारंटी योजना की प्रतिक्रिया मिश्रित रही है। एक ओर इस बात का दावा किया गया है कि योजना ने निर्धनतम वर्ग की आय को काफी प्रभावित किया है, दूसरी ओर भारत के दूसरे भागों में इस योजना की नकल अखिल भारतीय रोज़गार गारंटी के बजट पर प्रभाव के कारण संदिग्ध समझी गई है।

21.8.3 अन्य रोज़गार कार्यक्रम

1977-78 में रोज़गार उत्पन्न करने वाला "काम के बदले अनाज" कार्यक्रम चलाया गया। इसे सरकार के पास एकत्रित अनाज के भंडार के एक भाग को वितरित करने का तंत्र और रोजगार दिलाने वाला, दोनों दृष्टि से देखा गया। इसमें एक नवीनता यह थी कि वेतन केन्द्रीय भंडारों से किस्म के रूप में किया जाता था। 1980-81 में इस योजना में परिवर्तन किया गया क्योंकि अनाज भंडार की स्थिति बिगड़ गई।

अतः छठी पंचवर्षीय योजना में "काम के बदले अनाज" तथा अन्य रोज़गार उत्पादक कार्यक्रमों का पुनः प्रतिपादन करके एक नया कार्यक्रम—'राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम' (NREP)—बनाया गया। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम एक नया छत्र था, जिसके नीचे वे सारे रोज़गारपरक कार्यक्रम (सिंचाई और कृषि को छोड़कर) जो पहले से चल रहे थे, शामिल कर लिये गए। क्षीण कृषि काल में जब काम मिलना मुश्किल होता है, ग्रामीण भूमिहीनों को रोज़गार के अवसर प्रदान करने के लिए दूसरा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम जिसे "ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम" (Rural Landless Employment Guarantee Programme—RLEGP) कहते हैं, का प्रतिपादन किया गया और विभिन्न राज्यों तथा संघ-शासित प्रदेशों में इसे 15 अगस्त, 1983 को प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम में महाराष्ट्र रोज़गार गारंटी कार्यक्रम के तत्व को ग्रामीण श्रमिक बल के एक सीमित भाग के लिए शामिल करने का प्रयास किया गया था। इसका उद्देश्य यह था कि प्रत्येक भूमिहीन मज़दूर घर के कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक रोज़गार अवश्य दिया जा सके। जो काम उठाए जाएंगे उनसे ग्रामीण आधारिक गठन को दृढ़ करने के लिए स्थायी परिसम्पत्तियाँ बनेंगी, जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में सहायता करेंगी।

यह दोनों योजनाएँ केन्द्र से शत-प्रतिशत सहायता द्वारा, केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं के रूप में चलाई गई थीं। इस कार्यक्रम के अंतर्गत पारिश्रमिक अंशतः अनाज में और अंशतः नकद दिया जाता था। पारिश्रमिक का अनाज वाला भाग मज़दूरों को गेहूँ 1.50 रुपए प्रति किलोग्राम और चावल 1.85 रुपए प्रति किलोग्राम की आर्थिक सहायता दर से वितरित किया जाता था। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम में छठी पंचवर्षीय योजना में दो अरब श्रम-दिवसों से अधिक का 27 अरब 50 करोड़ रुपयों की लागत का रोज़गार दिलाया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में सारे बेरोज़गारों को रोज़गार दिलाने का प्रावधान था। 45 प्रतिशत रोज़गार कृषि में निवेश द्वारा उत्पन्न होने की आशा थी और शेष राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम से। सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में करीब 12 अरब रुपए प्रतिवर्ष का परिव्यय था, जिसमें 60 करोड़ श्रम-दिवस प्रति वर्ष रोज़गार उत्पन्न होना था। 1989-90 में एक नया कार्यक्रम—जवाहर रोज़गार योजना—21 अरब रुपयों के परिव्यय के साथ आरंभ किया गया। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने इस योजना को चालू रखने का निर्णय लिया है। इस योजना की सबसे महत्वपूर्ण नई विशेषता यह है कि पैसे ग्राम पंचायतों को सीधे दे दिए जाएंगे। 3000-4000 जनसंख्या की प्रत्येक पंचायत को 80,000 रु. से एक लाख रु. के बीच प्रतिवर्ष मिलेगा। राज्यों को वित्त का हस्तांतरण अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के अनुपात, कृषि मज़दूरों का अनुपात और प्रति हैक्टेयर कृषि उत्पादकता के स्तर के प्रतिलोम के अनुपात में होगा। इनमें से प्रत्येक को क्रमशः 60, 20 और 20 का भार दिया जाएगा। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले प्रत्येक परिवार के कम से कम एक सदस्य को, जो अकुशल रोज़गार ढूँढ़ रहा है को एक वर्ष में 100 दिनों तक काम दिलाया जाएगा। इस योजना में भी अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति को प्राथमिकता देने के अतिरिक्त महिलाओं का रोज़गार में 30 प्रतिशत आरक्षण है। केन्द्र और राज्य खर्च का भार 80:20 के अनुपात में वहन करेंगे। इस योजना में पारिश्रमिक के रूप में अनाज का 1.50 रुपए प्रति किलोग्राम की दर से वितरण का प्रावधान है। इसके कार्यान्वयन के लिए केन्द्र सरकार ने विस्तृत निर्देशक सिद्धांत भेजे हैं। महाराष्ट्र नमूने पर रोज़गार गारंटी योजना देश के और ज़िलों में भी लागू की जा रही है।

21.8.4 ग़रीबी दूर करने की कार्यनीति

ग्रामीण रोज़गारी नीति का एक पक्ष यह है कि इस नीति का कुल मिलाकर ग़रीबी दूर करने की कार्यनीति में क्या स्थान होगा। बहुत से अनुभव-सिद्ध अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि बेरोज़गारी और गरीबी में निकट का संबंध है, यद्यपि ऐसे भी उदाहरण है जहाँ दोनों में कोई संबंध नहीं है। एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme—IRDP) 1981 गरीबी दूर करने की कार्यनीति का एक प्रमुख मोर्चा रहा है। कार्यक्रम के मूल्याँकन से यह प्रश्न उठा है कि परिसम्पत्ति वितरण या सीधे रोज़गार प्रदान करने, दोनों में कौन-सी कार्यनीति गरीबी दूर करने के लिए उचित रहेगी। इस संदर्भ में यह महसूस किया गया कि दोनों कार्यनीतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। दोनों का मिश्रण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न होगा। इस विवाद के हल के रूप में जवाहर रोज़गार योजना आयी है। ग्रामीण विकास कार्यक्रम के कार्यान्वयन के अनुभव से कुछ परिचालन समस्याएँ तथा कुछ मौलिक नीति संबंधी मुद्दे उजागर हुए हैं। कार्यक्रमों के परिचालन में भ्रष्टाचार के कारण चोरी, प्रशासनिक विलम्ब, स्थानीय स्तर पर अकुशलता, योजना के प्रतिपादन में अपर्याप्त कार्यविधि, प्रशिक्षण और अनुवर्ती कार्रवाई आदि के कारण लड़खड़ाहट आई है। ऐसी परियोजनाओं में सामग्री घटक पर प्रतिबंधों के कारण और ख़राब तकनीकी प्रतिपादन के कारण वे स्थायी परिसम्पत्ति के बनाने में सफल नहीं हो पाई। अनुपयोगी/अल्प-नियोजित मज़दूरों के अप्रत्यक्ष संकेतों के बावजूद इस प्रकार के रोज़गार के लिए मज़दूरों का जुटाना अपर्याप्त रहा है।

यह कार्यक्रम आम तौर से समाज की उत्पादक संभावनाओं को बढ़ाने की अपेक्षा सहायता और सहायता के कार्यक्रम के तौर पर चलाए गए हैं। उनके कार्यान्वयन ने स्पष्ट कर दिया है कि ग्रामीण मज़दूर बल अल्प-रोज़गार मज़दूरों का समूह नहीं है, जो अकुशल काम के अवसर होने पर तुरंत काम के लिए आगे आ जाएंगे। इसलिए रोज़गार नीति के मौलिक मुद्दे का संबंध इस बात से होना चाहिये कि किस प्रकार स्थानीय स्तर की योजनाओं में विकास और रोज़गार उद्देश्यों को शामिल किया जाए। एक और समस्या यह है कि किस सीमा तक रोज़गार योजनाओं के ग्रामीण विकास कार्यक्रमों द्वारा ग़रीबी दूर की जा सकती है।

21.8.5 लघु-स्तरीय नियोजन

रोज़गार और विकास उद्देश्य का सामंजस्य केवल क्षेत्रीय नियोजन के दृष्टिकोण से ही संभव है। केवल क्षेत्रीय नियोजन से ही सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में कृषि कार्यकलापों की आवश्यकताओं को जुटाने की आधारिक गठन की आवश्यकताओं की पहचान की जा सकती है। क्षेत्रीय नियोजन की सरकारी और ग़ैर-सरकारी, दोनों दस्तावेज़ों में विस्तार से चर्चा की गई है। ज़िला और खंड स्तर की योजनाएँ विभिन्न उद्देश्यों के लिए प्रतिपादित की जा रही है। बैंक ऋण योजना बनाते हैं किन्तु एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम के कार्यान्वयन के लिए स्थानीय स्तर की योजना के लिए प्रयास की आवश्यकता है। इस विषय पर योजना आयोग की कम से कम दो महत्वपूर्ण रिपोर्ट हैं। पहली खंड स्तर के नियोजन पर दांतवाला समिति रिपोर्ट थी और हाल ही में ज़िला स्तर पर नियोजन पर हनुमंतराव समिति की रिपोर्ट है। महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, गुजरात और कर्नाटक जैसे राज्यों ने विकेंद्रित नियोजन के कुछ पक्षों को औपचारिक स्वरूप प्रदान कर दिया है। ऐसी आशा है कि आठवीं पंचवर्षीय योजना में विकेंद्रित नियोजन पर कुछ गंभीर प्रयास किए जाएंगे। इस संबंध में एक मौलिक प्रश्न यह है कि अस्थायी रोज़गार उत्पन्न करने और/अथवा छोटी परिसम्पत्तियों के वितरण द्वारा अतिरिक्त आय के अल्पकालिक कार्यक्रम किस प्रकार उत्पादक और नियमित रोज़गार के अवसर उत्पन्न करने की नीति का एक अंश बन सकते हैं।

रोज़गार नियोजन के ग्रामीण कार्य का दृष्टिकोण केवल अस्थायी सहायता की उप-नीति हो सकती है, जैसा कि दांतवाला (1978) ने ठीक ही कहा है: "बेरोज़गारी पर सार्वजनिक कार्य के दृष्टिकोण का अर्थ तभी होगा यदि इसको इस प्रकार संगठित किया जाए कि इसपर कम से कम निर्भरता हो.....।" एक क्षेत्रीय योजना का केवल सुदृढ़ तकनीकी-आर्थिक आधार ही न हो बल्कि आसन्न कारण की अपेक्षा ग़रीबी के कारणों का गहराई से पता लगाया जाए। केवल लक्षणों के इलाज से रोग दूर नहीं होगा। रोज़गार की अपेक्षा ग़रीबी अधिक व्यापक है, इसलिए पूर्ण रोज़गार ग्रामीण गरीबी का समाधान नहीं है, जब तक कि इसके साथ आय स्तर उँचा न हो। ग्रामीण कार्यों में पारिश्रमिक से संबंधित नीति में कुछ उलझनें हैं। अब तक दृष्टिकोण यही रहा है कि उस क्षेत्र में न्यूनतम मज़दूरी होनी चाहिए। अक्सर यह न्यूनतम स्तर "न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम" के अंतर्गत न्यूनतम मज़दूरी से

कम होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मज़दूरी के स्तर को बढ़ाने के लिए ग्रामीण कार्य की सचेतन नीति बनानी होगी। यह भय कि इसका रोज़गार पर बुरा असर पड़ेगा, निराधार है। वही या ऊँची आय जो ऊँचे वेतन में कुछ दिनों के काम में मिल जाती है, अधिक पसंद की जाती है बजाय इसके कि कम मज़दूरी दर पर अधिक दिनों के रोज़गार में वही आय हो।

अन्य मज़दूर-बल की विशेषताओं की तरह विभिन्न राज्यों में बेरोज़गारी दरों में भी बहुत अंतर है। 32वें और 38वें चक्र, दोनों में केरल, तमिलनाडु और आँध्र प्रदेश में तीनों ही मानदंडों से बेरोज़गारी की ऊँची दरें दर्ज की गईं। उससे कम दरें असम, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान में दर्ज की गई हैं। इन दरों से प्राप्त बेरोज़गारी के स्पष्ट आकार का अर्थ है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गार मज़दूरों की संख्या 1.50 करोड़ से अधिक है। 32वें चक्र में प्राप्त संख्या 27वें चक्र की संख्या के दुगुने से भी अधिक है। व्यक्ति-दिन के आधार पर बेरोज़गारी और अधिक होगी। व्यक्ति-दिन बेरोज़गारी आकार से यह संकेत मिलता है कि पूर्ण रोज़गार के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किस परिमाण के विकास प्रयत्न की आवश्यकता होगी, जो बग़ैर पर्याप्त आय के ग्रामीण ग़रीबी दूर करने के लिए काफी नहीं है। तालिका 21.8 समस्या के दूसरे पक्ष को प्रदर्शित करती है : करीब-करीब अप्रशमित ठहराव (unmitigated) और कुछ मामलों में पुरुष कृषि मज़दूर की प्रमुख राज्यों में 1956-83 के दौरान वास्तविक मज़दूरी में कमी।

तालिका 21.8 : कृषि में वयस्क पुरुषों की औसत दैनिक मज़दूरी से प्राप्त (रुपए)

राज्य	मौद्रिक अर्जन			वास्तविक अर्जन (आधार : 1960)		
	1956-57	1974-75	1983	1956-57	1974-75	1983
अखिल भारत	1.0	3.3	3.8	—	0.9	1.2
आँध्र प्रदेश	0.9	2.7	3.4	1.0	0.8	1.2
बिहार	0.9	3.2	3.5	1.0	0.8	1.0
गुजरात	1.1	3.2	4.1	1.0	1.0	1.4
कर्नाटक	0.8	2.9	3.1	0.9	0.8	1.0
केरल	1.3	6.0	6.9	1.4	1.6	2.2
मध्य प्रदेश	0.8	2.4	2.7	0.8	0.6	0.8
महाराष्ट्र	0.8	2.6	3.2	0.7	0.7	1.0
उड़ीसा	0.8	2.6	3.2	0.8	0.7	0.9
पंजाब/हरियाणा	2.0	5.6	6.5	2.1	1.7	2.0
राजस्थान	1.0	3.8	4.5	1.0	1.0	1.4
तमिलनाडु	0.8	3.7	4.0	0.9	0.9	1.3
उत्तर प्रदेश	0.9	3.2	3.6	1.0	0.8	1.1
पश्चिम बंगाल	1.4	3.5	4.3	1.5	1.0	1.3

स्रोत : जीमोल उन्नी (1988).

बोध प्रश्न 3

1) "ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम" की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? (उत्तर दो वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित शब्दों का विस्तार कीजिए और कार्यक्रम के एक मुख्य उद्देश्य पर एक

वाक्य लिखिए।

i) ई.जी.एस.

.....

.....

ii) आई.आर.डी.पी.

.....

.....

iii) जे.आर.वाई.

.....

.....

21.9 कार्यशील महिलाएँ : कुछ विशिष्टताएँ

भारतीय अर्थव्यवस्था में हाल के वर्षों में हुए परिवर्तनों को समझने के लिए "महिला मज़दूर" पर विचार आवश्यक है। मज़दूर बल में उनकी महत्वपूर्ण उपस्थिति को हम पहले ही देख चुके हैं–हमारी महिला जनसंख्या की करीब एक-तिहाई महिलाएँ कार्यशील हैं। श्रम अर्थशास्त्र में यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि विकासशील देशों में प्रचलित अनेक प्रकार के श्रम करार की व्याख्या केवल विशेष कुशलता और अनुभव के स्तर पर आधारित माँग और पूर्ति की शब्दावली में नहीं हो सकती है। अन्य कारक जैसे कार्यस्थल (ग्रामीण/शहरी), कार्य के क्षेत्र (कृषि/उद्योग), प्रयोग की गई प्रौद्योगिकी (आधुनिक/परम्परागत), उत्पादन संगठनों की प्रकृति (औपचारिक/अनौपचारिक) आदि का भी महत्व है। श्रम बाज़ार में प्रत्येक मज़दूर के समक्ष वास्तविक स्थिति अंतर्संबंधित कारकों की इस पेचीदा भूलभुलैया के सान्निध्य का परिणाम है। महिला मज़दूरों के लिए श्रम पूर्ति और माँग की दशा दोनों में कुछ और भी बंधन हैं। इसलिए, समान योग्यताओं वाले पुरुष और महिलाओं, दोनों की कार्य परिस्थितियों में न केवल स्पष्ट अंतर है बल्कि दोनों के दिए गए कार्य की प्रकृति में भी अंतर है।

यहाँ हम महिलाओं के कार्य की प्रकृति और उससे उत्पन्न विशिष्ट समस्याओं से परिचित होने का प्रयत्न करेंगे ताकि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनके सहयोग की सीमा का दीर्घ स्तर पर मूल्यांकन किया जा सके। दूसरे, पुरुषों की तुलना में महिलाओं की कार्यपरिस्थिति की जाँच करेंगे, विशेषकर श्रम बाज़ार के उस अधिक असुरक्षित भाग में जहाँ अधिकांश महिला मज़दूर केन्द्रित हैं। उसके बाद महिला मज़दूरों की अतिरिक्त कमजोरी अंशतः उनकी शारीरिक विशिष्टताओं और अधिकतर समाज में प्रचलित मनोवृत्ति तथा प्रथाओं के कारण हैं। अनेक उलझे हुए कारकों को, जो वर्तमान दशा के लिए ज़िम्मेदार हैं, अलग करने के प्रयास में हम जटिल सामाजिक घटनाओं में आर्थिक तर्क की सीमा दिखलाएँगे और एक समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता बतलाएँगे।

21.9.1 महिलाओं का "कार्य"

भारत में आर्थिक कार्यकलाप से संबंधित साहित्य में तीन या चार शब्द आम प्रयोग में हैं: कार्य, आर्थिक कार्यकलाप, लाभदायक कार्यकलाप और रोज़गार। कार्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह 'जन-शक्ति और समय का वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में उपयोग' है, जो समाज में मूल्यवान समझी जाती हैं। इनमें से केवल कुछ भाग का विनिमय के लिए उत्पादन होता है और राष्ट्रीय लेखाविधि की अंतर्राष्ट्रीय स्वीकृति के अनुसार परवर्ती कार्यकलापों अर्थात् वे कार्यकलाप जिसके कम से कम कुछ भाग के फल का बाज़ार में विनिमय किया जा सके उन्हें लाभदायक या आर्थिक कार्यकलाप समझा जाता है। इस प्रकार के कार्यकलाप का मूल्य राष्ट्रीय उत्पाद में शामिल होता है, जैसा कि हम ई.ई.सी. 01 के खंड 1 में देख चुके हैं।

भारत की भाँति अन्य विकासशील देशों में कृषि कार्यकलापों में सारा काम, चाहे उत्पाद

का बाज़ार में विनिमय हो या नहीं, आर्थिक और लाभदायक समझा जाता है तथा सारा त्पाद राष्ट्रीय उत्पाद में शामिल किया जाता है। वर्ष के अधिकांश भाग में लाभदायक या ार्थिक कार्यकलाप में सहयोग से किसी व्यक्ति को मज़दूर या कार्यरत व्यक्ति की स्थिति ाप्त होती है।

आम तौर से भारत में महिलाओं के कार्य में कई प्रकार के कार्यकलाप शामिल हैं: (क) शिशुओं को जन्म देने और उनका पालन-पोषण करने के अतिरिक्त खाना पकाना, सफाई करना और बच्चों की देख-रेख आदि का कार्य महिलाओं को सौंपा गया है जो घर में प्रतिदिन श्रमशक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक है, (ख) पशुपालन, मुर्गीपालन और ईंधन एकत्र करना आदि जो केवल घर के उपभोग के लिए होते हैं पर अक्सर इनसे परिवार की आय भी बढ़ती है, (ग) परिवार के उद्यमों में चाहे वह कृषि, व्यापार या निर्माण कार्य हो, अवैतनिक मज़दूर के रूप में सहायता करना, तथा (घ) नकद पारिश्रमिक कमाने के लिए वेतनभोगी मज़दूर या स्वयं-नियोजित के रूप में काम करना।

आम तौर सें भारत में महिलाओं के कार्य में कई प्रकार के कार्यकलाप शामिल हैं: (क) शिशुओं को जन्म देने और उनका पालन-पोषण करने के अतिरिक्त खाना पकाना, सफाई करना और बच्चों की देख-रेख आदि का कार्य महिलाओं को सौंपा गया है जो घर में प्रतिदिन श्रमशक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक हैं, (ख) पशुपालन, मुर्गीपालन और ईंधन एकत्र करना आदि जो केवल घर के उपभोग के लिए होते हैं पर अक्सर इनसे परिवार की आय भी बढ़ती है,(ग) परिवार के उद्यमों में चाहे वह कृषि, व्यापार या निर्माण कार्य हो, अवैतनिक मज़दूर के रूप में सहायता करना, तथा (घ) नकद पारिश्रमिक कमाने के लिए वेतनभोगी मज़दूर या स्वयं-नियोजित के रूप में काम करना।

उपरोक्त परम्परा के अनुसार केवल (ग) और (घ) तथा (ख) में कृषि के कार्यकलाप ही लाभदायक माने जा सकते हैं। इसलिए महिलाओं के कार्यकलापों का केवल एक भाग ही यह निर्धारित करने के लिए कि वे कार्य बल में शामिल हैं अथवा नहीं, स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार, कार्य के उस भाग को जिसे पुरुष केवल घर के लिए (अपना मकान बनाना और मरम्मत करना) करता है, राष्ट्रीय लेखा से बाहर रखा जाता है और उसके मज़दूर या ग़ैर-मज़दूर की स्थिति निर्धारित करने में स्वीकार नहीं किया जाता है। यहाँ प्रश्न केवल महत्व और विस्तार का है: महिलाओं के बारे में घर से संबंधित कार्य को आम तौर से अन्य कार्यकलापों से ज्यादा जरूरी समझा है। जबकि पुरुषों के लिए घरेलू कार्यकलाप केवल आराम के समय का प्रतिस्थापन माने जाते हैं, आर्थिक कार्यकलाप के नहीं। महिलाएँ किस सीमा तक आर्थिक कार्यकलापों में भाग ले सकती हैं, यह पहले उनके घरेलू दायित्वों को निपटाने के बाद बचे समय पर निर्भर करता है।

कई अध्ययनों से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि भारतीय महिलाओं का अत्यधिक प्रतिशत आर्थिक कार्यकलापों की अपेक्षा घरेलू कार्य में व्यस्त रहता है और महिला शक्ति का काम करने के कुल समय का अधिकांश भाग इसमें व्यय हो जाता है।

21.9.2 माप संबंधी कठिनाइयाँ

महिलाओं के कार्य का अधिकांश भाग लाभदायक कार्यकलापों के वर्ग से बाहर रखना केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, वरन् सामाजिक परम्परा भी है। यदि महिला अधिकांश समय में समाज के लिए लाभदायक कार्यकलापों में काम करें तो भी उसे आर्थिक रूप से निर्भर ही समझा जाता है। महिलाओं के कार्य से संबंधित आधुनिक साहित्य के अधिकांश भाग में इस परम्परा में अन्याय को सिद्ध किया गया है। अभी यह विषय हमारे क्षेत्र से बाहर है, फिर भी इस बात की ओर इशारा करना आवश्यक है कि महिलाओं के कार्य की विशेष प्रकृति से महिलाओं के रोज़गार या लाभदायक कार्यकलापों को मापने में कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं।

प्रथम, चूँकि घर में महिलाओं का कार्य आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है, अक्सर घरेलू उद्यमों में उनके सहयोग को अनदेखा कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल के बुनकर घरों में महिलाएँ सूत तैयार करने का सारा काम करती हैं, किन्तु आम तौर से मज़दूरों के वर्ग से वे बाहर ही रखी जाती हैं।

दूसरे, चूँकि महिलाओं के पशुपालन और मुर्गीपालन जैसे आर्थिक कार्यकलाप घरेलू कार्य से

मिले-जुले होते हैं या घरेलू कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार मौसमी या अनियमित हो सकते हैं, यह अक्सर स्वयं महिलाओं द्वारा ही लाभदायक कार्यकलाप नहीं माना जाता है।

तीसरे, चूँकि भारत के बहुत से समुदायों में महिलाओं का उपयुक्त स्थान घरेलू कार्यों में माना जाता है, घर के मुखिया इस बात को नहीं मानते हैं कि उनकी महिलाएँ परिवार की अर्थव्यवस्था में योगदान करती हैं। इसलिए विशेषकर भारत के कुछ भागों में महिलाओं के कार्य को कम बताया जाता है। आर्थिक कार्यकलापों में महिलाओं के सहयोग के सरकारी और नियमित आकलन पूरे देश के लिए और विभिन्न प्रदेशों के लिए भी दो प्रमुख स्रोतों से उपलब्ध हैं: दसवर्षीय जनगणना रिपोर्ट और राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के पंचवर्षीय रोज़गार और बेरोज़गारी सर्वेक्षण।

दसवर्षीय जनगणना रिपोर्टों की आर्थिक तालिकाएँ सारे घरों से उनके प्रत्येक सदस्य की आर्थिक स्थिति के बारे में एकत्र की गई सूचना के आधार पर होती है।

किन्तु परम्परागत परिभाषा के अनुसार भी महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों को मापना कठिन है क्योंकि जब तक कि महिलाएँ वेतनधारी कार्य में और वह भी घर के बाहर व्यस्त नहीं होती हैं उनको सार्वजनिक रूप से मज़दूर मानने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। भारत में दसवर्षीय जनगणना जैसी विशाल संक्रिया के लिए ऐसी कार्यविधि बनाना संभव नहीं है जो इन समस्याओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त, एक जनगणना से दूसरी जनगणना में मज़दूर की परिभाषा में अंतर के कारण वर्षोपरांत तुलना मुश्किल हो गई है। कई अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि महिलाओं के रोज़गार के आकलन परिभाषा में परिवर्तन से विशेषकर प्रभावित होते हैं क्योंकि महिलाओं के आर्थिक कार्यकलाप अधिकतर मौसमी/अंशकालिक/घरेलू होते हैं।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण भी 1972-73 से रोज़गार और बेरोज़गारी के पंचवर्षीय सर्वेक्षण करता है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन की प्रश्नावली और उनकी पूछताछ की विधि महिलाओं के रोज़गार आकलन संबंधी उपरोक्त बाधाओं को दूर करने के लिए विशेष रूप से बनाई गई है। अंतःकालीन तुलना समान बनाने के प्रयास किए गए हैं, यद्यपि महिलाओं के कार्य की प्र ति के कारण मापने की सीमाएँ हैं।

21.10 भारतीय श्रम बाज़ार में महिलाएँ

इस भाग में महिलाओं की केवल परम्परागत आर्थिक कार्यकलापों की चर्चा की गई है [केवल (ग) और (घ) वर्ग]। केवल समष्टि स्तर पर कार्य परिस्थितियों के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है।

21.10.1 रोज़गार की नियमितता

भारत जैसे घनी आबादी वाले गरीब देश में यही आशा की जाती है कि बेरोज़गारी और अल्प-रोज़गार बहुत होगा। बेरोज़गारी की 3 से 7 प्रतिशत की दरों का सरकारी अनुमान इतना ऊँचा नहीं है, जितना कई विकसित देशों में है। मुख्यतः इसका कारण यह है कि सामाजिक सुरक्षा के अभाव में अधिकांश लोग कुछ न कुछ आर्थिक कार्य करते रहते हैं, चाहे वह अनियमित, अल्प-वैतनिक और अल्प-उत्पादकता का ही हो। इस लाभदायक कार्य की होड़ में महिलाएँ हमेशा घाटे में रहती हैं। 1981 की जनगणना के आकलन के अनुसार ग्रामीण भारत में पुरुषों के एक प्रतिशत की तुलना में करीब 7 प्रतिशत महिलाएँ सीमांत मज़दूर के रूप में (आधे वर्ष से कम समय तक लाभदायक रोज़गार) कार्य करती हैं। दूसरी ओर, उसी समय में 53 प्रतिशत ग्रामीण पुरुष किन्तु केवल 16 प्रतिशत ग्रामीण महिलाएँ पूरे समय या मुख्य मज़दूर के रूप में काम कर रहे थे। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण आकलन भी यह दिखाते हैं कि लम्बे समय तक बेरोज़गारी और रोज़गार की अनियमितता का प्रभाव विशेषकर पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं पर अधिक था और ऐसा सातवें दशक और आठवें दशक के आरंभ तक बराबर रहा।

इस तथ्य का दूसरा संकेत कि महिलाओं के आर्थिक अवसर कम स्थिर हैं, निम्नलिखित तालिका से मिलता है।

तालिका 21.9 : अनियमित, नियमित और स्व-नियोजन क्र पुरुषों और महिला मज़दूरों में प्रतिशत वितरण ग्रामीण और शहरी, 1983

	ग्रामीण		शहरी	
	पुरुष	महिलाएँ	पुरुष	महिलाएँ
अनियमित मज़दूर	30	42	15	31
नियमित मज़दूर	10	4	45	32
स्व-नियोजित	60	54	40	37
कुल मज़दूर	100	100	100	100

स्रोत : निर्मला बनर्जी : "1971-1981 में महिलाओं की रोज़गार प्रवृत्तियाँ", इक्नॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 29 अप्रैल, 1989,

शहरी और ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों में अनियमित रोज़गार का प्रभाव महिला मज़दूरों में अपेक्षाकृत अधिक है। यह भी गौर करने योग्य है कि स्व-नियोजतों में पुरुषों की तुलना में महिलाओं का अधिक प्रतिशत अवैतनिक परिवार सदस्य के रूप में काम करता है।

21.10.2 व्यावसायिक वितरण

एक दूसरा पक्ष जिससे पुरुष और महिला मज़दूरों का अंतर अर्थपूर्ण होता है वह व्यावसायिक वितरण है। भारत में लिंग के अनुसार श्रम के बंटवारे की परिपाटी इस सीमा तक दृढ़ थी कि कुछ समुदायों में तो महिलाओं को कृषि या व्यापार में सहयोग देने पर सख्त मनाही थी। निर्माण-कार्य में भी महिलाओं को चार या पाँच उद्योगों में, जिनमें वस्त्र और खाद्य-संसाधन महत्वपूर्ण हैं, केन्द्रित कर दिया गया था। और फिर बीसवीं सदी में अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण से, जहाँ पुरुषों के व्यवसायों का कुछ हद तक विविधीकरण हुआ है, महिलाओं के व्यवसाय और भी संकुचित हो गये हैं। कुछ परम्परागत व्यवसाय अप्रचलित हो गए, जबकि खाद्य-संसाधन जैसी औद्योगिक गतिविधियों में अधिकांश भाग में पुरुष कार्य करने लगे। परिणामस्वरूप 1921 से 1961 तक निर्माण रोज़गार में महिलाओं की संख्या कम हो गई और वे अधिकतर कृषि तथा कुछ व्यक्तिगत सेवाओं के कार्य में ही रह गईं।

स्वतंत्रता के बाद भी व्यवसायों के लिंगानुसार वितरण का यह स्पष्ट अंतर चालू रहा। वास्तव में जूट और सूती मिल उद्योगों में, जहाँ 1940 से महिलाएँ सार्थक संख्या में कार्य करती रही थीं, रोज़गार में उनका भाग दूसरी पंचवर्षीय योजना से उद्योगों के आधुनिकीकरण से बहुत तेजी से कम हो गया। पोशाक जैसे कई गैर-परम्परागत उद्योगों में 1970 से हाल तक महिलाओं के रोज़गार के विस्तार से इस हानि का कुछ भरपाई हो पायी है।

हमें मालूम है कि 1971 से 1981 के दौरान कुल ग्रामीण पुरुष मज़दूर-बल में कृषि का अनुपात 5 प्रतिशत कम हुआ है। महिलाओं के बारे में कृषि के भाग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और कुल मिलाकर कृषि में पुरुष मज़दूरों की अपेक्षा महिला मज़दूरों का अनुपात, विशेषकर पश्चिमी और दक्षिणी राज्यों में, तेजी से बढ़ा है। जबकि अधिकांश पुरुष अपने खेतों में अभी भी काश्तकार के रूप में कृषि कार्य करते हैं, कृषि में अधिकांश महिलाएँ कृषि मज़दूर के रूप में कार्य करती हुई पाई गई हैं और वे अक्सर अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति की होती हैं।

21.10.3 मज़दूरी और आय

भारतीय कानून में लिंग के आधार पर मज़दूरी में भेदभाव की आज्ञा नहीं है। फिर भी, महिलाओं की औसत दैनिक आय में करीब-करीब सभी वैतनिक कार्यों में स्पष्टतः कमी आई है। तालिका 21.10 के आँकड़े इसका समर्थन करते हैं।

तालिका 21.10 : विभिन्न स्थितियों में महिला मज़दूरों की दैनिक आय का पुरुष मज़दूरों से अनुपात : अखिल भारतीय ग्रामीण और शहरी, 1983

मज़दूर	ग्रामीण महिला आय/ पुरुष आय	शहरी महिला आय/ पुरुष आय
कृषि		
अनियमित कार्य	0.70	0.59
नियमित वेतन कार्य	1.26	0.52
कुल वेतन कार्य	0.72	0.55
गैर-कृषि		
अनियमित कार्य	0.50	0.48
सार्वजनिक कार्यों में अनियमित कार्य	0.62	उपलब्ध नहीं
नियमित कार्य में मज़दूरी अर्जक	0.67	0.72
सभी मज़दूरी कार्य	0.53	0.61

स्रोत : तालिका संख्या 29, 63 के आधार पर निर्मित, पृष्ठ ए113-118 तथा ए332-338, भारत सरकार, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन रिपोर्ट, 38वाँ चक्र, पंचवर्षीय रोज़गार और बेरोज़गारी पर सर्वेक्षण रिपोर्ट सं. 341, नई दिल्ली, जून, 1987

कृषि में नियमित मज़दूरी कार्य के अलावा, जिसमें कुल महिला मज़दूरों का बहुत कम प्रतिशत शामिल होता है, महिला दैनिक आय सदा पुरुषों की तीन-चौथाई से भी कम रही है। यह दो कारणों से है। पहला है महिला मज़दूरों में अनियमित कार्य का अधिक प्रभाव। इसका अर्थ यह है कि उनके रोज़गार में दैनिक उतार-चढ़ाव की संभावना अधिक है। दूसरा कारण है कि कृषि में ही या किसी विशेष उद्योग में पुरुषों और महिलाओं को काम अलग-अलग बांटे गए हैं और महिलाओं के काम का आम तौर से कम दर पर भुगतान होता है। उदाहरण के लिए, कृषि में महिलाएँ रोपण या निराई के काम में लगाई जाती हैं, जबकि पुरुष खेत जोतते और मिट्टी तैयार करते हैं। वस्त्र जैसे उद्योग में महिलाएँ कच्चा माल तैयार करने के कार्य करती हैं, जबकि पुरुष और महिला के कार्य में अंतर है, सरकारी तौर से भी महिलाओं के काम के लिए नीची दरें, लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं माना जाता है।

बोध प्रश्न 4

1) भारत में वे कौन-से आर्थिक कार्यकलाप हैं जिन्हें महिलाएँ करती हैं?

.....

.....

.....

.....

2) महिलाओं के श्रम को मापने में कौन-सी समस्याएँ आती हैं? (उत्तर 3 वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) तुलनात्मक कार्य में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की मजदूरी दर कम होने के दो कारण बताइए।

.....

21.11 लिंगानुसार भेदभाव उत्पन्न करने वाले कारक

भारतीय श्रम बाज़ार में महिलाओं की अपेक्षाकृत निम्न स्थिति के लिए उत्तरदायी कारकों को मोटे तौर से माँग और पूर्ति दशाओं के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है।

21.11.1 पूर्ति की दशाएँ

महिला मज़दूरों की अपेक्षाकृत कम आय का मुख्य कारण मज़दूर बाज़ार के लिए उनकी कम योग्यताएँ हो सकती हैं। वास्तव में 1981 की जनगणना के आँकड़ों से यह मालूम होता है कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं की शैक्षिक योग्यताओं में सुस्पष्ट अंतर है। तालिका 21.11 इस बात को प्रदर्शित करती है। हालाँकि ये तथ्य महिलाओं के लिए बहुत हानिप्रद हैं। इनसे दो प्रश्न उठते हैं: पहला यह कि शहरी क्षेत्रों में भी समान योग्यताओं के लिए 1970 के दशक में महिलाओं की साप्ताहिक आय पुरुषों की साप्ताहिक आय की तुलना में आधी से तीन-चौथाई तक थी। इस प्रकार योग्यता की कमी ही इसकी पर्याप्त व्याख्या नहीं है। दूसरे, यह विवाद का विषय है कि महिलाओं की शैक्षिक उपलब्धियाँ पुरुषों से स्पष्टतः निम्न क्यों हैं?

तालिका 21.11 : शैक्षिक स्तरों के आधार पर मुख्य मज़दूरों का प्रतिशत वितरण : अखिल भारतीय

शैक्षिक योग्यताएँ	ग्रामीण		शहरी	
	पुरुष	महिलाएँ	पुरुष	महिलाएँ
अशिक्षित	57.6	88.3	27.1	57.0
साक्षर	11.7	4.0	8.9	5.3
प्राइमरी शिक्षा	14.9	4.8	17.2	7.5
माध्यमिक तक	13.1	2.4	30.8	14.3
माध्यमिक से ऊपर कॉलेज और विश्व-विद्यालय शिक्षा	2.4	0.4	11.5	8.3
तकनीकी या गैर-तकनीकी डिप्लोमा	0.3	0.3	1.2	2.0

स्रोत : भारत की जनगणना, 1981. सामान्य आर्थिक तालिकाएँ भाग-IIIए, तालिका सं. बी 5, भाग ए और बी.

यहाँ लिंग की रचना में शामिल संस्थागत कारक प्रासंगिक हो जाते हैं। जबकि शिक्षा प्रणाली में वित्तीकरण अधिकतर सार्वजनिक संसाधनों से होता है तथा लड़कों और लड़कियों को बराबर अवसर देने के गंभीर प्रयास किए जाते हैं, बच्चों को स्कूल भेजने और रखने का निर्णय प्रत्येक परिवार स्वयं ही लेता है। परिवार में ही लड़कियों की शिक्षा को निम्न प्राथमिकता दी जाती है। लड़कियों की गतिशीलता पर सांस्कृतिक वर्जना के अलावा दूसरी बाधाएँ भी होती हैं। जब भी माँ के ऊपर कार्यभार बढ़ता है तो लड़की को स्कूल छोड़ना पड़ता है और घरेलू कामों तथा बच्चों की देख-रेख में सहायता करनी होती है। इसकी वजह यह धारणा है कि महिलाओं के लिए घरेलू कार्य न केवल प्रमुख है बल्कि सबसे अधिक संभावनीय जीवनवृत्ति भी है और इसलिए इसके संबंध में शिक्षा महत्वपूर्ण योग्यता नहीं है। इसके अलावा, यदि बच्चों की शिक्षा के लिए माँ-बाप का बजट सीमित है तो वे लड़कों की शिक्षा पर अधिक भाग व्यय करते हैं क्योंकि लड़के की भविष्य में आय उसी परिवार को मिलेगी, जबकि लड़की की आय उसके पति के परिवार को जाएगी। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं से आय की कम आशा होने पर, पुत्री की अपेक्षा पुत्र की शिक्षा

पर अधिक निवेश करना आर्थिक रूप से विवेकपूर्ण ही है।

परिवार की संस्था और उसमें महिलाओं की भूमिका उनकी मज़दूर पूर्ति कार्य के विशेष गुणों के लिए जिम्मेदार हैं। अधिकांश भारतीय समुदायों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं पर अधिक वर्जनाएँ और दबाव लागू किए जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि महिलाओं के लिए व्यवसाय का चुनाव बहुत सीमित हो जाता है। यह दबाव विशेषकर जवान महिलाओं पर विवाह से पूर्व और विवाह के आरंभिक कुछ वर्षों में अनिवार्य होते हैं। इसके अलावा, चूँकि भारतीय परिवारों में घरेलू कार्य, बच्चों की देख-रेख की ज़िम्मेदारी पूरी तरह से महिलाओं को उठानी पड़ती है, इसलिए उनके लिए अक्सर आर्थिक कार्यकलापों के लिए समय और शक्ति जुटाना बहुत मुश्किल हो जाता है। यदि वे कोई आर्थिक कार्य करती हैं तो वे स्वयं ऐसा कार्य करना चाहेंगी जो घर के निकट हो और घरेलू कामों के बीच में किया जा सके।

दूसरे, इस क्षेत्र के कई शोधकर्ताओं ने ऐसा पाया है कि भारत के श्रमशक्ति में सहयोग के बारे में महिलाओं के निर्णय और वे किस सीमा तक अतिरिक्त कार्य करना चाहती हैं, उनके परिवार की आय स्तर से दृढ़ और नकारात्मक रूप से जुड़ा होता है। दूसरे शब्दों में, एक दिए हुए वेतन दर पर, महिला अधिक दिन या अधिक घंटे काम करना चाहेगी यदि परिवार की आय कम हो जाती है और इसका विलोम कि यदि परिवार की आय बढ़ेगी, महिला आंशिक रूप से या पूरी तरह श्रम बाज़ार से हट जाएगी।

यह प्रवृत्ति केवल इस तथ्य का फल नहीं है कि महिला के लिए घरेलू जिम्मेदारियाँ प्राथमिक और प्रमुख अधिकार समझी जाती हैं, बल्कि इसलिए भी कि काम या पारिश्रमिक कम होता है, काम अधिक कठिन होता है और बच्चों की देख-रेख की सार्वजनिक सुविधाएँ नगण्य हैं। इसलिए, कुल मिलाकर, अधिकांश महिला मज़दूर गरीब घरों की होती हैं। ज्यों-ज्यों परिवार की आय बढ़ती है, महिलाओं की श्रमशक्ति में सहयोग की दरें कम हो जाती हैं। जब परिवार की आय का स्तर बहुत अधिक हो जाता है तो सहयोग दरें कुछ हद तक बढ़ने लगती हैं क्योंकि महिलाएँ घरेलू काम के लिए भाड़े पर सहायता प्राप्त कर सकती हैं, ऊँची आय वाले परिवारों में महिलाएँ अधिक योग्यता वाली होती हैं और बेहतर भविष्य वाली नौकरी उन्हें मिल सकती है। इन सब कारकों का कुल मिलाकर परिणाम यह होता है कि श्रम बाज़ार में प्रवेश करने के लिए महिलाएँ कम तैयार होती हैं। जब वे प्रवेश करती हैं तो अक्सर इस कारण कि परिवार को उनकी आय की आवश्यकता है। इसलिए वे वास्तविक वेतन दर के प्रति कम आकर्षिक होती हैं तथा इस कारण भी कि उन्हें कार्य अधिक दबावों के कारण खोजना पड़ता है, उनके श्रम की पूर्ति का दाम समान योग्यता वाले पुरुषों से कम होती है। यहाँ यह गौर करने की बात है कि करीब-करीब सारे प्रतिबंध जिन्हें महिलाओं को झेलना पड़ता है, शारीरिक लक्षणों के कारण नहीं होते हैं, बल्कि समाज द्वारा उन पर थोपी गई संस्थागत भूमिका के कारण होते हैं।

21.11.2 माँग की दशाएँ

माँग के पक्ष में भी यह नोट किया गया है कि महिलाओं की आय और नौकरी के अवसरों को कम करने के लिए कई तरह के पूर्वाग्रह कार्य करते हैं। इनमें से शायद सबसे प्रमुख आम पूर्वाग्रह यह है कि महिलाओं को उत्पादक परिसम्पत्तियों और पूँजी के नियंत्रण के नजदीक नहीं आने दिया जाता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि कृषि कार्य में अधिकांश महिलाएँ काश्तकार के रूप में नहीं, बल्कि वेतनभोगी मज़दूर के रूप में कार्य करती हैं। यदि वे परिवार के खेत में कार्य करती हैं तो अवैतनिक पारिवारिक मज़दूर के रूप में और उत्पादन तथा बिक्री के निर्णय लेने का उन्हें कोई अधिकार नहीं होता है। यद्यपि भारतीय सिविल संहिता के अंतर्गत पुत्रियों को परिवार की सम्पत्ति में बराबर का अधिकार दिया गया है, भारत के अधिकांश भागों में कृषि घरों में पुत्रियों को काश्त की भूमि शायद ही दी जाती है।

यह पूर्वाग्रह इस बात से झलकता है कि महिलाओं को आम तौर से पूँजीगत परिसम्पत्तियों का प्रयोग नहीं करने दिया जाता है, विशेषकर बिजली चालित मशीनें और आधुनिक औज़ारों का। पुरुष और महिला के कामों का परम्परागत बंटवारा करने में इस पूर्वाग्रह की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन वर्जनाओं के कारण ही कई कृषि प्रदेशों में महिलाओं का हल छूना वर्जित था तथा कई बुनकर समुदायों में करघों पर उनका काम करना मना था। आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रयोग ने इन पूर्वाग्रहों को और मज़बूत कर दिया है। भारत के

आधुनिक उद्योग के इतिहास में खाद्य संसाधन और वस्त्र जैसे उद्योगों के कई उदाहरण हैं, जहाँ ये कार्य पहले महिलाओं द्वारा किए जाते थे, उनका यंत्रीकरण कर दिया गया और पुरुषों को कार्य सौंप दिया गया। हाल के वर्षों में भी यह प्रवृत्ति नहीं पलटी है, यद्यपि महिला मज़दूरों का प्रवेश बिजली का सामान, इलेक्ट्रॉनिक्स, खेल के सामान और पोशाक आदि जैसे ऊँची प्रौद्योगिकी वाले उद्योगों में हो रहा है। इनमें भी महिला मज़दूरों को सौंपे गए कार्य में बिल्कुल साधारण औजारों का प्रयोग होता है, जो अत्यधिक श्रम-प्रधान होता है। यह भी दिखलाया जा सकता है कि कुल मिलाकर वे उद्योग, जहाँ महिला मज़दूरों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, उनमें अन्य उद्योगों की अपेक्षा पूँजी-श्रम अनुपात कम है। इस पूर्वाग्रह के कारण महिलाओं की उत्पादकता प्रतिदिन कम होती है, जिससे उनकी कम वेतन दरें उचित ठहराई जाती हैं।

कई अध्ययनों से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि नियोक्ता अभी भी यह विश्वास करते हैं कि महिलाएँ अपने कार्य के प्रति कम वचनबद्ध होती हैं या अधिक अनुपस्थित होती हैं यद्यपि व्यवस्थित प्रमाण इसका उल्टा संकेत करते हैं। उनके विश्वास कुछ गैर-आर्थिक अभिवृत्तियों के कारण होते हैं, जो उन्हें समाज से मिले होते हैं।

21.12 सार्वजनिक नीतियाँ : महिलाएँ और विकास

संक्षिप्त इतिहास : स्वातंत्र्योत्तर काल के आरंभिक वर्षों में महिलाओं से संबंधित सार्वजनिक नीतियाँ अधिकतर उनके कल्याण संवर्द्धनोंमुख होती थी। केन्द्रीय समाज कल्याण मंडल स्थापित किया गया और लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया गया। सातवें दशक तक मातृ स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, बच्चों की देख-रेख, स्वास्थ्य और पोषण की शिक्षा के कई कार्यक्रम ग्रामीण स्तरों पर आरंभ किए गए किन्तु प्रसूति सुविधाओं (maternity benefits) के प्रावधान और संगठित क्षेत्र में मज़दूरों की सुरक्षात्मक कानून के अतिरिक्त महिलाओं के आर्थिक हितों की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि कार्यरत महिलाओं की समस्याओं का संबंध बहुत बड़े संदर्भ से जुड़ा है।

21.12.1 कुछ नए उपाय

"भारत में महिलाओं की स्थिति" पर नियुक्त समिति की रिपोर्ट 1974 में पहली बार पिछले कई दशकों के दौरान हुए परिवर्तनों पर प्रकाश डाला। इस रिपोर्ट ने बहुत ध्यान आकर्षित किया और परिणामस्वरूप भारत सरकार ने कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत महिला समाज और विकास ब्यूरों की स्थापना की जिससे महिला कल्याण के कार्यक्रम आरंभ और समन्वित किए जा सकें। छठी पंचवर्षीय योजना (1978-1983) में इस बात को माना गया कि महिलाओं की उत्पादक परिसम्पत्तियों और संसाधनों तक पहुँच न होना महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों के अवरोध का एक मूल कारक है और इसको बदलने के लिए भूमि के पट्टे, पुरुष और महिला, दोनों को संयुक्त रूप से देने का कार्यक्रम आरंभ किया गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में इसी तरह के ऋण देने, बिक्री की सुविधाएँ तथा कुशलता और प्रबंध में प्रशिक्षण के कार्यक्रम आरंभ किए गए। अधिक महत्वपूर्ण बात तो योजना के दस्तावेज में इस बात को मानना था कि महिलाओं का अधिकांश समय और शक्ति घरेलू कामों तथा ईंधन, पशुचारा और पानी एकत्र करने में व्यय हो जाता है। योजना में यह सिफारिश की गई कि गरीब महिलाओं की सहायता के लिए सहायक सेवाएँ सार्वजनिक रूप से प्रदान की जानी चाहिए।

महिलाओं की समस्याओं की अधिकाधिक पहचान के बावजूद, सावतीं पंचवर्षीय योजना में कुल योजना संसाधनों का केवल 7.4 प्रतिशत महिला संबंधी योजनाओं को आबंटित किया गया। इन योजनाओं में (क) कृषि, दुग्धशाला और मुर्गीपालन, मछली-पालन जैसे पारम्परिक व्यवसायों में और अन्य ग्रामोद्योगों में महिला के कार्य के पारिश्रमिक को बेहतर करना, (ख) कमजोर वर्ग की महिलाओं की कुशलता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण देना शामिल हैं।

इसके अलावा, केन्द्रीय मंत्रालयों और राज्य सरकारों को यह सुनिश्चित करने के अतिरिक्त निर्देश दिए गए हैं कि योजना के अंतर्गत कई सामान्य योजनाओं में भी महिलाएँ अपना

यथोचित भाग प्राप्त करें। इस तरह, महिलाओं के घटक का महत्व बढ़ रहा है। एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम और इससे निकले ग्रामीण युवाओं के लिए स्व-रोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम (Training Rural Youth for Self-Employment—TRYSEM) के अंतर्गत यह सुनिश्चित करने का निर्णय लिया गया कि इनके लाभों का कम से कम 30 प्रतिशत भाग महिलाओं और महिला-प्रधान घरों को मिले। एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम के लिए यह लक्ष्य 1987 तक प्राप्त नहीं हो सका था, किन्तु ग्रामीण युवाओं के स्व-रोजगार के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम (ट्राइसैम) के लिए यह अतिपूरित (overfulfilled)हो गया।

इसी प्रकार, आठवें दशक में गरीबी निवारण के कई कार्यक्रम आरंभ किए गए हैं, जिनमें राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (NREP), ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) और ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों का विकास (Development of Women and Children in Rural Areas—DWCRA) उल्लेखनीय हैं। 1987 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम के अंतर्गत महिलाओं का भाग 20 प्रतिशत था, यद्यपि लक्ष्य 30 प्रतिशत रखा गया था। 1982 और 1987 के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों के विकास (DWCRA) कार्यक्रमों को सारे भारत में करीब 100 ज़िलों में आरंभ किया गया था।

यहाँ "त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रम" (Accelerated Rural Water Supply Programme—ARWSP), "न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम" (Minimum Needs Programme—MNP) तथा "सामाजिक वानिकी कार्यक्रम" (Social Forestry Programme) जिसका लक्ष्य ग्रामीण महिलाओं को जल, पशुचारा और ईंधन आराम से उपलब्ध कराना है, का भी उल्लेख किया जाना चाहिए।

21.12.2 समीक्षा

महिलाओं से संबंधित सार्वजनिक नीतियों की प्रमुख समस्या यह है कि महिलाओं की संख्या और समस्या के आकार की तुलना में वित्त आबंटन बहुत कम है। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को अपेक्षाकृत वित्त मिलता है, किन्तु उपलब्धियाँ महिलाओं के 30 प्रतिशत के लक्ष्य से कम रहीं। भारत के विभिन्न भागों में इनका वितरण असमान है: दक्षिणी और पश्चिम राज्यों में पूर्वी और मध्य राज्यों की अपेक्षा बेहतर कार्य-निष्पादन हुआ है।

बहुत ही कम उपाय महिलाओं की समस्याओं के पूर्ण विस्तार को पर्याप्त समझ कर बनाए गए हैं। महिलाओं के जीवन पर उनके संभावित प्रभाव को रोकने में कोई रुचि नहीं दिखाई गई है। उदाहरण के लिए महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों के संवर्द्धन के एक कार्यक्रम में दूध देने वाले पशु, विशेषकर भैंसें, ग्रामीण महिलाओं को उन क्षेत्रों में दी गईं, जहाँ पानी और चारे की बहुत कमी थी।

इसके अलावा, पशु चिकित्सा जैसी आधारभूत सेवायें अपर्याप्त थीं और उन तक पहुँचना बहुत मुश्किल था। फलस्वरूप, महिलाओं के कार्यभार में अत्यधिक वृद्धि हुई है, जबकि उनमें प्रतिफल कम और जोखिमपूर्ण था।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये सारी नीतियाँ और गतिविधियाँ अग्निशमन प्रकृति की हैं। वे संकट उत्पन्न होने पर उससे निपटने के लिए हैं, किन्तु वे कमी की उन मौलिक संस्थाओं पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाते जिन्होंने लिंगानुसार वर्ग बनाए हैं और जो परिवार में महिलाओं को अधीनस्थ मानते हैं। भारत में राज्य या राजनीतिक पार्टियों ने लिंग के अनुसार श्रम के विभाजन की प्रणाली को कभी चुनौती नहीं दी—सारा घरेलू काम महिलाओं का ही क्यों समझा जाता है, या महिलाओं को कम कुशलता वाले और छोटे औज़ारों वाले काम ही क्यों दिए जाते हैं? वास्तव में महिला कार्यों के सार्वजनिक कार्यक्रम भी महिलाओं की पारम्परिक गतिविधियों को ही बढ़ावा देते हैं। इस प्रकार उन्हें कम उत्पादकता, कम पारिश्रमिक वाली नौकरियों तक सीमित रखा जाता है या फिर बहुत श्रमपूर्ण कार्य दिया जाता है तथा उनके दैनिक घरेलू भार को कम करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है। अंत में, जबकि यह सर्वमान्य है कि महिलाओं की छवि और भारतीय समाज में उनकी भूमिका के बारे में प्रचलित विचारधारा को कठोरता से बदलने की आवश्यकता है, फिर भी सार्वजनिक प्रसार माध्यमों पर महिलाओं के परम्परागत चित्रण पर रोक के कोई प्रयास नहीं किए जाते हैं। इससे शेष सारे सार्वजनिक प्रयासों पर पानी फिर जाता है। दहेज का बढ़ता हुआ भार और संबंधित हिंसा इसी का रूप है।

बोध प्रश्न 5

1) आर्थिक कार्यकलापों में महिलाओं के सहयोग में कौन-से कारक बाधा डालते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अधिकांश भारतीय परिवारों में लड़कियों की शिक्षा को लड़कों की अपेक्षा कम प्राथमिकता क्यों दी जाती है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) कार्यशील महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए सरकार ने कौन-से उपाय किए हैं? (उत्तर दो वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

21.13 सारांश

ग्रामीण श्रमिकों का संदर्भ गाँवों में कृषि और अन्य आर्थिक कार्यकलापों में ग्रामीण वेतनभोगी मज़दूरों के भाग से है। कृषि मज़दूर जो ग्रामीण श्रमिकों का बहुत बड़ा हिस्सा है, समयोपरांत वृद्धि की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। यह इस कारण हो सकता है कि बड़े काश्तकारों ने भूमि को पट्टे पर देने के बजाय पूँजीवादी कृषि को अपनाया है और सीमांत कृषि में आधुनिक प्रौद्योगिकी की अव्यवहार्यता है। इससे सीमांत किसानों को अपना श्रम बेचने पर मजबूर होना पड़ता है। गैर-कृषि ग्रामीण श्रमिकों का अनुपात भी समयोपरांत बढ़ा है। इस प्रवृत्ति के और कई कारण हैं जिनसे विशेष परिकल्पना का सुझाव हो सकता है। बंधुआ मज़दूरों की संख्या भी महत्वपूर्ण है और कार्य परिस्थितियाँ खराब हैं।

ग्रामीण श्रमिकों का नीचा जीवन-स्तर कम आय के कारण है। न्यूनतम मज़दूरी कानून और बंधुआ मज़दूरों के उन्मूलन के बावजूद ग्रामीण श्रमिक अल्पवैतनिक हैं। असंगठित और ग़रीब होने के कारण यह शोषण की ओर अधिक प्रवृत्त हैं। ग़रीबी, उत्पादक रोज़गार के अभाव का प्रदर्शन है। जब विकास कार्य ग़रीबों तक नहीं पहुँच पाता, तो सरकार ने ग़रीबी पर सीधे आक्रमण पर ज़ोर दिया। यह कई उपायों द्वारा किया गया है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रोज़गार दिलाने में सहायता करते हैं। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम जैसे कुछ कार्यक्रमों ने गरीबों को रोज़गार दिलाया, जबकि एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम जैसे कार्यक्रमों ने आय प्रदायक परिसम्पत्तियों का प्रावधान किया, जो बाद में स्व-रोज़गार प्रदान करते हैं। अब सारे ग़रीबी निवारण कार्यक्रमों को मिला दिया गया है और इन्हें जवाहर रोज़गार योजना के रूप में चलाया जा रहा है। ग़रीबी और बेरोज़गारी की समस्या में प्रादेशिक अंतर होने के कारण वर्तमान दृष्टिकोण क्षेत्रीय नियोजन पर आधारित है।

कार्य परिस्थितियों, प्रचलित मज़दूरी दर और पुरुष तथा महिला मज़दूरों में शोषण के स्तर में महत्वपूर्ण अंतर है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का कम वेतन और रोज़गार में अनियमितता में उनका अधिक शोषण होता है, यद्यपि उनकी योग्यताएँ समान होती हैं। यह अल्प-मज़दूरी वाले अकुशल कामों में, विशेषकर गाँवों में और शहरी असंगठित क्षेत्रों में होता है।

21.14 शब्दावली

अनियमित मज़दूर : वह व्यक्ति जिसे बिना नियमित कार्य, समय या वेतन करार के अंतरिम आधार पर रोज़गार दिया गया हो।

श्रम अर्थशास्त्र : अर्थशास्त्र की शाखा, जो रोज़गार और मज़दूरों की आय के निर्धारण और प्रकृति से संबंधित है। माँग और पूर्ति के सामान्य व्यष्टि-आर्थिक औज़ारों के अतिरिक्त यह संस्थागत और ग़ैर-आर्थिक कारकों पर भी ज़ोर देती है।

श्रमशक्ति : इसमें वे सारे कार्यशील व्यक्ति जो या तो कार्यरत हैं या कार्य खोज रहे हैं, शामिल हैं। मज़दूर बल को कार्यबल के स्थान पर भी प्रयोग किया जाता है। जो मज़दूर बल में नहीं हैं वे बच्चे, विद्यार्थी, सेवा-निवृत्त व्यक्ति और गृहणियाँ हैं।

कार्य सहभागिता दर : कुल जनसंख्या में मज़दूर बल का अनुपात। इस अनुपात का अर्थ किसी व्यक्ति का मज़दूर बल में होने की संभावना से है। कार्य सहभागिता दर (या मज़दूर सहभागिता दर) पूरी जनसंख्या के लिए या आयु अथवा लिंगानुसार किसी भाग के लिए महिलाओं के कार्य सहभागिता दर से देश की कुल महिला जनसंख्या में महिला मज़दूर बल (अर्थात् कार्यरत और बेसेज़गार महिलाएँ जो कार्य खोज रही हैं) का अनुपात मिलता है।

21.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दत्त, रूद्र एवं के.पी.एम. सुन्दरम् (1990) : **भारतीय अर्थव्यवस्था**, एस. चन्द एवं कम्पनी, नई दिल्ली, अध्याय 39.

नाथूरामका, लक्ष्मीनारायण (1990). **भारतीय अर्थशास्त्र**, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, अध्याय 22.

अग्रवाल, ए.एन. (1988). **भारतीय अर्थव्यवस्था**, वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, अध्याय 31.

मिश्र, एस.के. एवं वी.के. पुरी (1989). **भारतीय अर्थव्यवस्था**, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अध्याय 29.

धींगरा, ईश्वर एवं वी.के. गर्ग (1989). **भारत में आर्थिक विकास एवं नियोजन**, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, अध्याय 22.

Banerjee, Nirmala, *"Trends in Women's Employment 1971-1981."* Economic & Political Weekly, 29 April, 1989.

Dantwala, M.L. (ed.), *Indian Agriculture since Independence*. Indian Society of Agricultural Economics (see article on "Rural Labour and Employment" by Kanta Ahuja).

Jose, A.V., 1988, *Agricultural Wages in India*. Economic and Political Weekly, June.

Govt. of India (1974), *Towards Equality*. Report of the Committee on the Status of Women in India, New Delhi.

Govt. of India (1987). *Shramshakti*. Report of the National Commission on Self-Employed Women and Women in the Informal Sector.

Govt. of India (1988). *National Perspective Plan for Women*. New Delhi.

21.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ग्रामीण मज़दूरों पर आँकड़ों के दो मुख्य स्रोत—जनगणना और राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण रिपोर्ट हैं।
2) ग्रामीण क्षेत्र की पहचान के तीन मानदंड हैं। आज भाग 21.2 को देखिए और उत्तर दीजिए।
3) भाग 21.3 को पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 21.4 को पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) किसी कृषि दर को लीजिए। यदि उनकी स्थिर भूमि जोत पर और अधिक श्रम लगाया जाए तो क्या उत्पादन अवश्य बढ़ेगा?
3) भाग 21.5 पढ़िए। बंधुआ मज़दूरों की समस्याओं का वर्णन कीजिए। आपके सुझावों से उन समस्याओं का व्यवहार्य समाधान होना चाहिए।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 21.8.3 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) भाग 21.8 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 21.9.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
2) उप-भाग 21.9.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3) उप-भाग 21.10.3 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 5

1) संसाधनों और उत्पादक परिसम्पत्तियों तक उनकी पहुँच नहीं है। उनका अधिकांश समय और शक्ति घरेलू कामों में व्यय हो जाती है। महिलाओं पर थोपी गई सामाजिक वर्जनाएँ भी आर्थिक कार्यकलापों में सहयोग को निरुत्साहित करती हैं। शिक्षा और जागरूकता के अभाव भी उनके सहयोग को सीमित करता है।
2) उप-भाग 21.11.1 पढ़िए और उत्तर दीजिए।
3) उप-भाग 21.12.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

इकाई 22 श्रम की गुणवत्ता : शिक्षा तथा स्वास्थ्य

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 शैक्षिक विकास
  22.2.1 शिक्षा सुविधाओं का विकास
  22.2.2 प्रवेशांकन अनुपातों में संवृद्धि
22.3 प्रवेशांकन में असमानताएँ
  22.3.1 लिंग तथा वर्ग के आधार पर असमानताएँ
  22.3.2 अन्तर्राज्यीय असमानताएँ
22.4 साक्षरता दरें : निरक्षरता तथा असमानताएँ
22.5 शिक्षा का व्यवसायीकरण तथा उच्च शिक्षा
  22.5.1 व्यावसायिक शिक्षा
  22.5.2 उच्च शिक्षा
22.6 स्वास्थ्य
  22.6.1 आधारिक सरंचनात्मक सुविधाओं में प्रगति
  22.6.2 सातवीं योजना का स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रम
  22.6.3 संक्रामक रोगों का नियंत्रण
  22.6.4 अन्य बीमारियाँ
22.7 प्रतिरक्षण कार्यक्रम सहित जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाएँ
22.8 कुछ विशिष्ट स्वास्थ्य योजनाएँ
  22.8.1 ग्रामीण स्वास्थ्य
  22.8.2 प्रतिरक्षण तथा मौखिक पुनर्जलीकरण
  22.8.3 पोषण
22.9 शिक्षा तथा स्वास्थ्य निवेश : मूल्यांकन संबंधित कुछ पहलू
22.10 सारांश
22.11 शब्दावली
22.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई द्वारा आप मानवीय श्रम तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधारों के बारे में जान सकेंगे और आपको यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि:

- आर्थिक विकास में शिक्षा तथा स्वास्थ्य का कितना महत्व है;
- शिक्षा सुविधाओं में कितनी संवृद्धि हुई है और उसकी वजह से प्रवेशांकन में कितनी वृद्धि हुई है;
- क्षेत्रीय तथा लिंग के आधार पर प्रवेशांकन में कितनी असमानता व्याप्त है;
- शिक्षा के व्यवसायीकरण पर हाल में कितना जोर दिया जा रहा है;
- प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं में कितनी प्रगति हुई है;
- कुछ संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए क्या उपाय अपनाए गए हैं; तथा
- 2000 ईसवी तक सबके लिए स्वास्थ्य प्राप्ति हेतु नीति उद्देश्य क्या हों?

22.1 प्रस्तावना

व्यावहारिक अध्ययनों से यह पता चला है कि उत्पादन के क्षेत्र में जो बढ़ोतरी हुई है उसमें एक कारक तो पूँजी, श्रम तथा प्राकृतिक संसाधनों के भौतिक परिमाणों में हुई संवृद्धि है परंतु उस बढ़ोतरी के पीछे जो और कारक हैं वे इन अध्ययनों से स्पष्ट नहीं होते। इन अस्पष्ट कारकों में से एक बड़ा कारक तकनीक के क्षेत्र में हुई प्रगति है जो आंशिक रूप से देश के मानव संसाधन अर्थात् मानवीय पूँजी की गुणवत्ता में निहित होती है। भारत जैसे देश में जहाँ काफी व्यापक जनसंख्या आधार मौजूद है आर्थिक और सामाजिक विकास अधिकांशतः इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके मानव-संसाधनों अर्थात् उसकी श्रम शक्ति की गुणवत्ता को स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा तथा कौशल की दृष्टि से किस सीमा तक विकसित किया गया है। अंततः पुनः उत्पादनीय पूँजी तो केवल श्रमिक ही पैदा कर सकता है। इसलिए, किसी भी विकास योजना में इन तत्वों को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की जानी चाहिए।

शिक्षा देश के लोगों में बुनियादी कौशलों तथा योग्यताओं का विकास करती है और इसलिए उसे राष्ट्रीय विकास लक्ष्यों के लिए उपयोगी और समर्थनकारी मूल्य-पद्धति का पोषण करना चाहिए। आज जबकि ज्ञान का तीव्र गति और व्यापक रूप से विस्तार हो रहा है, शिक्षाविदों का यह दायित्व हो जाता है कि एक ओर तो वे ज्ञान का प्रसार करें तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के बुनियादी तत्वों और पारंपरिक ज्ञान तथा कौशलों का संवर्धन और परिरक्षण भी करें।

भारत के सामाजिक तथा आर्थिक विकास में शिक्षा के महत्व को देश की स्वतंत्रता के पहले के समय में भी महसूस किया जाता था। शिक्षा और विशेष रूप से स्त्री-शिक्षा हमारे राष्ट्रीय जागरण का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। स्वतंत्रता के पश्चात् विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के विकास के लिए संगठित और सतत् प्रयास किए गए हैं। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का एक लक्ष्य यह भी था कि शिक्षा को काम के साथ जोड़ दिया जाए। इस इकाई में इस सदी के पचास के दशक के आरम्भ से साक्षरता के विकास के प्रतिरूप तथा शिक्षा के प्रसार की रूपरेखा, पुरुष तथा स्त्रियों के प्रवेशांकन की संवृद्धि आदि को प्रस्तुत किया गया है।

मानव जीवन तथा श्रमिक की गुणवत्ता उसके स्वास्थ्य पर भी निर्भर होती है। भारत में पहली पंचवर्षीय योजना काल से ही स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास पर विशेष बल दिया जाता रहा है और इस दिशा में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र खोले गए, जिला तथा तहसील मुख्यालयों में स्थित अस्पतालों को उन्नत किया गया और डाक्टरों, नर्सों, सहायक नर्सें, दाइयों आदि के लिए प्रशिक्षण सुविधाओं में काफी विस्तार किया गया। हाल के वर्षों में जेच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाओं तथा बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा दूध पिलाने वाली महिलाओं को पोषक आहार लेने की सलाह देने पर विशेष जोर दिया जा रहा है। इसी प्रकार, शुरू से ही संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए प्रयास किए गए और आज भी किए जा रहे हैं। सातवीं योजना में सबको प्रतिरक्षण टीके लगाने का विशेष कार्यक्रम शुरू किया गया है।

यदि अत्यधिक लोगों का स्वास्थ्य खराब होगा तो उससे उत्पादिता की हानि होगी और इसी लिए हरेक सरकार का यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि वह बच्चों तथा युवाओं में अस्वस्थता और मृत्यु के कारण होने वाली इस हानि को कम से कम करने का प्रयत्न करें। इसलिए, इस इकाई में भारतीय जनता को उपलब्ध होने वाली स्वास्थ्य सुविधाओं की स्थिति की भी जाँच की गई है।

आर्थिक तथा सामाजिक विकास का साधन और साध्य अंततः मानव ही होता है और इसलिए किसी भी देश में रहने वाले लोगों के जीवन में शिक्षा तथा स्वास्थ्य की सर्वाधिक आवश्यकता महसूस की जाती है। लोकोपयोगी सेवा के रूप में गिनी जाने वाली शिक्षा तथा स्वास्थ्य अर्थशास्त्र की कुछ विशिष्ट समस्याएँ होती हैं। लेकिन उन पर इस इकाई की सीमा के अंदर विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि इस इकाई का प्रयोजन देश में शिक्षा तथा स्वास्थ्य की आम स्थिति की रूपरेखा ही प्रस्तुत करना है।

22.2 शैक्षिक विकास

शिक्षा मात्र एक बुनियादी आवश्यकता या मानवीय अधिकार ही नहीं है अपितु अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक साधन भी होती है क्योंकि शिक्षा से बुनियादी कौशलों तथा क्षमताओं का विकास होता है। उपयुक्त ढंग से प्रशिक्षित तथा शिक्षित मानवशक्ति आर्थिक संवृद्धि में गति लाने और वांछित दिशा में सामाजिक परिवर्तन सुनिश्चित करने के लिए एक प्रमुख निवेश का काम करता है। विशेष रूप से स्त्रियों में साक्षरता तथा शिक्षा के प्रसार से न केवल मानव संसाधन विकास के विभिन्न पहलुओं का संवर्धन होता है आपितु इसकी वजह से (1) प्राथमिक शिक्षा में बच्चों की सहभागिता में अधिकाधिक वृद्धि होती है, (2) शिशु मृत्यु दर में कमी आती है, (3) बच्चों की बेहतर देखभाल तथा बच्चों में प्रतिरक्षी टीके लगवाने की प्रबल इच्छा जाग्रत होती है, (4) जन्म दर में कमी आती है,तथा (5) आत्मविश्वास और अपनी छवि बनाने की लालसा उत्पन्न होती है।

भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए मुफ्त तथा अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रावधान किया गया है। इस लक्ष्य को संविधान लागू होने के दस वर्ष के अंदर प्राप्त किया जाना था किन्तु लगता है इस निर्देशक सिद्धांत की व्यवस्था करने वालों को इस लक्ष्य की प्राप्ति में निहित जनांकिकी आयाम और कार्यपद्धति के स्वरूप के बारे में जानकारी नहीं दी गई थी। लेकिन इस दिशा में जिस प्रकार के नौकरशाही प्रयास किए जा रहे हैं उसकी वजह से सर्वव्यापीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने की समयावधि दुर्भाग्य से कई बार बदली जा चुकी है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में इस लक्ष्य की प्राप्ति का समय 1995 तय किया गया है।

शिक्षा विषयक् एक अन्य प्रमुख राष्ट्रीय लक्ष्य, निरक्षरता का उन्मूलन है। इस दिशा में किए गए प्रयासों के बावजूद आज भी देश के आधे से अधिक लोग निरक्षर हैं। यही नहीं देश में निरक्षरों की निरपेक्ष संख्या एक दशक से दूसरे दशक में निरंतर बढ़ रही है, इसका आशय यह है कि साक्षरता में संवृद्धि उतनी भी नहीं है कि कुल जनसंख्या में हुई निवल वृद्धि को भी साक्षर बनाया जा सका हो।

प्रारंभिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण तथा निरक्षरता के उन्मूलन के लक्ष्यों को पाने में असफल हो जाने के बावजूद कई प्रकार से काफी प्रगति की गई है जिसका ब्यौरा हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

22.2.1 शिक्षा सुविधाओं का विकास

पिछले चार दशकों के दौरान स्कूल की सुविधाओं में ढाई गुना वृद्धि हुई है। कालेजों की संवृद्धि दर 5.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष और व्यावसायिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालयों की संवृद्धि दर 4.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। इसी अवधि के दौरान शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर शिक्षकों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई है। प्राथमिक स्कूल स्तर पर शिक्षकों की संख्या पाँच लाख से बढ़कर लगभग 15 लाख तक पहुँच गई है।

ग्रामीण क्षेत्रों में वहाँ की लगभग 95 प्रतिशत जनसंख्या को यह सुविधा प्राप्त हो गई है कि उनके निवास के लगभग एक किलोमीटर के दायरे में प्राथमिक शिक्षा की सुविधा उपलब्ध है। लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या को अपनी बस्ती में ही एक प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध है। इसी प्रकार 85 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को अपने तीन किलोमीटर के दायरे के अंदर मिडिल स्कूल की सुविधा प्राप्त है। लेकिन स्कूल की सुविधा सभी राज्यों में एक समान उपलब्ध नहीं है। शिक्षा की दृष्टि से कुछ राज्य समुन्नत हैं और जहाँ जम्मू तथा काश्मीर हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश जैसे देर से विकास करने वाले राज्यों की तुलना में बेहतर शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

शिक्षा सुविधाओं में विस्तार के साथ-साथ शिक्षा पर होने वाले व्यय (योजना और गैर-योजना दोनों प्रकार के) की राशि में भी धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। यह राशि 1950-51 के 114 करोड़ रुपए से बढ़कर 1979-80 में 3,500 करोड़ रुपए और फिर 1984-85 में 6000 करोड़ रुपए से कुछ अधिक हो गई। लेकिन सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात के रूप में यह वृद्धि 1.2 प्रतिशत से बढ़कर लगभग 4.0 प्रतिशत तक ही पहुँची

व्यय-राशि में यह वृद्धि भी शिक्षा के विभिन्न स्तरों और विभिन्न राज्यों के बीच समान रूप से खर्च नहीं की गई है। कुछ राज्य तो अपने बजट का केवल 13 प्रतिशत भाग ही शिक्षा पर खर्च करते हैं जबकि कुछ राज्य अपने बजट का 45 प्रतिशत भाग शिक्षा पर खर्च करते हैं।

22.2.2 प्रवेशांकन अनुपातों में संवृद्धि

शिक्षा के सभी स्तरों में नाम दर्ज कराने वाले विद्यार्थियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। प्रारंभिक स्तर पर दाखिला लेने वालों की संख्या 1950-51 के 1 करोड़ 92 लाख के मुकाबले 1987-88 में बढ़कर 9 करोड़ 29 लाख हो गई। मिडिल तथा माध्यमिक स्तर पर यह बढ़ोतरी क्रमशः 31 लाख से बढ़कर 2 करोड़ 6 लाख और 12 लाख से बढ़कर 2 करोड़ 55 लाख तक पहुँच गई। उच्च शिक्षा स्तर (स्नातक तथा स्नातकोत्तर) पर दाखिला लेने वालों की संख्या एक लाख से बढ़कर 35 लाख तक पहुँच गई।

प्राथमिक तथा मिडिल स्तरों पर सकल प्रवेशांकन अनुपातों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है (तालिका 22.1)। जैसे कि 1985-86 में, लड़के-लड़कियों के 6-11 आयु वर्ग के 93.4 प्रतिशत बच्चों ने प्राथमिक कक्षाओं में नाम दर्ज कराए, इनमें से लड़कों का प्रवेशांकन 109 प्रतिशत तथा लड़कियों का लगभग 77 प्रतिशत था। इन संख्याओं में 27 प्रतिशत ऐसे बच्चों की संख्या भी शामिल है जो अधिक आयु या न्यून आयु वाले थे अर्थात जो या तो 6 वर्ष से कम आयु के थे या 11 वर्ष की उम्र पूरी कर चुके थे किंतु प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ रहे थे।

मिडिल स्तर पर प्रवेशांकन अनुपातों में 1950-51 के 13 प्रतिशत के मुकाबले 1985-86 में 52 प्रतिशत के रूप में वृद्धि हो गई। प्राथमिक कक्षाओं से मिडिल स्तर पर जाने वाले बच्चों का अनुपात 1950-51 के 16.3 प्रतिशत से बढ़कर 1982-83 में 28.8 प्रतिशत हो गया। किंतु प्राथमिक स्तर से मिडिल स्तर में परिवर्तन दर में वृद्धि हो जाने के बावजूद प्राथमिक स्तर के बाद पढ़ाई छोड़ देने वालों की निरपेक्ष संख्या मिडिल स्तर पर दाखिला लेने वालों की संख्या से बहुत ज्यादा थी।

तालिका 22.1 : भारत में 1950-51 से 1985-86 तक शिक्षा के प्राथमिक तथा मिडिल स्तरों पर सकल प्रवेशांकन अनुपात

वर्ष	प्राथमिक			मिडिल		
	लड़के	लड़कियाँ	योग	लड़के	लड़कियाँ	योग
1950-51	60.6	24.8	43.1	20.6	4.6	12.9
1955-56	68.2	31.0	50.0	24.6	4.6	15.9
1960-61	82.6	41.4	62.4	33.2	11.3	22.5
1965-66	96.3	56.5	76.7	44.2	17.0	30.8
1970-71	92.6	59.1	76.4	46.5	20.8	34.2
1975-76	95.7	62.0	79.3	47.0	23.8	35.6
1980-81	95.8	64.1	80.5	54.3	28.6	41.9
1981-82	98.9	66.2	83.1	56.0	29.7	43.3
1982-83	104.0	69.4	87.2	56.3	30.6	43.9
1983-84	110.3	75.5	93.4	62.7	34.4	48.9
1984-85	110.7	76.7	94.1	64.0	36.3	50.6
1985-86	108.8	77.1	93.4	65.0	38.1	52.0

स्रोत : राष्ट्रीय शैक्षिक आयोजना तथा प्रशासन संस्थान शिक्षा संबंधी बुनियादी आँकड़े : एक संकलन, जनवरी, 1990, पृ. 27.

प्राथमिक स्तर पर सकल प्रवेशांकन अनुपात $= \frac{\text{कक्षा 1 से 5 में बच्चों का प्रवेशांकन}}{\text{6-11 आयु वर्ग में कुल जनसंख्या}} \times 100$

मिडिल स्तर पर सकल प्रवेशांकन अनुपात $= \frac{\text{कक्षा 6 से 7 में बच्चों का प्रवेशांकन}}{\text{11-14 आयु वर्ग में कुल जनसंख्या}} \times 100$

22.3 प्रवेशांकनों में असमानताएँ

प्रत्येक राज्य तथा पूरे देश में लड़के तथा लड़कियों के बीच, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच, सामान्य जनसंख्या और अनुसूचित जाति/जनजाति की जनसंख्या के बीच प्रवेशांकन अनुपातों में व्यापक असमानता दिखाई देती है।

22.3.1 लिंग तथा वर्ग के आधार पर असमानताएँ

तालिका 22.2 में लड़कों तथा लड़कियों और अनुसूचित जाति/जनजातियों तथा कुल जनसंख्या के बीच असमानताओं को दर्शाया गया है। 1980-81 में अनुसूचित जनजाति के लड़कों को छोड़कर सभी तीनों वर्गों में लड़कों का प्रवेशांकन अनुपात 100 से अधिक है। लड़कियों का प्रवेशांकन अनुपात लगातार काफी नीचा चल रहा है। यहाँ तक कि 1985-86 में भी लड़कियों का प्रवेशांकन 82 प्रतिशत था जबकि लड़कों का प्रवेशांकन 113 प्रतिशत था। लड़कों का प्रवेशांकन 100 से अधिक इसलिए है कि उसमें अधिक उम्र के लड़के भी कक्षाओं में पढ़ रहे थे। अनुसूचित जनजाति की लड़कियों का प्रवेशांकन अनुपात सबसे कम था।

तालिका 22.2 : भारत में 1981-82 से 1985-86 के बीच कुल जनसंख्या तथा अनुसूचित जाति/जनजाति के प्राथमिक शिक्षा स्तर पर सकल प्रवेशांकन अनुपात

जनसंख्या समूह	वर्ष	लड़के	लड़कियाँ	योग
सामान्य जनसंख्या	1981-82	99.4	66.9	83.7
	1982-83	104.0	69.4	87.2
	1983-84	110.3	65.5	93.4
	1984-85	110.7	76.7	94.1
	1985-86	108.8	77.1	93.4
अनुसूचित जाति	1981-82	109.2	61.4	86.0
	1982-83	114.5	66.0	91.0
	1983-84	115.9	68.8	93.4
	1984-85	115.3	72.0	94.5
	1985-86	116.6	73.2	95.5
अनुसूचित जनजाति	1981-82	95.8	50.2	73.7
	1982-83	102.5	54.9	79.4
	1983-84	104.4	58.0	81.9
	1984-85	103.5	60.3	82.6
	1985-86	113.2	68.8	91.6

स्रोत : भारत की जनगणना **1981**, सामान्य जनसंख्या के लिए प्राथमिक जनगणना सारांश, अनुसूचित जाति/जनजाति जनसंख्या के लिए प्राथमिक जनगणना सारांश।

देखने योग्य बात यह है कि अनुसूचित जाति के लड़कों का सकल प्रवेशांकन अनुपात सामान्य जनसंख्या के लड़कों के प्रवेशांकन से हमेशा अधिक रहा है। ऐसा इसलिए हो गया कि अनुसूचित जाति के सभी लड़कों के नाम (अधिक आयु वाले बच्चों समेत) स्कूल रजिस्टरों में दर्ज थे फिर चाहे वे स्कूल में आते थे या नहीं। यह बात अनुसूचित जनजाति के बच्चों के साथ नहीं थी।

मानव संसाधन विकास की दृष्टि से शिक्षा के क्षेत्र में इन असमानताओं को और विशेष रूप से समाज के सभी वर्गों के लड़कियों के बारे में असमानताओं को दूर करने की आवश्यकता है। विभिन्न वर्गों के बीच शिक्षा में असमानता, मानव संसाधन विकास के एक पहलू को उजागर करती है तो क्षेत्रीय भिन्नता या राज्यों के बीच भिन्नताएँ मानव संसाधन के विकास की नीति अपनाने की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

22.3.2 अन्तर्राज्यीय असमानताएँ

तालिका 22.3 में 1960-61 तथा 1987-88 के लिए प्राथमिक शिक्षा तथा मिडिल स्तर की शिक्षा में लड़कों तथा लड़कियों के राज्यवार प्रवेशांकन अनुपात दिखाए गए हैं। इस तालिका से स्पष्ट है कि कुछ राज्यों में तो पर्याप्त संख्या में लड़के तथा लड़कियाँ शिक्षा ग्रहण कर रही हैं परंतु बहुत से ऐसे राज्य भी हैं जहाँ ये काफी कम हैं। यह भी देखा जा सकता है कि जो राज्य प्रारंभ में अच्छी स्थिति में नहीं थे वे अभी भी इस क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं। इस अंतर को पूरा करने के लिए विशेष प्रयास किए जाने जरूरी हैं।

विभिन्न राज्यों में निष्पादन में जो अंतर दिखाई देता है उसका एक कारण तो यह है कुछ राज्य सापेक्षिक रूप से इतनी आर्थिक प्रगति कर चुके हैं कि वे शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े राज्यों की तुलना में अपने यहाँ मानव संसाधन विकास पर ज्यादा निवेश करने में सक्षम हैं। पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र तथा गुजरात जैसे प्रति व्यक्ति अधिक आय वाले राज्य शिक्षा की दृष्टि से भी समन्नत राज्य बन गए हैं। इसके दूसरे छोर पर बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आंध्रप्रदेश तथा जम्मू और कश्मीर जैसे प्रति व्यक्ति कम आय वाले और राष्ट्रीय औसत आय से कम आय वाले राज्य हैं जो शिक्षा की दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं। हालाँकि, सभी निर्धन राज्य शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए नहीं हैं जैसे केरल, तमिलनाडु, हिमाचल प्रदेश तथा कर्नाटक जहाँ यद्यपि प्रति व्यक्ति आय कम तो है परंतु वे शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए नहीं कहे जा सकते।

तालिका 22.3 : लिंग के आधार पर विभिन्न राज्यों तथा संघशासित राज्यों में 1960-61 तथा 1987-88 में प्राथमिक तथा मिडिल स्तर पर प्रवेशांकन अनुपात

	प्राथमिक				मिडिल			
	लड़के		लड़कियाँ		लड़के		लड़कियाँ	
	1960-61	1987-88	1960-61	1987-88	1960-61	1987-88	1960-61	1987-88
आंध्र प्रदेश	84	118	52	88	26	61	8	35
असम	85	112	50	99	36	60	15	45
बिहार	76	107	24	54	29	50	4	34
गुजरात	90	128	53	100	37	68	15	45
हरियाणा	—	98	—	73	—	81	—	44
हिमाचल प्रदेश	80	122	21	105	37	109	8	76
जम्मू और कश्मीर	71	101	21	67	38	71	10	40
कर्नाटक	92	113	55	96	32	63	14	45
केरल	99	109	99	107	68	98	49	96
मध्य प्रदेश	75	120	22	78	26	71	5	29
महाराष्ट्र	95	131	58	112	39	82	15	56
मणिपुर	99	126	75	105	65	83	20	61
मेघालय	—	102	—	99	—	62	—	53
नागालैंड	99	119	68	118	33	61	16	52
उड़ीसा	89	112	39	84	16	51	2	28
पंजाब	75	98	35	92	44	67	13	57
राजस्थान	64	110	16	47	24	64	4	17
सिक्किम	—	128	—	105	0	59	0	49
तमिलनाडु	99	140	66	124	44	97	19	71
त्रिपुरा	72	143	38	118	29	77	12	58
उत्तर प्रदेश	69	94	20	53	27	64	5	25
पश्चिम बंगाल	84	135	46	101	31	73	12	58
अंडमान द्वीप समूह	76	107	52	92	19	98	8	86
अरुणाचल प्रदेश	*	110	*	76	*	48	*	27

	प्राथमिक				मिडिल			
	लड़के		लड़कियाँ		लड़के		लड़कियाँ	
	1960-61	1987-88	1960-61	1987-88	1960-61	1987-88	1960-61	1987-8
चंडीगढ़	—	64	—	63	0	59	0	54
दादर और नागर हवेली	—	105	—	78	0	54	0	34
दिल्ली	90	92	76	92	67	85	55	79
गोवा, दमन और दीयू	—	120	—	108	0	111	0	96
लक्षद्वीप	100	158	80	132	33	115	2	80
मेजोरम	—	140	—	134	0	71	0	70
पांडिचेरी	92	136	58	122	47	121	16	73
भारत	83	113	41	82	33	69	11	41

टिप्पणी : * आँकड़े उपलब्ध नहीं

स्रोत : (i) भारत में शिक्षा : मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(ii) चुनिंदा सांख्यिकी : मानव संसाधन विकास मंत्रालय

बोध प्रश्न 1

1) स्त्री शिक्षा के परोक्ष लाभ क्या हैं?

.....

.....

2) (क) लिंग, तथा (ख) जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के आधार पर प्रवेशांकन में असमानताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

3) तालिका 22.1 में प्राथमिक स्तर पर लड़कों का सकल प्रवेशांकन अनुपात 1980 में 100% से अधिक है। यह कैसे संभव हुआ?

.....

.....

22.4 साक्षरता दरें : निरक्षरता तथा असमानताएँ

साक्षरता मानव संसाधन विकास का एक अपरिहार्य तत्व है। यह संप्रेषण तथा सीखने और ज्ञान तथा सूचना हासिल करने और संप्रेषित करने का एक अनिवार्य साधन है और व्यक्ति के विकास तथा प्रगति और राष्ट्रीय विकास की एक पूर्वापेक्षा है। दूसरी ओर निरक्षरता को सर्वत्र नुकसान तथा सामाजिक-आर्थिक अल्प-विकास के साथ जोड़ा जाता है। सर्वाधिक साक्षरता दर वाले केरल राज्य में निम्नतम शिशु मृत्यु दर, निम्न मृत्यु दर, 15-19 आयु वर्ग में विवाहित स्त्रियों का कम हिस्सा और बहुत से राज्यों की तुलना में प्रति हैक्टेयर ज्यादा कृषि उत्पादिता है। वहाँ उत्प्रवासन की दर भी ज्यादा है और वहाँ के लोग बेहतर उपार्जन के लिए भारत में तथा देश से बाहर काम की खोज करते रहते हैं तथा वहाँ से काफी धनराशि कमाकर अपने घर भेजते रहते हैं।

जैसा हम पहले उल्लेख कर चुके हैं निरक्षरता का उन्मूलन हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य रहा है। स्वतंत्रता मिलने के बाद से एक ओर तो स्कूल की आधारिक संरचना के विस्तार की ओर और दूसरी ओर प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं और इस क्षेत्र में काफी प्रगति भी हासिल की गई है। साक्षरता दरों में सुधार भी हुआ है, 1951 की 16.7 प्रतिशत से बढ़कर यह 1981 में 36.2 प्रतिशत हो गई। जनसंख्या के विभिन्न वर्गों के बीच असमानताएँ काफी हैं जिन्हें तालिका 22.4 में देखा जा सकता है।

तालिका 22.4 : भारत में 1981 में साक्षरता दर

जनसंख्या का भाग	कुल जनसंख्या	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति
योग	36.2	21.4	16.4
पुरुष	46.9	31.1	24.5
स्त्री	24.8	10.9	8.0
ग्रामीण	29.7	18.5	14.9
पुरुष	40.8	27.9	22.9
स्त्री	18.0	8.5	6.8
शहरी	57.4	36.6	37.9
पुरुष	65.8	47.5	47.6
स्त्री	47.8	24.3	27.3

स्रोत : **भारत की जनगणना, 1981**, सामान्य जनसंख्या के लिए प्राथमिक जनगणना सारांश, अनुसूचित जाति/जनजाति जनसंख्या के लिए प्राथमिक जनगणना सारांश।

स्त्री साक्षरता दरें पुरुषों के मुकाबले केवल आधी हैं। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों की साक्षरता दर शहरी क्षेत्रों की तुलना में काफी कम है। अनुसूचित जाति/जनजाति की साक्षरता दरें सभी तरह से काफी कम हैं।

पिछले समय की साक्षरता दरों में हुई वृद्धि पर विचार करते समय एक अति महत्वपूर्ण प्रश्न पिछले चार दशकों के दौरान निरक्षरों की निरपेक्ष संख्या में हुई वृद्धि के संबंध में उठता है। निरक्षरों की संख्या 1951 के 30 करोड़ से बढ़कर 1981 में 43.7 करोड़ हो गई। यहाँ तक कि 15-35 आयु वर्ग में निरक्षर लोगों की संख्या 1951 के 9.1 करोड़ से बढ़कर 1981 में 11.0 करोड़ हो गई। इसका अर्थ यह है कि 1951 से 1981 तक के तीस वर्षों के दौरान कुल जनसंख्या में जो निवल वृद्धि हुई उसको भी हम साक्षर न बना सके।

विभिन्न राज्यों में साक्षरता दर के बारे में एक ओर केरल राज्य है जहाँ 1981 में साक्षरता की दर 70.4 प्रतिशत थी (तालिका 22.5) तो दूसरे छोर पर बिहार, जम्मू और कश्मीर, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश जैसे राज्य हैं जहाँ साक्षरता की दर 30 प्रतिशत से भी कम है। इन राज्यों में देश की 40 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या बसती है। इन राज्यों में शैक्षिक पिछड़ापन इस बात का द्योतक है कि वहाँ मानव संसाधन विकास का स्तर नीचा है। लिंग तथा ग्रामीण/शहरी आधार पर भी अत्यधिक असमानताएँ मौजूद हैं।

तालिका 22.5 : लिंग, ग्रामीण शहरी निवास तथा राज्य/संघ शासित क्षेत्र के आधार पर 1981 की साक्षरता दरें

राज्य	कुल जनसंख्या			ग्रामीण जनसंख्या			शहरी जनसंख्या		
	व्यक्ति	पु.	स्त्री	व्यक्ति	पु.	स्त्री	व्यक्ति	पु.	स्त्री
भारत	36.23	46.89	24.82	29.65	40.79	17.96	57.40	65.83	47.82
राज्य									
आँध्र प्रदेश	29.94	39.26	20.39	23.24	32.25	14.08	51.99	61.89	41.55
बिहार	26.20	38.11	13.62	22.50	34.38	10.17	52.18	62.47	39.81
गुजरात	43.70	54.44	32.30	36.20	47.85	24.06	60.31	68.62	51.13
हरियाणा	36.14	48.20	22.27	30.33	43.44	15.37	56.86	64.95	47.35
हिमाचल प्रदेश	42.48	53.19	31.46	40.42	51.36	29.36	67.34	73.32	60.06
जम्मू और कश्मीर	26.67	36.29	15.88	21.63	31.64	10.47	45.66	53.55	36.44
कर्नाटक	38.46	48.81	27.71	31.05	42.06	19.77	56.71	64.98	47.78

राज्य	कुल जनसंख्या			ग्रामीण जनसंख्या			शहरी जनसंख्या		
	व्यक्ति	पु.	स्त्री	व्यक्ति	पु.	स्त्री	व्यक्ति	पु.	स्त्री
केरल	70.42	75.26	65.73	69.11	74.13	64.25	76.11	80.10	72.20
मध्य प्रदेश	27.87	39.49	15.53	21.22	32.91	8.99	54.02	64.41	42.26
महाराष्ट्र	47.18	58.79	34.79	38.15	51.25	24.88	63.92	71.80	54.65
मणिपुर	41.35	53.29	29.06	37.37	49.33	25.06	52.44	64.30	40.20
मेघालय	34.08	37.89	30.08	27.45	30.83	23.96	64.12	68.90	58.82
नागालैंड	42.57	50.06	33.89	38.59	46.09	30.25	64.23	69.26	56.01
उड़ीसा	34.23	47.10	21.12	31.49	44.51	18.45	54.77	65.13	42.72
पंजाब	40.86	47.16	33.69	35.21	41.91	27.63	55.63	60.73	49.72
राजस्थान	24.38	36.30	11.42	17.99	29.65	5.46	48.35	60.55	34.45
सिक्किम	34.05	43.95	22.20	30.05	40.25	18.24	54.86	61.44	45.42
तमिलनाडु	46.76	58.26	34.99	38.56	51.16	25.80	63.45	72.50	53.99
त्रिपुरा	42.12	51.70	32.00	38.23	48.24	27.64	73.66	79.95	67.09
उत्तर प्रदेश	27.16	38.76	14.04	23.06	35.18	9.49	45.88	54.73	35.42
पश्चिम बंगाल	40.94	50.67	30.25	33.12	43.58	22.06	62.66	69.08	54.82
केन्द्रीय शासित प्रदेश									
अंडमान द्वीप समूह	51.56	58.72	42.14	46.58	53.94	37.07	65.54	71.69	56.98
अरुणाचल प्रदेश	20.79	28.94	11.32	18.51	26.36	9.60	53.22	60.80	41.18
चंड़ीगढ़	64.79	69.00	59.31	44.73	52.29	33.74	66.15	70.19	60.94
दादरा	26.67	36.32	16.78	24.71	34.32	14.91	54.17	62.91	44.28
दिल्ली	61.54	68.40	53.07	47.56	60.11	32.08	62.64	69.05	54.71
गोवा, दमन और दीयू	56.66	65.59	47.56	52.68	62.39	43.08	64.99	71.96	57.38
लक्षद्वीप	55.07	65.24	44.55	51.98	62.25	41.57	58.65	68.66	48.25
मिजोरम	59.88	64.46	54.91	55.24	60.19	40.92	74.06	77.26	70.47
पांडिचेरी	55.85	65.84	45.71	47.98	59.39	36.30	60.04	70.77	54.23

टिप्पणी : इसमें असम शामिल नहीं है क्योंकि वहाँ 1981 की जनगणना नहीं हो सकी। भारत की जनगणना 1981, सामान्य जनसंख्या प्राथमिक जनगणना सारांश।

22.5 शिक्षा का व्यवसायीकरण तथा उच्च शिक्षा

मानव संसाधन के विकास में माध्यमिक शिक्षा की भूमिका पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस स्तर की शिक्षा बहुत कम लोगों को ही मिल पाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज में प्रारंभिक शिक्षा की एक समान व्यवस्था कर पाने में ही हम असफल रहे हैं क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा स्त्री-पुरुषों, सभी जातियों, धर्मों तथा सामाजिक-आर्थिक वर्गों के लोगों को समान रूप से उपलब्ध नहीं हो पाती और यदि बीच में स्कूल छोड़ देने वालों की संख्या को मद्दे नजर रखा जाए तो इन स्कूल छोड़ देने वालों की कुल संख्या वास्तव में स्कूल में उपस्थित होने वालों की संख्या से अधिक हो जाएगी।

मानव संसाधन विकास में माध्यमिक शिक्षा की भूमिका का अध्ययन करते समय हमें शिक्षा तथा काम के बीच संबंध और विशेष रूप से शिक्षा के व्यवसायीकरण पर अपना ध्यान केंद्रित करना होगा। शिक्षा को काम के साथ जोड़ने की आवश्यकता बहुत पहले से ही

महसूस की जा रही है। इसके पीछे शिक्षाशास्त्रीय कारण भी हैं और यह कारण भी है कि बच्चे को ऐसा कार्यानुभव प्रदान किया जाए जिससे भविष्य में उसे रोज़गार मिल सके। परंतु विभिन्न शिक्षा आयोगों की आधिकारिक सिफ़ारिशों के बावजूद माध्यमिक शिक्षा की लगातार इस तरह से संरचना की जा रही है कि उससे विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए तैयार किया जा सके।

22.5.1 व्यावसायिक शिक्षा

भारत में एक लंबे समय से व्यावसायिक प्रशिक्षण बहुत से औद्योगिक प्रशिक्षण तथा शिल्प-संस्थानों में ही दिया जाता रहा है। कोठारी आयोग (1964-66) की सिफारिश पर दस जमा दो स्तर पर शिक्षा के व्यवसायीकरण को एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में स्वीकार किया गया। आयोग ने यह सुझाव दिया था कि उच्चतर माध्यमिक स्तर पर दाखिला लेने वाले 50 प्रतिशत छात्रों को 1985 (20 वर्ष की अवधि में) तक व्यावसायिक धारा की ओर मोड़ दिया जाए। उसके बाद से शिक्षा के व्यवसायीकरण की दिशा में काफ़ी प्रगति हुई है। हालाँकि यह प्रगति उतनी मात्रा में नहीं हुई है जितनी कि व्यावसायिक शिक्षा के विकास की कल्पना की गई थी। यद्यपि विभिन्न राज्यों में स्थित विभिन्न संस्थाओं द्वारा व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाए जा रहे हैं परंतु इस दिशा में वास्तविक प्रगति कुछ ही राज्यों में हुई है, तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र ऐसे दो राज्य हैं जहाँ लगभग तीन चौथाई छात्रों के लिए यह पाठ्यक्रम हैं (तालिका 22.6)। ध्यान देने योग्य बात यह है कि व्यावसायिक शिक्षा का स्तर बड़ा घटिया तथा अप्रभावी है। इस कार्यक्रम के ठीक तरह से न चल पाने के बहुत से कारण हैं। कुछ सीमा तक एक कारण तो यह है कि शिक्षा तथा उद्योग और शिक्षा तथा स्व-रोज़गार के बीच कोई खास संबंध स्थापित नहीं हो पाया है। दूसरे, छात्रों को जो प्रशिक्षण दिया जाता है वह अच्छी किस्म का नहीं है क्योंकि शिक्षक घटिया किस्म के होते हैं, शिक्षा उपस्करों का अभाव होता है तथा इन पाठ्यक्रमों में भाग लेने वाले छात्र भी घटिया श्रेणी के होते हैं जो इस देश के शिक्षित समुदाय में दूसरी श्रेणी के नागरिक बनने लायक ही होते हैं।

तालिका 22.6 : उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण कार्यक्रम चलाने वाले राज्य : जमा 2 स्तर (10+2) पर संस्थाएँ तथा दाखिला: **1986**

राज्य	व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाने वाली संस्थाओं की संख्या	व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की संख्या	प्रवेशांकन	
			कक्षा 11	कक्षा-12
गुजरात	43	14	6028	6000
हरियाणा	41	19	1898	1927
कर्नाटक	105	29	4558	3361
केरल	53	11	1512	1330
मध्य प्रदेश	11	18	1041	41
महाराष्ट्र	91	46	7950	6145
उड़ीसा	2	3	415	329
पंजाब	13	10	304	0
राजस्थान	10	11	370	2338
तमिलनाडु	144	26	40261	332325
उत्तर प्रदेश	41	1	1025	675
पश्चिम बंगाल	90	4	839	783
दिल्ली	52	21	1478	994
अखिल भारत	1706	—	68180	58391

स्रोत : पाँचवां सर्वेक्षण, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिषद।

इस सबके बावजूद, माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण और विशेषीकृत संस्थाओं के माध्यम से प्रशिक्षण प्रदान करना इसलिए अनिवार्य है कि इससे आर्थिक संवृद्धि के लिए आवश्यक मानवशक्ति प्राप्त होगी और विशेष रूप से मध्यवर्ती स्तर का तकनीकी मानवशक्ति मिलेगी। आवश्यकता इस बात की है कि प्रशिक्षण को अपने आसपास के

पर्यावरण तथा समाज की आवश्यकताओं के साथ एकीकृत करने के मुख्य प्रयास किए जाएँ।

22.5.2 उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा का आमतौर पर यह दायित्व होता है कि वह अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकता पूर्ति के लिए आवश्यक उच्च स्तर का कुशल मानवशक्ति, जिसमें प्रारंभिक तथा माध्यमिक स्कूलों के लिए शिक्षक भी शामिल हैं, तैयार करें। उच्च स्तर के मानवशक्ति की पूर्ति के लिए उच्च शिक्षा पर निर्भरता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, विशेष रूप से इसका एक कारण उत्पादन प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होने वाली प्रौद्योगिकी का बदलता स्वरूप भी है। इसकी वजह से श्रमिकों को प्रशिक्षण देना ही नहीं, बल्कि पुनः प्रशिक्षण देना भी जरूरी हो गया है।

एक ओर तो उच्च शिक्षा की मानव संसाधन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका और दूसरी ओर इस प्रकार की शिक्षा में लगने वाली अधिक लागत को मद्दे नजर रखते हुए ऐसे प्रयास किए जा रहे हैं कि विभिन्न स्तरों की शिक्षा तथा व्यावसायिक कुशलता के अनुसार माँग का पूर्वानुमान लगा लिया जाए ताकि उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त व्यवस्था की जा सके। लेकिन एक ओर लंबी उत्पादनावधि तथा विकास की अनिश्चितता और दूसरी ओर सामान्य शिक्षा प्रदान करने वाले विश्वविद्यालयों और कॉलेजों की अव्यवस्थित संवृद्धि की वजह से अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुसार उच्च स्तर की मानवशक्ति को पैदा करवाना संभव नहीं हो पाया है। एक ओर तो सामान्य शिक्षा के स्नातक और स्नातकोत्तर तथा कानून की शिक्षा प्राप्त किए विद्यार्थियों की भीड़ लगी है तो दूसरी ओर डाक्टरों, इंजीनियरों तथा अन्य व्यावसायिक लोगों की देश में कमी है। इसी तरह, व्यवसायीकरण के असफल हो जाने के कारण डाक्टरों का पैरा-मैडिको लोगों से या स्नातक इंजीनियरों का मिस्त्रियों तथा कुशल प्रशिक्षित श्रमिकों से अनुपात भी विकृत हो गया है और उससे एक ऐसी विरोधाभासी स्थिति पैदा हो गई है कि यदि डाक्टर हैं तो फार्मासिस्ट, लैब असिस्टेंट, प्रशिक्षित नर्सें आदि नहीं हैं और यदि इंजीनियर हैं तो प्रशिक्षित ओवरसीयर, राजमिस्त्री तथा फोरमैन नहीं हैं।

स्वतंत्रता के तत्काल बाद उच्च शिक्षा के पुनर्गठन के काम को उच्च प्राथमिकता दी गई। 1949 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन किया गया। योजनाएँ बनाते समय इस आयोग की सिफ़ारिशों को मद्दे नज़र रखा गया।

पिछले चार दशकों में उच्च शिक्षा का काफी विस्तार हुआ है। जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है उच्च शिक्षा के लिए दाखिला लेने वालों की संख्या 1951 के एक लाख से बढ़कर 1986-87 में 35 लाख तक पहुँच गई। अन्य स्तरों की तुलना में इस स्तर पर हुई संवृद्धि दर ज्यादा थी।

भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जो संकट है वह संरचनात्मक विरूपता तथा शिक्षा के निरंतर गिरते स्तर की वजह से है। तालिका 22.7 में संकाय के अनुसार दाखिलों की संख्या दिखाई गई है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि कला संकाय में आज भी सबसे ज्यादा छात्र प्रवेश लेते हैं, कुछ राज्यों में तो यह संख्या काफी अधिक है।

तालिका 22.7 1950-51 से 1981-82 तक स्नातक तथा स्नातकोत्तर छात्रों का संकाय के अनुसार प्रवेशांकन
(यहाँ पर प्रतिशत कुल प्रवेशांकनों के संबंध में है)

वर्ष	कला	विज्ञान	वाणिज्य	शिक्षा	इंजिनियरी टैक्नोलॉजी	मेडिसीन
1950-51	38.98	20.80	10.30	2.38	6.96	8.78
1955-56	42.52	19.82	10.32	3.86	6.74	7.26
1960-61	39.69	24.03	9.87	3.41	7,62	5.79
1965-66	40.52	25.86	10.45	3.14	7.34	5.90
1970-71	43.10	26.26	13.03	2.91	4.46	4.58
1975-76	44.50	19.10	17.10	3.20	4.00	4.30
1980-81	40.50	19.40	20.10	2.60	4.50	4.00
1981-82	40.30	19.60	21.30	2.40	4.40	3.90

विज्ञान संकाय में प्रवेश लेने वालों की संख्या में पहले तो बढ़ोतरी हुई परंतु सत्तर के दशक में इसमें गिरावट आ गई। वाणिज्य संकाय की हिस्सेदारी में काफी बढ़ोतरी हुई और यह अंश लगभग 10 प्रतिशत से बढ़कर 20 प्रतिशत से अधिक हो गयी। वाणिज्य में ज्यादा प्रवेश लेने का कारण प्रति इकाई लागत का कम होना और तृतीयक क्षेत्रक के विकास की वजह से रोज़गार मिलने की ज्यादा संभाविता होना है। तकनीकी और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में दाखिले की स्थिति वास्तव में असंतोषजनक है। वास्तव में, इन विधाओं में प्रवेश लेने का सीधा संबंध उत्पादन क्षेत्रक से होता है। इन विधाओं में, 1981-82 में कुल प्रवेशांकनों में से केवल 10.7 प्रतिशत ने ही प्रवेश लिया। पिछले तीस वर्षों से इसमें लगातार गिरावट हो रही है। 1950-51 में यह 18 प्रतिशत था जो 1981-82 में आकर मात्र 10.7 प्रतिशत ही रह गया जबकि सकल राष्ट्रीय उत्पाद में विनिर्माण, बिजली, परिवहन तथा निर्माण उद्योगों की हिस्सेदारी आमतौर पर लगातार बढ़ रही है और इसके लिए ज्यादा से ज्यादा योग्य तकनीकी कार्मियों की जरूरत पड़ेगी।

मानव संसाधनों के विकास की दृष्टि से शिक्षा की माँग तथा पूर्ति के बीच असंतुलन को बनाए रखने की जरूरत है। इस संदर्भ में, ऐसे पाठ्यक्रमों पर ज्यादा जोर दिए जाने की जरूरत है जो मानव जाति के सामाजिक तथा भौतिक कल्याण में सीधे योगदान करके या उत्पादन प्रक्रियाओं को बेहतर बनाकर उत्पादक मानव संसाधनों के विकास में सहायता कर सकें। इस स्तर पर शिक्षा के स्तर में काफी सुधार करने की जरूरत होगी। इसके अतिरिक्त, प्रौद्योगिकी में तेजी से आ रहे बदलाव को देखते हुए इस स्तर पर अधिकाधिक अल्पकालीन पाठ्यक्रम चालू करने की जरूरत है। हाल में उच्च शिक्षा के निजीकरण की वांछनीयता पर भी कुछ विवाद खड़ा हो गया है, इसके समर्थकों का मत है कि चूँकि इससे व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक लाभ पहुँचता है अतः इस व्यक्ति के परिवार वालों को इस प्रकार की शिक्षा पर होने वाले व्यय को वहन करना चाहिए। उनके अनुसार इससे सरकारी संसाधनों के खर्च से प्राप्त होने वाले लाभों का अधिक समानता से वितरण संभव हो पाएगा।

बोध प्रश्न 2

1) जनसंख्या में होने वाली निवल बढ़ोतरी को भी हम साक्षर बनाने में असमर्थ रहे हैं। इसका क्या आशय है?

.....

.....

2) व्यावसायिक शिक्षा कोई ज्यादा प्रभावी नहीं हुई है। इसका क्या कारण है?

.....

.....

3) उच्च शिक्षा के पुनर्गठन की क्या जरूरत है?

.....

.....

22.6 स्वास्थ्य

विकास के साधन और साध्य दोनों ही के लिए एक शिक्षित श्रमशक्ति के साथ-साथ देश को एक स्वस्थ श्रमिक बल की भी जरूरत होती है। खराब स्वास्थ्य श्रमिक की कम उत्पादिता तथा अधिक अनुपस्थिति का एक बहुत बड़ा कारण होता है। इस बात के भी साक्ष्य मौजूद हैं कि अनेक आर्थिक दुर्बलताएँ जैसे जनजाति तथा जाति, शिक्षा का स्तर और स्वास्थ्य के बीच आपसी संबंध होता है। स्वास्थ्य तथा लोगों के विकास के मूल में माता तथा बच्चे का स्वास्थ्य होता है। मूल इकाई के रूप में, माँ और बच्चा परिवार का मूल आधार होते हैं तथा गर्भाधान के दौरान उनके बीच जो संबंध स्थापित होता है वह बाद में सामाजिक संबंध के रूप में प्रकट होता है। स्त्री साक्षरता, माँ और बच्चे का स्वास्थ्य तथा नीची जन्म दर, ये तीनों एक दूसरे से गुँथे हुए हैं। इनमें व्याप्त असमानताएँ परस्पर प्रभाव डालती हैं और ये निर्धनता के दुष्चक्र को जन्म देती हैं। विभिन्न क्षेत्रकों में असमानताओं के

ढाँचे में यदि अड़चनों को दूर कर दिया जाए तो वह सहायक भी बन सकता है। इसीलिए प्राथमिक स्वास्थ्य की योजनाओं में माँ तथा बच्चे की स्वास्थ्य सेवाओं का अग्रणी स्थान होता है।

नीति के रूप में, विशेष रूप से "सबके लिए स्वास्थ्य" के संदर्भ में, देश ने सार्वजनिक प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल को अपना आदर्श बनाया है, जिसका आशय यह है कि स्वास्थ्य के लिए अंतर-क्षेत्रकीय समन्वित कार्रवाई की जाएगी, उपचारात्मक, निरोधक, संवर्धनात्मक तथा पुनर्वासीय सेवाओं के बीच एकीकरण स्थापित किया जाएगा तथा स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में नीति निर्माण करने, योजना बनाने, कार्यक्रम बनाने तथा लागू करने के क्षेत्र में जनता का अधिकाधिक सहयोग लिया जाएगा।

22.6.1 आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं में प्रगति

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से स्वास्थ्य से संबंधित कई दिशाओं में काफी प्रगति की गई है। उदाहरणतः पिछले चालीस वर्षों के दौरान भारत में मृत्यु दर 27 प्रति हजार से घटकर 11 प्रति हजार रह गई है। जन्म पर जीवन संभाविता 1941-51 के 31-32 वर्ष से बढ़कर 1985-86 में अनुमानतः 54.7 वर्ष हो गई। जीवित जन्म से शिशु मृत्यु दर भी 160 प्रति हजार घटकर 1988 में 94 रह गई। चेचक का उन्मूलन किया जा चुका है तथा मलेरिया एवं अन्य संक्रामक रोगों से होने वाली मौतों पर भी काफी हद तक नियंत्रण कर लिया गया है। राज्य द्वारा स्वास्थ्य पर प्रति व्यक्ति खर्च 1955-56 के रु.1.50 से बढ़कर 1981-82 में रु. 27.86 हो गया, हालाँकि सकल राष्ट्रीय उत्पाद में उसका अंश 2% से अधिक नहीं है। देश में स्वास्थ्य रक्षा-प्रणाली की सीमित उपलब्धता तथा ग्रामीण क्षेत्रों में इसके लगभग अभाव को देखते हुए भारत सरकार ने प्रत्येक सामुदायिक विकास खंड में जल्दी ही एक "प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र" स्थापित करने का कदम उठाया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर देश में 5000 से अधिक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र स्थापित किए जा चुके थे। विश्व स्वास्थ्य संगठन की 'आल्मा एटा घोषणा' (1978) पर भारत ने भी हस्ताक्षर किए थे जिसके अनुसार वह "2000 ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य" के प्रति वचनबद्ध हो गया है। इसके अनुसरण में भारत सरकार ने 1982 में संसद में एक "राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति" की घोषणा की। जिसके अनुसार सरकार ने बुनियादी स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण के क्षेत्र में निम्नलिखित लक्ष्य प्राप्त करने का निश्चय किया है :

तालिका 22.8 : राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में बुनियादी स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण सेवाओं के लिए निर्धारित लक्ष्य

क्र.सं.		लक्ष्य	
		1990	2000ई.
1.	गर्भवती महिलाओं की प्रसव पूर्व देखभाल (%)	60-75	100
2.	प्रशिक्षित परिचरों द्वारा प्रसव कराना (%)	80	100
3.	प्रतिरक्षण स्थिति (% सुरक्षा) गर्भवती महीलाओं को		
	टी.टी. और स्कूल जाने वाले बच्चों को टी.टी.	100	100
	10 वर्ष की आयु	100	100
	16 वर्ष की आयु	100	100
	डी.पी.टी. (तीन वर्ष से कम आयु के बच्चे)	85	85
	पोलियो (शिशु)	70	85
	बी.सी.जी. (शिशु)	80	85
	डी.टी. (स्कूल में आने वाले 5-6 वर्ष के नए छात्र)	85	85
	टाइफायड (स्कूल में आने वाले 5-6 वर्ष के नए छात्र)	85	85
4.	कुष्ठ रोग (पता लगाए गए लोगों में से कितने प्रतिशत में रोग नियंत्रण)	60	80
5.	क्षयरोग (टी.बी.) (पता लगाए गए लोगों में से कितने प्रतिशत में रोग नियंत्रण)	75	90
6.	अंधापन (%)	0.7	0.3

स्रोत : राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 1982.

22.6.2 सातवीं योजना का स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रम

आल्मा एटा लक्ष्यों के अनुसार प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा को सातवीं योजना में और भी ज्यादा बढ़ावा दिया गया। समूचे स्वास्थ्य विकास कार्यक्रम के अंतर्गत निरोधात्मक तथा संवर्धनात्मक पहलुओं पर तथा स्वरूप में विस्तृत, आसानी से और सदैव उपलब्ध हो जाने वाली, निःशुल्क, पहुँच के अंदर और लोगों द्वारा आमतौर पर वहन की जाने वाली, प्रभावी तथा दक्ष स्वास्थ्य सेवाएँ संगठित करने पर विशेष बल दिया गया। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सातवीं योजना में निम्नलिखित क्षेत्रों पर विशेष बल दिया गया :

1) प्राथमिक स्वास्थ्य उपायों के संवर्धन के लिए न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम एक प्रधान आधार के रूप में कार्य करता रहेगा, इस बात पर विशेष जोर दिया जाएगा कि दी जा रही सेवा की गुणवत्ता और उसकी पहुँच में और सुधार किया जाए।

2) विभिन्न क्षेत्रकों के बीच समन्वय और सहयोग अच्छा न होने की वजह से स्वास्थ्य कार्यक्रमों को काफी नुक्सान पहुँचता है। स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं तथा कार्यकलाप के बीच प्रभावी समन्वय तथा संयोजन स्थापित करने के गंभीर प्रयास किए जाएँगे जैसे पोषण, पीने के साफ पानी की आपूर्ति तथा सफ़ाई, आवास-निर्माण, शिक्षा, सूचना तथा संचार और समाज-कल्याण उस पैकेज का एक हिस्सा होंगे जो 2000 ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बनाया जाएगा।

3) किसी भी कार्यक्रम में समाज के लोगों की सहभागिता बहुत जरूरी होती है। इसलिए स्वैच्छिक संगठनों के सक्रिय सहयोग वाले कार्यक्रमों तथा बड़े पैमाने पर स्वास्थ्य शिक्षा आंदोलन चलाने को प्राथमिकता दी जाएगी।

4) स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन सेवाओं में गुणात्मक सुधार किए जाएँगे। अधिकाधिक निरोधात्मक शिक्षा तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए आवश्यक साज सामान को और अधिक आवश्यकता-आधारित तथा समुदाय-प्रधान बनाया जाएगा। आवश्यक दवाइयों, टीकों तथा सीरप की पर्याप्त व्यवस्था की जाएगी जिसके लिए उत्पादन सुनिश्चित करने, उनकी कीमत निर्धारित करने तथा वितरण करने और सर्वत्र तथा सार्वजनिक उपलब्धता पर विशेष ध्यान दिया जाएगा तथा यह भी सुनिश्चित किया जाएगा कि वे सभी की पहुँच के अंदर हों।

5) व्यापकता सुनिश्चित करने के लिए शहरी स्वास्थ्य सेवाओं, स्कूल स्वास्थ्य सेवाओं तथा मानसिक और दंत-स्वास्थ्य सेवाओं पर भी विशेष ध्यान दिया जाएगा।

6) संक्रामक रोगों की रोकथाम और उनके उन्मूलन के लिए सभी स्तरों पर कार्यक्रम लागू करने के तंत्र को सबल बनाने की जरूरत है और यह भी जरूरी है कि कार्यक्रम पर होने वाले खर्च को सभी राज्य सरकारें भी उठाएँ, और इस बात को कड़ाई से लागू किया जाए।

7) डाक्टरों तथा पराचिकित्सकीय कार्मिकों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। अध्यापन तथा पढ़ाई को लोगों की स्वास्थ्य समस्याओं के साथ जोड़ा जाना चाहिए। चिकित्सा प्रशिक्षण आवश्यकता-आधारित, समस्या केंद्रित तथा समुदायमुखी होना चाहिए। स्वास्थ्य अर्थात् मानवशक्ति का विकास अभी तक उपेक्षित क्षेत्र रहा है, इस पर तत्काल ध्यान देने और कार्रवाई करने की आवश्यकता है।

8) चिकित्सा के क्षेत्र में ऐसे अनुसंधानों को चालू रखा जाएगा जो लोगों की आम स्वास्थ्य समस्याओं के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक हैं। नई आने वाली तकनीक और प्रौद्योगिकी के मूल्यांकन को ज्यादा महत्व और प्राथमिकता दी जाएगी। आधुनिक जैविकी तथा जैव-प्रौद्योगिकी पर विशेष ध्यान दिया जाएगा जिससे बहुत सी स्थानीय बीमारियों से लड़ने के लिए अधिक प्रभावी तथा स्वीकार्य साधन खोजे जा सकें।

9) भारतीय चिकित्सा प्रणालियों का बेहतर मानकीकरण, एकीकरण तथा व्यापक अनुप्रयोग और विशेष रूप से उनका राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम में उपयोग किया जाएगा। भारतीय चिकित्सा प्रणालियों के विकास के लिए उनके अध्यापन, प्रशिक्षण, अनुसंधान तथा सेवा कार्यकलापों को सख्ती से लागू करने की जरूरत है। इस क्षेत्र में विस्तार आयोजना बहुत जरूरी है।

न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अंतर्गत सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों (एक 30 बिस्तरों वाला अस्पताल जिसमें स्त्री-रोग तथा बाल-रोग विशेषज्ञ समेत चार बुनियादी विशेष चिकित्सा

प्रबंधक हों), प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों तथा उप-केंद्रों की स्थापना के लिए जनसंख्या के मानदंड बदले गए थे। इन मानदंडों के अनुसार प्रत्येक 5000 की जनसंख्या के लिए एक उपकेंद्र, प्रत्येक 30,000 जनसंख्या के लिए एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और प्रत्येक 1,00,000 की जनसंख्या के लिए एक सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र होना चाहिए। फलस्वरूप देश में मार्च, 1988 के अंत में 1,02,160 उपकेंद्र, 14,409 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र तथा 1,293 सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र स्थापित हो गए थे। आधारिक स्तर पर 5,59,000 प्रशिक्षित दाइयाँ, 3,92,000 ग्राम स्वास्थ्य गाइड तथा 85,000 पुरुष और 1,08,000 स्त्री बहुद्देशीय स्वास्थ्य कार्यकर्ता थे जिनका काम बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं को लोगों के घर तक पहुँचाना था।

देश में चिकित्सा कार्य करने वालों की कुल संख्या 6 लाख से अधिक है, इनमें से आधे से ज्यादा 'ऐलोपैथी' चिकित्सा करते हैं। इनके अतिरिक्त 1,50,000 से अधिक नर्सें हैं जिनमें से अधिकांश सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में काम करती हैं। लेकिन डाक्टर और जनसंख्या के बीच के अनुपात में काफी भिन्नता है, यह चंडीगढ़ संघ शासित क्षेत्र में 1:632 है तो राजस्थान में 1:11,195 है।

22.6.3 संक्रामक रोगों का नियंत्रण

सातवीं पंचवर्षीय योजना में संक्रामक रोगों के नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया। संक्रामक रोग यद्यपि देश में व्यापक रूप से फैले हुए हैं परंतु इनकी प्रकृति तथा उनके प्रभाव की सीमा के बारे में समग्र तथा अधुनातन (up to date) रूप से कोई निश्चित अनुमान लगाना संभव नहीं है। संक्रामक रोगों की रोकथाम और उनके उन्मूलन के लिए पिछले कई दशकों से राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर कई कार्यक्रम चलाए गए हैं और उनके अच्छे परिणाम भी निकले हैं।

अतिसार (दस्त) की बीमारियाँ

भारत में और विशेष रूप से पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों में दस्त की बीमारियाँ एक प्रमुख स्वास्थ्य समस्या है। हालाँकि विद्यमान स्वास्थ्य सुविधाओं के अंतर्गत इस बीमारी के इलाज के लिए चिकित्सा सहायता प्राप्त करने के मामले तो आते हैं परंतु ऐसे मामलों की कुल संख्या और उनके कारण होने वाली मौतों के बारे में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। परिणामस्वरूप, दस्त संबंधी बीमारियों से ग्रस्त रोगियों तथा उनके कारण होने वाली मौतों के बारे में राज्य सरकारों तथा संघ-शासित राज्य जो आँकड़े भेजते हैं वे अपूर्ण और अविश्वसनीय हैं। जहाँ तक इसके गुणात्मक पहलू का संबंध है, हैजा, पेचिश तथा आंत्रशोध के उपशीर्षकों के अंतर्गत जो अलग-अलग आँकड़े दिए जाते हैं उनमें अन्य अतिसार-बीमारियों से पैदा होने वाली समस्या की कोई सूचना नहीं होती।

मलेरिया

राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम के अंतर्गत साठ के दशक के मध्य तक देश में मलेरिया पर काफी कुछ नियंत्रण पा लिया गया था। सत्तर के दशक में इसने जब फिर से सिर उठाया तो 1971 में एक संशोधित मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम चालू किया गया। 1954 में मलेरिया के रोगियों की संख्या 7.5 करोड़ थी किंतु छठी योजना के समाप्त होते-होते यह संख्या घटकर 20 लाख ही रह गई। इस अवधि में मलेरिया के कारण होने वाली मृत्यु-संख्या में भी भारी कमी आ गई। किन्तु कुछ राज्यों में और मुख्य रूप से उड़ीसा, गुजरात, तथा तमिलनाडु में मलेरिया के रोगियों में कुछ बढ़ोतरी हुई है। पी. फाल्सीपेरम (संक्रामण) का कुछ नए क्षेत्रों में ज्यादा जोर दिखाई दिया है। इस बीमारी के पुनः फैल जाने के पीछे जो कारण हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं: वैज्ञानिक तरीके से ठीक समय पर दवाई न छिड़कना, प्रबंध की असफलता, रोगवाहकों एवं परजीवियों पर दवाई का असर न होना तथा पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था न हो पाना।

कुष्ठ रोग

राष्ट्रीय कुष्ठ नियंत्रण कार्यक्रम को और अधिक सबल किया गया है और अब इसे राष्ट्रीय कुष्ठ-निवारण कार्यक्रम के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। देश के ऐसे क्षेत्रों में रहने वाले 35 करोड़ लोगों को इस कार्यक्रम के अंतर्गत लाया गया, जहाँ कुष्ठ रोग अधिक है।

यरोग (टी.बी.)

यरोग अभी भी एक प्रमुख स्वास्थ्य समस्या बना हुआ है। टी.बी. रोधी दवाओं तथा पस्करों की जरूरी मात्रा उपलब्ध करवाकर और उसकी क्वालिटी में सुधार करके इस ोग पर नियंत्रण करने के प्रयासों में काफी वृद्धि की गई। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में लक्ष्य नर्धारण के आधार पर थूक की जाँच की जा रही है। इसके अलावा पूरे देश में 358 जिला ो.बी. केंद्र, 300 टी.बी. क्लिनिक तथा 45,000 टी.बी.बिस्तरों की व्यवस्था है।

12.6.4 अन्य बीमारियाँ

धेपन पर नियंत्रण : राष्ट्रीय अंधापन नियंत्रण तथा दृष्टि-रोग निरोध कार्यक्रम के अंतर्गत . वभिन्न स्तरों पर नेत्र स्वास्थ्य सुविधाओं में वृद्धि की गई है। इसके अंतर्गत यह लक्ष्य रखा या था कि अंधेपन की 1980-81 की 14 प्रति हज़ार की दर को घटाकर 1984-85 में 10 ति हजार किया जाएगा। हालाँकि, इस संबंध में आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

तिपाती खसन-संक्रमण (Acute Respiratory Infection) : श्वास नली या उससे संबंधित रचना के किसी भी हिस्से में संक्रमण हो जाने के फलस्वरूप जो तीव्र रोग लक्षण या वहन दिखाई देते हैं, उन्हें 'एक्यूट रेस्पिरेटरी इन्फैक्शन' कहा जाता है। इससे कई प्रकार के जटिल तथा विविध प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं किंतु उनमें तीन बातें मौजूद रहती ैं—श्वासनली शोथ (ब्रोंकाइटिस), तीव्र कंठशोथ (लेरिंजाइटिस) तथा निमोनिया।

र्ष 1983-84 के दौरान 14 राज्यों तथा संघ शासित राज्यों के अस्पतालों और डस्पेन्सरियों में इन रोगों से ग्रस्त 96.3 लाख रोगियों को बाह्य रोगियों के रूप में देखा या। 1969 में जनसंख्या पर आधारित अध्ययनों, जिनके अनुसार प्रत्येक पाक्षिक अथवा हीने के बीच घर-घर जाकर रोगियों को देखा जाता था, से संकेत मिलता है कि एक हरी बच्चे को अपनी पाँच वर्ष की आयु तक के दौरान प्रतिवर्ष औसतन 5 से लेकर 8 तक .आर.आइ. (ARI) के दौरे झेलने पड़ते हैं। जबकि ग्रामीण बच्चे को प्रतिवर्ष एक से तीन ौरे झेलने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शहरों में बहुत अधिक वायु-प्रदूषण है।

12.7 प्रतिरक्षण कार्यक्रम सहित जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाएँ

ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में समाज की कुल स्वास्थ्य रक्षा के एक हिस्से के रूप में ये जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाएँ विद्यमान स्वास्थ्य आधारिक संरचना के माध्यम से प्रदान की जाती हैं। भारत सरकार ने "सार्वजनिक प्रतिरक्षण (टीकाकरण) कार्यक्रम के अंतर्गत शिशुओं तथा बच्चों में टीकों द्वारा छह सामान्य बीमारियों की रोकथाम तथा गर्भवती महिलाओं में टिटनस की रोकथाम के लिए टीका लगाने की एक प्रतिरक्षण योजना चलाई है। इस योजना के अंतर्गत 85 प्रतिशत शिशुओं और 100 प्रतिशत गर्भवती महिलाओं को 1990 तक टीका लगा देने का लक्ष्य रखा गया था।

तिरक्षण का यह कार्यक्रम 1978 में शुरू किया गया जिसके अंतर्गत बच्चों तथा गर्भवती हिलाओं को टीका लगाने की सेवा शुरू की गई। प्रतिरक्षण गतिविधियों में तेजी लाने के लिए 1985-86 में सार्वजनिक प्रतिरक्षण कार्यक्रम शुरू किया गया।

समग्र स्वास्थ्य योजनाओं में सार्वजनिक प्रतिरक्षण कार्यक्रम के अत्यधिक महत्व को स्वीकार करते हुए अतिसंवेदनशील जनसंख्या विशेष रूप से बच्चों के लिए भारत सरकार ने 'टीकाकरण तथा प्रतिरक्षण पर एक टैक्नोलॉजी मिशन" गठित किया जिसका उद्देश्य शिशुओं तथा बच्चों में अस्वस्थता तथा मृत्यु दर में कमी करना और टीकों के उत्पादन में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना था। वर्तमान प्रतिरक्षण कार्यक्रम के क्षेत्र के विस्तार और उसके लिए तर्काधार बनाने के साथ-साथ मिशन का उद्देश्य एक निगरानी प्रणाली विकसित करना, समुदाय की सहभागिता बढ़ाना तथा नए टीकों का विकास और अनुसंधान को प्रोत्साहित करना भी था।

सार्वजनिक प्रतिरक्षण कार्यक्रम सभी स्वास्थ्य कार्यक्रमों में सबसे अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ है और "2000 ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य" के लक्ष्य की प्राप्त करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्यक्रम है।

प्रसव के समय माता को मिलने वाली चिकित्सा-सुविधा शिशु मृत्यु दर और प्रसूति मृत्यु दर को नियंत्रित करने का एक महत्वपूर्ण कारक बन सकती है। प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा प्रसव कराए जाने का प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में 1981 के 26.3 से बढ़कर 1985 में 30.5 और शहरी क्षेत्रों में 65.8 से बढ़कर 72.3 प्रतिशत हो गया। ग्रामीण क्षेत्रों में शिशु मृत्यु दर 1971 के 138 से घटकर 1988 में 102 रह गई। हालाँकि, प्रसूति मृत्यु (स्त्रियों की कुल मृत्युओं में से प्रसव के कारण हुई मृत्यु) 1981 से ग्रामीण क्षेत्रों में एक प्रतिशत के आसपास चल रही है।

माता का न्यून-पोषण, कम अंतराल में गर्भधारण, अत्यधिक रक्ताल्पता, छोटी उम्र में गर्भधारणा, प्रसवपूर्व संक्रमण (इन्फैक्शन) तथा माँ का रक्तचाप बढ़ जाना ऐसे कुछ अन्य कारण हैं जो गर्भाधान के दौरान माँ तथा बच्चे दोनों पर प्रभाव डालते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) आल्मा ऐटा घोषणा किस वर्ष की गई थी? उस अवसर पर भारत की मुख्य प्रतिबद्धता क्या थी?

.....

.....

2) 2000 ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सातवीं योजना में वे कौन-से प्रमुख क्षेत्र हैं जिन पर विशेष बल दिया गया है? (पचास शब्दों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार के लिए क्या कदम उठाए गए हैं। (तीस शब्दों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

22.8 कुछ विशिष्ट स्वास्थ्य योजनाएँ

लोगों को बेहतर स्वास्थ्य सुरक्षा प्रदान करने के विभिन्न लक्ष्यों को हासिल करने के उद्देश्य से सातवीं पंचवर्षीय योजनावधि के दौरान पाँच मुख्य सेवाओं को अधिक व्यवस्थित रूप से संगठित किया गया। ये सेवाएँ थीं: चिकित्सा-सेवा, प्रतिरक्षण तथा पुनर्जलीकरण, पोषण, परिवार-कल्याण तथा स्वास्थ्य शिक्षा। अभी तक आठवीं योजना का दस्तावेज़ उपलब्ध नहीं हुआ है, इसलिए हम यहाँ सातवीं पंचवर्षीय योजना में अपनाई गई विशिष्ट योजनाओं पर चर्चा करेंगे।

22.8.1 ग्रामीण स्वास्थ्य

जहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं का संबंध है वहाँ न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अंतर्गत उपकेंद्र, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र तथा सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र की तीन स्तरीय प्रणाली को और मज़बूत किया गया और विद्यमान मातृ तथा शिशु स्वास्थ्य केंद्रों तथा

ग्रामीण डिस्पेंसरियों को प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में तथा उपजिला अस्पतालों को सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और आवश्यकतानुसार नई कार्यात्मक इकाइयाँ स्थापित कर दी गई। इनके पृष्ठपोषण के लिए आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं को भी मज़बूत बनाया गया और कुछ सीमा तक सही प्रशिक्षित क्रामिकों की कमी को भी पूरा कर लिया गया।

बहुद्देश्यीय कार्यकर्ता स्कीम का भी विस्तार किया गया और उनमें अभिवृत्ति मूलक परिवर्तन सुनिश्चित करने और उनमें आवश्यक कुशलता विकसित करने के लिए प्रशिक्षण देने पर बल दिया गया।

सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था के अतिरिक्त बड़ी संख्या में निजी स्वामित्व वाले अस्पताल, स्वास्थ्य केंद्र तथा डिस्पेंसरियाँ भी विद्यमान हैं। इनमें से कुछ संस्थाएँ आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों को रियायती दर पर स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करती हैं। इनसे अधिक महत्वपूर्ण सामुदायिक स्वास्थ्य संबंधी परियोजनाएँ भी हैं, जो निम्ननिखित से संबंधित हैं, (i) पारम्परिक दाइयों को प्रशिक्षण देना तथा उन्हें साजसामान देना, (ii) सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को गम्भीर रूप से अस्वस्थ माताओं का पता लगाने और बच्चें की सुरक्षा के लिए प्रशिक्षण देना, (iii) दस्त होने की स्थिति में उनका घर पर ही इलाज करने के लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देना, (iv) प्रसव तथा शिशु देखभाल, विशेषरूप से प्रतिरक्षण के मामले में स्वास्थ्य कार्यकर्ता को प्रशिक्षण देना, तथा (v) स्वास्थ्य और पोषण में शिक्षा।

शहरी क्षेत्र

शहरी क्षेत्र में विद्यमान स्वास्थ्य सेवाएँ काफी दबाव के अंदर काम कर रही हैं, गंदी बस्तियों में ये सेवाएँ बड़ी दोषपूर्ण और अपर्याप्त हैं। शहरों की गंदी बस्तियों में सफ़ाई की जो खराब हालत है उससे न केवल उन बस्तियों के लोगों में ही अपितु पूरी शहरी आबादी में बीमारियाँ फैलती हैं और वह उनके स्वास्थ्य के लिए खतरे की घंटी बनी हुई हैं।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में निर्धारित मार्गदर्शकों के अनुसार सातवीं योजना में शहरी क्षेत्रों में चिकित्सा तथा स्वास्थ्य रक्षा सुविधाओं में बढ़ोतरी की गई।

शहरी स्वास्थ्य सेवा संगठन द्वारा शहरी जनसंख्या को प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएँ तो प्रदान करनी ही पड़ती हैं, साथ-साथ ग्रामीण स्वास्थ्य संगठन को सहायक प्रणाली द्वारा तथा विभिन्न शाखाओं में विशेषज्ञ सेवाएँ उपलब्ध कराके उन्हें भी सहायता प्रदान करनी होती है। इसीलिए, प्रत्येक जिला अस्पताल में विकिरण चिकित्सा विज्ञान (Radiology) रोगविज्ञान (Pathology) में विशेषज्ञ डाक्टर होने चाहिए। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के सर्वाधिक संवेदनशील वर्ग की आवश्यकता को पूरा करने के लिए 40 प्रतिशत बिस्तर बच्चों तथा माताओं के लिए सुरक्षित करने के प्रयास किए जाने जरूरी हैं।

22.8.2 प्रतिरक्षण तथा मौखिक पुनर्जलीकरण

सभी शिशुओं और बच्चों को 100 प्रतिशत प्रतिरक्षण कार्यक्रम के अंदर लाने के लिए जो उपाय अपनाए जाने हैं उनके बारे में इस भाग में पहले ही संकेत दिया जा चुका है। जन माध्यमों पर चलाए जा रहे अभियानों तथा पैरा-मैडिकल कर्मचारियों के प्रशिक्षण के ज़रिए हैजा तथा आँत्रशोथ जैसी बीमारियों के कारण होने वाली मौतों को कम करने के प्रयास किए जा रहे हैं। बीमारी की संभावना से मुकाबला करने के लिए लोगों को स्वास्थ्य संबंधी सकारात्मक उपाय अपनाने के लिए उद्यत किया जा रहा है। उपयुक्त पोषक आहार तथा पीने के साफ पानी की व्यवस्था इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं।

22.8.3 पोषण

पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत पोषण स्वास्थ्य क्षेत्रक का एक घटक था। चौथी योजना में पोषण में सुधार के लिए एक एकीकृत दृष्टिकोण अपनाने पर ज़ोर दिया गया और बुनियादी तौर पर खाद्यान्न उत्पादनों में वृद्धि करने के ज़रिए इसे सुधारने का प्रयत्न किया गया। पाँचवी योजना में पोषण का एक व्यापक कार्यक्रम तैयार किया गया और उसमें कमजोर वर्गों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। 1978 में कुछ चुने हुए खंडों में एकीकृत बाल-विकास सेवा योजना शुरू की गई जिसके अंतर्गत शिशुओं, बच्चों तथा दूध पिलाने

वाली माताओं को अनुपूरक पोषण प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। छठीं योजना में इस स्कीम का और विस्तार किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में एक पोषण-नीति तैयार करने पर ज्यादा जोर दिया गया है। आठवीं योजना के अंतर्गत प्रत्यक्ष-पोषण-प्रदाय स्कीम के तहत बच्चों, गर्भवती स्त्रियों तथा बच्चे पालने वाली स्त्रियों के पोषण पर विशेष ध्यान देना, पोषण-शिक्षा पर बल, पोषण-सामग्री के उत्पादन तथा प्रक्रमण स्कीमों, सर्वेक्षण अनुसंधान तथा मूल्यांकन का विस्तार आदि करना शामिल हैं। इन कार्यक्रमों की योजना बनाने तथा उन्हें लागू कराने के काम में बहुत से सरकारी विभागों और स्वैच्छिक संस्थाओं को भागीदार बनाया गया है।

सुरक्षित जल-आपूर्ति प्राप्त करना

सातवीं योजना में संशोधित न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अंतर्गत सुरक्षित पेय जल की व्यवस्था को भी शामिल किया गया है। ग्रामीण जनता को पर्याप्त तथा सुरक्षित पेय जल सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रम चलाया गया है। सातवीं योजना के दौरान संपूर्ण ग्रामीण जनता को सुरक्षित जल की आपूर्ति कराने के उद्देश्य से सबसे पहले अत्यधिक समस्याग्रस्त गाँवों को प्राथमिकता दी गई, अर्थात् उसमें ऐसे गाँव शामिल किए गए: (क) जिनमें 1.6 कि.मी. के इर्दगिर्द या 15 मीटर की गहराई तक (पहाड़ी क्षेत्र) कोई निश्चित जल-स्रोत नहीं है, (ख) जिनमें उपलब्ध जल में तादाद से ज्यादा नमक, लोहा, फ्लोराइड या अन्य विषैले तत्व हैं, तथा (ग) जहाँ हैजा, गिनी वौर्म आदि जैसी बीमारियाँ काफी फैली हुई हैं।

समस्याग्रस्त गाँवों के बाद अन्य गाँवों को इस कार्यक्रम के अंतर्गत लाया जाएगा और आंशिक रूप से सप्लाई वाले गाँवों में जल की सप्लाई में सुधार किया जाएगा।

सातवीं योजना में ऐसे कस्बों में जल-आपूर्ति कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता दी गई जो अभी तक इसके अन्तर्गत नहीं आए थे। शहरों की ऐसी जल आपूर्ति की व्यवस्थाओं को फिर से विकसित करने पर गंभीरता के साथ विचार किया जा रहा है जो या तो पुरानी हो जाने या अत्यधिक प्रयोग के कारण बुरी तरह से खराब हो गई हैं। शहरों की बाहरी सीमाओं के शहरी क्षेत्रों में, जहाँ आमतौर पर आर्थिक रूप से पिछड़ी आबादी रहती है, उपयुक्त स्थानों पर नल लगाए गए हैं। हालाँकि, इनका ठीक तरह से रखरखाव न होने के कारण इन पर किया गया सरकारी खर्च बेकार ही चला जाता है।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में किए जा रहे इन सभी उपायों का उद्देश्य शिशुओं तथा बच्चों की अस्वस्थता तथा मृत्यु दर को कम करना है। इन उपायों से एक ओर तो प्रसूति-मृत्यु में कमी होगी तो दूसरी ओर समग्र मृत्यु-दर में भी कमी आएगी। इनकी वजह से जन्म दर में भी कमी आएगी। अभी यह कहना कठिन है कि योजनाओं में परिकल्पित विविध स्वास्थ्य कार्यक्रमों से, विशेष रूप से जिस तरह से इन्हें लागू किया जा रहा है, उससे "2000ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य" का लक्ष्य पूरा हो पाएगा या नहीं। आम तौर से सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं से पूरा समाज लाभान्वित नहीं हो पाता।

22.9 शिक्षा तथा स्वास्थ्य निवेश : मूल्यांकन संबंधित कुछ पहलू

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी शिक्षा तथा स्वास्थ्य व्यवस्था पर हुए अत्यधिक सरकारी खर्चों के प्रभावों का मूल्यांकन करने के प्रयास किए गए हैं। यद्यपि शिक्षा तथा स्वास्थ्य निवेशों के योगदान का आर्थिक मूल्यांकन करने के विषय में किए गए अध्ययन अभी अपर्याप्त हैं परंतु फिर भी इस संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं:

1) प्राथमिक तथा बुनियादी शिक्षा और प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा में जो निवेश किया गया है वह सामाजिक दृष्टि से सर्वाधिक लागत-प्रभावी है, हालाँकि देश में उच्च शिक्षा तथा तृतीयक स्वास्थ्य सेवाओं पर, जो अधिक निजी प्रतिफल देती हैं, अभी भी अनुपात से अधिक खर्च किया जा रहा है। उच्च शिक्षा तथा शहरी अत्याधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर किए गए निवेश से अक्सर कोई ज्यादा सामाजिक लाभ नहीं पहुँचता तथा उनसे असमानताएँ भी बढ़ती हैं।

2) अर्थव्यवस्था की रोज़गार आवश्यकताओं तथा प्रशिक्षित मानवशक्ति की पूर्ति के

बीच जो असंतुलन है उसकी वजह से शिक्षित बेरोज़गारों की संख्या में वृद्धि हुई है और विशेष रूप से सामान्य कला विषयों की डिग्री वाले बेरोज़गारों की संख्या बढ़ी है। दूसरी ओर, सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक मानवशक्ति का उन्नत देशों की ओर प्रयाण अर्थात् प्रतिभा का पलायन अभी भी जारी है। यह विकसित देशों को हमारी ओर से सहायता ही है। देश से बाहर जाने वालों में डाक्टर भी हैं और इंजीनियर भी हैं। इससे इस तर्क को बल मिलता है कि उच्च शिक्षा का निजीकरण किया जाए और सार्वजनिक सहायता को वापिस ले लिया जाए। यह तर्क दिया जाता है कि ऐसे आर्थिक सहायता सामाजिक-आर्थिक असमानता को बढ़ाने की ओर प्रवृत्त होती हैं। इस तरह की सहायता को वापिस लेकर योग्य छात्रों को और, विशेष रूप से गरीब घरों के छात्रों को उपयुक्त सहायता प्रदान की जाए। यही तर्क निजी, खर्चीली तथा उच्च तकनीकी चिकित्सा सेवाओं, जो पिछले दशक में काफी फली-फूली हैं, के पक्ष में भी दिया जाता है, ये शहरों तथा गाँवों में आय के असमान वितरण के कारण पैदा हुई हैं और ये उन असमानताओं को बढ़ाती भी हैं। चिकित्सा-सुविधा तथा शिक्षा पर निजी उपभोक्ता खर्च प्रति व्यक्ति उपभोक्ता खर्च की तुलना में काफी तेजी से बढ़ा है।

3) सामान्य उच्च शिक्षा का दोषपूर्ण विस्तार तथा प्राथमिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा में वांछित प्रगति न होने की वजह से शिक्षा में सार्वजनिक निवेश से वे प्रभाव हासिल नहीं हो पा रहे जो बिजली, सिंचाई या उर्वरकों में किए गए निवेश से प्राप्त हो रहे हैं।

4) मानव संसाधन विकास के विभिन्न घटकों के बीच ऊँची कोटि की पूरकता भी होती है जैसे शिक्षा तथा स्वास्थ्य निवेशों, आवास निर्माण तथा पर्याप्त पोषक आहार प्राप्त करना आदि के बीच; जिसे सामान्यतः नीति-आयोजना की अवस्था में भुला दिया जाता है और इसीलिए इन क्षेत्रकों में सरकारी खर्च की दक्षता घट जाती है।

5) गेलेन्सन तथा प्याट (Galenson and Pyatt) ने इस विषय में जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय अनुभव यह रहा है कि मानव पूँजी अर्थात् शिक्षा तथा स्वास्थ्य में किये गये निवेश से तभी सर्वोत्तम लाभ प्राप्त किए जाते हैं जब उस निवेश का वास्तविक पूँजी निवेश के साथ उपयुक्त संतुलन कर दिया जाए। लेकिन, सार्वजनिक निवेश योग्य संसाधनों के एक दिए स्तर पर दोनों की माँगे परस्पर प्रतिस्पर्धी होती हैं और इसीलिए इन दोनों के सही संयोजन को ठीक तरह से चुनना बहुत जरूरी है।

6) ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि शहरी क्षेत्रों में, सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं का और विशेष रूप से बाह्य रोगी सेवाओं का, फिर चाहे वे कितनी ही अपर्याप्त और खराब क्यों न हों, गरीब लोग ज्यादा लाभ उठाते हैं, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में इन सेवाओं तक गरीब ग्रामीणों की कम पहुँच हो पाती है और गाँव के संपन्न लोग इनका ज्यादा लाभ उठाते हैं। अस्पताल के अंदर भरती होने की सुविधाएँ शहरी और ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में, गरीबों को कम मिल पाती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की खराब स्थिति और हमारे समाज में व्याप्त असमानताओं की वजह से स्वास्थ्य सेवाओं में अत्यधिक खर्चीली निजी क्षेत्र की सेवाएँ खूब फलफूल रही हैं और इस प्रकार देश के दुर्लभ संसाधनों का उपभोग करती जा रही हैं। उनके अत्यधिक खर्चीली होने के कारण स्वास्थ्य सेवाओं का लाभ उठाने के मामले में असमानताएँ और अधिक बढ़ती जा रही हैं।

बोध प्रश्न 4

1) स्वास्थ्य सेवाओं के वे कौन से प्रमुख पाँच क्षेत्र हैं जिन्हें सातवीं योजना में अधिक व्यवस्थित रूप से संगठित किया गया है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) बच्चों तथा माताओं को समुचित पोषण प्रदान करने के लिए कौन से उपाय किए जा रहे हैं? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) समस्याग्रस्त गाँवों में सुरक्षित पेयजल की व्यवस्था के लिए क्या किया जा रहा है? (तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) उच्च शिक्षा तथा तृतीयक शहरी स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण के पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क दिए जा सकते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

22.10 सारांश

आर्थिक तथा सामाजिक विकास बहुत कुछ श्रमशक्ति की गुणवत्ता पर निर्भर करता है और गुणवत्ता बेहतर स्वास्थ्य तथा शिक्षा सुविधाओं द्वारा बढ़ाई जा सकती है।

शिक्षा के महत्व को महसूस करते हुए भारतीय संविधान के निर्माताओं ने मुफ्त तथा अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा को राज्य का एक नीति निर्देशक सिद्धांत बना दिया। हालाँकि, योजना उद्देश्य के रूप में यह बार-बार दुहराया गया है कि प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनिकरण और निरक्षरता का उन्मूलन किया जाएगा लेकिन इस उद्देश्य को अभी तक पूरा नहीं किया जा सका है। फिर भी, शिक्षा सुविधाओं तथा दाखिला लेने वालों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। दाखिला लेने और साक्षरता के क्षेत्र में काफी असमानता दिखाई देती है जो स्त्रियों के लिए प्रतिकूल है। विभिन्न राज्यों में साक्षरता के स्तर में जो विभिन्नता है उससे पता लगता है कि साक्षरता और विकास के स्तर में धनात्मक संबंध होता है, हालाँकि केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा हिमाचल प्रदेश जैसे कुछ निर्धन राज्य इस बात के अपवाद हैं क्योंकि वहाँ पर साक्षरता का स्तर ऊँचा है। उच्च शिक्षा के विभिन्न संकायों में असंतुलन तथा बेरोज़गारी की गम्भीर स्थिति को ध्यान में रखते हुए हाल ही में दस-जमा-दो स्तर पर शिक्षा के व्यवसायीकरण पर जोर दिया गया है।

प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा के क्षेत्र में अब अधिकाधिक जनसंख्या को इसके अंदर लाया जा रहा है। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में चिकित्सा आधारिक संरचना का विस्तार तथा

प्रतिरक्षण, सुरक्षित पेयजल की व्यवस्था, बच्चे तथा माताओं के अच्छे पोषण के माध्यम से बहुत सी बीमारियों पर नियंत्रण और माताओं तथा बच्चों की स्वास्थ्य सेवाओं की वजह से लोगों की अस्वस्थता तथा मृत्यु संख्या में कमी हुई है। इसकी वजह से आयु संभाविता बढ़ी है तथा शिशु-मृत्यु दर कम हुई है।

चिकित्सा आधारिक संरचना की उपलब्धता के बारे में विभिन्न क्षेत्रों के बीच काफी अंतर पाया जाता है। चिकित्सा की किस्म तथा मात्रा दोनों के मामले में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्र के लोग ज्यादा बेहतर हैं। देश में स्वास्थ्य सुरक्षा व्यवस्था की सीमित उपलब्धता और व्यावहारिक रूप से इसके ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश को देखते हुए, सरकार 2000 ई. तक सभी के लिए स्वास्थ्य के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वचनबद्ध है। लेकिन शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं के वर्तमान स्वरूप शहरी तथा ग्रामीण गरीब लोगों की आवश्यकताओं का कोई जवाब नहीं दे पाते।

22.11 शब्दावली

शिशु मृत्यु दर : जीवित जन्म लेने वाले बच्चों की पहली साल की उम्र में ही मृत्यु हो जाना। इसकी दर प्रति हजार के हिसाब से निकाली जाती है।

साक्षरता दर : कुल जनसंख्या में साक्षरों का प्रतिशत।

गैर-योजना खर्च : गैर-योजना खर्च वे खर्च हैं जो चालू पंचवर्षीय योजना के हिस्से नहीं होते। अतः वे पहली योजनाओं के दौरान पूरी कर ली गई परियोजनाओं पर एक प्रकार के प्रतिबद्ध खर्च होते हैं। कभी-कभी इन्हें अनुरक्षण खर्च भी कहा जाता है।

योजना खर्च : चालू पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत शामिल किए गए सभी खर्चे को योजनागत खर्च कहा जाता है। उदाहरणतः आठवीं योजना में शामिल शिक्षा परियोजनाओं पर जो खर्च होगा उसे आठवीं योजना के दौरान का योजना खर्च कहा जाएगा।

निजीकरण : सार्वजनिक संसाधनों से सार्वजनिक क्षेत्रक में उत्पादक उद्यम, या लोकोपयोगी सेवाओं, सुविधाओं, विशेष रूप से आम जनता तथा समाज के काम आने वाली सेवाओं के रूप में किए जाने वाले कार्यकलाप कभी-कभी निजी क्षेत्रक में अंतरित कर दिए जाते हैं। इनकी वजह से ये कार्यकलाप लागत, कीमत तथा लाभ-निर्धारण की सामान्य बाज़ार शक्तियों के अधीन हो जाते हैं, जिन्हें सामाजिक प्रयोजन की वजह से सार्वजनिक क्षेत्रक हमेशा लागू नहीं कर सकता। कार्यकलापों को सार्वजनिक क्षेत्रक से निकालकर निजी क्षेत्रक में अंतरित कर देने की इस प्रक्रिया को निजीकरण कहते हैं।

22.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bose, A., D.B. Gupta & M.K. Premi (eds.), (1982) *Social Statistics: Health and Education*, Vikas Publishers, New Delhi.

Cooper, M.H. & A.J. Culyer (1973) : *Health Economics*, (Particularly articles by C.M. Lindsay, S.J. Mushkin, V.R. Fuchs), Penguine Books Ltd., London.

Brahmananda, P.R. & V.R. Panchamukhi (1987), *The Development Process of Indian Economy*, (see article leading issues in Human Resource Development in India by P.R. Panchamukhi)

Panchamukhi, P.R. (1989) *Studies in Educational Reform in India*, Vol. V, Economics of Educational Finances, Himalaya Publishing House, New Delhi.

Sharma, Adarsh & Neelam Sood (Eds.) *Approach and Strategies of Child Development in India: A Review*, National Institute of Public Cooperation and Child Development, New Delhi.

Ghosh, R. & M. Zachariah (1987), *Education and the Process of Change*, Sage Publications, New Delhi (Article Nos. 5, 6 & 9).

Planning Commission (1985), *Seventh Five Year Plan 1985-90*, Delhi (Chapters 10 & 11).

Ministry of Human Resource Development (1986): *National Policy on Education 1986*, Government of India, New Delhi.

20.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 22.2 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

2) (क) लड़के तथा लड़कियों (ख) अनु. जाति/जनजाति तथा सामान्य जनसंख्या के बीच प्रवेशांकन में असमानताओं को बताइए।

3) प्राथमिक स्तर पर सकल प्रवेशांकन अनुपात की परिभाषा देखिए। चूँकि इन आँकड़ों में प्राथमिक स्तर पर दाखिला लेने वालों में अधिक आयु (11 वर्ष से अधिक) और न्यून आयु (पाँच वर्ष से कम) के बच्चे भी शामिल हैं इसलिए 6-11 वर्ष के कुल बच्चों से इसका अनुपात 100% से अधिक है।

बोध प्रश्न 2

1) निरक्षरों की निरपेक्ष संख्या में बढ़ोतरी हो रही है हालाँकि प्रतिशत के रूप में यह गिर सकती है।

2) देखिए उप-भाग 22.5.1 और उत्तर लिखिए।

3) देखिए उप-भाग 22.5.2 और उत्तर लिखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 22.6 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

2) उप-भाग 22.6.1 पढ़िए और इसमें से इस उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण कदमों को ढूँढ़ निकालिए।

3) भाग 22.7 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 22.8 देखिए, विशेष रूप से ग्रामीण स्वास्थ्य वाला हिस्सा पढ़िए।

2) उप-भाग 22.8.3 पढ़िए और उत्तर लिखिए।

3) उप-भाग 22.8.3 देखिए, विशेष रूप से सुरक्षित पेयजल आपूर्ति वाला भाग पढ़िए।

4) भाग 22.9 में उठाए गए बिंदुओं को देखिए और उत्तर लिखिए।